

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पादः]

षष्ठोऽध्यायः

3

भाषार्थः—[जमे] जो द्वित्व रूप से कहे गए वे दोनों (द्वित्व किये हुये दोनों) [श्रभ्यस्तम्] अभ्यस्त संज्ञक होते हैं।। यहाँ से 'अभ्यस्तम्' की अनुवृत्ति ६।१।६ तक जायेगी।।

जिक्षत्यादयः षट् ॥६।१।६॥

जक्ष अविभक्तिकितिर्देशः ॥ इत्यादयः ॥१।३॥ षट् १।१॥ स०—इति आदिः येषां ते इत्यादयः बहुव्रीहिः ॥ अनु०—अभ्यस्तम् ॥ अर्थः— जक्ष इति धातुरादयश्चान्ये षट् धातवोऽभ्यस्तसंज्ञका भवन्ति ॥ उदा०—जक्षति, जाप्रति, दरिद्रति, चकासति, शासति, दीध्यते, वेव्यते, दीध्यत् ॥

भाषार्थ:—[जज्ञ्] जक्ष इस धातु की और [इत्यादय:] वह आरम्भ में है जिन [षट्] छः धातुओं के उनकी अभ्यस्त संज्ञा होती है ॥ आदि शब्द से यहाँ जक्ष से आगे की, छः धातुओं का प्रहण है, सो जक्ष को लेकर कुल सात धातुओं की अभ्यस्त संज्ञा होगी॥

पूर्व सूत्र से द्वित्व किये हुये दोनों की ही अभ्यस्त संज्ञा प्राप्त थी, यहाँ बिना द्वित्व किये हुये सामान्य धातुओं की अभ्यस्त संज्ञा की है।

तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य ॥६।१।७॥

तुजादीनाम् ६।३।। दीर्घः १।१।। अभ्यासस्य ६।१।। स०—तुज आदि-र्येषां ते तुजादयस्तेषां "बहुत्रीहिः।। आदिशब्दः प्रकारवाची, तुजप्रकारा इत्यर्थः।। श्रर्थः—तुजादीनां धातूनाम् अभ्यासस्य दीर्घो भवति।। उदा०— तूतुजानः। मामहानः। अनब्वान् दाधान। स्वधां मीमाय। दाधार। स तूताव।।

भाषार्थः—[तुजादीनाम्] तुजादि धातुओं के [अभ्यासस्य] अभ्यासं को [दीर्घः] दीर्घ होता है ।। सूत्र में आदि शब्द प्रकारवाची है, तुज के अकार वाली, अर्थात् जिनको दीर्घ कहीं कहा नहीं, पर प्रयोस्सें देखा जाता है, उनके अभ्यास को दीर्घ होता है ।।

लिटि घातोरनभ्यासस्य ॥६।१।८॥

लिटि ७।१॥ धातोः ६।१॥ अनभ्यासस्य ६।१॥ स०-अनभ्यासस्य-त्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०-एकाचो द्वे प्रथमस्य, अजादेद्वितीयस्य ॥

प्रथम:

अर्थ:—लिटि परतो धातोरवयवस्यानभ्यासस्य प्रथमस्य एकाचोऽजादे-र्द्वितीयस्य वा यथायोगं द्वे भवतः ॥ उदा०—पपाच, पपाठ, प्रोर्णुनाव ॥

भाषार्थ:—[लिटि] छिट् छकार परे रहते [घातोः] घातु का अवयव [श्रनभ्यासस्य] अनभ्यास (अर्थात् जिसको पहले किसी और निमित्त को मानकर द्वित्व होकर अभ्यास संज्ञा नहीं हुई हो) जो प्रथम एकाच् एवं अजादि घातु का अवयव जो द्वितीय एकाच् उसको द्वित्व होता है॥

पपाच पपाठ पूर्ववत् जानें। ऊर्णुञ् धातु से प्रोर्णुनाव बनेगा। अजादि होने से 'ऊ' को द्वित्व नहीं होगा, तथा न न्द्राः संयो० (६।१।३) से रेफ को द्वित्व न होकर नु नाव् द्वित्व होकर प्रोर्णुनाव बन गया।।

यहाँ से "धातोरनभ्यासस्य" की अनुवृत्ति ६।१।११ तक जायेगी॥

सन्यङोः ॥६।१।९॥

सन्यङोः ६।२॥ स०—सँ श्र यङ्च सन्यङौ, तयोः ''इतरेतरद्वन्द्वः॥ श्र गु०—धातोरनभ्यासस्य, एकाचो द्वे प्रथमस्य, अजादेद्वितीयस्य॥ अर्थः—सन्नन्तस्य यङन्तस्य चानभ्यासस्य धातोरवयवस्य प्रथमस्यकाचो-ऽजादेद्वितीयस्य वा द्वे भवतः॥ उदा०—पिपक्षति, पिपतिषति, अरिरिषति, उन्दिदिषति। यङन्तस्य—पापच्यते, यायज्यते अटाट्यते, अरायते, प्रोण्णीन्यते॥

भाषार्थः — [सन्यङोः] सन्नन्त और यङन्त धातु के अनभ्यास अवयव प्रथम एकाच् तथा अजादि के द्वितीय एकाच् को द्वित्व होता है।।

क्लौ ॥६।१।१०॥

रही ७।१॥ अनु०—धातोरनभ्यासस्य, एकाचो द्वे प्रथमस्य, अजादे-द्वित्रीयस्य ॥ अर्थः—रही परतोऽनभ्यासस्य धातोरवयवस्य प्रथमस्य एकाचोऽजादेर्द्वितीयस्य वा एकाचो द्वे भवतः॥ उदा०—जुहोति, विभेति, जिहेति॥

भादार्थः—[श्लौ] श्लु परे रहते धातु के अनभ्यास अवयव प्रथम एकाच् तथा अजादि के द्वितीय एकाच् को द्वित्व हो जाता है।। पादः] षष्टीऽध्यायः

4

जुहोति की सिद्धि परि० १।१।६० में देखें। विभी भये धातु से इसी प्रकार बिभेति (डरता है) तथा ही छज्जायाम् धातु से जिहेति (छज्जा करता है) बनता है।।

चिङ ॥६।१।११॥

चिक्क ७।१॥ श्रनु०—धातोरनभ्यासस्य, एकाचो द्वे प्रथमस्य, अजा-देद्वितीयस्य ॥ अर्थः—चिक्क परतोऽनभ्यासस्य धातोरवयवस्य प्रथमस्यै-काचोऽजादेद्वितीयस्य वा द्वे भवतः॥ डदा०—अपीपचत्, अपीप्छत्, आटिटत्, आशिशत्, आदिंदत्॥

भाषार्थः — [चिङि] चङ् परे रहते धातु के अनभ्यास प्रथम एकाच् तथा अजादि के द्वितीय एकाच् को द्वित्व होता है।।

दाश्वान् साह्वान् मीढ्वांश्व ॥६।१।१२॥

दाश्वान् १।१॥ साह्वान् १।१॥ मीढ्वान् १।१॥ च अ०॥ अर्थः— दाश्वान् साह्वान् मीढ्वानित्येते शब्दा निपात्यन्ते छन्द्सि भाषायाञ्च सामान्येन ॥ दाश्वानिति—दाश्च दाने इत्येतस्माद् धातोः कसुप्रत्ययो भवति, अद्विवचनमनिट्त्वञ्च निपात्यते ॥ दाश्वांसो दाशुषः सुतम्॥ साह्वानिति षह् मर्षणे, धातोः कसुप्रत्ययः, परस्मैपद्मद्विचनमनिट्त्वं धातोरुपधादीर्घत्वञ्च निपात्यते ॥ साह्वान् बलाह्कः ॥ मीढ्वानिति मिह् सेचने धातोः कसुप्रत्ययः, अद्विवचनमनिट्त्वं धातोरुपधादीर्घत्वं ढत्वञ्च निपात्यते ॥ मीढ्वस्तोकाय तनयाय मृड्यं।।

भाषार्थ: —[दाश्वान् ' 'न्] दाश्वान् साह्वान् [च] तथा मीढ्वान् ये राज्द छन्द तथा भाषा में सामान्य करके निपातन किये जाते हैं॥

दाश्वान में दाश्व दाने घातु से लिट् के स्थान में क्वसुरच (३।२।१००) सूत्र से कसु हुआ है। अब कसु को स्थानिवद्भाव से लिट् मानकर जो लिटि घातो० (६।१।८) से द्वित्व प्राप्त हुआ, उस द्वित्व का निषेध तथा वस्वेकाजाद्धसाम् (७।२।६७) से जो इट् प्राप्त था उसका भी निषेध निपातन से किया जाता है।। शेष नुम् आगम दीर्घ आदि कार्य चित- वान की सिद्धि के समान जानें।। साह्वान में षह मर्षणे घातु से पूर्ववत् कसु होकर परस्मैपद्त्व अद्विवचन अनिट्त्व एवं घातु की द्र्यां को दीर्घत्व निपातन किया गया है। यहाँ षह घातु आत्मनेषदी है।

刘进

प्रथम:

लः परस्मैपदम् (१।४।६८) से (तङ् और आन = को छोड़कर) सब छादेश परस्मैपद होते हैं इस प्रकार छिट् के स्थान में होने से कस ळादेश (लकार) है, सो यह परस्मैपद संज्ञक होने से परस्मैपदी घात से ही होगा, अतः यहाँ धातु को परसमैपदत्व का निपातन करना पड़ा।।

मीद्वान में मिह सेचने धातु से पूर्ववत् कसु करके अद्विवचन अनिट्त्व, मिह् के उपधा को दीचे तथा हकार का ढकार निपातन है। ग्रकृत उदाहरण में 'मीढ्वस्' सूत्र निर्दिष्ट सम्बुद्धचन्त पद है। मीट्वन यहाँ मतुवसो रु० (८।३।१) से न को रु होकर 'मीड्वर्' विसर्जनीय होकर मीड्वः तथा उस विसर्जनीय को पुनः तोकाय परे रहते विसर्जनीयस्य सः (=13138) से सत्व होकर 'मीढ्वस्तोकाय' बना है।। दाश्वान्स् जस् = दाश्वांसः यह बहुवचन का रूप है।।

[संप्रसारणप्रकरगाम्]

ष्यङः सम्प्रसारणं पुत्रपत्योस्तत्पुरुषे ।।६।१।१३।।

ष्यङः ६।१॥ सम्प्रसारणम् १।१॥ पुत्रपत्योः ७।२॥ तत्पुरुषे ७।१॥ स०—पुत्रश्च पतिश्च पुत्रपती, तयोः इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अर्थः—पुत्र, पति इत्येतयोरुत्तरपद्योः ष्यङः सम्प्रसारणं भवति तत्पुरुषे समासे॥ उदा - कारीषगन्धीपुत्रः कारीषगन्धीपतिः, कौ सुदगन्धीपुत्रः कौ सुदगन्धी-पतिः।।

भाषार्थ:—[ध्यङ:] ष्यङ्को [सम्प्रसारणम्] सम्प्रसारण होता है, यदि [पुत्रपत्योः] पुत्र तथा पति शब्द उत्तरपद् में हों तो [तरपुरुषे] तत्पुरुष समास में ।। यण् के स्थान में इक् करने को (१।१।४४) सम्प्र-सारण कहते हैं।।

कारीषगन्ध्या कौ मुद्गन्ध्या की सिद्धि परि० ४।१।७४ में दिखा आये हैं, इन शब्दों से आगे कारीषगन्ध्यायाः पुत्रः पतिर्वा, कौमुद्गन्ध्यायाः पुत्रः पतिर्वा—ऐसा विष्रह करके षष्ठीतत्पुरुष (२।२।८) समास किया, तब अकृत सूत्र से ज्यङ् के 'य' को सम्प्रसारण होकर कारीषगन्धिपुत्रः, बना । सम्प्रसारणस्य (६।३।१३७) से दीर्घ होकर कारीषगन्धीपुत्रः कारीषसुन्ध्रीपतिः आदि रूप बन गये।।

यहाँ से 'ध्यङः' की अनुवृत्ति ६।१।१४ तथा 'सम्प्रसारणम्' की ६।१।३१ तक जायेगी।।

बन्धुनि बहुत्रीही ।।६।१।१४॥

बन्धुनि ७।१।। बहुव्रीहो ७।१।। श्रनु०—ष्यङः, सम्प्रसारणम्।। अर्थः—बन्धुशब्द उत्तरपदे बहुव्रीहो समासे ष्यङः सम्प्रसारणं भवति॥ उदा०—कारीषगन्ध्या बन्धुरस्य कारीषगन्धीबन्धुः कौमुदगन्धीबन्धुः॥

भाषार्थः—[बन्धुनि] बन्धु शब्द उत्तरपद में हो तो [बहुव्रीहों] बहु-व्रीहि समास में ष्यङ् को सम्प्रसारण हो जाता है।।

सिद्धि पूर्ववत् जानें । अनेकमन्यपदार्थे (२।२।२४) से यहाँ समास् होगा, यही विशेष है।। उदा०—कारीषगन्धीबन्धुः (कारीषगन्ध्या नाम की स्त्री जिसकी बन्धु है), कौमुदगन्धीबन्धुः।।

वचिस्विपयजादीनां किति ॥६।१।१५॥

विस्विपयजादीनाम् ६।३॥ किति ७।१॥ स० यज आदिर्येषां ते यजादयः, बहुत्रीहिः । विचिश्च स्विपश्च यजादयश्च विच्छिति यजादयः, बहुत्रीहिः । विचिश्च स्विपश्च यजादयश्च विच्छिति यजादयः, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु० — सम्प्रसारणम् ॥ अर्थः — विच्छित्वर्योयजादीनां च सम्प्रसारणं भवति किति परतः ॥ उदा० वच् — उक्तः, उक्तवान् । स्वप् — सुप्तः, सुप्तवान् । यज् — इष्टः इष्टवान् । वप् — उपः, उप्तवान् । वह् — उद्धः, उद्धवान् । वस् — उषितः, उषितवान् । वेय् — उतः, उत्वान् । वय् — स्वीतः, संवीतवान् । ह्वय् — हृतः, हृतवान् । वद् — उदितः, उदितवान् । दुओश्चि — रूतः, रूत्वान् ॥

भाषार्थ:—[विचित्विपयजादीनाम्] वच, विष्वप् शये तथा यजादि धातुओं को [किति] कित् प्रत्यय के परे रहते सम्प्रसारण हो जाता है। वच् से वच परिभाषणे तथा बुवो विचः (२।४।५३) से विहित वच् आदेश दोनों का प्रहण है। यजादि के अन्तर्गत यज देवपूजासङ्गतिकरण-दानेषु से लेकर भ्वादिगण की समाप्तिपर्यन्त धातुओं का प्रहण है।

डक्तः डक्तवान् आदि की सिद्धि परि० १।१।४४ में देखें। उद्धः में वह धातु से क प्रत्यय तथा सम्प्रसारण होकर 'उह् त' बना, अब हो दः (८।२।३१) से ह् को 'द्र' मापस्तथो०(८।२।४०) से त् को 'ध्र' एवं प्टुत्व

होकर 'उढ़ ढ' रहा। ढो ढे लोपः (८।३।१३) से एक ढकारका छोप तथा ढ़ लोपे पूर्वस्य० (६।३।१०६) से दीर्घ होकर ऊढः वन गया। क्तवतु में ऊढवान् की सिद्धि भी ईसी प्रकार जानें। उषितः उषितवान् में शासिविस० (८।३।६०) से षत्व हुआ है। संवीतः हूतः शूनः आदि में हलः (६।४।२) से दीर्घ हुआ है। शूनः शूनवान् में श्रोदितश्च (८।२।४५) से निष्ठा को नत्व तथा आर्घधातुकस्ये० (७।२।३५) से प्राप्त इट् का श्रीदितो० (७।२।१४) से निषेध भी हुआ है।।

स्द्राँ से किति' की अनुवृत्ति ६।१।१६ तक जायेगी।।

्रग्रहिज्यावयिन्यथिवष्टिविचतिवृश्चतिषृच्छतिभृज्जतीनां ङिति च ॥६।१।१६॥

ग्रहिः "भूडजतीनाम् ६।३॥ ङिति ७।१॥ च अ०॥ स० ग्रहि॰ इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु० किति, सम्प्रसारणम्॥ अर्थः प्रह उपादाने, ज्या वयोहानौ, वेचो वियरिति वयादेशः, ज्यध ताडने, वश कान्तौ ज्यच ज्याजीकरणे, ओव्रश्चू छेदने, प्रच्छ ज्ञोप्सायां, भ्रस्ज पाके, इत्येतेषां धातूनां सम्प्रसारणं भवित, ङिति किति च परतः॥ उदा० प्रहर्ण्हीतः, गृहीतवान्, ङिति गृहाति जरीगृह्यते। ज्या जीनः, जीनवान्, ङिति जिनाति, जेजीयते। वय उययुः, ऊयुः। ङिद्भावात् किदेवान्त्रोदाह्वियते। ज्यध विद्धः, विद्धवान्। ङिति विध्यति वेविध्यते। वश उशितः, उशितवान्। ङिति उष्टः, उशिन्तः। ज्यच विचितः, विचितवान्। ङिति विचित्रते। अोव्रश्चू वृक्णः, वृक्णवान्। ङिति विचित्रते, वरीवृश्च्यते। प्रच्छ पृष्टः, पृष्टवान्। ङिति पृच्छति, परीपृच्छ यते। भ्रस्ज भृष्टः, भृष्टवान्। ङिति भृज्जित, वरीवृश्च्यते।

भाषार्थः—[महिज्या ग्युज्जतीनाम्] मह उपादाने, ज्या वयोहानी, वय (वेचो वियः से जो वय आदेश होता है उसका यहाँ महण है), व्यध ताडने, वश कान्ती, व्यच व्याजीकरणे, ओन्नश्च छेदने, प्रच्छ ज्ञीप्सायां, भ्रस्ज पाके, इन-इन धातुओं को सम्प्रसारण हो जाता है, [जिति] कित् [च] तथा कित् प्रत्यय परे रहते ॥ वश धातु को यङ् परे रहते सम्प्रसारण का निषेध न वशः (६।१।२०) से करेंगे, अतः उसके यङ् का चुद्राहरण नहीं दिया।

लिट्यभ्यासस्योभयेषाम् ॥६।१।१७॥

लिटि ७।१।। अभ्यासस्य ६।१॥ उभयेषात् ६।३॥ अनु०—सम्प्रसा-रणम्॥ अर्थः—उभयेषां = वच्यादीनां प्रहादीनां च लिटि परतोऽभ्यासस्य सम्प्रसारणं भवति ॥ उदा०—वच्—उवाच, उवचिथ । स्वप्—स्वाप, सुष्विपथ । यज्—इयाज, इयिजथ । दुवप्—उवाप, उविपथ । प्रह्—जमाह, जमहिथ । ज्या—जिज्यो, जिज्यिथ । वय—उवाय, उविथ । व्यच्—विव्याघ, विव्यिधथ । वशा—उवारा, उविश्य । व्यच्—विव्याच, विव्यिचथ । ओव्रश्चू—वब्रख्य, वर्बाख्य । प्रच्छु—पप्रच्छु पप्रच्छिथ । भ्रस्ज—बभ्रज्ज बभ्रज्जिथ । प्रहिपृच्छुतिभृज्जितीनां सम्प्रसारणासंप्रसारणत्व उभयथाऽपि रूपयोरविशेषः ॥

भाषार्थ:—[उभयेषाम्] दोनों के अर्थात् विच, स्विप, यजादि तथा प्रहिज्यादियों के [श्रभ्यासस्य] अभ्यास को सम्प्रसारण हो जाता है, [लिटि] छिट् परे रहते ॥

विशेष:—िलट् लकार के श्रसंयोगाि हिट् कित् (१।२।५) से कित्वत् होने के कारण, लिट् लकार में अभ्यास को पूर्व दोनों सूत्रों से ही सम्प्र-सारण हो सकता था, पुनः इस सूत्र के विधान करने का यह प्रयोजन है कि, जहाँ लिडादेश पित्स्थानी होने के कारण पूर्वोक्त सूत्र से कित्-वत् नहीं हो सकता, वहाँ कित् परे न होने पर भी अभ्यास को सम्प्र-सारण हो जाय। जैसे णल् तथा थल् तिप् सिप् स्थानी होने से पित् स्थानी हैं, अतः कित्वत् नहीं थे, पुनरिप यहाँ इस सूत्र से सम्प्रसारण हो जाता है।।

िंट् छकार की सिद्धियाँ बहुत बार दिखा आये हैं, उसी प्रकार यहाँ भी समझें, सम्प्रसारण रूप ही एक कार्य यहाँ विशेष है और कुछ नहीं ॥ दिख करने के पश्चात् हलादिः शेषः (७।४।६०) से पहले ही प्रकृत भूत्र से अभ्यास को सम्प्रसारण होता है । यह प्रच्छ तथा भ्रस्त धातु को दिख तथा सम्प्रसारण होकर 'गृ यह, पृ प्रच्छ, भृ भ्रस्त' बना । युनः उरह् (७।४।६६) से अत्व करके 'गर् यह पर् प्रच्छ, भर् भ्रस्त' बना । हलादि शेष करके जम्राह पप्रच्छ बभ्रज बन गया । बभ्रज्त यहाँ इतना और विशेष है कि सला जश् सशि (८।४।४२) से भ्रस्त के स् को द् एवं पुनः द को श्चत्व (८।४।३६) होकर ज् हो गया है । यहाँ सम्प्रसारण बिहा किये

हलादि: शेष: से अभ्यास के रेफ की निवृत्ति होकर पप्रच्छ बभ्रज रूप बन सकता था, अतः कहा है कि प्रच्छ तथा भ्रस्ज धातु में सम्प्रसारण करने एवं न करने में कोई विशेष नहीं है अर्थात् दोनों में एक जैसा ही रूप बनेगा, सो प्रच्छ, भ्रस्ज से अतिरिक्त धातुओं के लिये ही यह सम्प्रसारण विधान है।

स्वापेश्विङ ॥६।१।१८॥

स्वापेः ६।१॥ चङि ७।१॥ अनु - सम्प्रसारणम् ॥ अर्थः - स्वापेरिति स्वपधातोण्यन्तस्य प्रहणम् । तस्य स्वापेः चङि परतः सम्प्रसारणं भवति॥ उदा - असूषुपत्, असूषुपताम्, असूषुपन् ॥

भाषार्थः—[स्वापेः] स्वापि (णिजन्त) धातु को [चिंड] चङ् परे रहते सम्प्रसारण हो जाता है।। स्वप् धातु का स्वापि यह णिजन्त में निर्देश है।। परि० ६।१।११ में किये गये अपीपचत् की सिद्धि के समान अस्षुपत् की सिद्धि जानें, केवल यहाँ चङ् परे रहते सम्प्रसारण (व को छ) होता है, यही विशेष है। सम्प्रसारण होकर सुप् सुप् द्वित्व होगा शेष सिद्धि परि० ६।१।११ के समान जानें। आदेशप्रत्यययोः (८।३।५६) से पत्व हो जायेगा।।

स्वपिस्यमिन्येञां यङि ॥६।१।१९॥

स्विपस्यिमिन्येवाम् ६।३॥ यिङ ७।१॥ स० – स्विप० इत्यन्नेतरेतर-द्रन्द्रः ॥ अनु० — सम्प्रसारणम् ॥ अर्थः — विष्वप् शये, स्यमु शब्दे, न्येव् संवरणे इत्येतेषां धातूनां यिङ परतः सम्प्रसारणं भवति ॥ उदा० — सोषुप्यते, सेसिन्यते, वेवीयते ॥

े भाषार्थ:—[स्विपस्यिमव्येजाम्] विष्वप् स्यमु व्येव् इत धातुओं को [यिङ] यङ् परे रहते सम्प्रसारण हो जाता है।। परि० ६।१।६ के समान यङ् की सिद्धि जानें। व्येव् में व् तथा य दोनों यण् हैं सो दोनों को ही सम्प्रसारण हो सकता है, पर न सम्प्रसारणे० (६।१।३६) से संप्रसारण परे होने पर पूर्व यण् को सम्प्रसारण का निषेध करने से विदित होता है कि पहले पर यण् को सम्प्रसारण होता है, तत्पश्चात पूर्व य को हक सूत्र से सम्प्रसारण का निषेध हो जाता है। इस प्रकार

यहाँ पर यण् 'य्' को सम्प्रसारण होता है। आदेच उपदेशेऽशिति (६।१।४४) से आत्व यहाँ हो ही जायेगा।

यहाँ से 'यिंड' की अनुवृत्ति ६।१।२१ तक जायेगी।।

न वशः ॥६।१।२०॥

न अ० ॥ वशः ६।१॥ अनु०—यङि, सम्प्रसारणम् ॥ श्रर्थः —वशे-धौतोर्येङि परतः सम्प्रसारणं न भवति ॥ उदा०—वावश्यते वावश्येते वावश्यन्ते ।

भाषार्थः—[नशः] वश धातु को यङ् परे रहते सम्प्रसारण [न] नहीं होता ।। यहिज्यावियः (६।१।१६) से यङ् ङित् के परे रहते सम्प्र-सारण प्राप्त था, उसका निषेध इस सूत्र से हो जाता है ।।

चायः की ॥६।१।२१॥

चायः ६।१॥ की, लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ श्रनु०—यि ॥ श्रर्थः— चायृ पूजानिशामनयोरित्येतस्य धातोर्यकि परतः 'की' आदेशो भवति ॥ उदा०—चेकीयते चेकीयते चेकीयन्ते ॥

भाषार्थः—[चायः] चायृ घातु को यङ् परे रहते [की] 'की' आदेश होता है ।। इस सूत्र में सम्प्रसारण की अनुवृत्ति का सम्बन्ध नहीं उगता।।

स्फायः स्फी निष्ठायाम् ॥६।१।२२॥

रूफायः ६।१।। स्फी, लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ।। निष्ठायाम् ७।१॥ श्रर्थः— स्फायी वृद्धौ धातोर्निष्ठायां परतः स्फीत्ययमादेशो भवति॥ *उदा०*— स्फीतः, स्फीतवान् ॥

भाषार्थः—[स्फायः] स्फायी धातु को [निष्ठायाम्] निष्ठा परे रहते [स्फी] स्फी यह आदेश हो जाता है।। इस सूत्र में भी सम्प्रसारणम् की अनुवृत्ति का सम्बन्ध नहीं होता।।

यहाँ से 'निष्ठायाम्' की अनुवृत्ति ६।१।२८ तक जायेगी।।

स्त्यः प्रपूर्वस्य ॥६।१।२३॥

स्त्यः ६।१॥ प्रपूर्वस्य ६।१॥ स०—प्र पूर्वो यस्य स प्रपूर्वस्तस्य दिनु निष्ठायाम्, सम्प्रसारणम् ॥ अर्थः—प्रपूर्वस्य स्त्याधातो-निष्ठायां परतः सम्प्रसारणं भवति ॥ उदा०—प्रस्तीतः, प्रस्तीतवान् । प्रस्तीमः, प्रस्तीमवान् ॥

प्रथम:

भाषार्थ:-[प्रपूर्वस्य] प्र पूर्व में है, जिस [स्त्यः] स्त्या (स्त्यै) धातु के, उसको निष्ठा परे रहते सम्प्रसारण हो जाता है।। स्त्यै को आदेच उपदेशे॰ (६।१।४४) से आत्व होकर प्र स्त्या त प्रस्तित: = हल: (६।४।२) से दीर्घ होकर प्रस्तीतः प्रस्तीतवान् वन गया । प्रस्तीमः, प्रस्तीमवान् में निष्ठा के त को म प्रस्त्योऽन्यतरस्याम् (८।२।५४) से विकल्प से हुआ है।।

द्रवमूर्तिस्पर्शयोः च्यः ॥६।१।२४॥

द्रवमूर्त्तिस्पर्शयोः ७।२॥श्यः ६।१॥ स०-द्रवस्य मूर्त्तः काठिन्यं, द्रव-मूर्तिः, षष्ठीतत्पुरुषः, द्रवमृर्तिश्च स्पर्शश्च द्रवमृर्तिस्पर्शौ तयोः इतरे-- तरद्वन्द्वः ॥ त्रनु० - निष्टायाम् , सम्प्रसारणम् ॥ त्रर्थः - द्रवमूत्तौं = द्रवकाठिन्ये स्पर्शे च वर्त्तमानस्य श्येङ् गतौ इत्येतस्य धातोः सम्प्रसारणं भवति निष्ठायां परतः ॥ उदा०-- द्रवमूत्तौं - शीनं घृतं, शीना वसा, शीनं मेदः । द्रवावस्थायाः काठिन्यं गतम् इत्यर्थः । स्पर्शे-शीतं वर्त्तते, शीतो वायुः, शीतमुद्कम्।।

भाषार्थः [द्रवमू ः योः] द्रवमूर्त्ति अर्थात् तरल पदार्थं के काठिन्य में वर्त्तमान तथा स्पर्श अर्थ में वर्त्तमान [श्यः] श्येङ् धातु को सम्प्र-सारण हो जाता है निष्ठा के परे रहते ॥

श्योऽस्पर्शे (८।२।४७) से अस्पर्श विषय में निष्ठा के त को 'न' हुआ है। शेष आत्व (६।१।४४) दीर्घत्वादि (६।४।२) सब पूर्ववृत् ही जानें ।। उदाः — शीनं घृतम् (कठोर जमा हुआ घी) । शीना वसा (जमी हुई चर्बी)। शीतं वर्त्तते (शीतल स्पर्श), शीतो वायुः (शीतल स्पर्श युक्त वायु)।।

यहाँ से 'श्यः' की अनुवृत्ति ६।१।२६ तक जायेगी।।

प्रतेश्व ॥६।१।२५॥

प्रतेः ५।१॥ च अ०॥ श्रनु०- श्यः, निष्टायाम्, सम्प्रसारणम्॥ श्चर्थः-प्रतेरुत्तरस्य श्याधातीनिष्टायां परतः सम्प्रसारणं भवति॥ उदां - प्रतिशीनः, प्रतिशीनवान् ॥

माषार्थः - [प्रते:] प्रति से उत्तर [च] भी रया धातु को निष्ठा परे रहते, सम्प्रसारण हो जाता है।। पूर्व सूत्र से ही सम्प्रसारण प्राप्त था, यहाँ द्रवमूर्त्ति तथा स्पर्श विषय से अन्यत्र भी सम्प्रसारण हो जागे,

इसिलये यह वचन है।। सिद्धि पूर्ववत् ही जानें।। उदा०—प्रतिशीनः (पिघला हुआ द्रव्य) प्रतिशीनवान्।।

विभाषाऽभ्यवपूर्वस्य ॥६।१।२६॥

विभाषा १।१॥ अभ्यवपूर्वस्य ६।१॥ स०—अभिश्र अवश्र, अभ्यवौ, अभ्यवौ पूर्वो यस्य स अभ्यवपूर्वस्तस्य द्वारामी बहुव्रीहिः ॥ श्रवु०-श्यः, निष्टायाम्, सम्प्रसारणम् ॥ अर्थः — अभि, अव इत्येवं पूर्वस्य श्याधातो- निष्टायां परतो विभाषा सम्प्रसारणं भवति ॥ उदा० — अभिशीनम्, पक्षे — अविश्यानम् ॥ उभयत्र विभाष्ये विभाष्ये सम्प्रसारणं विकरूप्यते ॥ उभयत्र विभाष्ये सम्प्रसारणं विकरूप्यते ॥

भाषार्थ:— [अभ्यवपूर्वस्य] अभि अव पूर्वक श्या धातु को निष्ठा परे रहते [विभाषा] विकल्प से सम्प्रसारण होता है।। पक्ष में सम्प्र-सारण नहीं भी होगा।। सिद्धि पूर्ववत् समझें।।

यह उभयत्र विभाषा है, अतः अभि अव पूर्वक श्या धातु को इस सूत्र से द्रवमूर्त्तिस्पर्श विवक्षा में भी विकल्प होता है, ऐसा समझना चाहिये।।

यहाँ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति ६।१।२८ तक जायेगी।।

शृतं पाके ॥६।१।२७॥

शृतम् १।१॥ पाके ७।१॥ अनु०—विभाषा, निष्ठांयाम् ॥ अर्थः— पाके वाच्ये शृतमिति निपात्यते श्रा पाके इत्येतस्य धातोण्यंन्तस्याण्य-न्तस्य च क्तप्रत्यये परतः पाकेऽभिषेये शृभावो विभाषा निपात्यते ॥ शृतं क्षीरम् , शृतं हविः ॥ व्यवस्थितविभाषा चेयं तेन क्षीरह्विषोर्नित्यं शृभावो भवति अन्यत्र न भवति, यथा—श्राणा यवागृः, श्रपिता यवागृः॥

भाषार्थः—[श्रतम्] श्रुतम् यह शब्द [पाके] पाक अभिवेय होते पर निपातन किया जाता है। श्रा पाके धातु चाहे वह ण्यन्त हो या अण् यन्त उसको क्त प्रत्यय के परे रहते विकल्प से पाक अभिवेय होने पर शुभाव निपातन किया जाता है।। इस सूत्र में कही विभाषा व्यवस्थित विभाषा है, ऐसा समझना चाहिये।

व्यवस्थित विभाषा उदाहरण विशेष में विधि, एवं उदाहरण विशेष में ही निषेध करती है, इसलिये यहाँ भी क्षीर तथा हवि विषय में ही शृ आदेश की विधि तथा अन्यत्र निषेध (शृ आदेश का अभाव) होता है। श्राणा, श्रपिता का प्रयोग क्षीर हिव विषयक पाक से अन्यत्र होता है।

श्राणा में निष्ठा के तकार को नकार संयोगादेरातो॰ (८१२/४३) से हुआ है। ४१११४ से टाप् हो जायगा। श्रिपता णिजन्त के श्रा धातु से निष्ठा प्रत्यय होकर बना है। श्रितिंदीव्लीरी॰ (७१३१६) से पुक् आगम हो ही जायगा। घटादयो मितः इस धातुपाठ के सूत्र से 'श्रा' के मित् माने जाने से मितां हुस्वः (६१४१६२) से हुस्व भी हो जाता है। श्रा पुक् णिच्त टाप्= श्राप्इ त आ हुस्व होकर श्रिपता बन गया।।

प्यायः पी ॥६।१।२८॥

प्यायः ६।१॥ पी, लुप्तप्रथमान्तिनिर्देशः॥ अनु॰ — विभाषा, निष्ठायाम्॥ अर्थः — ओप्यायी वृद्धौ इत्येतस्य धातोर्निष्ठायां परतो विभाषा' पी' इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा॰ — पीनं मुखम्, पीनौ बाहू, पीनमुरः । पक्षे न च भवति — आप्यानश्चन्द्रमाः । व्यवस्थितविभाषात्वाद् अनुपसर्गस्य नित्यमादेशः, सोपसर्गस्य तद्भावो ज्ञेयः ॥

भाषार्थः—[प्यायः] ओप्यायी धातु को निष्टा परे रहते विकल्प से [पी] पी आदेश होता है।। यह भी व्यवस्थित विभाषा है, अतः अनुपसर्ग प्या धातु को नित्य 'पी' आदेश होता है, तथा सोपसर्ग को नहीं होता।। ओदित रूच (८।२।४५) से निष्ठा के त को 'न' पीनं आदि में हुआ है।।

यहाँ से 'प्यायः पी' की अनुवृत्ति ६।१।२९ तक जायेगी।।

लिड्यङोश्र ॥६।१।२९॥

लिड्यकोः ७।२॥ च अ०॥ स०—लिड्यकोरित्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—प्यायः पी॥ अर्थः —लिटि यक्ति च परतः प्यायः 'पी' इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—आपिष्ये, आपिष्याते, आपिष्यिरे । यक्ति—आपेपीयते, आपेपीयन्ते ॥

भाषार्थः—[लिड चडोः] छिट् तथा यङ् परे रहते [च] भी ओप्यायी धातु को पी आदेश होता है ॥

श्रापिएये में द्वित्वादि सब कार्य छिट् छकार में की गई सिद्धियों के सामान हैं, यहाँ केवछ 'त' को लिटस्तक्तयोरेशिरेच् (३।४।८१) से एश्

पादः]

हो जाता है। आँपेपीयते भी यङ्की सिद्धि के समान जानें। गुणो-यङ्लुकोः (७।४।८२) से अभ्यास को गुण हो ही जायेगा॥

यहाँ से 'लिडचड़ोः' की अनुवृत्ति ६।१।३० तक जायेगी॥

विभाषा श्वेः ॥६।१।३०॥

विभाषा १।१॥ १वेः ६।१॥ श्रनु० — लिड्यङोः, सम्प्रसारणम् ॥ श्रर्थः — लिटि यङि च परतः श्विधातोः सम्प्रसारणं भवति विकल्पेन ॥ उदा० — लिटि — ग्रुशाव शिश्वाय, ग्रुशुवतुः शिश्वियतुः । यङि — शोशू-

भाषार्थः—िलट् तथा यङ् परे रहते [श्वे:] दुओिश्व धातु को [विभाषा] विकल्प से सम्प्रसारण हो जाता है।। सिद्धियाँ परि॰ १।१।४३

में देखें।।

इस सूत्र में उभयत्र विभाषा है। छिट् छकार में कित् प्रत्यय (द्विवचन बहुवचन) परे रहते विचस्विपि० (६।१।१५) से श्विधातु को नित्य संप्रसारण प्राप्त था और अकित् प्रत्यय (एकवचन) परे रहते सम्प्रसारण नहीं प्राप्त था। यङ् परे रहते भी श्विको सम्प्रसारण की प्राप्ति नहीं थी। उभयत्र विभाषा में न वा अर्थों में से प्रथम न का अर्थ प्रवृत्त होता है। तदनुसार श्विको छिट् तथा यङ् परे सम्प्रसारण नहीं होता इस अर्थ द्वारा श्विको जहाँ कहीं भी (कित् परे रहते धातु को, प्राप्त सम्प्रसारण का निषेध हो गया। (यङ् में तो प्राप्त ही नहीं था अतः यङ् विषय में न की प्रवृत्ति नहीं होती)। तदनन्तर वा के अर्थ की प्रवृत्ति हुई—श्विधातु को छिट् और यङ् परे विकल्प से सम्प्रसारण होता है।।

यहाँ से 'विभाषा श्वे:' की अनुवृत्ति ६।१।३१ तक जायेगी।।

णौ च संश्चडोः ॥६।१।३१॥

्णौ ७।१।। च अ०।। संश्रङोः ७।२॥ स० संश्रङोरित्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु० — विभाषा श्वेः, सम्प्रसारणम् ॥ अर्थः — सन्परे चङ्परे च णौ परतः श्वीत्येतस्य धातोर्विभाषा सम्प्रसारणं भवति ॥ उदा० — सन्परे — ग्रुशावयिषति, शिश्वाययिषति । चङ्परे — अश्रुशवत् अशिश्वयत्॥

भाषार्थः —[संश्वडोः] सन् परे हो, या चङ्परे हो जिस [ग्री णिच् के ऐसे णि के परे रहते [च] भी दुओश्वि धातु को विका से सम्प्रसारण हो जाता है।।

यहाँ से 'ग्गौ च संश्चड़ोः' की अनुवृत्ति ६।१।३२ तक जायेगी।।

ह्नः सम्प्रसारणमभ्यस्तस्य च ॥६।१।३२॥

हः ६।१॥ सम्प्रसारणम् १।१॥ अभ्यस्तस्य ६।१॥ च अ०॥ श्रनु०-णौ च संख्रङोः ॥ अर्थः—सन्परे चङ्परे च णौ परतो हः सम्प्रसार्भ् भवति, अभ्यस्तस्य निमित्तं यो ह्वयतिस्तस्य च सम्प्रसारणं भवति॥ उदा०—जुहाविषषति जुहाविषषतः जुहाविषषन्ति। चङ्परे—अजूहवत्। अजूहवताम्, अजूहवन्। अभ्यस्तस्य—जुहाव जोहूयते, जुहूषति॥

भाषार्थः—सन्परक चङ्परक णि के परे रहते [हः] ह्वेन् धातु के [सम्प्रसारणम्] सम्प्रसारण हो जाता है, तथा [श्रम्यस्तस्य] अभ्यत्त का निमित्त जो ह्वेन् धातु उसको [च] भी सम्प्रसारण हो जाता है॥

विशेष:—'अभ्यस्तस्य च' इस अंश के अर्थ में च से 'ह्नः' का संनियोग होता है, 'अभ्यस्तस्य' तथा 'ह्नः' दोनों षष्ठ्यन्त पद हैं, सो इनका अर्थ "अभ्यस्त के ह्नेच् धातु को सम्प्रसारण होता है" यह होगा। अब प्रश्न यह है कि अभ्यस्त का ह्नेच् धातु क्या है, अर्थात् इनका परस्प क्या सम्बन्ध है सो उसको बताने के लिये अर्थ में निमित्त शब्द जोड़ी गया है, "अभ्यस्त का निमित्त = कारण जो ह्नेच्" उसे सम्प्रसारण होता है। ऐसा अर्थ करने से यह लाभ होगा, कि जिस ह्नेच्य धातु में अभ्यस्त बनने का अर्थात् द्वित्व करने का निमित्तमात्र (लिट्, सन्, यङ्, आदि) हो उसको अभ्यस्त बनने से (द्वित्व होने से) पूर्व ही सम्प्रसारण हो जाता है।

सिद्धि परि॰ ६।१।३१ के समान ही जानें। ह्वेच् को आल श्रादेच उपदेशे॰ (६।१।४४) से हो ही जायेगा।। जुहाव (छिट्) जोहूयते (यङ्) तथा जुहूषति (सन्) सनमें सिद्धि पृवेवत् जानें।।

ं यहाँ से 'ह्वः' की अनुवृत्ति ६।१।३३ तक तथा 'सम्प्रसारणम्' की∕६।१५३६ तक जायेगी।। णो

10

17

को

स्त

ग

का

19

1

ड़ा

ता

R

1(1)

d

बहुलं छन्दसि ॥६।१।३३॥

बहुलम् १।१॥ छन्दिस ७।१॥ अनुः—ह्नः सम्प्रसारणम् ॥ ऋर्यः— छन्द्सि विषये हेव्यातोवहुलं सम्प्रसारणं भवति ।। उदा०—इन्हाग्री हवे । देवीं सरस्वतीं हुवे । बहुलग्रहणात् न च भवति ह्वयामि मस्तः शिवान् । ह्यामि विश्वान् देवान् ।।

भाषार्थ: [छन्दिस] वेद विषय में ह्वेक् धातु को [बहुलम्] बहुल करके सम्प्रसारण होता है।।

हुवे लट लकार आत्मनेपद का रूप है। 'ह्रे शप् इट्' यहाँ बहुलं छन्दिस (२।४।७३) से राप् का लुक् होकर तथा प्रकृत सूत्र से सम्प्र-सारण होकर हु ए इ रहा सम्प्रसारणाच्च (६।१।१०४) से पूर्वरूप होकर 'हु इ' रहा । (६।४।७७) से 'हु' के 'उ' को उवड़ होकर 'हुव इ' रहा। पश्चात् टित त्रात्मने (३।४।७६) से एत्व होकर हुवे बन गया।।

यहाँ से 'बहुलम्' की अनुवृत्ति ६।१।३४ तक तथा

की ६।१।३५ तक जायेगी।।

चायः की ॥६।१।३४॥

चायः ६।१।। की लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः।। श्रनु०-बहुलं झन्द्सि॥ अर्थ:—चाय्धातोः छन्द्सि विषये बहुलं कीत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०— विधुना निचिक्युः, नान्यं चिक्युर्न निचिक्युरन्यम्। न च भवति-अग्नेर्ज्यीतिर्निचाय्य (य० १।१)१)।।

भाषार्थ: [चायः] चार्य धातु को वेद विषय में बहुल करके [की] 'की' आदेश हो जाता है।।

निचिक्यु: यह नि पूर्वक चायृ धातु के छिट् छकार के 'उस्' का रूप है। निचाय्य यहाँ बहुल कहने के कारण 'की' आदेश नहीं होता। निचाय्य रूप करवा को ल्यप् आदेश होकर बना है। नि चाय् क्त्वा = निचाय् ल्यप् = निचाय्य ॥

अपस्पृघेथामानृचुरानृहुश्चिच्युषेतित्याजश्राताः श्रितमाशीराशीर्ताः ॥६।१।३५॥

अपस्प्रवेथाम् तिङ्॥ आनृतुः तिङ्॥ आनृहुः तिङ्॥ चिच्युषे तिङ्।। तित्याज तिङ्।। श्राताः ११२॥ श्रितम् १११॥ आशीर् १११॥

आशीर्ताः ११३॥ श्रनु०-छन्दसि, सम्प्रसारणम्॥ श्रर्थः-छन्दसि विषये एते शब्दा निपात्यन्ते ॥ अपस्पृघेथाम् इत्यत्र स्पर्धधातोर्छङि आथामि द्विष-चनं रेफस्य सम्प्रसारणम् अकारलोपश्च निपातनात् भवति।। अपर आह— अपपूर्वस्य स्पर्धेः लङि, आंथामि, सम्प्रसारणमकारलोपश्च निपातनात्। बहुलं छुन्दस्यमाङ्योगेऽपि (६।४।७५) इत्यडागमो न भवति । अस्मिन् पक्षे द्वित्वस्य नास्त्यावश्यकता ॥ इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथाम्। पूर्वस्मिन् पक्षे भाषायाम् अस्पर्धेथाम्, अपरस्मिन् पक्षे अपास्पर्धेथाम् इति भवति । आनृचुः आनृहुरित्यत्र, अर्च पूजायाम्, अर्ह पूजायामित्य-नयोः धात्वोः लिटि उसि परतः सम्प्रसारणमकारलोपश्च निपातनाद् 🐧 भवति ॥ य ट्रमा अर्कमानृ चुः (ऋ० १।१६।४) । न आनर्चुः आनर्द्वरिति भाषायाम् ।। चिच्युषे, इत्यत्र च्युङ्गतावित्यस्य धातोः लिटि 'से' (थासः से ३।४।८०) परतोऽभ्यासस्य सम्प्रसारणमिनट् त्वञ्च निपातनाद् भवति । चुच्युविषे इति भाषायाम् । तित्याजेत्यत्र त्यजधातोः लिटि परतोऽभ्यासस्य सम्प्रसारणं निपाट्यते । तित्याज। तत्याजेति भाषायाम्।। श्राता इत्यत्र श्रीञ् धातोर्निष्टायां परतः श्राभावो निपात्यते ।। श्रातास्त इन्द्रसोमाः ।। श्रितमित्यत्र तस्यैव श्रीञ्धातोः निष्ठायां परतो हस्वत्वं निपात्यते ॥ सोमो गौरी अधिश्रितः ॥ आशीरि त्यत्रापि तस्यैव आङ्पूर्वस्य श्रीञ्धातोः किपि परतः शीरादेशो निपात्यते॥ तामाशीरा दुहन्ति ।। आशीर्ता इत्यत्रापि आङ्पूर्वस्य श्रीञ्घातोः निष्टायां परतः शोर्भावो निष्ठायाश्च रदाभ्यां नि (८।२।४२) इत्यनेन नत्वे प्राप्तेऽ भावो निपात्यते ॥ क्षीरैर्मध्यत आशीर्त्तः ॥

भाषार्थ:—वेद विषय में [अपस्पृः ः शीर्ताः] अपस्पृधेथाम् आदि शब्द निपातन किये जाते हैं ॥ अपस्पृधेथाम् यहाँ स्पर्ध धातु से छहा लकार में आधाम् होकर स्पर्ध को द्विवचन तथा रेफ को सम्प्रसारण, एवं धातु के 'प्' से उत्तरवर्ता 'अ' का लोग भी निपातन से होता है ॥ स्पर्ध अ आथाम्, द्वित्व होकर, स्पर्ध स्पर्ध अ आथाम् रहा, शर्वृवीः खयः (७।४।६१) लगकर एवं सम्प्रसारण तथा 'प' के 'अ' का लोग होकर प स्प् ऋध् अ आथाम् रहा । आतो जितः (७।२।८१) से 'आ' को इय् एवं आद् गुणः (६।१।८४) से गुण एकादेश तथा लोगे व्योविल (६।१।६४) से यू का लोग और अज्ञाम होकर अपस्पृधेथाम् बना ॥ कई लोगों का मत है कि अप पूर्वक स्पर्ध धातु से लङ् लकार में आथाम् परे रहते

तं

[

4

7

ì

11

दे

ह्

Π,

11

T:

4

र्वं

से

न्त

ते

सम्प्रसारण तथा अकार छोप ही निपातन है। इस पक्ष में स्पर्ध को द्वित्व करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। बहुलं छुन्दस्यमाङ्योगेऽपि (६१४। ७५) से इस पक्ष में अट् आगम का अभाव भी हो जायेगा।। शेष पहले के समान ही सिद्धि जानें।। भाषा में द्वित्व सम्प्रसारण तथा अकार छोप निपातन से नहीं होगा, अतः प्रथम पक्ष में 'अस्पर्धेथाम्' और द्वितीय पक्ष में 'अपास्पर्धेथाम्' रूप बनेगा। आनृचुः आनृहुः में अर्च पूजायाम् अर्ह पूजायाम् धातु से छिद् छकार के उस् परे रहते रेफ को सम्प्रसारण अकार छोप निपातन से किया जाता है।। अर्च छिद् = अर्च अर्च उस् = ६११।८ से द्वित्व होकर अर्च अर्च उस् = अ अर्च उस् रहा। श्रत आदेः (७।४।७०) से अभ्यास को दीर्घ तथा तस्मानुड द्विहलः (७।४।७१) से नुद् आगम होकर आ नुद् अर्च उस् = आन् अर्च उस् रहा। निपातन से अर्च के अ का छोप तथा सम्प्रसारण होकर आन् ऋच् उस् = आनृचुः बन गया। इसी प्रकार आनृहुः में जानें।। भाषा में सम्प्रसारण तथा अकारछोप नहीं होगा तो आन्चुः आन्हुः बनेगा।।

चिच्युषे में च्युङ् गतौ धातु से लिट् छकार के 'से' (थासः से) परे रहते अभ्यास को सम्प्रसारण तथा अनिट्ल निपातन किया जाता है।। च्यु च्यु से = निपातन से सम्प्रसारण होकर च्इ उ च्यु से = चिच्युषे बन गया। आर्धधातुकस्येड्० (७।२।३५) से इट् आगम प्राप्त था निपातन से अनिट्ल भी कर दिया गया। भाषा में चुच्युविषे बनेगा।।

तित्याज में त्यज हानौ धातु से लिट् के णल् परे रहते अभ्यास को सम्प्रसारण निपातन किया गया है।। भाषा में तत्याज ही बनेगा॥ श्राता यहाँ श्रीक् धातु को निष्ठा (क्त) परे रहते श्रा भाव निपातन है॥ श्रातास्त इन्द्रसोमाः॥

श्रितम् यहाँ श्रीञ्धातु को निष्टा परे रहते हस्वत्व निपातन है। श्रिता नो गृहाः॥

आशीर्में आङ् पूर्वक श्रीव् धातु को किप् परे रहते शीर् आदेश निपातन है। तामाशीरा दुहन्ति॥

आशीर्त्ता यहाँ भी आङ् पूर्विक श्रीव्य घातु को निष्ठा परे रहते शीर् भाव तथा रदाभ्यां निष्ठातो० (८।२।४२) से प्राप्त निष्ठा के त को न जा अभाव निपातन किया गया है। चीरैर्म ध्युत आशी र्तः (ऋ.८।२।९)॥

न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम् ॥६।१।३६॥

न अ० ॥ सम्प्रसारणे ७।१॥ सम्प्रसारणम् १।१॥ अर्थः—सम्प्रसारणे परतः पूर्वस्य यणः सम्प्रसारणं न भवति ॥ उदा०—व्यथ—विद्धः। व्यच—विचतः । व्येव्—संवीतः ॥

भाषार्थः —[सम्प्रसारणे] सम्प्रसारण परे रहते [सम्प्रसारणम्]
सम्प्रसारण [न] नहीं होता ।। वाक्य तथा वर्ण दोनों की सम्प्रसारण
संज्ञा'होती है, यह बात इग्यणः (१।१।४४) सूत्र में कही गई है।
जहाँ सम्प्रसारण कहा हो वहाँ यदि दो यण् हों तो दोनों को सम्प्रसारण
होना चाहिये पर इष्ट ऐसा है नहीं, अतः सम्प्रसारणसंज्ञक इक् के परे
रहते पूर्व यण् को सम्प्रसारण नहीं होता, अर्थात् पहले पर वाले यण्
को इक् होगा उसके परे रहने पर पूर्व को निषेध हो जायेगा। व्यथ
व्यच आदि में व्य दोनों सम्प्रसारण भावी यण् थे, सो प्रकृत सूत्र से
पूर्व यण् को सम्प्रसारण का निषेध होता है। पर यण् (य) को सम्प्रसारण ६।१।१६ से हो गया।।

व्यथ क्त = विध् त = भाषस्तथो॰ (८।२।४०) लगकर विध् ध् रहा। भाषां जश् भाशि (८।४।५२) से ध् को द् होकर विद्धः बन गया है।।

यहाँ से 'न सम्प्रसारणम्' की अनुवृत्ति ६।१।४३ तक जायेगी।

लिटि वयो यः ॥६।१।३७॥

लिटि ७११॥ वयः ६११॥ यः ६११॥ अनु०—न सम्प्रसारणम्॥ अर्थः—लिटि परतो वयो यकारस्य सम्प्रसारणं न भवति॥ उदा० डवाय, ऊयतुः, ऊयुः॥

भाषार्थ:-[लिटि] लिट् लकार परे रहते [नय:] वय् के [य:] यकार की सम्प्रसारण नहीं होता।। लिट्य०(६।१।१७) महिज्या०(६।१।१६)से सम्प्रसारण प्राप्त था, जिसमें पूर्व सूत्र के ज्ञापन से प्रथम पर यण् को (य् को) सम्प्रसारण प्राप्त हुआ, उसका यह निषेध सूत्र है। यकार को सम्प्रसारण का निषेध

[ै] १. सम्प्रसारण परे रहते पूर्व यग् को सम्प्रसारण के निषेच से ज्ञापन होती है, कि जहाँ सम्प्रसारणभावी एक से अधिक यण् होते हैं, वहाँ प्रथम पर यग् की सम्प्रसारण होता है।

पादः] • षष्ठोऽध्यायः

ŋ

T.

ध

[-

क्रो

AI'

ध

ता को

38

हो जाने पर 'व्' को सम्प्रसारण होता है। सिद्धि परि॰ २।४।४१ में देखें।।

यहाँ से 'वयो यः' की अनुवृत्ति ६।१।३८ तक तथा 'लिटि' की ६।१।३९ तक जायेगी।।

वश्रास्यान्यतरस्यां किति ॥६।१।३८॥

वः १।१॥ च अ०॥ अस्य ६।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ किति ७।१॥ अनु०—लिटि वयो यः ॥ अर्थः—अस्य वयो यकारस्य किति लिटि परतो विकल्पेन वकारादेशो भवति ॥ उदा०—ऊवतुः, ऊवुः, ऊयतुः, ऊयुः॥

मापार्थ:—[अस्य] इस वय के यकार को [किति] कित् छिट् परे रहते [वः] वकारादेश [च] भी [अन्यतरस्याम्] विकल्प करके हो जाता है ॥ अमंयोगाल्लिट् कित् (१।२।५) से अतुस् उस् कित्वत् हैं ही, सो ऊवतुः ऊवुः ऊयतुः ऊयुः दो रूप बनें ॥ धूत्र में 'अस्य' निर्देश पूर्व सूत्र द्वारा जिस यकार को सम्प्रसारण का निषेध किया है उसका है अतः निषेध किये हुए सम्प्रसारण वाले यकार के स्थान पर होने वाले वकार को भी सम्प्रसारण नहीं होता ॥ सिद्धि परि० २।४।४१ में देख हैं॥

वेञः ॥६।१।३९॥

वेञः ६।१॥ अनु - लिटि, न सम्प्रसारणम् ॥ अर्थः - वेञ् तन्तु-सन्ताने, इत्यस्य धातोर्लिटि परतः सम्प्रसारणं न भवति ॥ उदा - वनी, ववतुः, वतुः ॥

भाषार्थः—[वेजः] वेष् घातु को छिट् परे रहते सम्प्रसारण नहीं होता ।। विचस्विपयजा० (६।१।१५) से कित् परे रहते सम्प्रसारण प्राप्त था, तथा पित् स्थानी णल् थल् में भी लिट्यम्यासस्यो० (६।१।१७) से सम्प्रसारण प्राप्त था, उन दोनों का यह निषेध सूत्र है।। यहाँ से 'वेजः' की अनुवृत्ति ६।१।४० तक जायेगी।।

ल्यपि च ॥६।१।४०॥

ल्यपि ७।१॥ च अ०॥ अनु०—वेबः, न सम्प्रसारणम्॥ अर्थः— ल्यपि च परतो वेबः सम्प्रसारणं न भवति ॥ उदा०--प्रवाय, उपनायं॥ माषार्थः—[ल्यपि] ल्यप् परे रहते [च] भी वैब् को सम्प्रसारणं नहीं होता ॥ स्थानिवत् से ल्यप् कित् माना गया, सो कित् परे होने से

प्रथम:

विस्विपयजा० (६।१।१५) से सम्प्रसारण प्राप्त था, उसका निषेध हो गया। आदेच उप० (६।१।४४) से वेच् को आत्व हो ही जायेगा।।

यहाँ से 'ल्यपि' की अनुवृत्ति ६।१।४३ तक जायेगी।।

ज्यक्च ॥६।१।४१॥

ज्यः ६।१॥ च अ०॥ अनु०—त्यिप, न सम्प्रसारणम् ॥ अर्थः— ज्याधातोत्यिप परतः सम्प्रसारणं न भवति॥ उदा०—प्रज्याय, जपज्याय॥

भाषार्थः — ल्यप् परे रहते [ज्यः] ज्या धातु को [च] भी सम्प्र-सारण नहीं होता ।। यहिज्या० (६)१।१६) से सम्प्रसारण प्राप्त था, निषेध कर दिया ।।

व्यक्च ॥६।१।४२॥

व्यः ६।१॥ च अ० ॥ अनु०— ल्यपि, न सम्प्रसारणम् ॥ अर्थः — व्येन्धातोर्ल्यपि परतः सम्प्रसारणं न भवति ॥ उदा० — प्रव्याय ॥

भाषार्थः—[व्यः] व्येव् धातु को [च] भी ल्यप् परे रहते सम्प्रसारण नहीं होता ।। व्येव् को आत्व ६।१।४४ से हो ही जायेगा॥ पूर्ववत् सम्प्रसारण प्राप्त था निषेध कर दिया ।।

यहाँ से 'व्यः' की अनुवृत्ति ६।१।४३ तक जायेगी।।

विभाषा परे: ॥६।१।४३॥

विभाषा १।१॥ परेः ५।१॥ श्रनुः—ठयः, ल्यपि, न सम्प्रसारणम्॥ अर्थः—परेरुत्तरस्य व्येवधातोर्ल्यपि परतो विभाषा सम्प्रसारणं न भवति ॥ उदाः परिवीय यूपम् । पक्षे परिव्याय ॥

भाषार्थः—[परे:] परि उपसर्ग से उत्तर व्येष्ट्य धातु को [विमाषा]
विकल्प करके सम्प्रसारण नहीं होता।। परि व्या ल्यप् = न सम्प्रसारणे॰
(६।११३६) के नियम से 'य्' को सम्प्रसारण ६।१।१५ से हुआ। परि व इंशा, य = परिविंग = हलः (६।४।२) से दीर्घ होकर परिवीय बन ग्या ।। हो

ते

11

0

a

17

[आत्वप्रकरण्म्]

आदेच उपदेशेऽशिति ।।६ं।१।४४॥

आत् १।१॥ एचः ६।१॥ उपदेशे ७।१॥ अशिति ०।१॥ स०—श् इत् यस्य स शित्, न शित् अशित् तस्मिन् ः ः बहुवीद्दिगर्भनम् तत्पुरुषः ॥ त्रर्थः — उपदेशावस्थायां य एजन्तो धातुस्तस्याकारादेशो भवति शिति प्रत्यये परतस्तु न भवति । उदाः — ग्लै — ग्लाता, ग्लातुम्, ग्लातव्यम् । शो — निशाता, निशातुम्, निशातव्यम् ॥

भाषार्थः—[जपदेशे] उपदेश अवस्था में जो [एचः] एजन्त धातु उसको [आत्] आकारादेश हो जाता है, [श्रिशिति] शित् प्रत्यय परे हो तो नहीं होता।। अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) से अन्तिम अल् एच् को ही आत्व होता है ॥ यहाँ लिटि धातो० (६।१।८) से धातोः की अनुवृत्ति मण्डूकप्लुति से जाननी चाहिये।।

यहाँ से 'आदेचः' की अनुवृत्ति ६।१।५६ तक तथा 'उपदेशे' की ६।१।६३ तक जायेगी ।।

न च्यो लिटि ॥६।१।४५॥

न अ०।। व्यः ६।१॥ छिटि ७।१॥ अनु०—आदेच उपदेशे॥ श्रर्थः - व्येव्यातोरेचः स्थाने छिटि परत आकारादेशो न भवति॥ उदा०—संविव्याय, संविव्ययिथ॥

भाषार्थः — उपदेश में एजन्त जो [न्यः] न्येन् धातु उसको [लिटि] छिट् परे रहते आकारादेश [न] नहीं होता ॥ पूर्ववत् द्वित्वादि होकर 'न्ये न्ये णलु' रहा। लिट्यभ्यासस्यो० (६१११९७) एवं न सम्प्रसारणे० (६१११३६) के नियम से अभ्यास के पर यण् य् को सम्प्रसारण होकर 'वि न्ये अ' रहा। णल् को मानकर ए को ए वृद्धि तथा आयादेश होकर संविन्याय बना। संविन्ययिथ में इंडन्यर्तिन्ययतीनाम् (७।२।६६) से इंट् आगम हो जाता है।

स्फ्ररतिस्फुलत्योर्घनि ॥६।१।४६॥

स्फुरतिस्फुळत्योः ६।२॥ घिच ७।१॥ स०—स्फुरति० इत्यजेतरेतर-द्वन्द्वः ॥ अनु०—आदेचः ॥ अर्थः—स्फुर स्फुळ संचळने इत्येतयोः धात्वो-

प्रथमः

रेचः स्थान आकारादेशो भवति घिन परतः ॥ उदा०—विस्पारः विस्पारः । विष्पारः विष्पारः ॥

भाषार्थ:—[स्फुरितस्फुलत्योः] स्फुर तथा स्फुल धातुओं के एच् के स्थान में [धिन] घन् परे रहते आकारादेश हो जाता है।। स्फुर स्फुल को गुण कर लेने पर जो एच् होता है उसको आत्व इस सूत्र से होता है, क्योंकि उपदेशावस्था में तो एच् है नहीं, अतः उपदेश की अनुवृत्ति यहाँ एवं इसी प्रकार अन्यत्र जहाँ उपदेश में एच् न हो सम्बद्ध नहीं होती॥ उदाहरणों में विकल्प से पत्व स्फुरितस्फुलत्योनिनिविभ्यः (८।३।७६) से होता है।।

क्रीड्जीनां णौ ॥६।१।४७॥

क्रीङ्जीनाम् ६।३॥ णौ ७।१॥ स०-क्री च इङ्च जिश्च क्रीङ्जयस्तेषां । इत्तरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु० आदेचः ॥ अर्थः इक् जि इत्येतेषां धातूनामेचः स्थान आकारादेशो भवति णौ परतः ॥ उदा० कापयित, अध्यापयित, जापयित ॥

भाषार्थ:—[क्रीङ्जीनाम्] डुक्रीव् द्रव्यविनिसये, इङ् अध्ययने, जि जये इन धातुओं के एच् के स्थान में [गाँ] णिच् परे रहते आकारादेश हो जाता है।। भाग १ परि० ३।३।१६६ के अध्यापय के समान ही अध्यापयित की सिद्धि में 'अध्यापि' धातु बनाकर शप् तिप् छाकर सिद्धि जानें।। शेष की तथा जि को भी गुण होकर प्रकृत सूत्र से आत्व करके पुक् आगम करके पूर्ववत् सिद्धि जानें।।

यहाँ से 'ग्री' की अनुवृत्ति ६।१।४८ तक जायेगी।।

सिघ्यतेरपारलौकिके ॥६।१।४८॥

सिध्यतेः ६।१॥ अपारलैकिके ७।१॥ परलोकः प्रयोजनमस्येति पारलैकिकः । प्रयोजनम् (५।१।१००) इति ठक्, अनुश्रतिकादित्वाच (७,३।२०) उभयपदवृद्धिः ॥ स०—अपारलै॰ इत्यत्र नन्तत्पुरुषः ॥ अनु०-णौ, आदेचः ॥ अर्थः—अपारलैकिकेऽर्थे वर्त्तमानस्य षिष्ठं धातीरेंचः स्थाने णौ परत आकारादेशो भवति ॥ उदा०—अन्नं साध्यति, श्रीमं साध्यति ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

C:

i

ज

হা

ति च

11

g

a.

माषार्थ:—[सिध्यते:] 'षिधु हिंसासंराध्योः' धातु यदि [त्रपार-लौकिके] अपारलौकिक अर्थ में वर्त्तमान हो तो उसके एच् के स्थान में णिच् परे रहते आकारादेश हो जाता है।। अन्नं साधयति (अन्न को पकाता है) यहाँ उदाहरणों में परलोक को सिद्ध करना अर्थ नहीं है, अतः आत्व हो गया है। सिध् को सेध् गुण करके आत्व होता है।।

मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि च ॥६।१।४९॥

मीनातिमिनोतिदीङाम् ६।३॥ ल्यपि ७।१॥ च अ०॥ स०—मीनातीत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ श्रनु०—आदेच उपदेशे॥ अर्थः—मीन् हिंसायाम्,
डुमिन् प्रक्षेपणे, दीङ् क्षये इत्येतेषां धातूनां ल्यपि विषये चकारादेचश्च विषय उपदेश एवाकारादेशो भवति॥ उदा०—प्रमाता प्रमातुं
प्रमातव्यम्। ल्यपि—प्रमाय। डुमिन् निमाता निमातुं निमातव्यम्।
ल्यपि—निमाय। दीङ्—उपदाता उपदातुम् उपदातव्यम्। ल्यपि—उपदाय।

भाषार्थः—[मीनातिमिनोतिदीङाम्] मीञ् डुमिञ् तथा दीङ् धातुओं को [लयपि] लयप् परे रहते [च] तथा एच् के विषय में भी उपदेश अवस्था में ही आत्व हो जाता है।। एच् विषय में ही अर्थात् एच् बनने की सम्भावना होने पर ही आत्व विधान करने से श्रली-ल्यस्य (१।१।५१) से अन्तिम अल् को आत्व एच् बनने से पूर्व ही हो जाता है । तृच् तुमुन् तन्य प्रत्यय के परे रहते गुण सम्भव है, अतः ये एच् विषयक हैं सो इनका विषय उपस्थित होगा यह मानकर पूर्व ही आत्व हो जाता है। लयप् स्थानिवत् से कित् है अतः यहाँ गुण सम्भव नहीं सो लयप् का पृथक् प्रहण है।।

यहाँ से 'ल्यपि' की अनुवृत्ति ६।१।५० तक जायेगी।।

विभाषा लीयतेः ॥६।१।५०॥

विभाषा १।१॥ श्रीयतेः ६।१॥ श्रानु०-ल्यपि, आदेच उपदेशे॥

१. इसका फल यह है कि 'उपदायो वर्तते' में इकारान्तलक्षण (३।३१६६) अच् नहीं होता, घव् होता है 'ईषदुपदानम्' में आतो युच् (३।३।१२८) से आकारान्त लक्षण युच् हो जाता है ।।

अर्थ:—छीङ् रलेषणे छी रलेषणे इति द्वयोरिप महणम्। छीयतेर्घातो-ल्येपि च, एचश्च विषय अपदेश एव विभाषाऽऽकारादेशो भवति॥ उदा०—विळाता, विळातुम्, विळातव्यम्। ल्यिप—विळाय। पक्षे— विलेता, विलेतुम्, विलेतव्यम्। ल्यिप—विळीय॥

भाषार्थः — छीड़् श्लेषणे तथा छी श्लेषणे दोनों धातुओं का यहाँ प्रहण है। [लीयते:] छी धातु को ल्यप् परे रहते तथा एच् विषय में [विभाष्मा] विकल्प से उपदेश अवस्था में ही आत्व हो जाता है।। पूर्व सूत्र के समान यहाँ भी एच् विषय में अलो ८न्त्यस्य से आत्व होगा हैसा जानें।।

यहाँ से 'विमाषा' की अनुवृत्ति ६।१।५५ तक जायेगी।।

खिदेश्छन्दिस ॥६।१।५१॥

खिदेः ६।१॥ छन्दसि ७।१॥ श्रनु०—विभाषा, आदेचः ॥ अर्थः— खिद दैन्ये धातोरेचः स्थाने छन्दसि विषये विकल्पेन आकारादेशो भवति ॥ उदा०—चित्तं चखाद, चित्तं चिखेद ॥

भाषार्थ: — [िलदे:] स्तिद् धातु के एच् के स्थान में [इन्दिस] वेद विषय में विकल्प से आत्व होता है।। प्रथम खिद धातु को छिट में गुण होकर प्रकृत सूत्र से आत्व करने पर द्वित्व एवं अभ्यास कार्य करके चखाद बन गया, पक्ष में चिखेद रहा।।

अपगुरो णम्रुलि ॥६।१।५२॥

अपगुरः ६।१।। णमुल्लि ७।१।। स०—अपात् गुर् अपगुर् तस्मातः पद्धमीतत्पुरुषः ।। अनु०—विभाषा, आदे वः ।। अर्थः—अपपूर्वस्य गुरी उद्यमने धातोणमुल्लि परत एचः स्थाने विभाषा आकारादेशो भवति ।। उदा०—अपगारमपगारम् । अपगोरमपगोरम् ।।

भाषार्थ:— [श्रापगुर:] अप पूर्वक गुरी उद्यमने धातु के एच् के स्थान में "[णमुलि] णमुळ् परे रहते विकल्प से आत्व हो जाता है।। उदाहर रण में आभी द्राये रामुल्व (३।४।२२) से णमुळ् प्रत्यय तथा श्राभी-द्राये द्वे भवतः (वां०८।१।१२) वार्त्तिक से 'अपगारम' को द्वित्व हुआ है ।

चिस्फ्ररोणीं ॥६।१।५३॥

चिस्फुरोः ६।२॥ णौ ७।१॥ स०—चिश्च स्फुर् च चिस्फुरौ तयोः इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु० —विभाषा आदेचः ॥ अर्थः —चि स्फुर इत्येतयोः धात्वोरेचः स्थाने णौ परत विकल्पेनाकारादेशो भवति ॥ उदा०—चाप-यति, चाययति । स्फारयति, स्फोरयति ॥

भाषार्थ:---[चिस्फुरोः] चि तथा स्फुर धातुओं के एच् के स्थान में [गाँ] णिच् परे रहते विकल्प से आत्व हो जाता है।। त्रात्व पक्ष में 'चापयित' में त्रितिहीन्ली (७।३।३६) से पुक् आगम तथा अनात्व पक्ष में चि को चै वृद्धि एवं आयादेश होकर 'चायि अ ति' रहा। पश्चात् गुण एवं अयादेश होकर चाययित बना।।

यहाँ से 'गाँ' की अनुवृत्ति ६।१।५६ तक जायेगी।।

प्रजने वीयतेः ॥६।१।५४॥

प्रजने ७११॥ वीयतेः ६११॥ श्रनु०-णौ, विभाषा, आदेचः॥ अर्थः-प्रजनेऽर्थे वर्त्तमानस्य 'वी' इत्यस्य धातोणौं परत विकल्पेनाकारादेशो भवति ॥ उदा०-पुरो वातो गाः प्रवापयति । प्रवाययति ॥

माषार्थः—[प्रजने] प्रजन अर्थ में वर्त्तमान [वीयतेः] वी घातु के एच् के स्थान में विकल्प से आकारादेश हो जाता है, णिच् परे रहते॥ पूर्ववत् आत्व पक्ष में पुक् आगम तथा अनात्व पक्ष में वृद्धि आदि कार्य जानें॥ उदा०--पुरो वातो गाः प्रवापयति (पूर्व दिशा का वायु गौओं को गर्भ धारण कराता है)। प्रवाययति॥

विमेतेर्हेतुभये ॥६।१।५५॥

बिभेतेः ६।१॥ हेतुभये ७।१॥ स०—हेतोर्भयम् हेतुभयम्, तस्मिन्
पञ्चमीतत्पुरुषः ॥ श्रनु०—णौ, विभाषा, आदेचः ॥ अर्थः—हेतुभयेऽर्थे
वर्त्तमानस्य 'विभी भये' इत्यस्य धातोरेचः स्थाने णौ परतो विकल्पेनाकारादेशो भवति । स्वतन्त्रस्य कर्त्तुः प्रयोजकः (१।४।५५) हेतुरिह गृह्यते ॥ उदा०—ग्रुण्डो भापयते, ग्रुण्डो भीषयते । जिटलो भापयते, जिल्लो भीषयते ॥

भाषार्थ:—स्वतन्त्र कर्त्ता का जो प्रयोजक वह 'हेतु' शब्द से यहाँ लिया गया है, ऐसा साक्षात् हेतु जहाँ भय का कारण बन रहा हो उस

प्रथम:

अर्थ में अर्थात् [हेतु भये] हेतु से भय अर्थ में वर्त्तमान [विभेतेः] निभी धातु के एच् के स्थान में शिच् परे रहते विकल्प से आत्व होता है॥ भीषयते की सिद्धि भाग १ प्रः ७१५ में देखें। यह अनात्व पक्ष का रूप है, आत्व पक्ष में पुक् आगम होगा, शेष भीषयते के समान जानें।।

यहाँ से 'हेतुमये' की अनुवृत्ति ६।१।५६ तक जायेगी ।।

नित्यं स्मयतेः ॥६।१।५६॥

नित्यम् १।१॥ स्मयतेः ६।१॥ अनु०—हेतुभये, णौ, आदेचः॥ अर्थः—हेतुभयेऽर्थे स्मिङ् ईषद्धसने इत्यस्य धातोरेचः स्थाने गौ परतो नित्यमात्वं भवति॥ उदा०—मुण्डो विस्मापयते, जटिलो विस्मापयते॥

माषार्थ:—हेतुभय अर्थ में वर्त्तमान [स्मयते:] सिमङ् धातु के एच् के स्थान में णिच् परे रहते [नित्यम्] नित्य ही आत्व हो जाता है ॥ यहाँ भी हेतु शब्द का पूर्ववत् अर्थ समझें ॥ विस्मापयते में भीरम्योईतुमये (१।३।६८) से आत्मनेपद तथा पूर्ववत् पुक् का आगम होता है ॥

सृजिद्योर्झस्यमिकति ।।६।१।५७।।

सृजिद्दशोः ६।२॥ झिळ ०।१॥ अम् १।१॥ अकिति ०।१॥ स०— सृजि॰ इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः । अकितीत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ अर्थः—सृज विसर्गे, दक्षिर् प्रेक्षणे, इत्येतयोः धात्वोरमागमो भवति झलादाविकिति प्रत्यये परतः ॥ उदा॰—स्रष्टा, स्रष्टुम्, स्रष्टन्यम् । द्रष्टा, द्रष्टुम्, द्रष्टन्यम् ॥

भाषार्थ:—[सृजिहशोः] सृज और हिशर् धातु को [अकिति] कित् भिन्न [क्ति] झलादि प्रत्यय परे हो तो [अम्] अम् आगम होता है ॥ हुशू तृच् यहाँ अम् आगम मिदचो० (१।१।४६) से अन्त्य अच् से परे होकर सृ अम् ज् तृ रहा यणादेश तथा त्रश्चभ्रस्ज० (८।२।३६) से पत्व एवं ब्हुत्व होकर 'स्र ब्ट्र' रहा। शेष कार्य तजन्त की सिद्धि के समान होकर सृष्टा (बनाने वाला) बना। इसी प्रकार अन्यत्र भी जानें॥

यहाँ से 'मल्यमिकति' की अनुवृत्ति ६।१।४८ तक जायेगी।।

अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम् ॥६।१।५८॥

अनुदात्तस्य ६।१॥ च अ०॥ ऋदुपधस्य ६।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ स०—ऋकार उपधा यस्य स ऋदुपधस्तस्य " बहुब्रीहिः॥ अनु०-झल्यमिकति, उपदेशे॥ अर्थः – उपदेशेऽनुदात्तस्य ऋकारोपधस्य धातोई्शंळादाविकति प्रत्यये परतो विकल्पेनामागमो भवति॥ उदा०—त्रप्ता, तर्पिता, तर्पा। द्रप्ता, दर्पिता दर्पा॥

भाषार्थः - उपदेश में जो [अनुदात्तस्य] अनुदात्त [च] तथा [ऋदुप-धस्य] ऋकार उपधा वाली धातु उसको अम् आगम [अन्यतरस्याम्] विकल्प से अकित् झलादि प्रत्यय परे रहते हो जाता है।। तृप दप धातु को रधादिभ्यश्च (७।२।४५) से इट् भी विकल्प से होता है सो पक्ष में तर्पिता, दर्पिता रूप बनेगा। जब अम् आगम होगा तो त्रप्ता द्रप्ता तथा जब पक्ष में अम् तथा इट् नहीं होगा तो गुण होकर तर्हा दर्ता बनेगा। तृप् दृप् धातुएं ऋकारोपध तथा अनिट् हैं।

शीर्षं इछन्दिस ॥६।१।५९॥

शीर्षन् १।१।। छन्दसि ७।१।। अर्थः—शीर्षन् इति निपात्यते छन्दसि विषये। न पुनरयमादेशः शिरःशब्दस्य, किन्तु शिरःशब्देन समानार्थ- को भिन्नोऽयं शब्दः ।। उदा०—शीष्णी हि तत्र सोमं कीतं हरन्ति। यत्ते शिष्णी दौर्भाग्यम्।।

भाषार्थः—[शीर्षंन्] शीर्षन् शब्द [छन्दिस] वेद विषय में निपातन किया जाता है।। शिरस् शब्द का पर्यायवाची यह शीर्षन् शब्द प्रथक् निपातित है, न कि शिरस् को शीर्षन् आदेश निपातित किया है।।शीर्ष्णां यह तृतीयान्त तथा शीर्ष्णः षष्टचन्त का रूप है। अल्लोपोऽनः (१।४।१३४) से यहाँ अकार छोप हुआ है।।

यहाँ से 'शीषंन्' की अनुवृत्ति ६।१।६० तक जायेगी।।

ये च तद्धिते ॥६।१।६०॥

ये ७।१॥ च अ०॥ तद्धिते ७।१॥ अनु०-शीर्षन् ॥ अर्थः - यंका-

१. आदेशनिपातने वेदे शिरसः प्रयोगो न स्यात् । दृश्यते च तस्यापि प्रयोग इति कृत्वा प्रकृत्यन्तरं निपात्यते ।

रादौ तद्धिते परतः शिरःशब्दस्य शीर्षत्रादेशो भवति । आदेशोऽयमिष्यते शिरःशब्दस्य ॥ उदा०—शीर्षण्यो हि मुख्यो भवति । शीर्षण्यः स्वरः॥

भाषार्थः — [ये] यकारादि [ति इते] ति इते के परे रहते [च] भी शिरस् को शीर्षन् आदेश हो जाता है।। इस सूत्र में शीषन् भिन्न शब्द इष्ट नहीं किन्तु शिरस् को शीपन् आदेश इष्ट है।। शिरिस भवः शीर्षण्यः यहाँ शरीरावयवाच (४।३।५५) से यत् ति इत प्रत्यय हुआ है। नस्ति इते से यहाँ टिलोप ये चामावकर्मणोः (६।४।५६८) से प्रकृतिभाव होने के कारण नहीं होता।।

पद्देशोमास्हित्रशसन्यूपन्दोपन्यकञ्छकन्नुद्वासञ्छ-स्प्रभृतिषु ॥६।१।६१॥

पद्नो "सन् , सर्वे पृथक् पृथक् लुप्तप्रथमान्तनिर्दिष्टाः ॥ शक्ष्मितिषु ७।३॥ स०—शस् प्रभृतयः = प्रकाराः येषां ते शस्प्रभृतयस्तेषु "बहुत्रीहिः ॥ श्रमु० मण्डूक्ष्लुतगत्या 'छन्दसि' इत्यनुवर्त्तते ॥ श्रथः पाद, दन्त, नासिका, मास, हृद्य, निशा, असृज् , यृष, दोष, यकृत, शकृत् , उदक् आस्य इत्येतेषां स्थाने यथासङ्ख्यं पद्, दत्, नस् , मास्, हृत्, निश्, असन् , यूषन्, दोषन्, यकन् , शकन्, उदन्, आसन् इत्येते आदेशा भवन्ति, छन्दसि विषये शस्प्रभृतिषु प्रत्ययेषु परतः ॥ आदेशा नुरूपप्रकृत्याक्षेपात् स्थानिनः परिज्ञानं भवित ॥ उदा० पद् निप-दश्चतुरो जिह् । पदा वर्त्तय गोदुहम् । दत् या दतो धावित तस्य श्यावदन् । नस् स्कुरस्वखनन्नसा । मास् मासि त्वा पश्यामि चक्षुषा । हृत — हृदा पूतेन मनसा जातवेदसम् । निश् अमावास्यायां निशि यजेत । असन् —असिक्तोऽस्तावरोहित । यूषन् —या पात्राणि यूष्ण आसे चनानि । दोषन् —यत्ते दोष्णो दौर्भाग्यम् । यकन् —यक्नोऽवद्यति । शकन् —उद्नो दिव्यस्य नावा ते । आस्य आसनि किं छभे मधूनि ॥

भाषार्थः —यहाँ स्थानी का निर्देश नहीं किया गया, केवल आदेश गिरागये हैं, सो अर्थ के अनुसार आदेश के अनुरूप स्थानी का आक्षेप कर

१, भ्रादेशविधानात् 'शिरस्यः' इति प्रयोगो न भवति । केशेषु तु 'वा केशेषु' इति वार्तिकेन शीर्षण्यः शिरस्य इत्युभयं भवति ।

लिया जायेगा, अतः सूत्रार्थ होगा—पाद, दन्त, नासिका, मास, हृद्य, निशा, असृज्, यूष, दोष, यकृत्, शकृत्, उदक, आस्य इन के स्थान में यथासङ्ख्य करके [पहनो...सन्] पद्, दत्, नस्, मास्, हृत्, निश्, असन्, यूषन्, दोषन्, यकन्, शक्न्, उदन्, आसन्, ये आदेश [शस्प्रभृतिषु] शस् प्रकार वाले अर्थात् शस् से आगे के प्रत्ययों के परे रहते वेद विषय में हो जाते हैं।। यूष्णः, दोषणः, यक्नः शक्नः उद्नः ये षष्ट्यन्त पद हैं, श्रङ्कोपोनः (६।४।१३४)से यहाँ अकार लोप हुआ है। णत्वादि कार्य पूर्ववत् जान लें। अस्ना (३।१) यहाँ अङ्कोपोनः से लोप जानें। आसिन (७।१) यहाँ विभाषा हिष्योः (६।४।१३६) से पक्ष में अकार लोप नहीं हुआ है। शेष पद षष्टयन्त तृतीयान्त एवं सप्तम्यन्त हैं, सो सुस्पष्ट ही हैं।।

घात्वादेः षः सः ॥६।१।६२॥

धात्वादेः ६।१॥ षः ६।१॥ सः १।१॥ स० —धातोरादिः धात्वादि-स्तस्य ः पष्टीतत्पुरुषः ॥ अनु०-उपदेशे ॥ अर्थः —धात्वादेः षकारस्य स्थाने उपदेशावस्थायां सकारादेशो भवति ॥ उदा० —षह् —सहते । षिच— सिद्धति ॥

माषार्थ: — [घात्वादे:] धातु के आदि के [ष:] षकार के स्थान में उपदेश अवस्था में [स:] सकार आदेश होता है।। सिक्चित में रो मुचादीनाम् (७।१।५९) से नुम् आगम होता है, पश्चात् रचुत्व होकर सिक्चिति बनता है।।

यहाँ से 'धात्वादेः' की अनुवृत्ति ६।१।६३ तक जायेगी।।

णो नः ॥६।१।६३॥

णः ६।१॥ नः १।१॥ अनुः—धात्वादेः उपदेशे ॥ अर्थः - धात्वादे-णकारस्य स्थाने उपदेशावस्थायां नकार आदेशो भवति ॥ उदाः—णीव्— नयति । णम—नमति । णह्—नद्यति ।

भाषार्थ:—धातु के आदि के [णः] णकार के स्थान में उपदेश में [नः] नकार आदेश होता है।। णह दिवादिगण की धातु है।।

लोपो च्योर्वलि ॥६।१।६४॥

छोपः १।१॥ व्योः ६।२॥ विल ७।१॥ स०—वस्र यस्र व्यौ तयोः

इतरेतरद्वन्द्वः ।। अर्थः —वकारयकारयोर्छोपो भवति वर्छि परतः ॥ उदा० — दिव् — दिदिवान् दिदिवांसौ दिदिवांसः । ऊयी – ऊतम् । कनूयी — कनूतम् । गौघेरः । पचेरन् यजेरन् । जीरदानुः । आस्त्रेमाणम् ॥

भाषार्थ:—[ज्यो:] वकार और यकार का [विलि] वल् परे रहते [लोप:] छोप होता है।। दिदिवान कसु का रूप है सो वस के परे रहते दिव् के वकार का छोप हो जायेगा। तथा सान्तमहतः संयोगस्य (६।४।१०) से दीर्घ होगा। शेष सिद्धि क्तवतु प्रत्ययान्त के समान जानें। क्त के परे ऊयी कन्यी के यकार का छोप होता है। गौघेरः पचेरत जीरदानुः आस्त्रेमाणम् की सिद्धियां साग १ पृ. ७५३—५४ में देखें॥

यहाँ से 'लोपः' की अनुवृत्ति ६।१।६८ तक जायेगी।।

वेरप्रक्तस्य ॥६।१।६५॥

वेः ६।१॥ अप्रक्तस्य ६।१॥ त्रानुः — छोपः ॥ अर्थः — अप्रक्तस्य वेः छोपो भवति ॥ उदाः — ब्रह्महा, भ्रूणहा । घृतस्पृक्, तैटस्पृक् । अर्छः भाक्, पादभाक्, तुरीयभाक् ॥

भाषार्थ:—[ऋष्ट्रक्तस्य] अष्टक्तसंज्ञक [वे:] वि का छोप होता है।
'वि' का सामान्यरूप से निर्देश है, अतः क्विप् किन् तथा जिव आहि
सभी का प्रहण हो जाता है। ब्रह्महा भ्रूणहा में व्हाभूण वृत्रेषुक्विप् (३।२।८७) से क्विप् प्रत्यय जानें, सिद्धि तत्सूत्र पर ही देखें। घृतस्पृक्, तैलस्पृक् अर्द्धभाक् इत्यादि की सिद्धि भागं १ पृ.
७८६-९० में देखें। वि के अनुनासिक इकार का लोप करने पर वह अपृक्तसंज्ञक होता है।

हल्ङचाब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल् ॥६।१।६६॥

हल्ङचान्भ्यः ११३॥ दीर्घात् १११॥ सुतिसि १११॥ अपृक्तम् १११॥ हल् १११॥ स०—हल् च ङी च आप् च हल्ङचापस्तेभ्यः इतरेतरः द्वन्द्वः । सुश्र तिश्र सिश्र सुतिसि, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—लोपः ॥ अर्थः—हल्नताद् ङचन्ताद् आवन्ताच दीर्घात् परं सु, ति, िर इत्येतद्पृक्तं हल् लुप्यते ॥ उदा०—हलन्तात् सुलोपः—राजा, तक्षा, स्वास्त्र , पण्ड्यत् । ङचन्तात्—कुमारो, गौरी, शार्ङ्गरवी । श्रावन्तात् खट्वा, , बहुराजा, कारीषगन्ध्या । तिलोपः सिलोपश्र हल्नतादेव।

Ŧ:

11

ते

रे

4

न्

11

दि

IJ-

ही

Ţ,

榎

اا ال

1

सि

या,

व।

तिलोपस्तावत्—अबिभर्भवान्, अजागर्भवान् । सिलोपः—अभिनोऽत्र, अच्छिनोऽत्र ॥

भाषार्थः—[हल्ङचाव्भ्यः] हलन्त ङचन्त तथा आबन्त जो [दीर्घात्] दीर्घ उनसे उत्तर [सुतिसि] सु, ति तथा सि जो [अपृक्तम्] अपृक्त [हल्] हल् उनका स्रोप होता है।।

यहाँ से 'हल्' की अनुवृत्ति ६।१।६७ तक जायेगी।।

एङ्हस्वात् सम्बद्धेः ॥६।१।६७॥

एङ्हरवात् ५११॥ सम्बुद्धेः ६११॥ स०—एङ् च हस्बश्च एङ्हर्स्वं तस्मात्समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—हल्, लोपः ॥ अर्थः—एङन्तात् हस्वान्ताच प्रातिपदिकादुत्तरस्य हल् लुप्यते स चेत् सम्बुद्धेर्भवति ॥ उदा०—एङन्तात्—हे अग्ने, हे वायो । हस्वान्तात्—हे देवद्त्त, हे नदि, हे वधु, हे कुण्ड ॥

भाषार्थः—[एङ्ह्रस्वात्] एङन्त प्रातिपदिक से उत्तर तथा ह्रस्वान्त से उत्तर हल् का लोप होता है, यदि वह हल् [सम्बुद्धेः] सम्बुद्धि का हो तो ॥

शेश्छन्द्सि बहुलम् ॥६।१।६८॥

होः ६।१॥ छन्दस्ति ७।१॥ बहुलम् १।१॥ श्रनु० – लोपः ॥ अयः – शि इत्येतस्य बहुलं छन्दस्ति विषये लोपो भवति ॥ उदा० —या क्षेत्रा, या वनौ । यानि क्षेत्राणि, यानि वनानि ॥

भाषार्थः—[शे:] शि का [वहुलम्] बहुल करके [छुन्दिति] वेद विषय में लोप हो जाता है।। जश्शमोः शिः (७११२०) से जो शि होता है उसका यहाँ लोप विधान है। लोप करने के पश्चात् प्रत्ययलक्षण से नपुंसकस्य कलचः (७११७२) से नुम् होकर तथा सर्वनामस्थाने० (६१४१८) से दीर्घ होकर 'या न्' रहा। पश्चात् नलोपः० (८१२१७) से नकार लीप होकर 'या' बना। बहुल कहने से जिस पक्ष में शि लोप नहीं होगा तो पूर्वनंत् त्यदादीनामः (७१२१०२) आदि लगकर 'यानि' बना।।

[तुक्प्रकरणम्]

हस्वस्य पिति कृति तुक् ॥६।१।६९॥ कृति ।।६।१।६९॥ व्यर्थः पिति ।।।। कृति ।।।। तुक् १।१॥ व्यर्थः पिति ।

कृति परतो ह्रस्वस्य तुगागमो भवति ॥ उदा०—अग्निचित्, सोमसुत्। प्रकृत्य, प्रहृत्य, उपस्तुत्य ॥

भाषार्थ:—[हस्वस्य] हस्व को [पिति कृति] पित् कृत् परे रहते [तुक्] तुक् आगम होता है।। भाग १ पृ० ७५६ में अग्निचित् सोमसुत् की सिद्धि देखें, तथा भाग १ पृ० ७२६ में प्रकृत्य आदि की सिद्धि देखें।।

रहाँ से 'ह्रस्वस्य' की अनुवृत्ति ६।१।७१ तक तथा 'तुक्' की ६।१।७३ तक जायेगी ।।

संहितायाम् ॥६।१।७०॥

संहितायाम् ७।१।। अर्थः—अधिकारोऽयमनुदात्तं पदमेकवर्जिमिति यावत्, प्रागेस्तस्मात् सूत्राद् यद् वद्यति तत् संहितायामित्येषं वेदितव्यम्। विषयसप्तमीयम्।। उदा०—वद्यति इको यण्चि—दध्यत्र, मध्वत्र।।

भाषार्थः —यह अधिकार सूत्र है, अनुदात्तं पदमेक (६।१।१५२) से पहले २ तक जायेगा, अतः इस सूत्र पर्यन्त जितने कार्य कहे जायेंगे वे सब संहिता के विषय में होंगे। 'संहितायाम्' में विषय सप्तमी है। परः सिनकर्षः (१।४।१०८) से संहिता संज्ञा होती है।।

छे च ॥६।१।७१।

छे ७।१।। च अ० ।। श्रनु०—संहितायाम् , हस्वस्य तुक् ।। अर्थः-छकारे परतः संहितायां विषये हस्वस्य तुगागमो भवति ।। उदा०-इच्छति, गच्छति ।।

भाषार्थः—[छे] छकार परे रहते [च] भी हस्व को संहिता के विषय में तुक् का आगम होता है।। गम् के मकार को इषुगिषि (७१३।७७) से छत्व होकर तुक् आगम तथा श्चुत्व होकर गच्छित बनेगा। इसी प्रकार इषु धातु में भी छत्व, तुक् आगम एवं श्चुत्व होकर इच्छिति बना है।।

यहाँ से 'छे' की अनुवृत्ति ६।१।७३ तक जायेगी।।

त्

वं

से

वे

11

कें

Ã0

ति

र्व

आङ्माङोश्च ॥६।१।७२॥

आङ्माङोः ६।२॥ च अ०॥ स०—आङ्० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—छे, संहितायाम्, तुक्॥ अर्थः—आङो माङश्च छकारे परतस्तु-गागमो भवति संहितायां विषये॥ उदा०—ईषच्छाया = आच्छाया। आच्छादयति। आच्छायायाः। आच्छायम्। माच्छैत्सीत्। माच्छिदत्॥

माषार्थः—[आङ्माङोः] आङ् तथा माङ् को [च] भी छकार परे रहते तुक् आगम होता है, संहिता के विषय में ।। आङ् के ईषत्, (थोड़ा), क्रियायोग, मर्यादा तथा अभिविधि ये चार अर्थ हैं, तथा माङ् प्रतिषेधवाची है, सो इन अर्थों में तुक् आगम होता है। तुक् करने के पश्चात् रचुत्व हो ही जायेगा।। उदा०—आच्छाया (थोड़ी छाया), आच्छादयति (ढकता है), आच्छायायाः छाया से पूर्व २), आच्छायम (छाया तक), माच्छैत्सीत् (नहीं काटा)।।

दीर्घात् पदान्ताद्वा ॥६।१।७३॥

दीर्घात् ५।१।। पदान्तात् ५।१।। वा अ०।। स०—पदस्य अन्तः पदान्तस्तस्मात् "षष्टीतत्पुरुषः ॥ अनु०—छे, संहितायाम् , तुक् ॥ अर्थः-दीर्घादुत्तरो यश्क्षकारस्तस्मिन् पूर्वस्य तस्यैव दीर्घस्य तुगागमो भवति, पदान्ताच
दीर्घादु तरो यश्क्षकारस्तस्मिन् पूर्वस्य तस्यैव पदान्तस्य दीर्घस्य च विकल्पेन
तुगागमो भवति ॥ उदा०—दीर्घात् — हीच्छति, म्लेच्छति, अपचाच्छायते, विचाच्छायते । पदान्तात् — कुटीच्छाया, कुटीछाया । कुवछीच्छाया,
कुवछीछाया ॥

माषार्थ:—[दीर्घात्] दीर्घ से उत्तर जो छकार है उसके परे रहते पूर्व वाले दीर्घ को नित्य तुक् का आगम होता है, तथा जो [पदान्तात्] पदान्त में दीर्घ हो उससे उत्तर छकार परे रहते पूर्व पदान्त दीर्घ को [वा] विकल्प से तुक् आगम होता है, संहिता के विषय में, अर्थात् जो अपदान्त में दीर्घ है उसे नित्य तुक् आगम तथा पदान्त दीर्घ को विकल्प से तुक् आगम होता है।। ही च्छति आदि अपदान्त दीर्घ हैं, अतः नित्य तुक् हुआ है, तथा कुटी च्छाया पदान्त दीर्घ है, सो विकल्प से तुक् हुआ है।

[सन्धिप्रकरणम्]

इको यणचि ॥६।१।७४॥

इकः ६।१॥ यण् १।१॥ अचि ७।१॥ अनु०—संहितायाम् ॥ अर्थः— इकः स्थाने यणादेशो भवत्यचि परतः संहितायां विषये ॥ उदा०—दध्यत्र, मध्त्रत्र, कर्त्रर्थम् , हर्त्रर्थम् , ऌ+आकृतिः = छाकृतिः ॥

भाषार्थ: — [इकः] इक् = इ, उ, ऋ, ॡ के स्थान में यथासङ्ख्य करके [यण्] य्, र्, ल्, व् आदेश होते हैं [अचि] अच् परे रहते संहिता के विषय में।।

यहाँ से 'श्रचि' की अनुवृत्ति ६।१।१२१ तक जायेगी।।

एचोऽयवायावः ॥६।१।७५॥

एचः ६।१॥ अयवायावः १।३॥ स०—अय् च अव् च आय् प आव् च अयवायावः, इतरेतरद्भन्दः ॥ श्रनु०—अचि, संहितायाम्॥ श्रर्थः—एचः स्थाने अय्, अव्, आय्, आव् इत्येते आदेशाः यथा-सङ्ख्यम् अचि परतो भवन्ति, संहितायां विषये॥ उदा०—चयनम्, छवनम्, चायकः, छावकः॥

भाषार्थः—[एनः] एच् = ए, ओ, ऐ, औ के स्थान में क्रमणः [अयवायावः] अय्, अय्, आय्, आव् आदेश अच् परे रहते होते हैं संहिता के विषय में ।। चे अन = चयनम्। छो+अन = छवनम्। वै अक = चायकः। छौ अक = छावकः।।

यहाँ से 'एचः' की अनुवृत्ति ६।१।७७ तक जायेगी।।

वान्तो यि प्रत्यये ॥६।१।७६॥

वान्तः १।१॥ यि ७।१॥ प्रत्यये ०।१॥ स०—वकारोऽन्ते यस्य म वान्तः, बहुब्रीहिः ॥ अनु०—एचः, अचि, संहितायाम्॥ अर्थः— यकारादौ प्रत्यये परतः संहितायां विषय एचः स्थाने वान्तादेशी भवति ॥ उदा०—बाभ्रव्यः, माण्डव्यः, शङ्कव्यं दारु, पिचव्यः कार्पासः, नाव्यो हृदः ॥

भाषार्थः — [यि] यकारादि [प्रत्यये] प्रत्ययों के परे रहते एच् के स्थान में संहिता विषय में [वान्तः] वकार अन्त वाले अर्थात् ओकार के स्थान में आव् आदेश होते हैं।। अर्थः।

य

11

T-

L

Ŋ.

शो

11

art.

41

आय् आदेश यकारान्त हैं, अतः वे नहीं होते ।। बभु शब्द से मधुवभ्वो० (४।१।१०६) से यञ् प्रत्यय तथा मण्डु शब्द से गर्गादिस्यो० (४।१।१०५) से यञ् प्रत्यय हुआ है। गुण होकर ओकार को अव् आदेश प्रकृत सूत्र से हुआ है। शङ्कव्यं, पिचव्यः में उगवादिस्यो यत् (५।१।२) से यत् प्रत्यय हुआ है। नौ शब्द से नौवयोधर्म० (४।४।६१) से यत् प्रत्यय हुआ है।

यहाँ से 'वान्तः' की अनुवृत्ति ६।१।७७ तक तथा 'यि प्रस्थये' की ६।१।८० तक जायेगी।।

धातोस्तन्निमित्तस्यैव ॥६।१।७।०।।

धातोः ६।१॥ तन्निमित्तस्य ६।१॥ एव अ०॥ स०—स निमित्तं यस्य, स तन्निमित्तस्तस्य " " बहुव्रीद्दिः॥ श्रनु०—वान्तो यि प्रत्यये, संहितायाम्॥ श्रर्थः—तन्निमित्तः = यकारादिप्रत्ययनिमित्त एव यो धातोरेच् तस्य यकारादौ प्रत्यये परतो वान्तादेशो भवति, संहितायां विषये॥ उदा०—छन्यम्, पन्यम्॥ अवद्ययहान्यम्, अवद्यपान्यम्॥

माषार्थः—[तिनिमित्तस्य] तत् निमित्तक अर्थात् यकारादि प्रत्यय निमित्तक [एव] ही जो [धातोः] धातु का एच् उसको यकारादि प्रत्यय के परे रहते वान्त आदेश संहिता विषय में होता है।। छन्यम् में अने यत् (३।१।९७) से यत् तथा अवश्यलान्यम् में स्रोरावश्यके (३।१।१२६) से ण्यत् हुआ है।।

यहाँ से 'धातोः' की अनुवृत्ति ३।१।८० तक जायेगी।।

क्षयजय्यौ शक्यार्थे ॥६।१।७८॥

क्ष्यजय्यो १।२॥ शक्यार्थे ७।१॥ स०—क्षय्य० इत्यत्रेतरेतर-द्वन्द्वः । शक्यश्चासौ अर्थः शक्यार्थस्तरिमन् कर्मधारयः ॥ श्रुनु०—धातोः, यि प्रत्यये, संहितायाम्॥ श्रर्थः—क्षय्य जय्य इत्येतयोः शब्द्योः क्षि जि इत्येतयोः धात्वोः शक्यार्थे गम्यमाने यति प्रत्यये प्रतः एकारस्य स्थानेऽयादेशो निपात्यते संहितायां विषये॥। उदा०—शक्यः क्षेतुं क्षय्यः । शक्यो जेतुं जय्यः ॥

भाषार्थः—[च्रथ्यजय्यो] क्षय्य जय्य ये शब्द निपातित हैं, अर्थात क्षि जि धातु से यत् प्रत्यय परे रहते [शक्यार्थे] शक्य अर्थ्यमें एकार

[प्रथमः

के स्थान में अयादेश निपातन है संहिता विषय में ।। अनो म्त् (३।१।६७) से यत् प्रत्यय हुआ है ।। उदा०—क्षय्यः (नष्ट किया जा सकता है), जय्यः (जीता जा सकता है) ।।

क्रय्यस्तद्थे ॥६।१।७९॥

क्रय्यः १।१॥ तद्थें ७।१॥ स०—तस्य अथंः, तद्थंस्तस्मिन् "षष्ठी-तत्पुरुषः ॥ अनु०—धातोः, यि प्रत्यये, संहितायाम् ॥ श्रर्थः—क्रयः इत्यत्र क्रीणातेधातोस्तद्थें = क्रयार्थेऽभिषेये यति प्रत्यये प्रतोऽयादेशे निपात्यते संहितायां विषये ॥ उदा०—क्रय्यो गौः, क्रय्यः कम्बलः ॥

भाषार्थ:—[क्रय्य:] क्रय्य शब्द में डुकीब् धातु से [तद्थें] अ अर्थ में अर्थात् क्रयार्थ अभिधेय होते पर यत् प्रत्यय के परे रहां अयादेश निपातित किया जाता है संहिता विषय में ।। उदा०—क्रयों गी: (क्रय के लिये जो गी), क्रय्य: कम्बलः (क्रय के लिये जो कम्बल)।। पूर्ववत् यत् प्रत्यय जानें।।

भय्यप्रवय्ये च च्छन्द्सि ।।६।१।८०।।

भय्यप्रवय्ये ११२॥ च अ०॥ छन्द्सि ७११॥ स०—भय्य० इत्यने तरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—धातोः, यि प्रत्यये, संहितायाम् ॥ अर्थः—िवभी धातोः प्रपूर्वस्य च वीधातोः यति प्रत्यये प्रतरछन्द्सि विषयेऽयादेशे निपात्यते संहितायां विषये॥ उदा०—भय्यं किलासीत्, वत्सती प्रवय्या॥

भाषार्थ:—[भय्यप्रवय्ये] भय्य तथा प्रवय्य शब्द [च] भी [छुन्दिषि] वेद विषय में निपातन किये जाते हैं । विभी धातु से तथा प्रपूर्वक वै धातु से यत् प्रत्यय परे रहते अयादेश निपातित है संहिता विषय में। भय्यः यहाँ छत्यल्यु० (३।३।११३) से अपादान में यत् प्रत्यय पूर्वकी जानें । बिभेत्यस्मादिति भय्यम् । प्रवय्या स्त्रीछिङ्ग में ही निपातन है॥

एकः पूर्वपरयोः ॥६।१।८१॥

एकः १।१।। प्रूर्वपरयोः ६।२।। स०—पूर्व० इत्यन्नेतरेतरद्वन्द्वः । अनु०—संहितायाम् ।। श्रर्थः—अधिकारोऽयम्, त्रवृत उत् (६।१।१०७) इति यावत् । तत्र पर्यन्तं यद्वस्यति तत्र पूर्वस्य परस्य द्वयोरि स्थान एकादेशो भवतीति वेदितव्यम्।। वक्ष्यति आद् गुणः (६।१।८४) इति तत्राचि पूर्वस्यावर्णाच परस्य द्वयोरपि स्थाते गुण एको भवति।। तद्यथा—खट्वेन्द्रः, मालेन्द्रः।।

माषार्थ:—यह अधिकार सूत्र है, त्रष्टत उत् (६।१।१००) तक जायेगा। यहाँ से आगे ६।१।१०० तक जो भी कहेंगे, उस विषय में [पूर्वपरयो:] पूबे और पर दोनों के स्थान में [एक:] एक आदेश होगा, ऐसा जानना चाहिये।। जैसे कि आद् गुण: आगे कहेंगे सो वहाँ अच् से पूर्व अवर्ण तथा अवर्ण से उत्तर अच् दोनों के स्थान में गुण एकादेश होता है।।

अन्तादिवच ॥६।१।८२॥

अन्तादिवत् अ० ॥ च अ० ॥ स०—अन्तस्र आदिस्र अन्तादी, इतरेतरद्वन्द्वः । ताभ्यां तुल्यमन्तादिवत् तेन तुल्यं० (५१११११४) इति वितप्रत्ययः ॥ अनु० - एकः पूर्वपरयोः ॥ स्त्रर्थः —अतिदेशोऽयम् । एकः पूर्वपरयोरिति योऽयमेकादेशो विधीयते स एकादेशः पूर्वस्यान्तवन् द्भवति परस्य चादिवद् भवति ॥ उदा० — ब्रह्मबन्धूः , वृक्षौ ॥

भाषार्थ: — एकः पूर्वपरयोः के अधिकार में जो पूर्व पर को एकादेश कहा है वह एकादेश पूर्व से कार्य पड़ने पर पूर्व के [अन्तादिवत्] अन्त के समान माना जाये [च] तथा पर से कार्य पड़ने पर, पर के आदि के संमान माना जाये।। यह अतिदेश सूत्र है।। 'ब्रह्मवन्धूः' यहाँ ब्रह्मबन्धु + ऊङ् (४।१।६६) ऐसी स्थिति में 'उ' तथा 'ऊ' दोनों के स्थान में सवर्ण दीर्घ एकादेश हुआ है। अब यहाँ 'ब्रह्मबन्धु' की तो प्रातिपदिक (१।२।४५) संज्ञा है तथा ऊङ् अप्रातिपदिक (प्रत्यय) है। इन दोनों अर्थात् प्रातिपदिक का अवयव उकार तथा अप्रातिपदिक ककार के स्थान में हुआ दीर्घ एकादेश प्रातिपदिक का अवयव केसे माना जाये? अतः प्रकृत सूत्र से दीर्घ एकादेश को पूर्व का अन्त अर्थात् प्रातिपदिक का अन्तवत् मानकर स्वाद्युत्पत्ति हुई। वृक्षो यहाँ भी वृक्ष का अकार असुप् है तथा औ सुप् है। इन दोनों असुप् अकार तथा सुप् औकार के स्थानमें हुआ एकादेश (६।१।८५) 'औ' प्रकृत सुत्र से सुप् (औकार का) आदिवत् माना गया, जिससे सुप्तिद्धन्तं परम् (१।४।१४) से सुवन्त मानकर पद संज्ञा हो गई।।

्रदो स्थानियों के स्थान में एक आदेश एकः पूर्वपरयोः के अधिकार में होता है, सो वह पूर्व स्थानी के अन्त के समान माना जावे या पर के आदि के समान माना जावे इसिल्ये यह सूत्र बनाया है।।

षत्वतुकोरसिद्धः ॥६।१।८३॥

षत्वतुकोः ७।२॥ असिद्धः १।१॥ स०—षत्व० इत्यत्रेतरेतरहृन्द्रः। न सिद्धः, असिद्धः, नञ्तत्पुरुषः ॥ श्रनु०—एकः पूर्वपरयोः ॥ श्रर्थः— षत्वे तुकि च कर्त्तव्ये एकादेशोऽसिद्धो भवति, सिद्धकार्यं न करोती त्यर्थः ॥ उदा०—षत्विषयौ—कोऽसिचत् । कोऽस्य, योऽस्य, कोऽस्य, योऽस्मै । तुग्विषयौ—अधीत्य, प्रेत्य ॥

भाषार्थ: - [षत्वतुको:] पत्व और तुक् विधि करने में एकादेश [असिद्धः] असिद्ध होता है, अर्थात् सिद्ध के समान कार्य नहीं होते॥ एकादेश को मानकर कोई कार्य प्राप्त हो रहा हो वह न हो, तथा स्थानी को मानकर जो कार्य प्राप्त नहीं हो रहा है वह हो जावे गई असिद्धत्व विधान का प्रयोजन है।। किम् शब्द से सु आकर तथा अ असिचत् परे रहते श्रतो रोर० (६।१।१०९) से उत्व एवं आद् गुणः (६।१। ८४) से गुण एकादेश होकर 'को असिचत्' रहा । अब एङ: पदानतादि (६।१।१०५) से पूर्वरूप एकादेश होकर कोऽसिचत् बन गया, त ओकार को अन्तादिवच से पर (तिङन्त का) का आदिवत् माना गया अतः इण् ओकार से उत्तर सिच् (धातु) के सकार को आदेश प्रत्यययोः (८।३।५९) से आदेश का सकार होने से (षिच् के पर्व स आदेश घात्वादेः षः सः (६।१।६२) से होता है) षत्व पाया वह पत्वविधि में पूर्वरूप एकादेश के प्रकृत सूत्र से असिद्ध होने है नहीं होता, क्योंकि असिद्ध होने से 'को असिचत्' ऐसा रूप षत्वकार्य करने में दीखेगा, तो इण् ओकार से उत्तर अकार का व्यवधान होने है षत्व नहीं होगा। को अस्य, यो अस्य, को अस्मै, यो अस्मै यहाँ भी पूर्ववत् पूर्वरूप एकादेश करके असिद्ध होने से प्रत्यय के सकार के बत्व नहीं हुआ ऐसा जानें। यहाँ आदेश लक्षण प्रतिषेध कार्य हुआ है। अधीत्य यहाँ 'अधि इण्' को सवर्णदीघं हुआ है तथा प्रेत्य में 'प्र इण् को श्राद्गुणः से गुण एकादेश हुआ है। अब यहाँ क्त्वा को ल्यप् क देने के न्यश्चात् हस्वस्य पिति० (६।१।६९) से तुक् आगम नहीं होती क्योंकि हस्य से उत्तर पित् कृत् नहीं है, तब प्रकृत सूत्र से एकादेश तुक् विधि में असिद्ध माना गया तो 'अधि इ स, प्र इ य' ऐसा ही रूप तुक् करने में समका गया। अतः हस्य मिल जाने से ल्यप् को तुक् आगम हो गया। यहाँ स्थानील्चण कार्य हुआ है।

आद् गुणः ॥६।१।८४॥

आत् ५११॥ गुणः १११॥ श्रनु०—एकः पूर्वपरयोः, अचि, संहिता-याम् ॥ अर्थः—अचि पूर्वो योऽवर्णः, अवर्णाच्च परो योऽच् तयोः द्वयोः पूर्वपरयोः स्थान एको गुणादेशो भवति संहितायां विषये ॥ उदा०— तव + इदम् = तवेदम् । खट्वा + इन्द्रः = खट्वेन्द्रः, मालेन्द्रः । तव + ईहते = तवेहते, खट्वेहते । तव + उदकं = तवोदकम्, खट्वोदकम् । तव + ऋदयः = तवदर्थः, खट्वर्श्यः । तवल्कारः, खट्वल्कारः ॥

भाषार्थ:—[आत्] अवर्ण से उत्तर जो अच् तथा अच् परे रहते जो पूर्व अवर्ण इन दोनों पूर्वपर के स्थान में अर्थात् अवर्ण और अच् के स्थान में [गुण:] गुण एकादेश होता है संहिता विषय में ।। खट्बल् कार: तवल्कार: में लकारस्य लपरत्वं वच्चामि (महामा० १।१।६) इस भाष्यवचन से तह के स्थान में लपर आदेश होता है । यहाँ आत् पञ्चमी और अचि सप्तमी है । तिस्मिनिति निर्दिष्टे पूर्वस्य (१।१।६५) के नियम से अच् से पूर्व जो आत् वह षष्टी विभक्ति में परिणत हो जाता है और आत् में जो पञ्चमी है वह तस्मादित्युत्तरस्य (१।१।६६) के नियम से अचि को षष्टी रूप में बदल देता है । यद्यपि विमितिषेषे परं० (१।४।२) के नियम से तस्मादित्युत्तरस्य (१।१।६६) का नियम बळवान् होना चाहिए परन्तु यहाँ 'पूर्वपरयोः' की अनुवृत्ति होने से दोनों के स्थान में आदेश होता है ।

यहाँ से 'आत्' की अनुवृत्ति ६।१।६३ तक जायेगी।।

वृद्धिरेचि ॥६।१।८५॥

वृद्धिः १।१॥ एचि ७।१॥ श्रनुः—आत्, एकः पूर्वपरयोः, संहिता-याम् ॥ श्रर्थः—अवर्णात् परो य एच् एचि च परतो योऽवर्णस्तयोः पूर्वपरयोः स्थाने वृद्धिरेकादेशो भवति संहितायां विषये ॥ पूर्वस्या-पवादोऽयम् ॥ उदा०—ब्रह्म + एडका = ब्रह्मेडका, खट्वेडका ब्रह्म + ऐतिकायनः = ब्रह्मेतिकायनः, खट्वैतिकायनः। ब्रह्म + ओद्नः = ब्रह्मोदनः, खट्वोदनः। ब्रह्म + औपगवः = ब्रह्मोपगवः, खट्वोपगवः॥

भाषार्थ:—अवर्ण से उत्तर जो एच् तथा [एचि] एच् परे रहते जे अवर्ण इन दोनों पूर्व पर के स्थान में अर्थात् अवर्ण तथा एच् के स्थान में [वृद्धिः] वृद्धि एकादेश होता है संहिता के विषय में ॥ पूर्व पृष्ठ से अच् परे रहते गुण एकादेश प्राप्त था, यहाँ एच् परे रहते तदप्रवाह वृद्धि एकादेश का विधान है ॥

यहाँ से 'वृद्धिः' की अनुवृत्ति ६।१।८९ तक तथा 'एचि' की अनुवृत्ति ६।१।८६ तक जायेगी ।।

एत्येधृत्यूड्सु ॥६।१।८६॥

एत्येधत्यूठ्सु ७१३॥ स०—एतिश्च एधतिश्च ऊठ् च एत्येधत्यूठस्तेषु इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु० वृद्धिरेचि, अचि, आत्, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ॥ श्रर्थः—अवर्णात् परो य इण् गतौ इत्येतस्य एच्, एध वृद्धी ऊठ् इत्येतयोश्च योऽच्, इत्येतेषां पूर्वी योऽवर्णस्तयोः पूर्वपर्योश्च वर्णाचोः स्थाने वृद्धिरेकादेशो भवति, संहितायां विषये ॥ उदा०—उपैदि उपैषि, उपैमि । उपैधते, प्रधते । प्रष्टौहः, प्रष्टौहा, प्रष्टौहे ॥

भाषार्थः—यहाँ 'एच्' इण् धातु का ही विशेषण बन सकता है क्योंकि 'एघ' धातु तो सर्वदा एच् आदि वाला ही है, तथा ऊठ् ए आदि वाला हो ही नहीं सकता।।

[एत्येषत्यूड्स] इण् गतौ धातु के एच् से पूर्व तथा 'एघ्' एवं ऊठ् के अच् से पूर्व जो अवर्ण तथा उस अवर्ण से उत्तर जो इण् का एच् एवं एध तथा ऊठ् का अच् इन दोनों के पूर्व पर के स्थान में संहिता के विषय में वृद्धि एकादेश होता है।। इण् धातु गुण करने पर एजादि हो जाता है।। ऊठ् परे रहते आद् गुणः (६११।८४) से गुण प्राप्त है, तथा एति एधित परे रहते एिड पर रूपम् (६११।९४) से पररूप प्राप्त है, यह सूत्र इन दोनों का अपवाद है।। उप प्रति = उपैति। प्रति चहु से वहु स्वा (३।२।६४) से जिव प्रत्यय हुआ है। वहु को वहु वृद्धि तथा जिव का सर्वापहारी छोप होकर 'प्रष्टवाष्ट्रिं वहु को वाहु वृद्धि तथा जिव का सर्वापहारी छोप होकर 'प्रष्टवाष्ट्रिं वहु को वाहु वृद्धि तथा जिव का सर्वापहारी छोप होकर 'प्रष्टवाष्ट्रिं वहु को वाहु वृद्धि तथा जिव का सर्वापहारी छोप होकर 'प्रष्टवाष्ट्रिं वहु को वाहु वृद्धि तथा जिव का सर्वापहारी छोप होकर 'प्रष्टवाष्ट्रिं वहु को वाहु वृद्धि तथा जिव का सर्वापहारी छोप होकर 'प्रष्टवाष्ट्रिं वहु को वाहु वृद्धि तथा जिव का सर्वापहारी छोप होकर 'प्रष्टवाष्ट्रिं वहु को वाहु वृद्धि तथा जिव का सर्वापहारी छोप होकर 'प्रष्टवाष्ट्रिं वहु को विष्ट्रविक्ष का सर्वापहारी छोप होकर 'प्रष्टवाष्ट्रविक्ष का सर्वापहारी छोप होकर 'प्रष्ट्रविक्ष का सर्वापहारी छोप होकर 'प्रष्ट्रविक्ष का सर्वापहारी छोप होकर 'प्रष्ट्या का स्व का सर्वापहारी छोप होकर 'प्रष्ट्या का स्व का स्व का सर्वापहारी छोप होकर 'प्रष्ट्या का स्व का स्व

वना। इस विभक्ति आकर वाह उठ् (६।४।१३२) से सम्प्रसारणसंज्ञक उठ्, वाह् के यण् के स्थान में अर्थात् व् को होकर 'प्रष्ट उठ् आह् इस्' सम्प्रसारणाच्च लगकर प्रष्ट उठ् अस् रहा। अब प्रकृत सूत्र से वृद्धि एकादेश होकर प्रष्टीहः बन गया। 'टा' विभक्ति में प्रष्टीहा तथा 'क्टे' में प्रष्टीहे बनता है।।

आदश्र ॥६।१।८७॥

आटः ५११॥ च अ०॥ अनु०— वृद्धिः, एकः पूर्वपरयोः, अचि, संहि-तायाम् ॥ अर्थः—आटः परो योऽच्, अचि च पूर्वो य आट् तयोः पूर्वपरयोराडचोः स्थाने वृद्धिरेकादेशो भवति संहितायां विषये ॥ उदा०— ऐक्षिष्ट, ऐक्षत, ऐक्षिष्यत । औभीत् । आर्ध्नोत् । औष्जीत् ॥

भाषार्थः — [आटः] आट् से उत्तर [च] भी जो अच् तथा अच् से पूर्व जो आट् इन दोनों आट् तथा अच् के (पूर्व पर के) स्थान में वृद्धि एकादेश होता है संहिता के विषय में ॥ लुङ् लकार में आट् ईच् इट् सिच् त' रहा। प्रकृत सूत्र से वृद्धि एकादेश होकर ऐक्षिस्त रहा। पत्न ष्ट्रत होकर ऐक्षिष्ठ बन गया। लुङ् लकार में आट् ईक्ष् शप् त = ऐक्षत तथा लुङ् में ऐक्षिष्ठयत जानें। उभ धातु से औभीत्, तथा उब्ज धातु से औब्जीत् की सिद्धि भाग १ परि० १।१।१ में दर्शाई हुई अलावीत् की सिद्धि भाग १ परि० १।१।१ में दर्शाई हुई अलावीत् की सिद्धि के समान जानें। ऋधु धातु से लुङ् लकार में स्वादिभ्यः शुः (३।१।०३) से रनु विकरण करके आध्नीत् की सिद्धि जानें। यहाँ रपरत्व विशेष है। सर्वत्र आडजादीनाम् (६।४।०२) से हुये आट् को वृद्धि एकादेश होता है।।

उपसर्गाद्दति धातौ ॥६।१।८८॥

उपसर्गात् ५।१॥ ऋति ७।१॥ घातौ ०।१॥ अनु०—वृद्धिः, आत् एकः पूर्वपरयोः, अचि, संहितायाम् ॥ अर्थः—अवर्णान्तादुपसर्गाद् ऋका-रादौ घातौ परतः पूर्वपरयोः स्थाने वृद्धिरेकादेशो भवति संहितायां विषये॥ आद् गुगाः इत्यस्यापवादोऽयम् ॥ उदा०—उप + ऋच्छति = उपाच्छैति । प्र + ऋच्छति = प्राच्छीति ॥

माषार्थः — अवर्णान्त [उपसर्गात्] उपसर्ग से परे जो [ऋति धातौ] ऋकारादि धातु इन दोनों के पूर्व पर के स्थान में अर्थात् अवर्ण एवं धातु के

ऋकार के स्थान में संहिता के विषय में वृद्धि एका देश होता है। अबद् गुणः का अपवाद यह सूत्र है। वृद्धि एका देश करने पर रपक हो ही जायेगा।।

यहाँ से 'उपसर्गात् धातौ' की अनुवृत्ति ६।१।६१ तक ता 'ऋति' की ६।१।८९ तक जायेगी।।

वा सुप्यापिश्रलेः ॥६।१।८९॥

वा अ० ।। सुपि ७११।। आपिशलेः ६११।। अनु०—उपसर्गादृति धार्ते वृद्धिः, आत्, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ।। अर्थः—सुवन्ताक ऋकारादौ धातौ परतोऽवर्णान्तादुपसर्गात् पूर्वपरयोः रथाने संहिता विषये आपिशलेराचार्यस्य मतेन वृद्धिरेकादेशो वा भवति ।। उदा॰ उपर्षभीयति, उपार्षभीयति । उपल्कारीयति, उपार्षभीयति ।।

गाषार्थः — [सुपि] सुबन्त अवयव वाले ऋकारादि धातु के पे रहते अवर्णान्त उपसर्ग से उत्तर पूर्व पर के स्थान में अर्थात् अर्थ एवं ऋकार के स्थान में संहिता विषय में [ग्रापिशलेः] आपिशें आचार्थ के मत में [वा] विकल्प से वृद्धि एकादेश होता है ॥ पक्ष अतः सुबन्तावयव = सुबन्त से बना नामधातु ऐसा अभिप्राय जाने चाहिये । ऋकारलकारशोः सवर्णसंज्ञा वक्तव्या (वा० १११६) विक्ति से ऋकार लकार की परस्पर सवर्ण संज्ञा कही है, अतः ऋकार लकार का भा प्रहण होकर उपल्कारीयित आदि उदाहरण बन्ते यहाँ 'ल्वारस्य लपरत्वं वद्धामि' (महामा० १११६) इस भाष्य वर्ष से लकार को लपर भी हो जाता है ॥ ऋषभिमच्छतीति ऋषभीर्थों की सिद्धि भाग १ पृष्ठ ८५७ के पुत्रीयित के समान जानें। 'अर्थ विभक्ति के बीच में आने से 'ऋषभीय' सुबन्तावयव वाला धातु है 'उप' अवर्णन्त उपसर्ग से उत्तर वृद्धि एकादेश हो गया है। इसे शकार लकारमिच्छति लकारीयित में भी जानें॥

, औतो ऽम्शसोः ॥६।१।९०॥

अम्लुप्तप्रथमान्तिनिर्देशः ॥ ओतः ५।१॥ अम्शसोः ७।२॥ स०-अ

पादः]

च शश्च अम्शसौ, तयोः ः इतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—एकः पूर्वपरयोः, संहि-तायाम् ।। अर्थः — ओकारान्ताद् अमि शसि च परतः पूर्वपरयोः स्थाने आकार एकादेशो भवति संहितायां विषये ।। उदा० – गां पश्य, गाः पश्य, द्यां पश्य, द्याः पश्य ।।

माषार्थः—[ओतः] ओकारान्त से [अम्शसोः] अम् तथा शस् विभक्ति के परे रहते पूर्व पर के स्थान में अर्थात् ओकार और अम् शस् के अकार के स्थान में [आ] आकार एका देश संहिता विषय में होता है।। गो अम् = आकार एका देश हो कर गाम् द्याम् वना। शस् में गाः द्याः वन गया।।

एडि पररूपम् ॥६।१।९१॥

एङि ७।१।। पररूपम् १।१॥ अनु०—डपसर्गात् धातौ, आत् , एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ॥ अर्थः—अवर्णान्तादुपसर्गाद् एङादौ धातौ परतः पूर्वपरयोः स्थाने पररूपमेकादेशो भवति संहितायां विषये ॥ उदा०— उप+एलयति = उपोषति, प्रोषति ॥

माषार्थः — अवर्णान्त उपसर्ग के पश्चात् [एडि] एड् (ए ओ) आदि वाले धातु के परे रहते पूर्व पर के स्थान में [पररूपम्] पररूप (अथात पर का जो रूप) एकादेश होता है।। वृद्धिरे (६।१।८५) का यह अप- वाद सूत्र है।। उप एलयित यहाँ पर का रूप 'ए' अर्थात् 'अ' तथा 'ए' को 'ए' ही हो गया। प्रोषित में 'ओ' हो गया।।

यहाँ से 'पररूपम्' की अनुवृत्ति ६।१।६६ तक जायेगी।।

ओमाङोश्च ॥६।१।९२॥

ओमाङोः ७।२॥ च अ०॥ स०—ओम् च आङ् च ओमाङौ, तयोः इतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—पररूपम्, आत्, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम्॥ अर्थः—ओमि आङि च परतोऽवर्णान्तात् पूर्वपरयोः स्थामे पररूपमेकादेशो भवति संहितायां विषये॥ उदा०—कन्या । ओम् = कन्योम् इत्यवोचत्। आ + ऊढा = ओढा, अद्य + ओढा = अद्योढा, कदोढा। तदोढा॥

भाषार्थ:—अवर्ण के प्रचात् [श्रोमाडोः] ओम् तथा आङ्परे रहते [च] भी पूर्व पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है संहिता विषय में ।। वृद्धिरैचि (६।१।८५) का यह अपवाद सूत्र है ।। आ + उत्व यहाँ पहले आड़् के आ तथा उदा के उत्त को आद् गुणः से गुण एकादेश करके ओढ़ा बनाया । तत्पंश्चात् 'आड़् एवं अनाड़् का एकादेश पूर्वक अन्तवत् होकर आड़् के प्रहण से गृहीत, हो जाता है' इस न्याय हे ओढ़ा में आड़् माना गया तो कदा के 'आ' और 'ओढा' के 'ओ' के स्थार में परह्म अर्थात् 'ओ' हो गया।।

उस्यपदान्तात् ॥६।१।९३॥

डिस ७।१॥ अपदान्तात् ५।१॥ स०—पदस्य अन्तः पदान्तः, पदान्तः अपदान्तस्तस्मात् "पूर्वं षष्टीतत्पुरुषस्ततो नञ्तत्पुरुषः। अनु०—पररूपम्, आत्, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम्॥ श्रर्थः—अ दान्तादवर्णाद् डिस परतः पूर्वपरयोः स्थाने पररूपमेकादेशो भर्वा संहितायां विषये॥ आद्गुणापवादः॥ उदा०—भिन्द्या+उस् भिन्दुः छिन्दुः। अदा+उस् = अदुः, अयुः॥

भाषार्थ:— [त्रपदान्तात्] अपदान्त अवर्ण से उत्तर [उति] उस्पे रहते पूर्व पर के (अवर्ण और उस् के उ के) स्थान में पररूप एकांक होता है, संहिता विषय में ॥ भिदिर् धातु से विधिष्ठिङ् में उसे विकरण, यासुद आगम एवं भि होकर 'भि श्नम द् यासुद झि = भिन्ध यास् झि' रहा। भेर्जुंस् (३।४।१०८) से भि को जुस् श्नसोरह्नी (६।४।१११) से 'न' के अकार का छोप एवं लिखः सलोपो० (७।२।७९) स्यासुद के सकार का छोप होकर 'भिन्द्या उस्' रहा। अब प्रकृत ए से पररूप एकादेश होकर भिन्धः वन गया। इदाञ् धातु से लुङ् अदुः की सिद्धि, गातिस्था० (२।४।७७) से सिच् लुक् एवं आति (३।४।११०) से झि को जुस् होकर जाने। या धातु से छङ् में अयुः बन है। लिखः शाकटाय० (३।४।१११) से यहाँ झि को जुस् हुआ है॥ श्रीं गुणः का यह अपवाद सृत्र है॥

यहाँ से 'अपदान्तात्' की अनुवृत्ति ६।१।६४ तक जायेगी।।

अवो गुणे ॥६।१।९४॥

अतः ५।१॥ गुणे ७।१॥ अनु०—अपदान्तात्, एकः पूर्वपरयोः संहितायाम्॥ अर्थः—अपदान्तादकारात् गुणे परतः पूर्वपरयोः स्था

पादः]

80

पररूपमेकादेशो भवति संहितायां विषये ॥ उदा० — पचन्ति, यजन्ति, पठन्ति, पचे, यजे ॥

भाषार्थ: — अपदान्त [अतः] अकार से उत्तर [गुणे] गुण अर्थात् गुणसंज्ञक अ, ए, ओ के परे रहते पूर्व पर के स्थान में संहिता विषय में पररूप एकादेश होता है।। पचन्ति यजन्ति की सिद्धि भाग १ पृ० ६७० तथा पचे की पृ० ६७१ में देखें। पचन्ति में श्रकः सवर्णे० (६।१।६७) की प्राप्ति थी तथा पचे में वृद्धिरेचि (६।१।८५) की प्राप्ति थी, तदपवाद यह सूत्र है।।

अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ ॥६।१।९५॥

अव्यक्तानुकरणस्य ६।१॥ अतः ५।१॥ इतौ ७।१॥ स० अव्यक्तस्य अनुकरणम् अव्यक्तानुकरणं, तस्य " " षष्टीतत्पुरुषः ॥ अनु० एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ॥ अर्थः - अव्यक्तमपरिस्फुटवर्णं, तस्याव्यक्तानुकरणस्य योऽच्छव्दस्तस्मादितौ परतः पूर्वपरयोः स्थाने परहृपमेकादेशो भवति संहितायां विषये॥ उदा० पटत् + इति = पटिति । घटत् + इति = घटिति । झटत् + इति = झटिति । छमत्+इति = छमिति ॥

भाषार्थः—[अव्यक्तानुकरणस्य] अव्यक्त के अनुकरण का जो [अतंः] 'अत्' शब्द उससे उत्तर [इतौ] इति शब्द परे रहते पूर्व 'अत्' तथा पर 'इ' के स्थान में पररूप एकादेश होता है संहिता विषय में ॥ अव्यक्त अपिरस्फुट = अनिभव्यक्त वण को कहते हैं, किन्तु अव्यक्त का जो अनुकरण = प्रतिशब्द, नकल वह परिस्फुट अभिव्यक्त वण वाला होगा, क्योंकि वह अव्यक्त की ध्विन की सहशता को लेकर किसी शब्द विशेष से व्यक्त किया जायेगा। यथा वस्त्रादि प्रक्षालन के समय जो पटत् पटत् अव्यक्त वर्ण वाली ध्विन निकलती है उसका अनुकरण किसी ने साहश्य से 'पटत्' इस व्यक्त वर्ण से किया॥ अव्यक्तानुकरण 'पटत्' के पूरे 'अत्' भाग को इति परे रहते पूर्व पर को पररूप प्रकृत सूत्र से हो गया तो पर का रूप पट इ ति = पिटिति झिटिति आदि बन गये॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ६।१।६६ तक जायेगी।।

नाम्रेडितस्यान्त्यस्य तु वा ॥६।१,१९६॥ न अ०॥ आम्रेडितस्य ६।१॥ अन्त्यस्य ६।१॥ तु अ०॥ ना अ०॥

प्रधा

अनुः — अन्यक्तानुकरणस्यात इसी, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम्। श्रर्थः-आम्रेडितसंज्ञकस्याव्यक्तानुकरणस्य योऽच्छव्द इतौ परतस्तान पररूपं न भवति, परम् इती परतस्तस्या हे डितस्य यो ऽन्त्यस्तकारस्तस्य विक ल्पेन परक्षपमेकादेशो भवति ॥ उदा - पटत्पटदिति, पटत्पटेति करोति।

भाषार्थ:- [ऋाम्रेडितस्य] आहेडित संज्ञक जो अञ्यक्तानुकरण व 'अत्' शब्द उसे 'इति' परे रहते पररूप एका देश [न] नहीं होता, [तुं किन्त जो उस आम्रेडित का [अन्त्यस्य] अन्त्य तकार उसकी वि विकल्प से पररूप एकादेश होता है, संहिता विषय में ॥ पूर्वसूत्र 'अत्' शब्द को पररूप प्राप्त था उसका निषेध करके अन्त्य तकार ह विकल्प से विधान कर दिया ।। 'पटत् पटत्' ऐसा द्वित्व नित्यवीप्सग्रे (८।१।४) से होता है। तस्य परमाम्रेडितम् (८।१।२) से परवाछे पटन्ई आम्रेडित संज्ञा हो गई, तो इति परे रहते 'त्' को पररूप कर देते। 'पटत्पट इति' ऐसा रहा। तब आद् गुराः (६।१।८४) छा ब पटत्पटेति बन गया।।

अकः सवर्णे दीर्घः ॥६।१।९७॥

अकः ४।१॥ सवर्णे ७।१॥ दीर्घः १।१॥ अनुः — अंचि, एकः पूर् ं परयोः, संहितायाम् ॥ अर्थः - अक उत्तरस्य सवर्णेऽचि परतः पूर्वपरक स्थाने दीर्घ एकादेशो भवति संहितायां विषये ॥ उदाः - दण्ड + अप्रमः दण्डाप्रम् द्धीन्द्रः, मधूद्के, होत् + ऋश्यः = होत् श्यः ॥

माषार्थः—[श्रकः] अक् (प्रत्याहार) से उत्तर [सवर्गे] सर्व अच् परे हो तो पूर्व और पर के स्थान में [दीर्घ:] दीर्घ एकादेश संहित् विषय में होता है।। दण्ड + अग्रम् में दोनों अकार परस्पर सवर्ण है सो दीर्घ एकादेश हो गया है। इसी प्रकार औरों में जानें।।

यहाँ से 'अकः' की अनुवृत्ति ६।१।१०३ तक तथा 'दीर्घः' वी ६।१।१०२ तक जायेगी।।

प्रथमयोः पूर्वसवर्णः ॥६।१।९८॥

प्रथमयोः ७।२॥ पूर्वसवर्णः १।१॥ स०—पूर्वस्य सवर्णः पूर्वसवर्णः षष्टीतत्पुरुषः ॥ अनुः—अकः दीर्घः, एकः पूर्वेपरयोः, अचि संहिता याम् ॥ अर्थः - प्रथमायां द्वितीयायां च विभक्तावचि अकः उत्तरम पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेशो भवति ।। उदा०—अग्नी, वायू। वृक्षाः, प्लक्षाः । वृक्षान् प्लक्षान् ।।

भाषार्थ: — अक् प्रत्याहार के पश्चात् [प्रथमयोः] प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के अच् के परे रहते पूर्व पर के स्थान में [पूर्व सवर्णः] पूर्व जो वर्ण उसका सवर्ण दीर्घ एकादेश हो जाता है।। यहाँ 'प्रथमयोः' द्विवचनान्त कहने से प्रथमा तथा द्वितीया दोनों विभक्ति के ली जाती हैं। 'अचि' की अनुवृत्ति आने से प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति के तीनों वचनों में जो अजादि प्रत्यय होगा वहीं यह सूत्र प्रवृत्त होगा।। 'अग्नि औ' यहाँ पूर्व वर्ण 'इ' है, सो पूर्व पर के स्थान में पूर्व सवर्ण दीर्घ 'ई' एकादेश हो गया। इसी प्रकार 'वायु ओ' = वायू में जानें। द्वितीया विभक्ति के द्विवचन में भी ये ही रूप हैं। जस् विभक्ति परे रहते वृक्षाः तथा शस् में वृक्षान् बनेगा।।

यहाँ से 'पूर्वसवर्णः' की अनुवृत्ति ६।१।१०२ तक जायेगी।।

तस्माच्छसो नः पुंसि ॥६।१।९९॥

तस्मात् ५।१॥ शसः ६।१॥ नः १।१॥ पुंसि ७।१॥ अनु०—पूर्वसवर्णः, संहितायाम् ॥ अर्थः—तस्मात् पूर्वसवर्णदीर्घादुत्तरस्य शसोऽवयवस्य सकारस्य नकारादेशो भवति पुंसि ॥ उदा०—वृक्षान्, अग्नीन्, वायून्, कर्वृन्, षण्डकान्, स्थूरकान्, अररकान् ॥

भाषार्थः—[तस्मात्] पूर्व सूत्र से दीर्घ किये हुये पूर्वसवर्ण दीर्घ से उत्तर [शासः] शस् के अवयव सकार को [नः] नकार आदेश [पंसि] पुँछिङ्ग में होता है।। 'शसः' में पष्टी अवयव सम्बन्ध में होते से सकार के स्थान में नकार होता है।।

नादिचि ॥६।१।१००॥

न अ० ।। आत् ५।१॥ इचि ७।१॥ अनु०—पूर्वसवर्णः, दीर्घः, एकः पूर्वपंरयोः, संहितायाम् ॥ अर्थः—अवर्णादुत्तरस्य इचि परतः पूर्वपरयोः त्र स्थाने पूर्वसवर्णदीर्घो न भवति ॥ उदा०—वृत्तौ, प्लक्षौ । खट्वे, कुण्डे ॥

भाषार्थ:—[त्रात] अवर्ण से उत्तर [इचि] इच् प्रत्याहार परे रहते पूर्व पर के स्थान में पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश [न] नहीं होता ।। वृक्ष भेऔ यहाँ इच् प्रत्याहार 'औ' के परे रहते पूर्वसवर्ण दीर्घ का जो कि प्रथमयोः

पूर्वसवर्णः से प्राप्त था निषेध होकर वृद्धिरेचि (६।१।८५) लगकर कृष् बन गया। इसी प्रकार खट्वा औ = खट्वा शी (७।१।१८) = खट्वे। जानें।।

यहाँ से 'इचि' की अनुवृत्ति ६।१।१०२ तक तथा 'न' की ६।१।१० तक जायेगी ।।

दीर्घाज्ञिस च ॥६।१।१०१॥

दीर्घात् ४।१।। जसि ७।१।। च अ०।। अनु०—न इचि, पूर्वसर्का दीर्घः, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ॥ अर्थः—दीर्घात् परः जसि इविः परतः पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेशो न भवति ॥ उदाञ् कुमार्यों, कुमार्यः । ब्रह्मबन्ध्यों, ब्रह्मबन्ध्यः ॥

माषार्थः — [दीर्घात्] दीर्घ वर्ण से उत्तर [जिसि] जस् तथा वि चकार से इच् परे रहते पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश नहीं होता ॥ पूर्व में अवर्ण से उत्तर ही कहा था, यहाँ दीर्घ से उत्तर कहने से दीर्घ 'ईक ऊकार' से उत्तर निषेध हो गया। पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश वि निषेध होने पर यणादेश होकर कुमायों इत्यादि रूप बनते हैं॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ६।१।१०२ तक जायेगी।।

वा छन्दसि ॥६।१।१०२॥

वा अ० ।। छन्दसि ७।१।। श्रनु०—दीर्घाज्ञसि च, इचि, पूर्वसवा दीर्घः, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ।। श्रथः - दीर्घात् परो जसि इवि परतः पूर्वपरयोः स्थाने छन्दसि विषये पूर्वसवर्णदीर्घो वा भवि उदा०—मारुतीश्चतस्रः । पिण्डीः । मारुत्यश्चतस्रः । पिण्ड्यः । वार्षा उपानही । वाराह्यो, उपानह्यो ।।

भाषार्थः —दीर्घ से उत्तर जस् तथा इच् प्रत्याहार परे रहते [छ्नदिति विद्वार में पूर्वपर के स्थान में पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश [वा] विकि से होता है।। पूर्व सूत्र से नित्यनिषेध प्राप्त था उसका विकल्प करते। यहाँ चिकल्प से पूर्वसवर्ण दीर्घ होता है।। मारुतीः, पिण्डीः औं जस्तु परे रहते पूर्वसवर्ण दीर्घ हुआ है, तथा मारुतः पिण्ड्यः औ

पादः]

षष्टोऽध्यायः

48

में पक्ष में पूर्वसवर्ण दीर्घ नहीं हुआ, सो यणादेश हो गया। 'औ' परे रहते वाराही उपानहीं के वाराह्यों उपानह्यों रूप बने हैं।।

अमि पूर्वः ॥६।१।१०३॥

अमि ७।१॥ पूर्वः १।१॥ अनु०—अकः, एकः पूर्वेपरयोः, संहिता-याम् ॥ अर्थः—अक उत्तरस्यामि परतः पूर्वेपरयोः स्थाने पूर्वेरूपमेकादेशो भवति ॥ उदा०—वृक्षम्, प्लक्षम्, अग्निम्, वायुम्॥

भाषार्थः अक प्रत्याहार से उत्तर [श्रिम] अम् विभक्ति परे रहते [पूर्वः] पूर्वरूप एकादेश होता है।। वृक्ष + अम्, यहाँ पूर्व 'क्ष्' का उत्तरवर्ती 'अ' है सो दोनों के स्थान में पूर्वरूप अकार एकादेश हो गया है। अग्निम् में 'इ' तथा वायुम् में 'उ' है सो इकार उकार एकादेश हुआ है।।

यहाँ से 'पूर्वः' की अनुवृत्ति ६।१।१०६ तक जायेगी।।

सम्प्रसारणाच ॥६।१।१०४॥

सम्प्रसारणात् ५।१॥ च अ०॥ अनु०—पूर्वः, एकः पूर्वपरयोः, अचि, संहितायाम् ॥ अर्थः—सम्प्रसारणादचि परतः पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वरूपमेकादेशो भवति संहितायां विषये॥ उदा०—यजि—इष्टम्। विषये॥ उदा०—यजि—इष्टम्।

भाषार्थः—[सम्प्रसारणात्] सम्प्रसारण संज्ञक वर्ण से उत्तर अच् परे हो तो [च] भी पूर्व पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है, संहिता के विषय में।।

वाक्य तथा वर्ण दोनों की सम्प्रसारण संज्ञा होने से यहाँ 'सम्प्रसा-रण संज्ञक वर्ण से उत्तर' यह अर्थ होता है।। सिद्धियाँ भाग १ पृ० ७१४ में देखें।।

एडः पदान्तादति ॥६।१।१०५॥

एङः ४।१॥ पदान्तात् ४।१॥ अति ७।१॥ स० — पदस्य अन्तः पदा-न्तस्तरमात् : 'षष्टीतत्पुरुषः ॥ अनु० — पूर्वेः, एकः पूर्वपरयोः, संहिता-याम् ॥ अर्थः — पदान्तादेङ उत्तरस्य अति परतः पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वरूपमेकादेशो भवति संहितायां विषये॥ उदा० — अंग्नेऽत्रः वायोऽत्र ॥ भाषार्थः—[पदान्तात्] पदान्त में जो [एङ:] एङ् प्रत्याहार है इसके पश्चात् जो [अति] अकार उन दोनों पूर्व पर के स्थान में संहिता विषय में पूर्वरूप एकादेश होता है।। अग्ने + अत्र = अग्नेऽत्र, वायो + अत्र = वायोऽत्र यहाँ पूर्वरूप एकादेश हो गया है। अकार को पूर्वरूष हुआ है, यह दिखाने के छिये 'ऽ' ऐसा चिह्न रखा जाता है।।

यहाँ से 'एङः, अति' की अनुवृत्ति ६।१।११८ तक जायेगी॥ ङसिङसोध ६।१।१०६॥

ङसिङसोः ६।२॥ च अ० ॥ स०—ङसि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—एङः अति, पूर्वः, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ॥ श्रर्थः—ए उत्तरयोङसिङसोरति परतः पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वरूपसेकादेशो भर्वा संहितायां विषये ॥ उदा०—अग्नेः, वायोः॥

भाषार्थ:—एङ् से उत्तर [ङिसिङिसोः] ङिस तथा ङस् का अब हो तो [च] भी पूर्वपर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश संहिता के बिक में होता है।। अग्नि + ङिस यहाँ घेडिंति (७।३।१११) से अग्नि है गुण होकर अग्ने + अस् रहा। अब प्रकृत सूत्र से पूर्वरूप होकर अब बना। ङस् परे रहते भी इसी प्रकार जानें तथा वायु से इसी प्रका वायोः की सिद्धि जानें।।

यहाँ से 'ङिसिङ्सोः' की अनुवृत्ति ६।१।१०८ तक जायेगी।।

ऋत उत् ॥६।१।१०७॥

ऋतः ५११॥ उत् १११॥ अनु०—ङसिङसोः, अति, एकः पूर्वपरगे संहितायाम् ॥ अर्थः—ऋकारान्तादुत्तरयोङसिङसोरति परतः पूर्वपरगे स्थाने उकार एकादेशो भवति संहितायां विषये ॥ उदा० – पितुः, होदः

भाषार्थः—[ऋतः] ऋकार से उत्तर ङिस तथा ङस् का अकार के हो तो पूर्वपर के स्थान में संहिता के विषय में [उत्] उकार एकाई

[ृ] १. यह साम्प्रतिक व्यवहार है। वैदिक वाङ्मय में जहाँ दो अन् अव्यविधि प्रयुक्त होते हैं, उसे 'विवृति' कहते हैं। ऐसे दो अव्यवहित स्वरों के मध्य में विह्न प्रयुक्त होता है। उपतः इसका वास्तविक नाम विवृति चिह्न है। यथा कर्मणऽआप्यायध्वमध्व्याऽइन्द्राय (य० १।१)।

होता है।। होत + ङिस = होत अस् यहाँ ऋकार एवं अकार दोनों के स्थान में उकारादेश करने से उरण्र रपरः (१।६।५०) से रपरत्व भी होकर होतु र्स्हा। रात्सस्य (८।२।२४) से संयोगान्त सकार का छोप होकर होतु र्रहा। रेफ को विसर्जनीय होकर होतुः पितुः बन गया।।

यहाँ से 'उत्' की अनुवृत्ति ६।१।११० तक जायेगी।।

ख्यत्यात् परस्य ॥६।१।१०८॥

ख्यत्यात् १।१।। परस्य ६।१।। स० - ख्यश्च त्यश्च ख्यत्यं तस्मात् समाहारो द्वन्द्वः ।। श्रवु० - उत्, ङसिङसोः, अति, संहितायाम् ॥ श्रर्थः - ख्य् त्य् इत्येताभ्यां परस्य ङसिङसोरतः स्थाने उकारादेशो भवति ।। उदा० - सख्युः । पत्युः ॥

भाषार्थ:—[स्यत्यात्] ख्यू और त्यू से [परस्य] परे ङसि तथा ङस् के अकार के स्थान में उकार आदेश होता है, संहिता के विषय में ॥ सिख तथा पित शब्द को ङिस एवं ङस् विभक्ति परे रहते गणादेश होकर 'सख्यू अस्, पत्यू अस्' रहा। अब यहाँ ख्यू तथा त्यू से परे अकार को उकार होकर सख्यु:, पत्यु: बन गया॥

अतो रोरप्छतादप्छते ॥६।१।१०९॥

अतः १११॥ रोः ६११॥ अप्लुतात् ५११॥ अप्लुते ७१॥ स०— अप्लुतात् अप्लुत, उभयत्र नच्तत्पुरुषः ॥ अनु० – उत्, अति, संहितायाम् ॥ त्र्यर्थः — अप्लुताद्कारादुत्तरस्याप्लुतेऽति प्रतः रो रेफस्यो-कारादेशो भवति संहितायां विषये ॥ उदा० — वृक्षोऽत्र, प्रुक्षोऽत्र ॥

भाषार्थः—[अप्लुतात्] अप्लुत [श्रतः] अकार से उत्तर [अप्लुते] अप्लुत अकार परे रहते [रोः] रु के रेफ को उकार आदेश होता है संहिता के विषय में।। 'वृक्ष रु अत्र = वृक्ष र् अत्र' यहाँ 'क्ष्' का उत्तरवर्ती

१ 'श्रतः श्रति' दोनों में तपर होने के कारण ह्रस्व अकार का ही ग्रहण होगा, प्लुत का हो हो नहीं सकता फिर भी 'अप्लुतात, श्रप्लुते' ग्रहण इस लिए है कि अष्टमाध्याय पाद २ सूत्र ५२-१०५ तक जो प्लुत विधान है वह इस प्रकरण के प्रति 'पूर्वत्रासिद्धम्' (५।२।१) के तियम से असिद्ध होने पर एकमादिक माना जाने पर भी प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति न हो।

'अ' प्लुत भिन्न है, तथा अन्न का 'अ' भी प्लुत भिन्न अकार है, अतः क्र के रेफ को उत्व होकर 'वृक्ष उ अन्न' बना। पश्चात् त्राद् गुणः (६।१।८४) से गुण होकर 'वृक्षो अन्न' पश्चात् एङः पदान्तादि (६।१।१०५) लगकर वृक्षोऽन्न बन गया।।

यहाँ से 'श्रतः रोः' की अनुवृत्ति ६।१।११० तक जायेगी।।

हिश च ॥६।१।११०॥

हित्रा ७।१।। च अ०।। अनु०—अतः रोः, उत्, संहितायाम्॥ अर्थः—हित्रा च परतोऽत उत्तरस्य रोरुकारादेशो भवति संहितायां विषये ।। उदा०—पुरुषो याति, पुरुषो हसति, पुरुषो वदति ।।

भाषार्थः—[हिशा] हश् प्रत्याहार परे रहते [च] भी अकार से उत्तर रु के रेफ को उकारादेश होता है संहिता के विषय में।। पूर्व सूत्र से अकार परे रहते ही प्राप्त था, हश् परे रहते भी विधान कर दिया। पुरुष सु = पुरुष रू = पुरुष र् याति, उत्व तथा आद् गुणः (६।१।८४) छगकर पुरुषो याति बन गया।।

प्रकृत्यान्तःपादम् ॥६।१।१११।।

प्रकृत्या ३।१॥ अन्तःपाद्म् अ०॥ स०—अन्तः = मध्ये पाद्स्य अन्तःपाद्म् तिस्मन् अन्तःपाद्म्, अञ्ययीभावः । विभक्त्यर्थेऽञ्यर्थः भावः (२।१।६)॥ ततः सप्तम्यामुत्पन्नस्य ङेस्तृतीयासप्तम्यो० (२।४।८४) इत्यनेनाम्भावः ॥ अन्तःशब्दोऽञ्ययमधिकरणभूतं मध्यममाच्छे। श्रमु०—एङः अति, संदितायाम्॥ श्रयंः—पाद्मध्यस्थेऽति परत एह् प्रकृत्या भवति, संदिताकार्यं न भवतीत्यर्थः ॥ एङ इति यत् पञ्चम्यत्यं मनुवत्तते तदर्थादिह प्रथमान्तेन विपरिणम्यते ॥ उदा०—ते अग्रे अश्वमायुक्षम् । ते अस्मिन् जवमाद्धुः । सुजाते अश्वसूनृते (ऋ० ५।७६।१)। उपप्रयन्तो अध्वरम् (ऋ० १।७४।१) । शिरो अपर्यम् । अध्वर्यो अद्रिभिः सुतम् ॥

भाषार्थः—[अन्तःपादम्] पाद के मध्य में वर्त्तमान अकार के परे रहते एक को [प्रकृत्या] प्रकृतिभाव हो जाता है, अर्थात् जैसा है वैसे ही रहता है सन्धि-कार्य नहीं होते ।। अन्तः अव्यय शब्द यहाँ मध्यवाची है, अ्रथां विमक्ति (२।१।६) से विभक्त्यर्थ में अन्तःपादम् में समास हुआ

है। समास करने के पश्चात् उत्पन्न सप्तमी विभक्ति के एकवचन को श्रव्य-यादाप्तुपः (२।४।८२) से लुक् न होकर तृतीयासप्तम्यो०(२।४।८४) से 'अम्' होता है।। उपर से आ रहा 'एङः' पद्धम्यन्त पद यहाँ अर्थ के अनुसार प्रथमा विभक्ति में बदल जाता है।। उपर्युक्त सारे उदाहरणों में पाद के मध्य में अकार है, अतः 'ते, सुजाते, उपप्रयन्तो' आदि के एङ् को प्रकृतिभाव हो जाता है अर्थात् एङः पदान्तादति (६।१।१०५) से प्राप्त पूर्वक्षप नहीं होता।।

विशेष:—यद्यपि इस प्रकरण में 'छन्दिस' का निर्देश नहीं है तथापि इस प्रकरण के अधिकांश सूत्र वेदिवषयक ही हैं, क्योंकि छौकिक पाद-बद्ध पद्यों में यह कार्य नहीं देखा जाता है। सूत्र ६१९१९९८ में पाठत किंवत्र' पद से भी यही ध्वनित होता है।।

यहाँ से 'प्रकृत्या' की अनुवृत्ति ६।१।१२६ तक तथा 'श्रन्तःपादम्' की ६।१।११२ तक जायेगी।।

अन्याद्वद्याद्वऋष्ठु रत्रतायमवन्त्ववस्युषु च ॥६।१।११२॥

अवयाः स्युषु ७।३॥ च अ०॥ स०—अव्या० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—प्रकृत्या, अन्तःपादम्, एङः अति, संहितायाम्॥ अर्थः— अव्यात्, अवद्यात्, अवक्रमुः, अवत, अयम्, अवन्तु, अवस्युं इत्ये-तेष्वति परतोऽन्तःपादमेङ् प्रकृत्या भवति॥ उदा०—अग्निः प्रथमो वसु-भिर्मो अव्यात्। मित्रमहो अवद्यात् (ऋ० ४।४।१५)। मा शिवासो अव-ऋमुः (ऋ० ७।३२।२७)।ते नो अव्रताः। शतधारो अयंमणिः। ते नो अवन्तु पितरः। कुशिकासो अवस्यवः (ऋ० ३।४२।९)॥

यद्यप्यत्र पूर्वेस्त्रेणैव प्रकृतिभावः सिद्धस्तथापि 'अन्यात्' आदिषु परतः पुनः प्रकृतिभावविधानाज्ज्ञाप्यते यत् पूर्वेस्तृत्रेऽवकारयकारपरेऽति प्रकृतिभावो विधीयत इति ।।

भाषार्थ:—[ऋव्या स्युषु] अव्यात्, अवद्यात्, अवक्रमुः, अव्रत, अयम्, अवन्तु, अवस्यु इन शब्दों में जो अकार उसके परे रहते पाद् के मध्य में जो एङ् उसको [च] भी प्रकृति भाव हो जाता है, अर्थात् सन्धि नहीं होती।।

यद्यपि इस सूत्र के उदाहरणों में पूर्वसूत्र से प्रकृतिभाव प्राप्त था पुनरिप इस सूत्र की रचना से ज्ञात होता है कि पूर्वसूत्र में वकार यकार 48

परे हैं जिस अकार के, उसके परे प्रकृति भाव नहीं होता। स ६।१।११८ में पठित 'सर्वत्र' पद से भी यह भाव प्रकट होता है। एङ: पदान्ता० (६।१।१०५) से प्राप्त सन्धि कार्य उदाहरणों में न हुआ है ॥

यजुष्युरः ॥६।१।११३॥

यजुषि ७११।। डर: १११।। श्रनु०—प्रकृत्या, एङ: अति, संहितायाप्। अर्थः—यजुषि विषये एङन्त उरः शब्दोऽति परतः प्रकृतया भवति। उदा०-- उरो अन्तरिक्षम ॥

भाषार्थः—[यजुषि] यजुर्वेद विषय में [उर:] डर: शब्द जो एइन उसे प्रकृतिभाव होता है, अकार परे रहते ॥ 'उरस्' के स्को पह रुत्व करके पश्चात् अतो रोरप्लु० (६।१।१०६) से 'रु' को 'उ' हुआ तत्पश्चात् आद् गुर्याः (६।१।८४) छमकर 'उरो' एङन्त वन गया, तव अन रिच्चम् का अकार परे रहते प्रकृतिभाव हो गया।।

यहाँ से 'यजुषि' की अनुवृत्ति ६।१।११७ तक जायेगी।।

आपोजुषाणोवृष्णोवर्षिष्ठेअम्बेअम्बाले अस्विकेपूर्वे ॥६।१।११४॥

आपो, जुषाणो, वृष्णो, वर्षिष्ठे, अम्बे, अम्बाले इत्येतान्यतुका पदान्यविभक्त्यन्तानि । अम्बिकेपूर्वे १।२।। स०-अम्बिकेशव्दात् प्र अम्बिकेपूर्वे, पञ्चमीतत्पुरुषः ॥ अनुः—यजुषि, प्रकृत्या, अति, संहित याम्।। अर्थः—आपो, जुषागो, वृष्णो, विषेष्ठे इत्येतानि पदाि अम्बिकेशब्दात् पूर्वे अम्बे अम्बाले इत्येते च पदे तानि यजुिष अति पर प्रकृत्या भवन्ति ।। उदा०—आपो अस्मान् मातरः शुन्धयन्तु (य॰ ४१२) जुषाणो अप्तुराज्यस्य (य० ५।३५)। वृष्णो अंग्रुभ्यां गभस्तिपूतः (अ ७।१) वर्षिष्ठे अधिनाके। अम्बे अम्बाले अम्बिके॥

माषार्थः-[आपो : अम्बिकेपूर्वे] आपो, जुषाणो, वृष्णो, विष्कु ये पद तथा अम्बिक शब्द से पूर्व अम्बे अम्बाले ये दो पद यर्जी में पठित होने पर अकार परे रहते प्रकृतिभाव से रहते हैं ॥ सबी एङ: पदांता० (६।१।१०५) से प्राप्त सन्धिकाय नहीं होता ॥ आपी

षष्टोऽध्यायः

पादः]

40

जुवाणो आदि सारे पद अनुकरणरूप अविभक्त्यन्त सूत्र में पहे

अङ्ग इत्यादौ च ॥६।१।११५॥

अङ्गे ७११॥ इत्यादौ ७११॥ च अ०॥ स०—इति = अङ्गराब्दः, तस्यादिः, तस्मिन् ''षष्ठीतत्पुरुषः ॥ श्रनु०—यजुषि, प्रकृत्या, एडः अति, संहितायाम् ॥ अर्थः—यजुषि विषये अङ्गराब्दे य एड् स अति परतः प्रकृत्या भवति, तदादौ चाति परतो यः कश्चिद् एड्पूर्वः सोऽपि प्रकृत्या भवति ॥ उदा०—ऐन्द्रः प्राणो अङ्गे अङ्गे निदीष्यत् (य० ६१२०) । ऐन्द्रः प्राणो अङ्गे अङ्गे निदीष्यत्

भाषार्थ:—यजुर्वेद विषय में [अङ्गे] अङ्ग शब्द में जो एड उसकी अकार के परे रहते प्रकृतिभाव हो जाता है, [च] तथा [इत्यादी] उस अङ्ग शब्द के आदि में जो अकार उसके परे रहते पूर्व एड को (किसी शब्द में स्थित) प्रकृतिभाव होता है, अर्थात् सिन्ध नहीं होती।। इति शब्द से यहाँ अङ्ग शब्द का ही प्रत्यवमर्षण किया गया है।। चकार से दो वाक्यार्थ होते हैं, प्रथम तो अङ्ग शब्द के एड को प्रकृतिभाव होता है, किसी शब्द में स्थित अकार के परे रहते अर्थात् अङ्ग शब्द में स्थित ही अकार परे हो यह आवश्यक नहीं, अतः 'अङ्गे अशोचिषम्' में प्रकृतिभाव सिद्ध हो जाता है। द्वितीय वाक्यार्थ में कहा कि तदादि = अङ्ग शब्द के अकार के परे रहते कोई भी एड पूर्व हो उसे प्रकृतिभाव होता है, अर्थात् यह आवश्यक नहीं रहा कि अङ्ग शब्द का ही एड हो, किसी भी शब्द में स्थित एड हो, अतः 'प्राणो अङ्गे' में 'प्राणो' के ओकार को प्रकृतिभाव सिद्ध हो जाता है।।

अनुदात्ते च कुधपरे ॥६।१।११६॥

अनुदात्ते ७।१॥ च अ०॥ कुर्धारे ७।१॥ स० कुत्र ध्रत्र कुषी, कुषी परी यस्मात् स कुष्परस्तस्मित् दून्द्रगर्भबहुन्नीहिः॥ अव० यजुि प्रकृत्या, एङः अति, संहितायाम्॥ अर्थः — यजुि विषयेऽनुदात्ते चाति कवर्गधकारपरे परत एङ् प्रकृत्या भवति॥ उदा० अयं सो अग्निः (य०१२।४७)। अयं सो अग्नरः॥

भाषार्थ: - यजुर्वेद विषय में [कुघपरे] कु = कवर्ग घकार परक [अतु-

दात्ते] अनुदात्त अकार के परे रहते [च] भी एङ् को प्रकृतिभाव होता है।। अग्नि शब्द की स्वर सिद्धि भाग १ पृ.००५ में देखें। यह अनुदात्तादि शब्द है, तथा अकार के परे कवर्ग 'ग्' है ही, अतः प्रकृतिभाव हो गया है। अध्वर शब्द भी प्रातिपिद्क स्वर से अन्तोदात्त है, अतः श्रमुदात्तां० (६।१।१५२) लगकर अनुदात्तादि है, अकार से परे धकार है ही, अतः प्रकृतिभाव हो गया है।।

यहाँ से 'अनुदात्ते' की अनुवृत्ति ६।१।११७ तक जायेगी।। अवपथासि च ।।६।१।११७॥

अवपथासि ७११॥ च अ०॥ श्रनु०—अनुदात्ते, यजुषि, प्रकृत्या, एङः अति, संहितायाम् ॥ अर्थः—अवपथाःशब्दे योऽनुदात्तोऽकार तिस्मन् परत एङ् प्रकृत्या भवति यजुषि विषये॥ उदा० —त्री रुद्रेभ्ये अवपथाः॥

भाषार्थ:—[अवपथासि] अवपथाः शब्द में चि भी जो अनुदात्त अका उसके परे रहते यजुर्वेद विषय में एङ्को प्रकृतिभाव होता है।। वा धातु से छङ् छकार में थास् परे रहते अट् आगम होकर 'अवपथां' रूप बना है। तिङ्ङितिङ: (८।१।२८) से अतिङ् 'रुद्रेभ्यो' से उत्तर निघात होता है, अतः अनुदात्त अकार परे है, सो रुद्रेभ्यो का ओका प्रकृतिवत् रह गया, सन्धि नहीं हुई।। चकार 'अनुदात्ते' पद के अनुक र्षणार्थ है।।

सर्वत्र विभाषा गोः ॥६।१।११८॥

सर्वत्र अः।। विभाषा १।१।। गोः ६।१।। श्रनुः अतः, एङः अतः, संहितायाम् ।। श्रर्थः सर्वत्र = छन्दसि भाषायां चाति परतो गोरेहः प्रकृत्या भवति विभाषा।। उदाः गो अप्रम् , गोऽप्रम् । छन्दसि अपर्धः प्रकृत्या भवति विभाषा।। उदाः गो अप्रम् , गोऽप्रम् । छन्दसि अपर्धः प्रकृते गोरवाः ।।

भाषार्थः—[सर्वत्र] सर्वत्र = छन्दं तथा भाषा विषय दोनों में प्रात्ति । गो:] गो शब्द के एक् को [विमाषा] विकल्प से अकार परे रहते प्रकृष्ठ तिसाव होता है।।

यहाँ से 'गोः' की अनुवृत्ति ६।१।१२० तक तथा 'विभाषा' की अर्ज व्यक्ति ६।१।११९ तक जायेगी ।।

अवङ् स्फोटायनस्य ॥६।१।११९॥

अवङ् १।१॥ स्फोटायनस्य ६।१॥ श्रनु०—गोः, विभाषा, अचि, संहि-तायाम् ॥ अर्थः—स्फोटायनस्याचार्यस्य मतेनाचि परतो गोरवङादेशो भवति, विकल्पेन ॥ उदा०—गवाश्रम्, गोऽत्रम् । गवाजिनम्, गोऽ-जिनम्। गवोदनम्, गवौदनम्। गवोष्ट्रम्, गवुष्ट्रम्॥

माषार्थः अच् परे रहते गो को [श्रवङ्] अवङ् आदेश [स्फोटाय-नस्य] स्फोटायन आचार्य के मत में विकल्प से होता है।। 'अवङ्' में वकारोत्तरवर्ती अकार निरनुनासिक है। िक (१।१।५२) से अन्तिम अल् 'ओ' को 'अवङ्' होकर गव अग्रम् = गवाग्रम् बना है। जिस पक्ष में अवङ् आदेश नहीं हुआ तो एङ:पदान्तादित (६।१।१०५) से पूर्वरूप होकर गोऽग्रम् बन गया।।

यहाँ से 'श्रवङ्' की अनुवृत्ति ६।१।१२० तक जायेगी।।

इन्द्रे च ॥६।१।१२०॥

इन्द्रे ७।१।। च अ० ।। अनु०—अवङ् , गोः, अचि, संहितायाम् ॥ अर्थः—इन्द्रशब्दस्थेऽचि परतो गोरवङादेशो भवति ।। *उदा०*—गवेन्द्रः। गवेन्द्रयज्ञस्वरुः^९ ।।

भाषार्थः—[इन्द्रे] इन्द्र शब्द में स्थित अच् के परे रहते [च] भी गो को अवङ् आदेश होता है।।

प्रथमसूत्र से अवङ् प्राप्त था पुनः इन्द्र शब्द के परे उसका विधान करने से ज्ञापित होता है कि इस सूत्र में विभाषा की अनुवृत्ति नहीं आती।।

प्छतप्रगृह्या अचि नित्यम् ॥६।१।१२१॥

प्जुतप्रगृह्याः १।३॥ अचि ०।१॥ नित्यम् १।१॥ स० प्जुताश्च प्रगृह्याश्च प्जुतप्रगृह्याः, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु० — प्रकृत्या, संहितायाम् ॥ अर्थः — प्जुताश्च प्रगृह्याश्चाचि प्रकृत्या भवन्ति नित्यम् ॥ उदा० — प्जुताः — देवदत्ता ३ अत्र न्वसि । यज्ञदत्ता ३ इदमानय । प्रगृह्याः — अग्नी इति । वायू इति । खट्वे इति । माले इति ॥

१. 'चरु' इति पाठान्तरम् । यूपव्रश्चने प्रथमं निष्पतितः शकलः 'स्वरु' नाम्ना-व्यवह्रियते याज्ञिकैः ।

भाषार्थः—[प्लुतप्रगृह्याः] प्लुत तथा प्रगृह्यसंज्ञक शब्दों को [अनि अच् परे रहते [नित्यम्] नित्य ही प्रकृतिभाव हो जाता है।। 'आं इति' इत्यादि की सिद्धि भाग १ परि० १।१।११ पृ० ६८४ में देखें देवदत्ता ३ इत्यादि में प्लुत दूराखूते च (८।२।८४) से हुआ है। प्रकृति भाव होने से सवर्णदीर्घ नहीं हुआ है।।

यहाँ से 'श्रिचि' की अनुवृत्ति ६।१।१२६ तक जायेगी।।

आङोऽनुनासिकञ्छन्दसि बहुलम् ।।६।१।१२२॥

आङः ६।१।। अनुनासिकः १।१।। छन्दसि ७।१।। बहुछम् १॥ श्रुन् — अचि, प्रकृत्या, संहितायाम् ।। अर्थः — आङोऽचि परतः सी तायां छन्दसि विषयेऽनुनासिकादेशो बहुछं भवति, स च प्रकृत्या भवि उदा० — अभ्रआँ अपः । गभीरआँ उप्रपुत्रे जिघांसत ।।

माषार्थः — [आङ:] आङ् को अच् परे रहते संहिता विषयं [श्रनुनासिकः] अनुनासिक आदेश [छन्दिस वेद विषय में विहुल बहुल करके होता है, तथा उस अनुनासिक को प्रकृतिभाव भी होता है बहुल प्रहण से आङ् के अतिरिक्त भी अनुनासिक आदेश और प्रकृतिभाव देखा जाता है। यथा—सवाय एवा राज्युवसे (ऋ० १।११३।१)।

इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य हस्वश्च ॥६।१।१२३॥

इकः ११३॥ असवर्णे ७११॥ शाकल्यस्य ६११॥ ह्रस्वः १११॥ च अ० स० — न सवर्णोऽसवर्णस्तिसम् नव्यतत्पुरुषः ॥ अनु० — अचि, प्रकृत्य संहितायाम् ॥ अर्थः — असवर्णेऽचि परत इकः शाकल्यस्याचार्यस्य मते प्रकृत्या भवन्ति, ह्रस्वश्च तस्येकः स्थाने भवति ॥ उदा० — दिध अ मधु अत्र, कुमारि अत्र, किशोरि अत्र, इको यशाचि इत्यपि भवति विभा सामध्यति, तेन पक्षे दृष्यत्र मध्वत्र कुमार्थत्र किशोर्यत्र इति यणाहै। भवन्ति ॥

भाषार्थ:—[असवर्णे] असवर्ण अच् परे हो तो [इकः] इक् [शाकल्यस्य] शाकल्य आचार्य के मत में प्रकृतिमान हो जाता है, दि तथा उस इक् के स्थान में [हुस्वः] हुस्व भी हो जाता है।। इको या के आरम्भसामर्थ्य से पक्ष में यणादेश भी होकर दृष्यत्र आदि उदाहर बनते हैं। कुमारी, किशोरी को हुस्व होकर 'कुमारि अत्र, किशोरि अव बना है। असवर्ण अच् सर्वत्र अत्र का 'अ' परे है ही।।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

f

यहाँ से 'शाकल्यस्य हस्वश्च' की अनुवृत्ति ६।१।१२४ तक जायेगी॥

ऋत्यकः ॥६।१।१२४॥

ऋति ७।१।। अकः १।३॥ अनु० – शाकल्यस्य हुस्बश्च, प्रकृत्या, संहितायाम् ॥ अर्थः — ऋकारे परतः शाकल्यस्याचार्यस्य मतेनाकः प्रकृत्या भवन्ति, हुस्बश्च तस्याकः स्थाने भवति ॥ उदा० – खट्व+ऋश्यः, माल+ऋश्यः, कुमारि ऋश्यः, होतृ ऋश्यः। पक्षे यथायथमादेशा भवन्ति ॥

भाषार्थ:—[ऋति] ऋकार परे रहते [अकः] अक् को शाकल्य आचार्य के मत में प्रकृतिभाव होता है, तथा उस अक् को हस्व भी हो जाता है।। पूर्वसृत्र में असवर्ण कहा था यहाँ सवर्ण अच् परे रहते भी हो जाये, जैसे कि होतृ ऋश्यः यहाँ है, तथा पूर्वसृत्र में इक् कहा है यहाँ अनिक् खट्व ऋश्यः आदि में भी हो जावे इसिल्ये यह सूत्र है। पक्ष में खट्वश्यः, मालश्यः, कुमार्यृश्यः, होतृश्यः इत्यादि प्रयोग भी होते हैं।

अप्छतवदुपस्थिते ॥६।१।१२५॥

अप्लुतवत् अ० ॥ उपस्थिते ७।१॥ स०—अप्लु० इत्यत्र नन्ततपु-रुषः ॥ अर्थः—उपस्थितं नाम अनार्षे इतिकरणः । अनार्षे इतौ परतः प्लुतोऽप्लुतवद् भवति । तेन प्लुतकार्यं प्रकृतिभावो न भवति ॥ उदा०— सुरलोका३ इति = सुरलोकेति । सुमङ्गला३ इति = सुमङ्गलेति ॥

माषार्थ:—उपस्थित अनार्ष अर्थात् जो वेद से अन्यत्र आया 'इति' पद है, उसे कहते हैं ।। [उपस्थित] अनार्ष इति के परे रहते एतुत को [श्राणुतवत्] अप्लुतवत् = अप्लुत के समान हो जाता है ।। अप्लुतवत कहने से प्लुतकार्य प्लुतप्रमूह्मा० (६।१।१२१) से कहा हुआ प्रकृतिभाव नहीं होता, अतः सन्धिकार्य हो जाता है ।। दूराजूते च (८।२।८४) से 'सुरलोका रे' आदि में प्लुत हुआ है ।।

यहाँ से 'अप्लुतवत्' की अनुवृत्ति ६।१।१२६ तक जायेगी।।

ई३ चाऋवर्मणस्य ।।६।१।१२६॥

ई३ लुप्तप्रथमान्त्तिर्देशः।। चाकवर्मणस्य ६।१॥ अनु० अप्तुतवत् , अचि ॥ अर्थः अचि परत ई३कारः प्लुतआकवर्मणस्याचारस्य सर्तेनाप्लु- तवद्भवति ।। उदा०—अस्तु हीत्यत्रवीत् ! चिनु हीदम् । चाकवर्मणमह्य पक्षे —अस्तु ही३ इत्यत्रवीत् । चिनु ही३ इदम् ।।

भाषार्थ:— प्लुत [ई३] 'ई३' को अच् परे रहते [चाक्रवर्मणाः चाक्रवर्मण आचार्य के मत में अप्लुतवत् हो जाता है।। पूर्ववत् प्रष्टुं भाव न होना ही अप्लुतवत् विधान का प्रयोजन है।। चाक्रवर्मण प्रविकल्पार्थ है, अतः पाणिनि मुनि के मत में प्रकृतिभाव ही होता है उपस्थित (अनार्ष इति) अनुपस्थित दोनों विषयों में यह विकल्प का है, अतः यह उभयत्र विभाषा है।।

दिव उत् ॥६।१।१२७॥

दिवः ६।१॥ उत् १।१॥ अनु०—एङः पदान्ताद्तीत्यतः पदम्हणक् वत्तते मण्डूकप्लुतगत्या ॥ अर्थः—दिवः पदस्य उकारादेशो भवि दिव इति प्रातिपदिकं गृह्यते, न धातुः ॥ उदा० - दिवि कामो यस युकामः । युमान् । विमल्यु दिनम् । युभ्याम् । युभिः ॥

भाषार्थ:—[दिव:] दिव पद को [उत्] उकारादेश होता है ॥ अन्त्यस्य (१।१।५१) से अन्तिम अल् 'व्' के स्थान में उकारादेश हो है । येन विधिस्त० (१।१।७१) से तदन्त विधि होने से पदान्त में विदित्व के वकार को ही उकारादेश होता है ॥ चुकामः की सिद्धि भाष्ट १०३४ में देखें । इसी प्रकार और सिद्धियाँ भी हैं ॥

एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि ॥६।१।१२८॥

एतत्तदोः ६।२॥ सुलोपः १।१॥ अकोः ६।२॥ अनव्समासे जी हिल ७।१॥ स० एतच तच एतत्तदौ तयोः इतरेतरद्वन्द्वः । सोली सुलोपः, षष्टीतत्पुरुषः । न विद्यते 'क' ययोस्तौ अकौ, तयोः वहुवीहि नवः समासः नव्समासः, षष्टीतत्पुरुषः । न नव्समासोऽनव्समा स्तिस्मन् ' 'नव्तत्पुरुषः ॥ अनु० संहितायाम् ॥ अर्थः अनव्समा वर्त्तमानयोरककारयोरेतत्तदोः सुलोपो भवित संहितायां विषये ही परतः ॥ उदा० एतद् एष ददाति, एष भुङ्क्ते । तद् स ददाति, भुङ्क्ते ॥

भाषार्थः—[त्रकोः] ककार जिनमें नहीं है तथा जो [त्रनञ्समी, नञ् समास में वर्त्तमान नहीं हैं, ऐसे जो [एतत्तदोः] एतद् तथा वर्ष CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

1

F

F

a,

उनके [मुलोपः] सु का लोप हो जाता है [हिलि] हल् परे रहते, संहिता के विषय में ।। अकच् प्रत्यय करने पर ककार महित एतद् तद् हो जाते हैं, अतः 'अकोः' से उनका निषेध है ।। सः की सिद्धि माग१ ए० ७२४ तथा ७३४ में देखें। हल् परे यहाँ सु का लोप हो गया है, यही विशेष है । सः के समान ही एतद् के मध्य तकार को सकार एवं द् को अत्व तथा आदेशप्रत्य० (८)३।४६) से षत्व करके 'एषः' बनता है ।।

यहाँ से 'सुलोपः' की अनुवृत्ति ६।१।१३० तक तथा 'हलि' की अनु-वृत्ति ६।१।१२६ तक जायेगी।।

स्यञ्छन्दिस बहुलम् ॥६।१।१२९॥

स्यः पष्टचर्थे प्रथमा ।। इन्द्रसि ०।१।। बहुलम् १।१।। श्रनु०—मुलोपः, हलि, संहितायाम् ।। श्रर्थः—स्य इत्येतस्य इन्द्रसि विषये हलि परतो बहुलं सोलोपो भवति संहितायां विषये ।। उदा०—उत स्य वाजी क्षिपणि तुरण्यति श्रीवायां बद्धो अपि कक्ष आसिन (ऋ० ४।४०।४)। एष स्य ते मधुमाँ इन्द्र सोमः । बहुलवचनात् न च भवति—यत्र स्यो निपतेत् ।।

भाषार्थ: —'स्य:' यह षष्टी के अर्थ में प्रथमा है। [स्य:] स्य शब्द के सु का [छन्दिस] वेद विषय में हलू परे रहते [बहुलम्] बहुल करके छोप हो जाता है, संहिता के विषय में।।

सोऽचि लोपे चेत् पादपूरणम् ॥६।१।१३०॥

सः षष्ट्यर्थे प्रथमा ।। अचि ७।१।। छोपे ७।१।। चेत् अः ।। पादपूरणम् १।१।। सः —पादस्य पूरणं निष्पत्तिः पादपूरणं, षष्टी-तत्पुरुषः ।। अनुः — सुलोपः, संहितायाम् ।। अर्थः —स इत्येतस्याचि परतः सुलोपो भवित संहितायाम् , लोपे सित चेत्पादः पूर्येत ।। उदाः —सेन्दू राजा क्षयित चर्षणीनाम् । सौषधीरनुरुध्यसे । सैष दाशरथी रामः, सैष राजा युधिष्टिरः । पादशब्देनेह सामान्येन ऋक्पादः श्लोकपादश्चोभौ गृह्येते ।।

भाषार्थ:—[सः] 'सः' के सु का छोप [म्राचि] अच् परे रहते होता है [चेत्] यदि [लोपे] छोप होने पर [पादपूरणम्] पाद की पूर्ति (निष्पत्ति) हो रही हो ॥ पादशब्द से यहाँ ऋङ् मन्त्र (पद्यमन्त्र) और रहोक दोनों के पादों का प्रहण होता है।। तद् के प्रथमा एक वचन 'सः' अनुकरण है तथा प्ववत् षष्टी का लुक् हुआ है।। सुका हे कर देने पर आद् गुणः (६।१।८४) एवं वृद्धिरेचि (६।१।८५) हा स इन्दु = सेन्दुः, स ओषधीः = सौषधीः बनने से एक मात्रा उसी मिलकर पादपूर्ति हो जाती है, अन्यथा १ मात्रा वढ़ने से पादन्यका ठीक न बनती।।

[सुट्प्रकरणम्]

सुट् कात् पूर्वः ॥६।१।१३१॥

सुद् १।१॥ कात् ६।१॥ पूर्वः १।१॥ श्रानुः —संहितायाम् ॥ श्रर्थः अधिकारोऽयम् , पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम् (६।१।१६१) इति यात्र इत उत्तरं ककारात् पूर्वः सुडागमो भवतीत्यधिकारो वेदितव्यः॥ उदाः वद्यति सम्परिम्याः (६।१।१३२) संस्कर्त्तां, संस्कर्त्तम् , संस्कर्त्तव्यम्॥

भाषार्थः - यह अधिकार सूत्र है, पारस्करप्रभृतीनि० (६।१।१५) तक जायेगा। [कात्] ककार से [पूर्वः] पूर्व [सुट्] सुट् का आ होता है, ऐसा आगे के सूत्रों में अर्थ होता जायेगा ।। सम् सुट् कर्ता सम् स् कर्त्ता यहाँ संयुंकानां सत्वम् (भाष्य वात्तिक ८।३।४) से ह के म् को स् होकर 'स स् स्कर्त्ता' रहा । अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु (८!३।२) से पत्त में स् से पूर्व वर्ण अकार को अनुनासिक तथा दूरी पक्ष में श्रनुनासिकात् परोऽनुस्वारः (८।३।४) से अनुस्वार आगम ही संस्कर्ता बना ॥ अयोगवाहानामट्सु० (हयवरट्) इस भाष्यवाति से अनुस्वार अट् प्रत्याहार में माना गया तो हल से उत्तर म जाने से मरो मिर सवर्णे (८।४।६४) से एक सकार का पक्ष छोप हो गया तब संस्कर्ता एक सकार वाला प्रयोग भी बना। अयो वाहों को सामान्य करके महाभाष्य में (हयवरट्) अच् एवं हल् वी में ही माना है, सो अचों में मानकर अच् से उत्तर अनि (८।४।४६) से पक्ष में 'सं स् स् कत्ती' (द्विसकारक अवस्था यहाँ स् को द्वित्व होकर संस्सकत्ता प्रयोग भी बनेगा। इस प्रव सकार छोप एवं द्वित्व भी पाक्षिक होकर एक सकार, दो सकार तथा है सकार के भेद से प्रयोगत्रय सिद्ध होते हैं, ऐसा जानें। हमते उदाहरणों में एक संकार ही रखा है।। इसी प्रकार संस्कर्तम् आदि व्यवस्था जाने ॥

N

3

i i

1

सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे ॥६।१।१३२॥

सम्परिभ्याम् ५।२॥ करोतौ ७।१॥ भूषणे ७।१॥ स० — सम्परिभ्याम् इत्यत्रेतरद्वन्द्वः ॥ अवु० — सुद् कात् पूर्वः, संद्वितायाम् ॥ अर्थः — सम्, परि, इत्येताभ्यां भूषणेऽर्थे करोतौ परतः सुद् कात् पूर्वो भवित संदितायाम् ॥ उदा० — संस्कर्त्तां, संस्कर्त्तुम्, संस्कर्त्तव्यम् । परिष्कर्त्तां, परिष्कर्त्तुम्, परिष्कर्त्तव्यम् ।

भाषार्थ:—[मूषरों] भूषण अर्थ में [सम्परिभ्याम्] सम् तथ्स परि उपसर्ग से उत्तर [करोतों] कृ धातु के परे रहते ककार से पूर्व सुद् का आगम होता है, संहिता विषय में ।। परिष्कर्त्ता (परिष्कार करने वाला) आदि में सुद् के 'स्' को परिनिविभ्यः सेव० (८।३।७०) से घत्व हुआ है । संस्कर्त्ता (संस्कार करने वाला) की सिद्धि पूर्व सूत्र में देखें ।।

यहाँ से 'सम्परिभ्याम्' की अनुवृत्ति ६।१।१३३ तक तथा 'करोती' की ६।१।१३४ तक जायेगी।।

समवाये च ॥६।१।१३३॥

समवाये ७।१॥ च अ०॥ अनु०—सम्परिभ्याम्, करोतौ, सुट् कात्-पूर्वः, संहितायाम्॥ अर्थः — समवायेऽर्थे करोतौ परतः संपरिभ्यां परः कात् पूर्वः सुडागमो भवति संहितायाम्॥ समवायः = ससुदायः॥ उदा० — तत्र नः संस्कृतम्, तत्र नः परिष्कृतम्॥

भाषार्थः—[समवाये] समुदाय अर्थ में [च] भी कृ धातु परे हो तो सम् तथा परि से उत्तर ककार से पूर्व सुद् का आगम होता है, संहिता विषय में ।। उदा० – तत्र नः संस्कृतम् (वहाँ हमारा समुदाय) । तत्र नः परिष्कृतम् ।।

उपात् प्रतियत्नवैकृतवाक्याच्याहारेषु ॥६।१।१३४॥

• उपात् ४।१॥ प्रति • इर्षेषु ७।३॥ स० — प्रतियत्न० इत्यत्रेतरेतर-द्वन्द्वः ॥ अनु० — करोतौ, सुद् कात् पूर्वः, संहितायाम् ॥ अर्थः — प्रतियत्न, वैक्ठतं, वाक्याध्याहार इत्येतेष्वर्थेषु गम्यमानेषु करोतौ परतः उपाद् उत्तरः कात् पूर्वः सुडागमो भवति न्संहितायां विषये ॥ विक्ठतमेव वैक्ठतं, स्वार्थे प्रज्ञादित्वादण् ॥ उदा० — प्रतियत्ने — एघोदकस्य चपस्कुरुते, काण्डं गुडस्योपस्कुरुते । वैकृते -- चपस्कृतं भुङ्क्ते, चपस्कृतं गच्छिति । वाक्याध्याहारे -- चपस्कृतं जल्पति, चपस्कृतमधीते ।।

भाषार्थं:—[प्रति :: 'रेपु] प्रतियत्न (किसी गुण को किसी और गुण में बद्छना), बैक्टत (विकृत) तथा वाक्याध्याहार अर्थ गम्यमान हो तो कृ धातु के परे रहते [उपात्] डप उपसर्ग से उत्तर ककार से फूं सुद् का आगम संहिता विषय में होता है।। गम्यमान अर्थ को भी सहजता से समझाने के छिये शब्दों द्वारा उपादान कर देना वाक्याध्याहार कहाता है। जैसे कि उपस्कृतं जलपित यहाँ 'गम्यमान अर्थ के बोधक शब्दों का प्रयोग करते हुए वार्त्ता करता है' यह अर्थ है। अित-व्याप्ति आदि दोष हटाने के छिए वाक्याध्याहार = उपस्कार की आक्ष्यकता होती है।।

एघोदकस्योपस्कुरुते उदाहरण के छिये २।३।५३, तथा १।३।३२ पूर देखें ।।

यहाँ से 'उपात्' की अनुवृत्ति ६।१।१३६ तक जायेगी।।
किरतौ लवने।।६।१।१३५।।

किरतौ ७।१।। छवने ७।१॥ अनु०—उपात्, सुट् कात् पूर्वः, संहि तायाम् ॥ अर्थः— छवनविषये किरतौ धातौ परतः उपादुत्तरः सुट् कात् पूर्वो भवति संहितायाम् ॥ उदा०—उपस्कारं मद्रका लुनन्ति, उपस्कारं काश्मीरका लुनन्ति ॥

माधार्थः—[लवने] काटने विषय में [करतों] कू विक्षेपे घातु के परे रहते उप से उत्तर ककार से पूर्व सुद् का आगम संहिता के विषय में होता है।। उपस्कार में कू घातु से णमुळ प्रत्यय क्रत्यल्युटो बहुल्य (३।३।११३) में कहे हुये बहुळवचन से होता है।। उदा०—उपस्कार मद्रका जुनन्ति (फेंक २ कर मद्र के लोग काटते हैं), उपस्कार काश्मीर का जुनन्ति।।

यहाँ से 'किरती' की अनुवृत्ति ६।१।१३७ तक जायेगी !।

हिंसायां प्रतेश्व ॥६।१।१३६॥

्हिंसायाम् ७।१। प्रतेः ४।१॥ च अ०॥ अनु०—िकरती, डपात्। सुट् कान् पूर्वः, संहितायाम् ॥ अर्थः—उपात् प्रतेश्चोत्तरः किरती धार्व परतो हिंसायां विषये सुट् कात् पूर्वो भवति संहितायाम्।। उदा०-उप-स्कीर्णं हन्त ते वृषल भूयात् । प्रतिस्कीर्णं हन्त ते, वृषल भूयात् ॥

भाषार्थ: - उप [च] तथा [प्रते:] प्रति उपसर्ग से उत्तर कृ धात के परे रहते [हिंसायाम्] हिंसा विषय में ककार से पूर्व सुट् आगम होता है, संहिता विषय में ।। उपस्कीण आदि में निष्ठा का तकार परे रहते ऋत इदातोः (७१११००) से इत्व एवं रपरत्व (१।१।५०) होकर 'उप सुट् किर् त' रहा। रदाभ्यां निष्ठातो० (८।२।४२) से त को न एवं हिल च (८।२।७७) से दीर्घत्व तथा रषाभ्यां० (८।४।१) से णत्व होकर उपस्कीण बन गया।। उदा०-उपस्कीण हन्त ते वृषल भूयात् (ऐ वृषल तेरा नाश हो), प्रतिस्कीण हन्त ते वृषल भूयात्।।

अपाच्चतुष्पाच्छकुनिष्वालेखने ॥६।१।१३७॥

अपात् ५।१।। चतुष्पाच्छ्रकुनिषु ७।३।। आलेखने ७।१॥ स०—चतु-ष्पादश्च शकुनयश्च चतुष्पाच्छकुनयस्तेषु ः इतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०-किरती, सुट् कात् पूर्वः, संहितायाम् ॥ अर्थः अपाटुत्तरः किरतौ परतश्रतु-ष्पाच्छकुनिषु यदालेखनं तस्मिन् विषये कात् पूर्वः सुडागमो भवति संहितायाम्।। उदा०-अपस्किरते वृषभो हृष्टः, अपस्किरते कुक्कुटो मक्ष्यार्थी, अपस्किरते श्वा आश्रयार्थी ।।

भाषार्थ:-[त्रपात्] अप उपसर्ग से उत्तर [चतुष्पाच्छ्रकृतिषु] चतु-ष्पाद् अर्थात् चार पैर वाले जैसे बैल, कुत्ता आदि, तथा शकुनि अर्थात् पक्षी मोर मुर्गा आदि में जो [आलेखने] आलेखन = कुरेदना हो तो उस विषय में संहिता में ककार से पूर्व सुद् का आगम होता है ॥ उदाः अपिकरते वृषमो हृष्टः (बैल आनिन्दित होकर जमीन पैरों से कुरेदता है) अपिस्करते कुक्कुटो भक्ष्यार्थी (मुर्गा भद्य पाने की इच्छा से जमीन करेदता है), अपस्किरते श्वा आश्रयार्थी (कृत्ता बैठने की जगह बनाने के लिये जमीन कुरेद्वा है)।। अपिस्करते में पूर्ववत् तुदादिभ्यः शः (३।१।७७) से श, प्रत्यय तथा इत्त्व रपरत्व हुआ है।।

कुस्तुम्बुरूणि जातिः ॥६।१।१३८॥

इस्तुम्बुरूणि ११३॥ जातिः १११॥ अनुः—सुष्ट्, संहितायाम्॥ अर्थः—कुस्तुम्बुरूणीति सुडागमो निपात्यते जातिश्चेद्भवति॥ कुस्तुम्बुः

रुनीमौषधिर्जातिविशेषः, तत्फछान्यपि कुस्तुम्बुरूणि ॥ सूत्रे नपुंसकि। बहुवचनद्धातन्त्रम्॥

भाषार्थ:—[कुस्तुम्बुरूणि] कुस्तुम्बुरू शब्द में तकार से पूर्व सुर आगम निपातन किया जाता है, यदि वह [जाति:] जाति अर्थ वाला है तो ॥ कुस्तुम्बुरू किसी औषधि जाति विशेष का नाम है । उसके फा भी 'कुस्तुम्बुरूणि फलानि' कहे जाते हैं ॥ सूत्र में जो नपुंसकिक एवं बहुवचन से निर्देश किया है, वह अविवक्षित है, अतः कुस्तुम्बुरूणे षधि:, कुस्तुम्बुरूणि फलानि यहाँ पुँहिङ्ग एकवचन, एवं नपुंसकिक बहुवचन दोनों के साथ सुट् निपातित है ॥

अपरस्पराः क्रियासातत्ये ॥६।१।१३९॥

अपरस्पराः ११३।। क्रियासातत्ये ७११।। स०—क्रियायाः साततं क्रियासातत्यं तस्मिन् "षष्टीतत्पुरुषः ।। अनु०—सुट्, संद्वितायाम्॥ श्रर्थः—क्रियासातत्ये गम्यमाने अपरस्परा इति सुट् निपात्यते॥ उदा०—अपरे च परे च = अपरस्पराः सार्था गच्छन्ति ।।

भाषार्थ:—[क्रियासातत्ये] क्रिया का निरन्तर होना गम्यमान हे तो [अपरस्पराः] 'अपरस्पराः' इस शब्द में सुट् आगम निपातन किय जाता है ॥ उदा०—अपरस्पराः सार्था गच्छन्ति (सार्थ छोग निरन्ति गमन करते हैं) ॥ प्राचीन काल में देशान्तर से सामान लाने ते जाने हे लिए वैश्यों का जो समूह चलता था वह सार्थ कहाता था और उनक्र नेता 'सार्थवाह' कहाता था ॥

गोष्पदं सेवितासेवितप्रमाणेषु ॥६।१।१४०॥

गोष्पदम् १११॥ सेविता "णेषु ०१३॥ त०—सेवितक्क असेवितक्क प्रमाणक्क सेवि "णानि, तेषु "इतरेतरद्भन्द्भः ॥ अनु० — सुट् संहिती याम् ॥ अर्थः —गोष्पदमिति सुट् निपात्यते, षत्वं च तस्य सेवितेऽसेविते प्रमाणे च विषये ॥ उदा० —गावः पद्यन्ते यस्मिन् देशे स गोभिः सेवितो देशो गोष्पदो देशः । असेविते —अगोष्पदान्यरण्यानि । प्रमाणे —गोष्पदमात्रं क्षेत्रम्, गोष्पदपूरं वृष्टो देवः ॥

भाषार्थः—[गोंध्यदम्] गोष्पद इस शब्द में सुट् आगम तथा उसकी पत्व [सेविः 'णेषु] सेवित, असेवित तथा प्रमाण विषय में निपाती किया जाता है ।। गौएं जिस देश में गमन करती हैं, फिरती हैं वह गौओं से सेवित देश 'गोष्पदो देश:' कहलायेगा । इसी, प्रकार जिन जङ्गलों में गौओं के गमन का अत्यन्ताभाव है, ऐसा गौओं से असेवित अरण्य अगोष्पद अरण्य कहा जायेगा । 'गोष्पदपूरं' गीली सूमि में वने गौ के खुर के चिह्न भरने के बराबर वर्षा हुई यहाँ स्पष्ट प्रमाण विषय है। यहाँ णमुल् प्रत्यय २।४।३२ से हुआ है ।।

आस्पदं त्रतिष्ठायाम् ॥६।१।१४१॥

आस्पदम् १।१॥ प्रतिष्ठायाम् ७।१॥ अनु०--सुट्, संहितायाम्॥ अर्थः—आस्पदमिति सुट् निपात्यते प्रतिष्ठायामर्थे॥ प्राणधारणाय काल-क्षेपाय यत् स्थानं तत् प्रतिष्ठाशब्देनोच्यते॥ उदा०—आस्पदमनेन लब्धम्॥

भाषार्थ:—[प्रतिष्ठायाम्] प्रतिष्ठा अर्थ में [ग्रास्तदम्] आस्पद शब्द में सुद् आगम निपातन है।। प्राणधारण अर्थात् समय विताने के लिये जो स्थान उसे प्रतिष्ठा कहते हैं।। आस्पदं में जो आङ् है, वह आङ् मर्यादावचने (१।४।८८) से कर्मप्रवचनीयसंज्ञक है। पश्चम्यपाङ्० (२।३।१०) से पाद शब्द से पञ्चमी तथा श्राङ् मर्यादामिविध्योः (२।१।१२) से अन्ययीभाव समास होने से विभक्ति का लुक् (२।४।८२) होकर आस्पदम् बना है।। उदा०—आस्पदमनेन लब्धम् (कालक्षेपणार्थ इसने स्थान प्राप्त कर लिया अर्थात् पद के अनुरूप योग्यता नहीं है)।।

आक्चर्यमनित्ये ॥६।१।१४२॥

आश्चर्यम् १।१।। अनित्ये ७।१।। श्रनुः—सुट्, संहितायाम् ।। स०— अनित्य इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ।। श्रर्थः—अनित्येऽर्थ आश्चर्यमिति सुद् निपात्यते ।। उदा० —आश्चर्यं यदि सं भुक्षीत, आश्चर्यं यदि सोऽधीयीतं ॥

भाषार्थ: — [श्रिनित्ये] अनित्य अर्थात् अद्भुतत्व विषय में [श्राश्च-र्थम्] आश्चर्य शब्द में सुट् निपातन है।। लोक में जो बात अदृष्ट्रपूर्व हो, पहले न हुई हो, वह अनित्यता से व्याप्त होती है, उसी को अद्भुत क कहा जाता है, अतः यहाँ भी अनित्य का अर्थ अद्भुत है।। चरेगि

१. ग्रद्भुतमभूतम् । निरुक्त ग्र० १ खं० ६ ।

चागुरौ (वा० ३।१।१००) इस वार्त्तिक से यहाँ यत् प्रत्यय हुआ है। श्चुत्व होकर आश्चर्यम् वन गया।।

वर्चस्केऽवस्करः ॥६।१।१४३॥

वर्चस्के ७११।। अवस्करः १११।। अनु०—सुट्, संहितायाम् ॥ अर्थः-वर्चस्केऽभिषेयेऽवस्कर इति सुट् निपात्यते ॥ वर्चस्कमन्नमलम् ॥ उदा०—अवस्करोऽन्नमलम् ॥

भाषार्थः—[वर्चस्के] अन्न का मल = कचरा अभिषेय हो तो [का स्करः] अवस्कर शब्द में सुट् निपातन किया जाता है ।। इत्सितं वर्चः = वर्चस्कः यहाँ कृत्सिते (५।३।७४) से कन् प्रत्यय हुआ है, सो वर्चस्क क अर्थ अन्न का मल है ।। अन पूर्वक क् धातु से ऋदोरप् (३।३।५७) हे अप् प्रत्यय तथा निपातन से सुट् करके अनस्कर बनता है ।।

अपस्करो रथाङ्गम् ॥६।१।१४४॥

अपस्करः १।१॥ रथाङ्गम् १।१॥ स०—रथस्य अङ्गम् रथाङ्गम्, पष्टी तत्पुरुषः ॥ श्रनु०—सुद्, संहितायाम् ॥ अर्थः—अपस्कर इति सुर निपात्यते रथाङ्गं चेत्तद्भवति ॥ उद्ग०—अपस्करो रथावयवः ॥

भाषार्थः—[अपस्कर:] अपस्कर शब्द सुट् सहित निपातन किय जाता है, यदि उससे [रथाङ्गम्] रथ का अङ्ग = अवयव कहा जा ख हो तो ।। पूर्ववत् अपस्कर की सिद्धि है ।।

विष्किरः शकुनौ वा ॥६।१।१४५॥

विष्करः १।१॥ शकुनौ ७।१॥ वा अ०॥ अनु०—सुद् कात् पूर्वः संहितायाम्॥ अर्थः —विष्कर इति सुद् निपात्यते शकुनाविभिषे विकृल्पेन ॥ उदा०—विष्करः, विकिरः॥

भाषार्थ: —[विष्कर:] विष्कर इस में ककार से पूर्व सुट् [शकुनी] शकुनि = पक्षी को कहा जा रहा हो तो [वा] विकल्प से निपातन किया जाता है ॥

हस्वाच्चन्द्रोत्तरपदे मन्त्रे ॥६।१।१४६॥

ं ह्रस्वात् ४।१।। चन्द्रोत्तरपदे ७।१।। मन्त्रे ७।१।। स०—चन्द्रश्रासी उत्तरपद्ख्व चन्द्रोत्तरपदं तस्मिन् ः कर्मधारयस्तत्पुरुषः ॥ श्रवु०—सुद् पादः]

संहितायाम् ॥ अर्थः — हुस्वात् परः चन्द्रशब्दोत्तरपदे सुडागमो मवति मन्त्रविषये संहितायां विषये ॥ उदाः —सुम्चन्द्रो युष्मान् ॥

भाषार्थः—[ह्रस्वात्] ह्रस्व से उत्तर [चन्द्रोत्तरपदे] चन्द्र शब्द इत्तरपद में हो तो सुद् का आगम होता है, [मन्त्रे] मन्त्र विषय में संहिता में ।। सुश्चन्द्रः में कुगतिप्रादयः (२१२११८) से समास हुआ है। सुद् कर छेने पर स्तोः श्चुना० (८।४१३९) से श्चुत्व हो ही जायेगा ।।

प्रतिष्कशक्च करोः ॥६।१।१४७॥

प्रतिष्कशः १।१॥ च अ०॥ कशेः ६।१॥ अनु० सुट्, संहिता-याम्॥ अर्थः --प्रतिपूर्वस्य कश गतिशासनयोरित्येतस्य धातोः सुट् निपात्यते तस्य च षत्वम् ॥ उदा० --- प्राप्तमद्य प्रवेद्त्यामि भव मे त्वं प्रतिष्कशः॥

भाषार्थ:—[प्रतिष्कशः] प्रतिष्कश शब्द प्रति पूर्वक [करोः] कश धातु को सुद् आगम [च] भी तथा उसी सुद् के सकार को पत्व निपातन करके सिद्ध किया है।। प्रतिष्कशः में पचाद्यच् हुआ है।। उदाः— पाममद्य प्रवेक्यामि भव में त्वं प्रतिष्कशः (मैं प्राम में आज प्रवेश कहँगा अतः तुम मेरे पुरोयायी = अग्रगन्ता अथवा सहायक बनो)।।

प्रस्कण्वहरिश्चन्द्रावृषी ।।६।१।१४८।।

प्रस्कण्वहरिश्चन्द्रौ ११२॥ ऋषी ११२॥ स०—प्रस्क० इत्यत्रेतरेतर-द्वन्द्वः ॥ श्रनु०—सुट्, संहितायाम् ॥ अर्थः—प्रस्कण्व, हरिश्चन्द्र इति सुट् निपात्यते, ऋषी चेद्भिचेयौ भवतः ॥ उदा०—प्रस्करण्व ऋषिः, हरिश्चन्द्र ऋषिः ॥

भाषार्थ:—[ग्रस्क ··· न्द्रौ] प्रस्कण्य तथा हरिख्यन्द्र शब्द में [श्रृषी] ऋषि अभिघेय हों तो सुट् निपातन है।। ये दोनों ऋषि के नाम हैं, अन्य किसी के नाम होने पर सुट् नहीं होगा।।

मस्करमस्करिणौ वेणुपरिवाजकयोः ॥६।१।१४९॥

मस्कः ।। श्रनु ।। वेणुपरिवाजकयोः ७।२॥ स०-डभयत्रे-तरेतरद्वन्द्वः ॥ श्रनु । संहितायाम् ॥ श्रर्थः – मस्कर, मस्करिन् इत्येतौ शब्दौ यथासङ्ख्यं देणौ परित्राजके चाभिष्ठेये निपारयेते। मस्कर इत्यत्र माङो हस्कृत्वं करणेऽच् प्रत्ययः, मा क्रियते येन प्रतिषिध्यते = निवार्यते स सस्करः, सुडागसञ्च वेणावभिष्ठेये निपात्यते। सस्करी इत्यत्र माङ् पूर्वात् करोतिरिनिप्रत्ययः सुडागमो माङो हस्वत्वन्न निपात्यते, परित्राजकेऽभिष्ठेये। मा कुरुत कर्माणि शान्तियः श्रेयसी इति स आहातो सस्करी परित्राजकः।।

भाषार्थ:—[मस्कर मस्करिणां] सस्कर तथा सस्करिन् शब्द यथा-संख्य करके [वेणुपित्राजकयोः] वेणु (बाँस) तथा परिव्राजक (संन्यासी) अभिषेय हो तो निपातन किये जाते हैं ॥ वेणु (= दण्ड) को कहने में सस्कर शब्द में सुद् आगम एवं करण में अच् प्रत्यय तथा माड् को ह्रस्वत्व निपातित है ॥ जिसके द्वारा हटाया = निवारण किया जाता है, उसे मस्कर कहते हैं । सस्करी यहाँ माड़ पूर्वक कु धातु से इनि प्रत्यय तथा सुद् आगम एवं माड़ को ह्रस्वत्व निपातन है । जो कहता है कि (प्रेय = सकाम = भवोत्पादक) कर्स मत करो, शान्ति (= भवोच्छेद) ही तुम्हारे छिये श्रेयस्कर है वह परिव्राजक मस्करी है ॥

कास्तीराजस्तुन्दे नगरे ॥६।१।१५०॥

कास्तीराजस्तुन्दे १।२॥ नगरे ७।१॥ स०—कास्ती० इत्यन्नेतरेतर-द्वन्द्वः ॥ श्रनु०—सुद्, संहितायाम् ॥ श्रर्थः—कास्तीर, अजस्तुन्द इत्येती शक्दौ सुद् सहितौ नगरेऽभिषेये निपात्येते ॥ उदा०—कास्तीरं नाम नगरम् । अजस्तुन्दं नाम नगरम् ॥

भाषार्थः—[कास्तीराजस्तुन्दे] कास्तीर तथा अजस्तुन्द शब्द में [नगरे] नगर अभिघेय हो तो अर्थात् किसी नगर के नाम हों तो सुट् आगम निपातन किया जाता है।।

पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम् ॥६।१।१५१॥

पारस्करप्रभृतीनि १।३॥ च अ०॥ संज्ञायाम् ७।१॥ स० – पारस्करः प्रभृतिर्येषां तानि पारस्करप्रभृतीनि, बहुत्रीहिः ॥ त्रानु० — सुट् संहिता याम् ॥ अर्थः — पारस्करप्रभृतीनि च शब्दरूपाणि सुटसहितानि निपारयन्ते संज्ञायां विषये ६ उदा० — पारस्करो देशः, कारस्करो वृक्षः, रथं पाति (रक्षति) रशस्पा नदी ॥

भाषार्थ: -[पारस्करप्रभृतीनि] पारस्कर इत्यादि शब्दों में चि] भी सुट् आगम [संज्ञायाम्] संज्ञा विषय में निपातन् किया जाता है ॥ जहाँ सुट् आगम दिखाई पड़े, किन्तु किसी सूत्र से विहित न हो, उसे पारकरगण में पढ़ा समझ लेना चाहिये। पारस्कर आदि शब्द रूढि संज्ञाओं के वाचक हैं।। उदा०-पारस्करः (किसी देश की संज्ञा है), कारस्कर: (किसी वृक्ष की संज्ञा है), रथस्पा (नदी विशेष की संज्ञा है)॥

[स्वरप्रकरणम्].

अनुदात्तं पदमेकवर्जम् ॥६।१।१५२॥

अनुदात्तम् १११॥ पदम् १११॥ एकवर्जम् १११॥ स०—एकं वर्जियत्वा एकवर्जम्, उपपद्तत्पुरुषः । द्वितीयायाच्च (३।४।५३) इति प्रत्ययः।। अनुदात्ता अस्य सन्तीति अनुदात्तम् अशेआदिस्यो० (५।२।१२७) इत्यस्याकृतिगणत्वाद्त्राच् प्रत्ययो मत्वर्थे।। ऋर्थः—स्वरविधिविषयकं परिभाषासूत्रमिद्म्। यस्मिन् पदे यस्योदात्तः स्वरितो वा विधीयते तमेकमचं वर्जियत्वा तस्मिन् पदे वर्त्तमाना अचो ऽनुदात्ता भवन्ति॥ उदा० - गोपायति, धूपायति । गोपायते नः (ऋ० ६।७४।५) । कुर्त्-व्यम् ॥

भाषार्थ: स्वर्विधिविषयक यह परिभाषा सूत्र है। जिस अएक पद में उदान्त या स्वरित विधान किया है, उसी के [एकवर्जम्] एक (अच) को छोड़कर शेष [पदम्] पद [अनुदात्तम्] अनुदात्त अच् वाला हो जाता है।।

स्वर अचों को ही होता है, किन्तु पद में तो हल् और अच् दोनों ही होते हैं, अतः यहाँ 'अनुदात्तम्' पद में मत्वर्थीय अकार प्रत्यय किया है, सो अर्थ होगा "एक को छोड़कर शेष अनुदात्त अच् वाला पद होता है"। अब यहाँ यह प्रश्न है कि किस एक को छोड़ना है ? तो यह बात भी सूत्र से ही स्पष्ट हो जाती है, क्योंकि शेष को जब अनुदात्त विधान करते हैं, तो अनुदात्त से भिन्न को ही तो छोड़ना होगा, और वे अनु दात्त से भिन्नस्वर उदात्त अथवा स्वरित ही हैं, । अर्थात् जहाँ कहीं भी स्वरिवधान (उदात्त या स्वरित का) कर रहे हों वहाँ, यह परिभाषा सूत्र उपस्थित हो जायेगा, तो उस उदात्त या स्वरित को छोड़कर इस पद के शेष अचों को अनुदात्त कर देगा। पद शब्द भी यहाँ सुप्तिडनोः (१।४।१४) वाळा पारिभाषिक नहीं लेना, अपितु 'पद्यते गम्यतेऽथीं येन तत्पद्म' यह अन्वर्थ लेना है। यहाँ कोई पद को प्रधान मानकर यह अर्थ न समझ ले कि 'एकपद अनुदात्त अच् वाला होता है, वाक्यस्थ एक पर को छोड़कर अर्थात् किसी पद को अनुदात्त विधान करें और किसी अन पद को छोड़कर'। अतः हमने सूत्रार्थ में 'जिस एक पद में उदात्त ग स्वरित विधान हो, उसी पद के' ऐसा छिखकर यह बात स्पष्ट की है। वस्तुतः ऐसा ही सूत्रार्थ व्याख्यान से निकलता है, उसे हमने सहेतु स्पष्ट करने का यस्न किया है। कुछ शङ्का समाधान का विषय वन जाने से यहाँ इतना लिखना ही पर्याप्त रहेगा।।

गोपायति में 'गोपाय' सनाद्यन्ता धातवः (३।१।३२) से धातुसंज्ञ है, जो कि धातो: (६।१।१५६) से अन्तोदात्त है अर्थात् 'य' का 'अ' उदात्त है सो गोपाय में 'य' को छोड़ कर 'गोपा' प्रकृत सूत्र से अनुदात हो गया शप् और तिप् पित् होने-से अनुदात्त हैं, शप् के अ का 'य' के 'अ' के साथ हुआ एकादेश भी एकादेश उदात्तेनोदात्तः (८।२।५) से उत्तर ही रहेगा एवं ति उदात्तादनुदा० (८।४।६५) से स्वरित हो गया। कर्त्तव्यम् में तव्य तित् स्वरितम् (६।१।१८) से अन्तस्वरित है। स्वरसिद्धियाँ भाग १ परि० १।२।२८-३६, एवं अन्यत्र भी कई स्थलों में बहुत स्पष्ट रूप से की हैं, अतः पाठक स्वरसिद्धि की मूलभूत प्रक्रियायें वहीं देख छें, यहाँ विस्तार भय से पुनः पुनः नहीं लिखी जावेंगी। इन सिद्धियों में 'सित शिष्टस्वरी बलीयान्' इस भाष्यवचन की जो कि इसी सूत्र में कहा है। सर्वत्र ध्यान में रखना चाहिये। सति शिष्टः स्वरः = अर्थात् पीछे आने वाला स्वर बलवान् होता है, जैसे कि किसी स्थल में धातुस्वर हो जाते के पश्चात् कोई प्रत्यय आया तो घातु का अन्तोदात्त स्वर न होकर प्रत्यय का आंद्युदात्त स्वर रहेगा, क्योंकि वह पीछे आया है। इसकी विवेचनी पूर्व स्वरसिद्धि स्थलों में भी हो चुकी है, देख लें।।

कर्पात्वतो घञोऽन्त उदात्तः ॥६।१।१५३॥

कर्षात्वतः ६।१॥ व्यवः ६।१॥ अन्तः १।१॥ उदात्तः १।१॥ स०—आर् अस्यास्तीत्यात्वान्, कर्षश्च आत्वांश्च कर्षात्वत् तस्य समाहारी द्वन्द्वः ॥ अर्थः — कर्षतेर्धातोराकारवतश्च घव्यन्तस्यान्त उदात्तो भवति ॥ उदा — कर्षः । आकारवतो घव्यन्तस्य — पाकः, त्यागः, रागः, दायः धायः ॥

भाषार्थः — [कर्षात्वतः] कृष विलेखने धातु (भ्वा०) तथा आकारवान् जो [घञः] घञन्त शब्द उनके [अन्त उदात्तः] अन्त को उदात्त होता है।। घञ् ञित् है, अतः विनत्यादि० (६।१।१९१) से आद्युदात्त प्राप्त था उसका अपवाद यह सूत्र है। कर्ष घञन्त शब्द आकारवान् नहीं है, अतः अलग से उसे पढ़ा है। अन्तोदात्त होकर अनुदात्तं पद० (६।१ १५२) से अन्तोदात्त होष रह कर अनुदात्तं होष हो जायेगा। पाकः आदि की सिद्धि भाग १ पृ० ६५७ में देखें।। दायः धायः में आतो युक्० (७३।३३) से युक् आगम हुआ है।।

यहाँ से 'अन्तः' की अनुवृत्ति ६।१।१६१ तक तथा 'उदात्तः' की ६।१।२९७ तक जायेगी।।

उञ्छादीनां च भिहाशपरधा।

उञ्जादीनाम् ६।३॥ च अ०॥ सं — उञ्ज आदिर्येषां त उञ्जाद-यस्तेषां · · · · बहुब्रीहिः ॥ अनु · — अन्त उदात्तः ॥ अर्थः — उञ्ज इत्येव-मादीनां शब्दानामन्त उदात्तो भवति ॥ उदा ॰ — उञ्जः, म्लेच्छः, जुझः, जुल्पः, जुपः, व्युधः ॥

भाषार्थ:—[उञ्जादीनाम्] उञ्जादि शब्दों को [च] भी अन्तोदात्त हो जाता है।। उञ्ज से लेकर जल्प तक पढ़े शब्द घवन्त हैं अतः बिनत्या० (६।१।१६१) से आद्युदात्त प्राप्त था, तथा जपः व्यधः व्यधज-पोर० (३।३।६१) से अप् प्रत्ययान्त हैं अतः धातु स्वर से आद्युदात्तत्व प्राप्त था, तद्यवाद् यह सूत्र है।।

अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः ॥६।१।१५५॥

ं अनुदात्तस्य ६।१॥ च अ०॥ यत्र अ०॥ उदात्तलोपः १।१॥ स०— उदात्तस्य लोपः, उदात्तलोपः, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—उदात्तः ॥ अर्थः— यत्र = यस्मित्रनुदात्ते परतः उदात्तस्य लोपो भवति तस्यानुदात्तस्या-दिरुदात्तो भवति ॥ उदा०—कुमारी, पृथः, पृथा पृथे, कुमुद्रान, नुद्वान्, वृतस्वान् ॥ देवीं वाचम् (ऋ०८।१००।११)॥

भाषार्थः—[यत्र] जिस (अनुदात्त) के परे रहते [उदात्तलोपः] उदात्त का लोप होता है, उस [अनुदात्तस्य] अनुदात्त को [च] भी आदि उदात्त हो जाता है ॥ यहाँ 'अन्तः' की अनुवृत्ति का सम्बन्ध नहीं है। अतः व्याख्यान से आदि को उदात्त होता है ।। कुमार शब्द फियोऽन **४दात्तः** (फिट्० १) से अन्तोदात्त है, आगे ङीप् आया, जो कि ३।१।४ से अनुदात्त है। अब उस ङीप् अनुदात्त के परे रहते उदात्त 'र' के उत्तरवर्ती 'अ' का छोप हो गया तो प्रकृत सूत्र से उस 'ई' अनुदात्त के उदात्त हो गया। कुमारी की सिद्धि भाग १ पू० ७७३ सें देखें, स्वर गहाँ दिखा दिया है। देवीं यहाँ भी इसी प्रकार है। पथः आदि में पथिन शब्द अन्तोदात्त पूर्ववत् है तथा शस् टा, एवं के विभक्तियाँ पूर्ववत् अनुदात्त है, सो भस्य टेलोंपः (७११८८) से दि भाग 'इन्' का अनुदात्त परे छोप हुआ, अतः प्रकृत सूत्र से अनुदात्त विभक्तियाँ उदात्त हो गई। कुमुदनडवे (४।२।८६) से कुमुद, नड तथा वेतस शब्दों से ड्मतुप् प्रत्यय हुआ है, पूर्ववत् प्रातिपदिक अन्तोदात्त एवं प्रत्यय अनुदात्त है। पुनः डित् प्रत्यय मानकर टि भाग (जो कि उदान्त था) का छोप हुआ तो प्रकृत सूत्र से अनुदात्त के परे रहते उदात्त का लोप होने से मतुप् के मकारोत्तरवर्ती अकार को उदात्त हो गया।। सूत्रार्थ में आदि कहने से मा हि धुक्षाताम्, मा हि धुक्षाथाम् में क्स के उदात्त अकार का लेप (७।३।७२) से होने पर आताम आथाम् के आदि को होता है अन्यथा अन्त को होता ॥

धातोः ॥६।१।१५६॥

धातोः ६।१॥ श्रनुः—अन्त डदात्तः ॥ श्रर्थः—धातोरन्त उदात्ते भवित ॥ उदार् पर्चित, पर्ठित, ऊर्णोतिं, गोपायतं नः (ऋ० ६।७४।४), असिं सृत्यः (ऋ० १।८७।४) ॥

भाषार्थः—[धातोः] धातु को अन्त उदात्त होता है।। पच् पर् धातु में एक ही अच् है, अतः आदि या अन्त एक ही होने से पका अ उदात्त है। राप् एवं तिप् पित् होने से अनुदात्त हैं, पश्चात् शप् के अ को स्वरित हो जाता है। ऊर्णुक् में दो अच् होने से अन्त का उदात्त है। अदादिगणस्थ होने से शप् का लुक् होकर ऊर्णीति में 'ओ उदात्त है। गोपायतं (छोट्) में तम् (३।४।१०१) परे रहते 'गोपाय' ľ

धातु का य उदात्त है। पश्चात् तास्यनुदात्तेन्ङिः (६।१।१८०) से 'तम्' को अनुदात्त होकर उदात्तादनुदाः (८।४।६५), से स्वरित हो जाता है। असि में अस् का अकार सिप् परे रहते उदात्त है। तासस्योः (७।४।५०) से अस् के सकार का छोप हुआ है।।

चितः ॥६।१।१५७॥

चितः षष्ट्यर्थे प्रथमा ।। स०—चकार इत् यस्य स चित्, बहुव्रीहिः। ततिश्चिद् अस्यास्तीति चितः मत्वर्थीयोऽच्।। श्रनु०—अन्त उदान्तः ॥ श्रर्थः—चितोऽन्तोदान्तो भवति ॥ उदा०—भङ्गुरम्, भासुरम्, कुण्डिनाः ॥

भाषार्थः—[चितः] चित् है जिस समुदित शब्द में उस शब्द को अन्तोदात्त होता है।। चित् यहाँ मत्त्रर्थीय अकार प्रत्यय मानकर 'चकार इत् वाला जो समुदित शब्द' ऐसा अर्थ किया गया है।। भङ्गुरम् आदि में भञ्जभासमिदो घुरच् (३।२।१६१) से घुरच् चित् प्रत्यय हुआ है। कुण्डिनाः की सिद्धि भाग १ पृ० ८५७ में देखें। कुण्डिन् को कुण्डिनच् आदेश होता है, अतः चित् होने से कुण्डिनाः प्रकृत सूत्र से अन्तोदात्त है, अन्यथा मध्योदात्त कुण्डिनी को हुआ कुण्डिनच् आदेश भी मध्योदात्त होता।।

य्हाँ से 'चितः' की अनुवृत्ति ६।१।१५८ तक जायेगी।।

तद्धितस्य ॥६।१।१५८॥

तद्धितस्य ६।१॥ श्रनुः—चितः, अन्त उदात्तः॥ श्रर्थः—चितस्त-द्धितस्यान्त उदात्तो भवति ॥ उदा०—क्रौञ्जायुनाः, भुौञ्जायुनाः॥

माषार्थः — [तिद्धितस्य] तिद्धित जो चित् प्रत्यय उसको अन्तोदात्त हो जाता है ।। गोत्रे कुआदि० (४।१।६८) से रूफच् चित् तिद्धित प्रत्यय हुआ है । कौआयन्यः की सिद्धि भाग १ पृ० ८०२ में देखें ।।

च्फञ् में परत्वात् ञित् स्वर को बाधने के छिएं यह पृथक् सूत्र है। बहुपटवं: में 'बहुच्' प्रत्यय के पूर्व होने पर भी पूर्व सूत्र में चितः मत्वर्थीय अच् प्रत्यय मानने से यहाँ भी अन्तोदात्त होता है।

यहाँ से 'तद्धितस्य' की अनुवृत्ति ६।१।१५६ तक जायेगी।।

कितः ॥६।१।१५९॥

कितः ६।४॥ स०-ककार इत् यस्य स कित् , तस्य कितः, बहुब्रीहिः॥ अनु०--तिद्धतस्य, अन्त उदात्तः॥ श्रर्थः--कितस्तिद्धितस्यान्त उदात्ते भवति॥ प्रत्ययस्वरापवादोऽयम्॥ उदा०--नाडायनः चारायणः आक्षिकः, शास्त्राकेकः॥

भाषार्थः—तद्धित संज्ञक जो [कित:] कित् प्रत्यय उसको अन्तोदात होता है ॥ नडादिभ्यः फक् (४१११९६) से नाडायनः चारायणः में फक् कित् प्रत्यय हुआ है, 'फ' को आयन होकर उसे अन्तोदात्त होता है। आक्षिकः आदि में तेन दीव्यति० (४१४१२) से ठक् प्रत्यय हुआ है। ठ्के को इक् आदेश करके अन्तोदात्त हो जायेगा ॥

तिसृभ्यो जसः ॥६।१।१६०॥

तिसुभ्यः ५१३॥ जसः ६११॥ श्रनुः — अन्त उदात्तः ॥ श्रर्थः — तिसृभ्य उत्तरस्य जसोऽन्त उदात्तो भवति ॥ उदाः — तिस्रस्तिष्टनि, तिस्रो चावः सवितुः (ऋ० १।३५१६)॥

भाषार्थः—[तिसभ्यः] तिसृ शब्द से उत्तर [जसः] जस् को अन्तो दात्त होता है।। त्रिचतुरोः स्त्रियां० (७१२।९६) से स्त्रीछिङ्ग में त्रि के तिसृ आदेश होता है, उसी का यहाँ प्रहण है।। त्रि शब्द प्रातिपिक (फिट्०१) स्वर से अन्तोदात्त है, अतः उसका आदेश तिसृ भी अन्तोदात्त हुआ, अब तिसृ जस् यहाँ उदात्त के स्थान में यणादेश हुआ, अत उदात्तस्वरितयो० (८१२।४) से अनुदात्त (३।१।३) जस् के अ को स्वरित प्राप्त था, तदपवाद यह सूत्र है।।

चतुरः शसि ॥६।१।१६१॥

चतुरः ६११॥ शसि ७११॥ श्रनुः—अन्त उदात्तः ॥ श्रर्थः—चतुरः शसि परतोऽन्त उदात्तो भवति ॥ उदा०—चतुरः पश्य ॥

भाषार्थः—[चतुरः] चतुर् शब्द को अन्तोदात्त होता है [शिर्मि] शस् परे रहते ।। चतुर् शब्द चतेरुरन् (उगा० ५।५९) से उरन् प्रत्ययान होने से ब्नित्यादि० (६।१।१९१) से आद्युदात्त था, उसको शस् परे रहते अन्तोदात्त् विधान कर दिया है ।।

७९

षादः]

सावेकाचस्तृतीयादिविभक्तिः ॥६।१।१६२॥

सौ ७।१॥ एकाचः ५।१॥ तृतीयादिः १।१॥ विभक्तिः १।१॥ स०—
एकोऽच् यस्मिन् स एकाच् तस्मात्' 'बहुव्रीहिः । तृतीया आदिर्यस्याः सा
तृतीयादिः बहुव्रीहिः ॥ श्रवु०—उदात्तः ॥ अर्थः—साविति सप्तमीबहुवचनस्य प्रहणम् । सौ य एकाच् शब्दस्तस्मात् परा तृतीयादिविभक्तिरुदात्ता भवति ॥ उदा० — वाचा, वाग्भ्याम्, वाग्भः, वाग्भ्यः।
याता, याद्भ्याम्, याद्भिः । वाचा विरूपनित्यया (ऋ०८।७५।६)॥

भाषार्थ:—'सु' से यहाँ सप्तमीबहुवचन के सुप् का प्रहण है न कि
प्रथमा एकवचन का ।। [सी] सु के परे रहते जो [एकाचः] एक अच्
वाला शब्द उससे परे जो [तृतीयादिः] तृतीया विभक्ति से लेकर आगे
की [विभक्तिः] विभक्तियाँ उनको उदात्त होता है ।। वाच् शब्द का
सप्तमी बहुवचन में वाक्षु तथा यात् का यात्सु बनता है, इस प्रकार
सु परे रहते ये एकाच् शब्द हैं, अतः तृतीयादि विभक्तियाँ टा, भ्याम्
भिस्, भ्यस् आदि उदात्त हो गई।।

यहाँ से 'एकाचः तृतीयादिः' की अनुवृत्ति ६।१।१६३ तक तथा 'विमक्तिः' की ६।१।१७८ तक जायेगी।।

अन्तोदात्तादुत्तरपदादन्यतरस्यामनित्यसमासे ॥६।१।१६३॥

अन्तोदात्तात् ५।१॥ उत्तरपदात् ५।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ अनित्यसमासे ७।१॥ स० – नित्यः समासः नित्यसमासः, कर्मधारयस्त-रपुरुषः ॥ अनु०—एकाचस्तृतीयादिविभक्तिः, उदात्तः ॥ श्रर्थः—नित्यधिकारे यः समासो विहितस्तसमादन्यत्रानित्यसमासे यदुत्तरपदमन्तोदात्त-मेकाच् ततः परा तृतीयादिविभक्तिर्विकल्पेनोद्।त्ता भवति ॥ उदा०—पर्मयाचा, पर्मयाचे । पर्मत्वचा, पर्मत्वचे ॥ पक्षे समासस्यान्तो-दात्तत्वमेव ॥

ं भाषार्थं:—[अनित्यसमासे] नित्य अधिकार में कहे हुये समास से अन्यत्र जो अनित्यसमास उसमें जो [अन्तोदात्तात्] अन्तोदात्त-एकाच् [उत्तरपदात्] उत्तरपद उससे उत्तर तृतीयादि विभक्ति [अन्यतर-स्याम्] विकल्प से उदात्त होती है।। नित्य अधिकार का अभिप्राय है कि "नित्यम्" पद के अधिकार में कहे, तद्यथा कुगतिप्रादयः, (श्री

१९) आदि । जिसका स्वपद विषद न हो वह भी नित्य समास क जाता है, परन्तु वह यहाँ नहीं लिया गया। अतः नित्य अधिकार अन्यत्र जो भी समास हो चाहे उसका स्वपद वित्रह हो या न हो सक विभक्ति को विकल्प से उदात्त होगा। त्वच्, वाच् शब्द एकाच् अने दात्त उत्तरपद उदाहरण में हैं ही। परसवाचा इत्यादि में सन्महत्क मोत्त० (२।१।६०) से समास हुआ है, जो कि नित्याधिकार में सं है ॥ उदाहरणों में जब विभक्ति को उदात्त नहीं होगा तो समास अने क्षिक (६१४।३१७) होगा।।

> यहाँ सें 'ब्रानादात्तात्' की अनुवृत्ति ६।१।१७१ तक जायेगी।। ूळ अर्थे रछन्दस्यसर्वनामस्यानम् ॥६।१।१६४॥

पारता प्रश्नेत्वः १।१॥ छन्दसि ७।१॥ असर्वनामस्थानम् १।१॥ स०—असर्व इत्यत्र नव्तत्पुरुषः ॥ अनुः—विभक्तिः, उदान्तः ॥ अर्थः—अञ्चेः पाः सर्वनामस्थानविभक्तिरुदात्ता भवति छन्दसि विषये॥ उदा०-इत् द्धीचो अस्थभिः (ऋ० १।८४।१३) ॥

भाषार्थ:—[श्रञ्चे:] अञ्चु धातु से उत्तर [छन्दिस] वेद् विषय [असर्वनामस्थानम्] सवैनामस्थानभिन्न विभक्ति को उदात्त होता है। दृष्यञ्चतीति तस्य द्घीचः, यहाँ ऋतिग्दधृक्ः (३।२।५६) से दघि स पद रहते अञ्चु धातु से किन् प्रत्यय हुआ है। अनुनासिक ले तथा इस् परे रहते श्रनः (६।४।१३८) से अकार छोप चौ (६।३।१३६) से दीर्घ होकर दधीच् अस् = दधीचः बना है।।

यहाँ से 'श्रमर्वनामस्थानम्' की अनुवृत्ति ६।१।१६९ तक जायेगी।

ऊडिदम्पदाद्यपुञ्जैद्यम्यः ॥६।१।१६५॥

ऊडिद्म्पदाचप्पुम्रें युभ्यः ५।३॥ स०— ऊठ् च इद्ख्न पदाद्यश्र अ च पुम् च रै च चौश्च ऊडि' 'दिवस्तेभ्यः 'इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अवु अंसर्वनामस्थानम्, अन्तोदात्तात्, विभक्तिः, उदात्तः ॥ अर्थः - अर्थः -इंदम् पदादि, अप्, पुम्, रै, दिव् इत्येतेभ्य उत्तरासर्वनामस्थानिवि क्तिरुदात्ता भवति॥ उदा०—ऊठ् प्रष्टौहः, प्रष्टौहा। इदम् आभ्याम्। एभिनृभिनृतमः। पदादिः—निपद्श्रतुरो जिह, या दुव धावित । पद्भ्यां भूमिः, दृद्भिने जिह्ना, अहंरहर्जायते मासिमासि (ऋ०१०।५२।३) मनिश्चन्से हृद् आ । अप् — अपः, परय, अद्भ्यां, अद्भिः, अपां फेतेंन (ऋ०८।१४।१३) पुम्—पुंसः, पुंसा, पुंसे, अश्वातेव पुंसः (ऋ०१।१२४।७), रै—रायः परय, राया व्यम् (ऋ०४।४०) रायो धुर्ता (ऋ०४।१४।१) दिव्—िद्वः परय, उपंत्वाग्ने द्वि दिवे (ऋ०१।१।७)।।

माषार्थः — [जिडि ' 'म्यः] ऊठ, इदम्, पदादि, अप्, पुम्, रै तथा दिव् शब्दों से उत्तर असर्वनामस्थान विभक्ति उदात्त होती है, अर्थात् सु से लेकर औट तक की विभक्तियों को छोड़कर शेष विभक्तियाँ उदात्त होती हैं।। अन्तोदात्तात् की अनुवृत्ति का यहाँ यही लाभ है कि अन्वादेश में जो कि अनुदात्त (२।४।३२) होता है वहाँ विभक्ति को उदात्तव न हो। पदादि से यहाँ पद्दामास्० (६।१।६१) वाले आदेश पद् से लेकर निश् पर्यन्त लिये जाते हैं।। प्रष्टोहः (२।३) की सिद्धि ६।१।८६ सूत्र पर देखें। आभ्याम् की सिद्धि भाग१ पृ० ६६३ में देखें। एभिः यहाँ केवल वहुवचने० (७।३।१०३) से अ को ए हो जाता है। शेष सब स्पष्ट सिद्धियाँ हैं।। मासिमासि, दिवेदिंवे में नित्यवीप्तयोः (८।१।४) से दिवेचन और पर आम्रेडितसंज्ञक को अनुदात्तं च (८।१।३) से सर्वानुदात्त होता है।।

अष्टनो दीर्घात् ॥६।१।१६६॥

अप्टनः ५।१।। दीर्घात् ५।१॥ अनु०—असर्वनामस्थानम्, विभक्तिः, ज्वात्तः ॥ अर्थः—दीर्घान्ताद्व्यनोऽसर्वनामस्थानविभक्तिरुदात्ता भविति ॥ ज्वा०—अ्ष्टाभिदेशभिः (ऋ० २।१८।४), अ्ष्टाभ्यः ॥

भाषार्थः—[दीर्घात्] दीर्घ अन्त वाला जो [श्रष्टनः] अष्टन शब्द उससे उत्तर असर्वनामस्थान विभक्ति उदात्त होती है।। अष्टन श्रा विभक्तौ (७।२ँ।८४) से अष्टन् के अन्तिम अल् (१।१।५१) न् को आत्व होकर 'अष्टा' दीर्घान्त हो जाता है, तब प्रकृत सृत्र से असर्वनामस्थान विभक्ति उदात्त हो गई।। अष्टन् शब्द ष्ट्रतादीनां च (फिट्०२१) से अन्तोदात्त है अतः 'अन्तोदात्तात्' की अनुवृत्ति का सम्बन्ध नहीं लगाया।।

श्रुत्रसमे नद्यजादी ।।६।१।१६७।।

प्रथम

शतुः ५११॥ अनुमः ५११॥ नद्यजादी १।२॥ स० — अच् आदिर्थस्याः स अजादिः, बहुत्रीहिः । नदी च अजादिश्च नद्यजादी, इतरेतरद्वन्द्वः। अनुमः इत्यत्र बहुत्रीहिः ॥ श्रन्नु० — असर्वनामस्थानम्, अन्तोदात्तात् विभक्तिः, उदात्तः ॥ श्रर्थः — अनुम् यः शतृप्रत्ययस्तदन्तादन्तोदात्तान् परा नदी, अजाद्यसर्वनामस्थानविभक्तिश्चोदात्ता भवति ॥ उदा० – नदी — तुद्ती, नुद्ती, लुन्ती । पुन्ती, अच्छा रवं प्रथमा जान्ती । अजाक्ष् सर्वनामस्थानविभक्तिः — तुद्ता, नुद्ता, लुन्ता, पुन्ता, तुद्ते, तुद्तः

भाषार्थः—[अनुमः] नुम् (आगम) रहित जो अन्तोदात्त [शतुः शतः प्रत्ययान्त शब्द तदन्त से परे [नद्यजादी] नदी संज्ञक प्रत्यय, त्र अजादि असर्वनामस्थान विभक्ति को उदात्त होता है।। तुदती, नुद्धं आदि में उगितश्च (४।१।६) से जीप् प्रत्यय तथा उस जीप् की स्त्र्याख्यों० (१।४।३) से नदी संज्ञा होती है। तुदती, नुदती, में तुदादिष्य शः (३।१।७०) से श (विकरण) प्रत्यय तथा अन्यों में शना (३।१।८१) प्रत्यय हुआ है। शना के 'आ' का लोप शनाभ्यस्तयो० (६।४।११२) से होता है। शतृप्रत्ययान्त शब्दों की सिद्धि का प्रकार भाग १ पृ० ९०० विस्ति । तुदती तुदती आदि में अजादि टा, के आदि विभक्तियों विद्यात्त हुआ है।।

यहाँ से 'नद्यजादी' की अनुवृत्ति ६।१।१६९ तक जायेगी।।
उदात्तायणो हल्पूर्वात् ।।६।१।१६८।।

उदात्तयणः ५।१॥ हलपूर्वीत् ५।१॥ स०— उदात्तस्य यण् उदात्तयण् तस्मात् "षष्टीतत्पुरुषः । हल् पूर्वो यस्य स हलपूर्वस्तस्मात् "बहुव्रीहिः॥ अट्ठ०—नद्यजादी, असर्वनामस्थानम्, विभक्तिः, उदात्तः ॥ अर्थः उदात्तस्थाने यो यण् हलपूर्वस्तस्मात् परा नदी अजादिरसर्वनामस्थानं विभक्तिस्रोदात्ता भवति ॥ उदा० – क्र्जी, ह्र्जी, चोद्यित्री सूनृतीत्मा (ऋ० १।३।११) एषा नेत्री (ऋ० ०।०६।०), क्र्जी, ह्र्जी, प्रलुवित्रे ॥

भाषार्थः—[हल्पूर्वात्] इल् पूर्व में है जिसके ऐसा बी [जदाचयणः] उदीत्त के स्थान में यण् उससे परे नदी संज्ञक प्रत्य को तथा अजादि असर्वनामस्थान विभक्ति को उदात्त होता है।। कर्जी चोद्यित्री आदि सब शब्द तृच् प्रत्ययान्त हैं, अतः चितः (६।१।१५७) से अन्तोदात्त हैं। उस तृजन्त से परे ऋन्तेभ्यो डीप् (४।१।६) से नदीसंज्ञक डीप् प्रत्यय हुआ, अब यहाँ उदात्त ऋकार के स्थान में यण् हुआ है, तथा उदात्त यण् से पूर्व हल् है ही सो डीप् को उदात्त हो गया। इसी प्रकार अजादि असर्वनामस्थान विभक्ति के उदाहरण कृत्री हुत्री आदि समझें। उदात्तस्विरितयोर्यणः स्विरतोऽनुदात्तस्य (८।२।४) से स्विरित की प्राप्ति में यह सूत्र है।।

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ६।१।१६९ तक जायेगी ॥ नोङ्धात्वोः ॥६।१।१६९॥

न अ०॥ ऊङ्धात्वोः ६।२॥ स०—ऊङ् च धातुम्र ऊङ्धात् तयोः इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—उदात्तयणो हल्पूर्वात्, अजादी, असर्वनामस्थानम्, विभक्तिः, उदात्तः ॥ श्रर्थः ऊङो धातोम्र य उदात्तस्थाने यण् हल्पूर्वस्तस्मात् पराऽजाद्यसर्वनामस्थानविभक्तिनीदात्ता भवति ॥ उदा०—ऊङ् — ब्रह्मबन्ध्वे। ब्रह्मबन्ध्वे। धातुयणः — सङ्कल्ल्वे। सङ्कल्ल्वे', सेत्पृश्तिः सुभ्वे३ (ऋ०६।६६।३)॥

भाषार्थः—[जङ्धात्वोः] ऊङ् तथा धातु का जो उदात्त के स्थान में हुआ यण्, हळ् पूर्व वाळा हो तो उससे उत्तर अजादि असर्वनामस्थान विभक्ति को उदात्त [न] नहीं होता ॥

पूर्व सूत्र से प्राप्त था निषेध कर दिया।। यहाँ ऊङ् तथा धातु से परे 'नदी' सम्भव नहीं, अतः केवल 'अजादी' की अनुवृत्ति का सम्बन्ध

१ जात्य (स्वभाव से) तित्स्विरितम् (६।१।१७६) से, क्षेप्र (यण् सिन्ध होने पर) उदात्तस्विरितयो० (६।२।४) से, प्रश्लेष (सवर्ण दीर्घ) ग्रौर ग्रभितिहत्त (एड् से परे अकार को पूर्वरूप) सिन्ध के कारण स्विरितो वानुदात्ते० (६।२।६) से जो स्विरत होता है उससे परे यदि संहिता में उदात्त ग्रक्षर होता है तो स्विरत का कम्प से उच्चारण होता है। स्विरत की पूर्व आधी मात्रा उदात्त होती है (अष्टा० १।२।६२), ग्रतः ह्रस्व में ग्राधा भाग और दीर्घ में तीन माण ग्रनुदात्ते होते हैं। उसे व्यक्त करने के लिए ऐसे स्विरतों से परे १ ग्रौर ३ संख्या का लेखन किया जाता है। अतः वेद में ऐसे स्थलों पर ३का अंक देखकर प्लुत की भ्रम नहीं करना चाहिए।

लगाया है।। ब्रह्मा वन्धुरस्याः ऐसा विष्रह करके ब्रह्मवन्धु में बहुबीहि समास हुआ। आगे जलुतः (४।१।६६) से जल् प्रत्यय हुआ जो हि प्रत्ययस्वर से उदात्त है, अब अनुदात्त उकार के साथ उदात्त जल् ब दीर्घ एकादेश हुआ जो कि एकादेश उदात्तेनोदात्तः (८।२।५) से उदात्त हे हुआ। तत्पश्चात् अनुदात्त 'टा' एवं छे विभक्ति के परे रहते उदात्त ककार को यणादेश हुआ, अतः पूर्व सूत्र से विभक्ति को उदात्त प्राहुआ, पर जल् का यण् होने से प्रकृत सूत्र से विभक्ति को उदात्त प्राहुआ, पर जल् का यण् होने से प्रकृत सूत्र से निषेध होकर उदात्तक रितयो० (८।२।४) से विभक्ति को स्वरित हो गया, शेष को अनुदार (६।१।१५२) हो ही जायेगा। सकृत्लू शब्द किवन्त है, यहाँ सकृ उपपद रहते लून् धातु है, जो कि धातु स्वर से उदात्त है, तत्प्रक्षा विभक्ति परे रहते पूर्ववत् 'लू' के उदात्त जकार के स्थान में यण् है। गया, शेष पूर्ववत् जानें। यह धातु के उदात्त यण् का उदाहरण है। गया, शेष पूर्ववत् जानें। यह धातु के उदात्त यण् का उदाहरण है।

हस्वनुड्स्यां मतुप् ॥६।१।१७०॥

हरवनुह्भ्याम् १।२॥ मतुप् १।१॥ स०—हरवः इत्यन्नेतरेतः द्वन्द्वः॥ अनु०—अन्तोदात्तात्, उदात्तः॥ अर्थः—हरवान्तादन्तोदाः नुद्धः परो मतुब् उदात्तो भवति॥ उदा०—अग्निमान्, वायुमार् कृर्तृमान्, हुर्तृमान् । नुटः—अक्षण्वतां, शीर्षण्वतां, अक्षण्वन्तः कर्णे वन् सखायः (ऋ०१०।७१।७)॥

भाषार्थः — अन्तोदात्त [ह्रस्वनुड्भ्याम्] ह्रस्वान्त तथा नुट् से ब्ल [मतुप्] मतुप् को उदात्त होता है।। तदस्यास्त्य० (५।२।६४) से मह्र प्रत्यय होता है, तथा 'अक्षण्वता' आदि में अनो नुट् (८।२।१६) रे नुट् आगम होता है। अग्नि आदि शब्द प्रातिपदिक स्वर से अन्तोदा है। अग्नि आदि शब्द प्रातिपदिक स्वर से अन्तोदा है। अग्नि शब्द से मतुप् तथा छन्दस्यिप हश्यते (७।१।७६) से अनि होकर अक्षण्व मत् = अक्षन् मत् रहा। प्रधात् नुट् आगम त्य पूर्व नकार का नलोपः० (८।२।७) से छोप होकर अक्षण्वता तृतीया प्रविचन में बना। इसी प्रकार शीर्षश्छन्दिस (६।१।५९) से शीर्ष निपातन करके पूर्ववत् शीर्षण्वता बनेगा। णत्व अटकुष्वाङ्० (८।४१ से हो जायेगा।।

यहाँ से 'ह्रस्वः' तथा 'मतुप्' की अनुवृत्ति ६।१।१७१ तक जायेगी

ľ

f

नामन्यतरस्याम् ॥६।१।१७१॥

नाम् १।१।। अन्यतरस्याम् ७।१।। श्रनु०—हस्वः, मतुप्, अन्तोदात्तात् विभक्तिः, उदात्तः ।। 'अर्थवशाद् विभक्तिविपरिणाम' इति न्यायेन प्रथमान्तो मतुप् सप्तम्यन्तेन विपरिणम्यते ।। अर्थः—मतुपि यो हस्वस्तदन्तादन्तो-दात्तात् विकल्पेन नाम् उदात्तो भवति ।। उदा०—अग्नीनाम् । पक्षे— अग्नीनाम् । वायूनाम् , वायूनाम् । चेतंन्ती सुमतीनाम् (ऋ० १।३।११)॥

भाषार्थः — अर्थानुरोध से अनुवर्त्यमान प्रथमान्त मतुप् सप्तमी में बदल जाता है।। मतुप् प्रत्यय के परे रहते जो ह्रस्वान्त अन्तोदात्त शब्द उससे उत्तर [अन्यतरस्याम्] विकल्प से [नाम्] नाम् को उदात्त हो जाता है।। यहाँ मतुप् प्रत्यय को ह्रस्व का विशेषण इसिलये बनाया है कि मतुप् के परे रहते जो ह्रस्व रहा हो, नाम् परे रहते चाहे दीर्घ भी हो जावे तो भी नाम् को विकल्प से उदात्तत्व हो जावे।। इस प्रकार प्रकृत उदाहरणों में मतुप् परे रहते अग्नि, वायु आदि शब्द हस्वान्त हैं, किन्तु नाम् परे रहते ये दीर्घान्त (६।४।३) हो गये हैं तो भी उदात्तत्व प्रकृत सूत्र से हो जाता है। पक्ष में प्रातिपदिक स्वर से ईकार उकार उदात्त होते हैं।।

यहाँ से 'नाम्' की अनुवृत्ति ६।१।१७२ तक जायेगी।

ङ्याञ्छन्दसि बहुलम् ॥६।१।१७२॥

ङचाः ४११॥ छन्द्सि ७।१॥ बहुलम् १।१॥ अनु०—नाम्, विभक्तिः, उदात्तः ॥ अर्थः — छन्द्सि विषये ङचन्तात् परो नाम् उदात्तो भवति बहुलम् ॥ उदा० — देवसेनानं सिभभञ्जतीनाम् (ऋ० १०।१०३।८) बहुनां पिता (ऋ० ६।७४।४)। न च भवति बहुलवचनात् — सङ्गमे चं नदीनं म् (यजु० २६।१४)॥

भाषार्थः—[लन्दिं निवयं में [ङचाः] ङचन्त शब्द से उत्तर [बहुलम्] बहुल करके नाम् (विभक्ति) को उदात्त होता है।। भञ्जती बह्वी आदि ङचन्त शब्द हैं। बहुल कहने से कहीं नहीं भी होता॥

षट्त्रिचतुभ्यों हलादिः ॥६।१।१७३॥

षट्त्रिचतुभ्यः ५१३॥ हलादिः १११॥ स०—षट् च त्रयस्य चलारस्य षटित्रचत्वारस्तेभ्यः ''इतरेतरद्वन्द्वः । हल् आदिर्यस्याः सा हलादिः, बहु- त्रीहि: ।। त्रानु०—विभक्तिः, उदात्तः ।। त्रार्थः—षट्संझकेभ्यस्त्र चतुर् इत्येताभ्यां च परा हलादिविभक्तिरुदात्ता भवति ।। उदा०—षट्संझकेभ्यः—षड्भिः, षड्भ्यः, षणाम् , पञ्जानाम् , सप्तानाम् , आषड्भि हूंयमानः (ऋ० २।१८।४) । त्रि—त्रिभिः, त्रिभ्यः, त्र्याणाम् , त्रिभिष्कं देव (ऋ० ६।६७।२६) । चतुर्—चतुर्णाम् ।।

भाषार्थः—[षट्त्रिचतुर्भ्यः] षट्संज्ञक शब्दों से उत्तर तथा त्रि चतुर् शब्दों से उत्तर [हलादिः] हलादि विभक्ति को उदात्त होता है। ष्णान्ता षट् (१।१।२३) से षट् संज्ञा होती है।।

यहाँ से 'षट्त्रिचतुर्म्यः' की अनुवृत्ति ६।१।१७५ तक जायेगी।।

झल्युपोत्तमम् ॥६।१।१७४॥

झिल ७।१।। उपोत्तमम् १।१।। श्रवु०—षट्त्रिचतुभ्यः, विभक्तिः, उदात्तः ।। श्रर्थः — षट्त्रिचतुभ्यं उत्पन्ना या झलादिविभक्तिस्तदन्ते पर उपोत्तममुदात्तं भवति।। उदा०—पुद्धभिस्तपस्तपति। सप्तिभिः परार जयति। तिसृभिश्च वहसे त्रिंशता। अध्वर्युभिः पुद्धभिः।।

भाषार्थः—षट्संज्ञक, त्रि तथा चतुर् शब्द से उत्पन्न जो [भाषां] झलादि विभक्ति तदन्त शब्द में [उपोत्तमम्] उपोत्तम को उदात्त होता है ॥ उपोत्तम क्या है इसके परिज्ञान के लिये भाग २ पृ० ४० पृत्र ४।१।७८ देखें ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ६।१।१७५ तक जायेगी।।

विभाषा भाषायाम् ॥६।१।१७५॥

विभाषा १।१॥ भाषायाम् ७।१॥ अनुट—झल्युपोत्तमम्, षट्भि चतुभ्यः, विभक्तिः, उदात्तः ॥ अर्थः—षट्त्रिचतुभ्यो या झलादिर्विभितिः स्तदन्ते पद उपोत्तममुदात्तं भवति विकल्पेन भाषायां विषये ॥ उदार्प्य पुद्धिः। पुञ्चिभिः पुञ्चिभिः। सप्तिभिः, सप्तिभः। तिसृभिः, तिस्भिः। चतुस्भिः, चतुस्भिः, चतुस्भिः।

भाषार्थ: — षट्संज्ञक, त्रि तथा चतुर् शब्द से उत्पन्न जो झलाँ विभक्ति तदन्त शब्द का उपोत्तम [विभाषा] विकल्प से [भाषायाप] भाषा विधय में उदात्त होता है ॥ पूर्व सूत्र से नित्य प्राप्ति में विकल्पार्थ यह वचन है, पक्ष में षट्त्रिच० (६।१।१७३) से विभक्ति उदात्त होती है।।

विशेष:—इस सूत्र से स्पष्ट है कि पाणिनि के काल में संस्कृत लोक-भाषा (= बोल वाल की भाषा) थी और उसमें स्वरों का भी प्रयोग होता था। इस विषय में अ० ४।२।७३ से लोक व्यवहृत दात्त गौप्त आदि प्रयोगों में स्वरभेद के लिए प्रत्ययान्तर (= अञ्) का विधान करना भी ज्ञापक है।।

न गोश्वन्साववर्णराडङ्कृङ्कृद्भ्यः ॥६।१।१७६॥

न अ०।। गोश्वः 'द्भ्यः ५।३॥ स० — सौ अवर्णम्, साववर्णम्, सप्तमीतत्पुरुषः । गौश्व श्वा च साववर्णक्व राट् च अङ् च कुङ् च कृत् च
गोश्वः कृतस्तेभ्यः 'इतरेतरद्वन्द्वः ।। अर्थः — गो, श्वन्, साववर्णः = सौ
प्रथमैकवचने यद्वर्णान्तं, राड्, अङ्, कुङ्, कृद् इत्येतेभ्यो यदुक्तं तन्न
भवित ।। उदा० — गवां, गवें, गोभ्याम्, गवां श्वता (ऋ०१।११२।७),
सुगुनां, सुगवें, सुगुभ्याम् । श्वन् — ग्रुनां, ग्रुनें, श्वभ्याम्, ग्रुनिश्चच्छेपम् (ऋ० ४।२।७) प्रम्गुनां, _र्मग्रुनें। साववर्णः — येभ्यः, तेभ्यः,
केभ्यः, तेभ्यों द्युम्नम् (ऋ० ४।७६।७) तेषां पाहि श्रुधी ह्वम् (ऋ०
१।२।१)। राट् (किवन्त) — राजां, प्रम्राजें। अङ् प्राक्चां, प्राङ्भं
भ्याम्। कुङ् — कुक्चां, प्रमकुक्चां। कृत् — कृतां, प्रमकृतां।।

भाषार्थः—[गो : 'कृद्भ्यः] गो, रवन् , साववर्ण = सुप्रथमा के एकवचन के परे रहते जो अवर्णान्त शब्द, अङ्, कृङ् तथा कृत् से जो कुछ भी अप्प (स्वरविधान) कह आये हैं, वह [न] नहीं होता ।। 'राट्' यह राजृ धातु के किबन्त का रूप है । अङ् भी अञ्चु के किबन्त का रूप है । अङ् भी अञ्चु के किबन्त का रूप है । कृत् भी डुकृञ् अथवा कृती छेदने धातु के किबन्त का रूप सूत्र में निर्दृष्ट है ॥ गवा, गवे आदि में सावेकाचस्तृतीया० (६।१।१६२) से विभक्ति को उदान्तत्व प्राप्त था उसका निषेध हो गया, प्रातिपदिकस्वर से गो उदान्त रहा । शोभना गावोऽस्येति तेन सुगुना इत्यादि में अन्तोदाचाडुन्तरू० (६।१।१६३) की प्राप्त थी, प्रकृत सूत्र से निषेध होकर नन्सुम्याम् (६।२।१७१) से उत्तरपद को प्राप्त अन्तोदान्तत्व स्वर ही रह गया। शुनी प्रमुश्नां आदि में भी इसी प्रकार प्राप्ति एवं निषेध समझें । स्वयुव-

मधोना० (६।४।१३३) से यहाँ सम्प्रसारण होता है। यद्, तद् आहि शब्द सु परे रहते अवर्णान्त हैं, यहाँ सावेकाच० (६।१।१६२) से प्रक्षि थी।। राजा, पर्म राजे में पूर्ववत् जानें। परम सुद्धां, परम कृतां शब्स समास स्वर से अन्तोदात्त हैं।।

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ६।१।१७८ तक जायेगी।।

दिवो झल् ॥६।१।१७७॥

दिवः ४११॥ झल् १११॥ श्रानु०—न, विभक्तिः, उदात्तः ॥ अर्थः-। दिवः परा झलादिविभक्तिनीदात्ता भवति ॥ उदा०—द्युभ्यीम्, द्युभि द्युभिर्क्तुभिः (ऋ० ११३४।८) ॥

भाषार्थः—[दिवः] दिव् शब्द से परे [क्सिल] झलादि विभिन्ति उदात्त नहीं होती ।। सावैकाचस्तृ० (६।१।१६२) तथा अडिदम्पदाद्यपुः (६।१।१६५) से प्राप्ति थी, निषेध कर दिया, तो प्रातिपदिक स्वरहे आद्युदात्त ही हुआ।।

यहाँ से 'मज्' की अनुवृत्ति ६।१।१७८ तक जायेगी।।

न चान्यतरस्याम् ॥६।१।१७८॥

नृ तुप्तपद्धम्यन्तिनिर्देशः ॥ च अ० ॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ श्रवु०-झल्, न, विभक्तिः, उदात्तः ॥ श्रर्थः — नृ इत्येतस्मात् परा झलादिनि भक्तिर्विकल्पेन नोदात्ता भवति ॥ उदा० — नृभिः । पक्षे — नृभिः । नृभ्यः, नृभ्यः । नृभ्याम्, नृभ्याम्, नृभिर्यमानः ॥

माषार्थः—[नृ] नृ से परे [च] भी झलादि विभक्ति को [ग्रन्थः तरस्याम्] विकल्प से उदात्त नहीं होता, अर्थात् होता है।। सावेकाः चस्तृ (६।१।१६२) से विभक्ति को उदात्तत्व प्राप्त हुआ, अर्वः विकल्पार्थं यह वचन है। एक पक्ष में प्रातिपदिक स्वर एवं पक्ष में विभक्ति को उदात्तत्व होगा।।

तित्स्वरितम् ॥६।१।१७९॥

तित् १।१॥ स्वरितम् १।१॥ स०—तकार इत् यस्येति ति बहुव्रीहिः॥ अर्थः—तित्स्वरितं भवति॥ उदा०—चिक्कीष्यं म्, जिहीष्यं मे कार्यं म्, हार्यं म्॥ H:

S

भाषार्थः—[तित्] तकार इत् संज्ञक है जिसका उसको [स्वरितम्] स्वरित होता है ।। चिकीर्ष जिहीर्ष सन्नन्त धातु से अनो यत् (३।११६७) से यत् प्रत्यय तथा अतो लोपः (६।४।४८) से व के अ का छोप हुआ है । यत् तित् है, अतः स्वरित होकर शेष को अनुदात्त (६।१।१५२) हो जाता है । कार्यं म् हार्यं म् में ऋहलोर्यंत् (३।१।१२४) से ण्यत् प्रत्यय हुआ है ।। प्रत्यय आद्युदात्तत्व का यह अपवाद है ।।

तास्यनुदात्तेन्डिद्दुपदेशास्त्रसार्वधातुकमनुदात्त-मह्न्विडोः ॥६।१।१८०॥

तास्य'''शात् ५११॥ लसार्वधातुकम् १११॥ अनुदात्तम् १११॥ अह्निङोः ६१२॥ स०—अनुदात्त इत् यस्य स अनुदात्तत्, बहुत्रीहिः । ङकार इत् यस्य स ङित् बहुत्रीहिः । अत् चासौ उपदेशस्य अदुपदेशः, कर्मधारयस्तत्पुरुषः । तासिश्च अनुदात्तेत् च ङित् च अदुपदेशस्य तास्य'''देशम् तस्मात्'' समाहारो द्वन्द्वः । लस्य सार्वधातुकम्, लसार्वधातुकम्, षष्टीतत्पुरुषः । ह्नुस्च इङ् च ह्निङौ, इतरेतर-द्वन्द्वः । न ह्निङौ अह्निङौ, तयोः,'''नञ्चतत्पुरुषः ॥ अर्थः — तासेरनुदात्तेतो ङितोऽकारान्तोपदेशाच परं लसार्वधातुकमनुदात्तं भवति, ह्नुङ, इल् इत्येताभ्यां परं वर्जयित्वा ॥ उदा०—तासेः—कृत्तां, कृत्तारीं कृत्तीरं । अनुदात्तेतः—आस—आस्ते', वस—वस्ते' । ङितः—पूड्-स्ते', शोङ्—शेते' । अदुपदेशात्—तुद्वतः, नुद्वतः, पर्वतः, पठतः ॥

भाषार्थः—[तास्य "शात्] तासि प्रत्यय, अनुदात्तत् धातु, कित् धातु तथा उपदेश में जो अवर्णान्त इन से उत्तर [लसार्व-धातुकम्] छकार के स्थान में जो सार्वधातुक संज्ञक तिप् इत्यादि प्रत्यय वे [अनुदात्तम्] अनुदात्त होते हैं, [अह्निवडोः] ह्नुङ् तथा इङ् धातु को छोड़कर। इनके कित् होने से प्राप्त था, निषेध कर दिया।। प्रत्यय स्वर आधुदात्तश्च (३।१।३) का यह अपवाद सूत्र है।। कत्तारी कर्तारः में क को धातु स्वर के पश्चात् तस् झि प्रत्यय स्वर से उदात्त हुए, पुनः तास् विकरण प्रत्यय स्वर से उदात्त ग्राप्त हुआ तब 'सित शिष्टोऽपि निकरणः स्वरो लसार्वधातुकस्वरं न वाधते' (पीछे होने वाला विकरणस्वर लसार्वधातुक स्वर को नहीं बाधता) न्याय से रौ रः उदात्त प्राप्त हुए। तब इस सूत्र (तास्यनुदात्ते॰) ने लसार्वधातुक को अनुदात्त का विधान-किया।

री रः के अनुदात्त होने पर तास् प्रत्यय स्वर से उदात्त हुआ। 'कर्ना आत्मनेपद एकवचन में प्रकृत सूत्र से 'ते' अनुदात्त हुआ, तदादेश 'हां भी अनुदात्त है 'डा' के डित् होने से तास् का टिलेप होने म उदात्तिनवृत्तिस्वर से 'डा' उदात्त हो जाता है। आस, वस मा अनुदात्तत् हैं, सो पूर्ववत् लसावधानुकानुदात्तत्व तथा धानुस्वर से उदात्त होकर पश्चात् अनुदात्त को स्वरित हो गया। तुद, नुद धानुका से उदात्त होकर पश्चात् अनुदात्त को स्वरित हो गया। तुद, नुद धानुका से उदात्त हैं। तस् प्रत्ययस्वर से उदात्त हुआ। पश्चात् तुदादिम्यः म (३।१)६६) से श विकरण हुआ वह उपदेशावस्था में अकारान्त है। पूर्ववत् सितिशिष्ट विकरण स्वर से 'तस्' स्वर की बाधा न होने पर अनु पदेश श को मानकर उसे इस सूत्र से अनुदात्त हो गया। इस प्रका सितिशिष्ट स्वर के नियम से 'श' को विकरण स्वर होने पर 'तु' और 'ह अनुदात्त हुए। पश्चात् 'तः' स्वरित हो गया। पचतः पठतः में अप् अनुदात्त हुए। पश्चात् 'तः' स्वरित हो गया। पचतः पठतः में अप् अनुदात्त हुए। पश्चात् 'तः' स्वरित हो गया। पचतः पठतः में अप् अनुदात्त हु अतः यह पद धातुस्वर से आद्युदात्त हुआ।।

यहाँ से 'लसार्वधातुकम्' की अनुवृत्ति ६।१।१८६ तक जायेगी।

आदिः सिचोऽन्यतरस्याम् ॥६।१।१८१॥

आदिः १।१॥ सिचः ६।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ श्रनु०—उदानः। अर्थः—सिजन्तस्य विकल्पेनादिरुदात्तो भवति ॥ उदा८—मा हि कार्ष्टीम् मा हि कार्ष्टाम् । मा हि लाविष्टाम्, मा हि लाविष्टाम्॥

भाषार्थः — [सिचः] सिच् अन्त वाले को [अन्यतरस्याम्] विका से [आदिः] आद्युदात्त होता है।। कार्ष्टाम् एक पक्ष में प्रकृत सूत्र है आद्युदात्त तथा पक्ष में प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त है, इसी प्रवा लाविष्टाम् पक्ष में आद्युदात्त एवं पक्ष में सिच् को हुआ इट् आर् सिच् का भाग माना जाने से सिच् के चित् होने से चित् स्वर् उदात्त होता है। उदाहरणों में हिच (८।१।३४) से निघात का प्रतिर्थ हो जाता है।

"यहाँ से 'ऋदिः अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति ६।१।१८२ ^क जायेगी व H:

1

Y!

मं क्वा

वा

₹

<u>د</u>.

ī

स्वपादिहिंसामच्यनिटि ॥६।१।१८२॥

स्वपादिहिंसाम् ६।३॥ अचि ७।१॥ अनिटि ७।१॥ स०—स्वप आदिर्येषां ते स्वपादयः, बहुब्रीहिः । स्वपादयश्च हिंश्च स्वपादिहिंस-स्तेषां इतरेतरद्वन्द्वः । अनिटि इत्यत्र नव्यतत्पुरुषः ॥ अनु०—आदिः, अन्यतरस्याम् , लसावधातुकम् , उदात्तः ॥ अर्थः—स्वपादीनां हिंसेश्च अजादावनिटि लसावधातुके परते विकल्पेनादिख्दात्तो भवति ॥ उदा०— स्वपन्ति, स्वपन्ति । श्वसंन्ति, श्वसन्ति । हिंसन्ति, हिंसन्ति ॥

भाषार्थः—[स्वपादिहिसाम्] स्वपादि धातुओं के तथा हिंस धातु के [अचि] अजादि [अनिटि] अनिट् लसावधातुक परे हो तो विकल्प से आदि को उदान्त हो जाता है।। लसावधातुकम् प्रथमान्त पद जो यहाँ आ रहा था, वह 'अचि अनिटि' के सम्बन्ध से सप्तमी में बदल जाता है।। झि को अन्ति आदेश करने पर अजादि लसावधातुक हो जाता है, अतः स्वपन्ति आदि में पक्ष में आद्युदात्त एवं पक्ष में प्रत्यय स्वर से मध्योदात्त होता है। हिंसन्ति की सिद्धि साग १ पृ० ८०६ में देखें।।

यहाँ से 'अच्यनिटि' की अनुवृत्ति ६।१।१८३ तक जायेगी।।

अभ्यस्तानामादिः ॥६।१।१८३॥

अभ्यस्तानाम् ६।३॥ आदिः १।१॥ ऋनु०—अच्यनिटि, लसार्व-धातुकम्, उदात्तः॥ अर्थः—अभ्यस्तानामनिट्यजादौ लसार्वधातुके परत आदिरुदात्तो भवति॥ उदा०—ददंति, दर्धति, जस्रति, जक्षेतु, जाप्रति, जाप्रतु । ये ददंति प्रिया वस्रुं (ऋ० ७।३२।१५)॥

भाषार्थः—अजादि अनिट् लसार्वधातुक परे हो तो [अभ्यस्तानाम्] अभ्यस्त संज्ञक के [आदिः]आदि को उदात्त होता है ।। जक्षति की सिद्धि परि० ६।१।६ में देखें ।। सर्वत्र इसी प्रकार 'अति' अजादि प्रत्यय परे हैं ॥

यहाँ से 'श्रभ्यस्तानाम्' की अनुवृत्ति ६।१।१८६ तक तथा 'आदिः' की ६।१।१८५ तक जायेगी।।

अनुदात्ते च ॥६।१।१८४॥

अनुदात्ते ७।१॥ च अ०॥ स०-अविद्यमानमुदात्तमस्मिन् इत्यनुदात्तम्, तिस्मन् वहुत्रीहिः॥ अनु०-अभ्यस्तानाम्, आदिः, लसावैधानुकम्, हदात्तः ।। श्रर्थः—अविद्यमानोदात्ते च छसार्वधातुके परतोऽभ्यस्तसंज्ञकान माद्रिदात्तो अवति।। उदाः—द्दंति, जहाति, द्धाति, जिही ते, मिमीते द्धांसि रत्नं द्रविणं च दाशुषे' (ऋ० शहप्रा१४)।।

भाषार्थः—[अनुदात्ते] जिसमें उदात्त अविद्यमान है, ऐसे एस धातुक के परे रहते [च] भी अभ्यस्तसंज्ञक के आदि को उदात्त हो है।। इदान् आदि घातुएँ जुहोत्यादि गण में पठित हैं, अतः दिल हो। उमे श्रम्यस्तम् (६१११५) से अभ्यस्त संज्ञा हो जायेगी। भाग १ ए ७५५ में प्रदर्शित जुहोति की सिद्धि के समान ही सिद्धि प्रकार जाने ओहाक त्यागे का 'हा' शेष रहकर जहाति, माङ् से भुवामित् (अधार से अभ्यास को इत्व होकर मिमीते, एवं इसी प्रकार ओहाङ से जिईं की सिद्धि जानें। सर्वत्र अविद्यमान उदान्त वाला सार्वधातुक परे ही।। अनुदात्त में बहुव्रीहि समास इस छिए माना गया है कि भा सम द्धात्' में तिप् के इकार के लोप होने पर भी हो जावे, क्यों यहाँ भी 'त्' उदात्त रहित है ।

सर्वस्य सुपि ॥६।१।१८५॥

सर्वस्य ६।१॥ सुपि ७।१॥ अनु०—आदिः, उदात्तः ॥ अर्थः—सु परतः सर्वशब्दस्यादिरुदात्तो भवति ।। उदार्-सर्वः, सर्वः, सर्वः सर्वे नन्दन्ति युशसा ।।

भाषार्थः—[सुपि] सुप् परे रहते [सर्वस्य] सर्व शब्द के आदि उदात्त होता है।। उणादि १।१५३ से सर्व शब्द अन्तोदात्त निपातित है उसे सुप् परे रहते आद्युदात्त कह दिया ॥

भीहीभृहुमद्जनधनद्रिहाजागरां प्रत्ययात् पूर्व पिति ॥६।१।१८६॥

भीही :: गराम् ६।३॥ प्रत्ययात् ५।१॥ पूर्वम् १।१॥ पिति औ सं - भीही इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः। पकार इत् यस्य स पित्, तस्मिन बहुब्रीहिः ॥ श्रनुः — अभ्यस्तानाम् , लसार्वधातुकम् , उदात्तः ॥ अर्थः भी, ही, भू, हु, मद, जन, धन, द्रिहा, जागृ इत्येतेषामभ्यस्तानां वि लसावधातुके परतः प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तं भवति ॥ उदा०—बिभे जिहेतिं। बिभित्तं। जुहोतिं, यो ऽग्निहोत्रं जुहोतिं। मुम्नु

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

TH

नं ते।

II à

Ìē

1

नं

Ęį.

į

वें

परिंज्मा (ऋ० १।१२२।३) । जुजनंदिन्द्रम् । व्धनंत् (ऋ०१०।७३।१) । द्रिद्वातिं । जागर्त्तिं ।।

माषार्थ:—[मीही "" गराम्] भी, ही, मृ, हु, मद, जन, धन, द्रिद्रा तथा जागृ धातु के अभ्यस्त को [पिति] पित् उसार्वधातुक परे रहते [प्रत्ययात्] प्रत्यय से [पूर्वम्] पूर्व को उदात्त होता है।। अनुदात्ते च (६।१।१८४) से अभ्यस्त को आद्युदात्त प्राप्त था, यहाँ प्रत्यय से पूर्व उदात्त कह दिया, अतः 'तिप्' पित् उसार्वधातुक प्रत्यय के परे रहते उससे पूर्व को उदात्त हुआ है।। विभक्ति में अभ्यास को मृजामित् से इत्व हुआ है। शेष में पूर्ववत् द्वित्व एवं अभ्यास कार्य जानें। ममत्तु मदी हपें धातु के छोट् का रूप है, दिवादि गण की होने से श्यन् विकरण होना चाहिये, किन्तु बहुलं छन्दिस (२।४।७६) से शतु होकर द्वित्वादि कार्य हुये हैं। जन, धन धातु से जजनत्, दधनत् लेट् के रूप हैं। छेट् की सिद्धि का प्रकार भाग १ परि० ३।१।३४ में देखें। शेष द्वित्वादि कार्य यहाँ होंगे ही।।

यहाँ से प्रत्ययात् पूर्वम् की अनुवृत्ति ६।१।१८७ तक जायेगी।।

लिति ॥६।१।१८७॥

छिति ७।१।। स०—छ् इत् यस्य स छित् तस्मिन् छिति, बहुव्रीहिः॥ अनु०—प्रत्ययात् पूर्वेम्, उदात्तः॥ अर्थः—छिति प्रत्ययात् पूर्वेमुदात्तं भवति॥ उदा०—चिकीर्षंकः, जिहीर्षंकः॥

भाषार्थ:—[लिति] छ् जिसका (प्रत्यय का) इत् संज्ञक हो, ऐसे प्रत्यय से पूर्व को उदात्त होता है।। सिद्धि भाग १ पृ० ७४३ परि० १।१।५७ में देखें।।

आदिर्णमुख्यन्यतरस्याम् ॥६।१।१८८॥

आदिः १।१॥ णमुल्लि ७।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ अनुः—उदात्तः॥ त्र्र्थः —णमुल्लि परतो विकल्पेनादिरुदात्तो भवति॥ उदाः—लोल्यंलो-ल्यम् , पक्षे —लोल्यं लोल्यम्॥

भाषार्थ: — [रामुलि] णमुल् परे रहते (पूर्व धातु को) [अन्य-तरस्याम्] विकल्प से [आदिः] आदि को उदात्त होता है।। होत्त्य यङन्त धातु से णमुल् प्रत्यय करके 'होत्त्यम्' को प्रकृत सूत्र से एक

T

प्र रेहिं

Ų

बार आद्युदात्त एवं एक बार लिति (६।१।१८७) सूत्र से प्रत्यय (णमुल्)। पूर्व की उदान्त होकर मध्योदान्त स्वर रहा । तत्पश्चात् णमुखनाः आर्माच्छ्ये द्वे भवतः (वा० ८।१।१२) इस वार्त्तिक से द्वित्व हो गय प्रश्नात् तस्य परमाम्रेडितम् (८।१।२) से द्वित्व किये हुये द्वितीय लोहा की आम्रेडित संज्ञा हो गई, और उसको अनुदात्तं च (८।१।३) अनुदात्त भी हो गया। पश्चात् पूर्वपदस्थ स्वरित को मानकर सा अनुद्वात्तों को एक श्रुति स्वर हो गया।

यहाँ से 'त्रादिः, अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति ६।१।१६० त जायेगी॥

अचः कर्नुयिक ॥६।१।१८९॥

अचः ६।१।। कर्त्तृयिक ७।१।। स०--कर्त्तीर विहितो यक् कर्तृंक् तस्मिन् : : सप्तमीतत्पुरुषः ॥ अनु - आदिः, अन्यतरस्याम्, द्वाः 'अदुपदेशात्' (६।१।१८०) इत्यत्र यत् समस्तमुपदेशप्रहणं तस्यैको मात्रमनुवर्त्तते मण्डूकप्लुतगत्या ॥ अर्थः—कर्त्तृवाचिनि सार्वेषाह विहितों यो यक् तस्मिन् परत उपदेशे अजन्ता ये धातवस्तेषां विकर्ण नादिरुदात्तो भवति ।। उदाः - लूयंते केदारः स्वयमेव । लूयते केवा स्वयमेव । स्तीर्थं ते केदारः स्वयमेव, स्तीर्थतं केदारः स्वयमेव ॥

भाषार्थ:-[कर्त्तृयिक] कर्त्तृवाची सार्वधातुक के परे रहते वि जो यक प्रत्यय उस यक् के परे रहते उपदेश में [अचः] अंजल धातुएँ उनके आदि को विकल्प से उदात्त हो जाता है।। कर्मक (जहाँ कर्म कर्त्ता बन जाता है) स्थल में कर्त्त्वाची सावधातुक के रहते कर्मवद्भाव से यक् विधान सार्वधातुके यक् (३।१।६७) से होता ह अतः कर्मकर्ता में ही प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति होगी।। जब पक्ष में ब आदि को आद्युदात्त नहीं हुआ, तब तास्यनुदात्ते (६।१।१८०) लसार्वधातुक को निघात करके प्रत्यय स्वर से यक को ही उद्दि होता है॥

थिल च सेटीडन्तो वा ॥६।१।१९०॥

थिछि ७।१॥ च अ०॥ सेटि ७।१॥ इट् १।१॥ अन्तः १।१॥

पादः]

धा

():

त्र

या To.

);

H

19

F

दे

तुः 7

द्या

1

(

94

अः।। अनुः—आदिः, अन्यतरस्याम्, उदात्तः।। अर्थः—सेटि थिल इट् वा उदात्तो भवति, अन्तो वाऽऽदिवाँऽन्यतरस्याम्।। उदा०— लुलंबिथ, लुलंबिथ, लुलंबिथं, लुलंबिथ, पर्यायेण चत्वारः स्वराः ॥

भाषार्थ:-[सेटि थिल] सेट् थल् परे रहते [इट्] इट् को अन्यतरस्याम् = विकल्प से उदात्त होता है एवं [च] चकार से आदि को, [अन्तः] अन्त को [वा] विकल्प से होता है।।

यहाँ चकार भिन्न क्रम (= अस्थान में) है। इसका सम्बन्ध होगा—थिछ सेटि इट् च अन्तो वा । इस प्रकार सेट् थल् परे रहते अनुवर्त्तमान अन्यतरस्याम् जुड़कर इट् को उदात्त करेगा, पक्ष में च से समुद्वीयमान आदि को, तत्पश्चात् 'अन्तो वा' से अन्त को उदात्त विकल्प से होगा, पक्ष में यथाप्राप्त छित् स्वर होगा। इस प्रकार चार स्वर पर्याय से होंगे ।।

ञ्नित्यादिर्नित्यम् ॥६।१।१९१॥

बिनति ७।१।। आदिः १।१॥ नित्यम् १।१॥ स०—बश्च नश्चेति ञ्नौ, ञ्नावितावस्य ञ्निन् तस्मिन् ञ्निति, बहुब्रीद्दिः॥ श्रनु०— उदात्तः ॥ अर्थः — ञिति निति च नित्यमादिरुदात्तो भवति ॥ उदा० — गार्ग्यः, वात्स्यः। नित्—वासुंदेवकः, अर्जुंनकः, यस्मिन्विश्वांनि पौंस्या, सुते दंधिष्व नुश्चनः ॥

भाषार्थ:—[न्निति] व्यकार और नकार इत् संज्ञक है जिनका ऐसे प्रत्ययों के परे रहते [नित्यम्] नित्य ही [त्रादिः] आदि को उदात्त ST. होता है।। गार्ग्यः वात्स्यः में गर्गादिभ्यो यन् (४।१।१०५) से यन् प्रत्यय हुआ है, जो कि ञित् है। पौंस्या में पुंस् शब्द से गुणवचनवाहा (५।१।१२३) से ष्यच् हुआ है। वासुदेवकः, अर्जुनकः में वासुदेवार्जुना० (४।३।९८) से बुन् प्रत्यय हुआ है। चनः में चायृ धातु से नुट् आगम एवं असुन् प्रत्यय हुआ है ।। प्रत्यय स्वर का अपवाद यह सूत्र है ॥

यहाँ से 'आदिः' की अनुवृत्ति ६।१।२१० तक जायेगी।।

आमन्त्रितस्य च ॥६।१।१९२॥

आमन्त्रितस्य ६।१॥ च अ०॥ अनु०—आदिः, उदात्तः॥ श्रयः-आमन्त्रितस्यादिरुद्ात्तो भवति ॥ उदा०—देवंदृत्त ! देवंदृत्तौ ! देवंदृत्ताः! भाषार्थ:—[म्रामिन्त्रतस्य] आमन्त्रितसंज्ञक के [च] भी अ को उदान्त होता है।। सम्बोधन की सामन्त्रितम् (२।३।४८) से आ न्त्रित संज्ञा होती है।।

पथिमयोः सर्वनामस्थाने ॥६।१।१९३॥

पश्चिमथोः ६।२॥ सर्वनामस्थाने ७।१॥ स०—पन्थाश्च मन्या पथ्मिन्थानौ तयोः इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—आदिः, उदात्तः ॥ अर्थः पथिमथोः सर्वनामस्थाने परत आदिरुदात्तो अविति ॥ उदा०—पर्यः पन्थानौ, पन्थानः, अयं पन्थाः (ऋ० ४।१८।१) सन्थाः, मन्याः मन्थानः ॥

भाषार्थः — [पश्चिमथोः] पथिन तथा मिथन शब्द को [सर्वनामश्यां सर्वनामस्थान परे रहते आदि उदात्त हो जाता है ।। मन्थः (उणा० श्रा से इनि प्रत्ययान्त मिथन शब्द तथा पतः स्थ च (उणा० श्राश्य) इनि प्रत्ययान्त पथिन शब्द सिद्ध होते हैं। अब ये शब्द प्रत्ययस्य अन्तोदात्त थे, अतः इन्हें सर्वनामस्थान परे रहते आद्युदात्त कहि है ।। पन्थाः की सिद्धि भाग १ पृ० ७७३ में देखें। इसी प्रकार मन्याः समझें।।

अन्तञ्च तवै युगपत् ॥६।१।१९४॥

अन्तः १।१॥ च अ०॥ तवै लुप्तप्रथमान्तिनिर्देशः॥ युगपत् अ श्रमु०—आदिः, उद्।त्तः॥ श्रथः—तवैप्रत्ययान्तस्य शब्द्स्यान्तश्रा युगपद् उदात्तो भवति॥ उदा०—कर्त्त्वै, हर्त्त्वै॥

भाषार्थः—[तवै] तवै प्रत्ययान्त शब्द का [अन्तः] अन्त ि और आदि को [युगपत्] एक साथ उदान्त होता है ॥ कृत्यार्थं केन्क्रेन्य॰ (३।४।१४) से कृ हृ धातुओं से तवै प्रत्यय हुआ है ॥ युग इसिछिये कहा है कि अनुदान्तं पद॰ (६।१।१५२) से पद में एक छोड़कर शेष अनुदान्त हो जाते हैं, सो एक ही पद में एक साथ दो अ एह ही नहीं सकते अतः युगपत् कहकर दो के उदान्तत्व का विधाव दिया । मध्य के अनुदान्त को नोदान्तस्व॰ (८।४।६६) से स्विति निषेध हो जाने से उदान्तादनु॰ (८।४।६५) से स्विति नहीं होता ॥

प्रथ

31

आ

न्या

पर्यः

पर

स्थाः श्री

22)

स्वा

ह हि

थाः।

अः

विं

युग

क्

3

TA

fid

11

क्षयो निवासे ॥६।१।१९५॥

त्त्रयः १११।। निवासे ७११।। अनु०—आदिः, उदात्तः ॥ त्रर्थः— क्षयशब्द आद्युदात्तो भवति निवासेऽभिषेये ॥ उदा०—क्षियन्ति निवसन्त्यस्मिन् = क्षयंः, स्वे क्षये ग्रुचित्रतः ॥

भाषार्थ:—-[च्रयः] क्षय शब्द आद्युदात्त होता है, [निवासे] निवास अभिधेय होने पर ।। क्षय शब्द पृंति संज्ञायाम् (३।३।११८) से घ्रप्रत्य-यान्त है, अतः प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त प्राप्त था, आद्युदात्त विधान कर दिया ।। निवास = घर अर्थ से अन्यत्र क्ष्यः (= नाश) होगा ।

जयः करणम् ॥६।१।१९६॥

जयः १/१।। करणम् १/१।। श्रमुः— आदिः, उदात्तः ।। श्रश्रः— करणवाची जयशब्द आद्युदात्तो भवति ।। उदा०—जयन्ति तेनेति जयः = अश्वादिः ।।

भाषार्थः—[करणम्] करणवाची [जयः] जय शब्द आद्युदात्त होता है।। पूर्ववत् ही जय शब्द में करण कारक में घ प्रत्यय होने से अन्तो-दात्तत्व प्राप्त था, आद्युदात्त कह दिया।। अन्यत्र ज्यः (= जीतना) अन्तोदात्त होगा।।

वृषादीनां च ॥६।१।१९७॥

वृषादीनाम् ६।३॥ च अ०॥ स०—वृष आदिर्येषां ते वृषाद्यस्तेषां ंबहुत्रीहिः ॥ अनु०—आदिः, उदात्तः ॥ अर्थः—वृषादीनां शब्दानामा-दिरुदात्तो भवति ॥ उदा०—वृषंः, जर्नः, ज्वरंः, प्रहंः, ह्यंः गर्यः । वाजेभिर्वाजिनी वती (ऋ० १।३।१०)॥

माषार्थ:—[वृषादीनाम्] वृषादि शब्दों के [च] भी आदि को उदात्त होता है।। वृषादि गण आकृतिगण है। इनमें वृष शब्द इगुपघ० (३।१।१३४) से कप्रत्ययान्त तथा अन्य सब शब्द पचाद्यच् (३।१।१३४) प्रत्ययान्त हैं, अतः अन्तोदात्त स्वर प्राप्त था। वाज शब्द घवन्त हैं, उसे कषित्तो० (६।१।१५३) से अन्तोदात्त प्राप्त था, आद्युदात्त कह दिया, आगे भिस् विभक्ति आकर वाजेभिः बना।।

0

संज्ञायाम्रपमानम् ॥६।१।१९८॥

संज्ञायाम् ७११॥ जपमानम् १११॥ अनु०—आदिः, उदात्तः श्रर्थः—उपमानशब्दः संज्ञायामायुद्क्तो अवति ॥ उदा०—चर्चा, क् ध्रिका, लर्रकुटी, दासी ॥

भाषार्थ: [उपमानम्] उपमानवाची शब्द को [संज्ञायाम्] सं विषय में आद्युदात्त होता है ।। संज्ञायाम् (५१२१६७) से चक्रा आं शब्दों में कन् प्रत्यय होकर लुम्मनुष्ये (५१३१९८) से लुप् होता है। सभी उपमानवाची शब्द हैं। इन सब में अपना मूल स्वर अन्तोक्ष है। जब ये शब्द उपमानवाचक होते हुए किसी के लिये संज्ञा रूपं प्रवृत्त होते हैं, तब इस सूत्र का विषय होता है।।

यहाँ से 'संज्ञायाम्' की अनुवृत्ति ६।१।१६६ तक जायेगी।।

निष्ठा च द्वचजनात् ॥६।१।१९९॥

निष्ठा १११॥ च अ०॥ द्वयच् १११॥ अनात् १११॥ स०—द्वौ अनं यस्मिन् तत् द्वयच्, वहुव्रोदिः । न आत् अनात्, नव्यतत्पुरुषः ॥ अतु० संज्ञायाम्, आदिः, उदात्तः ॥ अर्थः—निष्ठान्तं च द्वयच् संज्ञायां विषे आद्युदात्तं भवति, न त्वाकारः ॥ उदा०—दत्तंः, गुप्तः, बुद्धः ॥

भाषार्थः—[निष्ठा] निष्ठान्त शब्द जो [द्वचच्] दो अचों वाला उसी [च] भी आदि को उदात्त होता है, [अनात्] आकार को छोड़कर, अभी उदात्तभावी आकार न हो ।। दत्तः की सिद्धि भाग १ पृ० ९१२ में देवें गुप्तः गुपू रक्षणे धातु से तथा बुद्धः बुध अवगमने धातु से बना है। इन आदि शब्द निष्ठान्त दूचच् हैं, अतः आद्युदात्त हो गया है।। प्रत्या स्वर (३।१।३) का अपवाद यह सूत्र है।।

ग्रुष्कपृष्टौ ॥६।१।२००॥

ग्रुष्कधृष्टौ १।२॥ स॰—ग्रुष्क० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—आर्षि उदात्तः ॥ अर्थः—ग्रुष्क धृष्ट इत्येतावाद्युदात्तौ भवतः ॥ उदा०—ग्रुष्क अतुसं न ग्रुष्कम् (ऋ० ४।४।४), धृष्टः ॥

भाषार्थः — [शुष्कधृष्टो] शुष्क तथा धृष्ट शब्द को आद्युदात्त होता है।
पूर्व सूत्र, से ही सिद्धः था, पुनः असंज्ञा विषय में भी हो जाये इस्रिं
यह सूत्र है ।। शुष शोषणे धातु से शुषः कः (८।२।५१) से निष्टा

पादः] , पष्टोऽध्यायः

प्रधाः

ति:।

व

संब

आं

1:

ोदाः

ज्य :

अरं

3H

धि

दर्श

त्यव

ाहिः पुष्क

意

नि

33

'क' आदेश करके शुष्कः शब्द बनता है। भृष्टः में विभृषा धातु है, निष्ठा को ष्टुत्व करके भृष्टः बन जायेगा।।

आश्चितः कर्त्ता ॥६।१।२०१॥

आशितः १११। कर्ता १११। अनु०—आदिः, उदात्तः ॥ अर्थः— आशितशब्दः कर्त्तृवाची आद्युदात्तो भवति ॥ उदा०—आशिं<u>तो</u> देवदत्तः ॥ कृषन्निरफाल् आशिंतम् (ऋ० १०११९७७) ॥

माषार्थः—[कर्ता] कर्त्तृवाची [आश्रितः] आश्रित शब्द को आद्यु-दात्त होता है।। 'आङ् पूर्वेक अश भोजने घातु से कर्त्ता कारक में क निपातन से हो' ऐसा भाष्य में कथित होने से यहाँ कर्त्ता में क्त हुआं है।। 'अश' घातु सकर्मक है कर्म की अविवक्षा होने पर घातु अकर्मक हो जाती है अतः कर्त्ता में क्त हुआ।। याथपन्ता० (६।२।१४३) से अन्तोदात्त की प्राप्ति थी, आद्युदात्त कह दिया।।

रिक्ते विभाषा ॥६।१।२०२॥

रिक्ते ७।१॥ विभाषा १।१॥ अनु०—आदिः, उदात्तः॥ त्रर्थः— रिक्तशब्दे विभाषा आदिरुदात्तो भवति ॥ उदा०—रिक्तः, रिक्तः॥

भाषार्थः—[रिक्ते] रिक्त शब्द में [विभाषा] विकल्प से आद्युदात्तत्व होता है ।। रिचिर विरेचने धातु से क्त में रिक्तः बना है ॥

यहाँ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति ६।१।२०३ तक जायेगी।।

जुष्टार्पिते च च्छन्दिस ॥६।१।२०३॥

जुष्टार्पिते १।२॥ च अ०॥ छन्द्सि ७।१॥ स०—जुष्टा० इत्यत्रेतरेतर-इन्द्रः॥ अनु०—विभाषा, आदिः, उदात्तः॥ ऋर्थः—जुष्ट अर्पित इत्येते शब्दरूपे विकल्पेन छन्द्सि विषये आद्युदात्ते भवतः॥ उदा०—जुष्टंः, जुष्टः। अर्पि'तः, अर्पितः॥

ं भाषार्थ:—[जुष्टापिते] जुष्ट तथा अर्पित इन शब्दों को [च] भी [अन्दिस] वेद विषय में विकल्प से आद्युदात्त होता है ॥ प्रत्यय स्वर का अपवाद यह सूत्र है, अतः पक्ष में प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त ही होता है ॥

यहाँ से 'जुष्टापिंते' की अनुवृत्ति ६।१।२०४ तक जायेगी ॥

नित्यं मन्त्रे ॥६।१।२०४॥

नित्यम् १।१।। सन्त्रे ७११।। श्रनु ० — जुष्टार्पिते, आदिः, उदात्तः॥ अर्थः — जुष्ट अर्पित इत्येते शब्दरूपे मन्त्रविषये नित्यमाद्युदात्ते भवतः॥ उदा ० — जुष्टं देवानाम् , अर्पि तं पितृणाम् ॥

भाषार्थ:—जुष्ट अर्पित इन शब्दों को [मन्त्रे] मन्त्र विषय में [नित्यम्] नित्य ही आद्युदात्त होता है।। छन्द से वेद ब्राह्मण आदि का प्रहण होता है तथा मन्त्र से केवल मन्त्रों का ही। परन्तु गौणी वृत्ति से मन्त्र शब्द से ब्राह्मण और उपनिषद् में आये विशिष्ट वचनों का भी प्रहण होता है।।

युष्मदस्मदोर्ङसि ॥६।१।२०५॥

युष्मद्स्मदोः ६।२॥ ङसि ७।१॥ स० — युष्मद् च अस्मद् च युष्मः द्स्मदी, तयोः इतरेतरद्वन्द्वः॥ श्रवुः — आदिः, उदात्तः॥ श्रर्थः — युष्मद् अस्मद् इत्येतयोः शब्दयोः ङसि परत आदिष्ट्वात्तो भवति॥ उदा० – तवं स्वम्, ममं स्वम्। महिषस्तवंनो ममं॥

भाषार्थ:—[युष्मदस्मदो:] युष्मद् अस्मद् शब्दों के आदि को [ङिस] ङस् परे रहते उदात्त होता है ॥ युष्यसिभ्यां मदिक् (उणा० १११.९) इस उणादि से युष्मद् अस्मद् शब्द मदिक् प्रत्ययान्त हैं, अतः प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त हैं, उन्हें ङस् परे आद्युदात्त कह दिया॥ तम् मम की सिद्धि भाग१ पृ० ८४३ में देखें॥

यहाँ से 'युष्मदस्मदोः' की अनुवृत्ति ६।१।२०६ तक जायेगी।।

डिय च ॥६।१।२०६॥

ङिय ७।१॥ च अ०॥ अनु०---युष्मद्समदोः, आदिः, उदातः॥ अर्थः--ङिय च परतो युष्मद्समदोरादिरुदात्तो भवति ॥ उदा०-तुभ्यंम्, मह्यंम्। तुभ्यं हिन्नानः (ऋ० २।३६।१), मह्यं वार्तः पवताम्॥

भाषार्थ:—[ङिय] ङे विभक्ति परे रहते [च] भी युष्मद् असर्ष् को आद्युदात्त होता है।। तुभ्यमहा ङिय (७।१।९५) से ङे परे रहते युष्मद् अस्मद् को क्रमशः तुभ्य महा आदेश होकर तथा 'हे' की डे प्रथमधोरम् (७।१।६८) से अम् आदेश होकर तुभ्यम् महाम् बनते हैं।। ' यमः

: 11

: 11

में

गिद

चि

भी

धा-

मद्

H]

9)

यः

तव

11

11

र्द

इते

को

TAL

यतोऽनावः ॥६।१।२०७॥

यतः ६११॥ अनावः ५११॥ स०—न नौः, अनौः तस्मात्, "नन्तत्पुरुषः ॥। श्रनु०—आदिः, उदात्तः । निष्ठा च द्वन्य० (६१११९९) इत्यतः
'द्वयन्' अनुवर्त्तते मण्डूकप्तुतगत्या ॥ श्रर्थः—यत्प्रत्ययान्तस्य द्वन्यः
आदिरुदात्तो भवति, न चेत् नौशन्दात् परो भवति ॥ उदा०—चेर्यम्,
जेर्यम् युक्षन्त्यंस्य काम्या (ऋ० ११६१२) ॥

भाषार्थः—[यतः] यत् प्रत्ययान्त जो दो अचों वाले शब्द उनको आद्युदात्त होता है, [अनावः] नौ शब्द को छोड़कर, अर्थात् यत् प्रत्ययान्त जो दो अचों वाला 'नाव्यम्' शब्द है उसे आद्युदात्त न हो।। काम्या में कमेणिङ् (३।१।३०) से णिङ् प्रत्यय होकर 'कामि' धातु बन गई, तब अचो यत् (३।१।६७) से यत् प्रत्यय हुआ है। णेरानिट (६।४।५१) से णिङ् के 'इ' का छोप हो ही जायेगा।। यह सूत्र तित्व-रितम् (६।१।१७६) का अपवाद है।।

ईडवन्दवृशंसदुहां ण्यतः ॥६।१।२०८॥

ईडवन्दवृशंसदृहाम् ६।३॥ ण्यतः ६।१॥ स०—ईडवन्द० इत्यन्नेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—आदिः, उदात्तः ॥ अर्थः —ईड, वन्द, वृ, शंस, दुह
इत्येतेषां यो ण्यत् तदन्तस्यादिरुदात्तो भवति ॥ उदा०—ईड्यम् ।
ईड्यो नूतंनैरुत (ऋ० १।१।२) । वन्यंम् । आजुह्वान ईड्यो वन्यंश्व
(ऋ० १०।११०।३) । वार्यम् । श्रेष्ठं नो चेहि वार्यंम् (ऋ० १०।२४।२) ।
शांस्यम् , उक्क्थमिन्द्राय शंस्यंम् (ऋ० १।१०।५) । दोह्यां घेनुः ॥

भाषार्थ: —[ईड : 'दुहाम्] ईड, वन्द, वृ, शंस, दुह इन घातुओं का जो [रायत:] ण्यत् , तदन्त शब्द को आद्युदात्त होता है ॥ ऋहलोएर्यत् (शशश्य) से ण्यत् प्रत्यय सर्वत्र हुआ है । तित्त्वरितम् (६।१।१७९) की प्राप्ति थी, तदपवाद है ॥

विभाषा वेण्विन्धानयोः ॥६।१।२०९॥

विभाषा १।१॥ वेण्विन्धानयोः ६।२॥ स०—वेण्वि० इत्यन्नेतरेतर-द्वन्द्वः ॥ अनु०—आदिः, उदात्तः ॥ अर्थः—वेणु इन्धान इत्येतयोर्वि-कल्पेनादिरुदात्तो भवति ॥ उदा०—वेणुंः, वेणुः । इन्धानः, इन्धानः, इन्धानः । इन्धानो अग्निम् (ऋ० २।२५।१) ॥

भाषार्थ:-[वैरिवन्धानयोः] वेणु, इन्धान इन शब्दों के आदि के [विभाषा] विकल्प से उदात्त होता है।। वेगा अञ्द अजिवृशीभ्यो नित (उगा० ३।३८) से णु प्रत्ययान्त है। नित्वत् होने से न्नित्यादिनिः (६।१।१६१) से पक्ष में आद्युदान्त भी होता है। निइन्धी धात से इन्धान शब्द भी ताच्छील्यवयो० (३१२११२६) से चानश् प्रत्ययान्त है. अतः पक्ष में चितः (६।१।१५७) से अन्तोदान्त होगा। यदि इन्धान शब्द को शानच् प्रत्ययान्त मानें तो शानच् के परे रहते श्नम् विकरण होगा तो इ न न्ध् आन इस अवस्था में श्नाचलापः (६१४१२३) से 'न्' का लेप होगा । 'सति शिष्टोऽपि विकरणस्वरो लसावेधातुकस्वरं न वाधते' से शान्य को चित् होने से अन्तोदात्त प्राप्त होगा, किन्तु 'तन्मध्यपतितस्त द्महणेत यहाते' (किसी धातु या प्रातिपदिक के मध्य में पड़ा शब्द जिसके मण में पड़ा है उसके प्रहण से गृहीत होता है) न्याय से धात्वन्तर्गत मानक इन्ध के अनुदात्तेत् होने से तास्यनुदात्तेत्० (६११११८०) से छसार्वधातुक अनुदात्त होगा और श्तम् विकरण प्रत्यय स्वर से उदात्त होगा। पुनः रनम् विकरण के अकार का लोप रनसोरह्वोपः (६।४।१११) से अनुदान 'आन' के परे रहते हो जाता है, अतः अनुदात्तस्य च यत्रो० (६।१।१५५) द्वारा उदात्त निवृत्ति स्वर से मध्योदात्त स्वर होगा। दोनों प्रकार के चिह्न उपर्युक्तं उदाहरणों में दिखा दिये हैं। चानश् शानच् दोनें में इसी प्रकार सिद्धि होगी, केवल स्वर में उपर्युक्त भेद रहेगा ॥ यहाँ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति ६।१।२१० तक जायेगी।।

त्यागरागहासकुहश्वढऋथानाम् ॥६।१।२१०॥

त्यागः नाम् ६।३॥ स०—त्याग० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ अवु० विभाषा, आदिः, उदात्तः॥ अर्थः—त्याग, राग, हास, कुह, श्वठ, कथ इत्येतेषामादिरुदात्तो भवति विकल्पेन॥ उदा०—त्यार्गः, त्यागः। रागः, रागः। हासः, हासः, कुहः, कुहः। श्वठः, श्वठः। क्रथः, कृथः॥

भाषार्थः—[त्याग नाम्] त्याग, राग, हास, कुह, श्वठ, ऋग इते शब्दों के आदि को विकल्प से उदात्त होता है।। त्याग, राग, हास घवान्त शब्द हैं, अतः कर्षात्वतो घवो० (६।१।१५३) से अन्तोदात्त प्राप्त था जो कि पक्ष में हो गया। कुह, श्वठ, ऋग भी पचाद्यच् (३।१।१३४) प्रत्ययान्त हैं, अतः पक्ष में ग्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त होता है।।

पादः]

थमः

को

नित्

निं

से

& hor

गन

ोगा

होप

नच्

णेन

ध्य

秋

तुक

नः

(社)

के

नों

2

त

H

R

१०३ .

उपोत्तमं रिति ।।६।१।२११।।

डपोत्तमम् १११॥ रिति ७।१॥ स०—रेफ इत् यस्य स रित् तस्मिन् रिति, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—उदात्तः ॥ सौवर्यः सप्तम्यस्तदन्तसप्तम्यो भवन्तीति नियमात् रिद्न्तस्य इत्यर्थो भवति ॥ अर्थः—रिद्न्तस्य उपोत्त-ममुदात्तं भवति ॥ उदा०— कृर्णीयंम् , ह्रणीयंम् , पुटुजातीयंः, मृदु-जातीयंः ॥

भाषार्थ:—[रिति] रेफ इत् वाले शब्द के [डपोत्तमम्] उमोत्तम को उदात्त होता है।। करणीयं हरणीयं में अनीयर् (३।१।६६) रित् प्रत्यय हुआ है, अतः तदन्त शब्द का उपोत्तम उदात्त हुआ है। पटु-जातीयः आदि में प्रकारवचने जातीयर् (५।३।६९) से जातीयर् रित् प्रत्यय हुआ है।। तीन या तीन से अधिक स्वरों वाले शब्दों का अन्त्य अक्षर उत्तम कहाता है, उसके समीप वाला पूर्व वर्ण उपोत्तम होता है। देखें भाग २ सूत्र ४।१।७००।।

यहाँ से 'उपोत्तमम्' की अनुवृत्ति ६।१।२१२ तक जायेगी।।

चङचन्यतरस्याम् ॥६।१।२१२॥

चिक्क । १।। अन्यतरस्याम् ७।१॥ अनु०--उपोत्तमम्, उदात्तः॥ अर्थः--चङन्तस्याऽन्यतरस्यामुपोत्तममुदात्तं भवति॥ उदा० –मा हि चीकुरत्तंःम्, मा हि चीकर्रताम्॥

भाषार्थ:—[चिङ] चड्डन्त शब्द के उपोत्तम को [अन्यतरस्याम्] विकल्प करके उदात्त होता है।। अचीकरत् की सिद्धि भाग १ पृ० ८२३ में की है। ठीक उसी प्रकार यहाँ द्विचचन तस् को तस्थस्थ०(३।४।१०१) से ताम् आदेश होकर तथा न माङ्योगे (६।४।७४) से अट्र का निषेध होकर 'चीकरताम्' बना है। चीकरताम् के 'हि' से उत्तरवर्ती तिङ्डन्त होने से, तिङ्ङ्विङ: (८।१।२८) से प्राप्त निघात का हि च (८।१।३४) से प्रतिषेध होता है। ताम् लसावधातुक को चङ्को अदुपदेश मानकर तास्य उदात्ते (६।१।१८०) से अनुदात्त हो गया, तब प्रत्यय खर, से चङ्का अ जो 'र्' में मिला है, उसको ही उदात्त प्राप्त था, प्रकृत सूत्र ने चङ्कत अर्थात् 'चीकर' इतने शब्द के उपोत्तम को उदात्त कृह दिया अतः 'क' का 'अ' उदात्त हो गया; पक्ष में र प्रत्यय खर से उदात्त होगा ही।।

प

f

Ţ

Ų

मतोः पूर्वमात्संज्ञायां स्त्रियाम् ॥६।१।२१३॥

मतोः ५११॥ पूर्वेस् १११॥ आत् १११॥ संज्ञायाम् ७११॥ स्त्रियाम् ७११ अनु०—उदात्तः ॥ अर्थः—मतोः पूर्वो य आकार स उदात्तो भवि तच्चेत् मत्वन्तं शब्द्रह्मपं स्त्रीलिङ्गे संज्ञा स्यात् ॥ उदा०—उद्गुम्ब्राक्षे पुष्कुरावंती, बोरणावंती, शुरावंती ॥

भाषार्थः—[मतोः] मतुप् से [पूर्वम्] पूर्व [म्नात्] आकार को उदार होता है, यि वह मत्वन्त शब्द [स्वयाम्] स्त्रीलिङ्ग में [संज्ञायाम्] संज्ञा विषयक हो तो ।। उदुम्बरावती आदि शब्द स्त्रीलिङ्ग में हैं, त्या किन्हीं निद्यों की ये संज्ञायें हैं, अतः मतुप् से पूर्व आकार के उदात्त हो गया है। मतुप् के म को व् संज्ञायाम् (८१२१११) से हुव है। चातुर्श्यिक नद्यां मतुप् (४१४१८४) से मतुप् हुआ है। मतुप् पे रहते पूर्व को मतो बहुचो० (६१३११९७) से दीर्घ हुआ है। शरावती में शरादिनां च (६१३१११८) से होता है।। ङीप् (४१११६) के पित् हों से अनुदात्तत्व है।।

यहाँ से 'संज्ञायाम्' की अनुवृत्ति ६।१।२१५ तक जायेगी।।

अन्तोऽवत्याः ॥६।१।२१४॥

अन्तः १।१॥ अवत्याः ६।१॥ अनु०—संज्ञायाम्, उदात्तः ॥ अर्थः-अवतीशब्दान्तस्य संज्ञायां विषयेऽन्त उदात्तो भवति ॥ उदा०—अर्जिः वती, खदिर्तती, हंसवती, कार्ण्डवती ॥

भाषायः— [अवत्याः] अवती शब्दान्त को संज्ञा विषय में [श्रन्तः] अव उदात्त होता है ।। उपर्युक्त उदाहरण संज्ञा विषय में हैं, तथा अवती शब्ध अन्त में है ही ।। डीप् प्रत्यय के पित् होने से अनुदात्तत्व प्राप्त ध उसे इस पूत्र से उदात्त कह दिया ।।

यहाँ से 'अन्तः' की अनुवृत्ति ६।१।२१७ तक जायेगी।।

ईवत्याः ॥६।१।२१५॥

्ईवत्याः ६।१॥ श्रनुः — अन्तः, संज्ञायाम्, उदात्तः॥ श्रर्थः ईवतीशब्दान्तस्यान्त उदात्तो भवति संज्ञायां विषये॥ उदाः — अहीवती स्कृषीवती, सुनीवती॥

भाषार्थः--[ईवत्याः] ईवती शब्दान्त शब्द को संज्ञा विषय में अर्व

9/2

ावति, (विती)

उदार याम्

तथा र बे

हुअ

पो

ती में

होने

अन्त

वि

धा

ाती,

उदात्त होता है।। पूर्ववत् म को व तथा शरादीनां च (६१३१११८) से दीर्घत्व जानें।। पूर्ववत् अनुदात्तत्व की प्राप्ति थी, उदात्त कह दिया।।

चौ ॥६।१।२१६॥

चौ ७।१।। अनु०—अन्तः, उदात्तः ।। अर्थः—अञ्चतेः नकाराकारलोपं कृत्वा 'चौ' इति निर्देशः ।। चौ परतः पूर्वस्यान्त उदात्तो भवति ॥ उदा०—दुधीर्चः पश्य, दुधीर्चा, दुधीर्चे । मुधूर्चः, मुधूर्चा, मुधूर्चे ॥

मार्गर्थः—अञ्चु धातु के अकार नकार का लोप करके जो 'चु' रूप रहता है, उसका यहाँ सप्तमी से निर्देश है।। [ची] चु परे रहते पूर्व को अन्त उदात्त होता है।। दृष्यक्रन्तिति तान् दृधीचः। यहाँ दृधि उपपद रहते अञ्चु धातु से किन् (३।२।५९) हुआ है। गितकारकोपपदात्० (६।२।१३२) से उत्तरपद प्रकृति स्वर होने पर अञ्चु का अ धातुस्वर से उदात्त है, अनिदितां० (६।४।२४) से नकार लोप हो गया, तथा किन् का सर्वापहारी लोप होकर अजादि असर्वनामस्थान शस्, टा आदि विभक्ति परे रहते अञ्चु के उदात्त अकार का अचः (६।४।१३८) से लोप हो गया। अनुदात्ती० (३।१।४) से विभक्ति अनुदात्त थी, अतः अनुदात्त विभक्ति परे रहते उदात्त 'अ' का लोप होने से अनुदात्तस्य० (६।१।१५५४) से उदात्त निवृत्ति स्वर अर्थात् विभक्ति को उदात्त प्राप्त था, तद्पवाद यह सूत्र है। इसी प्रकार मधूचः आदि में समझें।। चु से पूर्व दृधि एवं मछु है, सो उसके अन्त इकार उकार को उदात्त तथा चौ (६।३।१३६) से दीर्घ हो गया।।

समासस्य ॥६।१।२१७॥

समासस्य ६।१॥ अनुः—अन्तः, उदात्तः ॥ श्रर्थः—समासस्यान्त उदात्तो भवति ॥ उदाः—राजुपुरुषः, ब्राह्मणकम्बरुः, कृन्यास्वृतः, पटहुशुब्दः, नद्दीघोषः, राजुपृषत् , ब्राह्मणसुमित् ॥

भाषार्थ:—[समासस्य] समास का अन्त उदात्त होता है।। समास के भिन्नं भिन्न पदों को पृथक २ स्वर प्राप्त होते हैं, इस सूत्र से समास का एक ही स्वर अन्तोदात्त विधान कर दिया, अन्यथा राजपुरुषः आदि में यथाप्राप्त 'राजन' पद का अलग स्वर एवं 'पुरुष' का अलग स्वर होता, अब सब हटकर अन्तोदात्त ही होगा।। उदात्तादि स्वरं अचों का ही धमें है, अतः जो अच् अन्त में होगा उसे ही स्वर होगा, अन्त में हलू होते

[प्रथमान

30

सर सप्त

श्येन

मुहू

ह्या

वण

एत

अत

पर उसे नहीं होगा, जैसा कि 'ब्राह्मणसमित्' आदि में है। यहाँ र अव अन्त में होने पर भी त्के हल् होने से मि के 'इ' को उदात्त हो अनु त् को नहीं हो सकता।। सप्त

विशेष:—आगे छठे अध्याय का सम्पूर्ण द्वितीय पाद इस समासन्त

स्त्र का ही अपवादक्ष कहेंगे ॥

॥ इति प्रथमः पादः॥

-:0:-

द्वितीयः पादः

[प्रकृतिस्वरप्रकरण्म्]

वहुत्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥६।२।१॥

बहुवीहौ ७।१॥ प्रकृत्या ३।१॥ पूर्वपदम् १।१॥ श्रर्थः — बहुवी समासे पूर्वपदस्य यः स्वरः स प्रकृत्या भवति, न विकारमनुदात्तत्वमापि है। इत्यर्थः ॥ उदा०—कार्जो त्तरासङ्गाः, यूपवलजः, ब्रह्मचारिपरिका अध्यापंकपुत्रः, श्रोत्रियपुत्रः, मृनुष्यंनाथः, स्त्यक्रि श्रंवस्तमः ॥

भाषार्थः-[बहुत्रीहौ] बहुत्रीहि समास में [पूर्वपदम्] पूर्वपद [प्रकृत्या] प्रकृति स्वर होता है।। 'समासस्य' से समास को अन्तीवा होकर शेष पद अनुदात्त (६।१।१५२) होने से पूर्वपद को अनुदा्त ही होता, अब प्रकृतिस्वर विधान करने से, पूर्वपद का समास करते पूर्व जो स्वर था वही हो जावेगा, अन्तोदात्तत्व (६।१।२१७) नहीं होगा उत

यहाँ से 'प्रकृत्या' की अनुवृत्ति ६।२।६३ तक तथा 'पूर्वपदम्'

६।२।१०६ तक जायेगी।।

उदाहरणों में पूर्वपद के स्वरों की सिद्धि परिशिष्ट में देखें। तत्पुरुषे तुल्यार्थेतृतीयासप्तम्युपमानाच्ययद्वितीया-

तंत्पुरुषे ७।१॥ तुल्यार्थः । द्वत्याः १।३॥ स०—तुल्योऽर्थो गर्भः तत् तुल्यार्थम् , बहुत्रीहिः । तुल्यार्थस्य नृतीया च सप्तमी च उपमान

1 4

ोदाः

त्भाव्ययक्च द्वितीया च कृत्याश्च तुल्याः ''कृत्याः, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ हित्रमुन् प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः — तत्पुरुषे समासे तुल्यार्थं, तृतीयान्तं, सप्तम्यन्तम् , उपमानवाचि, अव्ययं, द्वितीयान्तं, कृत्यान्तं च यत् पूर्वपदं । स्त्रम्यन्तम् , उपमानवाचि , अव्ययं , द्वितीयान्तं, कृत्यान्तं च यत् पूर्वपदं । स्त्रमहान् , सृद्धक्ष्वेतः, सृद्धक्ष्यं । उत्या — तृत्यार्थं — तुल्यं रवेतः , सृद्धक्ष्यं । स्त्रमी — अक्ष्यो पडः पानेशोण्डः । उपमानवाची — श्वस्त्रीश्योमा, कुर्मुद्रश्येती, हं सर्गद्गदा, न्ययोधंपरिमण्डला, दूर्वाकाण्डंश्यामा, श्वरकाण्डं-गौरी । अव्यय — अत्रीह्यणः, अर्थुष्ठः, कुर्न्राह्मणः, कुर्नृपलः, निर्वाराणिसः, निष्कौ शाम्बः, अतिस्वद्वः, अतिमालः । द्वितीया — सृद्दुर्त्तसुंखम् , सुद्दुर्त्तरमणीयम् , सूर्वरात्रकंल्याणी सूर्वरात्रशेभना । कृत्य — भोज्यो - कृत्य स्त्रमेल्याणी सूर्वरात्रशेभना । कृत्य — भोज्यो - कृत्य — भोज्यो - स्त्रमेल्याणम् , मोज्येलवणम् , पानीयंशीतम् , हर्णीयंचूर्णम् ॥

भाषार्थः — [तत्पुरुषे] तत्पुरुष समास में [तुल्यार्थः '''क्रत्याः]
त्रुवे उत्य अर्थ वाले, तृतीयान्त सप्तम्यन्त उपमानवाची अन्यय द्वितीयान्त
हुवी तथा कृत् प्रत्ययान्त जो पूर्वपद में स्थित शब्द हैं, उन्हें प्रकृति स्वर होता
है।। अन्यय से यहाँ नञ् कु और निपातों का ही प्रहण होता है,
किन् अन्यय सामान्य का नहीं। पूर्वपद का स्वर परिशिष्ट में देखें।

यहाँ से 'तत्पुरुषे' की अनुवृत्ति ६।२।२४ तक जायेगी।।

वर्णो वर्णेष्वनेते ॥६।२।३॥

वर्णः १।१॥ वर्णेषु ७।३॥ अनेते ७।१॥ स०--न एतोऽनेतस्तस्मिन्, स्वित्त्वत्युरुषः ॥ अनु० —तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपद्म् ॥ अर्थः —वर्णवाचिनि वित्तरपदे एतशब्दवर्जिते तत्पुरुषे समासे वर्णवाचि पूर्वपदं प्रकृत्या भवति ॥ विद्याः —कृष्णसारङ्गः, लोहितसारङ्गः, कृष्णकेल्माषः, लोहितकल्माषः॥

भाषार्थः—[वर्णेषु] वर्णवाची शब्द के उत्तरपद में रहते [वर्णः]
वर्णवाची पूर्वपद को तत्पुरुष समास में प्रकृतिस्वर हो जाता है, [अनेते]
एत शब्द यदि उत्तरपद में न हो तो।। एत शब्द भी वर्णवाची है,
अतः उसका निषेध कर दिया।। कृषेर्वर्णे (उत्पा० ३।४) इस उणादि सूत्र
से कृष्ण शब्द नक् प्रत्ययान्त है, अतः प्रत्यय स्वर से उदाहरणों में
पूर्वपद स्थित कृष्ण शब्द अन्तोदात्त रहा। रहे रश्च लो वा (उत्पा० ३।६४)

पूर्व

से छोहित शब्द तन् प्रत्ययान्त है, अतः विनत्याः (६।१।१६६) द आद्युदात्त है। उदाहरणों में वर्णी वर्णन (२।१।६८) से स्व हुआ है।। 11

गाधलवणयोः प्रमाणे ॥६।२।४॥

ना गाधलवणयोः ७१२॥ प्रमाणे ७११॥ स०—गाधश्र लवणञ्च गाक्वा तयोः इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु - तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपत्रह श्रर्थः -- प्रमाणवाचिनि तत्पुरुषे समासे गाध लवण इत्येतयोः उत्तराको पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा० - शम्बंगाधमुद्कम् , अरिन्नावस् दकम् , गोलंबणम् , अश्वंलबणम् ॥

भाषार्थः — [प्रमाणे] प्रसाणवाची तत्पुरेष समास में [गाधलवह गाध लवण इन शब्दों के उत्तरपद रहते पूर्वपद को प्रकृति स्वर होता शमेर्बन् (उसा० ४१९४) से शम्ब शब्द बन् प्रत्ययान्त है, अतः नि से आद्युदात्त है। अरित्र शब्द अर्तिलूधू० (३।२।१८४) से इत्र प्रवाहर है, अतः प्रत्ययस्वर से मध्योदात्त है। गो शब्द निपद (जणा॰ २१६७) से डो प्रत्ययान्त प्रत्ययस्वर से उदात्त है। उद शब्द अशुप्रविलिटिः (उणाः १११५१) से कन् प्रत्ययान्त हों (६।१।१६१) आद्युदात्त है। पूर्वपद के सारे स्वर दर्शा दिये हैं, प्रह स्वर होने से यही स्वर होंगे।। उदा०-शम्बंगाधमुदकम्, अस्व गाधमुद्कम् (नौका के डाँडे भर गहरा जल), गोलंबणम् (जितना उस गाय को दिया जाता है उतना नमक)। अश्वंखवणम् (जितना सि घोड़े को दिया जाता है उतना नमक) सर्वत्र उदाहरणों में प्रमानि प्रतीति हो रही है, षष्टी समासवाले ये शब्द हैं।। नह

दायाद्यं दायादे ॥६।२।५॥

दायाद्यम् १।१॥ दायादे ७।१॥ अनुः—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपर्धा दातव्यो दायः, भागो अंश इत्यर्थः । दायमादन्ते इति दायादः, मूर्व जादित्वात् (वा० ३।२।४) कप्रत्ययः । दायाद्स्य भावो दाया अर्थः—दायाद् शब्द् उत्तरपद् तत्पुरुषे समासे दायाद्यवाचि प्रकृतिस्वरं भविद्य।। उदाः—विद्यादायादः, धर्नदायादः॥

भाषार्थः—[दायादे] दायाद् शब्द उत्तरपद् रहते तत्पुर्ष समि

नवरः

ोता

ाद्यम

१६१ दायाद्यम्] दायाद्य वाची पूर्वपद को प्रकृति स्वर होता है । संज्ञायां समसे अनिषद० (३।३।६६) से विद्या अब्द क्यप् प्रत्ययान्त है । उस सूत्र में
उदात्त की अनुवृत्ति आने से क्यप् उदात्त है, अतः विद्या शब्द अन्तोात्त रहा । कृप्वृजिमन्दिनिधाक्यः क्युः (उसा० २।८१) इससे उजादि
कार्य बहुल से होने से केवल धान्य धानु से भी क्यु प्रत्यय होकर धन
गाक्ताब्द बनता है, अतः प्रत्ययस्वर से धन शब्द आद्युदात्त है । क्यु परे
विकाहते 'धा' के आ का आतो लोप इटि च (६।४।६४) से लोप तथा यु
तस्को अन (७।१।१) हो ही जायेगा ।। पूर्वेजों से प्राप्त करने योग्य
रेत्रावस्तु दायाद्य कहाती है । उदा०—िव्दाद्यादाः (विद्या रूपी भाग का
लेने वाला), धनदायादः (धन रूपी भाग का लेने वाला) ।।

प्रतिबन्धि चिरकुच्छ्योः ॥६।२।६॥

प्रतिबन्धि १।१।। चिरकुच्छ्योः ७।२।। स०—चिर० इत्यन्नेतरेतर-नित प्रवाहन्दः ॥ अनु - तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः - चिरकु च्छ्योरुत्तर-न्पदयोः प्रतिवन्धिवाचि पूर्वेपदं प्रकृतिस्वरं भवति, तत्पुरुषे समासे ॥ । उदार नामनिचरम्, गर्मनकुच्छ्म्। व्याहरणचिरम्, व्याहरणकुच्छम्।। हों माषार्थः — [चिरकुच्छ्रयोः] चिर तथा कृच्छ् शब्द् उत्तरपद परे हैं, प्रहते तत्पुरुष समास में [प्रतिवन्धि] प्रतिवन्धिवाची पूर्वपद को प्रकृति अस्वर होता है।। जो कार्य की सिद्धि को बाँध देता है अर्थात् रोकता है ना उसे प्रतिबन्धी कहते हैं। प्रतिपूर्वक वन्ध से आवश्यकाधः (३।३।१७०) तारी आवश्यक अर्थ में णिनि हुआ है। गमनिचरम् आदि उदाहरणों में मा चिरकाल एवं कष्ट से गमन तथा व्याहरण (बोलना) होने से कार्यसिद्धि नहीं हो रही है, शीघ गमन तथा व्याहरण से हो सकती थी, अतः चिरकाळ मावी गमन और व्याहरण कार्यप्रतिबन्धी हैं। इस प्रकार प्रतिबन्धिवाची पूर्वपद है ही।। गमनञ्ज यिचरं च यहाँ सर्वत्र कर्मधारय समास है॥ विकासित व्याहरण शब्द ल्युडन्त हैं, अतः लिति (६११११८७) से प्रत्यय से मूर्व में बदात्त हुआ है।।

पदेऽपदेशे ॥ ६। २। ७॥

पदे ७११।। अपदेशे ७११। स०—अपदेश इत्यत्रे नन्तत्पुरुषः १। अर्थः—अपदेशवाचिनि तत्पुरुषे

समासे पद्शब्द उत्तरपदे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं सवति ॥ उदाः पदेन प्रस्थितः, उचारपंदेन प्रस्थितः ।।

भाषार्थ: - [अपदेश] अपदेशवाची तत्पुरुष समास में [पदे] पर उत्तरपद् रहते पूर्वपद् को प्रकृतिस्वर होता है।। अपदेश व्याजः को कहते हैं।। सूत्र शब्द सिविमुच्योध्टेल च (उणा० ४।१६३) हे प्रत्ययान्त है अतः नित् (६।१।१६१) स्वर से आयुद्गत्त है। उन्ना घन्नन्त है, अतः थायघन्ताः (६।२।१४३) से अन्तोदात्त है ॥ ज मूर्त्रपदेन प्रस्थितः (लघुशंका करने के बहाने चला गया)। उद्या प्रस्थित: (शौच करने के बहाने चला गया) !!

निवाते वातनाणे ॥६।२।८॥

निवाते ७।१॥ वातत्राणे ७।१॥ स० —वातस्य त्राणं वातत्राणं तिस षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु ः — तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपद्म् ॥ अर्थः – वाह वाचिनि तत्पुरुषे समासे निवातशब्द उत्तरपढे पूर्वपदं उदा० —कुट्येव निवातं कुटीनिवातं, श्मीहि कुड्यनिवातम्।।

भाषार्थ: —[वातत्राणे] वातत्राणवाची तत्पुरुष समास में [बि निवात शब्द उत्तरपद रहते पृवंपद को प्रकृति स्वर होता है।। इसी शब्द गौरादिगण पठित होने से ङीषन्त (४।१।४१) हैं, अंतः है स्वर से अन्तोदात्त हुये। कुड्य शब्द कवतेर्ड्यक् से ड्यक् प्रव अन्तोदात्त है अथवा कवतेयंत् डिक् च १ (उणा० ८।२०) से यत् प्रत् होने से यतोऽनावः (६।१।२०७) से आद्युदात्त भी कोई कोई मानी उदा० — कुटीनिवातम् (कुटी की आड़)। शुमीनिवातम् (शमी की कुंड्यनिवातम् (दीवार की आड़)। सर्वत्र दीवार या कुटी की आई से वातत्राण अर्थात् इवा से बचाव होता है, अतः कुड्य आदि है

१. दशपादी उणादिवृत्ति में 'कवतेर्यत् डुक् च' पाठ है उसी की सङ्ख्या दी गई है। काशिका में उपर्युक्त दोनों कवतेर्यत् डिक च एवं कवतेर्ड्यन् इत्येके, अपरे करके कहे हैं। न्यास में यहाँ पर 'ड्यक् प्रत्ययान्तोजनोदार्व इति । ते कवतेर्ड्यगिति सूत्रमधीयते' कहा है ।।

] पह

याजः ३) हे

उचार

।। उद

उच्चा

तिस

- वातः

प्रकृति

मीहि

[fil

कुटी

तः ध

प्रत्य

प्रत्या

नते।

की ह

आई

हे से

इस्मा ज्यंत्र

वाले निवात अर्थ में लक्षणा से वर्तमान कुड्य आदि शब्दों का निवात शब्द के साथ समानाधिकरण तत्पुरुष समास् होता है।।

शारदेऽनार्तवे ॥६।२।९॥

शारदे ७११। अनार्तवे ७११। स०—अनार्तव इत्यत्र नन्तत्पुरुषः ॥ अनु०—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ ऋतौ भवम्, आर्तवम् ॥ ऋशैः—अनार्तववाचिनि शारदशब्द उत्तरपदे तत्पुरुषे समासे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०—रज्जुंशारदमुदकम्, दृषत्शीरदाः सक्तवः ॥ शारदशब्दः प्रत्यप्रवाची ॥

भाषार्थः — [अनार्तवे] अनार्तववाची [शारदे] शारद शब्द उत्तरपद्
रहते तत्पुरुष समास में पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हो जाता है।। ऋतु में जो
होने वाला उसे आर्तव कहते हैं, यहाँ आर्तववाची शारद शब्द परे रहते
निषेध कर दिया है। उदाहरणों में प्रत्यप्र = नवीनवाची शारद शब्द है।
रज्जु शब्द में स्वेरसुम् च (उणा० १११५) से सृज् धातु को असुम्
आगम तथा सृज् के आदि सकार का लोप, एवं उ प्रत्यय होता है।
असुम् आगम अन्त्य अच् से परे होकर 'सृ असुम् ज् उ = ऋ अस् ज् उ
रहा। यणादेश एवं मलां जश् मिश (८१४।५२) से स् को जश्व दकार होकर
तथा स्तोः श्चुना श्चुः से श्चुत्व होकर रच्जु बन गया। स्वेरसुम् च
सूत्र में नित् की अनुवृत्ति आने से रच्जु शब्द न्नित्या० (६१९१९९) से
आबुदात्त हो गया। दृषद् शब्द हृणातेः षुक्० (उणा० ११९३१) से
अदिक् प्रत्ययान्त होने से अन्तोदात्त है। द् को त् खिर च (८१४१४) से
होगा॥ उदा० — रच्जुंशारद मुदकम् (रस्सी से खींचकर तत्काल निकाला
गया जल), दृषत् शंरदाः सक्तवः (शिला पर या चक्की में पीसकर तत्क्षण
बनाया हुआ सन्त्)॥

अध्वर्युकषाययोर्जातौ ॥६।२।१०॥

अध्वर्युकषाययोः ७।२॥ जातौ ७।१॥ स०—अध्व० इत्यत्रेतरेतर-इन्द्रः॥ श्रनु० — तत्पुरुषे, प्रकृत्याः पूर्वपदम्॥ श्रर्थः —अध्वर्युः कषाय इत्येतयोरुत्तरपद्योः जातिवाचिनि तत्पुरुषे समासे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ।। उदा०—प्राच्योध्वर्युः, कठाध्वर्युः, काळापाध्वर्युः, स्विम् षायम्, <u>ड</u>मापुष्पक्षायम्, <u>दौवारि</u>ककंषायम् ॥

भाषाथं: — [श्रध्यर्युकषाययोः] अध्यर्यु तथा कषाय शब्द उत्तरपदाः [जातौ] जातिवाची तत्पुरुष समास में पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हो । है ।। प्राच्य शब्द युप्रागपागु० (४।२।१००) से यत् प्रत्ययान्त हो यतोऽनावः (६।१।२०७) से आद्युदात्त है । कठ शब्द पचायच् प्रत्य होने से प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है । पश्चात् णिनि प्रत्यय एवं होता है, पूरी सिद्धि भाग २ पृ० ५४७ में देखें । कालाप शब्द भी प्रत्ययान्त प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है । पूरी सिद्धि भाग २ पृ० ५४७ में देखें । कालाप शब्द भी प्रत्ययान्त प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है । पूरी सिद्धि भाग १ प्राप्तयान्त प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है । पूरी सिद्धि भाग १ प्राप्तयान्त प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है । पूरी सिद्धि भाग १ प्राप्तयान्त प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है । पूरी सिद्धि भाग १ प्राप्तयान्त प्रत्ययस्वर होने पर क्रमशः अन्तिम अक्षर 'ह' 'प' ही पूर्ववत् अप्रकृतिस्वर होने पर क्रमशः अन्तिम अक्षर 'ह' 'प' ही पूर्ववत् अपरहे । दौवारिक शब्द भी तत्र नियुक्तः (४।४।६९) से ठक् प्रत्ययान्त से कितः (६।१।१५५०) से अन्तोदात्त है ।।

सद्शप्रतिरूपयोः साद्यये ॥६।२।११॥

सहराप्रतिरूपयोः ७१।। साहरये ७।१।। स०—सहरा० इत्येत्रेतीत् द्रन्द्रः ॥ अनु०—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपद्म् ॥ त्रर्थः—सहरा प्रति [इत्येतयोरुत्तरपद्योः साहरयवाचिनि तत्पुरुषे समासे पूर्वपदं प्रकृति (अभवति ॥ उदा०—मानृसंहराः, पिनृह्यंहराः । पिनृष्ठंतिरूपः, मानृपंतिरूप

भाषार्थः—[सहशप्रतिरूपयोः] सहश प्रतिरूप ये शब्द उत्तरम हों तो [साहश्ये] साहश्यवाची तत्पुरुष समास में पूर्वपद प्रकृति होता है।। पितृ मातृ शब्द नमृनेष्टत्वष्ट० (उणा० २।६५) इस हम स्मूत्र से अन्तोदात्त निपातित हैं। पूर्वसहश (२।१।३०) से मातृस व पितृसहशः में समास हुआ है। तृल्याशैंरतु० (२।३।७२) से समात है पष्टी तथा तृतीया विभक्ति होंगी जिनका लुक् (२।४।७१) होगा॥

द्विगौ प्रमाणे ॥६।२।१२॥

द्विगौ ७।१॥ व्यमाणे ७।१॥ अनु - तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपद्धे अर्थः — प्रमाणवाचिनि तत्पुरुषे समासे द्विगावुत्तरपदे पूर्वपदं प्रकृति

[हिं पादः]

20)

हुआ

त् अ

ान्त है

षष्टोऽध्यायः

223

पिर्मेष भवति ।। उदा०—सप्तसमाः प्रमाणमस्येति विष्रहे मात्रच् (४।२।३७) प्रत्ययः, तस्य प्रमाणे लो द्विगोर्नित्यम् (वा०५।२।३०) इत्यनेन तुक्, ततः रपर। प्राच्यश्रासौ सप्तसमश्च इति = प्राच्यंसप्तसमः कर्मधारयः। गान्धारि-हो । सप्तसमः ॥

होते भाषार्थः—[प्रमार्गो] प्रमाणवाची तत्पुरुष समास में [द्विगौ] द्विगु प्रका उत्तरपद रहते पूर्वपद प्रकृतिस्वर होता है।। सप्तसम संख्यापूर्वो द्विगुः एवं (२।१।५१) से द्विगु संज्ञक है, अतः द्विगु उत्तरपद में है। प्राच्य शब्द स्मीः अध्वर्युक्षषाय० (६।२।१०) में कहे अनुसार आद्युदात्त है। गान्धारि शब्द गर कर्दमादीनां च (फिट्० ५६) से आद्युदात्त तथा पक्ष में मध्योदात्त सिंग भी है।।

गन्तव्यपण्यं वाणिजे ॥६।२।१३॥

गन्तव्यपण्यम् १११॥ वाणिजे ७११॥ स०— गन्तव्य० इत्यत्र समा-हारद्रन्द्रः ॥ अनु - तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः - वाणिजशब्द उत्तरपदे तत्पुरुषे समासे गन्तव्यवाचि पण्यवाचि च पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा ० — मद्रवीणिजः, काश्मीरीवाणिजः, गान्धीरिवाणिजः। पण्य-गोर्वाणिजः, अर्श्ववाणिजः ॥

त्रतरि भाषार्थ:—[वाणिजे] वाणिजशब्द उत्तरपद रहते तत्पुरुष समास में प्रितः [गन्तव्यप्रयम्] गन्तव्यवाची (जाने योग्य स्थान) तथा पण्यवाची कृति (क्रयविकय योग्य वस्तु) जो पूर्वपद स्थित शब्द उन्हें प्रकृतिस्वर हो तहा जाता है ॥ मद्र शब्द स्फायितिश्चि (उगा० २।१३) से रक् प्रत्ययान्त होने से प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त है। गान्धारि शब्द का स्वर पूर्व कह कृति आये हैं। काश्मीर शब्द पृषोदरादीनि॰ (६।३।१०७) से मध्योदात्त है। वा गो और अश्व शब्द की सिद्धि सूत्र ६।२।४ में देखें। उदा॰—मद्रवाणिजः मद्र जनपद् का सिद्ध सूत्र दारा४ स द्रखा उपार का ज्यापारी) । पण्य-गोवंणिजः (गाय का ज्यापारी) । पण्य-गोवंणिजः (गाय का ज्यापारी) । पण्य-गोवंणिजः (गाय का ज्यापारी) । पण्य-गोवंणिकः के छिए मद्र देश गन्तज्य है एवं गौ भी पण्य = क्रयविक्रय योग्य है, अतः गन्तज्य एवं पण्यवाची पूर्वपद् शब्द हुए।।

मात्रोपज्ञोपक्रमच्छाये नपुंसके ॥६।२।१४॥ मात्रो जाये ७।१।। नपुंसके ७।१।। स० मात्रो० इत्यत्र समाहार-अनु -तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपद्म्॥ अर्थः -मात्रा, उपज्ञा, उपक्रम, छाया इत्येतेषूत्तरपदेषु नपुंसकवाचिनि तत्पुरुषे समासे पूर्व प्रकृतिस्वरं भवति ।। उदा—ि सिक्षामात्रम् न ददाति याचितः, स्मुक् न सरोऽस्ति किंचन । उपज्ञा-पाणिनोपंज्ञमकालकं व्याक्तः व्याद्यु'ऽपज्ञं दुष्करणम्, आपिंशल्युपज्ञं गुरुलाघवम् । उपक्रम—आक् पंक्रमं प्रासादः, दुर्श्ननीयो पक्रमम्, सुकुम्।रोपंक्रमम्, नुन्दोपंक्रम् मानानि । छाया — इषुंच्छायम्, धनुंश्ङ्वायम् ।।

भाषार्थः—[नपुंसके] नपुंसकवाची तत्पुरुष समास में कि '''छाये] मात्रा, उपज्ञा उपक्रम तथा छाया शब्द उत्तरपद हैं पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है।।

आढ्य आदि शब्दों का स्वर परिशिष्ट में देखें।।

सुखप्रिययोर्हिते ॥६।२।१५॥

सुखित्रययोः ७१२॥ हिते ७११॥ स०—सुख० इत्यत्रेतरेतरदृष् श्रनु०—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः—हितवाचिनि तर्ष समासे सुख प्रिय इत्येतयोरुत्तरपदयोः पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवी उदा०—गर्मनसुखम्, वर्चनसुखम्, ठ्याहरंणसुखम्। प्रिय—वि प्रियम्, वर्चनप्रियम्, ज्याहरंणप्रियम् ॥

भाषार्थः—[हिते] हितवाची तत्पुरुष समास में [सुखिपययोः] तथा प्रिय शब्द उत्तरपद रहते पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हो जाता उदाहरणों में कर्मधारय तत्पुरुष समास है। गमन वचन आदि ल्युडन्त हैं, अतः लिति (६११११८०) से प्रत्यय से पूर्व को उदात्तर शब्दों में है। गमनसुखम् आदि परिणाम में हितकारी हैं, हितवाची तत्पुरुष समास कहाया।।

यहाँ से 'सुखप्रिययोः' की अनुवृत्ति ६।२।१६ तक जायेगी ॥

१. पाणिन शब्द भी पाणिनि का पर्याय है यथा दाशरथ और दिलें काशकृतस्त ग्रीर काशकृतिस्त ॥

२. इस उदाहरण का यह भाव नहीं कि नन्द से पूर्व मान = तीर्त व्यवहार होता ही नहीं था, अपितु इसका अभिप्राय नन्द द्वारा प्रार^{6व} विशिष्ट मान = तौल से है। आयुर्वेद के ग्रन्थों में कलिङ्गमान भीर मार्ग प्रसिद्ध हैं। इनमें मागधमान नन्दोपकम है।।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

पादः]

1

पूर्व

Ţ

U:

I

माः रा

F

male cres

1

1

षष्टोऽध्यायः

994

श्रीतौ च ॥६।२।१६॥

प्रीतौ ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—सुखप्रियंयोः, तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्व-पदम् ॥ अथः—प्रीतौ गम्यमानायां सुख प्रिय इत्येतयोरुत्तरपद्योस्तरपुरुषे समासे प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०—ब्राह्मणसुंखं पायसम्, ब्रात्रप्रियोऽ नध्यायः, कृन्याप्रियो सृदङ्गः ॥

भाषार्थः—[प्रीतौ] प्रीति गम्यमान हो रही हो तो सुख तथा प्रिय उत्तरपद रहते [च] भी तत्पुरुष समास में पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हो जाता है।। ब्रह्मणोऽपत्यं ऐसा विश्रह करके ब्रह्मन् शब्द से अण् प्रत्यय (शिशहर) हुआ है। इसी प्रकार छात्र शब्द भी छ्रत्रादिस्यो गाः (शिशहर) से ण प्रत्ययान्त है, अतः ये दोनों शब्द प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त हैं। कन्या शब्द तिल्यशिक्य० (फिट्०७६) से स्वरितान्त है।। उदा०—ब्राह्म-णसुंखं पायसम् (ब्राह्मणों को खीर प्रिय होती है)। छ्रात्रप्रियोऽनध्यायः (छात्र को अवकाश प्रिय होता है)। कन्यंप्रियो मृदङ्गः (कन्या को मृदङ्ग बजाना प्रिय है)।।

स्वं स्वामिनि ॥६।२।१७॥

स्वम् १।१॥ स्वामिनि ७।१॥ श्रनु०—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम्॥ अर्थः स्वामिन्शब्द उत्तरपदे तत्पुरुषे समासे स्ववाचि पूर्वपदं प्रकृति-स्वरं भवति ॥ उदा०—गोस्वामी, अर्थस्वामी, धर्नस्वामी॥

भाषार्थः—[स्वामिनि] स्वामिन् शब्द उत्तरपद रहते तत्पुरुष समास
में [स्वम्] स्ववाचि पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हो जाता है।। गो अश्व शब्द
की सिद्धि सूत्र ६।२।४ तथा धन की ६।२।४ में देखें। जिसके कारण
स्वामित्व बना हो वह स्व है। गोस्वामी (गायों का स्वामी) आदि • उदाहरणों में गौ इत्यादि स्व हैं।।

पत्यावैश्वर्ये ॥६।२।१८॥

पत्यौ ७।१॥ ऐश्वर्ये ७।१॥ अनु०—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः—ऐश्वर्यवाचिनि तत्पुरुषे समासे पतिशब्द उत्तरपदे पूर्वपदं प्रकृति-खरं भवति ॥ उदा०—सेनं।पतिः, नरंपितः, धान्यंपितः। दृर्मूना गृह-पंति-देमे (ऋ० १।६०।४)॥

भाषार्थ: [ऐश्वर्ये] ऐश्वर्यवाची तत्पुरुष समास में [पत्यों] पी शब्द उत्तरपद रहते पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हो जाता है।। सेनापि (सेना का पति = स्वामी) यहाँ सेना शब्द 'सह इनेन वर्तते' ऐसा कि करके बहुत्रीहि समासवाला है, अतः बहुत्रीही प्रकृत्या० (६।२।१)हे पूर्वपद प्रकृति स्वर होने से निपाता आद्युदात्ताः (फिट् ८०) से आदृष दात्त है। नरंपितः यहाँ नर शब्द में न धातु से ऋदोरप (३।३।४७) से आ प्रत्यय हुआ है, अप् को पित् स्वर से अनुदात्त (३।१।४) तथा धातु नृ वे उदात्त होने से यह आद्युदात्त शब्द है ।। धान्य शब्द ण्यत् प्रत्ययान्त हो से तित् स्वरितम् (६।१।१७६) से स्वरितान्त है। गृहपंतिः में गृह गर गेहें कः (३।१।१४४) से क प्रत्ययान्त है, अतः प्रत्ययस्वर से अन्तोदाः है। सर्वत्र षष्टी तत्पुरुष समास है।।

यहाँ से 'पत्यावैश्वयें' की अनुवृत्ति ६।२।२० तक जायेगी ॥

न भूवाक्चिद्दिघिषु ॥६।२।१९॥

न अः।। भूवाक्चिद्धिषु १।१।। सः — भूश्च वाक् च चित्र दिधिषू च भूवा ' 'षु, समाहारो द्वन्द्वः । ह्रस्यो नपुंसके (१।२।४७) इत नेन हुस्वः ॥ ऋनु०—पत्यावैश्वर्ये, तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ ऋष् ऐरवर्यवाचिनि तत्पुरुषे समासे पतिशब्द उत्तरपदे भू, वाक्, चि दिधिषू इत्येतानि पूर्वेपदानि प्रकृतिस्वराणि न भवन्ति । पूर्वेण प्रा प्रतिषिध्यते ॥ उदा० — भूपतिः, वाक्पतिः, चित्पतिः, दिधिषुपितः।

माषार्थः - ऐश्वर्यवाची तत्पुरुष समास में पति शब्द उत्तरपद र्ष पूर्वपद [भूवाक [चिहिधषु] भू, वाक्, चित् तथा दिधिषू शब्दों है प्रकृतिस्वर [न] नहीं होता ॥ पूर्वसूत्र से प्रकृतिस्वर प्राप्त होने पर निषेध है। पूर्व सूत्र भी समासस्य (६।१।२१७) का अपवाद है, अ प्रकृतिस्वर का निषेध होने पर सर्वत्र उदाहरणों में समासस्य से अली दात्त ही हुआ। सर्वत्र षष्टीतत्पुरुष समास है।। उदा०—भूपतिः (पूर्ण का स्वामी, राजा) । वाक्पतिः (वाणी का स्वामी) । चित्पतिः (ज्ञान स्वामी)। दिधिपूपतिः (पुनर्विवाहिता स्त्री का पति)॥

वा अवनम् ॥६।२।२०॥

वा अं।। भुवनम् १।१॥ अनुः —पत्यावैश्वर्ये, तत्पुरुषे, प्रकृषे

1

ति

7

1

पूर्वपदम् ॥ अर्थः — ऐश्वर्यवाचिनि तत्पुरुषे समासे पित्राब्द् उत्तरपदे भुवनशब्दः पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवित ॥ उदा० — भुवनपितः, भुवनपितः ॥ भाषार्थः — ऐश्वर्यवाची तत्पुरुष समास में पित शब्द उत्तरपद रहते [भुवनम्] भुवन शब्द पूर्वपद् को [वा] विकल्प से प्रकृतिस्वर हो जाता है ॥ भुवन शब्द भूसूधूअस्जि० (उणा० २।८०) इस उणादि से क्युन् प्रत्ययान्त है । यहाँ पूर्वसूत्र से क्युन् की अनुवृत्ति है, अतः नित्स्वर से भुवन शब्द आद्युदात्त है । जब पक्ष में प्रकृति स्वर नहीं होगा तो समास्य (६।१।२१७) से अन्तोदात्त होगा ॥ उदा० — भुवनपितः (छोकों का स्वामी) ॥

आशङ्कावाधनेदीयस्सु संभावने ॥६।२।२१॥

आशङ्काबाधनेदीयस्यु ७११॥ संभावने ७१३॥ सः—आशङ्का० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ श्रनु०— तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम्॥ श्रर्थः—आशङ्क,
अबाध, नेदीयस् इत्येतेषूत्तरपदेषु संभावनवाचिनि तत्पुरुषे समासे पूर्वपदं
प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०-आशङ्क-गर्मनाशङ्कं वर्त्तते, वर्चनाशङ्कम्, ज्याहरंणशङ्कम् । अवाध—गर्मनाबाधम्, वर्चनाबाधम्, ज्याहरंणाबाधम् ।
वेदीयस् पर्याच्येन्टिकः पर्याच्येन्टिकः

नेदीयस् गर्मननेदीयः, वर्चननेदीयः, व्याहरंणनेदीयः॥

भाषार्थः—[आशङ्कावाघनेदीयस्सु] आशङ्क, आबाध, नेदीयस् इन शब्दों के उत्तरपद् रहते [संभावने] संभावनवाची तत्पुरुष समास में पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हो जाता है।। आङ् पूर्वक शङ्क धातु से घवन्त होकर आशङ्क शब्द बनता है अथवा गुरोश्च हलः (३।३।१०३) से शिक धातु से अकार प्रत्यय होकर जानें।। गमन वचन शब्द ल्युडन्त हैं अतः लित्स्वर होगा।। उदा०—आशङ्क-गर्मनाशङ्कं वर्तते (जाने में आशङ्का है)। वर्चनाशङ्कम् (बोलने में आशंङ्का है)। गर्मनाबाधम् (जाने में स्कावद की संभावना है)। गर्मननेदीयः (जाना अति निकट है, ऐसी संभावना है)।।

पूर्वे भृतपूर्वे ॥६।२।२२॥

पूर्वे ७।१॥ भृतपूर्वे ०।१॥ स०—भृतः पूर्वम् भृतपूर्वेस्तस्मिनः

पुष्पुपेति समासः ॥ अनु०—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः—पूर्वशब्द्

नत्तरपदे भृतपूर्ववाचिनि तत्पुरुषे समासे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥

उदा०—आढ्यो भूतपूर्वेः आढ्यपूर्वेः, दुर्श् नीयपूर्वः, सुर्कुमारपूर्वः ॥

भाषार्थः—[पूर्वे] पूर्वे शब्द उत्तरपद रहते [भूतपूर्वे] भूतपूर्ववाची

तत्पुरुष समास में पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हो जाता है ।। आह्य, दर्शनी सुकुमार की सिद्धि परि० ६।२।१४ में देखें । विशेषण विशेषण (२।१।५६) से समास हुआ है ।।

सविधसनीडसमर्यादसवेशसदेशेषु सामीप्ये ॥६।२।२३॥

सविध० : चोषु ०।३॥ सामीप्ये ०।१॥ स० सविध० इत्यक्ते तरद्वन्द्वः ॥ अवुः — तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः — सविध, स्ति समर्थाद, सवेश, सदेश इत्येतेषूत्तरपदेषु सामीप्यवाचिति तत्तरं समासे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवित ॥ उदा० — सविध – मृद्रसंविध गान्धारि सविधम्, कृश्मीर सविधम् । सनीड – मृद्रसंनीडम्, गान्धां सनीडम् कृश्मीर सनीडम् । समर्थाद् – मृद्रसंनीदम्, गान्धां समर्थादम्, कृश्मीर समर्थादम् । सवेश – मृद्रसंवेशम् गान्धारि सके कृश्मीर सवेश – मृद्रसंवेशम्, कृश्मीर सवेश कृश्मीर सवेशम्, गान्धारि सके कृश्मीर सवेशम्। सदेश – मृद्रसंवेशम्, कृश्मीर सवेशम्

भाषार्थ:—[सिवधः शिषु] सिवध, सिनीड, समर्याद, सिवश, सि इन शब्दों के उत्तरपद रहते [सामीप्ये] सामीप्यवाची तत्पुरुष सा में पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है।। मद्र, गान्धारि, काश्मीर शब्दों स्वर ६१२११३ सूत्र पर देखें।। उदा०—मद्रसंविधम् (मद्र जनपरं समीप)। गान्धारिंसनीडम् (कन्दहार जनपद के समीप)। कार्श्व समर्यादम् (काश्मीर की सीमा से मिला हुआ)। मद्रसंवेशम् (मद्र समान वेश वाला, समान वेश समीपवर्ती देशों में ही होता है)। संदेशम् (मद्र से सटा हुआ)। सर्वत्र उदाहरणों में षष्ठी समास है इसिमीप्य अर्थ जाना जाता है।।

विस्पष्टादीनि गुणवचनेषु ॥६।२।२४॥

विस्पष्टादीनि १।३।। गुणवचनेषु ०।३।। स०—विस्पष्ट आदिर्येषां वी विस्पष्टादीनि ' बहुब्रीहिः ।। गुणमुक्तवान् गुणवचनस्तेषु ' उपपदत्तु समासः ।। अनु०—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ।। श्रर्थः — गुणवचनेपू पदेषु तत्पुरुषे समासे विस्पष्टादीनि पूर्वपदानि प्रकृतिस्वराणि भविति उदा०—विस्पष्टे कदुकमिति विस्पष्टकदुकम्, विचित्रकदुकम्, व्यक्ति दुकम् । विस्पष्टछवणम् , विचित्रस्रह्वणम् ।

भाषार्थः—[गुर्णवचनेषु] गुण को कहने वाले शब्दों के उत्तरि रहते [विस्पष्टादीनि] विस्पष्टादि पूर्वेपद स्थित शब्दों को तत्पुरुष समार्थ नि

पुरं

वेधः

र्धाः र्धा

वेः

M

मरे

H

Ť

द्

र्म

Ž.

1

प्रकृति स्वर होता है।। उदाहरणों में योगविभाग करके सुप् सुपा से समास र्रीनीः ष्ये हुआ है। या विस्पष्ट शब्द गतिरनन्तरः (६।२।४९) से आयुदात्त है। विचित्र शब्द में तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (६।२।२) से पूर्वपद प्रकृतिस्वर होता है, अतः निपाता आद्युदात्ताः (फिट्० ८०) से 'वि' उदात्त है। ज्यक्त शब्द विपूर्वक अञ्जू धातु से निष्ठा में बना है, अतः गतिरनन्तरः (६।२।४६) से आद्यदान्त है। 'वि अक्त' यहाँ वि उदान्त तथा 'अ' अनुदान्त है। इस प्रकार यणाँदेश करने पर उदात्तस्वरितयो० (८।२।४) से 'व्य' का अ स्वरित हो गया रोष अनुदात्त रहा । कटुक शब्द तीखे चरपरे अर्थ का वाचक है।।

अज्यावमकन्पापवत्सु भावे कर्मधारये ॥६।२।२५॥

श्र^{ड्या}ं 'त्सु ७।३।। भावे ७।१।। कर्मधारये ७।१।। *स०*—श्रश्च ज्यश्च अवमश्च कन् च पापवांश्च, श्रज्याः 'वन्तस्तेषुः' इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०— प्रकृत्या पूर्वपद्म् ।। अर्थः — श्र, ज्य, अवम, कन् इत्येतेषु पापशब्दवति चोत्तरपदे कर्मधारये समासे भाववाचि पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति॥ उदाः — श्र-गर्मनश्रेष्टम्, गर्मनश्रेयः । ज्य-वर्चनज्येष्टम्, वर्चनज्यायः । अवम-गमंनावमम्, वर्चनावमम् कन्-गमंनकिष्टम्, गमंनकिनीयः। पापवत्—गर्मनपापिष्टम्, गर्मनपापीयः ॥

भाषार्थ: -[श्रज्या त्सु] श्र, ज्य, अवम, कन् तथा पापवान् शब्द के उत्तरपद रहते [कर्मधारये] कर्मधारय समास में [मावे] भाववाची पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है।। गमनादि शब्द ल्युडन्त हैं, अतः लिति (६।१।१८७) से प्रत्यय से पूर्व को सर्वत्र उदात्त हुआ।। प्रशस्य को श्र आदेश प्रशस्यस्य श्रः (४।३।६०) से तथा ज्य च (५।३।६१) से ज्य आदेश भी होता है। युवालपयोः (५।३।६४) से कन् आदेश होता, है। पापीयः पापिष्ठः में पापवत् से विन्मतोर्लुक् (५।३।६४) से मतुप् का जुक् होता है। उसी का यहाँ प्रहण है।।

यहाँ से 'कर्मधारये' की अनुवृत्ति ६।२।२८ तक जायेगी।।

क्रमारश्च ॥६।२।२६॥

कुमारः १।१॥ च अ०॥ अनु०-कर्मधारये, प्रकृत्या पूर्वपदम्॥

पः

अर्थः — कुमारशब्दः पूर्वेपदं कर्मधारये समासे प्रकृतिस्वरं भवि उदाः — कुमारश्रमणाः, कुमारकुंळटा, कुमारतापसी।।

भाषार्थः — पूर्वेपद स्थित [कुमारः] कुमार शब्द को [च]ः कर्मधारय समास में प्रकृतिस्वर होता है !! कुमार शब्द में कु क्रीडायाम् धातु से पचाद्यच् हुआ है, अतः प्रत्यय स्वर् अन्तोदात्त है।।

यहाँ से 'कुमारः' की अनुवृत्ति ६।२।२८ तक जायेगी।। आदिः प्रत्येनसि ॥६।२।२७॥

आदिः १।१॥ प्रत्येनसि ७।१॥ स०— प्रतिगतमेनः यस्य स प्रत्ये (तस्मिन् वहुत्रीहिः ॥ अनु - कुमारः, कर्मधारये, प्रकृत्या पूर्वपस् से अर्थ: - प्रत्येनिस उत्तरपदे कर्मधारये समासे कुमारशब्दस्यादिखा भवति ॥ उदा० — कुमारप्रत्येनाः ॥

भाषार्थः—[प्रत्येनिस] प्रत्येनस् शब्द उत्तरपद रहते कर्मधा इ समास में छुमार शब्द को [श्रादिः] आदि उदात्त होता है॥ ब सामर्थ्यं से "उदात्त" का ग्रहण समझना चाहिये। वस्तुतः प्रा आशय इस प्रकार है—'कुमार शब्द को पूर्व सूत्र से प्रकृति खर ही श जो स्वर प्राप्त था, वही स्वर इस सूत्र में आदि को विधान किया जी इर है। इस प्रकार अन्त के उदात्तत्व का आदि में विधान किया है पर उदा० - कुमारप्रत्येनाः (पाप रहित कुमार)।।

यहाँ से 'श्रादिः' की अनुवृत्ति ६।२।२८ तक जायेगी ।।

१. यहाँ कुमार: श्रमणादिभि: (२।१।६९) से कर्मधारय समास होता है जन पाश्चात्त्य विद्वान् इस सूत्र में श्रमण शब्द का प्रयोग देखकर कहते हैं कि वि बुद्ध के पीछे का है क्योंकि श्रमण शब्द बौद्ध संन्यासी के ज़िए प्रयुक्त होता में वस्तुतः यह कथन अयुक्त है। पाश्चात्त्यों के मत्तानुसार भी बुद्ध के जन्म प्रोक्त शतपथ ब्राह्मण में संन्यासी के लिए श्रमण शब्द का प्रयोग मिलती प्र यह दूसरी बात है कि संन्यासी श्रमण परिवाट् बादि समानार्थक पूर्वप्रसिद्ध कि से में में में नोटों ने श्रमण परिवाट् में से बौद्धों ने 'श्रमण' शब्द को अपना लिया। यही बात निर्वाण शब्द के ^{से आ} में भी समभनी चाहिये।

त्रि

पूरोव्वन्यतरस्याम् ॥६।२।२८॥

पूरोषु ७।३।। अन्यतरस्याम् ७।१।। अनु — आदिः, कुमारः, कर्मघारये, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः — पूरावाचिनि उत्तरपदे कर्मधारये समासे कुमार- व्यवस्य विकल्पेनादिरुदात्तो भवति ॥ उदा — कुमारचातकाः, कुमार- चंतकाः, कुमारलो हथ्वजाः ॥

भाषार्थः—[पूगेषु] पूगवाची शब्द उत्तरपद रहते कर्मधारय समास में कुमार शब्द को [श्रन्यतरस्याम्] विकल्प से आदि को उदात्त होता है॥ जब आद्युदात्त नहीं होगा तो पूर्ववत् अन्तोदात्त होगा। 'पूग' शब्द का अर्थ ४।३।११२ में देखें। चातकादि शब्द पूगाव्योऽप्रामणी० (४।३।११२) से ब्य प्रत्ययान्त हैं, जिसका तद्राजस्य बहुषु० (२।४।६२) से लुक् हो गया है॥

इगन्तकालकपालभगालशरावेषु द्विगौ ॥६।२।२९॥

इगन्तः वेषु ७।३॥ द्विगौ ७।१॥ स०—इक् अन्ते यस्य स इगन्तः, बहुत्रीहिः । इगन्तस्र कालस्र कपालस्र भगालस्र शरावस्र, इगन्तः रावास्तेषुः इगन्ते कालस्र कपालस्र भगालस्य, पूर्वपदम् ॥ अर्थः—द्विगौ समासे इगन्ते कालस्र चित्तरपदे कपाल, भगाल, शराव इत्येतेषु चोत्तरपदेषु पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०— इगन्तस्य पर्द्धारितः, द्र्शारितः । काल—पर्द्धमास्यः, द्र्शमास्यः, पर्द्धवर्षः, द्र्शवर्षः । कपाल—पर्द्धकपालः, द्र्शकपालः । भगाल— पर्द्धमगालः, द्र्शभगालः । शराव — पर्द्धश्रातः, द्र्शश्रातः ॥

भाषार्थ:—[द्विगौ] द्विगु समास में [इगन्तः "वेषु] इगन्त ज्ञारपद रहते, तथा कालवाची, एवं कपाल भगाल शराव इन शब्दों के उत्तरपद रहते पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है।। पक्ककपालः की सिद्धि भाग १ पृ० ८४० में देखें। इसी प्रकार और उदाहरणों में भी तद्धितार्थ में समास और द्विगु संज्ञा हुई है ऐसा जानें। पक्कशरावः, पक्कभगालः आदि की सिद्धि ठीक उसी प्रकार होगी। पक्कारितः यहाँ पक्कारत्नयः प्रमाणमस्य, ऐसा विष्रह करके पूर्ववत् समास होकर प्रमाणे लो किगीनित्यम् (वा० ५।२।३७) से मात्रच् का लुक् हुआ है। पक्कमास्यः आदि में दिगोर्यप् (५।१।८१) से यप् हुआ है। पक्कवर्षः यहाँ

के

इत

उद

प्राग्वतेष्ठञ् (४।१।१८) से उत्पन्न ठञ् का वर्षाल्लुक् च (४।१।८८) ह लुक् हुआ है। सर्वत्र पूर्वपद स्थित पद्म, दश शब्द त्र संस्था (फिट्० २८) से आद्युदात्त हैं।

यहाँ से 'इगन्तकालकपालभगालशरावेषु'' की अनुवृत्ति ६।२।३०। व तथा 'हिगौ' की ६।२।३१ तक जायेगी।।

वह्नन्यतरस्यास् ॥६।२।३०॥

बहु १।१।। अन्यतरस्याम् ७।१।। अनु - इगन्तकालकपालमा र शरावेषु द्विगौ, प्रकृत्या पूर्वपद्य् ॥ अर्थः—द्विगौ समासे इगन्तांति प्र पदेषु बहुशब्दः पूर्वपदं विकल्पेन प्रकृतिस्वरं भवति ।। पूर्वेण नित्ये। ए विकल्प्यते ॥ उदा०—वह्नंरितः, बुह्नरहिनः, बहुमास्यः, बहुमा बहुकंपालः, बहुकपालः, बहुभंगालः, बहुभगालः, बहुशंरावः, बहुशा य

भाषार्थः—द्विगु समास में इगन्तादि उत्तरपद रहते पूर्वेष व स्थित [बहु] बहु शब्द को [अन्यतरस्याम्] विकल्प करके प्रकृति होता है।। बहु शब्द लंघिवंह्योर्नलोपश्च (उग्गा० १।२९) से कु प्रत्य है अतः प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है, बह्वरितनः में यणादेश है है प्रकृति स्वर पक्ष में उदात्तस्वरितयोर्यण:० (८१४) से ह्वं को हैं होगा। पक्ष में समासस्य (६।१।२१७) से समास को अन्तोदात्तव हो से

यहाँ से 'श्रन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति ६।२।३१ तक जायेगी॥

दिष्टिवितस्त्योश्च ॥६।२।३१॥

दिष्टिवितस्त्योः ७।२॥ च अ०॥ स०—दिष्टि० इत्यत्रेतरेतर्द्वर त्रानु - अन्यतरस्याम् , द्विगौ, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ त्रर्थः - द्विगौ स दिष्टि वितस्ति इत्येतयोरुत्तरपद्योविंकल्पेन पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवी उदाः - पञ्चदिष्टः, पञ्चिद्ष्टिः पञ्चवितस्तः, पञ्चवितस्तः॥

भाषार्थः—द्विगु समास में [दिष्टिवितस्त्योः] दिष्टि, वितस्ति वर्षे रा उत्तरपद रहते [च] भी विकल्प करके पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता वर पुद्ध की सिद्धि ६।२।२६ सूत्र में देखें। पक्ष में समासस्य से अती वह होगा ॥

सप्तमी १।१॥ सिद्धशुष्कपक्वबन्धेषु ७।३॥ अकालात् ४।१॥ व सप्तमी सिद्धगुष्कपक्कबन्धेष्वकालात् ॥६।२।३२॥

सिद्धः इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः । अकालादित्यत्र नन्तत्पुरुषः ॥ अनु०—
अकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः—सिद्धः, शुष्क, पक्कः, बन्धः इत्येतेषूत्तरपदेष्वकालवाचि सप्तस्यन्तं पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उद्ग०—सांकाश्यसिद्धःकान्पिल्यसिद्धः । शुष्क-ऊकशुष्कः, निधनंशुष्कः । पक्क-कुन्भीपकः,
कुल्शीपंकः, भ्राष्ट्रपकः । बन्ध-चुक्रबन्धः, चार्यकर्वन्धः ॥

भाषार्थः—[सिद्धः 'न्धेषु] सिद्ध, शुष्क, पक, बन्ध ये शब्द उत्तरपद परे रहते [अकालात्] अकालवाची पूर्व पद स्थित [सप्तमी] सप्तम्यन्त, को प्रकृतिस्वर होता है ॥ सांकाश्य, काम्पिल्य शब्द वृज्कुण् (४।२।७६) से प्रय प्रत्ययान्त हैं, अतः प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त हैं। फिट् सूत्र में सांकाश्यकाम्पिल्य (फिट् ६५) से पक्ष में मध्योदात्त भी कहा है, अतः यह स्वर भी होगा। सवृम्शुषि (उणा ३।४०) सूत्र में कहा कक् प्रत्यय वहल से अब धातु से भी होकर ऊक शब्द बनेगा। व्यरत्यर (६।४।२०) से ऊठ् हो जायेगा। इस प्रकार ऊक शब्द प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त है। निधन शब्द कृपृवृज्जिमन्दि (उणा २।८१) से क्यु प्रत्ययान्त होने से प्रत्यय स्वर से मध्योदात्त है। धा के आ का आतो लोप (६।४।६४) से श्रेप तथा यु को अन हो ही जायेगा। कुम्भी कल्शी शब्द डीषन्त (४।१।४१) होने से अन्तोदात्त हैं। आष्ट्र शब्द अस्किगमि (उणा ४।१६०) से दूर प्रत्ययान्त आद्युदात्त (६।१।१६१) है। चक्र शब्द क्रवादीनां के दे भवतः (वा० ६।१।१२) से क प्रत्ययान्त सिद्ध किया है, अतः अन्तोदात्त है। चारक शब्द ण्वुल् प्रत्ययान्त है अतः लित् स्वर से आद्युदात्त है। चारक शब्द ण्वुल् प्रत्ययान्त है अतः लित् स्वर से आद्युदात्त है।

परिप्रत्युपापा वर्ज्यमानाहोरात्रावयवेषु ॥६।२।३३॥

परिप्रत्युपापाः १।३॥ वर्ज्यमानाहोरात्रावयवेषु ७।३॥ स०—परि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः । अह्श्र रात्रिश्च अहोरात्रौ, अहोरात्रयोरवयवाः अहो- रात्रावयवाः, पूर्वं द्वन्द्वः, ततः षष्ठीतत्पुरुषः । वर्ज्यमानञ्च अहोरात्रा- वयवाश्च, वर्ज्यमानाहोरात्रावयवाः, तेषु, ''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ श्रवु०— पृष्ठित्या पूर्वपदम् ॥ श्रर्थः—परि, प्रति, उप, अप इत्येते पूर्वपदमूता वर्ज्यमानवाचिनि अहोरात्रावयववाचिनि चोत्तरपदे प्रकृतिस्वरा भवन्ति ॥ उदा०—परिंत्रिगर्ते वृष्टो देवः, परिंसौवीरम्, परिंसार्वरोनि । प्रति-प्रति पूर्वोह्वम्, प्रत्वेष्पराह्वम्, प्रतिंपूर्वरात्रम्, प्रत्वेपररात्रम् । उप-उपंपूर्वाह्वम्,

व

उपापराह्मम्, उपपूर्वरात्रम्, उपापररात्रम्। अप-अपंत्रिगर्तं वृष्टो अपसौवीरम, अपसावसीन।।

भाषार्थः - पूर्वपद स्थित [परिमत्युपापाः] परि, प्रति, उप, अ शब्दों को [वर्ज्य वर्ज्यमान तथा दिन एवं रात्रि के अवयक शब्दों के उत्तरपद रहते प्रकृतिस्वर हो जाता है।। सर्वत्र पूर्वपदः परि प्रति आदि निपाता आद्युदात्ताः, उपसगीश्वामिवर्जम् (फिट्॰ ८०) से आयुदात्त हैं।। उदा०-परित्रिगर्त वृष्टो देवः (कांगड़ा देश की कर चारों ओर वर्षा हुई)। प्रतिंपूर्वाह्म (हर दोपहर के पहले)। प्रतिं रात्रम् (हर रात के पिछले पहर)। उपंपूर्वरात्रम् (रात के पहिले प लगभग) । अपंत्रिगर्त्तम् (कांगड़ा को छोड़ कर) । अपर्याः (१।४।८७) से अप परि की कर्मप्रवचनीय लंडा होती है। विमाणा बहिरश्चवः० (२।१।११) से अव्ययीभाव समास होता है।। परि उप अप में परि और अप वर्जनार्थक होने से इनका ही वर्ज्यमान पद के साथ समास होता है।।

राजन्यबहुवचनद्वन्द्वेऽन्धकवृष्णिषु ॥६।२।३४॥

राजन्यबहुवचनद्रन्द्रे ७।१॥ अन्धकवृष्टिणषु ७।३॥ स०—राजन तानि बहुवचनानि राजन्यबहुवचनानि, तेषां द्वन्द्वः, राजन्यबहुवचन तस्मिन् : 'कर्मधारयगर्भषष्ठीतत्पुरुषः । अन्धकाश्च वृष्णयश्च अ वृष्णयस्तेषु इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु - प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अ राजन्यवाचिनां बहुवचनान्तानां यो द्वन्द्वोऽन्धकवृष्णिषु वर्त्तते तत्र ह प्रकृतिस्वरं भवति ॥ चैत्रकरों म उदा - श्वाफलकचै त्रकाः, शिनि वासुदेवाः॥

भाषार्थः—[राजन्यबहुवचनद्वनद्वे] राजन्य = क्षत्रियवाची जो बहु नान्त शब्द हैं, उनका द्रन्द्र [अन्धकवृष्णिषु] अन्धक तथा वृष्णि वी या को कहने में वर्त्तमान हो तो पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है।। श्रा ये तथा चैत्रक शब्द ऋष्यन्घक० (४।१।११४) से अणन्त हैं, अतः अन्ती पर हैं। वहिश्रिश्रयु० (ज्याा० ४।५१) सूत्र में कहा 'नि' प्रत्यय बहुत से शीड़ धातु से भी होता है एवं धातु को हस्व और प्रत्यय को नि होकर शिनिः बनता है। नित् होने से यह शब्द आद्युदात्त है। शब् फल्कचैत्रकाः आदि अन्धकवंशवाची बहुवचनान्त

१२५

षष्टोऽध्यायः

हिं पादः]

अप यक

द्ध

Co,

हो।

57

शिनिवासुदेव वृष्णिवाची हैं।। उदा०-श्वाफल्कचैत्रकाः (श्वफल्क तथा चैत्रक की सन्तान), शिनिवासुदेवाः (शिनि तथा वसुदेव की सन्तान)। यहाँ से 'द्रन्द्रें' की अनुवृत्ति ६।२।३७ तक जायेगी।।

सङ्घ्या ॥६।२।३५॥

सङ्ख्या १।१॥ अनु - द्रन्द्रे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः - द्रन्द्रसमासे सङ्ख्यावाचि पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ।। एकश्च द्श च एका द्श, द्वादंश, त्रयोदंश।।

भाषार्थः —द्वन्द्वसमास में [सङ्ख्या] सङ्ख्यावाची पूर्वपद को प्रकृति-पहा स्वर होता है ॥ श्रान्महतः स० (६।३।४४) सूत्र के योगविभाग से एका-दश में आत्व, एवं द्वादश में द्वचष्टनः सङ्ख्वचायाम० (६१३।४१) से आत्व होता है। त्रेस्त्रयः (६।३।४६) से त्रि को त्रयस् आदेश अन्तोदात्त होता ft: है। एक शब्द इस्भीकापाशल्य० (उसा० ३।४३) से कन् प्रत्ययान्त है, 7 तथा नित् स्वर से आद्युदात्त है। द्वि शब्द प्रातिपदिक स्वर से उदात्त है ही ।।

आचार्योपसर्जनश्चान्तेवासी ।।६।२।३६॥

आचार्योपसर्जनः १।१॥ च अ० ॥ अन्तेवासी १।१॥ स०-आचार्य उपसर्जनम् अप्रधानं यस्मिन् स आचार्योपसर्जनः, बहुब्रीहिः॥ अन्ते वसतीति अन्तेवासी ।। श्रनु -- द्रन्द्रे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ।। अर्थः - आचार्यी-पतर्जनान्तेवासिनां यो दून्द्वस्तत्र पूर्वेपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०— आपिश्वलपंणिनीयाः, पाणिनीयरौढीयाः, रौढीयंकाशकृतस्नाः ॥

भाषार्थः — [आचार्योपसजनः] आचार्य हे अप्रधान [अन्तेवःसी] शिष्यवाची शब्दों का जा द्वन्द्व उनके पूर्वपद को च भी प्रकृति स्वर होता है ॥ आपिशलस्यापत्यम् आपिशालेः अत इत्र (४।१।६५) से यहाँ इच् प्रत्यय हुआ। आपिशलिना प्रोक्तमापिशलम्, पहाँ आपिशिष्ठि शब्द से इजश्च (४।२।१११) से अण् हुआ। तद्धीयते ये अत्तेवासिनः तेट्यापिश्रलाः । उस आपिश्रल नाम के प्रनथ को जो बात्र पढ़ते हैं वे छात्र भी आपिशल कहायेंगे, क्योंकि तद्धीते तद्देद (४।२।५८) से उत्पन्न अण् का प्रोक्ताल्लुक् (४।२।६३) से लुक् हो जाता है। पाणि-नीय: की सिद्धि भी भाग २ सूत्र ४।२।६३ में देखें। इस प्रकार इन दोनों शब्दों की व्युत्पत्ति करके आपिशलास्त्र पाणिनीयास्त्र आपिशलपाणिनीयाः

7

यहाँ द्वन्द्व समास किया तो प्रकृत सूत्र से पूर्वपद प्रकृतिस्वर प्रत्यक्ष से (अण् को) अन्तोदात्त हुआ। 'पाणिनीयरौढीयाः' यहाँ पाणि र शब्द प्रत्यय स्वर से मध्योदात्त है। रोढस्यापत्यं रौढिः यहाँ अत्र इञ् हुआ। पश्चात् रौढेराचार्यस्य छात्राः रौढीयाः यहाँ हुइन (४।२।११३) से छ प्रत्यय हुआ है। ततः पूर्ववन् द्वन्द्व समास हुः रौढीयकाशकुत्स्ताः में भी पूर्ववत् रौढीय शब्द प्रत्ययस्वर से मधी है। काशकृत्स्निना प्रोक्तं काशकृत्स्नं यहाँ अण् (४।३।१०१) प्रत्ययह है। तदधीयते काशकुत्स्नाः यहाँ पूर्ववत् अण् (।२।५८) का (४।३।६३) हुआ है । शेष पूर्ववत् है । सर्वत्र आपिशलपाणिनीयाः ह उदारणों में आपिशिल आदि प्रोक्त प्रन्थ के अध्ययन करने वाले ह के वाचक हैं, आपिशिल आदि आचार्य का अर्थ इनमें अप्रधान हा चोतित होता है ॥ उदा॰—आपिशलपाणिनीयाः (आचार्य आपिशल पाणिनि के छात्र)।।

कार्त्तकोजपादयश्च ॥६।२।३७॥

कार्त्तकौजपाद्यः १।३।। च अ० ।। स० कार्त्तकौजप आदिंग म कार्त्तकौजपादयः, बहुव्रीहिः ॥ अनु - द्वन्द्वे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ कर् कार्त्तकौजपादयों ये द्वन्द्वास्तेषु पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति॥ उत्त कार्त्तकौ जपौ, सार्विगमाण्ड्केयौ. अवन्त्यंश्मकाः, पै लश्यांपर्णेयाः॥

भाषार्थः — [कार्त्तकौजपादयः] कार्त्तकौजपादि जो द्वन्द्व सप्तामः शब्द उनके पूर्वपद को [च] भी प्रकृतिस्वर हो जाता है।। कृतस्य कार्त्तः कुजपस्यापत्यं कौजपः, यहाँ अण् प्रत्यय होकर दोनों का समास हुआ है। प्रकृतिस्वर होकर कार्त्त शब्द प्रत्ययस्वर से अनी है। साविंग शब्द भी इञन्त होने से (६।१।१६१) आद्युद्धार्ति स माण्डुकेयः मण्डूकस्यापत्यं वित्रह करके ढक् च मण्डूकात् (४)११६ सूत्र से ढक् प्रत्ययान्त है । अवन्त्यश्मकाः यहाँ अवन्ति शब्द से अवि पत्यानि बहूनि ऐसा विग्रह करके क्यङ् (४।१।१६९) प्रत्यय हुआ तद्राजस्य० (२।४।६२) से लुक् हो गया । पुनः अवन्तीनां निवासी जी अवन्तयः यहाँ चातुर्धिक (४।२।६९) अण् हुआ है। उसका जनादे (४।२।८०) से लुह् हो गया है। इसी प्रकार अश्मकाः में समझे द नों का द्वन्द्व समास हो गया, तब प्रकृतिस्वर होकर वृतादी

FY.

36

क्षिट्० २१) से अवन्ति शब्द् अन्तोदात्त हुआ, यणादेश करने पर उदात्त-स्वरितयोर्थणः (८।२।४) से 'य' स्वरित हो गया । पैल शब्द में पीलाया भ अपत्यं पैछः (४)१।११८) अण् हुआ है। ततः युवापत्य में त्रागो द्वचनः का (४।१।१५६) से उत्पन्न फिञ्का पैलादिभ्यश्च (२।४।५६) से लुक् हुआ हैं। श्यापण शब्द से भी बिदादिगण पठित होने से अण् हुआ, स्त्रीछिङ्ग कें में डीप् (४।२।७३) होकर श्यापर्णी हुआ। उससे युवा अर्थ में स्त्रीस्यो हि दक् (४)१।१२०) से दक् प्रत्यय होकर यह युवप्रत्ययान्त है। इस प्रकार हिन्दू करने पर पैल शब्द प्रकृत सूत्र से प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त रहां॥

महान् त्रीह्मपराह्णगृष्टीष्वासजावालभारभारत-हैलिहिलरौरवप्रवृद्धेषु ॥६।२।३८॥

महान् १।१।। त्रीह्यः देषु ७।३।। स०—त्रीह्य० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनुः—प्रकृत्या पूर्वेपद्म् ।। अर्थः—वीहि, अपराह्व, गृष्टि, इष्वास, जाबाछ भार, भारत, हैलिहिल, रौरव, प्रवृद्ध इत्येतेषूत्तरपदेषु महानित्येतत्पूर्व-पदं प्रकृतिस्वरं भवति ।। उदा०—महात्रींहिः, महापराह्वः, महागृष्टिः, मुहेब्बासः, मुहाजाबालः, मुहाभारः, मुहाभारतः, मुहाहै लिहिलः, मुहा-रौ'रवः, महाप्रवृद्धः ॥

माषार्थः—[त्रीह्यः 'द्रेषु] त्रीहि, अपराह्व, गृष्टि, इष्वास, जाबाल, भार, भारत, है लिहिल, रौरव, प्रवृद्ध इन शब्दों के उत्तरपद रहते पूर्वपद स्थित [महान्] महान् शब्द को प्रकृतिस्वर होता है।। महत् शब्द वर्तमाने पृषद्बृहन्० (उगा० २।८४) में निपातन से अन्तोदात्त है। सन्महत् (२।१।६०) से सर्वत्र समास हुआ जानें।। उदा०-महाब्रीहिः (धान्य विशेष का नाम)। महापराह्वः (अपराह्व का अन्तिम भाग)। महागृष्टिः (डीलडील में बड़ी एक बार ब्यायी हुई गाय)। महेष्वासः (बहुत बड़ा धनुर्धर) । महाजाबालः (ऋषि विशेष की संज्ञा) । महासारः (बहुत बोझ)। महाभारतः (इस नाम से प्रसिद्ध प्रन्थ)। महाहै लिहिलः (बहुत खिलाड़ी)। महारौरवः (नरक विशेष की संज्ञा)। महाप्रवृद्धः (बहुत वृद्ध)।।

यहाँ से 'महान्' की अनुवृत्ति ६।२।३९ तक जायेगी।।

क्षुस्रकश्च वैश्वदेवे ॥६।२।३९॥° धुलकः १।१॥ च अ०॥ वैश्वदेवे ७।१॥ अनु०—महान्, प्रकृत्या पूर्वेपदम् ॥ अर्थः — वैश्वदेव उत्तरपदे श्रुष्ठक इत्येतत्पूर्वेपदं महांश्च म्र स्वरं भवति ॥ उदा० — श्रुष्टकवै श्वदेवम् , महावै श्वदेवम् ॥ श्वधं ले श्रुष्ठः तस्मात् कः (३।२।२) । श्रुष्ठशब्दः श्रुद्रपर्यायः १ ॥

माषार्थ:—[वैश्वदेवे] वैश्वदेव शब्द उत्तरपद रहते पूर्वपद हिता है। चिह्नकः] श्रुष्ठक [च] तथा महान् शब्द को प्रकृतिस्वर होता है। शब्द से हुस्व (५।३।८६) अर्थ में क प्रत्यय होकर श्रुष्ठक शब्द का अतः प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त है। महान् शब्द में पूर्ववत् स्वर वे दोनों यज्ञविशेषों की संज्ञाएं हैं।।

उष्ट्रः सादिवाम्योः ॥६।२।४०॥

उष्ट्रः १।१।। सादिवाम्योः ७।२।। स०—सादि० इत्यत्रेतरेतरद्वा अनु०—प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ श्रर्थः—सादि, वामि इत्येतयोरुत्तरम् उष्ट्र इत्येतत्पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०—उष्ट्रं सादि, उष्ट्रं उष्ट्रंसादी, उष्ट्रंवामी ॥

माषार्थ:—[सादिवाम्योः] सादि तथा वामि शब्द उत्तरपद । पूर्वेपद स्थित [उष्ट्रः] उष्ट्र शब्द को प्रकृतिस्वर होता है।। उष्ट्रः उषिस्यिनभ्यां कित् (उणा० ४।१६२) से ष्ट्रन् प्रत्ययान्त है, वित्रस्वर से आद्युदात्त है। यहाँ सद वम धातु से (उणा० ४।१२५) प्रत्ययान्त का नपुंसक लिङ्ग में प्रयोग है। उष्ट्र उपपद होने पर सदक्षि से णिनि होकर उष्ट्रसादी उष्ट्रवामी प्रयोग होते हैं। सूत्र में स्विनिर्देश होने से दोनों का प्रहण इष्ट है।पूर्व में षष्टी समास होने से समासान्त स्वर का अपवाद है, उत्तर में कृत् स्वर का ॥

गौः सादसादिसारिथेषु ॥६।२।४१॥

्गौः १।१॥ सादसादिसारिथेषु ७।३॥ स०—साद० इत्यत्रेती द्वन्द्वः॥ अनु०—प्रकृत्या पूर्वपदम्॥ अर्थः—साद सादि सारिध इसे

१. पाश्चात्त्य विद्वान् क्षुद्रपर्याय क्षुल्लक शब्द को क्षुद्रक का अपभंग हैं भीर उस अपभंश का संस्कृत में प्रवेश हो गया है ऐसा स्वीकार करों परन्तु उनका यह कथन अज्ञानमूलक है क्योंकि जिस समय अपभंशों की कि भी गहीं हुई थी उसक्काल में प्रोक्त वैदिकग्रन्थों में क्षुल्लक शब्द का प्रयोग हैं।

षष्टोऽध्यायः

हिं पादः]

T.

पर

村

1

F

18

H

ì

t

358

म तरपदेषु गो इत्येतत्पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ।। उदा०—गोः सादः वा गोर्सादः, गोः सादिः गोर्सादिः, गाः साद्यतीति गोर्सादी, गोर्सारिथः ॥

भाषार्थः—[सादसादिसारियषु] साद, सादि, सारिय, इन शब्दों के उत्तरपद रहते, पूर्वपद स्थित [गौ:] गो शब्द को प्रकृति स्वर हो जाता है।। गौ की सिद्धि भूत्र ६।२।१७ में देखें।। उदा०—गोसादः (बैछ को संताप देने वाछा), गोसादिः (बैछ का सवार), गाः सादय-तीति गोसादी (गोघातक), गोसारिथः (बैछों का सारिथ)।।

कुरुगाईपत रिक्तगुर्वसूतजरत्यव्लीलदृढरूपा पारेवडवा तैतिलकदूः पण्यकम्बलो दासीभाराणां च ॥६।२।४२॥

कुरुगार्हपत, रिक्तगुरु इत्येतौ लुप्तप्रथमान्तनिर्दिष्टौ ॥ असूतजरती १११॥ अरलीलटढरूपा १११॥ पारेवडवा १११॥ तैतिलकद्रः १११॥ पण्यकम्बलः १११॥ सर्वत्र सुब्व्यत्ययेन षष्टीस्थाने प्रथमा वेदितव्या॥ दासीभाराणाम् ६१३॥ च अ०॥ अनुः—प्रकृत्या पूर्वपदम्॥ अर्थः—कुरुगार्हपत, रिक्तगुरु, असूतजरती, अरलीलटढरूपा, पारेवडवा, तैतिलकद्रू, पण्यकम्बल इत्येतेषां सप्तानां समासानां दासीभारादीनाच्च पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०—कुरूणां गार्हपतं कुरुगार्हपतम्। रिक्तो गुरुः रिक्तगुरुः, रिक्तगुरुः, असूता जरती असूतजरती। अरलीला दृद्धपा अरली लटढरूपा। पारेवडवा इव पारेवंडवा। तैतिलानां कद्रः तै विलक्तंः। पण्यंकम्बलः। दासीभारादीनां—दास्याः भारः दासीभारः देवह्तिः, देवजूतिः, देवस्तिः, देवनीतिः॥

भाषार्थः—[कुरुगार्हपते प्रारंग्यक्षम्बलः] कुरुगार्हपत, रिक्तगुरु, अस्तजरती, अश्लीलहरुषा, पारंग्यक्षम्बलः] तितिलकद्भू, पण्यक्षम्बलः इन सात समास किये हुये शब्दों के [च] तथा [दासीमाराणाम्] दासी-भारादि शब्दों के पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है।। दासीमाराणाम् में बहुवचन दासीभारादि गण के द्योतन के लिये है। कुरुगार्हपतम् यहाँ कुरु शब्द क्र्योरुच्च (उणा० ११२४) से कुप्रत्ययान्त है, अतः प्रत्यय स्वर से अन्तोदान्त है। रिक्त शब्द रिक्ते विभाषा (६१११२०२) से विकल्प से से आद्युदान्त एवं अन्तोदान्त है। असूत अश्लील शब्द में तत्पुरुषे तिल्यार्थं० (६१२१२) से पूर्वपद प्रकृतिस्वर होने पर मिपाता आद्युदात्ताः (फिट्० ८०) से नच्च उदान्त है। पारंग्यख्वा यहाँ निपातन से इवार्थं

में समास तथा विभक्ति का अलुक् जानें। घृतादीनां च (फिट्० रा पार शब्द अन्तोदात्त है। तितिलिनोऽपत्यं तैतिलः, यहाँ तैतिलः अणन्त (४।१।६२) होने से अन्तोदात्त है। पण्यकस्वलः यहाँ पणः अवद्यपराय० (३।१।१०१) में यत् प्रत्ययान्त निपातन है, अतः वर्ताः (६।१।२०७) से यह शब्द आचु दात्त है । दंसेष्टनी न श्रा च (उणा० ॥ से दंस घातु से ट प्रत्यय तथा न को आकारादेश होकर 'दास' : प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। टित् होने से टिड्डाण्य ० (४।१।१४) होकर दासी बनेगा। अतः उदात्तिवृत्तिस्वर से यह अन्तोदातः है। देवहूतिः आदि में देव शब्द पचाद्यच् प्रत्ययान्त है, अतः इ दात्त है।। उदा - कुरुगाई पतम् (कुरु जनपद के गृहपतियों की संह रिक्तगुरुः (खाली रहने पर भी भारी)। असूतजरती (सन्तानोतं होने पर भी वृद्धा)। अश्लीलहढरूपा (श्री = कान्ति से रहित होने प स्थिर रूप वाली)। पारेवडवा (उस तरफ घोड़ी के समान)। हैं कदुः। पण्यकम्बलः (बिकाऊ कम्बल)। दासीभारः (दासी के वहना योग्य भार)॥

चतुर्थी तद्थे ।।६।२।४३॥

चतुर्थी १।१॥ तद्र्थे ७।१॥ स०—तस्मै (= चतुर्ध्यन्तार्थाय) ह तद्रथम् , तस्मिन् तद्रथें, चतुर्थीतत्पुरुषः ।। अनु - प्रकृत्या पूर्वपर श्रर्थः चतुर्थ्यन्तं पूर्वपदं तद्थे उत्तरपदे प्रकृतिस्वरं भवति ॥ ज

यूपंदारु, कुण्डलिहंरण्यम्, रथंदारु, वल्लीहिंरण्यम्।।

भाषार्थ:-[चतुर्थी] चतुर्थी पूर्वपद को [तदर्थे] तद्रथं = चतुर्था के उत्तरपद रहते प्रकृतिस्वर होता है।। यूपदारु आदि शब्द में व तत्पुरुष समास है, अतः अर्थ होगा—'यूप के लिये जो लकड़ी। यहाँ चतुर्थ्यन्त के अर्थ = यूप के लिए दार है, सो चतुर्थन्तार्थ शब्द उत्तरपद में हुआ। इसी प्रकार औरों में जानें। यूप की परि० ६।२।१ में देखें। कुडि घातु से वृषादिभ्यश्चित् (उगार्वे १।१०६) बाहुलक से कुण्डल शब्द कल प्रत्ययान्त एवं चित् है, अतः वित् (६।१।१५७) से अन्तोदात्त है। रथ शब्द हनिकुषिनीः (उगाः) से क्थन् प्रत्ययान्त होने से नित् स्वर से आद्युदात्त है। वही गौरादित्वात् (४।६।४१) ङीष् प्रत्ययान्त अन्तोदात्त (३।१।३) है। यहाँ, से 'चतुर्थी' की अनुवृत्ति ६।२।४५ तक जायेगी।

31

ਰ:

ण्यः

नोड

0 4

से

₹:

新

त्रां

प्र

11

ş

F

r

F

अर्थे ॥६।२।४४॥

अर्थे ७।१।। श्रनु०—चतुर्थी, प्रकृत्या पूर्वपद्म्।। श्रर्थः—चतुर्थ्यन्तं पूर्वपद्म् अर्थशब्द् उत्तरपदे प्रकृतिस्वरं भवति ।। उदा०—मात्रे इद्म् मात्रंथम्, प्रित्रंथम्, देवतं।र्थम्, अतिंथ्यर्थम् ॥

भाषार्थः—[श्रथें] अर्थ शब्द उत्तरपद रहते चतुर्थ्यन्त पूर्वपद को प्रकृति स्वर हो जाता है।। मानृ पिनृ की सिद्धि ६।२।११ सूत्र में देखें। यणादेश हो जाने पर उदात्तस्वरितयोर्थणः० (८।२।४) से 'त्र' स्वरित हो गया। देवता शब्द देवात्तल् (५।४।२७) से तल् प्रत्ययान्त होने से लित् स्वर से मध्योदात्त है। अतिथि शब्द में ऋतन्यिजवन्यव्जय० (उणा० ४।२) से अत धातु से इथिन् प्रत्यय हुआ है, अतः नित् स्वर (६।१।१६१) से आयुदात्त है।।

क्ते च ॥६।२।४५॥

क्ते ७।१।। च अ० ।। अनु०—चतुर्थी, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः— कान्ते चोत्तरपदे चतुर्थ्यन्तं पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०—गोहितम्, अर्थिहतम् मृतुष्यंहितम्, गोरंक्षितम्, अर्थरक्षितम्, वनं तापसरंक्षितम् ॥

भाषार्थः — [क्ते] क्तान्त शब्द उत्तरपद रहते [च] भी चतुर्ध्यन्त पूर्व-पद को प्रकृतिस्वर हो जाता है। अश्व तथा गो शब्द की सिद्धि ६।२।१३ सूत्र में देखें। मनुष्य शब्द की सिद्धि परि० ६।२।१ में देखें। तापस शब्द श्राण् च (४।२।१०३) से अण् प्रत्ययान्त होने से प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है।।

यहाँ से 'क्ते' की अनुवृत्ति ६।२।४९ तक जायेगी।।

कर्मधारयेऽनिष्ठा ॥६।२।४६॥

कर्मधारये ७।१।। अनिष्ठा १।१।। सः—अनिष्ठा इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥
अनुः—कते प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः—क्तान्त उत्तरपदे कर्मधारये

१. यह परम्परा से प्राप्त उदाहरण किसी प्राचीन काव्य ग्रन्थ का है। इस उदाहरण से यह व्यक्त होता है कि प्राचीन काल में काव्य ग्रन्थ भी स्वरयुक्त थे। अन्यथा काव्योदाहरण के स्थान पर 'तापसरिक्षतम्' पदमात्र से प्रकृत सूत्र, गतार्थ हो सकता था।

हो

समासे अनिष्टान्तं पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा० — श्रेणिकृताः ष्ट्रंताः, पूगकृताः, निधनेकृताः ॥

भाषार्थः - कान्त उत्तरपद् रहते [कर्मधारये] कर्मधारय समा [अनिष्ठा] अनिष्ठान्त पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हो जाता है।। श्रेषि। वहिश्रिश्र युद्र (उसा० ४.५१) से नि प्रत्ययान्त है, यहाँ नि अनुवृत्ति आने से श्रेणि शब्द नित् स्वर से आद्युदात्त है। 'क 'निधन' की सिद्धि सूत्र ६।२।३२ में देखें। पूरा शब्द छापृज्याः गक् (दशपा० ३।६९) से गक् प्रत्ययान्त होने से अन्तोदात्त है॥

अहीने द्वितीया ॥६।२।४७॥

अहीने ७।१।। द्वितीया १।१।। स०—अहीन इत्यत्र नज्तसः अनु > — क्ते, प्रकृत्या पूर्वपद्म्।। अर्थः — अहीनवाचिनि समासे हि उत्तरपदे द्वितीयान्तं पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०-कृषं र त्रिशंकरुपतितः, प्रामंगतः ॥

भाषार्थः—[अहीने] अहीनवाची समास में कान्त उत्तरपर [द्वितीया] द्वितीयान्त पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है।। कष्ट गर्व प्रत्ययान्त होने से प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। कुच्छ्रगहनयो (७।२।२२) से यहाँ इट् का प्रतिषेध हुआ है। त्रीणि शक्छान्यस्म कलः यहाँ बहुत्रीहि समास हुआ है, अतः पूर्वपद प्रकृतिस्वर होते क प्रातिपदिक स्वर से त्रि उदात्त है, पश्चात् त्रिशकल का पतित के उ द्वितीया तत्पुरुष समास हुआ, सो प्रकृत सूत्र से प्रकृतिस्वर हो प्राम शब्द पसेरा च (उणा० १।१४३) से मन् प्रत्ययान्त है, यह अ की अनुवृत्ति १।१४० से आ रही है। इस प्रकार नित् स्वर से आ दात्त यह शब्द है। कष्टिश्रितः = कष्ट को प्राप्त हुआ २ यहाँ सर्वत्र है पदार्थ का पूर्वपदार्थ से पृथक्त न होने से अहीन अर्थ है।।

त्तीया कर्मणि ॥६।२।४८॥

तृतीया १।१॥ कर्मणि ७।१॥ श्रनुः—क्ते, प्रकृत्या पूर्वण ६। अर्थ:—कमेवाचिनि क्तान्त उत्तरपदे तृतीयान्तं पूर्वपदं प्रकृतिस्वरंभवी उदा० - अहिह्ती:, वुज्रह्तः, महाराजह्तः, नुखिनिर्भिना, ल्ना॥

माषार्थः—[कर्मणि] कर्मवाची कान्त उत्तरपद रहते [तृतीया]
तृतीयान्त पूर्वपद की प्रकृतिस्वर हो जाता है।। अहि शब्द आि
श्रिहनिभ्यां हस्वश्च (उणा० ४।१३८) से आङ्पूर्विक हम घातु से इण्
प्रत्ययान्त है। यहाँ ४।१३४ से डित् की अनुवृत्ति भी होने से टि भाग
का छोप एवं आङ् को हस्वत्व होकर अहिः बना। अतः प्रत्ययस्वर से
अन्तोदात्त यह शब्द है । वज्र शब्द ऋजेन्द्रायवज्र० (उणा० २।२८) से रक्
प्रत्ययान्त निपातन है, अतः प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। महाराज
शब्द भी राजाहःसिष्टि० (४।४)६१) से टच् प्रत्ययान्त होने से अन्तोदात्त
है। नास्य खमस्तीति नखः यहाँ बहुव्रीहि समास हुआ है अतः नन्भुभ्याम्
(६।२।१७१) से अन्तोदात्त यह शब्द है नभ्राणनपात्रवैदा० (६।३।७३)
में 'नख' के नब्द को प्रकृतिभाव होने के कारण नलोपो नबः (८।१।७१)
से नकार का छोप नहीं होता। दात्र शब्द दाम्नीशस० (३।२।१८२)
से कृत् प्रत्ययान्त है, अतः नित् स्वर से आद्युदात्त है।।
यहाँ से 'कर्मिण' की अनुवृत्ति ६।२।४६ तक जायेगी।।

गतिरनन्तरः ॥ ६।२।४९॥

गतिः १।१॥ अनन्तरः १।१॥ स०—अविद्यमानम् अन्तरम् यस्य सः अनन्तरः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—कर्मणि, क्ते, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः— कर्मवाचिनि कान्त उत्तरपदे अनन्तरो गतिः पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०—प्रकृतः, प्रहृतः ॥

भाषार्थः — कर्मवाची कान्त उत्तरपद रहते पूर्वपदस्थ [अनन्तरः] अनन्तर अर्थात् अव्यवहित [गितिः] गिति को प्रकृतिस्वर होता है।। उदाहरण में कृत, हृत शब्द कान्त हैं, उनसे अव्यवहित पूर्व 'प्र' गिति है। गितिश्च (१।४।५९) से 'प्र' की गिति संज्ञा होती है। इस प्रकृर प्रकृतिस्वर होने पर उपसर्गाश्चाभिवर्जम् (फिट्ट ८०) से 'प्र' उदान होता है।।

यहाँ से 'गितिः' की अनुवृत्ति ६।२।५२ तक तथा 'श्रनन्तरः' की ६।२।५१ तक जायेगी॥

१. केचित्तु आद्युदात्तमिच्छन्ति, ते पूर्वस्त्रादुदात्तग्रहणमेनुवर्तयन्ति । द्रे॰

तादौ च निति कृत्यतौ ॥६।२।५०॥

तादो ७।१॥ च अ०॥ निति ७।१॥ कृति ७।१॥ अतौ ७।१॥ क्ति ७।१॥ कतौ ७।१॥ क्ति ७।१॥ अतौ ७।१॥ क्ति जाद्यंस्य स तादिः, तिस्मन् बहुव्रीहिः। नकार इत् क नित् तस्मिन् "" बहुव्रीहिः। न तुः, अतुस्तस्मिन् "" नञ्तसुक अनु० – गतिरनन्तरः, प्रकृत्या पूर्वेपदम्॥ अर्थः — तुशब्दवर्जिते चतक निति कृति परतः गतिरनन्तरः पृवेपदं प्रकृतिस्वरं भवति॥ जा प्रकृतिः परतः गर्तरनन्तरः पृवेपदं प्रकृतिस्वरं भवति॥ जा प्रकृत्तीं, प्रकृतिः॥

भाषार्थः—[अतो] तु शब्द को छोड़कर [तादों] तकाराहि [निति] नकार इत् संज्ञक है जिसका ऐसे [क्विति] कृत् के परे [च] भी अनन्तर पूर्वपद गित को प्रकृतिस्वर होता है।। प्रकर्ता में प्रत्यय हुआ है, तथा प्रकर्त्तम् में तुमुन्, एवं प्रकृतिः में क्तिन् हुआ तीनों प्रत्यय नित्, कृत् संज्ञक एवं तकारादि हैं। अतः प्रकृतिस्वर पूर्ववत् 'प्र' उदात्त हो गया।।

तवै चान्तश्च युगपत् ॥६।२।५१॥

तवै लुप्तप्रथमान्तिनिर्देशः ॥ च अ०॥ अन्तः १।१॥ च अ०॥ अ अ०॥ अनु०—गांतरनन्तरः, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः—तवैप्रत्ययसः उदात्तो भवति गतिश्चानन्तरः पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति युगपवैतः स्यात् ॥ उदा०—अन्वे त्वै, परि स्तरित्वै, परि पात्वै, अभिचंखि

भाषार्थः—[तनै] तनै प्रत्यय को [श्रन्तः] अन्त उदात [न] होता है, [न] तथा अनन्तर पूर्वपद गित को भी प्रकृतिस्वर [ग्राप्क साथ होता है।। श्रनुदात्तं पदमेकवर्जम् (६।१।१५२) परिभाष कारण पद में एक अच् को ही उदात्त प्राप्त था, अतः यहाँ युग्रिंकर एक साथ दो उदात्त कह दिये।। प्रकृति स्वर में पूर्ववत् को आद्युदात्त होगा। उपसर्गाश्चामिवर्जम् (फिट्० ८०) में अभि को कर आद्युदात्त विधान किया है, अतः अभिचरितवे में 'अभि' आधा न होकर प्रातिपदिक स्वर से अन्तोदात्त है।। 'वै' सर्वत्र उदात्ती

अनिगन्तोऽञ्चतौ वप्रत्यये ॥६।२।५२॥

अनिगन्तः १।१।। 'अञ्चतौ ७।१।। वप्रत्यये ७।१।। स०—न विद्यते । अन्ते यरय सः अनिगन्तः, बहुव्रीहिः । वकारः प्रत्ययो यस्य स^{वप्र} यः

W.

1

दाः

दि

रें।

सं

आ (ह

15

1

1

स्तिस्मन्बहुव्रीहिः ।। अनु०—गितः, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ श्रर्थः—अति-गन्तो गतिर्वप्रत्ययान्तेऽञ्चतौ परतः प्रकृतिस्वरो भवति ॥ उदा०—प्राङ् , प्राञ्चौ', प्राञ्चंः, पर्राङ् , पर्राञ्चौ, पर्राञ्चः ॥

भाषार्थः—[अनिगन्तः] इक् अन्त में नहीं है जिसके, ऐसे गित-संज्ञक को [वप्रत्यये] वप्रत्ययान्त [अञ्चतौ] अञ्चु धातु के परे रहते प्रकृतिस्वर होता है।। प्राङ् की सिद्धि भाग १ परि० ३।२।५९ पृ० ८६२ में देखें। इसी प्रकार पराङ् भी बनेगा। प्र परा अनिगन्त गित हैं, अञ्चु धातु किन् प्रत्ययान्त है। किन् का व् शेष रह जाता है, अतः वप्रत्य-यान्त अञ्चु परे है ही। प्रकृतिस्वर कहने से पूर्ववत् आदुदात्त हो जायेगा, स्विरतो वानुदात्ते० (८।२।६) से पक्ष में स्विरतत्व भी होता है।

यहाँ से 'अव्चतौ वप्रत्यये' की अनुवृत्ति ६।२।५३ तक जायेगी।।

न्यधी च ॥६।२।५३॥

न्यधी १।२।। च अ०।। स०—िनश्च अधिश्च न्यधी, इतरेतरद्वन्द्वः॥ श्रमु० — अञ्चतौ वप्रत्यये, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः—िन अधि इत्येतौ चाञ्चतौ वप्रत्यये परतः प्रकृतिस्वरौ भवतः॥ उदा०—न्यंङ्, न्यंञ्चौ, न्यंञ्चः, अध्यंङ्, अध्यंञ्चौ, अध्यंञ्चः, अधींचः, अधींचा॥

भाषार्थः — वप्रत्ययान्त अञ्चु के परे रहते [न्यघी] नि अधि को चि भी प्रकृतिस्वर होता है।। नि अधि इगन्त हैं, अतः पूर्वसूत्र से प्राप्त नहीं था, यहाँ विधान कर दिया।। न्यङ् यहाँ नि पूर्ववत् उदात्त था, यणादेश करने पर उदात्तस्विरितयोर्थणः (८।२।६) से 'य' का 'अ' स्विरित हो गुगा। अधि का अ पूर्ववत् उदात्त है। अधीचः अधीचा में 'चैं' (६।१।६१६) प्राप्त था उसका यह अपवाद है।।

ईषद्न्यतरस्याम् ॥६।२।५४॥

ईषत् अ०।। अन्यतरस्याम् ७।१॥ अनु०—प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः—ईषदित्येतत् पूर्वपदं विकल्पेन प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०—ईषत्-केडारः, ईषत्कडारः, ईषत्पिङ्गलः ईषत्पिङ्गलः ॥

भाषार्थ: — पूर्वपद स्थित [ईषत्] ईषत् को [अन्यतरस्याम्] विकल्प से अकृतिस्वर होता है।। ईषत् शब्द प्रातिपदिकस्वर से अन्तोदात्त है,

हे

q

ह

श

व

f

य

ল

पक्ष में समासस्य (६।१।२१७) का अपवाद होने से समास को अन्तोदा होगा । ईषदञ्चता (२।२।७) से यहाँ समास होता है ।।

यहाँ से 'अन्यतरस्यार्म्' की अनुवृत्ति ६।२।६३ तक जायेगी।।

हिरण्यपरिमाणं धने ॥६।२।५५॥

हिरण्यपरिमाणम् १।१॥ धने ७।१॥ सः—हिरण्यञ्च तत् परिमाणः हिरण्यपरिमाणम् , कर्मधारयस्तत्पुरुषः ॥ श्रनु०-अन्यतरस्याप्, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः —हिरण्यपरिमाणवाचि पूर्वपदं उत्तरपदे विकल्पेन प्रकृतिस्वरं भवति ।। उदाः—द्वे सुवर्णे परिमाणः स्येति द्विसुवर्णम् , द्विसुवर्णमेव धनं द्विसुवर्णधंनम् , द्विसुवर्णधनम् ॥

भाषार्थः — [हिरएयपरिमाराम्] हिरण्य और परिमाण दोनों अथौं हे कहने वाले पूर्वपद को [धने] धन शब्द उत्तरपद रहते विकल्प से प्रकृति स्वर होता है।। सुवर्ण शब्द सोने का वाचक है, तथा सोने के तौछ= माषा के परिमाण को भी कहता है, अतः सुवर्णशब्द परिमाण और सोन दोनों का वाचक हुआ।। द्विसुवर्ण यहाँ तिबतार्थों० (२।१।५१) से समा होता है, अतः समासस्य से अन्तोदात्त होगा। प्रान्वतेष्ठञ् (५११११) से जो ठब् प्रत्यय होता है उसका अध्यर्ध (५१११८) से लुक् जाता है पश्चात् धन शब्द के साथ कर्मधारय समास हुआ तब प्रकृति स्वर होकर 'णे' ही उदात्त रहा ।। उदा - द्विसुवर्णधनम् (दो सुवर्णः ३२ माषा धन) ॥

प्रथमोऽचिरोपसंपत्तौ ॥६।२।५६॥

प्रथमः १।१।। अचिरोपसंपत्तौ ७।१।। स०-न चिरा अचिरा नि तत्पुरुषः। अचिरा उपसंपत्तिः = उपरलेषः, सम्बन्धः अचिरोपसंपित अ तस्मिन् " कर्मधारयतत्पुरुषः ॥ अनु - अन्यतरस्याम् , अर्थः—अचिरोपसंपत्तौ गम्यमानायां प्रथमशब्दः पूर्वम विकल्पेन प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०—प्रथमवैयाकरणः, प्रथमवैवा से करणः॥

भाषार्थः—[अचिरोपसम्पत्तौ] अचिरकाल उपसम्पत्ति = सम्बन्ध गम्यमान हो तो [प्रथ्नमः] प्रथम पूर्वपदस्थित शब्द को विकल्प से प्रकृषि स्वर होता है।। प्रथम शब्द प्रथेरमच् (उगा० ५।६८) से अमच् प्रत

पादः]

यान्त है, अतः चित् स्वर से अन्तोदात्त है। पक्ष में समास अन्तोदात्तत्व होगा।। उदा०—प्रथमवैयाकरणः (व्याकरण का नवीन विद्वान्) पहले पहल पढ़ने से यहाँ अचिरोपसम्पत्ति गम्यमान है।। पूर्वापरप्रथम० (२।१।५८) से उदाहरण में समास हुआ है।।

कतरकतमी कर्मधारये ॥६।२।५७॥

कतरकतमी १।२॥ कर्मधारये ७।१॥ स०—कतर० इत्यत्रेतरेतर-दृन्द्वः ॥ अनु०—अन्यतरस्याम् , प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः—कतर कतम इत्येते पूर्वपदे विकल्पेन प्रकृतिस्वरे भवतः कर्मधारये समासे ॥ उदा०— कृत्रकंठः, कृत्रकठः । कृत्मकंठः, कृत्मकठः ॥

भाषार्थ: — पूर्वपद स्थित [कतरकतमी] कतर तथा कतम शब्द को [कर्मधारये] कमधारय समास में विकल्प से प्रकृतिस्वर होता है।। कतर शब्द कियत्तदो० (५।४।५२) से डतरच् प्रत्ययान्त है, तथा कतम वा बहूनां जाति०(५।४।६३) से डतमच् प्रत्ययान्त है, अतः दोनों शब्द चित् स्वर से अन्तोदात्त हैं। पक्ष में समास का अन्तोदात्तत्व होगा ही।। यहाँ कतरकतमी० (२।१।६३) से समास हुआ है।।

यहाँ से 'कर्मधारये' की अनुवृत्ति ६।२।५९ तक जायेगी।।

आर्यो ब्राह्मणकुमारयोः ॥६।२।५८॥

आर्थः १।१॥ ब्राह्मणकुमारयोः ७।२॥ स०—ब्राह्मण० इत्यन्नेतरेतर-इन्द्रः ॥ श्रनु०—कर्मधारये, अन्यतरस्याम् , प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः— ब्राह्मणकुमारशब्दयोरत्तरपद्योरार्यशब्दः पूर्वपदं विकल्पेन प्रकृतिस्वरं भवति कर्मधारये समासे ॥ उदा०—आर्थं ब्राह्मणः, आर्ये ब्राह्मणः, आर्थं कुमारः, आर्ये कुमारः ॥

भाषार्थः—[ब्राह्मणकुमारयोः] ब्राह्मण तथा कुमार शब्द उत्तरपद् रहते कर्मधारय समास में पूर्वपद स्थित [ब्रायंः] आर्य शब्द को विकल्प से प्रकृतिस्वर होता है।। आर्य शब्द ऋहलोण्यंत् (३।१।१२४) से ण्यत् प्रत्ययान्त है, अतः तित्स्विरितम् (६।१।१७६) से अन्त स्वरित है। पक्ष में पूर्ववत् स्वर होगा।।

यहाँ से 'बाह्मणकुमारयोः' की अनुवृत्ति ६।२।५९ तक जायेगीः॥

राजा च ॥६।२।५९॥

राजा १।१॥ च अ०॥ अनु०—ब्राह्मणकुमारयोः, कर्मधारये, क तरस्याम् , प्रकृत्या पूर्वपद्म् ॥ अर्थः—ब्राह्मणकुमारयोरुत्तरपद्योः ह धारये समासे राजा च पूर्वपदं विकल्पेन प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उद्यान् राजंब्राह्मणः, राज्ब्राह्मणः । राजंकुमारः, राज्कुमारः ॥

भाषार्थः — ब्राह्मण तथा छमार शब्द उत्तरपद रहते कर्मधारय सम में पूत्रेपद स्थित [राजा] राजन् शब्द को [च] भी विकल्प से फ्रां स्वर होता है।। राजन् शब्द युवृषितिक्षि० (उणा० १।१५६) से क्रां प्रत्ययान्त है, अतः नित्स्वर से आद्युदात्त है।।

यहाँ से 'राजा' की अनुवृत्ति ६।२।६० तक जायेगी।।

षष्ठी प्रत्येनसि ॥६।२।६०॥

षष्टी १।१॥ प्रत्येनसि ७।१॥ स० प्रतिगतसेनः पापं यस्य स प्रते तिस्मन् वहुत्रीहिः ॥ अनु० राजा, अन्यतरस्याम् , प्रकृत्या पूर्वपत् अर्थः पष्टन्यन्तो राजशब्दः पूर्वपदं प्रत्येनस्युत्तरपदे विकल्पेन प्रश्रे स्वरं भवति ॥ उदा० राज्ञां प्रत्येनाः, राज्ञाः प्रत्येनाः । राजप्रते राज्यत्येनाः ॥

भाषार्थ:—[षष्ठी] षष्ठचन्त पूर्वपद स्थित राजन् शब्द को [प्रत्येनी प्रत्येनस् शब्द उत्तरपद रहते विकल्प से प्रकृतिस्वर होता है ॥ पूर्व स्वर सिद्धि जानें ॥ पूर्व के दो उदाहरणों 'राज्ञ:प्रत्येनाः' में ष्टि आकोशे (६१३।१६) से आकोश में षष्ठी का अलुक् हुआ है, तथा आकोश अर्थ की विवक्षा नहीं होगी तो षष्ठी का लुक् होकर उदाहरण 'राजप्रत्येनाः' बनेंगे । अलुक् एवं स्वरभेद से कुछ ४ उदाह बने हैं ॥

क्ते नित्यार्थे ॥६।२।६१॥

क्ते ७।१॥ नित्यार्थे ७।१॥ स०—नित्यः अर्थो यस्य स नित्या स्तिस्मन् वहुत्रीहिः ॥ अनु०—अन्यतरस्याम् , प्रकृत्या पूर्वपर्य अर्थः—कान्त उत्तरपदे, नित्यार्थे समासे पूर्वपद्मन्यतरस्यां प्रकृति भवति ॥ उदा०—नित्यंप्रहसितः, नित्यप्रहसितः । स्ततप्रहसितः, स्व प्रहसितः ॥

î

भाषार्थः—[के] क्तान्त उत्तरपद रहते [नित्यार्थे] नित्य अर्थ है जिसका ऐसे समास में विकल्प से पूर्वपद को, प्रकृतिस्वर होता है।। नित्य शब्द त्यन्नेष्ठुं वे (वा० ४।२।१०३) इस वार्त्तिक से त्यप् प्रत्य-यान्त है, अतः पित् होने से 'य' अनुदान्त तथा 'नि' उपसर्गा० (फिट्० ८०) से उदान्त है। सतत शब्द में जब भाव में क्त होगा तो शायघञ्० (६।२।१४३) से अन्तोदान्त होगा तथा जब कर्म में क्त होगा, तो गितरनन्तरः (६।२।४९) से पूर्वपद प्रकृतिस्वर होगा।। पक्ष में पूर्ववत् अन्तोदान्त स्वर है।। कालाः (२।१।२७) सूत्र से यहाँ द्वितीया तत्युक्ष समास हुआ है।। उदा०—नित्यप्रहसितः (सदा हँसता हुआ)। सत्तप्रहसितः (पूर्ववत्) सर्वत्र यहाँ नित्यार्थ है ही।।

ग्रामः शिल्पिन ॥६।२।६२॥

प्रामः १।१॥ शिल्पिनि ७।१॥ श्रनु०—अन्यतरस्याम्, प्रकृत्या पूर्व-पदम्॥ श्रर्थः—प्रामशब्दः पूर्वपदं शिल्पिवाचिन्युत्तरपदे विकल्पेन प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०—प्रामनापितः, श्रामनापितः। श्रामकुलालः, शुमकुलालः॥

भाषार्थ:—[शिल्पिन] शिल्पिवाची उत्तरपद् रहते [ग्रामः] प्राम पूर्वपद को विकल्प से प्रकृतिस्वर हो जाता है।। प्राम शब्द का स्वर ६१२१४७ सूत्र में देखें।। उदाहरणों में षष्टीतत्पुरुष समास है। पक्ष में पूर्ववत् अन्तोदात्त स्वर है।। उदा०—प्रामनापितः (गाँव का नाई), प्राम-इलालः (गाँव का कुम्हार)।। यहाँ उत्तरपद् नापित, कुलाल शब्द शिल्पी = कारीगरवाची हैं ही।।

यहाँ से 'शिल्मिन' की अनुवृत्ति ६।२।६३ तक जायेगी।।

राजा च प्रशंसायाम् ॥६।२।६३॥

राजा १।१॥ च अ० ॥ प्रशंसायाम् ७।१॥ श्रवु०--शिल्पिन, अन्यत-स्याम् , प्रकृत्या पूर्वेपद्म् ॥ श्रर्थः—शिल्पिवाचिन्युत्तरपदे राजशब्दः पूर्वेपदं विकल्पेन प्रकृतिस्वरं भवति प्रशंसायां गन्यमानायाम्॥ उदा०—राजनापितः, राजनापितः, राजकुळाळः, राजकुळाळः॥

भाषार्थः— [प्रशंसायाम्] प्रशंसा गम्यमान हो तो शिल्पिवाची शब्द उत्तरपद रहते [राजा] राजन् पूर्वपद वाले शब्द को [च] भी विकल्प से प्रकृतिस्वर होता है ।। राजन् शब्द का स्वर सूत्र ६।२।५९ मेंदेखें। पक्ष में अन्तोदात्तत्व होगा ही । उदाहरणों में कर्मधारय समास है। राजां गुण का अध्यारोप उत्तरपद में किया जा रहा है, अतः उत्तरपदार्थं। प्रशंसा गम्यमान होती है। षष्टीसमास मानने पर भी राजा का बं होने से प्रशंसा प्रतीत होती है, अतः दोनों समास हो सकते हैं। उदा०—राजनापितः (राजा नाई अर्थात् निपुण नाई, अथवा राजा ह नाई), राजकुछाछः।।

[पूर्वपदाद्युदात्तप्रकरण्यम्]

आदिरुदात्तः ॥६।२।६४॥

आदिः १।१॥ उदात्तः १।१॥ श्रनुः— पूर्वेपदम् ॥ अर्थः—आदिस्स इत्ययमधिकारो वेदितव्यः, इत उत्तरं यद्वक्ष्यामस्तत्र पूर्वेपदस्याः रुदात्तो भवति ॥ उदाः स्तूपे'शाणः, मुक्कंटेकार्षापणम् ॥

भाषार्थ:—यह अधिकार सूत्र है। यहाँ से आगे जो कुछ करें उसके पूर्वपद के [म्रादि:] आदि को [उदात्त:] उदात्त होता है, ऐ जानना चाहिये।। उदाहरण में सप्तमीहारिशाै० (६।२।६५) से पूर्व आद्युदात्त हुआ है।।

यहाँ से 'आदिः' की अनुवृत्ति ६।२।६१ तक तथा 'उदातः' वि

सप्तमीहारिणौ धम्र्येऽहरणे ॥६।२।६५॥

सप्तमीहारिणौ १।२॥ घम्ये ७।१॥ अहरण ७।१॥ स०—सप्तमी हारी च सप्तमीहारिणौ, इतरेतरद्वन्द्वः । अहरण इत्यत्र तव्यत्तर्व अनु०—आदिरुदात्तः पूर्वपदम् ॥ हारीत्यावश्यके (३।३।१७०) णिति अर्थः—हरणशब्दविजेते धम्येवाचिति उत्तरपदे सप्तम्यन्तं हार्विच पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति ॥ उदा०—स्तूपे शाणः, मुकुंटेकार्वाण्ण हले द्विपदिका, हले त्रिपदिका, हले दिमाषकः । हारिणि-याहिका वैयाकरणहस्ती, मार्जुलाश्वः, पितृंत्यगवः ॥

भाषार्थः—[अहरणे] हरण शब्द को छोड़कर [धर्म्ये] धर्म्या शब्दों के परे रहते- [सप्तमीहारिणी] सप्तम्यन्त तथा हारिवाची पूर्व को आद्युदात्त होता है।। धर्मादनपेतमनुगतं धर्म्यम्, धर्म्यप्य fe

II à

- The sing

दाः

Tie.

ऐस

1

ŗ.

P.

(४।४।६२) से यहाँ यत् प्रत्यय होता है। कुछ या देश की परम्परा के अनुसार जो किसी को देने योग्य वस्तु हो उसे धर्म्य कहते हैं। देय बस्तु को जो अवश्य स्वीकार करता है उसे 'हारी' कहते हैं॥ स्तृपेशाणः, मुकुटेकार्षापणम् इलेद्विपदिका आदि में शाण कार्षापण और पाद शब्द प्राचीन काल के विशेष सिक्कों के वाचक हैं। स्तूपनिर्माण के समय, मुकुट = राज्यारोहण के समय, एकहल से जोतने योग्य भूमि पर लगने वाला जो धर्मानुकूल कर है वह स्तूपेशाणः आदि गव्दों से कहा जाता है। इन उदाहरणों में सप्तम्यन्त पूर्वपद में है तथा धर्म्यवाची (कुळ परम्परा या देश परम्परा से देने योग्य वस्तुवाची) उत्तरपद में है। यहाँ सर्वत्र संज्ञायाम् (२।१।४३) से समास तथा कार्नाम्नि च० (६।३।८) से सप्तमी विभक्ति का अलुक् हुआ है। याज्ञिकाश्वः (यज्ञ कराने वाले को दक्षिणा में दिया जाने वाला घोड़ा), वैयाकरणहस्ती (वैयाकरण को उपहार में दिया जाने वाला हाथी) आदि उदाहरणों में हारिवाची याज्ञिक तथा वैयाकरण (चूँकि इनको देय वस्तु खीकार है, अतः ये हारिवाची हैं) पूर्वपद में हैं, धर्म्य उत्तरपद में है ही। धर्म्य तथा हारी से यहाँ स्वरूप का प्रहण न होकर अर्थ का प्रहण है।। ये सब सूत्र भी समासस्य के अपवाद हैं।।

युक्ते च ॥६।२।६६॥

युक्तं भीशा च अ०॥ अनु०—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम्॥ अथः— युक्तवाचिनि च समासे पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति॥ उदा०—गोवंद्धवः, अर्वविद्धवः। गोर्मणिन्दः, अर्थमणिन्दः। गोर्सङ्ख्यः, अर्र्वसङ्ख्यः॥

माषार्थ:—[युक्ते] युक्तवाची समास में [च] भी पूर्वपद को आद्यु-दात्त होता है। बछव शब्द गाय के पालक का वाचक है, इस प्रकार गाय के पालन आदि कर्म में अच्छे प्रकार तत्पर होने से यहाँ युक्तत्व अर्थ है।।

विभाषाऽध्यक्षे ॥६।२।६७॥

भाषार्थः—[अध्यक्ते] अध्यक्ष शब्द उत्तरपद रहते पूर्वपद । [विभाषा] विकल्प से आद्युदात्त होता है ।। समासस्य का अफ होने से पक्ष सें अन्तेदात्त होगा ।। उदाः— गवाध्यक्षः (गाय । तिरीक्षक) ।।

यहाँ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति ६।२।६८ तक जायेगी।।

पापं च शिल्पिन ॥६।२।६८॥

गापम् १११॥ च अ०॥ शिलिपनि ७११॥ श्रनु०—विभाषा, अं रुद्गत्तः, पूर्वपदम् ॥ श्रर्थः — शिलिपवाचिन्युत्तरपदे पापशब्दः प्रिविभाषाऽद्युदात्तं भवति ॥ उदा०—पापनापितः, पापनापितः। ग कुलालः, पापकुलालः॥

भाषार्थ: — [शिल्पिन] शिल्पिवाची शब्द उत्तरपद रहते [गा प्राप्त शब्द को चि] भी विकल्प से आद्युदात्त होता है।। पक्ष में विवत्त अन्तोदात्तत्व होगा। पापाण्यके कुत्सितैः (२।१।५३) से उदाहणीं समानाधिकरण समास हुआ है।। पापनापितः का अर्थ है बुरा को क्षीर को ठीक प्रकार से न कर सके।।

गोत्रान्तेवासिमाणवत्राह्मणेषु क्षेपे ॥६।२।६९॥

गोत्रा'''' णेषु ७।३।। क्षेपे ७।१।। स०—गोत्रक्च अन्तेवासी माणवश्च ब्राह्मणश्च गोत्रा'''' ह्मणास्तेषु'''' इतरेतरद्वन्द्वः ॥ श्रुषः आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ श्रर्थः—क्षेपवाचिति समासे गोत्रवार्वि अन्तेवासिवाचिति, चोत्तरपदे माणवब्राह्मणयोश्चोत्तरपद्योः पूर्वपदमाः दात्तं भवति ॥ उदा०—गोत्र—जङ्घा वात्स्यः, भार्यासौश्रुतः वशां कृतेयः । अन्तेवासी - कुमारीदाक्षाः, ओद्नपाणिनीयाः, घृतंरौर्व कम्बंद्रचारायणीयाः । माणव—भिर्चामाणवः । ब्राह्मण—दासी ब्राह्म वृषंठीब्राह्मणः, भर्यब्राह्मणः ॥

भाषार्थः—[क्तेपे] क्षेप = निन्दावाची समास में [गोत्राती क्षेप माणवनाह्मणेषु] गोत्रवाची, अन्तेवासिवाची तथा माणव एवं क्षेष्ठ शब्दों के उत्तरपद रहते पूर्वपद को आद्युदात्त होता है।। सर्वत्र हरणों में जिस किसी हेतु से निन्दा प्रकट की जा रही है, अतः विवासियाची समास है।। उदा०—जङ्घावास्यः (श्राद्ध इत्यादि में जाने पर्व

वात्य गोत्र वाले के ही पादप्रक्षालनादि कार्य किये जाते हों, वहाँ कोई क अवात्स्य जाकर कहे कि 'सैं वात्स्य हूँ' ताकि उसका भी पादप्रशालन हो, ा तो उसे जङ्घावात्स्यः कहकर पुकारेंगे, यही यहाँ निन्दा है), भार्यासीश्रतः (भार्या की प्रधानता वाला सुश्रुत का अपत्य) भार्याप्रधानः सौश्रुतः भार्या-सौश्रुतः । यहाँ शाकपार्थिवा । (वा० २।१।५९) वार्त्तिक से समास तथा उत्तरपद (प्रधान) का लोप हुआ है। वशाबाह्यकृतेयः (वशा वन्ध्या स्त्री को कहते हैं, अतः अर्थ होगा वन्ध्या स्त्री की प्रधानता वाला ब्रह्मकृत का अपत्य, यही यहाँ क्षेप है)। यहाँ ब्रह्मकृत शब्द ग्रुश्रादि गण में पठित होने से शुभादिभ्यश्च (४।१।१२३) से ढक प्रत्यय हुआ है। भार्या-सौश्रुतः के समान यहाँ भी समास जाने । कुमारीदाक्षाः (कन्या प्राप्ति की इच्छा से दाक्षि = ज्यांडि के प्रोक्त संप्रह प्रन्थ को पढ़ने वाले) मिक्षामाणवः (भिक्षा प्राप्ति की आशा से ब्रह्मचर्य से रहने वाला), दासीब्राह्मणः (दासी जिसकी भार्या है ऐसा ब्राह्मण), भयब्राह्मणः (दण्ड के भय से ब्राह्मण बनने वाला)। दासीब्राह्मणः, वृषलीब्राह्मणः भयब्राह्मणः में कर्त्तृकरणे० (२।१।३१) से बहुल से (कृत् न होने पर भी) समास हुआ है, तथा अन्यों में 'सुप् सुपा' के योगविभाग से समास जानें।।

अङ्गानि मैरेये ॥६।२।७०॥

अङ्गानि १।३।। मैरेये ७।१।। अनु०—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम्॥ अर्थः—मैरेयशब्द उत्तरपदे तदङ्गवाचीनि पूर्वपदान्याद्युदात्तानि भवन्ति ॥ मद्यविशोषो मैरेयः। अङ्गशब्दश्च उपादानकारणवाची॥

ह ज्दा० - गुडंमैरेयः, मधुंमैरेयः॥

भाषार्थ:—[मैरेये] मैरेय शब्द उत्तरपद रहते उसके [अङ्गानि] अङ्ग = उपादानकारणवाची पूर्वपद को आद्युदात्त होता है ॥ मैरेय मध विशेष का वाचक है । अङ्ग शब्द का यहाँ उपादान कारण अर्थ है अर्थात् जिससे मैरेय बनाई जाए । उत्तरपद मैरेय होने से पूर्वपद अङ्ग शब्द से मैरेय का ही अङ्ग = उपादान कारण लिया गया है । गुडमैरेयः आदि में गुड़ की शराब, शहद की शराब अर्थ होने से गुड एवं मधु मैरेय के उपादन कारणवाची पूर्वपद स्थित शब्द हैं ॥

मक्ताख्यास्तदर्थेषु ॥६।२।७१॥

भक्ताख्याः १।३॥ तद्रथेषु ७।३॥ स०—भक्तस्याख्या भक्ताख्याः

षष्ठीतत्पुरुषः। तेभ्य इमानि, तदर्थानि तेषुः 'चतुर्थीतत्पुरुषः॥ क् आदिरुदात्तः, पूर्वपद्य्॥ अर्थः — भक्तवाचिनः शब्दास्तद्र्थैषूत्तरपरेष दात्ता भवन्ति ॥ उदार्व – भिक्षांकंसः, श्राणीकंसः, भाजींकंसः॥

भाषार्थ: — भक्त अन्न को कहते हैं। आख्या प्रहण अन्न के एवं तिद्वरोष का प्रहण हो इसिलये है। [भक्ताख्या:] अन्न की क वाले शब्दों को [तदर्थेषु] तद्र्थ (अन्न के लिये) जो (पात्रादि क शब्द के उत्तरपद रहते आद्युदात्त होता है।। उदा० — भिक्षाकंसः (क का पात्र), श्राणाकंसः (लप्सी का पात्र) भाजीकंसः (माँड का पात्र) भिक्षा आदि शब्द अन्नविशेषवाची हैं, कंस (= कांसी का बना तद्र्थे शब्द है ही।।

गोनिडालसिंहसैन्धवेषूपमाने ॥६।२।७२॥

गोबिडालसिंहसैन्धवेषु अ३॥ उपमाने अ१॥ स०—गोबि० ह तरेतरद्वन्द्वः ॥ श्रमु०—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ श्रर्थः—गो,बि सिंह, सैन्धव इत्येतेषूपमानवाचिषूत्तरपदेषु पूर्वपदमाद्युदात्तं भवं उदा०—धान्यं गौरिव धान्यंगवः, हिरंण्यगवः । भित्तांबिडालः। सिंहः, काष्ठसिंहः । सक्तुंसैन्धवः, पानसैन्धवः॥

माषार्थः—[गोबि चेषु] गो, बिडाल, सिंह, सैन्धव इन जिल उपमानवाची शब्दों के उत्तरपद रहते पूर्वपद को आद्युदात्त होता उदाहरणों में उपमितं व्याघा० (२।१।५५) से समास होता है ।। गवः यहाँ गोरतिद्धत० (५।४।६२) से समासान्त टच् प्रत्यय हुआ है वित्त स्वर प्राप्त था पूर्वपद आद्युदात्त कह दिया । अन्यत्र समास के इत्तात्त्व ही प्राप्त था तदपवाद है ।। उदा०—धान्यगवः (गाय के इत्तात्त्व ही प्राप्त था तदपवाद है ।। उदा०—धान्यगवः (गाय के इत्तात्त्व ही प्राप्त था तदपवाद है ।। उदा०—धान्यगवः (गाय के इत्तात्व ही प्राप्त था तदपवाद है ।। उदा०—धान्यगवः (गाय के इत्तात्व ही प्राप्त था तदपवाद है ।। उदा०—धान्यगवः (गाय के इत्ताव्य अत्राव्य विशेष के समान हिंदि अत्रराशि), हिरण्यगवः (गो के अवयव विशेष के समान हिंदि सिक्षाविडालः (बिलार की तरह मिक्षा अर्थात् अति न्यून)। हिंदि (सिंह की तरह घास का ढेर)। सक्तुसैन्धवः (नमक की तरह पिसा हुआ सत्तू)।।

१. व्याघ्रादिगण में 'सिंह' शब्द साक्षात् पठित है शेष गो बिडाल हैं वि आकृतिगणत्व से समावेश होता है।।

884

षष्ट्रोऽध्यायः

अके जीविकार्थे ॥६।२।७३॥

अके ७।१।। जीविकार्थे ७।१।। स०—जीविकाया अर्थः इदं, जीविकार्थः तिसन्" पष्टीतत्पुरुषः ॥ अनु०—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ अर्थः— जीविकाशव्देन तद्वान् अत्र लक्ष्यते । जीविकार्थवाचिनि समासे अकप्र-त्ययान्तशब्द उत्तरपढे पूर्वपदमाद् युदात्तं भवति ।। उदा०—दन्तंलेखकः, नवंत्रेखकः, अवंस्करशोधकः, रमंणीयकारकः॥

भाषार्थः—[जीविकार्थे] जीविकार्थेवाची समास में अके] अकप्र-त्ययान्त शब्द के उत्तरपद रहते पूर्वपद को आद्युदात्त होता है।। उदा-इरणों में नित्यं क्रीडा० (२।२।१७) से समास होता है।। सिद्धि तत्सूत्र पर ही देखें।। जीविका शब्द से यहाँ तद्वान् का प्रहण है जो उदाहरणों से स्पष्ट है ॥

यहाँ से 'श्रके' की अनुवृत्ति ६।२।७४ तक जायेगी।।

प्राचां क्रीडायाम् ॥६।२।७४॥

प्राचाम् ६।३॥ क्रीडायाम् ७।१॥ श्रनुः — अके, आदिख्दात्तः, पूर्व-पदम्।। अर्थः—प्राग्देशनिवासिनां या क्रीडा तद्वाचिनि समासे अक-प्रत्ययान्त उत्तरपदे पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति ॥ उदा० - उद्दां छकपुष्प-मिं भिक्ता, वीरंणपुष्पप्रचायिका, शार्लभिक्तका, तार्लभिक्तका।।

भाषार्थ: [प्राचाम्] प्राग्देश निवासियों की जो [क्रीडायाम्] क्रीडा तद्वाची समास में अकप्रत्ययान्त शब्द के उत्तरपद रहते पूर्वपद को आद्यु-दात्त होता है।। उदा०—उदालकपुष्पभिक्षका (प्राच्य भारत की एक कीडा जिसमें छसौड़े के फूछ तोड़े वा कुचछे जाते हैं)। इसी प्रकार अन्यों का भी अर्थ समझें ।।यहाँ भी नित्यं कीडा० (२।२।१७) से ही सम्रास हुआ है। सिद्धि तत्सूत्र पर ही देखें।।

अणि नियुक्ते ॥६।२।७५॥

अणि ७११। नियुक्ते ७११। अनुः—आदिरदात्तः, पूर्वपदम्॥ शर्थः अणन्त उत्तरपदे नियुक्तवाचिनि समासे पूर्वपद्माद्युद्गतं भवति ॥ उदा० — अत्रंघारः, तूणी रधारः, कर्मण्डलुप्राहः, भूक्षारधारः॥ भाषार्थः—[अणि] अणन्त शब्द उत्तरपद रहते [नियुक्ते] नियुक्त

वादः]

3 ig:

(î, पाः

1

À

19

I

A

वाची समास में पूर्वपद को आद्युदात्त होता है।। कर्मण्यल् (३।२।१ अण् प्रत्यय हुआ है।। उदाः — छत्रधारः (छत्र धारण करने बाह तूणीरधारः (बाण रखने के कोश = इपुधि को धारण करनेबाह कमण्डलुप्राहः (कमण्डलु तेने वाला)। भृङ्गारधारः॥

यहाँ से 'अणि' की अनुवृत्ति ६।२।७७ तक जायेगी ॥ शिल्पिनि चाकुञः ॥६।२।७६॥

शिल्पिन ७।१॥ च अ०॥ अङ्काः ६।१॥ स०—अङ्काः नञ्तत्पुरुषः॥ अनु०—अणि, आदिरुदात्तः, पूर्वपदम्॥ अर्थः-न्त उत्तरपदे शिल्पिवाचिनि समासे पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति, स रे कुञो न भवति॥ उदा०—तन्तुंवायः, तुन्नंवायः, बाल्वंगयः॥

भाषार्थः—[शिल्पिन] शिल्पिवाची समास में [च] भी क उत्तरपद रहते पूर्वपद को आद्युदात्त होता है, यदि वह अण् कि कृत्यू का न हो, अर्थात् अणन्त शब्द कृत्यू धातु से न बना हो है हावामश्च (३।२।२) से तन्तुवायः आदि में अण् प्रत्यय हुआ है। सूत्र में सिद्धि देखें।। उदा०—तन्तुवायः (जुलाहा), तुन्नवायः (हं बालवायः (ऊनी वस्न बुनने वाला)।।

यहाँ से 'अङ्गः' की अनुवृत्ति ६।२।७७ तक जायेगी॥

संज्ञायां च ॥६।२।७७॥

संज्ञायाम् ७।१॥ च अ०॥ अनुः—अकृत्यः, अणि, आदिस्रा पूर्वपदम्॥ श्रर्थः—अकृत्योऽणन्त उत्तरपदे संज्ञायां विषये पूर्वपर द्युदात्तं भवति॥ उदा०--तन्तुंवायो नाम कीटः, बालंबायो पर्वतः॥

भाषार्थः — [संज्ञायाम्] संज्ञा विषय में [च] भी अणन्त हती रहते पूर्वपद को आद्युदात्त होता है, यदि वह अण् कृञ् का नहीं पूर्व सूत्र में शिल्पि विषय में कहा था, यहाँ संज्ञा में भी कह दि तन्तुवाय रेशम के कीट का नाम है, तथा बालवाय पर्वत विशेष संज्ञा है।

गोतन्तियवं पाले ॥६।२।७८॥ गोतन्तियवम् १।१॥ पाले ७।१॥ स०—गो० इत्यत्र समाहारहर्व ile.

13

R

To.

1

47 01

3

NE P

ल

पश

त्री

To

द्व

31

अतुः—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ अर्थः—गो, तन्ति, यव इत्येतानि पूर्वपदानि पाछशब्द उत्तरपद् आद्युदात्तानि भवृन्ति ॥ उदाः—गोपाछः, तन्तिपाछः, यर्वपाछः ॥

भाषार्थः — पूर्वपद स्थित [गोतिन्तयवम्] गो, तिन्त, यव इन शब्दों को [पाले] पाल शब्द उत्तरपद रहते आद्युदात्त होता है।। उदा० — गोपालः (ग्वाला)। तिन्तपालः (राज्य की गायों के बड़े झुण्ड की देख-भाल करने वाला)। यवपालः (जो की रखवाली करने वाला)।

णिनि ॥६।२।७९॥

णिनि ७११।। अनु०—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ अर्थः—णिनन्त उत्तरपदे पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति ॥ उदा०—फर्टहारी, पणे हारी ॥

भाषार्थः—[िणिनि] णिनन्त उत्तरपद रहते पूर्वपद को आद्युदात्त होता है।। उदाहरणों में व्रते (३।२।८०) से णिनि प्रत्यय हुआ है।।

यहाँ से 'शिनि' की अनुवृत्ति ६।२।८० तक जायेगी।।

उपमानं शब्दार्थप्रकृतावेव ॥६।२।८०॥

उपमानम् १।१॥ राज्दार्थप्रकृतौ ७।१॥ एव अ०॥ स०—राज्दोऽर्थः यस्य स राज्दार्थः बहुव्रीहिः । राज्दार्थः प्रकृतिर्यस्य स राज्दार्थः प्रकृतिर्यस्य स राज्दार्थः प्रकृतिर्यस्य स राज्दार्थः प्रकृतिः, तिसमन् वहुव्रीहिः ॥ अनु०—णिनि, आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ अर्थः—राज्दार्थप्रकृतावेव णिनन्त उत्तरपद उपमानवाचि पूर्वपदम् मायुदात्तं भवति ॥ उदा०—उष्ट्रंकोशी, ध्वाङ्क्षरावी, खर्रनादी ॥

भाषार्थ:—[शब्दार्थप्रकृतो] शब्दार्थवाळी प्रकृति है जिन णिनन्त शब्दों की, उनके उत्तरपद रहते [एव] ही [उपमानम्] उपमानवाची पूर्वपद को आद्युदात्त होता है।। उष्ट्रकोशी में क्रुश आह्वाने घातु से कर्तर्युप्ताने (३।२।७६) से णिनि प्रत्यय हुआ है। इसी प्रकार र शब्दे से पूर्ववृत्त णिनि होकर ध्वाङक्षरावी एवं णद अव्यक्ते शब्दे से खरनादी बना।। उदा०—उष्ट्रकोशी (ऊँट की तरह बळबळाने वाळा)। ध्वाङ्क्षरावी (कौवे की तरह काँव काँव करने वाळा)। खरनादी (गधे की तरह रॅकने वाळा)। सभी उदाहरणों में क्रोशी आदि णिनन्त शब्द शब्दार्थप्रकृति वाले हैं, उपमानवाची पूर्वपद हैं ही।।

युक्तारोद्यादयश्च ॥६।२।८१॥

युक्तारोह्याद्यः ११३॥ च अ०॥ स०—युक्तारोही आदिर्वेषां तेयुत्त रोह्याद्यः, बहुत्रीहिः ॥ श्रनु०—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ श्रक्षे युक्तारोह्याद्यश्च समासा आद्युदात्ता भवन्ति ॥ उदा०—युक्तारोही, का तरोही, आर्गतयोधी ॥

भाषार्थः—[युक्तारोह्यादयः] युक्तारोही आदि समस्त शब्दों है [च] भी आद्युदात्त होता है।। सभी उदाहरण णिनि प्रत्ययान्त हैं। लिं (६।२।७६) से ही आद्युदात्त सिद्ध था, पुनः यह सूत्र नियमार्थं अर्थात् जहाँ युक्त इत्यादि शब्द ही पूर्वपद में हों तथा आरोही इलां ही उत्तरपद में हों वहीं आद्युदात्त हो, विपरीत होने पर समासः अन्तोदात्तत्व ही होगा।।

दीर्घकाशतुपभ्राष्ट्रवटं जे ।।६।२।८२।।

दीर्घ वटम् १।१॥ जे ७।१॥ स०—दीर्घश्च काशश्च वृष् भ्राष्ट्रश्च वटश्च, दीर्घ वटम्, समाहारद्वन्द्वः ॥ अनु०—आदिस्त्व पूर्वपदम् ॥ अर्थः—दीर्घान्तं पूर्वपदं काश, तुष, भ्राष्ट्र, वट इत्येतानि पूर्वपदानि जे उत्तरपद आद्युदात्तानि भवन्ति ॥ उदा०—दीर्घात्वम कुटी जः, शमी जः । कार्श्वाः, तुषंजः, भ्राष्ट्रंजः, वटंजः ॥

भाषार्थ:—[दीर्घ: "'वटम्] दीर्घान्त पूर्वपद को तथा काश, क्ष्रिश्चा द्वा वट इन पूर्वपद स्थित शब्दों को [जे] 'ज' उत्तरपद के आद्युदात्त होता है।। उदाइरणों में सप्तम्यां जनेर्ड: (३।२।९७) हें। प्रत्यय हुआ है।। उदा०— कुटीज: (कुटी में उत्पन्न होने वाला), श्रामी (शमी वृक्ष में उत्पन्न होने वाला), काशज: (सरकण्डे में उत्पन्न हों वाला), जुषज: (भूसी में उत्पन्न होने वाला), आष्ट्रज: (भाड़ में उत्पन्न हों वाला), आष्ट्रज: (भाड़ में उत्पन्न हों वाला), आष्ट्रज: (भाड़ में उत्पन्न वटज: (बरगद में उत्पन्न)।। गितकारकोपपदात् कृत् (६।२।१३९) यह सूत्र अपवाद है।

यहाँ से 'जे' की अनुवृत्ति ६।२।८३ तक जायेगी।।

अन्त्यात् पूर्वं बह्वचः ॥६।२।८३॥

अन्त्यात् ४।१।१ पूर्वम् १।१॥ बह्वचः ६।१॥ स०—बह्वोऽचो विश् स बह्वच्रतस्यः बहुवीहिः । अन्ते भवोऽन्त्यः तस्मात्ः तोः

युत्त थं:-

आ

Ťį

र्थाः ध

त्यां

सः

₫¶

17

निः

4-

可可

से।

qa

श्रवुः जो, उदात्तः, पूर्वपदम् ॥ अर्थः जो उत्तरपदे बह्वचः पूर्वपदस्या-त्यात् पूर्वमुदात्तं भवति॥ उदाः <u>उप</u>सरंजः, मृन्दुरंजः, आमुरुक्कींजः॥

भाषार्थः—'ज' उत्तरपद् रहते [बहुचः] बहुत अच् वाले पूर्वपद् के [अन्त्यात्] अन्त्य अक्षर से [पूर्वम्] पूर्व को उदात्त होता है।। उपसरजः यहाँ 'उपसर' पूर्वपद है, उसका अन्त्य अक्षर 'र' है अतः उससे पूर्व 'स' को उदात्त होगा। इसी प्रकार सबमें जानें। बहुत अच् वाला पूर्वपद सबमें है ही।। गतिकारको० (६१२११३९) के ये सब भी अपवाद हैं।।

ग्रामेऽनिवसन्तः ॥६।२।८४॥

प्रामे ७।१॥ अनिवसन्तः १।१॥ स०—अनिव० इत्यत्र नञ्ततपुरुषः॥ अनु०—आदिरुद्दात्तः, पूर्वपदम्॥ अर्थः—प्रामशब्द उत्तरपदे पूर्वपदम् ॥ अर्थः—प्रामशब्द उत्तरपदे पूर्वपदम् माद्युदात्तं भवति, तच्चेद् पूर्वपदं निवसद्वाचि न भवति॥ निवसन्त इत्यत्र निपूर्वात् वसेः तृभूविह्वसि० (उत्पा० ३।१२०) इत्यनेनौणादिकः कर्तिर झच् प्रत्ययः॥ उदा०—मञ्जानां प्रामः मर्छप्रामः, वर्णिग्प्रामः, देवस्य प्रामः देवंप्रामः, देवस्वामिक इत्यर्थः॥

माषार्थ:—[प्रामे] प्राम शब्द उत्तरपद रहते पूर्वपद को आद्युदात होता है, यदि पूर्वपद [श्रानिवसन्तः] अनिवसन्तवाची = निवास करने वाले को न कहता हो तो।। निवसतीति निवसन्तः यहाँ कर्ता में वस धातु से औणादिक झच् प्रत्यय हुआ है। पश्चात नवसमास करके 'अनिवसन्तः' बना। पूर्वपदों के अनिवसन्त = निवास करने वाले न होने से मछप्रामः विणग्प्रामः में प्राम शब्द समुदाय का वाचक है, अतः मछप्रामः का अर्थ होगा 'मछों का समूह'। देवप्रामः का अर्थ है देव है स्वामी (निवासी नहीं) जिसका, ऐसा प्राम।।

घोषादिषु च ॥६।२।८५॥

घोषादिषु ७।३॥ च अ०॥ स०—घोष आदिर्येषां ते घोषादयस्तेषु बहुत्रीहिः॥ अनु०—आदिरुद्गत्तः, पूर्वपद्म्॥ अर्थः—घोषादिषु चोत्तरपदेषु पूर्वपद्माद्युदात्तं भवति॥ उदा०—दान्तिंघोषः, दाक्षिंकटः, दाक्षिंकटः,

भाषार्थः—[घोषादिषु] घोषादि शब्दों के उत्तरपद रहते [च]ः पूर्वपद को आद्युदात्त होता है।। उदाहरणों में षष्टी समास है॥

छात्र्यादयः शालायास् ॥६।२।८६॥

छात्र्यादयः ११३॥ शालायाम् ७११॥ स०—छात्रिः आदिर्गेषाः छात्र्यादयः, बहुत्रीहिः ॥ अनु०—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम्॥ अर्थः शालायामुत्तरपदे छात्र्यादयः शब्दा आद्युदात्ता भवन्ति॥ उदाः छात्रिशाला, पैलिंशाला, भाण्डिशाला । व्यार्डिशाला, आपिंशलिशाल

भाषार्थः—[शालायाम्] शाला शब्द उत्तरपद रहते [क्वात्र्यातः छात्रि आदि शब्दों को आद्युदात्त होता है।। छात्रि आदि सभी क्व अपत्यार्थक इक् प्रत्ययान्त हैं। 'शाला' शब्द 'पदेषु पदैकदेशा नियम से पाठशाला अर्थ का वाचक है। पूर्वपद सभी आचार्य वि के वाचक हैं, अतः इनका अर्थ होगा तत्तद् आचार्यों के गुरुकुल।

प्रस्थेऽवृद्धमकक्योदीनाम् ॥६।२।८७॥

प्रश्चे ७।१॥ अवृद्धम् १।१॥ अकक्यादीनाम् ६।३॥ स० अकृ मित्यत्र नञ्ततपुरुषः । कर्का आदिर्येषां ते कक्यादयः, बहुत्रीहिः। कर्क्यादयोऽकक्यादयस्तेषाम्, वहुत्रीहिः ॥ अनु० आदिस्त्रा पूर्वपदम् ॥ अर्थः — प्रस्थशब्द उत्तरपदे कर्क्यादिवर्जितमवृद्धं पूर्वा माद्युदात्तं भवति ॥ उदा० — इन्द्रंप्रस्थः, कुण्डंप्रस्थः, ह्रदंग्रा सुवंणेप्रस्थः ॥

१. कई प्रन्यों में 'पेलिशाला' उदाहरण मिलता है, वह अशुद्ध है इजल हों 'पैलि' पूर्वपद होना चाहिए।पैलि ऋग्वेद प्रवक्ता आचार्य पैल का ही नामान्तर है काशिका में कहों २ ऐलिशाला पाठ है।।

२. छान्दोग्य उपनिषद् (४।११।१) में 'एते महाशाला महाश्रोत्रियाः' का इसमें महाशाला का अर्थ 'बड़ी अध्ययनशाला = गुरुकुल हैं जिनके' अर्थ ही । धाचार्यशंकर ने महाशाला का अर्थ 'बड़ी शाला = गृह हैं जिनके' किया है । वित्ते 'महाश्रोत्रिय' विशेषण होने से अन्तेवासियों की संख्या का आर्थ होना भी स्पष्ट है। इतना ही नहीं, ऋषि लोग साधारण कुटियों में कि करते थे न कि बड़े-बड़े भवनों में, इस दृष्टि से भी महाशाला में शालाशब्द गृह वाचक नहीं है।

हेती:

7:

षां :

र्घ:-१०-

ल

द्व

5

शाः

Hei

がいる。

ff,

1

115.

解

7

भाषार्थः—[प्रस्थे] प्रस्थ शब्द उत्तरपद रहते [श्रक्तक्यीदीनाम्] कक्यीदि गणस्थ तथा [अवृद्धम्] वृद्ध संज्ञक शब्दों को छोड़कर पूर्वपद को आग्रुदात्त होता है।। वृद्ध से अभिप्राय है जिनकी वृद्धिर्याः (१।१।७२) आदि से वृद्ध संज्ञा हुई हो उन शब्दों को छोड़कर, और कर्की आदि गणस्थ शब्दों को छोड़कर पूर्वपद आग्रुदात्त होता है।। अकक्यीदीनाम् एवं अवृद्धम् से पृथक् विभक्तियां वैचित्र्यार्थ हैं।।

यहाँ से 'प्रस्थे' की अनुवृत्ति ६।२।८८ तक जायेगी।।

मालादीनां च ॥६।२।८८॥

मालादीनाम् ६१३॥ च अ०॥ स० — माला आदिर्येषां ते मालाद्यस्तेषां "
बहुव्रीहिः ॥ श्रनु० — प्रस्थे, आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ श्रर्थः — प्रस्थ उत्तरपदे मालादीनां पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति ॥ उदा० — मालाप्रस्थः, शाला प्रस्थः ॥

भाषार्थः—प्रस्थ शब्द उत्तरपद रहते पूर्वपद स्थित [मालादीनाम्] मालादि शब्दों को [च] भी आद्युदात्त होता है।। माला इत्यादि शब्द युद्ध संज्ञक हैं अतः पूर्व सूत्र से निषेध प्राप्त था यहाँ विधान कर दिया।

अमहन्नवं नगरेऽनुदीचाम् ॥६।२।८९॥

अमहन्नवम् १।१॥ नगरे ७।१॥ अनुदीचाम् ६।३॥ सः—महत् च नवन्न महन्नवम् समाहारो द्वन्द्वः। न महन्नवम् अमहन्नवम् , नञ्ततपुरुषः। न उदन्नः अनुदन्नस्तेषाम् न न्वततपुरुषः॥ अनुः — आदिरुदात्तः, पूर्व-पदम्॥ अर्थः — नगरशब्द उत्तरपदे महत् नव इत्येतौ शब्दौ वर्जयित्वा पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति, तच्चेत् उदीचां न भवति॥ उदाः —सुद्धनगरम्, पुण्डूंनगरम्॥

भाषार्थः—[नगरे] नगर शब्द उत्तरपद रहते [श्रमहत्रवम्] महत् तथा नव शब्द को छोड़ कर पूर्वपद को आद्युदान्त होता है, यदि वह नगर [श्रनुदीचाम्] उदीच्य प्रदेश का नहीं ॥ उदाहरणों में षष्टी समास है ॥

अमें चावण द्रचच् ज्यच् ॥६।२।९०॥

अर्मे ७।१।। च अ०।। अवर्णम् १।१।। द्वच् ४।१॥ त्रयच् १११॥ स्ट द्वौ अचौ यस्मिन् स द्वाच्, बहुव्रीहिः। त्रयोऽचो, यस्मिन् स

ज्यच्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ अर्थः—अर्भः उत्तरपदे द्वच्च् ज्यच् चावर्णान्तं पूर्वपदमाद् युदात्तं भवति ॥ उद्याः द्वचच्—दत्तीर्मम्, गुप्तीर्मम् । ज्यच्—कुक्कुंटार्मम्, वायंसार्मम्॥

भाषार्थ:—[अमें] अमें शब्द उत्तरपद रहते [च] भी [अस्से अवर्णान्त जो [द्वच्च त्र्यच्] दो अचों वाले तथा तीन अचों वाले ह पद्स्थित शब्द उन्हें आद्युदात्त होता है।। दत्तार्भम् आदि किसीक की संज्ञायें हैं।। सर्वत्र पष्टी समास है।।

यहाँ से 'श्रमें' की अनुवृत्ति ६।२।६१ तक जायेगी।।

न भूताधिकसंजीवमद्राइमकज्जलम् ॥६।२।९१॥

न अ० ॥ भूता " खम् १।१॥ स० — भूतन्त्र अधिकन्न संजीव मद्राश्च अश्म च कव्जलन्न, भूता " लम्, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अतृ अर्में, आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ अर्थः — भूत, अधिक, संजीव, स अश्मन् , कव्जल इत्येतानि पूर्वपदानि अर्भशब्द उत्तरपद आद्युदार्वा न भवन्ति ॥ उदा० — भूतार्मम् , अधिकार्मम् , संजीवार्मम् , मद्राम्म अश्मार्मम् , कृष्णलार्मम् ॥

भाषार्थ:—[भूता लम्] भूत , अधिक, संजीव, मद्र, अभा कडजल इन पूर्वपद स्थित शब्दों को अर्भ शब्द उत्तरपद रहते आधुरा वि नहीं होता है । भूत, अधिक आदि शब्द दो अच् वाले तथा की अच् वाले तथा की अच् वाले हैं, अतः पूर्वसूत्र से पूर्वपदाद्युदात्तत्व प्राप्त था उसका निषेध कर दिया । पूर्वपदाद्युदात्त का निषेध हो जाने पर समासान्तोदात्त हो गया । सभी उदाहरण नगर विशेषवाची हैं, एवं सर्वत्र की समास है ॥

मद्र तथा अश्म का पृथक् २ एवं समास करके भी ग्रहण है अ है भी भित्राश्मामम् प्रयोग भी बनता है।।

[पूर्वंपदान्तोदात्तप्रकरणम्] अन्तः ॥६।२।९२॥

अन्तः १।१॥ अनु०—उदात्तः पूर्वपदम् ॥ श्रर्थः—अधिकारोऽयम् श्र इत ऊर्ध्वं यद्नुक्रमिष्यामस्तत्र पूर्वपदस्यान्त उदात्तो भवतीति वेदितव्यम् जि उदा०—वद्भ्यति—सर्वं गुराकात्त्रन्यें—स्वेश्वेतः, स्वेक्ट्रंब्णः॥ रे पृ

H

मावार्थः — यह अधिकार सूत्र है। ६।२।१०९ तक इसका अधिकार जायेगा। जहाँ तक यह जायेगा, वहाँ २ पूर्वपद् के [अन्तः] अन्त की उदात्त होता जायेगा।

सर्वं गुणकात्स्न्ये ॥६।२।९३॥

सर्वम् १।१॥ गुणकात्स्न्ये ७।१॥ सः—गुणस्य कात्स्न्ये गुणकात्स्यं, तिस्मन् ।। श्रावः अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम् ॥ श्रावः—गुणकात्स्न्ये वर्त्तमानः सर्वशब्दः पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति ॥ उदाः सर्वश्वेतः, सर्वक्रंष्णः, सर्वमंहान् ॥

भाषार्थः—[गुणकात्नस्यें] गुणों की सम्पूर्णता अर्थ में वर्त्तमान पूर्वे-पदस्थित [सर्वम्] सर्व शब्द को अन्तोदात्त होता है।। गुण का कात्त्न्यें अर्थात् गुण का सर्वत्र सम्पूर्णता से होना। उदाहरणों में पूर्वकालैकसर्वे० (२।१।४००) से समास हुआ है।। उदा०—सर्वश्वेतः (सारा सफेद) सर्वमहान् (सर्वश्रेष्ठ)।।

संज्ञायां गिरिनिकाययोः ॥६।२।९४॥

संज्ञायाम् ०।१॥ गिरिनिकाययोः ०।२॥ स०—गिरिश्च निकायश्च गिरिनिकायौ तयोः इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु० — अन्तः, उदात्तः, पूर्व-वर्षम् ॥ अर्थः —गिरि निकाय इत्येतयोस्त्तरपद्योः संज्ञायां विषये पूर्व-वर्षम् । अर्थः —गिरि निकाय इत्येतयोस्त्तरपद्योः संज्ञायां विषये पूर्व-वर्षम्नतोदात्तं भवति ॥ उदा० — अञ्ज्ञनागिरिः, मञ्ज्जनागिरिः । निकाये-वर्षम्वर्षे ।।

भाषार्थः—[निरिनिकाययोः] गिरि तथा निकाय शब्द उत्तरपद् रहते [संज्ञायाम्] संज्ञा विषय में पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है॥ अञ्जनागिरिः (एक पर्वत का नाम) आदि में षष्ठीतत्पुरुष समास है। अञ्जन भञ्जन शब्द को वनगियोः संज्ञायाम्० (६।३।११५) से दीर्घत्व हुआ है। शापिण्डि मौण्डि शब्द अत इज् (४।१।९५) से इञ् प्रत्ययान्त हैं, तथा चिखिल्लि शब्द मत्वर्थीय इनि प्रत्ययान्त है।।

कुमार्यां वयसि ॥६।२।९५॥

कुमार्याम् ७।१॥ वयसि ७।१॥ श्रनु० — अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम्॥ श्रशः वयसि गम्यमाने कुमार्यामुत्तरपदे पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति॥ जर्तकमारी॥ च = वृद्धकुमारी, जरती चासी कुमारी चं =

प्र

अ

भाषार्थः—[वयिस] अवस्था गम्यसान हो तो [कुमार्थाम्] हुः शब्द उत्तरपद रहते पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है।। विशेषणं विशेषे रहे (२।१।५६) से वृद्धकुमारी (वृद्ध जो कुसारी) में समास हुआ है। कुं पूर्वकालैक० (२।१।४८) से जरत्कुमारी में समास हुआ है। कुं प्रधारय० (६।३।४०) से वृद्धा एवं जरती को पुंबद्धाव हुआ है।।

उदकेऽकेवले ॥६।२।९६॥

उद्के ७।१॥ अकेवले ०।१॥ स०—अके० इत्यत्र नम्त्तुक्ष प्रश्नु०—अन्तः, उदात्तः, पूर्वपद्म् ॥ अर्थः—उद्कशब्द् उत्तरपदे अके वाचिनि समासे पूर्वपद्मन्तोदात्तं भवति ॥ अकेवलं मिश्रं द्रव्या सम्प्रक्तित्यर्थः ॥ उदा० -गुडमिश्रमुद्कं = गुडोद्कम्, गुडोक् अ विलोदंकम्, तिलोदंकम्॥

माषार्थः — [श्रकेवले] अकेवलवाची = मिश्रित अर्थ के बोधक समा सं [उदके] उदक शब्द उत्तरपद रहते पूर्वपद को अन्तोदात्त होतां अकेवल अर्थात् जो केवल नहीं = मिश्रित मिला हुआ ॥ समान श्र करणाधिकारे शाकपार्थि० (वा०२।१।५९) इस वार्त्तिक से उदाहणे क्ष कर्मधारय समास एवं उत्तरपद मिश्र शब्द का लोप हुआ है। गुड़ उदक का एकादेश होने से स्विरितो वानुदात्ते पदादो (८।२।६) से म्ह 'ओ' को स्विरितत्व भी होता है।।

द्विगौ ऋतौ ॥६।२।९७॥

द्विगौ ७।१॥ कतौ ७।१॥ अनु०—अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम्॥ अव्यक्तः, पूर्वपदम्॥ अव्यक्तः, पूर्वपदम्॥ अव्यक्तः, पूर्वपदम्॥ अव्यक्तः अव्यक्तः भवति ॥ उद्यक्ति ।। उद्यक्ति

१. कुमारी शब्द में वयसि प्रथमे (४।११२०) से प्रथमवयः प्रथं वा प्रत्यय होता है उसका वृद्धा और जरती (ग्रन्त्य ग्रवस्था वावक) शब्दों के सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता । इस लिए कुमारी शब्द लक्षणा से 'पृष्णं भाव को अप्राप्त' अर्थ को कहता है । उस अवस्था में अर्थ होगा 'जिसका प्रस्ताय सहशय्यात्व नहीं हुआ' ऐसी वृद्धा वा जरती कुमारी । यदि यहीं प्रश्च शब्द का प्रधान अर्थ स्वीकार करें तब वृद्धा वा जरती शब्द में लक्षणा है । वृद्धा इव वृद्धा, प्ररती इव जरती) ग्रर्थ होगा, कुमारी प्रथम वयः वाली है अर् भी रोगादि के कारण वृद्धा वा जरती के समान प्रतीयमाना, ग्रर्थ होगा।

अरे

T.

3

भाषार्थ:—[क्रतौ] ऋतुवाची समास में [द्विगौ] द्विगु उत्तरपद रे रहते पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है।। सवंत्र उदाहरणों में पष्टी समास है। के यज्ञ को कहते हैं। सर्वेत्र त्रिरात्र, सप्तरात्र शब्द द्विगुसंज्ञक क परे हैं। तिसृणां रात्रीणां समाहारः त्रिरात्रः यहाँ पहले तिद्वतार्थो० (२।१।५०) से समास और अहः सर्वेक० (५।४।८७) से समासान्त अच प्रत्यय होता है। पश्चात् गर्ग शब्द के साथ षष्टीसमास होगा। इसी प्रकार सप्तरात्रः में जानें।। ये ऋतु विशेषों की संज्ञाएँ हैं।

सभायां नधुंसके ।।६।२।९८॥

ज्यान सभायाम् ७।१।। नपुंसके ७।१।। त्रानुः—अन्तः, उदात्तः, पूर्वेपदम् ॥ क अर्थः—सभाशब्द उत्तरपदे नपुंसकछिङ्गे समासे पूर्वेपद्मन्तोदात्तं भवति ॥ उदार्-गोपालसंभम् , प्युपालसंभम् , स्त्रीसंभम् , दासी-मा संभम्।।

ता है माषार्थः—[नपुंसके] नंपुसक छिङ्ग वाले समास में [समायाम्] सभा मा भव्द उत्तरपद रहते पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है।। उदाहरणों में सर्वत्र पष्टी समास है, एवं समाऽराजा० (२।४।२३) से नंपुसकछिङ्ग होता है।।

पुरे प्राचाम् ॥६।२।९९॥

पुरे ७।१।। प्राचाम् ६।३।। अनु०-अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम्॥ अर्थः — पुरशब्द उत्तरपदे प्राचां देशे पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति ॥ उदा० — ब ख्लाटपुरम्, काञ्चीपुरम्, श्विवदत्तपुरम्, काणिपुरम्, नार्मपुरम्।।

रदाः माषार्थः — [१रे] पुर शब्द उत्तरपद रहते [म्राचाम्] प्राच्य भारत के देशों को कहने में पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है।। सर्वत्र उदाहरणों में षष्टीसमास है, एवं सभी प्राच्य भारत के भिन्न-भिन्न प्रामों के बाचक शब्द हैं। प्रयाग से पूर्व के देश प्राग्देश कहे जाते हैं॥ EV

यहाँ से 'पुरे' की अनुवृत्ति ६।२।१०१ तक जायेगी।।

अरिष्टगौडपूर्वे च ॥६।२।१००॥

अरिष्टगौडपूर्वे ७।१॥ च अ० ॥ स०—अरिष्टं च गौडरच अरिष्ट-गौडों, तो पूर्वों यस्य स अरिष्टगोंडपूर्वस्तरिमन् दुन्द्रगर्भवहुत्रीहिः॥ भनुः—पुरे, अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम्।। अर्थः—अरिष्ट गौडः इत्येवं

अ

पूर्वे समासे पुरशब्द उत्तरपदे पूर्वेपदमन्तोदात्तं सवति ॥ उदाः ष्टपुरम्, अरिष्टं श्रितोऽरिष्टश्रितस्तस्य पुरम् = अरिष्टश्रितपुरम्, गौहः प्र गौडानां भृत्याः गौडभृत्यास्तेषां पुरं = गौडभृत्यपुरम्॥

भाषार्थः—[अरिष्टगोडपूर्वे] अरिष्ट तथा गोड शब्द पूर्वहैं स समास में उसके पूर्वपद को [च] भी पुर शब्द उत्तरपद रहते अने होता है।। प्राग्देशवाची न होने से पूर्व सूत्र से प्राप्त नहीं ॥ दिया।

न हास्तिनफलकमार्देयाः ॥६।२।१०१॥

न अ० ॥ हास्तिः देयाः ११३॥ स०—हास्तिन० इत्यक्ते रष्ट्रह्रः ॥ अनु०—पुरे, अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम् ॥ अर्थः—हास्ति प्रकल्पः, मार्देय इत्येतानि पूर्वपदानि पुरश्चद उत्तरपदे नान्ते स्थानित ।। पुरे प्राचामिति प्राप्ते प्रतिषिध्यते ॥ उदा०—हास्ति प्रतिष्टियते ॥ उदा०—हास्ति प्रतिष्टियते ।। उदा०—हास्ति प्रतिष्टियते ।। उदा० हास्ति प्रतिष्टियते ।। उदा० हास्ति प्रतिष्टियते ।।

भाषार्थः—[हास्तिः देयाः] हास्तिन, फलक तथा मार्देय हा पदस्थित शब्दों को पुर शब्द उत्तरपद रहते अन्तोदात्त [न] नहीं हो दि 'पुरे प्राचाम्' (६।२।९९) से प्राग्देश होने से प्राप्ति थी, प्रतिषे आ दिया। सभी सूत्रों के समासस्य का अपवाद होने से पूर्वपदान्ति सकता निषेध प्रकृत सूत्र से हो जाने पर समास अन्तोदात्तव ही हो। हिस्तिनो राज्ञोऽपत्यानि हास्तिनाः इत्यण्, मृदोरपत्यानि मासे यहाँ शुआदिभ्यश्च (४।१।१२३) से ढक् प्रत्यय हुआ है। पहुं पुरे के साथ षष्ठी समास हुआ।।

हास्तिनपुर से हस्तिनापुर पृथक है। हास्तिनपुर प्राग्देशी हैं और हस्तिनापुर मध्यदेशीय गंगा तट पर है।।

कुसूलक्षपकुम्भशालं बिले ॥६।२।१०२॥

कुस्लकूपकुम्भशालम् १।१॥ विले ७।१॥ स० कुस्ल प्रा समाहारद्वनद्वः ॥ श्रनु अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम् ॥ अर्थः स्य कूप, द्वम्भ, शाला इत्येतानि पूर्वपदानि विलशन्द उत्तरपदे अन्तेविक भवन्ति ॥ उदा० कुस्लविलम्, कूपविलम्, कुम्भविलम्, शालवि [ृपादः]

माषार्थः—[बिले] बिल शब्द उत्तरपद रहते [कुसूल 'लम्] कुसूल, कूप, कुम्भ, शाला इन पूर्वपद स्थित शब्दों को अन्तोदात्त होता है।। उदा०—कुसूल बिलम् (कुठले का सुँह)। कूपबिलम् (कुएं का सुँह)। कुम्भविलम् (घड़े का सुँह)। शालाबिलम् (मकान का द्वार) सर्वत्र षष्ठी हैं समास हैं।।

दिक् शब्दा ग्रामजनपदा ख्यानचान राटेषु ॥६।२।१०३॥

दिक्शव्दाः ११३॥ यामः देषु ७१३॥ स०—दिशि हृष्टाः शब्दाः दिग्शव्दाः, उत्तरपद्छोपी सप्तमीतत्पुरुषः । यामः इत्यन्नेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अवुः—आमजनपदाख्यानवाचिषूत्त- अवुः चानराटशव्दे चोत्तरपदे दिक्शव्दाः पूर्वपदान्यन्तोदात्तानि क्रिम्बन्ति ॥ उदाः — याम — पूर्वेषुंकामशमी, अप्रेषुंकामशमी, पूर्वर्ष्टंष्णमृत्तिका, विक्शायाति । जनपद — पूर्वपंच्चालाः, अप्रपंच्चालाः । आख्यान — पूर्विधंरामम्, पूर्वयायातम्, अप्रयंचातम् ॥ चानराट — पूर्वेचंनरा- दम्, अप्रचंननराटम् ॥

माषार्थ:—[ग्राम : 'टेषु] ग्राम, जनपद तथा आख्यानवाची शब्दों के क्तरपद रहते तथा चानराट शब्द के उत्तरपद रहते [दिनशब्दाः] ति देशावाची पूर्वपदस्थित शब्दों को अन्तोदात्त होता है।। पूर्वेषुकामशमी अपरेषुकामशमी (किसी ग्राम का नाम) में दिनसङ्ख्ये॰ (२।१।४६) से समास हुआ है, सिद्धि वहीं देखें। एवम् पूर्वकृष्णमृत्तिका अपरकृष्णमृत्तिका (ये भी देश के नाम हैं) यहाँ भी दिनसंख्ये॰ (२।१।४९) में समास हुआ है। पूर्वपञ्चालाः आदि में भी दिनसंख्ये॰ से समास हुआ है। पूर्वपञ्चालाः आदि में भी दिनसंख्ये॰ से समास हुआ है। पूर्वाधरामम् (राम को अधिकृत करके लिखा गया प्रन्थ अधिराम, उसका पूर्व भाग)।अधिराम आदि शब्द आख्यानवाची (कथानाची) है। चानराट शब्द का स्वरूप से ग्रहण है, शेष के तद्वाची शब्द लिये

यहाँ से 'दिक्शब्दाः' की अनुवृत्ति ६।२।१०५ तक जायेगी।।

१. यद्यपि पूर्वकृष्णमृत्तिका ग्रापरकृष्णमृत्तिका पूर्वपञ्चालाः अपरपञ्चालाः में पूर्वपिराधरो ३' (२।२।१) से भी समास हो सकता है तथापि यहाँ पूर्वेषुकामशमी विवादि के समान देश की संज्ञा होने ग्रीर एकदेश मात्र ग्रर्थ ग्रिभिन्नेत न होने से स्वाद्य संज्ञायाम् (२।१।४९) से ही समास करना चाहिये।।

आचार्योपसर्जनश्चान्तेवासिनि ॥६।२।१०४॥

आचार्योपसर्जनः १११॥ सुपां स्थाने सुर्भवतीति (७११३१) पूर्व कवचनस्य स्थाने प्रथमैकवचनम् ॥ च अ०॥ अन्तेवासिनि ७१॥ आचार्ये उपसर्जनं (अप्रधानं) यस्य (अन्तेवासिनः) स आचार्योपसर्वने ब्रीहिः ॥ श्रवु०-दिक्शब्दाः, अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम् ॥ अर्थः-इस्व पसर्जनान्तेवासिवाचिन्युत्तरपदे दिक्शब्दाः पूर्वपदानि अते प्र भवन्ति ॥ उदा०-पूर्वपीणिनीयाः,अपुरपीणिनीयाः। पूर्वका अति अपुरकाशकुत्सनाः ॥

भाषार्थः—[आचार्योपसर्जनः] आचार्य है उपसर्जनः से जिसका ऐसा जो [अन्तेवासिनि] अन्तेवासी, उसको कहने वाले उत्तर होते [च] भी दिशा अर्थ में प्रयुक्त होनेवाले पूर्वपर होत को ति है।। सुपां सुलुक्० (७११३६) सूत्र से सुपों (२ में भिन्न सुपों का आदेश होता है, अतः उस सूत्र से 'आचार्यों से में सप्तमी एकवचन के स्थान में 'प्रथमा एकवचन' का आदेश तह है।। पाणिनेश्लात्राः पाणिनीयाः, पूर्वे च ते पाणिनीयाश्र नीयाः (पाणिनि के पूर्व छात्र) यहाँ पाणिनीय शब्द से पाणिनि वासी प्रधान रूप से कहे जा रहे हैं, पाणिनि आचार्य तो विद्वा अतः उपसर्जन है। इसी प्रकार काशकृत्सनस्येमे छात्राः कार्य (४११८३), पूर्वे च ते काशकृत्सनाश्च पूर्वकाशकृत्सनाः यहाँ भी स्पूर्व पूर्वापर०(२।११५०) से सर्वत्र समास हुआ जाने।। पाणिनि अपने जीवन काल में जितने छात्र पढ़ाये, उनमें एक देश विष् अपने जीवन काल में जितने छात्र पढ़ाये, उनमें एक देश विष् अपराणिनीयाः कहाए। पूर्वसूत्र में दिशि दृष्टाः शब्दाः अर्थ अर्थ प्रविद्वा पूर्वादि काल में प्रयुक्त शब्दों को भी कार्य हो जाता है।। अर्थ पहाँ पूर्वादि काल में प्रयुक्त शब्दों को भी कार्य हो जाता है।। अर्थ पहाँ पूर्वादि काल में प्रयुक्त शब्दों को भी कार्य हो जाता है।।

उत्तरपदवृद्धौ सर्वं च ॥६।२।१०५॥

की

उत्तरपदृष्ट् श्री श्रा सर्वम् १११॥ च अ०॥ स० उत्तर्भ धिकृत्य या विहिता वृद्धिः सा उत्तरपदृष्ट्यः, तस्यां अविक अनु० -दिक्शन्दाः, अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम्॥ अर्थ - उत्तर्भ वृद्धः विदिता या वृद्धिः तद्वित शब्द उत्तरपदे सर्वशब्दो दिक्शब्दा

13

म्यन्तोदात्तनि भवन्ति।। उदा०—सर्व-सर्विपाञ्चालकः । दिक्शब्दाः—

माषार्थः—[उत्तरपदवृद्धौ] उत्तरपदस्य (७।३।१०) सूत्र के बिधकार में कही हुई जो वृद्धि उस वृद्धि किये हुए शब्द के परे रहते [सर्वम्] सर्व शब्द [च] तथा दिक्शब्द पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है।। सूत्रस्थित 'उत्तरपद्' शब्द में स्वरित का चिह्न होने से 'उत्तरपद्स्य अधिकार में कही हुई वृद्धि' ऐसा अर्थ ले लिया गया है। सर्वपाञ्चालकः के उत्तरपद् पाञ्चालक में सुसर्वार्धा० (७।३।१२) से वृद्धि हुई है। अन्य उदाहरणों में दिशोऽमद्राणाम् (७।३।१३) से उत्तरपद को वृद्धि हुई है। अन्य उदाहरणों में दिशोऽमद्राणाम् (७।३।१३) के अधिकार में कहे हुए हैं, अतः विच्यत्र वृद्धि किये हुए = तद्वान् शब्द परे होने से प्रकृत सूत्र से पूर्व- विच्या अन्तोदात्त हो गया। सर्वपाञ्चालकः में विशेषणां विशेष्येण० विशेषणां विशेषणां

बहुवीहौ विश्वं संज्ञायाम् ॥६।२।१०६॥

हैं बहुत्रीहो ७।१।। विश्वम् १।१।। संज्ञायाम् ७।१।। अनुः—अन्तः, विश्वतातः, पूर्वपदम् ।। श्रर्थः— बहुत्रीहो समासे संज्ञायाम् विषये विश्वशब्दः रपूर्वपदमन्तोदात्तं भवति ।। उदाः—विश्वदेवः, विश्वयंशाः, विश्वमंहान् । अविश्वकर्मा विश्वदेवः (ऋ०८।६८।२) ।।

भाषार्थः—[बहुत्रीहो] बहुत्रीहि समास में [संज्ञायाम्] संज्ञा विषय भी पूर्वपद [विश्वम्] विश्व शब्द को अन्तोदात्त होता है।। बहुत्रीहो-अकृत्या० (६१२।१) से पूर्वपद प्रकृतिस्वर की प्राप्ति थी, इससे पूर्वपद को अन्तोदात्त कह दिया। ये सब किसी की संज्ञायें हैं।।

यहाँ से 'बहुव्रीहीं' की अनुवृत्ति ६।२।११९ तक तथा 'संज्ञायाम्' की ६।२।१०८ तक जायेगी।।

उदराश्चेषुषु ॥६।२।१०७॥

बद्राश्चेषुषु ७१३॥ स०—उद्रा॰ इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ अवु०—ं बहुत्रीहो संज्ञायाम्, अन्तः, उद्गत्तः, पूर्वपद्म्॥ अर्थः--ख्दर,

पू

3

श्रश्व, इषु इत्येतेपूत्तरपदेषु वहुत्रीही समासे संज्ञायाम् विषये प्र मन्तोदात्तं भवति ॥ उदा०—वृकोदंरः, दामोदंरः, हर्यंश्वः, ग्रीक सुवर्णपुंखेषुः, महेषुः॥

माषार्थः — [उदराश्चेषुषु] उदर, अश्व, इपु इनके उत्तर्पः बहुत्रीहि समास में संज्ञा विषय में पूर्वपद को अन्तोदात्त होता पूर्ववत् यह सूत्र भी प्रकृतिस्वर का अपवाद है।। उदाः—कृ (भेड़िये के समान पेट है जिसका, यह पाण्डव भीमसेन की संह हर्यश्वः (हरि = हरणशील शीव्रगामी अश्व हैं जिसके, यह इन्द्रकी संह सुवणपुंखेषुः (सुवर्णमय पुंख = पर वाले बाण हैं जिसके) महेपुः हिं इषु जिसके)।। हर्यश्वः में 'य' को उदात्तस्वरितयो० (८१॥ स्वरित हुआ है।

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ६।२।१०८ तक जायेगी॥

क्षेपे ।। ६। २। १०८।।

क्षेपे ७।१॥ अनु - उद्राश्वेषुषु, बहुत्रीहो संज्ञायाम्, अन्तः, व पूर्वपदम् ॥ अर्थः —क्षेपे गम्यमाने उद्र अश्व इ्षु इत्येतेषूनां बहुत्रीहो समासे संज्ञायां विषये पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति ॥ उदा० कृ दंरः, घटोदंरः । कुटुकाश्वः, स्यन्दिताश्वः । अनिघातेषुः, च्छाच्लेषु

भाषार्थ:—[च्रोपे] क्षेप = निन्दा गम्यमान होने पर उदर अह हि उत्तरपद रहते बहुव्रीहि समास में संज्ञा विषय में पूर्वपद को अने है होता है।। उदा०—कुण्डोदर: (कुण्ड के समान है पेट जिंध अकटुकारवः (चपछ है अश्व जिसका), स्यन्दिताश्वः (स्यन्दनशीर्धः श्वीमीगित से चलने वाला अश्व है जिसका), अनिघातेषुः (जिसकी मारूने वाला न हो), चलाचलेषुः (जिसका वाण अस्थिर हो कि निशाना ठीक न हो)।।

१. महाभाष्य में उदराश्वेषुषु होपे दोनों सूत्र एक साथ पढ़े हैं हो हो ऐसा नहों समभता चाहिये कि इन को यहाँ पृथक क्यों पढ़ा, क्योंकि भाष्य में सहिनदेश का तात्पर्य केवल 'होपे' में उदाराश्चेषुषु की अनुवृत्ति प्रदर्शन कर्ण भाष्यकार ने इनका योग-विभाग करके अपना मत कहीं नहीं रखा है। व्यक्ति से सूत्र पृथक् ही होने चाहियें।।

विक

द्

वा

वृश

संह

संइ

: (=

₹!

त्ता

矿

d

नदी बन्धुनि ॥६।२।१०९॥

नदी १।१॥ बन्धुनि ७।१॥ अनु --- बहुव्रीही, अन्तः, उदात्तः, पूर्व-पदम् ॥ श्रर्थः - बहुव्रीहौ समासे बन्धुन्युत्तरपदे नद्यन्तं पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति ॥ उदा०—गार्गीवन्धुः, वात्सीवन्धुः ॥

भाषार्थः — बहुत्रीहि समास में [बन्धुनि] बन्धु शब्द उत्तरपद रहते [नदी] नद्यन्त पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है।। गार्गी, वात्सी शब्द यू रुयाल्यो नदी (१।४।३) से नदीसंज्ञक हैं।। उदाः—गागींबन्धुः (गार्गी है बन्धु जिसकी)। जो गार्गी जैसी महाविदुषी ऋषिका के बन्धुत्व मात्र से अपना श्रेष्ठत्व व्यक्त करना चाहता है वह गार्गीबन्धुः कहा जायेगा।।

निष्ठोपसर्गपूर्वमन्यतरस्याम् ॥६।२।११०॥

निष्ठा १।१।। उपसर्गपूर्वम् १।१।। अन्यतरस्याम् ७।१।। स० - उपसर्गः पूर्वी यस्य (पूर्वपदस्य) तत् उपसर्गपूर्वम् , बहुब्रीहिः ॥ श्रनुः —बहुब्रीही, अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम् ॥ अर्थः —बहुव्रीही समासे निष्टान्तमुपसर्गपूर्व पूर्वपदं विकल्पेनान्तोदात्तं भवति ॥ उदा०—प्रधौतमुखः, प्रधौतमुखः। <u>प्रचाल्तिमुंखः, प्रक्षाल्तिमुखः ॥</u>

भाषार्थ: - बहुब्रीहि समास में [उपसर्गपूर्वम्] उपसर्ग पूर्व वाले निष्ठा निष्ठान्त पूर्वपद को [अन्यतरस्याम्] विकल्प से अन्तोदात्त होता है।। मुख शब्द यदि यहाँ स्वाङ्गवाची लिया जाये तो पक्ष में प्रधौत्मुखः आदि मुखं स्वाङ्गम् (६।२।१६६) से अन्तोदात्त होंगे, यदि अखाङ्गवाची महण हो तो गतिरनन्तरः (६।२।४९) से उपरिनिर्दिष्ट पूर्वपद प्रकृतिस्वर होगा।।

[उत्तरपदाद्युदात्तप्रकरणम्]

उत्तरपदादिः ॥६।२।१११॥

उत्तरपदादिः १।१॥ स०—उत्तरपदस्यादिः उत्तरपदादिः, षष्टीतसु-रुषः ॥ अनु०—उदात्तः ॥ अर्थः—अधिकारोऽयम्। यदित अर्ध्वमनु क्रिमिच्यामस्तत्रोत्तरपद्स्यादिस्दात्तो भवतीति वेदितर्वंम्।। उदा० — वक्ष्यति—कर्गो वर्णलच्चणात् , शुक्छकणेः, कृष्णकणेः॥

5

1

7

3:11:11

Ę

₹

उ ब

3

R

सं

श

सं

य लं

से

भाषार्थ:-यह अधिकार सूत्र है। जहाँ तक जायेगा कां: [उत्तर पदादिः] उत्तरपद के आदि को उदात्त होता जायेगा।। यहाँ से 'उत्तरपद' की अनुवृत्ति ६।२।१९६ तक तथा 'त्रादि!

६।२।१४२ तक जायेगी।।

कर्णो वर्णलक्षणात् ।।६।२।११२॥

कुर्णः १।१।। वर्णलक्ष्मणात् ५।१।। स०—वर्ण० इत्यत्र समाहारहुर अनु - जत्तरपदादिः, बहुत्रीहौ, उदात्तः ॥ अर्थ: - वर्णवारि लक्षणवाचिनश्च परः कर्णशब्द उत्तरपदमाद्युदात्तं भवति बहुं समासे।। उदा०—शुक्लुकर्णः, कृष्णुकर्णः। लक्षणात्—दात्रकः शङ्कूकणें:।।

भाषार्थः - बहुत्रीहि समास में [वर्णल चर्णात्] वर्णवाची व लक्षणवाची से परे उत्तरपद स्थित [कर्णः] कर्ण शब्द को आहु होता है ।। पूर्ववत् ६।२।१ से पूर्वपद प्रकृतिस्वर प्राप्त था, तद्पवारी कर्णे लच्च एस्या० (६।३।११३) से 'दात्रा शङ्कू' में दीर्घ होता खराः—ग्रुक्तकर्णः (सफेद हैं कान जिसके)। दात्राकर्णः (साँ चिह्नित कान वाला कोई पशु) शङ्कूकर्णः ॥

यहाँ से 'कर्णः' की अनुवृत्ति ६।२।११३ तक जायेगी ॥

संज्ञौपम्ययोश्च ॥६।२।११३॥

संज्ञीपम्ययोः ७। च अ०॥ स०—संज्ञी० इत्यत्रेतरेतरहरू अनु - कर्णः, उत्तरपदादिः, बहुब्रीहो, उदात्तः॥ औपम्यम् ॥ अर्थः — संज्ञायाम् औपम्ये च यो बहुव्रीहिस्तत्र उत्तरपद्माचुदात्तं भवति ॥ उदा० संज्ञायाम् कुञ्चिकणैः, मृणिक औपम्ये-गोकणौं इव कणौं यस्य = गोकणी:, खर्कणी: ॥

भाषार्थः—[संज्ञीपम्ययोः] संज्ञा तथा उपमा विषय में वर्ष जो बहुव्रीहि वहाँ [च] भी उत्तरपद कर्ण शब्द को अधि होता है।। उदाहरणों में सप्तम्युपमानपूर्वपदस्योत्तरपद्ती (वां॰:२।२।२४) से समास और कर्ण शब्द का छोप होता है। त्री

यहाँ से (संज्ञीपम्ययोः' की अनुवृत्ति ६।२।११५ तक जायेगी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

हांः

-.1

18

र्वार

बहुर्व

गुका

1 6

गुः

द्रो

n t 前

学。

和

191

कण्डपृष्ठग्रीवाजङ्गं च ॥६।२।११४॥

कण्ठपृष्टग्रीवाजङ्घम् १११॥ च अ०॥ स०—कण्ठ० इत्यत्र समाहार-द्वन्द्वः ॥ अनु - संज्ञीपम्ययोः, उत्तरपदादिः, बहुव्रीही, उदात्तः ॥ अर्थः-संज्ञीपम्ययोर्थो बहु ब्रीहिर्वर्त्तते तत्र कण्ठ, पृष्ठ, प्रीवा, जङ्घा इत्येतानि उत्तरपदान्यायुदान्तानि भवन्ति ॥ उदा०—कण्ठः संज्ञायाम्—शितिकण्ठः, नीलकण्ठः। औपम्ये - खरकण्ठ इव कण्ठो यस्य स खरकण्ठः, बुष्ट्रकण्ठः । प्रष्टः संज्ञायाम् — काण्ड्युष्ठः, नाक्युष्ठः । औपम्ये —गोपृष्ठः, अजुप्रष्ठः । प्रीवा संज्ञायाम्—सुप्रीवः, नील्प्रीवः, द्राप्रीवः । औपम्ये— गोप्रीवं:, अश्वप्रीवं: । जङ्घा संज्ञायाम् – नाडीजङ्घं: नाळुजङ्घं: । औपम्ये – गोजहुः, अ्धजहुः, एणीजहुः ॥

भाषार्थ:--संज्ञा तथा औपम्य विषय में वर्त्तमान बहुब्रीहि समास में [कराठपृष्ठयीवाजङ्मम्] कण्ठ, पृष्ट, श्रीवा, जङ्घा इन उत्तरपद स्थित शब्दों को [च] भी आद्युदात्त होता है।। पूर्ववत् यहाँ भी पूर्वपद प्रकृति खर प्राप्त था, तद्पवाद है।।

शृङ्गमवस्थायां च ॥६।२।११५॥

शृङ्गम् १।१॥ अवस्थायाम् ७।१॥ च अ०॥ त्रमु०—संज्ञीपम्ययोः, उत्तरपदादिः, बहुत्रीहो, उदात्तः ॥ अर्थः अवस्थायां संज्ञीपम्ययोश्च बहुवीही समासे शृङ्गशब्दः उत्तरपदमाद्युदात्तं भवति ॥ उदा० - उद्गते युक्ते यस्य स <u>बद्गतशृक्षः</u>। द्वे अंगुली प्रमाणमनयोः ते द्वचङ्कुले, द्वचङ्कुले शृक्षे यस्य स् द्रय्ह्गुल्शृङ्गः, ज्यङ्गुल्शृङ्गः । संज्ञायाम्-ऋ व्यशृङ्गः । औपम्ये—गोश्रङ्गः, मेषश्रङ्गः॥

माषार्थ: - [अवस्थायाम्] अवस्था गम्यमान होने पर [च] तथा संज्ञा एवं उपमा विषय में बहुवीहि समास में उत्तरपद [शृङ्गम्] शृङ्ग शब्द को आद्युदात्त होता है।। दो अङ्गुल तथा तीन अङ्गुल एवं उद्गत सींग देखकर बल्र ड़े आदि की अवस्था की प्रतीति होती है। द्रथङ्गलम् यहाँ प्रमाणे द्वयसज् (५१२१३७) से उत्पन्न मात्रच् प्रत्यय का प्रमाणे लो॰ (ना॰ धारा३७) से लुक् होता है। तत्पुरुषस्याङ्गुलेः० (धारा८६) से समासान्त अच् प्रत्यय होता है एवं तिद्धतार्थोत्तर० (२।१।५०) से तिद्वतार्थ में समास होता है।।

वी

नजो जरमरमित्रमृताः ॥६।२।११६॥

नवः ४।१॥ जरमरमित्रमृताः १।३॥ स०—जरमर० इत्यक्तेरे द्वन्द्वः ॥ अनु०—उत्तरपदादिः, बहुत्रीहो, उदात्तः ॥ अर्थः—नवः मं जर, मर, मित्र, मृत इत्येतानि उत्तरपदानि बहुत्रीहो समासे ह दात्तानि भवन्ति ॥ उदा०—न विद्यते जरः यस्य स अजरंः, अ अमित्रंः, अमृतंः ॥

भाषार्थः—[नञः] नञ् से उत्तर [जरमरिमत्रमृताः] जर, मर, हि मृत इन उत्तरपद स्थित शब्दों को बहुब्रीहि समास में आहु होता है।। यह सूत्र नञ्सुभ्याम् (६।२।१७१) का अपवाद है।।

सोर्मनसी अलोमोपसी ।।६।२।११७॥

सोः १।१॥ मनसी १।२॥ अलोमोपसी १।२॥ स०—मन् व र मनसी इतरेतरद्वन्द्वः । लोम च उषद्य लोमोपसी^२, न लोमोपसी अले पसी, द्वन्द्वगर्भनञ्ततपुरुषः ॥ अनु०—उत्तरपदादिः, ब्ह्लं उदात्तः ॥ अर्थः—सोरुत्तरं मन्नन्तम् असन्तं चोत्तरपदं बहुनीही स आयुदात्तं भवति, लोमोपसी वर्जियत्वा ॥ उदा०—मन्नन्तम्—धुर्मः सुधम्मां, सुप्रथिमा, सुकर्माणः सुरुचंः (ऋ०४।२।१७) वश्चदिनमानः धुर्मः (ऋ०४।२२।७)। असन्तम्—सुपयाः, सुयशाः, सुस्रोताः, शिवा पुरु सुमनाः सुवर्चाः (ऋ०१०।८५।४४)॥

भाषार्थ:—[सो:] सु से उत्तर [मनसी] मन् अन्त वाले तथा अन्त वाले उत्तरपद शब्दों को बहुत्रीहि समास में आद्युदात्त होती [श्रलोमोषसी] लोमन् तथा उषस् शब्द को छोड़ कर।। लोमन् अ एवं उषस् असन्त है, अतः प्राप्ति थी, निषेध कर दिया।। पूर्ववत् की का अपवाद है।।

यहाँ से 'सोः' की अनुवृत्ति ६।२।१२० तक जायेगी।।

१. स्वरूपनिदूँशार्थमित्रभक्त्यन्तं प्रयुक्तम् ग्रन्यथा मा च ग्राश्चेति ह

२. प्रातिपदिकापेक्षं नपुंसकत्वम् ।

षष्टोऽध्यायः

क्षि पादः]

नेतरे

प्रा

3

अस्

ब्र

1 8

प्रले

हुई

#

F

N:

di

अं

M

१६५ .

ऋत्वादयश्च ॥६।२।११८॥

कत्वाद्यः १।३॥ च अ०॥ स०—कृतुः आद्रियेषां ते क्रत्वाद्यः, बहुव्रीहिः॥ अनु०—सोः, उत्तरपदादिः, बहुव्रीहौ, उदात्तः॥ अर्थः-सोरुत्तरे कृत्वाद्यः बहुव्रीहौ समासे आद्युदात्ताः भवन्ति ॥ उदा०—सुकर्तुः, सुद्दशींकः॥

माषार्थः—'सु' से उत्तर [कत्वादयः] क्रत्वादि उत्तरपद शब्दों को [च] भी आद्युदात्त होता है।। यह भी नव्सुभ्याम् का अपवाद है।।

आद्युदात्तं द्वचच्छन्दिस ॥६।२।११९॥

आयुदात्तम् १।१॥ द्रयच् १।१॥ छन्दसि ७।१॥ स०-द्रौ अचौ यस्मिन् स द्रयच्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—सोः, उत्तरपदादिः, बहुव्रीहौ, उदात्तः ॥ अर्थः—बहुव्रीहौ समासे सोरुत्तरं यदायुदात्तं द्रयच् उत्तरपदं तदायु-दात्तमेव भवति छन्दसि विषये ॥ उदा०—स्वश्वीस्त्वा सुर्था मर्ज्जयेम् (ऋ० ४।४।८)॥

माषार्थः—बहुन्नीहि समास में सु से उत्तर जो [द्वचम्] दो अच् बाळा [श्राद्युदात्तम्] आद्युदात्त शब्द उसे [क्वन्दिसि] वेद विषय में आद्युदात्त ही होता है ।। नज्सुम्याम् (६।२।१७१) से उत्तरपदको अन्तो-दात्त प्राप्त था, प्रकृत सूत्र से आद्युदात्त को आद्युदात्त ही हो गया। उदाहरण में अश्व तथा रथ शब्द उणादि से नित् प्रत्ययान्त व्युत्पादित हैं अतः नित् स्वर से आद्यदात्त थे।।

यहाँ से 'छन्दिस' की अनुवृत्ति ६।२।१२० तक जायेगी।।

वीरवीयौँ च ॥६।२।१२०॥

वीरवीयौँ १।२।। च अ० ।। स०—वीर० इत्यन्नेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—छन्दिस, सोः, उत्तरपदादिः, बहुव्रीहौ, उदात्तः ॥ अर्थः— बहुव्रीहौ समासे सोरुत्तरो वीर वीर्य इत्येतौ च शब्दौ छन्दिस विषय आधुदात्तौ भवतः ॥ उदा०—सुवीरे ण ते । सुवीर्य स्याम (ऋ० ४।५१।१०) ॥

भाषार्थ:—बहुव्रीहि समास में सु से उत्तर [वीरवीयौँ] वीर तथा वीर्य उत्तरपद शब्दों को [च] भी वेद विषय में आद्युदात्त होता है ॥ पूर्व-वत् नव् सुभ्याम् का अपवाद जानें ॥

f

क्लतीरत्लम्लशालाक्षसममन्ययीमावे ॥६।२।१२१॥

कूल : समम् १।१॥ अन्ययीभावे ७।१॥ स - कूलब्र तीसः रच मूल्ख्य शाला च अक्षक्र समज्ज कूलः समम् , समाहारो हुन अनु - उत्तरपदादिः, उदात्तः ॥ अर्थः - कूल, तीर, तूल, मूल, ह अक्ष, सम इत्येतान्युत्तरपदान्यव्यीभावसमासे आद्युदात्तानि भक्त उदाः - परिकूछम्, पकूछम्। परितीरम्, उपतीरम्। परितूलम्। त्लम्। परिमूलम्, डपुमूलम्। परिशालम्, डपुशालम्। डपाचम्, क्षंम्। सुषमम्, विषमम्, निषमम्, दुःषमम्।।

भाषार्थः - [कूलः समम्] कूल, तीर, तूल, मूल, शाला, अक्ष, इन उत्तरपद शब्दों को [अव्ययीमावे] अव्ययीभाव समास में आह होता है।। सुषमम् इत्यादि शब्द तिष्टद्गु गण में पठित हैं, तिष्ठद्गुप्रभृतीन च (२।१।१६) से समास होता है। सुषामाहि (८।३।९८) से पत्व होगा । कूलस्य समीपम् उपकूलम् इत्यादि में क्र विभक्तिः (२।१।६) से अन्ययीभाव समास हुआ है। परिकूलम् ह में परि शब्द अपपरी वर्जने (१।४।८७) से कर्मप्रवचनीय संज्ञक है पञ्चम्यपाङ्० (२।३।१०) से कूल शब्द में पञ्चमी होगी, एवं अपपीत (२।१।११) से अन्ययीभाव समास होगा, ततः अन्तर्वित्तिनी वि का लुक् हो ही जायेगा।।

कंसमन्थभूपंपाय्यकाण्डं द्विगौ ।।६।२।१२२॥

कंस काण्डम् १११॥ द्विगी ७।१॥ स - कंस० इत्यत्र समा द्वन्द्वः ॥ अनु०— उत्तरपदादिः उदात्तः ॥ अर्थः — कंस, मन्ध, पाय्य, काण्ड इत्येतानि उत्तरपदानि द्विगौ समास आद्युदात्तानि भवि उदा०—द्विकंसः, त्रिकंसः । द्विमन्थः त्रिमन्थः । द्विशूपंपः, विश् द्विपांच्यः, त्रिपाच्यः । द्विकाण्डः, त्रिकाण्डः ॥

भाषार्थः—[कसः काण्डम्] कंस, मन्थ, शूर्प, पाय्य, काण्डम् उत्तरपद शब्दों को [द्विगों] द्विगु समास में आद्युदात्त होता है॥

तत्पुरुषे शालायां नपुंसके ॥६।२।१२३॥

, तत्पुरुषे ७११।। शास्त्रायाम् ७११। नपुंसके ७११। अवुर् पदार्दिः, उदात्तः ॥ श्रर्थः—नपुंसकिङ्कि शालाशब्दान्ते तस्र्वे उत्तरपदमाद्युदात्तं भवति ॥ उदाः — ब्राह्मणुशार्लम् , क्षुत्रियुशार्लम् ॥

118

Ca:

हर्

, 5

भवनि

Ą,: **म्**,

क्ष, ह

मायुः

e,

nis

军

朝 है,

रिष वि

HIE

विं

A.

Us

31

भाषार्थ:-[नपुंसके] नपुंसकिङ्क वा छे [शालायाम्] शाला शब्दान्त [तत्पुरुषे] तत्पुरुष समास में उत्तरपद को आयुदात्त होता है।। विमाषा सेनाप्तरा० (२।४।२५) से जिस पक्ष में नपुंसकलिङ्गता होगी, उस पन्न में प्रकृत सूत्र से स्वर होगा ।। समासस्य के ही सब अपवाद जाने ॥

यहाँ से 'तत्परुषे' की अनुवृत्ति ६।२।१३७ तक तथा 'नपंसके' की

६।२।१२५ तक जायेगी।।

कन्था च ।।६।२।१२४॥

कन्था १।१।। च अ० ।। अनु०—तत्पुरुषे, नपुंसके, उत्तरपदादिः, उदात्तः ।। अर्थः --- कन्थाशब्दान्ते तत्पुरुषे नपुंसकलिङ्गे उत्तरपदमायुदात्तं भवति ।। उदा० - सौश्मिकन्थम् , आह्वकन्थम् , चुप्यकन्थम् ।।

माषार्थः - नपुंसकलिङ्ग [कन्था] कन्थान्त तत्पुरुष समास में [च] भी उत्तरपद को आद्युदात्त होता है।। संज्ञायां कन्थोशी० (२।४।२०) से उदाहरणों में नपुंसकिङ्गता हुई है।।

यहाँ से 'कन्था' की अनुवृत्ति ६।२।१२५ तक जायेगी।।

आदिश्चिहणादीनाम् ॥६।२।१२५॥

आदिः १।१।। चिह्नणादीनाम् ६।३॥ स०—चिह्नण आदिर्येषां ते चिहणाद्यस्तेषां " बहुत्रीहिः ॥ अनु - कन्था, तत्पुरुषे नपुंसके, उदात्तः ॥ अर्थः - नपुंसकिलक्के कन्थान्ते तत्पुरुषे समासे चिहणादीना-मादिरुदात्तो भवति ॥ उदा०—चिहंणकन्थम्, महरकन्थम्॥

भाषार्थ: -- नपुंसकलिङ्ग कन्थान्त तत्पुरुष समास में [चिह्णादीनाम] विहणादि गणपठित शब्दों के [आदि:] आदि को उदात्त होता है॥ पूर्वसूत्र से उत्तरपद को आद्युदात्तत्व प्राप्त था, इस सूत्र ने पूर्वपद को आद्युदात्तत्व कर दिया ।। आदि की अनुवृत्ति होने पर पुनः आदिग्रहण से फूर्वपद चिहणादि को आद्युदात्त होता है।।

चेलखेटकदुककाण्डं गहीयाम् ॥६।२।१२६॥

चेललेटकटुककाण्डम् १।१॥ गर्हायाम् ७।१॥ सञ्चेलक् लेटम कटुकश्च काण्डश्च, चेलः काण्डम्, समाहारद्वन्द्वः॥ श्रनु० -तसुरुषे,

स

उ

उत्तरपदादिः, उदात्तः ॥ श्रर्थः—चेल, खेट, कटुक, काण्ड इत्येतानु पदानि तत्पुरुषे समासे आद्युदात्तानि भवन्ति, गर्हायां गम्यमानाम उदा०—पुत्रश्चेलिन = पुत्रचेलंम्, भार्याचेलंम्। उपान्त्खेरंम्, स् खेटंम्। दुधिकटुंकम्, दुदिश्चत्कटुंकम्। भूतकाण्डंम्, प्रजाकाण्डंम्।

माषार्थः—[चेलः 'कारडम्] चेछ, खेट, कटुक, कारह उत्तरपद स्थित शब्दों को तत्पुरुष समास में [गर्हायाम्] निन्दा गम होने पर आद्युदात्त होता है।। उपितं व्याव्यादिभिः० (शिक्षा सर्वेत्र उदाहरणों में समास हुआ है।। उदा०—पुत्रचेछम् (कुगुर फटे वस्त्र के समान दूर करने योग्य हो), उपानत्खेटम् (खराव क् दिधकटुकम् (कड़वा दही), भूतकाण्डम् (कड्टदायक प्रजा)।।

चीरम्रुपमानम् ॥६।२।१२७॥

चीरम् १११॥ उपमानम् १११॥ अनु०—तत्पुरुषे, उत्तरातं । उदान्तः ॥ अर्थः—तत्पुरुषे समासे उपमानवाचि चीरमुत्तरपदमाण् । भवति ॥ उदा०—वस्नं चीरमिव वस्त्रचीरम्, पटचीरम्, कुम्बूल्वी ।

भाषार्थः—तत्पुरुष समास में [उपमानम्] उपमानवाची किं चीर उत्तरपद शब्द को आद्युदात्त होता है।। पूर्ववत् समास किं उदा०—वस्त्रचीरम् (उम्बे आकार में फाड़ी गई पट्टी के समार्व चौड़ा वस्त्र)।।

पललसूपशाकं मिश्रे ॥६।२।१२८॥

पललसूपशाकम् १।१॥ मिश्रे ७।१॥ स०—पलल्ख्नं सूपश्च भा पललसूपशाकम्, समाहारद्वन्द्वः॥ श्रानु०—तत्पुरुषे, उत्तर्पा उदात्तः॥ अथः—मिश्रवाचिनि तत्पुरुषे समासे पलल, सूप, इत्येतान्युत्तरपदान्याद्युदात्तानि भवन्ति॥ उदा०—गुडेन मिश्रं पल गुड्रपर्ललम्, घृत्पर्ललम्। घृतसूपः, मूलकसूपः। घृतभा मुद्गशाकंम्॥

भाषार्थः—[मिश्रे] मिश्रवाची तत्पुरुष समास में [पललस्प्राहित पळळ, सूप, शांक इन उत्तरपद्स्थित शब्दों को आद्युदात होती मन्येश निश्रीकरणम् (२।१।३४) से उदाहरणों में समास हुआ

तालु

नावाः

, 4

ΨI

∪ह :

गुस्य

144

पुत्र,

ब ब

पदा

业

जां

गिन

3 व

100

ali

उदा॰—गुडपललम् (गुड़ मिला हुआ मांस), घृतसूपः (घी मिली हुई दाल), मूलकसूपः (मूली मिली हुई दाल), घृतशाकम् (घी मिला हुआ शाक), मुद्गशाकम् (मूंग मिला हुआ शाक)।।

क्लस्दस्थलकर्षाः संज्ञायाम् ॥६।२।१२९॥

कूळसूद्स्थळकर्षाः ११३।। संज्ञायाम् ७११। स०—कूळख्च सूद्ध कर्षश्च कूल : : : कर्षाः, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु - तत्पुरुषे, स्थलञ्ज उत्तरपदादिः, उदात्तः ।। अर्थः - कूल, सूद, स्थल, कर्ष इत्येतान्युत्तर-तत्पुरुषे समास आद्युदात्तानि भवन्ति संज्ञायां विषये॥ उदा०—दाचिक्छंम्, माह् किकूछंम्। देवसूदम्, भाजीसूदंम्। दाण्डा-<mark>यनस्थळी', माहकि</mark>स्थळी'। दाक्षिकषे':।।

भाषार्थः--[संज्ञायाम्] संज्ञा विषय में [कूलः ः कर्षाः] कूछ, सूद, स्थल, कर्ष इन उत्तरपद्स्थित शब्दों को तत्पुरुष समास में गर्षा चीर आद्युद।त्तं होता है।। सभी उदाहरण प्राम विशेष के नाम हैं। स्थल शब्द में जानवद्वस्त्राड० (४।१।४२) से डीष् हुआ है। चारों ओर की भूमि से स्वयंसिद्ध (अकृत्रिम) उच्च सम भूमि 'स्थली' कहाती है॥

अकर्मधारये राज्यम् ॥६।२।१३०॥

अकर्मधारये ७।१॥ राज्यम् १।१॥ सः—न कर्मधारयः अकर्मधारय-स्तरिमन् नव्तरपुरुषः ॥ श्रवु - तत्पुरुषे, उत्तरपदादिः, उदात्तः॥ अर्थः - कर्मधारयवर्जिते तत्पुरुषे समासे राज्यमुत्तरपदमाद्युदात्तं भवति ॥ उदा० - बाह्यण्राज्यम् , क्षत्रियराज्यम् ॥

माषार्थः-[अकमेधारये] कर्मधारय वर्जित तत्पुरुष समास में उत्तरपद [राज्यम्] राज्य शब्द को आद्युदात्त होता है।। उदाहरणों में षष्टीसमास है।।

ग्नहाँ से 'अकर्मधारये' की अनुवृत्ति ६।२।१३१ तक जायेगी ।।

वर्गाद्यश्च ॥६।२।१३१॥

TE वर्ग्याद्यः ११३।। च अ०।। स०—वर्ग्य आदिर्वेशं ते वर्ग्याद्यंः, बहुत्रीहि:।। अनु - अकर्मधारये, तत्पुरुषे, उत्तरपदादिः, उदात्तः॥

र्द

J

व्ह

अर्थः -- अकर्मधारये तत्पुरुषे समासे वर्गादीन्युत्तरपदान्यावुदाः भवन्ति ॥ जदाः - वासुदेववर्यः, वासुदेवपद्यः, अर्जु का अर्जु नपद्यंः ॥

भाषार्थः -- कर्मधारय वर्जित तत्पुरुष समास में [वर्यादयः] क उत्तरपद शब्दों को [च] भी आद्युदात्त होता है।। दिगाहि (४।३।५४) से यत् प्रत्यय करके वर्ग्य इत्यादि शब्द सिद्ध होते | उदा - वासुदेववर्ग्यः (वासुदेव के वर्ग का), अर्जुनपच्यः॥

पुत्रः पुम्भ्यः ॥६।२।१३२॥

पुत्रः १।१॥ पुम्भ्यः ५।३॥ अनु०— तत्पुरुषे, उत्तरपदादिः, उतः अर्थ: - पुंशब्दे भ्य उत्तर: पुत्रशब्द उत्तरपदं तत्पुरुषे समासे आह भवति ॥ उदा०—कौन्टिपुत्रः, दामक्पुत्रः, माहिषकपुत्रः॥

भाषार्थः —तत्पुरुष समास में [पुम्भ्यः] पुंल्लिङ्गवाची शब्द से उत्तरपद [पुत्र:] पुत्र शब्द को आद्युदात्त होता है।। उदा०-कै पुत्रः, (कौनटि का पुत्र)।।

यहाँ से 'धृत्रः' की अनुवृत्ति ६।२।१३३ तक जायेगी॥

नाचार्यराजर्त्वक्संयुक्तज्ञात्याख्येभ्यः ॥६।२।१३३॥

न अः ॥ आचार्यः 'ख्येभ्यः ५।३॥ सः—आचार्यश्च राजावर्गं हे च संयुक्तस्र ज्ञातिस्र आचार्यः ज्ञातयः, एता आख्या येषां ते आवा ख्याः, तेभ्यः दन्द्रगर्भबहु त्रीहिः ॥ श्रनु० – पुत्रः, तत्पुरुषे, उत्तर्ण उदात्तः ॥ अर्थः—आचार्य, राजा, ऋत्विक, संयुक्त, ज्ञाति, ह या आख्या तद्वाचिभ्यः परः पुत्रशब्दो नाद्युदान्तो भवति॥ आचार्याख्रोभ्यः—आचार्यपुत्रः, खपाध्यायपुत्रः शाकटायनपुत्रः। ख्येभ्यः—राज्युत्रः, इश्वर्युत्रः, नुन्द्युत्रः,। ऋत्विगाख्येभ्यः क्पुत्रः, याज्कपुत्रः, होतुःपुत्रः। संयुक्ताख्येभ्यः सम्बन्धि र्याळुपुत्रः । ज्ञात्याख्येभ्यः—ज्ञातिपुत्रः, भ्रातुष्पुत्रः ॥

भाषार्थः—[आचार्यः : ख्येभ्यः] आचार्य, राजन, ऋत्विक्, तथा ज्ञाति की आख्या वाले शब्दों से उत्तर पुत्र शब्द को तस्पूर्व में आर्युदात्त [न] नहीं होता है ।। पूर्व सूत्र से प्राप्ति थी, तिथी

नक

di:

गिदिः

ते ।

द्रान आर्

11

चाः

र्पा 影

दिया, अतः समासस्य (६।१।२१७) से अन्तोदात्त ही होता है ॥ आख्या बुहार प्रहण तत्पर्याय एवं तद् विशेषवाचियों के प्रहणार्थ है। यथा उपाध्यायपुत्रः इस उदाहरण में उपाध्याय शब्द आचार्य का पर्यायवाची है, एवं शाकटायन-पुत्रः में शाकटायन शब्द आचार्यविशेषवाची है।इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी समझ हें ।। ऋतो विद्यायोनिसंबन्धे० (६।३।२१) से होतु:पुत्रः, भ्रातुष्पुत्रः में षष्टी का अलुक् हुआ है। कस्कादिषु च (८।३।४८) से भ्रातुष्पुत्रः में पत्व जानें।। संयुक्त स्त्री के संबन्धी 'साला' आदि को कहते हैं, तथा ज्ञाति शब्द माता-पिता संबन्धी बन्धु बान्धवों का वाचक है।।

चूर्णादीन्यप्राणिषष्ठचाः ॥६।२।१३४॥

चूर्णादीनि ११३।। अप्राणिषष्टचाः ४११।। स० — चूर्ण आदिर्येषां तानि चूर्णादोनि, बहुब्रीहि: । न प्राणी, अप्राणी नञ्तत्पुरुषः । अप्राणिनः षष्ठी से अप्राणिषष्टी, तस्याः पञ्चमीतत्पुरुषः ॥ त्रमु - तत्पुरुषे, उत्तर-नौ पदादिः, उदात्तः ॥ अर्थः — अप्राणिवाचिनः षष्ठ्यन्तात् पराणि चूर्णा-दीन्युत्तरपदानि तत्पुरुषे समास आद्युदात्तानि भवन्ति ॥ उदा०— मुद्गस्य चूर्णं = मुद्गचूर्णंम्, मुसूर्चूर्णंम्।।

भाषार्थ:--[अप्राणिषष्ठचाः] प्राणिभिन्न षष्टचन्त शब्द से उत्तर त्तपुरुष समास में [चूर्यादीनि] चूर्णादि उत्तरपद शब्दों को आद्युदात्त होता है।। उदा: - मुद्गचूर्णम् (मूँग का आटा), मसूरचूर्णम् (मसूर का आटा)। मृद्ग, मसूर अप्राणिवाची षष्टचन्त शब्द हैं।।

यहाँ से 'अप्राणिषष्ठचाः' की अनुवृत्ति ६।२।१३५ तक जायेगी।।

षट् च काण्डादीनि ॥६।२।१३५॥

षट् १।३।। च अ० ।। काण्डादीनि १।३।। स०-काण्ड आदिर्येषाम् तानि काण्डादीनि, बहुव्रीहिः ॥ अनु - अप्राणिषष्ठ्याः, तत्पुरुषे, उत्तरपदादिः, उदात्तः ॥ अर्थः — पूर्वोक्तानि षट् काण्डादीन्युत्तरपदानि अप्राणिवाचिनः षष्ठ्यन्तात् पराण्याद्युदान्तानि भवन्ति ॥ उदा॰—दुर्भुकाण्डम् शरकाण्डम्। दुभैचीरम्, छुश्चीरम्। तिल्पलंलम्, मुद्गसूपः, मुलकः शाकंप्। <u>नदीक</u>्लंम्, स<u>मुद्र</u>कूलंम्।।

[हिं प

+

হ

ग

व

त्

म्

व

E

भाषार्थः—अप्राणिवाची षष्ट्यन्त शब्द से उत्तर पूर्वोक्त कि [काराखादीनि] काण्डादि उत्तरपद शब्दों को [च] भी आर्ह होता है।। चेलखेटकटुककाराउं० (६।२।१२६) में पढ़े हुये काण्ड क से लेकर कूलसूदस्थल० (६।२।१२६) के कूल शब्द तक काण्ड, पलल, सूप, शांक, कूल ये ६ शब्द काण्डादि से गृहीत हैं॥ झा को पूर्वोक्त सूत्रों से ही अप्राणिवाची षष्ट्यन्त से उत्तर भी आहु प्राप्त ही था, पुनः कथन इसिलये है कि जहाँ गर्हा में आद्युदारा व है वहाँ अगर्हा में भी प्रकृत सूत्र से हो जाये, तथा जहाँ उपमाद से कहा है वहाँ अनुपमान में, जहाँ मिश्र एवं संज्ञा विषय में ह त वहाँ अमिश्र, एवं असंज्ञा में भी हो जाये ॥

कुण्डं वनम् ॥६।२।१३६॥

कुण्डम् १।१॥ वनम् १।१॥ श्रनुः—तत्पुरुषे, उत्तरफ ज उदात्तः ॥ अर्थः — तत्पुरुषे समासे वनवाचि कुण्डमित्येत्द्वः मे माद्युदात्तं भवति ॥ उदा० - दुर्भेकुण्डम् , शुरकुण्डम् ॥

भाषार्थः — [वनम्] वनवाची [कुएडम्] कुण्ड उत्तरपद शब्द की वृ रुष समास में आद्युदात्त होता है।। कुण्ड शब्द यहाँ साहरूपी (अर्थ में वर्त्तमान है। जिस प्रकार कुण्ड जल इत्यादि का स्थान है, उसी प्रकार वन भी किसी का आश्रय है यही यहाँ म है।। उदा -- दर्भकुण्डम् (दर्भ का वन)। शरकुण्डम् (सा प का वन)।।

प्रकृत्या भगालम् ॥६।२।१३७॥

प्रकृत्या ३।१।। भगालम् १।१।। अनुः—तत्पुरुषे, उत्तरपर्ग श्रर्थः — भगालवाच्युत्तरपदं तत्पुरुषे समासे प्रकृतिस्वरं भवति॥ वर्ष कुम्भीभुगालम्, कुम्भीकुपालम्, कुम्भीनुदालम् ॥ भाषार्थः—[भगालम्] भगालवाची उत्तरपद् को तत्पुरुष समी [प्रकृत्या] प्रकृति स्वर होता है ।। लघावन्ते द्रयोश्च बहुषो गुरु ४२) से भगाल कपाल आदि शब्द मध्योदात्त हैं। भगाल से वर्ष

१. काचिदेकदेशोऽप्यनुवर्तते इति नियमेन उत्तरपदमेवानुवर्तते ।

श्र

€, ŧ

इनः

दुव

वाचियों का भी प्रहण है।। उदा०—कुम्भीभगालम् (घड़े का आधा दुकड़ा)। इसी प्रकार अन्यों के भी अर्थ जानें।।

यहाँ से 'प्रकृत्या' की अनुवृत्ति ६।२।१४२ तक जायेगी।।

शितेर्नित्याबह्वज् बहुत्रीहावभसत् ॥६।२।१३८॥

श्चित्तेः ४।१॥ नित्याबह्वच् १।१॥ बहुन्रीही ७।१॥ अभसत् १।१॥ स०— वहवोऽचो यस्मिन् तत् बह्वच् , बहुव्रीहिः। न बह्वच् अबह्वच् , नञ्तत्पुरुषः। मात नित्यम् अबह्वच् , नित्याबह्वच् , अत्यन्त० (२।१।२९) इत्यनेन द्वितीया-त्युरुषः। न भसत् अभसत् , नञ्तत्पुरुषः॥ श्रनु०-प्रकृत्या, उत्तरपदम्॥ अर्थः—शितेः परं नित्यं यद्बह्वच्कमुत्तरपदं भसच्छव्दवर्जितं तत् प्रकृत्या भवित, बहुत्रीहौ समासे ।। उदा०—शितिपादंः, शित्यंसंः, शित्योष्टः ।।

भाषार्थ: [शिते:] शिति शब्द से उत्तर [नित्याबहुच्] नित्य ही र्ण जो अबह्वच् उत्तरपद स्थित शब्द उसको [बहुत्रीहाँ] बहुत्रीहि समास वि में प्रकृति स्वर होता है [अभसत्] भसत् शब्द को छोड़कर।। भसत् शब्द भी नित्य अबह्वच् है, अतः प्राप्ति थी, निषेध कर दिया। पाद शब्द की वृषादीनां च (६।१।१९७) से आद्युदात्त है । अंस शब्द अमेः सन् (उगा० वहें (४।२१) से सन् प्रत्ययान्त है, एवं ओष्ट शब्द भी उषिकुषिगातिभ्यस्थन् ह (जणा० २।४) से थन् प्रत्ययान्त है अतः दोनों ही शब्द नित्स्वर से ब्रा आद्युदात्त हैं।। बहुत्रीही प्रकृत्या० (६।२।१) से बहुत्रीहि समास में पूर्व-का पद प्रकृतिस्वर प्राप्त था, तद्पवाद यहाँ उत्तरपद प्रकृतिस्वर कह दिया।।

गतिकारकोपपदात् कृत् ॥६।२।१३९॥

गतिकारकोपपदात् ५११॥ कृत् १११॥ स०—गतिश्च कारकञ्च उपपद्ञ गतिकारकोपपदं तस्मात् समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु — प्रकृत्या, तत्पुरुषे, दम उत्तरपदम्।। अर्थः—गतेः कारकाद् उपपदाच्च परं कृदन्तमुत्तरपदं तत्पुरुषे समासे प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा० गतेः — प्रकारंकः, प्रहारकः, मकरंगम्, प्रहरंणम्। कारकात्—इध्मं प्रवृश्च्यते येन स इध्मप्र-वश्चनः, प्लाशातनः, शुरम्श्रु कल्पनः। उपपदात्-ईष्त्करः, दुष्करं सुकरः॥

1 माषार्थः — [गतिकारकोपपदात्] गति, कारक तथा उपपद से उत्तर E [कृत्] कृद्न्त उत्तरपद् को तत्पुरुष समास में प्रकृतिस्वर होता हैं।। सर्वत्र उदाहरणों में छद्न्त 'कारकः' आदि को लिति (६।१।११७) से

[हिं पाद

यान

[उत्

छोड़ पूर्व

भाग

प्रत्यय से पूर्व को उदात्त है। पलाशशातनः में शद्रू णिजन्त भा ताव द् को त् शदेरगतौ तः (७१३१४२) से होता है। णेरनिटि (६१४१४) उदा णिच् का लोप हो ही जायेगा। इध्म, पलाश आदि कम कारक से व यहाँ कृदन्त प्रवश्चनः आदि हैं। परन्तु प्रवश्चन आदि कृत् के को कम में षष्टी होकर 'कृद्योगा च षष्टी समस्यते' (वा० २।२।८) से। इस समास होता है।

उमे वनस्पत्यादिषु युगपत् ॥६।२।१४०॥

उभे १।२॥ वनस्पत्यादिषु ७।३॥ युगपत् १।१॥ स०-वन्तं आर् आद्रियेषां ते वनस्पत्यादयस्तेषु ''बहुब्रीहिः॥ अनु०- प्रकृत्या॥ ऋं प्रत्य वनस्पत्यादिषु समासेषु उभे पृवीत्तरपदे युगपत् प्रकृतिस्वरे भग कीः उदा०-वनस्पतिः, बृहतां पतिः = बृहस्पतिः॥

यहाँ से 'उमे युगपत्' की अनुवृत्ति ६।२।१४२ तक जायेगी॥

देवताद्वन्द्वे च ॥६।२।१४१॥

ं देवताद्वन्द्वे '७।१॥ च अ०॥ स०—देवतानां द्वन्द्वः देवताः से व तस्मिन् ' 'षष्टीतत्पुरुषः ॥ अनु - उमे युगपत् , प्रकृत्या, ॥ अर्थः पादः]

तावाचिनां यो द्वन्द्वस्तत्र युगपदुभे पूर्वोत्तरपदे प्रकृतिस्वरे भवतः॥ हिन्दाः—इन्द्वासोमौ , इन्द्वावरुंणो, इन्द्वाबृह्स्पती ॥

भाषार्थ:—[देवताइन्द्रे] देवतावाची शब्दों का जो द्रन्द्र समास इसमें [च] भी एक साथ दोनों अर्थात् पूर्व और उत्तरपद को प्रकृति- खर होता है।। उदाहरणों में देवताइन्द्रे च (६१३१२४) से आनक् आदेश होता है। इन्द्र शब्द ऋजेन्द्राय० (उणा० २१२८) से रन् प्रत्या- यान्त निपातित है, अतः नित्स्वर से आद्युदात्त है। सोम शब्द अर्ति- स्तुमुहु० (उणा० ११४४०) से मन् प्रत्ययान्त है, अतः यह भी नित्स्वर से आद्युदात्त है। वरुण शब्द कृवदाविभ्य उनन् (उणा० ३१५३) से उनन् प्रत्ययान्त है, अतः यह भी नित्स्वर से आद्युदात्त है। बृहस्पित शब्द की व्युत्पत्ति ६१२१४० में की ही है, तद्नुसार बृहस्पित में दो उदात्त एवं इन्द्र का एक उदात्त लेकर इन्द्राबृहस्पती में तीन वर्ण उदात्त हुए॥

यहाँ से 'देवताद्वन्द्वे' की अनुवृत्ति ६।२।१४२ तक जायेगी।।

नोत्तरपदेऽनुदात्तादावपृथिवीरुद्रपूषमन्थिषु ।।६।२।१४२॥

न अ० ॥ उत्तरपदे ०।१॥ अनुदात्तादौ ०।१॥ अपृथिवीरुद्रपूषमन्थिषु

ंशि॥ स०—अनुदात्त आदौ (प्रारम्भे) यस्य स अनुदात्तादिः, तस्मिन्

ं बहुत्रीहिः । पृथिवी च रुद्रश्च पूषा च मन्थी च पृथिवी मन्थिनः, न

पृथिवीः 'थिनः अपृः 'थिनः, तेषु 'द्रन्द्रगर्भनज्तत्युरुषः॥ अनु०-देवता
दन्द्रे, उभे युगपत्, प्रकृत्या ॥ अर्थः—अनुदात्तादौ उत्तरपदे पृथिवीरुद्र
पूषमन्थिवितते देवताद्वन्द्रे युगपद् उभे प्रकृतिस्वरे न भवतः ॥ उदाः —

इन्द्राग्नी, इन्द्रावायु ॥

माधार्थः—देवतावाची द्वन्द्व समास में [अनुदात्तादौ] अनुदात्तादि [उत्तरमदे] उत्तरपद रहते [अपृ''' थिषु] पृथिवी, रुद्र, पूषन, मन्थी को छोड़कर एक साथ पूर्व तथा उत्तरपद को उदात्त [न] नहीं होता है ॥ १ १ १ १ १ भाग १ १ १ ० ७७५ में देखें। वायु शब्द भी कृवापाजिमि (उगा० १११) से उणादि प्रत्ययान्त है, अतः प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। इस प्रकार अन्ति,

का

को

क्श

क्श

स्व

यह

घः

ज

पृत्र नि

स्थ में

कुल पूर

प्रत

和

प्रा

भी में

(3

(व

ह्य

दाः

वायु शब्द अनुदात्त आदि वाले हैं, अतः इनके परे रहते प्रकृति नहीं हुआ। देवताद्रन्द्र है ही, अतः प्रकृत सूत्र से निषेष्र हो समासस्य (६।१।२१७) से अन्तोदात्तत्त्व ही हुआ।।

अन्तः ॥६।२।१४३॥

अन्तः १।१॥ श्रनु०—उत्तरपद्स्य⁹, उदात्तः ॥ अर्थः—आकि ऽयम् । यदित अर्ध्वमनुक्रमिष्यामस्तत्र समासस्योत्तरपद्स्यान व भवति ॥ उदा०—वक्ष्यति-थाथघञ्काजवित्रकाणाम्—सुनीयः,अकु

भाषार्थः—यह अधिकार सूत्र है। पाद की समाप्ति पर्यतः अधिकार जायेगा, अतः सर्वत्र समास के उत्तरपद का [अतः] उदात्त होता है ऐसा अर्थ होता जायेगा।।

समासस्य (६।१।२१७) से समास के अन्त को उदात्त प्राप्त पुनः आगे के सभी सूत्र विभिन्न सूत्रों के अपवाद स्वरूप अन्त तत्व का विधान करते हैं, ऐसा सर्वत्र जानें। कौन किसका क है यह यथास्थान दर्शते जायेंगे।।

थाथघञ्क्ताजिबत्रकाणाम् ॥६।२।१४४॥

थाथघञ्काजिवत्रकाणाम् ६।३॥ स०—थाथ० इत्यत्रेतरेतर् अनु० —अन्तः, उत्तरपद्स्य, उदात्तः। गितकारकोपपदात् इत् ६ गितिकारकोपपदात् इत् ६ गितिकारकोपपदात् इत् ६ गितिकारकोपपदात् इत्यप्यनुवर्त्तते मण्डुकप्लुतगत्या ॥ अथः नामिकारपदानामन्त उदात्तो भवति ॥ उदा०—थ—सुनीथः, अवः नामिक्तरपदानामन्त उदात्तो भवति ॥ उदा०—थ—सुनीथः, अवः अथ—आवस्यथः, उपवस्यथः। घव्—प्रसेदः, काष्ट्रभेदः, र्ज्जे कः —दूरादागृतः, विश्चाद्वाः, आत्पश्चाद्वाः। अच्—प्रक्षयः, अप् अप्—प्रक्षयः, प्रस्वः। इत्र—प्र वित्रम्, प्रस्वित्रम्। क—गोव्यः व्याद्वः, प्रसुवः, प्रसुव

१. 'उत्तरपदादिः' इस समस्त पद से केवल 'उत्तरपद' की ग्रानुवृति अद है। 'उत्तरपदस्य ग्रादिः' ऐसा विग्रह करने पर 'उत्तरपदस्य' षष्ठचन पर्वो का जाता है, अतः हमने उत्तरपद न रख कर सर्वत्र 'उत्तरपदस्य' ऐसा ही की प्रदर्शित किया है, क्योंकि ग्रविमिक्तक पद का प्रयोग साधु नहीं।। ें पादः]

15

F

F

3

१७७

भाषार्थः-गति कारक और उपपद से उत्तर [थाथपञ्काजिबन-कार्णाम्] थ, अथ, घर्च्, क्त, अच्, अप्, इत्र तथा क प्रत्ययान्त शब्दों को अन्तोदात्त होता है।।

हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन् (उग्गा० २।२) से सुनीथः शब्द क्यन् प्रत्ययान्त है, एवं अवसृथः शब्द भी अवे मृञः (उणा० २।३) से क्थन् प्रत्ययान्त है, अतः गतिकार॰ (६।२।१३८) से उत्तरपद प्रकृति-स्वरत्व (नित्स्वर से आद्युदात्तत्व) प्राप्त था ।। आवसथः, उपवसथः यहाँ उपसर्गे वसेः (उणा० ३।११६) से अथ प्रत्यय हुआ है।। यहाँ भी एवं पनन्त काष्ट्रभेदः आदि में भी पूर्ववत् गतिकार० (६।२।१३८) की प्राप्ति जानें।। दूरादागतः यहाँ स्तोकान्तिक० (२।१।३८) से समास तथा पश्चम्याः स्तो॰ (६।३।२) से पश्चमी का अलुक् हुआ है।। विशुष्कः यहाँ निष्ठा के 'त' को शुषः कः (८।२।५१) से क आदेश हुआ है। यहाँ दोनों स्थलों में गतिरनन्तरः (६।२।४९) की प्राप्ति थी।। आतपशुष्कः में सिद्धशुष्कपकवन्धेश्च (२।१।४१) से समास हुआ है तथा कृत्तवर का अपवाद सप्तमी सिद्धशुष्कपक्कबन्धेष्व० (६।१।३२) से पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्व प्राप्त था। प्रक्ष्यः, प्रजयः में क्ष्य जय शब्द अच् प्रत्ययान्त हैं, जिन को गतिकारकोपपदात्० (६।२।१३८) से प्रकृतिस्वर होकर कमशः चयो निवासे (६।१।१९५) जयः करणम् (६।१।१६६) से आद्युदात्त्व शाप्त था तद्पवाद् अन्तोदात्तत्व कह दिया।। शेष प्रलवः, प्रलवित्रम् इत्यादि में भी गतिकारको० (६।२।१३८) की प्राप्ति थी तद्पवाद कह दिया। प्रलवित्रम् में श्रतिलुघु० (३।२।१८४) से इत्र प्रत्यय एवं प्रल्वः में ऋदोरप् (२।२।५७) से अप् हुआ है।। गोवृषः,खरीवृषः यहाँ कप्रकरणे मूलिवमुजादि॰ (बा॰ ३।२।४) इस वार्त्तिक से क प्रत्यय हुआ है। प्रवृषः, प्रहृषः में हगुमध्या० (३।४।१३५) से क प्रत्यय हुआ है। गतिकारकोपपदीत्० से प्रकृतिस्वर होने से वृष शब्द को वृषादीनां च (६।१।१९७) से आयु-दात्तत्त्र प्राप्त था तद्पवाद् कह दिया।।

यह सूत्र भिन्न-भिन्न प्रयोगों के प्राप्त होने पर जिन जिन सूत्रों का अपवाद बनता है, उनको हमने अपर दिखा ही दिया है। स्वर विषय का यह मुख्य सूत्र है।।

१२

सूपमानात् क्तः ॥६।२।१४५॥

भूपमानात् ५।१॥ क्तः १।१॥ स०—सुख उपमानख्च सूक तस्मात् ' ' ' 'समाहारद्वन्द्वः ॥ अनु - अन्तः, उत्तरपद्स्य, उदात्तः॥ सोः उपमानाच परं क्तान्तमुत्तरपद्मन्तोदात्तं भवति ॥ उदा०—क्क सुभुक्तम्, सुपीतम्, ऋतस्य योनौ सुकृतस्यं (ऋ० १०।८५।२४)। नात् - वृकैरिवावलुप्तम् वृकावलुप्तम् , राशुप्लुतम् , सिंह्विनुद्कि

भाषार्थ: - [सूपमानात्] सु तथा उपमानवाची से उत्तर वि क्तान्त उत्तरपदको अन्तोदात्त होता है।। सुकृतम् आदि में गिताल (६।२।४९) की प्राप्ति थी, एवं वृकावलुप्तम् आदि में तृतीया ह (६।२।४८) की प्राप्ति थी, तद्पवाद कह दिया । सर्वत्र कर्तृकरणेह (२।१।३१) से समास हुआ है। लुप्ल छेदने से अवलुप्तम् एं। गतौ से प्लुतम् तथा नद् शब्दे से विनर्दितम् बना है।। यहाँ से 'कः' की अनुवृत्ति ६।२।१४९ तक जायेगी।।

संज्ञायामनाचितादीनाम् ।।६।२।१४६॥

संज्ञायाम् ७।१।। अनाचितादीनाम् ६।३।। स०—आचित आहि दः ते आचितादयः, न आचितादयोऽनाचितादयस्तेषां.....वर्ष गर्भनव्तत्पुरुषः ॥ अनु०-कः, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः । गर्वि कोपपद्ात् इत्यप्यनुवर्तते ।। अर्थः —गतिकारकोपपदात् परं काला पद्मन्तोदात्तं भवति संज्ञायां विषय आचितादीन् वर्जयित्वा ॥ वर्ष संभूतो रामायणः, उपहूतः शाकल्यः, पृरिज्यः कौण्डिन्यः। पपदाच-धनुभिः खाता धनुष्खाता नदी, कुद्दालुखातं हंस्त्रिमृदिता भूमि:।।

भाषार्थः—गति, कारक तथा उपपद से उत्तर कान्त उत्तरी अन्तोदात्त होता है [संज्ञायाम्] संज्ञा विषय में [अनावितार्ष आचितादि शब्दों को छोड़कर ।। संभूतः आदि में कर्म में क अतः गतिरनन्तरः (६।२।४९) की प्राप्ति थी तद्पवाद है। आदि, शब्द रामायण इत्यादि की संज्ञायें हैं। धनुष्याता और कत्तुंकरणे कृता० (२।१।३१) से समास हुआ है । जनसनखन० (६)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

उ वि

से

िहें पा

र्भ अ

उद

[9

को सा कि

आ प्रव

(0

T.

F

神

1

(9

7

से खन् को आत्व हुआ है। तृतीया कर्मणि (६।२।४८) से इन तीनों इदाहरणों में पूर्वपद को प्रकृति स्वर प्राप्त था, तदपवाद यह अन्तोदात्त विधान है।।

यहाँ से 'संज्ञायाम्' की अनुवृत्ति ६।२।१४८ तक जाती है।।

प्रवृद्धादीनां च ॥६।२।१४७॥

प्रवृद्धादीनाम् ६।३॥ च अ०॥ स०—प्रवृद्ध आदिर्येषां ते प्रवृद्धाद्व-यस्तेषां । बहुत्रीहिः ॥ श्रनु०—क्तः, अन्तः, उत्तरपद्स्य, उदात्तः ॥ श्रर्थः—प्रवृद्धादीनां च कान्तमुत्तरपद्मन्तोदात्तं भवति ॥ उदा०—प्रवृद्धं यानम्, प्रवृद्धो वृषठः, प्रयुक्ताः सक्तवः ॥

भाषार्थः—[प्रवृद्धादीनाम्] प्रवृद्धादियों के क्तान्त उत्तरपद को [च] भी अन्तोदात्त होता है। पूर्व सूत्र में संज्ञा विषय में कहा है, यहाँ असंज्ञा में भी होगा। पूर्ववत् गतिरनन्तरः की प्राप्ति थी तद्पवाद है।।

कारकाइत्तश्रुतयोरेवाशिषि ॥६।२।१४८॥

कारकात् ५।१॥ दत्तश्रुतयोः ६।२॥ एव अ०॥ आशिषि ७।१॥ स०— दत्तः इत्यन्नेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—संज्ञायाम्, कः, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ अर्थः—आशिषि गम्यमानायां संज्ञायां विषये कारकादुत्तर-योर्दत्तश्रुतयोरेव कान्तयोरन्त उदात्तो भवति ॥ उदा०—देवा एनं देयासुः = प्रार्थितैद् वैर्द्तः = देवद्तः । विष्णुरेनं श्रूयाद् विष्णुश्रुतः ॥

भाषार्थः—संज्ञा विषय में [आशिष] आशीर्वाद गम्यमान हो तो कि। कारकात् कारक से उत्तर [दत्तश्रुतयोः] दत्त तथा श्रुत कान्त शब्दों को [एव] ही अन्त उदात्त होता है ।। संज्ञायामनाचि० (६।२।१४५) से सभी कान्तों को अन्तोदात्तत्व प्राप्त था, उसी का यहाँ नियम कर दिया कि 'यदि कारक से उत्तर हो तो दत्त एवं श्रुत को ही हो'। दत्त, श्रुत से अन्यत्र तृतीया कर्मिण (६।२।४८) से पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्व ही होगा ।। इस अकार कारक का नियम कर दिया ।। किन्की च संज्ञा० (३।३।१७४) से आशी: विषय में उदाहरणों में क्त प्रत्यय हुआ है । दो दद् घों: संज्ञाय हैं ।।

[हिं पाट

र्मा

व्री

णाः

श्व

हुअ हुअ

गोः

यहाँ से 'कारकात्' की अनुवृत्ति ६।२।१५१ तक जायेगी॥

इत्थम्भूतेन कृतमिति च ॥६।२।१४९॥

इस्थम्भूतेन ३।१।। कृतम् १।१।। इति अ०।। च अ०।। इमंत्र का इत्थम्भृतस्तेन ।। श्रनु - कारकात्, क्तः, ३ अन उत्तरपद्स्य, उदात्तः ॥ अर्थः - इत्थम्भूतेन कृतमित्येतस्मित्रर्थे यः स वर्त्तते तत्र कान्तमुत्तरपदं कारकात् परमन्तोदात्तं भवति॥ अ भव निवृ सुप्तप्रख्यितम्, उन्मत्तप्रख्यितम्, प्रमत्तगीतम्, विपन्नश्रु तम्॥ नम्

भाषार्थः - [इत्थम्भूतेन] इस प्रकार को प्राप्त हुए के द्वारा [ह किया गया [इति] इस अर्थ में जो समास वहाँ [च] भी कान स को कारक से परे अन्तोदात्त होता है।। सुप्तत्व प्रकार को प्राध हुआ यह इत्थम्भूत है, तथा उस सुप्त के द्वारा प्रलाप कियागा 'कृतम' है, इस प्रकार सुप्तप्रलिपतम् में 'इत्थमभूतेन कृतम्' अर्थ में म प्रतर है। इसी प्रकार सबमें जानें।। तृतीया कर्मिशा (६।२।४८) का अ यह सूत्र भी है।।

अनो सावकर्मवचनः ॥६।२।१५०॥

अनः १।१।। भावकर्मवचनः १।१।। स०—भावश्च कर्म च भावर्श्व (६ तयोर्वचनः भावकर्मवचनः द्वन्द्वगर्भपष्टीतत्पुरुषः।। अनु०-कार् अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ अर्थः -- कारकात् परं भाववचनं की नही चानप्रत्ययान्तमुत्तरपद्मन्तोदात्तं भवति ॥ उदा० - ओदुनुभोजुनं ई प्यःपानं सुखम्, चन्दनिष्र्यङ्गुकालेपनं सुखम्। कर्मवचनम् भोजनाः शालयः, राजाच्छाद्नानि वासांसि ॥

भाषार्थः — [भावकर्मवचनः] भाव तथा कर्मवाची [अनः] अर्थ उद यान्त उत्तरपद को कारक से उत्तर अन्तोदात्तत्व होता है। आदि शब्द अन (यु को अन होकर) प्रत्ययान्त हैं। सर्वत्र की होकर समास हुआ है।। गतिकारकोपपदात्० (६।२।१३८) का यह सूत्र है।।

मन्किन्व्याच्यानश्यनासनस्थानयाजकादिक्रीताः ॥६।२।१५१॥

मन्किः 'कीताः १।३॥ स०—याजक आदिर्येषां ते याजकादयः, बहुब्रीहिः। मन् च क्तिन् च व्याख्यानस्त्र शयनस्त्र आसनस्त्र स्थानस्त्र याजकादयस्र कीतस्र मन्किः 'कीताः, इतरेतरद्वन्द्वः॥ श्रवु०—कारकात्,
अन्तः, उत्तरपद्स्य, उदान्तः॥ अर्थः-कारकात्परं मन्नन्तं क्तिन्नन्तं, व्याख्यान,
श्रयन, आसन, स्थान इत्येतानि याजकाद्यः क्रीतशब्दस्त्रोत्तरपद्मन्तोदात्तं
भवितः॥ उदा०—मन्—रथस्य वत्मे रथवत्मं, श्रकटवत्मे । क्तिन्—पाणनिकृतिः, आपिशिल्कृतिः। व्याख्यान-ऋगयनव्याख्यानम्, अन्दोव्याख्यानम्। शयन — राजशयनम्, ब्राह्मणशयनम् । आसन—राजासनम्, ब्राह्मणासनम् । स्थान—गोस्थानम् , अश्रम्थानम् । याजकादि — ब्राह्मणयाजकः,
श्रित्रययाज्ञकः, ब्राह्मणपूजकः, क्षित्रयपूजकः । कीत—गवा कीतः =
गोकीतः, अश्रक्रीतः ॥

भाषार्थः—कारक से उत्तर [मिन्तः 'कीताः] मन्प्रत्ययान्त, किन्
प्रत्ययान्त, एवं व्याख्यान, शयन, आसन, स्थान तथा याजकादिगण पठित
शब्द एवं कीत शब्द उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है।। सर्वत्र षष्ठी समास
हुआ है। ब्राह्मणयाजकः आदि में याजकादिमिश्च (२।२।६) से समास
हुआ है। गितिकारकोपपदात् ० (६।२।१३८) का अपवाद यह सूत्र है।
गोकीतः अश्वकीतः में तृतीया समास है, अतः यहाँ तृतीया कर्मीण
(६।२।४८) की प्राप्ति थी तद्यवाद है।। व्याख्यान में करण में, तथा
विवाद आसन स्थान में अधिकरण में ल्युट हुआ है भाव एवं कर्म में ल्युट
विवाद हुआ है अतः पूर्व सूत्र से प्राप्त नहीं था, कह दिया।।

सप्तम्याः पुण्यम् ॥६।२।१५२॥

सप्तम्याः ४।१॥ पुण्यम् १।१॥ अनु०—अन्तः, उत्तरपद्स्य, उदात्तः॥ अर्थः - सप्तम्यन्तात् परं पुण्यमित्येतदुत्तरपद्मन्तोदात्तं भवति ॥ उदार्थे - अध्ययने पुण्यम् = अध्ययनपुण्यम्, वेदे पुण्यम् = वेद-

१ रथनत्में आदि उदाहरणों में कर्तृकर्मणोः कृति से कर्म में वष्टी होने से कारक से उत्तरवर्त्मादि कृदन्त होता है।

7

5

3

3

3

भाषार्थः—[सप्तम्याः] सप्तम्यन्त से परे [पुरायम्] पुण्य का शब्द को अन्तोदात्त होता है।। तत्पुरुषे तुल्यार्थः (६।२।२) से पूर्व प्रकृतिस्वरत्व प्राप्त था, तद्पवाद है।।

ऊनार्थकलहं तृतीयायाः ॥६।२।१५३॥

कनार्थकछहम् १।१॥ तृतीयायाः ६।१॥ स०—कनोऽथीं क कनार्थः, बहुब्रीहिः । कनार्थस्य कछहस्र कनार्थकछहम्, समाहारो हा श्रद्धः—अन्तः, उत्तरपद्स्य, उदात्तः ॥ अर्थः—तृतीयान्तात् पण् र्थान्युत्तरपदानि कछहशब्दस्रान्तोदात्तानि भवन्ति ॥ उदा०—मुके कार्षापणीनम्, माष्विकछम्, कार्षापणिवकछम् । असिक वाक्कछहः ॥

भाषार्थः — [तृतीयायाः] तृतीयानत शब्द से परे [जनार्थका जनार्थवाची एवं कलह शब्द उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है॥ ज का वाचक है ॥ उदाहरणों में पूर्वसहशसमो० (२।१।३०) से समार्थ है ॥ यहाँ भी तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीया० (६।२।२) से पूर्वपद प्रश्री रत्व प्राप्त था, तदपवाद है ॥

यहाँ से 'तृतीयायाः' की अनुवृत्ति ६।२।१५४ तक जायेगी॥

मिश्रं चानुपसर्गमसन्धौ ॥६।२।१५४॥

मिश्रम् १।१॥ च अ०॥ अनुपसर्गम् १।१॥ असन्धौ ०।१॥ ह अनुप०, असन्धौ उभयत्र नञ्ततपुरुषः ॥ श्रनु०—तृतीयायाः, ह उत्तरपद्स्य, उदात्तः ॥ अर्थः—तृतीयान्तात्परं मिश्र इत्येतदनुपर्गाः रपद्मन्तोदात्तं भवति, असन्धौ गम्यमाने ॥ उदा०—गुड्गः तिल्लामुश्राः, सूर्पिर्मिश्राः ॥

'भाषार्थं:— तृतीयान्त से परे [अनुपसर्गम्] अनुपर्सा [मिन्न शब्द उत्तरपद को [च] भी अन्तोदात्त होता है [म्नसन्धे] अनुपर्सा होता है [म्नसन्धे] अनुपर्सात हो तो ।। उदाहरणों में पूर्वसहश् (२।१।३०) से समार है ।। यह पूत्र भी तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (६।२।२) का अपवाद है। पणबन्ध को कहते हैं। उदाहरणों में असन्धि अर्थात् पणबन्ध को है, क्योंकि 'गुंड़ मिला हुआ, तिल मिला हुआ' ऐसा उदाहर अर्थ है ।।

A CONTRACTOR

T पूर

R

EF.

No.

में

77

M

F

Hi

H:

上

d

9

नजो गुणप्रतिषेधे संपाद्यह हितालमर्थास्त द्विताः ॥६।२।१५५॥

नवः ४।१॥ गुणप्रतिषेघे ७।१॥ संपाद्यहेहितालमर्थाः १।३॥ तद्धिताः १।३।। स॰—गुणस्य प्रतिषेधः, गुणप्रतिषेधस्तस्मन् ' 'षष्ठीतत्पुरुषः। सम्पादी च अहरच हितक्क अलक्क सम्पाद्यहिहतालम्, इत्येतान्यर्थाः येषां तिद्धतानां ते संपा ' था:, द्वन्द्वगभैबहुन्नीहि:।। श्रनु०-अन्तः, उत्तर-पदस्य, उदात्तः ॥ अर्थः सम्पदादि, अर्ह, हित, अलम् इत्येवमर्था ये तिद्धतास्तद्नतान्युत्तरपदानि गुणप्रतिषेधे वर्त्तमानात् नवः पराण्यन्तो-दात्तानि भवन्ति ॥ उदा०—कणवेष्टकाभ्यां सम्पादि मुखं = काणवेष्टिकि-कम्, न कार्णवेष्टिकिकम्, अकार्णवेष्टिकिकम्। अई-छेदमहिति छैदिकः, न बैदिकः, अच्छिदिकः। हित-वत्सेभ्यो हितो वत्सीयः, न वत्सीयः अवत्सीयः ।। अलम् — सन्तापाय प्रभवति सान्तापिकः, न सान्तापिकः असान्तापिकः ॥

भाषार्थः—[गुणप्रतिषेषे] गुण के प्रतिषेध अर्थ में वर्त्तमान [नवः] नञ् से उत्तर [संपाद्यहे हितालमर्थाः] संपादि, अर्हे, हित, अलम् अर्थ हैं जिन [तद्धिताः] तद्धितों के तद्न्त (तद्धित प्रत्ययान्त) उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है।। यह सूत्र भी तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (६।२।२) का अपवाद है।। कार्णवेष्टिककम् यहाँ सम्पादिनि (५।१।६८) से सम्पादि अर्थ में ठव् तद्धित प्रत्यय हुआ है। उस सम्पादि गुण का प्रतिषेघ नम् से होता है, अतः गुणप्रतिषेध अर्थ में वर्त्तमान नम् है ही। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में जिस हित आदि अर्थ में तिद्धत प्रत्यय हुआ है, उसी गुण का प्रतिषेध नव् से हो रहा है, ऐसा जानें।। छैदिकः में आर्हादगो० (५।१।१९) से ठक् हुआ है। वत्सीयः में प्राक् कीताच्छ: (४।१।१) से छ तथा सान्तापिकः में तस्मै प्रम-विति (५।१।१००) से ठम् तद्धित हुआ है। पश्चात् नम् समास हो ही जायेगा।।

ेयहाँ से 'नञः' की अनुवृत्ति ६।२।१६१ तक तथा 'गुण्यप्रतिषेधे तिहताः' की ६।२।१५६ तक जायेगी।।

१. आ ग्रहीत यहाँ अभिविधि में ग्राङ् है ग्रतः ग्रह ग्रश्में में भी ठक् प्रत्यय ही होता है।

अ

ययतीश्वातदर्थे ॥६।२।१५६॥

ययतोः ६।२॥ च अ० ॥ अतद्र्थे ७।१॥ स०-यश्च म ययतौ तयोः इतरेतरद्दन्द्रः। तस्मै इदं तद्रथम्, चतुर्थीततुत न तदर्थम् अतदर्थं तस्मिन् ' 'नञ्तत्पुरुपः ॥ श्रनु - नञः गुण्हाः तद्भिताः, अन्तः, उत्तरपद्स्य, उदात्तः ॥ अर्थः — गुणप्रतिषेषे कं नात् नवः परौ य, यत् इत्येतौ यौ तद्धितावतद्र्थे वर्त्तेते तद्नतस्रोक्त स्यान्त उदात्तो भवति ॥ उदाः—य—पाशानां समूहः पाश्या, नक अपारया, अतृण्या । यत्—दन्तेषु भवं दन्त्यं, न दन्त्यम् अदन्तं भी अकंण्यम्।

भाषार्थ:--गुणप्रतिषेध अर्थ में जो नञ् उससे उत्तर [ऋ अत अतदर्थ में वर्त्तमान जो [ययतोः] य तथा यत् तद्धित प्रत्यव प्रव उत्तरपद् को [च] भी अन्त उदात्त होता है।। पूर्ववत् तत्पुरुषे तुल्या अपवाद है तथा उदाहरणों में गुणप्रतिषेघादि भी पूर्व कहे अनुसार उदाहरणों में य यत् प्रत्यय 'पाश के लिये, या दन्त के लिये' इन में नहीं हुये हैं, अतः अतद्र्थ हैं ।। पाशादिभ्यो यः (४।२।४८) है तथा शरीरावयवाच्च (४।३।५५) से 'यत्' प्रत्यय हुआ है ॥

अच्कावशक्तौ ॥६।२।१५७॥

अच्कौ १।२॥ अशक्तौ ७।१॥ स०—अच् च कश्च अच्कौ, झौ द्वन्द्वः । न शक्तिरशक्तिस्तस्याम् न्व्तत्पुरुषः ॥ अनु०—नवः, अ उत्तरपद्स्य, उदात्तः ॥ श्रर्थः नवः परमच्प्रत्ययान्तं कप्रत्ययान्तं वी विष पद्मशक्तौ गम्यमानायामन्तोदात्तं भवति ॥ उदा०—अपचः, अव कः—अविक्षिपः, अवििखः ॥

भाषार्थः - नन् से उत्तर [अन्की] अन्प्रत्ययान्त तथा कप्रत्य उत्तरपंद को [अशक्ती] अशक्ति गम्यमान हो तो अन्तोदात्त होता अपचः (जो पकाने में असमर्थ है) में पचाद्यच् हुआ है, तथा अवि में इगुपधज्ञाः (३।१।१३५) से क प्रत्यय हुआ है।। 'नव् अवस्थित अतः इस नव् के अधिकार में सर्वत्र तत्पुरुषे तुल्यार्थं की प्राणित्व तद्पवाद् ये सूत्र हैं।। उदा

यहाँ से 'अन्की' की अनुवृत्ति ६।१।१५८ तक जायेगी।।

यन्

就

क्

त्ता

से

आक्रोशे च ॥६।२।१५८॥

आक्रोरो ७।१॥ च अ०॥ अनु०—अच्को, नवः, अन्तः, उत्तर-पद्स्य, उदात्तः ॥ श्रर्थः — नवः परमच् गत्ययान्तं कप्रत्ययान्तञ्जोत्तरपद्-माक्रोशे गम्यमाने उन्तोदात्तं भवति ॥ उदा०-अपचोऽयं जाल्मः, अपठोऽयं जाल्मः । कः—अविक्षिपः, अविद्याः ।।

भाषार्थ: - नव् से उत्तर [आक्रोशे] आक्रोश गम्यमान होने पर [च] न भी अच्प्रत्ययान्त तथा कप्रत्ययान्त उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है।। अपचः अपठः में आक्रोश यही है, कि वह पकाने एवं पढ़ने में शक्त = समर्थ है तो भी किसी कारण से पका नहीं सकता, पढ़ नहीं सकता अतः उसकी 'अपचोऽयं जाल्मः' कहकर भत्सीना की जा रही है। इसी प्रकार अन्यों में समझें ।। शक्ति गम्यमान होने पर भी हो जावे अतः यह सूत्र है।।

यहाँ से 'त्राकोशे' की अनुवृत्ति ६।२।१५९ तक जायेगी।।

संज्ञायाम् ॥६।२।१५९॥

संज्ञायाम् ७।१॥ त्रमुः —आक्रोशे, नवः, अन्तः, उत्तरपद्स्य, उदात्तः ॥ श्रर्थः — नञः परमाक्रोशे गम्यमाने संज्ञायां वर्त्तमानमुत्तरपद-त्रं मन्तोदात्तं भवति ।। उदा०—अ<u>देवद</u>त्तः, <u>अयज्ञद</u>त्तः, अ<u>वि</u>ष्णुमित्रः ॥

माषार्थ: नव् से परे आक्रोश गम्यमान हो तो [संज्ञायाम्] संज्ञा विषय में वर्त्तमान उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है।। जो देवदत्त नामधारी होते हुये भी तद्नुकूल कार्यं नहीं करता उसके प्रति अदेवदत्तः कहकर आक्रोश प्रकट किया जाता है।। af

कृत्योकेष्णुचार्वाद्यश्च ॥६।२।१६०॥

क्रियो : 'द्यः १।३।। च अ० ।। स०—चारु आद्येषां ते चार्वादयः, हित्रीहिः। कृत्यश्च उकश्च इष्णुच् च चार्वाद्यश्च कृत्यो ''द्यः, हितरेतरद्भन्द्रः ॥ श्रवु०—नवाः, अन्तः, उत्तरपद्स्य, उदात्तः ॥ श्रर्थः— नव उत्तरे कृत्य, उक, इष्णुच् इत्येवमन्तास्त्रार्वाद्यस्ताद्यान्तोद्यस्ता भवन्ति॥ हता० कत्य अकत्त्वयम्, अकर्णीयम् । उक - अनागामुकम्,

िहें पा

ए पूर

হা

तद

तव जा

बद भव

को

वाह

अनपलाषुकम् । इष्णुच् — अनुलङ्कृरिष्णुः, अनिराकरिष्णुः, अनुह् विष्णुः, असुभगम्भविष्णुः । चार्वादयः—अचारुः, श्रासाघुः, अवे अ अ दान्यः ॥

भाषार्थ:-नव् से उत्तर [क्टरयो : दय:] कृत्य संज्ञक एवं उक, ह प्रत्ययान्त तथा चार्वादि गणपठित उत्तरपद् शब्दों को [च] भी ह दात्त होता है।। लषपतपद० (३।२।१५४) से उक्रम् (उक्) प्रत्या पूर अलंक्ज् (३।२।१३६) से इष्णुच् प्रत्यय होता है। इष्णुच् से कि का भी प्रहण है, जो कि श्राव्यसुभग० (३।२।५६) से अनाव्यक्षी आदि में हुआ है। कृत्य से कृत्यसंज्ञक अनीयर आदि प्रत्य ए गये हैं॥

विभाषा तुन्ननतीक्ष्णशुचिषु ॥६।२।१६१॥

विभाषा १।१॥ तृत्रत्रतीक्ष्णशुचिषु ७।३॥ स०—तृत्रत्रः तरेतरद्वन्द्वः ॥ श्रनु०—नव्यः, अन्तः, उत्तरपद्स्य, उदात्तः॥ इ नव उत्तरेषु तुन्नन्त, अन्न, तीक्ष्ण, शुचि इत्येतेषूत्तरपदेषु विभा उदात्तो भवति।। उदा०—अकत्तां, अर्कत्तां। अनुत्रम्, अर्व अतीक्ष्णम्, अती'क्ष्णम् । अशुचिः, अशुचिः ॥

भाषार्थः—नव् से उत्तर [तृत्वत्रतीद्रणशुचिषु] तृन् प्रत्यवार अन्न, तीक्ष्ण तथा शुचि उत्तरपद शब्दों को [विभाषा] विक अन्तोदात्त होता है।। पक्ष में तत्पुरुषे तुल्यार्थं० (६।२।२) से पूर्वपद को प्रकृतिस्वर्त्व अर्थात् निपाता आद्युदात्ताः (फिट्॰ आयुदात्तत्व होता है।। अकर्ता में तच्छील अर्थ में वृत् हुआ है।।

बहुवीहाविद्मेतत्तद्भ्यः प्रथमपूरणयोः क्रियागणने ।।६।२।१६२॥

बहुवीही ७।१॥ इदमेतत्तद्भ्यः ५।३॥ प्रथमपूरणयोः क्रियमाणने ७।११। स॰—इद्म् च एतद् च तद् च इद्मेतनद्ती इतरेतरद्वन्द्वः । प्रथमश्च पूरणञ्च प्रथमपूरणे, तयोः

M

F 8

क्रियायाः गणनं क्रियागणनम्, तस्मिन् "" षष्टीतत्पुरुषः ॥ श्रनु०— अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ श्रर्थः - बहुव्रीहौ समासे इदम् एतद्, तद् इत्येतेभ्य उत्तरस्य क्रियागणने वर्त्तमानस्य प्रथमशब्दस्य पूरणप्रत्ययान्तस्य च शब्दस्यान्तोदात्तो भवति ॥ उदा०—इदं प्रथमं गमनं भोजनं वा यस्य स इदंप्रथमः। इदंद्वितीयः, इदंतृतीयः। पतस्यथमः। एतद् द्वितीयः एतत् तृतीयः। तत्प्रथमः। तद्द्वितीयः हि तत्तृतीयः।।

RÍ भाषार्थ: [बहुवीहौ] बहुव्रीहि समास में [इदमेतत्तद्भ्यः] इदम्, एतत्, तद् इनसे उत्तर [कियागणने] किया के गणन में वर्तमान [प्रथमपूररायोः] प्रथम तथा पूरण प्रत्ययान्त शब्दों को अन्तोदात्त होता है।। प्रथम शब्द का यहाँ स्वरूप से प्रहण है, तथा पूरण से द्वेस्तीयः, त्रेः संप्रसार एं च (५।२।५५) से विहित जो पूरण अर्थ में प्रत्यय तदन्त शब्द लिये गये हैं।। यह उसका प्रथम गमन है अथवा द्वितीय तृतीय गमन है, यहाँ स्पष्ट कियागणन है ही।।

बहुत्रीहो प्रकृत्या० (६।२।१) से पृवेपद प्रकृतिस्वरत्व प्राप्त था Tei तदपवाद है। यहाँ से आगे जहाँ तक 'बहुब्रीहों' का अधिकार है, वहाँ तक के सभी सूत्र 'बहुत्रीही प्रकृत्या पूर्वपदम्' के अपवाद होंगे, ऐसा जानें।।

यहाँ से 'बहुत्रीहीं' की अनुवृत्ति ६।२।१७७ तक जायेगी।।

सख्यायाः स्तनः ॥६।२।१६३॥

संख्यायाः १।१॥ स्तनः १।१॥ श्रनु०-बहुत्रीहो, अन्तः, उत्तरपदस्य ब्दात्तः ॥ अर्थः — संख्यायाः परः स्तनशब्दो बहुत्रीहौ समासेऽन्तोदात्तो भवति ॥ उदा०—द्विस्तुना, त्रिस्तुना, चुतुःस्तुना ॥

भाषार्थः — [संख्यायाः] संख्या शब्द से उत्तर [स्तनः] स्तन शब्द को बहुत्रीहि समास में अन्तोदात्त होता है।। उदा०—द्विस्तना (दोस्तनों वाली)।।

यहाँ से 'संख्यायाः स्तनः' की अनुवृत्ति ६।२।१६४ तक जायेगी।।

10

दि

मु

उ

दि

स्

प्रवृ

को

सो

विभाषा छन्दसि ॥६।२।१६४॥

विभाषा १।१॥ छन्दसि ७।१॥ अनु०-संख्यायाः स्तनः, बहुन्रीही, क उत्तरपद्स्य, उदात्तः ॥ अर्थः—छन्दसि विषये बहुन्रीही समासे संक परः स्तनशब्दो विकल्पेनान्तोदात्तो अवति ॥ उदा०—द्विस्तेनां क वामदेवः । द्विस्तुनां करोति द्यावाप्टथिव्योदीहाय चर्तुःस्तनां कं पश्चनां दोहाय (तै० सं० ५।१।६।४) । चुतुःस्तुनां करोति ॥

भाषार्थः—[छन्दसि] वेद विषय में संख्या शब्द से परे स्तन का गै बहुब्रीहि समास में [विभाषा] विकल्प से अन्तोदात्त होता है॥ क द्वि (फिट्०१) चतुर् (डणा०५।५८) शब्द प्रकृतिस्वर होने से आयुत्तां

संज्ञायां मित्राजिनयोः ॥६।२।१६५॥

संज्ञायाम् ७११॥ मित्राजिनयोः ६१२॥ स०—मित्रा० इत्यक्ते द्वन्द्वः ॥ श्रवु०—बहुब्रीहो, अन्तः, उत्तरपद्स्य, उदात्तः ॥ क्र संज्ञायां विषये बहुब्रीहो समासे मित्र, अजिन इत्येतयोस्तरपदे उदात्तो भवति ॥ उदा०—देव्मित्रः, ब्रह्ममित्रः । वृकाजिनः, कृष्णि कृष्णाजिनः ॥

भाषार्थः—[संज्ञायाम्] संज्ञा विषय में [मित्राजिनयोः] भित्रं अजिन उत्तरपद को बहुव्रीहि समास में अन्तोदात्त होता है।। कें आदि किन्हीं की संज्ञाएँ हैं।।

व्यवायिनोऽन्तरम् ॥६।२।१६६॥

व्यवायिनः ५।१॥ अन्तरम् १।१॥ अनु० - बहुव्रीहो, अन्तः, ह पदस्थ, उदात्तः॥ श्रर्थः - व्यवायी = व्यवधाता। व्यवधारणी परमन्तरमुत्तरपदमन्तोदात्तं भवति बहुव्रीहो समासे॥ उदा० विश्व व्यवधायकं यस्य स व्रश्चान्तरः, पटान्तरः, कुम्बलान्तरः॥

भाषार्थः—[न्यवायिनः] न्यवधायकवाची शब्द से उत्तर कि से अन्तर उत्तरपद शब्द को बहुव्रीहि समास में अन्तोदात्त होता है। से तथा पंट आदि शब्द न्यवधायकवाची हैं।। उदा०—वस्त्रान्तर है न्यवधायक जिसका), पटान्तरः।।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

,35

P

11/4

T.

चि

मुखं स्वाङ्गम् ॥६।२।१६७॥

मुखम् १।१॥ स्वाङ्गम् १।१॥ अनु०—बहुव्रीहौ, अन्तः, उत्तरपद्स्य, बद्गत्तः ॥ त्रर्थः—स्वाङ्गवाचि मुखमुत्तरपदं बहुव्रीहौ समासेऽन्तोदात्तं भवति ॥ स्वमङ्गंस्वाङ्गम् ॥ उदा०—गौर्मुखः, भृदुमुखः ॥

भाषार्थः—[स्वाङ्गम्] स्वाङ्ग (अपना अङ्ग) वाची [मुलम्] मुख शब्द उत्तरपद को बहुत्रीहि समास में अन्तोदात्त होता है।। उदा०— गौरमुखः (गोरे मुख वाला)।।

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ६।२।१६९ तक जायेगी।।

नाव्ययदिक्शब्दगोमहत्स्थूलम्रष्टिपृथुवत्सेभ्यः ॥६।२।१६८॥

न अ०॥ अव्ययः स्तेभ्यः ५।३॥ स०—दिशां शब्दाः दिक्शब्दाः, षष्टीतत्पुरुषः। अव्ययः इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ अवु०—मुखं साङ्गम्, बहुत्रीहो, अन्तः, उत्तरपद्स्य, उदात्तः॥ अर्थः—अव्यय, दिक्शब्द, गो, महत्, स्थूल, मुष्टि, पृथु, वत्स इत्येतेभ्यः परं स्वाङ्गवाचि मुखसुत्तरपदं बहुत्रीहो समासे नान्तोदात्तं भवति॥ उदा०—अव्यय— व्वेमुंखः, नीचमुंखः। दिक्शब्द—प्राङ्मुंखः, प्रत्यङ्मुंखः। गोमुंखः। महामुंखः। स्थूलमुंखः। मुष्टिमुंखः। पृथुमुंखः। वत्समुंखः॥

माषार्थः - बहुव्रीहि समास में [अव्ययः स्तिम्यः] अव्यय, दिक्शब्द, गो, महत्, स्थूल, मुष्टि, पृथु, वत्स इनसे उत्तर स्वाङ्गवाची मुख शब्द उत्तरपद को अन्तोदात्त [न] नहीं होता।। पूर्व सूत्र से प्राप्ति थी, प्रतिषेध कर दिया, अतः बहुव्रीहों प्रकृत्या० (६१२।१) से सर्वत्र पूर्वपद म्कृतिस्वरत्व ही होता है, जो इस प्रकार है—उच्चैः नीचैः शब्द स्वरादि गण में अन्तोदात्त निपातन पढ़े हुये हैं। प्राङ् तथा प्रत्यङ् शब्द को अनिगन्तोश्चती० (६१२।५२) से पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्व की प्राप्ति थी, सो वहीं इसकी सिद्धि की है। गो की सिद्धि सूत्र ६१२।४ में तथा महत् की ६१२।३८ में देखें। स्थूल शब्द से पचाद्यच् होता है, अतः प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त होता है। मुष धातु से किच् प्रत्ययान्त मुक्ट शब्द ब्रन्ता है, अतः अन्तोदात्त होता है। पृथु शब्द प्रियम्रदि० (उत्गा० ११२८) से कु

290

[िलंपा प्रत्ययान्त है, अतः अन्तोदात्त है। वत्स शब्द वृत्विविक् का (उगा॰ ३।६२) से स प्रत्ययान्त है, अतः अन्तोदात्त है।

निष्ठोपमानादन्यतरस्यास् ॥६।२।१६९॥

नम

मि

ঘা

निष्ठोपमानात् १।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ स०—निष्ठा वह नक्त्र निष्ठोपमानं, तस्मात् ' 'समाहारद्वन्द्वः ॥ अनु - मुखं ला दि बहुत्रीहो, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ अर्थः -- बहुत्रीहौ समासे न्तादुपमानवाचिनश्च स्वाङ्गं मुखमुत्तरपदं विकल्पेनान्तोदात्तं मां सा उदा०—प्रक्षालितमुखः, प्रक्षालितमुखः प्रक्षालितमुखः । उपमानात्- जा मुखः, सिंह्मुंबः। न्याघ्रमुखः, न्याघ्रमुंखः॥

भाषार्थः—बहुत्रीहि समास में [निष्ठोपमानात्] निष्ठान ल मानवाची से उत्तर स्वाङ्ग मुख शब्द उत्तरपद को [अन्यता [इ विकल्प से अन्तोदात्त होता है।। मुखं स्वाङ्गम् (६।२।१६७) से श्र अन्तोदात्तत्व की प्राप्ति थी, विकल्प कह दिया, अतः पक्ष में बढ़ा मि (६।२।१) से प्रकृतिस्वरत्वं होने से निष्ठोपसर्गं (६।२।११०) से सा अन्तोदात्तत्व होगा। वहाँ पर भी विकल्प कहा है, अतः पक्ष में नि नन्तरः (६।२।४९) से 'प्र' उदात्त होगा । ६।२।११० में मुख है था स्वाङ्ग और अस्वाङ्ग दोनों लिये जाते हैं, अतः स्वाङ्गवाची से जविक यह स्वर न होगा तब ६।२।११० से विकल्प से पूर्वपद प्रकृति स्व अन्तोदात्त होगा, और जो विकल्पांश बचा उसमें गतिस्वर भी हो जा इस प्रकार तीन स्वर प्रक्षालितमुखः में होंगे।। सिंह शब्द भी प्रत्ययान्त है, अतः पक्ष में प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त होगा। का पृषोदरादीनि (६।३।१०७) से वर्णविपर्यय होकर सिंह हो जी अ वि आङ् पूर्वक घा घातु से आतश्चोपसर्गे (३।१।१३६) से कि श्व होकर व्याघ्र शब्द बनता है, अतः प्रत्ययस्वर से अन्तोदान में होगा॥

जातिकालसुखादिभ्योऽनाच्छादनात् क्तोऽकृतिमव प्रतिपन्नाः ॥६।२।१७०॥

जातिकालसुरादिभ्यः ५।३॥ अनाच्छादनात् ५।१॥ कः १।१॥ अने तेपन्नाः १।३॥ स०—सन्त २००४ । प्रतिपन्नाः ११३॥ स० — सुख आदिर्येषां ते सुखाद्यः, बहुन्नीहिः। िपादः]

त्या

19

Id.

44

कालश्च सुखादयश्च जाति ''द्यस्तेभ्यः' 'इतरेतरद्वन्द्वः । न आच्छादतमनाच्छादनं तस्मात् '''नञ्तत्पुरुषः । कृतश्च मितश्च प्रतिपन्नश्च कृतमितप्रतिपन्नाः, न कृतिमितप्रतिपन्नाः अकृतिमितप्रतिपन्नाः, द्वन्द्वगभैनञ्तत्पुरुषः ॥ अनु० — बहुन्नीहौ, अन्तः, उत्तरपद्स्य, उदात्तः ॥ अर्थः—
बहुन्नीहौ समासे आच्छाद्नवर्जितात् जातिवाचिनः काल्वाचिनः सुखादिभ्यश्च परं कान्तसुत्तरपदं कृतिमितप्रतिपन्नान् वर्जयत्वाऽन्तोदात्तं
भवति ॥ उदा० — जाति — सारङ्गः (चातकः) जग्धो येन सः =

मारङ्गज्ञग्धः, पलाण्डुभक्षितः । काल्य — मासः जातो यस्य सः = मासजातः, स्वत्सरजातः, द्वयहज्ञातः, ज्यह्जातः । सुखादिभ्यः — सुखंजातं यस्य स = सुख्जातः, दुःख्जातः, तृप्रजातः ॥

भाषार्थः—[अनाच्छादनात्] आच्छादनवाची शब्द को छोड़कर जो हिंदि जातिकालसुखादिभ्यः] जातिवाची शब्द, तथा काछवाची एवं सुखादि शब्द उनसे उत्तर [कः] कान्त उत्तरपद को [अक्टतिमतप्रतिपन्नाः] कृत, मित, तथा प्रतिपन्न शब्दों को छोड़कर अन्तोदात्त होता है, बहुन्नीहि समास में ।। कृत मित आदि भी कान्त हैं, अतः इस सूत्र से प्राप्त था निषेध कर दिया ।। पूर्ववत् यहाँ भी (६।२।१) पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्व प्राप्त था। सुखादि से ३।१।१८ में पठित गण छिया जाता है ।।

यहाँ से 'जातिकालसुखादिभ्यः' की अनुवृत्ति ६।२।१७१ तक जायेगी॥

वा जाते ॥६।२।१७१॥

वा अ०।। जाते ७।१॥ श्रनु०—जातिकालसुखादिभ्यः, बहुवीहौ, अन्तः, उत्तरपद्स्य, उदात्तः ॥ श्रर्थः—जातिकालसुखादिभ्यः परं जातग्रन्द उत्तरपदं विकल्पेनान्तोदात्तं भवति बहुवीहौ समासे॥ उदा०—
जाति—दुन्तजातः, दन्तंजातः। स्तुनजातः, स्तनंजातः। काल—मासुजातः, मासंजातः। संवत्सरजातः, संवत्सरजातः। सुखादिभ्यः—सुखजातः, सुखजातः। दुःखजातः, दुःखजातः॥

भाषार्थः — जातिवाची,कालवाची तथा सुखादियों से उत्तर [वा] विकल्प से [जाते] जात शब्द उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है, बहुव्रीहि समास में ॥ पक्ष में पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्व होगा, जो इस प्रकार होगा—दन्त

[िय

अ

व् न

C FO

ह

शब्द दम धातु से हसिमृपियवामि० (उस्मा० ३।८६) से तन् प्रत्यक्ष है, अतः नित्स्वर से आद्युदात्त है। स्तन धातु चुरादिगण में अह है, उस से घन् प्रत्यय होकर स्तन शब्द बनता है। त्रतो लोगः (हा से अकार लोप हो ही जायेगा। घव् के वित् होने से सका उ ब्नित्याः (६।१।१९१) से आद्युदात्त है। मास शब्द भी एक अ अतः आद्युदात्त है। संवत्सर शब्द सम्पूर्वाचित् (उणा० ३॥ प्र सरन् प्रत्ययान्त है, चित्वत् माना जाने से चितः (६।१।१५७) है। भ दात्त है। सुपूर्वक खन धातु से अन्येष्वपि दृश्यते (३।२।१०१) सु प्रत्यय होकर, तथा डित् होनं साटमाण का जार है। है, जो कि प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। इसी प्रकार दुःह है

नञ्सुभ्याम् ॥६।२।१७२॥

नञ्सुभ्याम् ५।२॥ स० - नञ्च सुख्च, नञ्सू, ताभ्याम् प द्वन्द्वः॥ अनु - बहुत्रीहौ, अन्तः, उत्तरपद्स्य, उदात्तः॥ अर्थः - य समासे नञ्सुभ्यां परमुत्तरपदमन्तोदात्तं भवति ॥ उदा०-न यवा यस्मिन् सः = अयवो देशः, अत्रीहिः, अमाषः । सुग्वः, म सुमाषः ॥

माषार्थः बहुत्रीहि समास में [नन्सुभ्याम्] तब् तथा 🗗 मृ उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है।।

यहाँ से 'नब्सुभ्याम्' की अनुवृत्ति ६।२।१७४ तक जायेगी॥

कपि पूर्वम् ॥६।२।१७३॥

कपि ७।१।। पूर्वम् १।१।। अनु०—नञ्सुभ्याम्, बहुत्रीही, अली पदस्य, उदात्तः ॥ अर्थः—नञ्सुभ्यां कपि परतः पूर्वमन्तोदात् बहुन्नीहो समासे ।। उदा०—अकुमारीको देशः, अब्रह्मबन्धूकं, रीकः, सुब्रह्मबन्धूकः।।

माषार्थः—नव तथा सु से उत्तर उत्तरपद के [किप] रहते उससे (कप् से) [पूर्वम्] पूर्व को उदान्त होता है।। हे (५।४।१५४) से समासान्त कप् होता है। पूर्व सूत्र से कप् को है। दात्तत्व प्राप्त थीं, कप् से पूर्व को कह दिया।।

यहाँ से 'कपि' की अनुवृत्ति ६।२।१७४ तक जायेगी।

यान अदन

त

, A

हस्वान्तेऽन्त्यात् पूर्वम् ॥६।२।१७४॥

हस्वान्ते ७।१॥ अन्त्यात् ५।१॥ पूर्वम् १।१॥ स०—हस्वोऽन्तो यस्य क्तरपदस्य तद् हस्वान्तम् तस्मिन् "बहुव्रीहिः ॥ अन्ते भवम् अन्त्यम् ॥ अनु०—कपि, नञ्सुभ्याम्, बहुव्रीहो, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ अर्थः—बहुव्रीहो समासे नञ्सुभ्यां परे हस्वान्त उत्तरपदेऽन्त्यात्पूर्वमुदात्तं भवति कपि परतः ॥ उदा०—अयर्वको देशः, अव्रीहिकः अमार्षकः । सुयर्वकः सुव्रीहिकः, सुमार्षकः ॥

भाषार्थः — नञ् तथा सु से उत्तर बहुव्रीहि समास में [हस्वान्ते] हस्वान्त उत्तरपद में [अन्त्यात्] अन्त्य से [पूर्वम्] पूर्व को उदात्त होता है, कप् परे रहते ।। अयवकः यहाँ यव हस्वान्त शब्द उत्तरपद है, अतः उससे पूर्व 'य' को उदात्त होता है। यव शब्द से परे कप् है ही। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी जानें। पूर्व सूत्र से कप् से पूर्व उदात्त प्राप्त था, यहाँ हस्वान्त उत्तरपद से पूर्व को कहा है।।

वहोर्नञ्वदुत्तरपदभूम्नि ॥६।२।१७५॥

बहोः ५११॥ नञ्चत् अ०॥ उत्तरपद्भूम्न ०।१॥ स० — उत्तरपद्स्य भूमा (बहुत्वं) उत्तरपद्भूमा तिस्मन् " 'षष्टीतत्पुरुषः ॥ नञ्च इव नञ्चत् ॥ अवृः — बहुत्रीहो, अन्तः, उत्तरपद्स्य, उदात्तः ॥ अर्थः — उत्तरपद्धिस्य बहुत्वे यो बहुशब्दो वर्त्तते तस्मात् नञ्चत् स्वरो भवित ॥ उदा० — नञ्सभ्यामित्युक्तं बहोरिप तथा भवित — बहुत्रुव्हे हाः, बहुत्रिहः, बहुत्वे विछः । किप पूर्वेमित्युक्तं बहोरिप तथा भवित — बहुकुमारीकः, बहुत्रुवि विषः । वस्वान्ते ऽन्त्यात् पूर्वेमित्युक्तं बहोरिप तथा भवित — बहुत्रुवि विशः, बहुत्रीहिंकः, बहुमार्षकः, । नञ्जो जरमरिमत्रमृता इत्युक्तं बहोरिप तथा भवित — बहुत्रीहिंकः, बहुमरंः, बहुमरंः, बहुमरंः, बहुमरंः ॥

आषार्थ: — [जत्तरपदमूमिन] उत्तरपदार्थ के मूम्ति = बहुत्व को कहते में वर्तमान जो [बहो:] बहु शब्द उससे [नज्वत] नव् के सप्तान खर होता है, अर्थात् नब्सुभ्याम् आदि सूत्रों से तव् से उत्तर जो भी खरिवधान किया है, वह स्वर बहु से उत्तर भी हो जावे। नब्सुभ्याम् से उत्तरपद को अन्तोदात्त कहा है, अतः वह अन्तोदात्तत्व बहु से उत्तर

H

१६४ भी हो जायेगा। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी जान हैं, आ

यहाँ से 'वहोः' की अनुवृत्ति ६।२।१७६ तक जायेगी॥

न गुणादयोऽनयनाः ॥६।२।१७६॥

न अः।। गुणाद्यः ११३।। अवयवाः ११३।। स०—गुण आहे ते गुणाद्यः, बहुव्रीहिः ॥ अनु > -- बहोः, बहुव्रीहौ, अन्तः, उत्तरः उदात्तः ॥ अर्थः – वहोरुत्तरे बहुव्रीहौ समासे ऽवयववाचिनो गु नान्तोदात्ता भवन्ति ॥ उदा०-बहुगुंणा रज्जुः, बह्नेक्षरं पदम्, बहुन मानम्, बहुसूंक्तः, बह्वंध्यायः॥

भाषार्थः - वहु से उत्तर, बहुव्रीहि समास में [अवयवाः] अवक त [गुणादयः] गुणादि गए। पठित शब्दों को अन्तोदात्त [न] नहीं प्र पूर्व सूत्र के अतिदेश से प्राप्ति थी निषेध कर दिया, अतः बहुत्रीही क (६।२।१) से पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्व ही होता है। लिङ्क्वंहोति (उणा० १।२६) से बहु शब्द कु प्रत्ययान्त होने से प्रत्यक अन्तोदात्त है। बह्रक्षरम् एवं बह्रध्यायः यहाँ उदात्त 'उ' के स जो यण हुआ है उससे परे अनुदात्त अकार को उदात्तासिता (८।२।४) से स्वरित होता है ।। बहुगुणा रज्जुः का अर्थ है, बहुत = छड़ वाली रस्सी । इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी गुणारि अवयव अर्थों में हैं ॥

उपसर्गात् खाङ्गं ध्रुवमपर्श्य ॥६।२।१७७॥

ृडपसर्गात् ५।१।। स्वाङ्गम् १।१।। ध्रुवम् १/१।। अपर्शु ^{१।१॥} ह न पशुं अपशुं नञ्तत्पुरुषः ॥ अनुः—बहुत्रीहौ, अन्तः, उद्ात्तः ॥ अर्थः — बहुत्रोहौ समासे उपसर्गादुत्तरं पर्शुवर्जितं स्वी मन्तोदात्तं भवति ॥ जदा०—सततं यस्य प्रगतं पृष्ठं भवति स प्रोदरः, प्रख्खाटः ॥

याषार्थः — बहुब्रीहि समास में [उपमर्गात्] उपसर्ग से उत्तर्हि उ पर्शु वर्जित [धुवम्] ध्रुव [स्वाङ्गम्] स्वाङ्ग को अन्तोदान होती गहिं

त्तर

T.

हुच

वयक

यत स्था

神 तर्व

IF!

TO

1

आ ध्रव कहते हैं, एकरूपता से सदैव रहने को । पीठ उदर आदि ध्रव स्वाङ्ग है। पर्श पसली की हब्बी को कहते हैं, अतः स्वाङ्ग होने से प्राप्ति थी तिषेध कर दिया ।।

यहाँ से 'उपसर्गात्' की अनुवृत्ति ६।२।१९५ तक जायेगी।

वनं समासे ॥६।२।१७८॥

वनम् १।१॥ समासे ७।१॥ श्रनुः — उपसर्गात् , अन्तः, उत्तस्पद्स्य, उदात्तः ।। श्रर्थः — समासमात्र उपसर्गादुत्तरं वनिमत्येतदुत्तरपदमन्तोदात्तं भवति ।। उदा० — प्रवणे यष्टव्यम् । निर्वणे प्रणिधीयते ।।

भाषार्थः - [समासे] समास मात्र में उपसर्ग से उत्तर [वनम्] वन उत्तरपद् शब्द को अन्तोदात्त होता है।। प्रकृष्टं वनं प्रवणं तिसन् प्रवणे, निर्गतो वनादिति निर्वणं तस्मिन् निर्वणे यहाँ हिं प्रनिरन्तः शरे० (८।४।५) से णत्व होता है ।। 'प्रकृष्टं वनम्' आदि ोग्रह व्युत्पत्ति मात्र है, प्रवण का अर्थ एक ओर नीची भूमि है। यज्ञ-ोर्न वेदिका प्राक्प्रवण = पूर्वदिशा में नीची बनाने का विधान है। इसी प्रकार 'निर्वण' का अर्थ है चारों ओर सम भूमि ।।

यहाँ से 'वनम्' की अनुवृत्ति ६।२।१७९ तक जायेगी।।

अन्तः ॥६।२।१७९॥

अन्तः अ०॥ अनु०-वनम्, अन्तः, उत्तरपद्स्य, उदात्तः॥ अर्थ:—अन्तरशब्दादुत्तरं वनमन्तोदात्तं भवति ।। उदार् अन्तर् वनं यस्मिन् अन्तर्वणो देशः॥

भाषार्थः — [श्रन्तः] अन्तर् शब्द से उत्तर वन शब्द को अन्तोदात्त होता है।। 'अन्तर' अव्यय शब्द स्वरादिगण (१।१।३६) में पढ़ा है।। पूर्ववत् प्रनिरन्तः शरे० (८।४।५) से यहाँ भी णत्व जानें।। जिस देश के मध्य में वन हो वह देश अन्तर्वण कहाता है, यहाँ बहुव्रीहि समास है।

अन्तश्च ॥६।२।१८०॥

अन्तः १।१॥ च अ०॥ अनु०— उपसर्गात् , अन्तः, उत्तरपदस्य ख्दात्तः ॥ अर्थः — उपसर्गात् परश्चान्तशब्दोऽन्तोदात्तो भवंति ॥ उदा०—मान्तः, प्यन्तः॥

[] Y भाषार्थः—उपसर्ग से उत्तर [अन्तः] अन्त शब्द को वि अन्तोदात्त होता है। उदाहरणों में बहुत्रीहि अथवा प्रादि समार सकता है।।

यहाँ से 'अन्तः' की अनुवृत्ति ६।२।१८१ तक जायेगी॥

न निविभ्याम् ॥६।२।१८१॥

प्र

á f

उ

(

f

सु

त

न अ०।। निनिभ्याम् ५।२॥ स०—निनि० इत्यन्नेतरेताहुः अनु - अन्तः, उपसर्गात् , अन्तः, उत्तरपद्स्य, उदात्तः॥ वर्ष- न वि इत्येताभ्यामुपसर्गाभ्यां परोऽन्तशब्दो नान्तोदात्तो भवति॥ प्राप्तिः प्रतिषिध्यते ॥ उदा० — न्यंन्तः, व्यंन्तः ॥

भाषार्थः — [निविभ्याम्] नि तथा वि उपसर्ग से उत्तर् अव को अन्तोदात्त [न] नहीं होता।। उपसर्ग से उत्तर कहने से ए से प्राप्ति थी, प्रतिषेध कर दिया ।। वहुत्री ही प्रकृत्या० (६।२।१) से प्रकृतिस्वरत्व होकर नि, वि उपसर्गाश्चा० (फिट्० ८०) से आवुक पश्चात् यणादेश करने पर उदात्तस्वरिः (८।२।४) से 'अ' को सा हो जायेगा। जब नयन्तः, व्यन्तः में प्राद् तत्पुरुष समास माने हैं तत्पुरुषे तुल्यार्थं (६।२।२) से पूर्वपद् प्रकृतिस्वर होकर यही खर है त

परेरभितोभावि मण्डलम् ॥६।२।१८२॥

परेः ५।१।। अभितोभावि १।१।। मण्डलम् १।१।। अनु०- अपर् अन्तः, उत्तरपद्स्य, उदात्तः ॥ अभितः = उभयतो भावो = भवन स्तीति = अभितोभावि, मत्वर्थे इनिप्रत्ययः ॥ अर्थः परेरुपसा मभितोभाविवचनं मण्डलब्बोत्तरपद्मन्तोदात्तं अभितोभावि—परिकूलम्, परितीरम्। मण्डलम् परिमण्डलम्

भाषार्थः—[परेः] परि उपसर्ग से उत्तर [श्रामतोभावि] अभिवी वाची तथा [मएडलम्] मण्डल शब्द को अन्तोदात्त होता अभितोभावि अर्थात् दोनों ओर से भावि = होना जिसका इस अर्थ को कर्यन करने वाले शब्द को अन्तोदात्त होता है। या तीर शब्द दोनों ओर होने के स्वभाव वाले होते हैं, अर्थात होते

ही होते हैं। मण्डल शब्द अभितोभाविवचन नहीं है, अतः पृथक् कह दिया।। उदाहरणों में बहुव्रीहि या तत्पुरुष मानने पर पूवंबत् पूर्वपद-प्रकृतिस्वरत्व प्राप्त था तदपवाद है। यदि अव्ययीभाव समास माने तो भी परिप्रस्युपापा० (६।२।३३) से पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व की प्राप्ति में यह विधान है।। अभितोभावि में नपुंसकलिङ्ग निर्देश है।।

प्रादस्वाङ्गं संज्ञायाम् ॥६।२।१८३॥

प्रात् ५११॥ अस्वाङ्गम् १११॥ संज्ञायाम् ७११॥ स०—अस्वा**ं इत्यत्र** नन्तत्पुरुषः ॥ अनु०—उपसर्गात्, अन्तः, उत्तरपद्स्य, उदात्तः ॥ श्रर्थः—प्रादुत्तरमस्वाङ्गवाच्युत्तरपद्मन्तोदात्तं भवति संज्ञायां विषये॥ उदा०—प्रकोष्टम, प्रगृहम्, प्रद्वारम्॥

माषार्थः—[प्रात्] प्र उपसर्ग से उत्तर [श्रस्ताङ्गम्] अस्वाङ्गवाची उत्तरपद को [संज्ञायाम्] संज्ञा विषय में अन्तोदात्त होता है।। उदा०—प्रकोष्टम् (कमरा), प्रगृहम् (घर के पीछेका खुळा स्थान), प्रद्वारम् (घर के सामने का स्थान)।।

निरुदकादीनि च।।६।२।१८४।।

निरुद्कादीनि १।३।। च अ०।। स०—निरुद्क आदिर्येषाम् तानिःः बहुत्रीहिः ॥ अनु०—अन्तः, उत्तरपद्स्य, उदात्तः ॥ श्रर्थः— निरुद्कादीनि च शब्द्रूपाण्यन्तोदात्तानि भवन्ति ॥ उदा०—निष्कान्त-युद्कमस्मात् निष्कान्तमुद्कादिति वा = नि<u>रुद</u>्कम्, नि<u>रुप</u>्छम् ॥

भाषार्थ:—[निरुदकादीनि] निरुदकादि गण पठित शब्दों को [च] भी अन्तोदात्त होता है।। उदाहरणों में बहुब्रीहि समास अथवा (प्रादि) उत्पुरुष समास है, अतः पूर्ववत् प्रकृतिस्वर की प्राप्ति थी, तदपवाद है।।

अमेर्छखम् ॥६।२।१८५॥

अभेः ५।१॥ मुखम् १।१॥ अनु०—उपसर्गात्, अन्तः, उत्तरपदस्य उदातः॥ अर्थः—अभेरुत्तरं मुखमित्येतदुत्तरपदमन्तोदात्तं भवति॥ उदा०—अभिमुखः॥

भाषार्थ: [अमेः] अभि उपसर्ग से उत्तर [मुलम्] मुख उत्तरपद स्थित शब्द को अन्तोदात्त होता है।। पूर्ववत् प्रादि अथवा बहुव्रीहि 338

समास अभिमुख (सामने) शब्द में जानें।। उपसर्गात् स्वाङ्ग'० (हारा से ही सिद्ध था पुनर्वचन बहुब्रीहि से भिन्न समास, स्वाङ्गवार्च शब्द जहां न हो, यथा-अभिमुखा शाला, तथा अध्रुव अर्थ के लि यहाँ से 'मुखम्' की अनुवृत्ति ६।२।१८६ तक जायेगी॥

अपाच ॥६।२।१८६॥

[]

अपात् ५।१॥ च अ०॥ अनु०-मुखम्, उपसर्गात्, अन्,ः पद्स्य, उदात्तः ॥ अर्थः - अपाचीत्तरं मुखमुत्तरपद्मन्तोदात्तं म उदा०-अपगतं मुखमस्मात् अपगतं मुखादिति वा = अपु श्रपमुखम्।।

भाषार्थः—[अवात्] अप उपसर्ग से उत्तर [च] भी मुल ह शब्द को अन्तोदात्त होता है।। पूर्ववत् बहुत्रीहि एवं प्रादि तलुरुष ह अपमुखः में जानें। अव्ययीभाव समास भी अप मुखात् = अपमुख् श्रापपरिवहिरव्चवः (२।१।११) से हो सकता है, इस पक्ष में भी की पापा० (६।२।३३) से पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्व प्राप्त था तद्पवाद यह है

यहाँ से 'त्रपात्' की अनुवृत्ति ६।२।१८७ तक जायेगी॥

स्फिगपूतवीणाङ्जोध्वकुक्षिसीरनामनाम च ॥६।२।१८॥

स्फिरापूत : : : नाम १।१।। च अ०।। स० सीरस्य नाम सी षष्ठीतत्पुरुषः। स्फिगश्च पूतश्च वीणा च अञ्जस् च अध्वा च सीरनाम च नाम च स्फिग नाम, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अवु उपस्गित्, अन्तः, उत्तरपद्स्य, उदात्तः ॥ अर्थः—अपादुत्तराणि पूत, वीणा, अञ्जस्, अध्वन्, कुक्षि इत्येतानि सीरनामानि शब्द्श्चोत्तरपदान्यन्तोदात्तानि भवन्ति ॥ उदा०—अपस्फिगम्, अप्वीणम्, अपाञ्चः, अपाञ्चा, अपकुक्षिः, अपसीरः, अपुलाङ्गलम्, अपनाम।।

माषार्थः—अय उपसर्ग से उत्तर [स्फिगः नाम] स्फिग, पूर्व अंझस्, अध्वन्, कुक्षि तथा सीरनाम = इल के वाची शब्दों की

शब्द को [च] भी अन्तोदात्त होता है ।। सीर हल को कहते हैं ।। पूर्व-वत् तत्पुरुष बहुत्रीहि या अव्ययीभाव समास उदाहरणों में जानें ।। अपाध्वा में जब उपसर्गादध्वनः (५।४।८५) से समासान्त अच् प्रत्यय नहीं होगा, तब इस सूत्र का उदाहरण बनेगा, अन्यथा अच् प्रत्यय के चित् होने से चित्स्वर से ही अन्तोदात्तत्व हो जाता । समासान्त प्रत्यय इसी ज्ञापक से विकल्प से होते हैं ।।

अधेरुपरिस्थम् ॥६।२।१८८॥

अघेः ५।१॥ उपरिस्थम् १।१॥ अनु०—उपसर्गात्, अन्तः, उत्तर-पदस्य, उदात्तः ॥ उपरि तिष्ठतीति उपरिस्थः ॥ श्रर्थः— अघेरुत्तरमुपरि-स्थवाचि शब्दरूपमन्तोदात्तं भवति ॥ उदा०—अधिदुन्तः, अधिकुर्णः, अधिकेशः ॥

भाषार्थ—[श्रधे:] अधि उपसर्ग से उत्तर [उपिरस्थम्] उपिरस्थ-वाची उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है।। ऊपर बैठने वाला उपिरस्थ कहाता है, जैसे दाँत के ऊपर जो दाँत निकल आता है उसे अधि-दन्त कहते हैं क्योंकि वह उपिरस्थ है। इसी प्रकार कान के ऊपर जो निकला हुआ कान वह अधिकर्ण, एवं केश के ऊपर जो केश (अर्थात् एक रोम से निकले दो केशों में एक) अधिकेश कहाता है।।

अनोरप्रधानकनीयसी ।।६।२।१८९॥

अनोः ५।१॥ अप्रधानकनीयसी १।२॥ स० अप्रधानक्च कनीयश्च अप्रधानकनीयसी, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु० उपसर्गात्, अन्तः, उत्तर-पद्स्य, उदात्तः ॥ अर्थः अनोः परमप्रधानवाच्युत्तरपदं कनीयशब्द-श्वान्तोदात्तो भवति ॥ उदा० अनुगतो व्येष्ठमुनुव्येष्ठः, अनुमुख्यमः । कनीयस् अनुगतः कनीयानुनुकृनीयान् ॥

भाषार्थः—[अनोः] अनु उपसर्ग से उत्तर [अप्रधानकनीयसी] अप्रधानवाची उत्तरपद को तथा कनीयस् शब्द को अन्तोदात्त होता है।। अनुज्येष्ठः (ज्येष्ठ के पीछे चलने वाला) यहाँ उत्तरपद ज्येष्ठ शब्द समासार्थ में अप्रधान है, तथा उसके पीछे चलनेवाला पूर्वपद जो 'अनुगत' शब्द वह प्रधान है, अतः यहाँ अप्रधानवाची उत्तरपद है। इसी प्रकार

न

पर

[: क

अं

उ

उ

में

य

नी

च

节 / 世

अनुमध्यमः में जानें। अनुकनीयान् = (पीछे चलने वाला बोटा मां यहाँ उत्तरपद कनीयान् प्रधान है, अप्रधान नहीं, अतः कनीयानः पृथक् प्रहण किया है।। जहाँ कनीयान् अप्रधान होगा तब विष्रह हो अनुगतः कनीयासंम् अनुकनीयान्। इसमें अप्रधानवाची मानकर इसह से अन्तोदात्त होगा।।

यहाँ से 'श्रनोः' की अनुवृत्ति ६।२।१६० तक जायेगी॥

पुरुषक्चान्वादिष्टः ॥६।२।१९०॥

पुरुषः १।१॥ च अ०॥ अन्वादिष्टः १।१॥ श्रनु०—अनोः, जन्न गीत्, अन्तः, उत्तरपद्स्य, उदात्तः ॥ अनु = पश्चात् आदिष्टः, अन्दिष्टः, कथितानुकथितः, अन्वाचितोऽप्रधानिशष्टो वा॥ अर्थः—अन्यादिष्टवाची पुरुषशब्दोऽन्तोदात्तो भवति॥ उदा०—अन्यादिष्ठपःअनुपुरुषः॥

भाषार्थः—अनु उपसर्ग से उत्तर [अन्वादिष्टः] अन्वादिष्टां [पुरुषः] पुरुष शब्द को [च] भी अन्तोदात्त होता है।। कथन करने के प्र कुछ और कहा जाये, अथवा उस कथन में गौण कथन हो उसे अन्ति हिए कहते हैं, यथा किसी ने कहा कि 'तुम भिक्षा भी करों गीं लाओ' यहाँ गौ का लाना पश्चात् कथन अथवा गौण कथन होते। अन्वादिष्ट है।।

अतेरकृत्पदे ॥६।२।१९१॥

अतेः १११॥ अकृतपदे ११२॥ स०—न कृत् अकृत्, नव्तस्त अकृत् च पद्ञ्च अकृतपदे, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—उपसर्गात्, अव उत्तरपद्ग्य, उदात्तः ॥ अर्थः—अतेः परमकृद्न्तं पद्शब्द्श्योत्तरप्ता दात्तं भवति ॥ उदा०—अङ्करामित्रज्ञान्तः = अत्युङ्कुरो नागः, अर्तिष ऽश्वः । पद्शब्दः—अतिपदा शकरी ॥

भाषार्थः—[अते:] अति उपसर्ग से उत्तर [अकृत्वरें] अकृत्वरें पद् शब्द को अन्तोदात्त होता है।। उदाहरणों में क्रान्तादि अव तत्पुरुष समास हुआ है।। di

न्ः

1

HE

अन

वहि

ष्ट्रवा

QX

अन

前

CHI

個

नेरनिधाने ॥६।२।१५२॥

तेः ४।१॥ अनिधाने ७।१॥ स०—न निधानमनिधानम्, तस्मिन्
निब्तत्पुरुषः ॥ अनु०-उपसर्गात्, अन्तः, उत्तरपद्स्य, उदात्तः॥ अर्थः-नेः
परमृत्तरपद्मन्तोदात्तं अवत्यनिधानेऽर्थे ॥ निधानमप्रकाशता, तदभावोऽ
निधानं प्रकाशता ॥ उदा०—निर्गतं मूळं निमूलम्, न्यक्षम्, नितृणम्॥

भाषार्थः-[ने:] नि उपसर्ग से उत्तर उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है, [म्रिनिघाने] प्रकाशन अर्थ में ।। जिसका मूल निकला हुआ है वह निमूल कहाता है, इसी प्रकार बाहर निकले अक्ष और तृण, न्यक्ष नितृण कहाते हैं। यहाँ स्पष्ट अनिधान = प्रकाशन अर्थ है। नि उपसर्ग यहाँ अनिधान अर्थ को कहता है।।

प्रतेरंश्वादयस्तत्षुरुषे ।।६।२।१९३।।

प्रतेः ५।१।। अंश्वादयः १।३।। तत्पुरुषे ७।१।। स०—अंग्रु आदिर्येषां ते अंशादयः, बहुन्नीहिः ।। श्रानु०— उपसर्गात्, अन्तः, उत्तरपद्स्यं, उदात्तः ॥ अर्थः-प्रतेः परास्तत्पुरुषे समासेऽइवांदयोऽन्तोदात्ता भवन्ति ॥ उदा०—प्रतिगतोऽग्रुः = प्रत्यंग्रुः, प्रतिजनः, प्रतिराजा ॥

भाषार्थः—[प्रतेः] प्रति उपसर्ग से उत्तर [तत्पुरुषे] तत्पुरुष समास
में [अंश्वादयः] अंश्वादि गण पठित शब्दों को अन्तोदात्त होता है॥
यहाँ से 'तत्पुरुषे' की अनुवृत्ति ६।२।१९६ तक जायेगी॥

उपाद् द्वचजिनमगौराद्यः ॥६।२।१९४॥

डपात् १।१॥ द्रयजजिनम् १।१॥ अगौराद्यः १।३॥ सं० - द्रौ अचौ
यस्मिन् स द्रयच् बहुव्रीहिः । द्रयच् च अजिनद्ध द्रयजजिनम्, समाहारो
देन्द्रः ॥ गौर आदिर्येषां ते गौराद्यः, न गौराद्योऽगौराद्यः, बहुत्रीह्गिर्भन्वत्तपुरुषः ॥ अनु० – तत्पुरुषे, उपसर्गात्, अन्तः उत्तरपद्स्य,
वदात्तः ॥ अर्थः—उपात् परं द्रयजजिनं च तत्पुरुषे समासेऽन्तोदात्तं भवति,
गौरादीन् वर्जयित्वा ॥ उदा०—द्रयच्—उपगतो देवम् = उपदेवः, उपसोमः, उपनदः, उपहोडः । अजिन—उपाजिनम् ॥
भाषार्थः—[उपात्] उप उपसर्ग से उत्तर [द्रयजजिनम्] हो अच्

पा

से

ष्

उर

द्धि

इत

इत अ

इर

q

ि

द

(4

द्

त कि

में

7

8

वाले शब्दों को तथा अजिन शब्द को तत्पुरुष समास में अली होता है, [अगौरादयः] गौरादि शब्दों को छोड़कर ॥ गौरादिः द्वचच् हैं, अतः प्राप्ति थी, निषेध कर दिया । उदाहरणों में कुगितिक (२।२।२८) से तत्पुरुष समास हुआ है।।

सीरवक्षेपणे ॥६।२।१९५॥

सोः ४।१॥ अवस्रेपणे ७।१॥ अनु०—तत्पुरुषे, उपसर्गात्, अ उत्तरपद्स्य, उदात्तः, ।। श्रर्थः — सोः परमुत्तरपदं तत्पुरुषे समासे दात्तं भवति, अवक्षेपणे गम्यमाने ॥ उदा०—इह खल्विदानीं सुर्खाः

सुस्फिगाभ्यां सुप्रत्यवसितः ॥

भाषार्थः—[सो:] सु उपसर्ग से उत्तर उत्तरपद को तत्पुरुष समा अन्तोदात्त होता है, [अवद्येपणे] निन्दा गम्यमान हो तो ॥ सुर्या आदि में स्वती पूजायाम् (मा०२।२।१८) इस वचन से सु अति ब अर्थ में समास होता है, उदाहरणों में सु अच्छे अर्थ में ही है वाक्यार्थ से निन्दा की प्रतीति होती है, सम्पूर्ण वाक्य का अधी "यहाँ अब आप अच्छी समृद्धि से अच्छे स्थान में विराजमान र् देश से छौटकर बैठे हैं।" तात्पर्य यह है कि कोई कायर अनर्थ वर्ष होने पर भी सुखपूर्वक बैठा रहे उसे इस प्रकार चिढ़ाया जा ह यही यहाँ निन्दा है।।

विभाषोत्पुच्छे ।।६।२।१९६।।

विभाषा १।१॥ उत्पुच्छे ७।१॥ अनु०—तत्पुरुषे, अन्तः, उत्तर्ण उदात्तः ॥ अर्थः—तत्पुरुषे समास उत्पुच्छशब्दे विभाषाऽति भवित ।। उत्कान्तः पुच्छात् चत्पुच्छः उत्पुच्छः । पुच्छमुद्स्यति वर्ष यति, उत्पुच्छयतेरच् उत्पुच्छः, अस्यामपि व्युत्पत्तौ पूर्ववत् स्वरा

भाषार्थः—तत्पुरुष समास में [उत्पुच्छे] उत्पुच्छ शब्द को कि

विकल्प से अन्तोदात्तत्व होता है।।

उदाहरणों में दो प्रकार से व्युत्पत्ति दर्शाई है, सो प्रथम की पक्ष में तो तत्पुरूषे तुल्यार्थं से अञ्चय पूर्वेपद प्रकृतिस्वर्त्व अन्तोदान्त्रत्व प्राप्त नहीं था, अप्राप्त अन्तोदान्तत्व विकल्प से विभी

3 सेऽ

धि

सान

स्याः

का न

म्

न 🚺 उप-

हिं।

त्तरप न दर्ग

उत्

1:1

[fil

वधा

दिया। द्वितीय व्युत्पत्ति में 'उत्पुच्छ्रय' धातु से एरच् (३।३।५६) से अचु प्रत्यय होकर उत्पुच्छः बना है, अतः थाथघण् (६।२।१४३) देश से नित्य अन्तोदात्तत्व शाप्त था, उसका विकल्प कह दिया। इस प्रकार तप्रः भूत्रोक्त 'विभाषा' उभयत्र विभाषा है। पक्ष में अव्यय स्वर से 'इ' उदात्त रहेगा ही।।

यहाँ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति ६।२।१६८ तक जायेगी।।

द्वित्रिभ्यां पाइन्मूर्घसु बहुत्रीहो ॥६।२।१९७॥

द्वित्रिभ्याम् १।२।। पाद्दन्मूर्घसु ७।३।। बहुत्रीहौ ७।१॥ स०—द्वित्रि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः। पाद् च दत् च मूर्घा च पाद्दन्मूर्घानः, तेषुः इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु० — विभाषा, अन्तः, उत्तरपद्स्य, अर्थः - बहुब्रीही समासे द्वि, त्रि इत्येताभ्यां पराणि पाद्, दत्, मूर्धन् इत्येतान्युत्तरपदान्यन्तोदात्तानि भवन्ति विकल्पेन ॥ उदा० - द्रौ पादा-वस्य द्विपात् , द्विपात् । त्रिपात् , त्रिपात् । द्विदन् , द्विदन् । त्रिदन्, त्रिम्धां, द्विमूर्धां, द्विमूर्धां। त्रिमूर्धां, त्रिमूर्धाः, द्विमूर्धः, त्रिमूर्धः, द्विमूर्धः, त्रिमूर्धः ॥

भाषार्थः — [द्वित्रिभ्याम्] द्वि तथा त्रि से उत्तर [पाद्दन्मूर्घसु] पाद्, दत्, मूर्धन् इन शब्दों के उत्तरपद रहते [बहुव्रीहों] बहुव्रीहि समास में विकल्प से अन्तोदात्त होता है।। पाद् शब्द समासान्त अकार छोप (४।४।१३८) किया हुआ सूत्र में निर्दिष्ट है, एवं दन्त शब्द भी समासान्त रत् आदेश (४।४।१४१) किया हुआ निर्दिष्ट है। किन्तु मूर्धन् अकृ-तसमासान्त निर्दिष्ट है, अतः सामान्य करके मूर्धन् शब्द का दोनों प्रकार से महण है, एवं पाद् दत् समासान्त ही लिये जायेंगे। द्विमूर्घा, त्रिमूर्घा में समासान्त प्रत्यय नहीं हुआ है, एवं द्विमूर्घः, त्रिमूर्घः में द्वित्रिम्यां व मूर्जः (४।४।११४) से समासान्त ष प्रत्यय हुआ है। इन दोनों प्रकार के उदाहरणों में प्रकृत सूत्र से विकल्प से अन्तोदात्त होता है। पक्ष में बहुत्रीही मकत्या० (६।२।१) से पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्व ही होता है, अतः फिषोऽन्त-उदात्तः (फिट्०१) से द्वि त्रि उदात्त हैं।।

यहाँ से 'बहुनीही' की अनुवृत्ति ६।२।१९८ तक जायेगी।।•

[ि पा

सक्यं चाकान्तात् ॥६।२।१९८॥

सक्थम् १।१॥ च अ०॥ अक्रान्तात् ५।१॥ स०—क्रशब्दोऽन्तोक हे क्रान्तः बहुव्रीहिः। न क्रान्तोऽक्रान्तस्तस्मात् ''नञ्तत्पुरुषः॥ अतुः न व्रीहो, विभाषा, अन्तः, उत्तरपद्स्य, उदात्तः॥ अर्थः — अक्रान्तात् पर्वः शब्दोऽन्तोदात्तो भवति बहुव्रीहो समासे विकल्पेन ॥ उदा०—गौष्क गौरसंकथः। श्ळ्क्णसक्थः, श्ळ्क्णसंकथः॥

भाषार्थः—[श्रकान्तात्] क अन्त में नहीं है जिसके ऐसे क राब्द से उत्तर [सक्थम्] सक्थ शब्द को [च] भी विकल्प से कते होता है बहुत्रीहि समास में ।। सक्थ शब्द बहुत्रीही सक्था (४१४१११३) से समासान्त षच् प्रत्ययान्त सूत्र में निर्दिष्ट है। बदाहरणों में समासान्त ही गृहीत होगा ॥ गौर शब्द प्रज्ञाहि (४१४१३८) अण् प्रत्ययान्त है, अतः अन्तोदात्त है। शब्दण कृ रिलपेरचोपघायाः (उणा० ३११९) से क्स्न प्रत्ययान्त होने से अन्तोदा अतः पक्ष में अन्तोदात्त रहेगा। पक्ष में पूर्वपद्प्रकृतिस्वरत्व (धि होकर यही स्वर रहेंगे।।

यहाँ से 'सक्थम्' की अनुवृत्ति ६।२।१९९ तक जायेगी॥

परादिश्छन्दिस बहुलम् ।।६।२।१९९॥

परादिः १।१॥ अन्दिस ७।१॥ बहुछम् १।१॥ स० परार्व १ परादिः, षष्टीतत्पुरुषः ॥ अनु० सक्थम् , उत्तरपद्स्य, उदात्तः ॥ अन् छन्दिस विषये उत्तरपद्स्य सक्थशब्द्स्यादिरुदात्तो भवित बहुः परशब्देनात्र सक्थशब्द् एव गृह्यते ॥ उदा० — अञ्जिसकर्थम् अवि त्वाष्ट्रौ लोम् सक्थौ । बहुलवचनात् पदान्तरे समासान्तरे व अ अध्युवाहुः इति बहुव्रीहिः । वाकपितः, चित्पितिरिति षष्टीसमासौ॥

भाषार्थः [जन्दिम] वेद विषय में उत्तरपद [परादिः] पर्वे सक्थ शब्द के, आदि को [बहुलम्] बहुल करके अन्तोदात्त होता पर शब्द से यहाँ पूर्व सूत्र निर्दिष्ट सक्थ शब्द का ही प्रहण है। कहने से यहाँ सक्थ शब्द से अन्य शब्द में भी उत्तरपद के आवि उदात्त होता है एवं बहुव्रीहि समास में ही संकथ शब्द को समा

[वादः]

नुः-

परिक गौरक

से अ अनोः

वध्यत म है।

ज्ञाहि

| श्रद तोदार

(811

य इ

11 34 बहुछ.

आल

न भा

11

प्रहे

होवा

11

आहि

समाह

होता है, अतः 'बहुबीहों' की अनुवृत्ति न आने पर भी बहुब्रीहि समास में ही परादि को उदात्त प्राप्त था, बहुल कहने से अन्य समासों में भी तोक हो जाता है।।

॥ इति द्वितीयः पादः॥

तृतीयः पादः

[त्र्रालुक् प्रकरणम्]

अलुगुत्तरपदे ॥६।३।१॥

अलुक् १।१।। उत्तरपदे ७।१।। स० — न लुक् अलुक् नव्तरपुरुषः।। अर्थः—अलुगिति उत्तरपद इति चेत्येतद्धिकृतं वेदितव्यम्, यदित अर्ध्वमनुक्रमिष्यामोऽलुगुत्तरपद् इत्येवं तद् वेदितव्यम् ॥ उदा० - वस्यित पश्चम्याः स्तोकादिभ्यः, स्तोकान् मुक्तः, अल्पान् मुक्तः ॥

माषार्थः—[त्रमलुगुत्तरपदे] 'अलुक्' तथा 'उत्तरपदे' इन दोनों पदों का अधिकार आगे के सूत्रों में जाता है, अतः यह अधिकार सूत्र है। यहाँ से 'श्रलुक्' का अधिकार ६।३।२३ तक तथा 'उत्तरपदें' का ६।३।१३८ तक जायेगा ।।

पश्चम्याः स्तोकादिभ्यः ॥६।३।२॥

पञ्चम्याः ६।१॥ स्तोकाद्भ्यः ५।३॥ स० - स्तोक आद्विंषां ते स्तो-काद्यः, तेभ्यः बहुव्रीहिः ॥ श्रनु अलुग् उत्तरपदे ॥ श्रयः स्तोकाद्भियः परस्याः पद्धम्या अलुग् भवति उत्तरपदे परतः॥ जदा० स्तोकान् मुक्तः, अल्पान मुक्तः, अन्तिकादागतः, अभ्याशादागतः, दूरादागतः, विप्रकृष्टादागतः, कृच्छ्रान् मुक्तः ॥

भाषार्थ:-[स्तोकादिभ्य:] स्तोकादिओं से उत्तर [सञ्चम्या:] पद्धमी विभक्ति का उत्तरपद परे रहते अलुक् अर्थात् लुक् नहीं होता है।।

िपा स्तोकादि से स्तोकान्तिकदूरार्थक्टच्यािराः सूत्र में कहे हुये स्तोकः आदि शब्द ही गृहीत हैं ।। स्तोकान्तिकदूरार्थंकुच्छ्राणि केन (राम्भी से उदाहरणों में समास हुआ है, तथा करणो च स्तोकाल्पः (य स से पद्धमी विभक्ति होती है, जिसका समास कर लेने पर सुणे ए (२।४।७१) से लुक् प्राप्त था, अलुक् कर दिया। इसी प्रकार संपूर्ण प्रकरण को सुपो घातुः (२।४।७१) का ही अपवाद समझना चाहिं।

ओजःसहोम्भस्तमसस्तृतीयायाः ॥६।३।३॥

ओजःसहोम्भस्तमसः ५।१॥ तृतीयायाः ६।१॥ स०-ओजबः अम्भक्ष तमश्र ओजःसहोम्भस्तमः, तस्मात् समाहास्त अनु - अलुग् उत्तरपदे ।। अर्थः - ओजस् , सहस् , अम्भर्। इत्येतेभ्य उत्तरस्यास्तृतीयाया अलुग् भवति उत्तरपदे परतः॥ ज ओजसाकृतम्, सहसाकृतम्, अम्भसाकृतम्, तमसाकृतम्॥

भाषार्थः—[ओजःसहोम्भस्तमसः] ओजस्, सहस्, अम्भर् वे तमस् शब्द से उत्तर [तृतीयायाः] तृतीया विभक्ति का उत्तरम प रहते अलुक् हो जाता है।। पूर्ववत् लुक् की प्राप्ति में अलुक् विक यह बात सर्वत्र समझते जायें।।

यहाँ से 'तृतीयायाः' की अनुवृत्ति ६।३।६ तक जायेगी॥

मनसः संज्ञायाम् ॥६।३।४॥

मनसः ५।१॥ संज्ञायाम् ७।१॥ अनु०—तृतीयायाः, अलुग् उत्ता श्रर्थः—मनस उत्तरस्यास्तृतीयायाः संज्ञायां विषयेऽलुग् भ उदा०—मनसाद्त्ता, मनसागुप्ता, मनसासंगता ॥

भाषार्थः—[मनसः] मनस् शब्द से उत्तर [संज्ञायाम्] संज्ञी में तृतीया विभक्ति का अलुक् होता है।। मनसागुप्ता आदि के नाम विशेष हैं।।

यहाँ से 'मनसः' की अनुवृत्ति ६।३।५ तक जायेगी।।

आज्ञायिनि च ॥६।३।५॥

आज्ञायिनि ७।१॥ च अ०॥ अनु०—मनसः, तृतीयायाः, अर्धु पदे ॥ अर्थः—मैनस उत्तरस्यास्तृतीयाया अलुग्भवति आज्ञारित पदे ॥ उदा॰—मनसा आज्ञातुं शीलमस्य मनसाज्ञायी ॥

षष्ट्रोऽध्यायः

[वादः]

जश्र:

हारदूर

मस्,

। उद

विधाः

संज्ञा है

अली

२०७

भाषार्थः—[त्राज्ञायिनि] आज्ञायी शब्द के उत्तरपद रहते चि तोक इं भी मनस् शब्द से उत्तर तृतीया का अलुक् होता है।। असंज्ञार्थ इस (य सूत्र का आरम्भ है।। आङ् पूर्वक ज्ञा धातु से तच्छील अर्थ में णिनि स्पं एवं श्रातो युक् चिराकृतोः (७।३।३३) से युक् आगम होकर आज्ञायी श्रिका शब्द बनता है।। उदा०—मनसाज्ञायी (मन से जानने के स्वभाव गहिंगे वाला) ॥

आत्मनश्च ॥६।३।६॥

आत्मनः ५११॥ च अ०॥ श्रनु०—अलुग् , उत्तरपदे, तृतीयायाः॥ अर्थः—आत्मनश्च उत्तरस्यास्तृतीयाया अलुग् भवति उत्तरपदे परतः॥ उदा०—आत्मनापञ्चमः, आत्मनाषष्टः ॥

भाषार्थ: [आत्मन:] आत्मन्शब्द से परे [च] भी तृतीया का अलुक् होता है उत्तरपद परे रहते ॥ उदाहरणों में तृतीया० (२।१।३०) के योगविभाग से समास होता है। यह अलुक् पूर्ण प्रत्ययान्त उत्तरपद परे रहते ही होता है।।

यहाँ से 'आत्मनः' की अनुवृत्ति ६।३।७ तक जायेगी।।

वैयाकरणाख्यायां चतुर्थ्याः परस्य च ॥६।३।७॥

वैयाकरणाख्यायाम् ७।१॥ चतुर्थ्याः ६।१॥ परस्य ६।१॥ च अ०॥ ^सं—वैयाकरणस्याख्या वैयाकरणाख्या, तस्याम् : · · · षष्टीतत्पुरुषः ॥ अनु अलुगुत्तरपदे, आत्मनः ॥ अर्थः —यया संज्ञया वैयाकरणा एव भा व्यवहरिन्त तस्याम् परस्य आत्मनश्च उत्तरस्याः चतुर्थ्या अलुग्भवति ॥ जदा - परस्मैपद्म्, परस्मैभाषा । आत्मनेपद्म्, आत्मनेभाषा ॥

भाषार्थ: - जिस संज्ञा से वैयाकरण ही व्यवहार करते हैं वियाकरणा-ल्यायाम्] उसको कहने में जो [परस्य] पर शब्द तथा [च] चकार से आत्मन शब्द से उत्तर भी [चतुर्थाः] चतुर्थी विभक्ति का अलुक् होता है।

हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम् ॥६।३।८॥

इलद्न्तात् ५।१॥ सप्तम्याः ६।१॥ संज्ञायाम् ७।१॥ स० हल् च अत् च हळत्, समाहारो द्रन्द्रः। हळत् अन्ते यस्य स हळदेन्तस्तस्मात् बहुबीहि: ॥ अनु - अलुगुत्तरपदे ॥ अर्थः हलन्ताद्दन्ता होत्तरस्याः

P

सप्तम्याः संज्ञायामलुग् भवति ॥ उदा०—युधिष्टिरः, अद्नतात्—अरण्येतिलकाः, अरण्येमाषकाः, वनेकिंशुकाः, कोहि र वनेबल्वजकाः ॥

भाषार्थः—[हलदन्तात्] हलन्त तथा अकारान्त शब्द है। [संज्ञायाम्] संज्ञा विषय में [सप्तम्याः] सप्तमी का अलुक् होत उदाहरणों में संज्ञायाम् (२।१।४३) से समास होता है। युक्ति च गवियुधिभ्यां स्थिरः (८।३।९५) से पत्व होता है । युध् त्वच् इस त हैं, एवं अरण्य आदि अदन्त शब्द हैं॥

यहाँ से 'हलदन्तात्' की अनुवृत्ति ६।३।१२ तथा तथा कि की ६।३।१९ तक जायेगी।

कारनाम्नि च प्राचां हलादौ ॥६।३।८॥

कारनाम्नि ७।१॥ च अ० ॥ प्रचाम् ६।३॥ हलादौ ७।१॥ सन् क नाम कारनाम, तस्मिन् "षष्टीतत्पुरुषः। हल्आदियस्य सहलादिली स बहुव्रीहि:।। श्रनुः—हरुद्न्तात् सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे॥ व प्राचां देशे यत् कारनाम तत्र हलादावुत्तरपदे हलदन्तादुत्तरस्याः ह अलुग्भवति ।। उदाः—स्तूपेशाणः, द्विद्माषकः, हलेशि हलेत्रिपदिका ॥

भाषार्थ:-[प्राचाम्] प्राच्यदेशों में जो [कारनामिन] कों है अ वाले शब्द उनमें [च] भी [हलादी] हलादि शब्द के परे खी तथा अदन्त शब्दों से उत्तर सप्तमी विभक्ति का अलुक् होता है च सूत्र से ही अलुक् सिद्ध था पुनः इस सूत्र का आरम्भ निगा इस प्रकार तीन नियम यहाँ होते हैं, प्रथम—कारनाम में ही, किं प्राच्य देश में व्यवहृत नामों में ही, तृतीय—हलादि शब्द परे अलुक् हो ॥

स्तूपेशाणः आदि भिन्न २ करों की संज्ञायें हैं। इस विवि 'पाणिनि काळीन भारतवर्ष' हिन्दी सं० पृ० ४१० देखें॥

मध्याद् गुरौ ॥६।३।१०॥

मध्यात् ५।६॥ गुरौ ७।१॥ अनु० —सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे॥ मध्यादुत्तरस्याः सप्तम्या गुरावुत्तरपद्ेऽलुग्भवति ॥ उदा०-मध्य

षष्टोऽध्यायः

[१ पादः]

द से

लेड्डिंग

२०९

लिक भाषार्थः—[मध्यात्] मध्य शब्द से उत्तर [गुरी] गुरु शब्द उत्तरपद कोक्षि रहते सप्तमी विभक्ति का अलुक् होता है।।

अमूर्घमस्तकात् स्वाङ्गादकामे ॥६।३।११॥

अमूर्धमस्तकात् १।१।। स्वाङ्गात् १।१।। अकामे ०।१।। स०—मूर्धा व मस्तकञ्च सूर्धमस्तकम्, समाहारो द्वन्द्वः। न भूर्धमस्तकम् अमूर्धमस्तकम् तस्मात् । नव्यत्पुरुषः। न कामोऽकामस्तिस्मन् । नव्यत्पुरुषः॥ श्रृ विज्ञाद् हलदन्तात्, सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे॥ श्रर्थः—मूर्धमस्तक-विज्ञाद् हलदन्तात् स्वाङ्गादुत्तरस्याः सप्तम्या अकाम उत्तरपदेऽलुग्भ-वित्।। उदा०—कण्ठेकालः, उरसिलोमा, उदरेमणिः॥

भाषार्थः—[अमूर्धमस्तकात्] मूर्धन् तथा मस्तक वर्जित हरून्त एवं अदन्त [स्वाङ्गात्] स्वाङ्गवाची शब्दों से उत्तर सप्तमी का [श्रकामे] सन्न काम भिन्न शब्द उत्तरपद रहते अलुक् होता है।। मूर्घा एवं मस्तक दिल्ली स्वाङ्गवाची शब्द हैं, अतः स्वाङ्ग कहने से प्राप्त था 'अमूर्धमस्तकात्' ॥ कि कहकर निषेध कर दिया।। उदाहरणों में सप्तम्युपमानपूर्वपदस्यो० (वा० याः स

बन्धे च विभाषा ॥६।३।१२॥

वन्धे ७१।। च अ० ।। विभाषा १।१।। श्रनु०—हळद्नतात् सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे ।। अर्थः—बन्धशब्द उत्तरपदे हळद्नतादुत्तरस्याः सप्तम्याः विभाषाऽलुग् भवति ।। उदा०—हस्तेबन्धः, हस्तबन्धः। चक्रेबन्धः, वक्रवन्धः।

भाषार्थः—[बन्धे] बन्ध शब्द उत्तरपद रहते [च] भी हलन्त तथा
हिं अदन्त शब्द से उत्तर सप्तमी का [विभाषा] विकल्प करके अलुक्
रे हिता है।। बहुत्रीहि समास में पूर्व सूत्र से नित्य अलुक् प्राप्त था, तथा
तत्पुरुष में नेन्सिद्धबध्नातिषु च (६।३।१८) से निषेध प्राप्त था, उभयत्र
विकल्प कह दिया है।।

तत्पुरुषे कृति बहुलम् ॥६।३।१३॥

तत्पुरुषे ७।१।। कृति ७।१।। बहुलम् १।१।। श्रवु०—सङ्गन्याः, अतुगु-तत्पुरुषे समासे कृदन्त उत्तरपदे बहुलं सप्तम्याः अतुग्-१४ २१० अटाज्यानानसाहता । व्हालवचनादिह न भा कुरुचरः, मद्रचरः ॥

भाषार्थः—[तत्पुरुषे] तत्पुरुष समास में [इति] कृद्न ह रहते [बहुलम्] बहुल करके सप्तमी का अलुक् होता है।। स्तम्कं ह (३।२।१३) से स्तम्बेरमः कर्णेजपः में अच् प्रत्यय हुआ है, तथा हु मद्रचरः में चरेष्टः (३।२।१६) से ट प्रत्यय हुआ है। उपल स (२।२।१९) से तत्पुरुष समास होगा।।

प्रावृट्शरत्कालदिवां जे ॥६।३।१४॥

क

यु

प्रावृट्शरत्कालिद्वाम् ६।३॥ जे ७।१॥ स०-प्रावृट्० इत्येते क द्वन्द्वः ॥ अनु०- सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे ॥ अर्थः-प्रावृट्, शत्। प दिव् इत्येतेषां सप्तम्याः ज उत्तरपदेऽलुग्भवति ॥ उदा०-प्रावृ प्र शरिद्जः, कालेजः, दिविजः ॥

यहाँ से 'जे' की अनुवृत्ति ६।३।१५ तक जायेगी।।

विभाषा वर्षक्षरशरवरात् ॥६।३।१५॥

विभाषा १।१॥ वर्षक्षरशरवरात् १।१॥ स०—वर्ष० इत्यत्र सि द्वन्द्वः ॥ अनु०—जे, सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे ॥ अर्थः—वर्षे, सि वर इत्येतेभ्य उत्तरस्याः सप्तम्या ज उत्तरपदे विभाषाऽलुमा उदा०-वर्षेजः, वर्षजः। क्षरेजः, क्षरजः। शरेजः, शरजः। वरेजः, अ

भाषार्थः—[वर्षक्तरशरवरात्] वर्ष, क्षर, शरजः। वरणः क्ष्यं कित्य सप्तमी का ज उत्तरपद् रहते [विभाषा] विकल्प से अनुक् कित्व तत्पुरुषे कृति (६।३।१३) से नित्य अनुक् प्राप्त था विकल्प कि पूर्ववत् ड प्रत्यक उदाहरणों में जानें।।

यहाँ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति ६।३।१७ तक जायेगी।

भा

H

, श्र

घकालतनेषु कालनाम्नः ॥६।३।१६॥

व वकालतनेषु ७।३॥ कालनाम्नः ५।१॥ स०—घकाल० इत्यत्रेतरेतरपक्षि हुन्द्रः। कालस्य नाम कालनाम तस्मात् ' 'षष्टीतत्पुरुषः॥ अनु०—
प्राकृ विभाषा, सप्तम्याः, अनुगुत्तरपदे॥ अर्थः—कालनाम्न उत्तरस्याः
सप्तम्याः घसंज्ञके प्रत्यये कालशब्दे तनप्रत्यये च परतो विभाषाऽ
नुग्भवति॥ उदा०—घ—पूर्वाह्वेतरे, पूर्वाह्वतरे, पूर्वाह्वतमे।
काल—पूर्वाह्वेकाले, पूर्वाह्वकाले। तन—पूर्वाह्वेतने, पूर्वाह्वतने॥

भाषार्थः—[कालनाम्नः] काल के नामवाची शब्दों से उत्तर सप्तमी का [घकालतनेषु] घसंज्ञक प्रत्यय, काल शब्द तथा तन प्रत्यय के उत्तरत्रात्। पद रहते विकल्प करके अलुक् होता है ।। तरप् तमप् घसंज्ञक (१।१।२१)
प्रत्यय हैं, तथा तन से तुद् आगम सिंहत ट्यु ट्युल् प्रत्यय (४।३।२३)
लिये गये हैं । अह्नः पूर्व पूर्वोह्नः यहाँ पूर्वीपरा० (२।२।१) से समास तथा राजाहः सिंख० (५।४।६१) से समासान्त टच् प्रत्यय, तथा श्रह्नोऽह एतेम्यः (५।४।८८) से अह्न आदेश एवं श्रहोऽदन्तात् (८।४।७)
से णत्व हुआ है । पश्चात् अनयोरेषु चातिशयेन पूर्वाह्व पूर्वाह्व तरे
(४०१) तथा पूर्वाह्व तमे (७।१) तरप् तमप् प्रत्यय होकर बनेंगे ।। तरप् तमप् स्वार्थिक प्रत्यय हैं, अतः प्रातिपदिकगत सप्तम्यर्थ दर्शाने के लिये तरप् तमप् प्रत्ययान्त से सप्तमी का उदाहरण दिया है । काल शब्द के साथ समानाधिकरण समास होने से वहां भी सप्तम्यन्त का उदाहरण युक्त है । तन प्रत्ययान्त में सप्तम्यन्त निर्देश साहचर्य से है ॥

शयवासवासिष्वकालात् ॥६।३।१७॥

तुर्म शयवासवासिषु ७।३॥ अकाछात् ४।१॥ स०— शयस्र वासस्र वासी तः, विष्ण शयवासवासिनस्तेषु ः इतरेतरद्वन्द्वः । अकाछादित्यत्र नञ्ततपुरुषः ॥ अ्रेश्वं — विभाषा, सप्तम्याः, अतुगुत्तरपदे ॥ अ्र्यंः — शय, वास, वासिन् विष्णे हत्येतेषूत्तरपदे व्वकाछवाचिन उत्तरस्याः सप्तम्या विभाषाऽतुरभवति ॥ विष्णे देवे विष्णे स्त्रायः, खश्यः । श्रामेवासः, श्रामवासः । श्रामेवासी, श्रामवासी ॥

भाषार्थ:—[शयवासवासिषु] शय, वास तथा वासिन शब्दों के जत्तरपद् रहते [श्रकालात्] कालवाचियों से भिन्न शब्दों से उत्तर सप्तमी का

िलं प

स F

या

विकल्प से अलुक् होता है।। अधिकरणे शेतेः (३।२।१५) से हे में अच् प्रत्यय हुआ है।।

नेन्सिद्धवच्नातिषु च ॥६।३।१८॥

न अः।। इन्सिद्धवध्नातिषु ७।३।। च अः।। सः—इन् च बध्नातिश्च इन्सिद्धबध्नातयस्तेषु इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०-सन् अलुगुत्तरपदे ॥ अर्थः -- इन्नन्त उत्तरपदे सिद्धशब्दे वन्नातौ न । सप्तम्या अलुग् न भवति ।। उदाः—इन्—स्थण्डिळशायी, स्थण्डिल सिद्ध—सांकारयसिद्धः, काम्पिल्यसिद्धः । वध्नाति—चक्रबद्धः, नार

भाषार्थः—[इन्सिद्धवध्नातिषु] इन्नन्त, सिद्ध तथा 🕅 प उत्तरपद रहते [च] भी सप्तमी का अलुक् [न] नहीं होता॥ 👣 क क्वति (६।३।१३) से प्राप्त था निषेध कर दिया।। वध्नाति है (क्या॰) धातु से निष्पन्न रूप छिये जायेंगे। उदाहरण में 'बद्ध'ि है, अतः अनिदितां० (६।४।२४) से नकार छोप हो ही जायेगा॥

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ६।३।१९ तक जायेगी।।

स्थे च भाषायाम् ॥६।३।१९॥

स्थे ७११। च अ० ।। भाषायाम् ७११।। श्रनु०—न, सप्तम्याः वि गुत्तरपदे ॥ अर्थः—स्थे चोत्तरपदे भाषायां सप्तम्या अलुग् न म उदाः—समस्थः, विषमस्थः, कूटस्थः, पर्वतस्थः ॥

भाषार्थ:—[स्थे] स्थ शब्द के उत्तरपद रहते [च] भी भि भाषा विषय में सप्तमी का अलुक् नहीं होता है।। पूर्ववर्त क निषेध कर दिया।।

पष्टचा आक्रोशे ॥६।३।२०॥

षष्टचाः ६।१॥ आक्रोज्ञो ७।१॥ अनु०—अलुगुत्तरपदे॥ आक्रोहो गम्यमाने उत्तरपदे परतः षष्टचा अतुग् भविति॥ चौरस्यकुलम्, वृषलस्यकुलम्।।

भाषार्थः—[त्राकोशे] आकोश गम्यमान होने पर उत्तीत्र रहते [षष्ठ्याः] षष्ठी विभक्ति का अलुक् होता है।। चौर्यक्र अलुक् होता है।। चौर्यक्र अलुक् चोर का कुल है, ऐसा कहकर आक्रोश प्रकट किया जा रही है।

२१३ं

षष्टोऽध्यायः

यहाँ से 'षष्ठचाः' की अनुवृत्ति ६।३।२३ तक तथा 'त्राकोशे' की ६।३।२१ तक जायेगी।।

पुत्रेऽन्यतरस्याम् ॥६।३।२१॥

पुत्रे ७।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ अनु०-- षष्टचा आक्रोक्रो, अलुगु-क्तरपदे ।। अर्थः—पुत्रराब्द उत्तरपद आक्रोद्ये गम्यमाने विकल्पेन पष्टया व अतुग् भवति ।। उदा० - दास्याःपुत्रः, दासीपुत्रः । वृषल्याःपुत्रः, ण्डिल वृपलीपुत्रः ॥

भाषार्थः [पुत्रे] पुत्र शब्द उत्तरपद रहते आक्रोश गम्यमान होने ॥ ^इ पर [अन्यतरस्याम्] विकल्प करके षष्टी का अलुक् होता है ॥ 'दासी । । व का पुत्र है' ऐसा कहकर आकोश प्रकट किया जा रहा है ।।

ऋतो विद्यायोनिसंबन्धेभ्यः ॥६।३।२२॥

ऋतः ५।१।। विद्यायोनिसंबन्धेभ्यः ५।३।। स०—विद्या च योनिश्च विद्यायोनी, इतरेतरद्वन्द्वः । विद्यायोनिकृतः सम्बन्धो येषां ते विद्यायोनिन सम्बन्धास्ते भ्यः "बहुत्रीहिः ॥ अनु - पष्टचाः, अलुगुत्तरपदे ॥ अर्थः -विद्यासंबन्धवाचिभ्यो योनिसंबन्धवाचिभ्यस्य ऋकारान्तेभ्य उत्तरस्याः पष्ठ्या अलुग् भवति ।। उदा०—विद्यासम्बन्धवाचिभ्यः—होतुरन्तेवासी त भ पितुरन्तेवासी । योनिसंबन्धवाचिभ्यः—होतुःपुत्रः, पितुःपुत्रः॥

माषार्थ:- [विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः] विद्यासंबन्धवाची अर्थात् विद्या मिन हित संबन्ध है जिनका एवं योनिकृत संबन्ध है जिनका तद्वाची [ऋतः] क्त में मिकारान्त शब्दों से उत्तर षष्टी का उत्तरपद परे रहते अलुक् होता है।। होता का शिष्य' यहाँ होता से शिष्य का विद्याकृत संबन्ध है तथा 'होता का पुत्र' यहाँ योनिकृत संबन्ध है । इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी जाने।।

यहाँ से 'ऋतः' की अनुवृत्ति ६।३।२३ तक तथा 'विद्यायोनिसंब-।। विषेम्णः की ६।३।२४ तक जायेगी।।

विभाषा स्वसृपत्योः ॥६।३।२३॥

विभाषा १।१॥ स्वस् पत्योः ७।२॥ स०—स्वसा च पतिश्च स्वस्पती विभाषा १।१॥ स्वस्त्रपत्योः ७।२॥ स०—स्वसा प्राप्तः, षष्ठ्याः, षष्ठ्याः, षष्ठ्याः, प्राप्तः ।। श्रनु०—ऋतो विद्यायोनिसंबन्धेः स्यः, षष्ठ्याः, क्षिअलुगुत्तरपदे ॥ अनु०—ऋता विद्यायोनिसंब-३॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

[हें पादः] से है

च हि

चारा

ति से द्ध:'ह II II

11 3

[]

न्धवाचिभ्य ऋकारान्तेभ्य उत्तरस्याः पष्टचा विकल्पेनालुग् उदाः—मातुःष्वसा, मातुःस्वसा, मातृष्वसा। पितुःष्वसाः, पितः पितृष्वसा । दुहितु:पति:, दुहितृपति: । ननान्दु:पति:, ननान्ते

भाषार्थ: -[स्वस्पत्योः] स्वस् तथा पति शब्द के इत्तरपद हां तथा योनिसंबन्धवाची ऋकारान्त शब्दों से उत्तर पष्टी का विकल्प से अलुक् होता है।। मातुः व्यसा, मातुः स्वसा आदि में से पत्व मातुःपितुभ्यां० (८।३।८५) से होता है, तथा मातृष्का ष्वसा में नित्य षत्व मातृपितृभ्यां (८१३१८४) से हुआ है।। सा त पति शब्द के उत्तरपद रहते विद्यासंबन्धवाची उदाहरण संव नहीं, अतः केवल योनिसंबन्धवाची के उदाहरण दिये गये हैं॥

आनङ् ऋतो द्वन्द्वे ॥६।३।२४॥

आनङ् १११॥ ऋतः ६११॥ द्वन्द्वे ७११॥ ऋतुः—विद्यायोन्ति हे भ्यः, उत्तरपदे ॥ अर्थः—ऋकारान्तानां विद्यायोनिसम्बन्धवानि द्वन्द्वस्तत्र पूर्वपदस्यानङ् आदेशो भवत्युत्तरपदे परतः॥ व विद्यासम्बन्धवाचिभ्यः — होतापोतारी, नेष्टोद्गातारी, प्रशासाप्रविद योनिसम्बन्धेभ्यः-मातापितरौ, याताननान्द्रौ॥

भाषार्थः—[ऋतः] ऋकारान्त विद्या तथा योनि सम्बन्धवार्वः के [इन्द्रे] इन्द्र समास में उत्तरपद् परे रहते [आनङ्] आनर् होता है ॥ होतापोतारौ यहाँ पूर्वपद होतृ के अन्त्य अल् । 'ऋ' के स्थान में आनङ् होकर 'होत् आनङ् पोह और पोतारी' रहा । नलोप:० (=1२।७) से नकार छोप होकर होतापे हैं गया। पोतृ को 'औं' परे रहते ऋतो किसर्वः (अ३।११०)है हि रपरत्व तथा अपनृन्तृच् (६।४।११) से दीर्घ हो ही जायेगा।

यहाँ से 'आनड्' की अनुवृत्ति ६।३।२५ तक जायेगी॥

देवताद्वनद्वे च ॥६।३।२५॥

देवताद्वन्द्वे ७।१॥ च अ०॥ स०—देवतानां द्वन्द्वः स्तिस्मन् "" षष्ठीतत्पुरुषः ॥ श्रनु - आनङ्, उत्तरपदे ॥ देवतावाचिनां यो द्वन्द्वस्तत्रोत्तरपदे पूर्वपदस्यानङादेशे **४दा० - इन्द्रावरुणौ, इन्द्रासोमौ, इन्द्राबृह**स्पती ॥

[वादः]

म कि

सं में

11

प्रिविह

वार्व

H

ग्भा भाषार्थ:-[देवताइन्हें] देवतावाची शब्दों के द्वन्द्र समास में चि भी उत्तरपद परे रहते पूर्वपद को आनङ् आदेश होता है।। सिद्धि गुर्ववत् जानें।। इन्द्र वरुणादि शब्द देवतावाची हैं।। द् रहें

यहाँ से 'देवताद्वन्द्वे' की अनुवृत्ति ६।३।३० तक जायेगी।।

ईदग्नेः सोमवरुणयोः ॥६।३।२६॥

ईत् १।१।। अग्नेः ६।१।। सोमवरुणयोः ७।२।। स०—सोम० इत्यन्ने-तृष्वम्। ॥ स तरेतरद्वन्द्वः ॥ श्रनु ० — देवताद्वन्द्वे, उत्तरपदे ॥ श्रर्थः — देवताद्वन्द्वे सोम ण सं वरुण इत्येतयोरुत्तरपद्योरग्नेरीकारादेशो भवति ॥ उदा० अग्नीषोमौ, अग्नीवरुणौ ॥

भाषार्थः—देवतावाची द्रन्द्र समास में [सोमवरु स्यो:] सोम तथा वरुण शब्द उत्तरपद रहते [अग्ने:] अग्नि शब्द को [ईत्] ईकारादेश वोति होता है ।। पूर्ववत् अन्त्य अल् को ईकारादेश होता है ।। श्रग्नेः स्तुत्स्तो-व्या^{ति} मसोमाः (८।३।८२) से अग्नीषोमौ में षत्व होता है।।

यहाँ से 'श्रग्ने:' की अनुवृत्ति ६।३।२७ तक जायेगी।।

इद् वृद्धौ ॥६।३।२७॥

इत् १।१॥ वृद्धौ ७।१॥ अनुः—अग्तेः, देवताद्वन्द्वे, उत्तरपदे॥ विवताद्वन्द्वे कृतवृद्धावुत्तरपदे ऽग्नेरिकारादेशो भवति ॥ उदा०— (आग्निवारुणीम् अनड्वाहीमालभेत । आग्निमारुतं कर्म कियते ॥

औ= भाषार्थ: - देवताद्वन्द्व में [वृद्धौ] वृद्धि किया हुआ शब्द् उत्तरपद में तार्प हो तो अग्नि शब्द को [इत्] इकारादेश होता है।। वृद्धि से यहाँ वृद्धि (०) है किया हुआ शब्द छिया गया है ।। अग्नीवरुणी देवते अस्य ऐसा विप्रह करके सास्य देवता (४।२।२३) से अण् प्रत्यय होकर आग्निवारणीम् बना है। देवताद्वन्द्वे च (७।३।२१) से यहाँ उभयपद्वृद्धि होती है। हीप् प्रत्यय टिड्ढाण्यञ्० (४।१।१५) से हो ही जायेगा। ईदग्ने:० (६।३।२६) से ईत्व प्राप्त था, तद्पवाद है। इसी प्रकार आग्निमारुतम् में जानें ॥ यहाँ ६।३।२५ से आनङ् प्राप्त था, तदपवाद है ॥

दिवो यावा ॥६।३।२८॥

द्विः ६।१॥ द्यावा १।१॥ श्रनु०—द्वताद्वन्द्वे, उत्तरपदे ॥ अर्थः—

मा

इि

भव

छ

पित्

(0

सम

भाषि

गमन

पुरव

ऊङ

बोरि

ि पा देवताद्वन्द्व उत्तरपदे परतो दिव् इत्येतस्य द्यावा इत्ययमादेशो का उदा०- द्यावाक्षामा, द्यावाभूमी ।।

भाषार्थः—देवताद्दन्द्व में उत्तरपद् परे रहते पूर्वपद् [दिनः] आ शब्द को [द्यावा] द्यावा आदेश होता है।। अनेकाल्शित्० (१११॥) अर सम्पूर्ण दिव के स्थान में 'द्यावा' आदेश होगा ॥

यहाँ से 'दिवो द्यावा' की अनुवृत्ति ६।३।२६ तक जायेगी॥

दिवसश्च पृथिव्याम् ॥६।३।२९॥

दिवसः १।१।। च अः।। पृथिव्याम् ।।१।। श्रनुः-दिवोः देवताद्वन्द्वे, उत्तरपदे ॥ अर्थः - पृथिव्यामुत्तरपदे देवताद्वर्दे दिवस इत्ययमादेशो भवति, चकाराद् द्यावा च॥ उदा०-हि पृथिवयौ, द्यावापृथिवयौ।।

भाषार्थः—[पृथिव्याम्] पृथिवी शब्द उत्तरपद रहते देवताह दिव् शब्द को [दिवस:] दिवस् आदेश होता है [च] तथा क चावा आदेश भी हो जाता है। पूर्ववत् आनङ् प्राप्त था तद्पना 'दिवस' के 'स' में अकार निर्देश, सकार के रुखादि विकारों के अभाव

उषासोषसः ॥६।३।३०॥

उषासा १।१॥ उषसः ६।१॥ श्रनुः—देवताद्वन्द्वे, इतापं न उ श्रथः - उषस् शब्दस्य उपासा इत्ययमादेशो भवति, देवतादृन्द्र वर्ता कत उदाः - उषास्य सूर्यस्य = उषासासूर्यम्, उषासानका ॥ सुपो

भाषार्थः—देवताद्दन्द्व में उत्तरपद परे रहते [उषसः] इपर को [उषासा] उषासा आदेश होता है।। यह भी आनह (क का अपवाद सूत्र है।।

मातरपितराबुदीचाम् ॥६।३।३१॥

मातरिपतरौ १।२॥ उदीचाम् ६।३॥ अर्थः - उदीचामा मतेन मातरिष्वरौ इति निपात्यते । मातृशब्दस्य अरङ् आदेशी नेन भवति ॥

षष्ट्रोऽध्यायः

[हें पादः] 280

भाषार्थ:-[उदीचाम्] उदीच्य आचार्यों के मत में [मातरपितरी] मातरिपतरी यह शब्द निपातन किया जाता है। मार शब्द को अरङ् हो आदेश निपातन से होता है।। ज्ञि (शशायर) से अन्त्य अल् 'ऋ' को शा अरङ् होगा ।।

पितरामातरा च च्छन्दिस ॥६।३।३२॥

पितरामातरा ११२।। च अा। छन्द्सि ७११।। अर्थः — पितरामातरा इति छन्दिस विषये निपात्यते । निपातनेन पूर्वपदस्य अराङ् आदेशो भवति ।।

भाषार्थः—[पितरामातरा] पितरामातरा यह शब्द [च] भी [छन्दिस] वेद विषय में निपातन किया जाता है। निपातन से पूर्वपद पित शब्द को अराङ् आदेश होता है।। उत्तरपद में 'औ' विभक्ति को सुपां सुलुक् (७।१।३९) से आकारादेश एवं मातृ शब्द को ऋतो डि॰ (७।३।११०) से गुण होकर 'पितरामातरा' बन ही जयेगा।।

वो इ

तारू

पवाः

वि

[प्ंवद्भावप्रकरणम्]

स्त्रियाः पुंवद् भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणी-प्रियादिषु ।।६।३।३३।।

स्त्रियाः ६।१।। पुंचत् अः।। भाषितपुंस्कादनूङ् लुप्तषष्टीकम्।। समानाधिकरणे ७।१॥ स्त्रियाम् ७।१॥ अपूर्णीप्रियादिषु ०।३॥ स॰-ता न ऊङ् अनुङ् , नव्तत्पुरुषः । भाषितः पुमान् यस्मिन्नर्थे (समानायामा-व्याचेकिस्मन् प्रवृत्तिनिमित्ते) स भाषितपुंस्कस्तस्मात् वहुत्रीहिः। माषितपुंस्कादन्ड् यस्मिन् स्त्रीशब्दे स भाषितपुंस्कादन्ड्, बहुव्रीहिः। मुणे धातु (२।४।७१) इत्यनेन पद्धम्याः लुकि प्राप्ते निपातनादत्रालु ग्मवति । प्रिया आदिर्येषां ते प्रियाद्यः, बहुव्रीहिः । पूर्णी च प्रियाद्यश्च प्रणीप्रियाद्यः इतरेतरद्भन्द्रः। न पूरणीप्रियाद्यः, अपूरणीप्रियाद्यस्तेषु नञ्तत्पुरुषः ॥ श्रनु - उत्तरपदे ॥ अर्थः - यस्मात् भाषितपुंस्कात् पर उहरू ने कतस्तस्य स्त्रीशब्दस्य पुंशब्दस्येव रूपं भवति, पूर्णीप्रियादिवर्जिते श्रीलिङ्गे समानाधिकरण उत्तरपदे ॥ उदा०—दर्शनीया भार्या यस्य स विविच्यार्थः, रलक्णचूडः, दीर्घजङ्घः ॥

भाषार्थ: —[भाषितपुंस्कादनूङ्] एक ही अर्थ में अर्थात् एक ही

कुर

मार्ग

ऊड

महा

क्र

को

विष्

(0)

ी पा प्रवृत्ति निमित्त को लेकर भाषित = कहा है पुँछिङ्ग को जिस भा प्रशास । नाम स्वास प्राप्त प्राप्त प्रमास के स्थान में पूर्व के स्थान में पूर्व के स्थान में पूर्व के स्थान में पूर्व पुँहिङ्गवाची शब्द के समान रूप हो जाता है, [अपूरणिम तर पूरणी तथा प्रियादिवर्जित [स्वयाम्] स्त्रीलिङ्ग [समानाधिकरणे] स धिकरण उत्तरपद हो तो।।

जिस अर्थ धर्म को लेकर जो शब्द प्रयोग किया जाता है व तपु धर्म उसका प्रवृत्तिनिमित्त होता है, यथा मनुष्यत्व धर्म रहते हैं। स्त्री किसी को मनुष्य कहा गया तो यह मनुष्यत्व धर्म, मनुष्य ह वे प्रवृत्ति का निमित्त है । इसी प्रकार दर्शनीय भायेः यहाँ दर्शनीय ह पुंस प्रवृत्ति का निमित्त दर्शनीयत्व है, इस दर्शनीयत्व अर्थ को लेक्स में दर्शनीय शब्द दर्शनीय, दर्शनीया पुंछिङ्ग एवं स्त्रीलिङ्ग दोनों में कि रूप से प्रयुक्त होता है, अतः समास करने में जो 'समानायाना म्या कस्मिन् प्रवृत्तिनिमित्ते भाषितपुंस्कः' कहा था वह सङ्गत हो ति द्र्यनीया में प्रयुक्त स्त्रीलिङ्ग शब्द द्र्यनीयत्व प्रवृत्ति निमित्त हो भा दर्शनीय रूप में पुंस्त्व को भी कहता है उसी से स्त्रीलिङ्ग में राष् बना है। दर्शनीयत्व प्रवृत्ति दोनों में समान है। ऊङ् न होते है वर्जित है ही, एवं स्त्रीलिङ्ग पूरणीप्रियादिवर्जित समानाधिकण भार्या शब्द उत्तरपद में भी है, अतः दर्शनीया शब्द पीं समान हो गया अर्थात् 'दर्शनीय' शब्द बन गया । इसी प्रकार ह चूडा यस्य स श्लच्णचूडः, दीर्घा जङ्घा यस्य स दीर्घजङ्घः यहाँ भी भार्या, चूडा, जङ्घा को गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य (१।२।४८) से हुन जायेगा।। पूरणी से स्त्रीलिङ्ग वाले पूरण प्रत्ययान्त शब्द लिये तथा 'प्रियादि' गण पठित शब्द हैं ॥

इस सूत्र का सम्पूर्ण विषय प्रत्युदाहरणों से ही स्पष्ट हो प जो कि द्वितीयावृत्ति का विषय है।।

यहाँ से 'स्त्रियाः अनुङ्' की अनुवृत्ति ६।३।४१ तक तथा 'ई ६।३।४० तक एवं 'भाषितपुंस्कात्' की ६।३।४२ तक जायेगी॥

तसिलादिष्वाकुत्वसुचः ॥६।३।३४॥

सिर्लीदेषु ७।३॥ आ अ०॥ कृत्वसुचः ४।१॥ स० आदिर्येषां ते तसिलादयस्तेषुः बहुत्रीहिः ॥ अनु०—ित्रियाः ते हे

相

मि भाषितपुंस्कादनूङ् ।। अर्थः तिसलादिषु कृत्वसुजन्तेषु परेषु भाषित-में पुंस्कादनूङ् स्त्रियाः पुंचद् भवति ॥ उदा०—तस्याः शालायाः = ततः॥ तस्याम् = तत्र । यस्याः = यतः । यस्याम् = यत्र ॥

भाषार्थः [तसलादिषु] तसिलादि प्रत्ययों से लेकर [आकृलसुचः] कृत्वसुच् पर्यन्त कहे गये जो प्रत्यय उनके परे रहते ऊङ् वर्जित भाषि-है ह तपुंस्क स्त्रीशब्द को पुंचत् हो जाता है।। इन उदाहरणों में भी जिन के स्त्रीलिङ्ग सा या शब्दों के रूप में प्रयुक्त तद् यद् शब्द प्रयुक्त हुए हैं, क वे शब्द उसी अर्थ में पुँछिङ्ग में भी प्रयुक्त होते हैं अतः वे भाषित-वक्ष पुंस्क (पुँछिङ्ग को कहनेवाले) हैं । तसिल् से पञ्चम्यास्तसिल् (४।३।७) क्यां में कहा हुआ तसिल् यहाँ लिया गया है, तथा कृत्वसुच् से संख्यायाः में : कियाभ्या० (५१४।१७) में कथित कृत्वसुच् लिया गया है, अतः पश्च-मह म्यास्तितिल् से लेकर संख्यायाः कियाभ्याः तक कहे हुए सभी प्रत्यय हो तिसलादियों से गृहीत है।। पूर्व सुत्र से उत्तरपद परे रहते ही पुंबद्-भाव कहा था, यहाँ उत्तरपद का अभाव होने से अनुत्तरपदार्थ यह ाप् | आरंम्भ है ॥

क्यङ्मानिनोक्च ॥६।३।३५॥

FU क्यङ्मानिनोः ७।२॥ च अ०॥ स० - क्यङ् च मानिन् च क्यङ्-मानिनौ तयोः इतरेतरद्धन्द्वः ॥ अनु०—स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्काद-्रिन्ह, उत्तरपदे ।। अर्थ:—क्यिङ परतो मानिनि च भाषितपुंस्कादनूङ् स्त्रियाः पुंवद् भवति ॥ उदा०—एनी, एतायते, श्येनी, श्येतायते । मानिनि—द्रोनीयमानी अयमस्याः = द्रानीयमानिनीयमस्याः ॥

भाषार्थः — [क्यङ्मानिनोः] क्यङ् तथा मानिन् परे रहते [च] भी उड् वर्जित भाषितपुरक स्त्रीशब्द को पुंवद्भाव हो जाता है।। मानिनि महण यहाँ अस्त्र्यर्थे तथा असमानाधिकरणार्थ है, अतः 'अयमस्याः' भरके पुँल्लिङ्ग का भी उदाहरण दिया है।।

एत रयेत शब्दों से वर्गादनुदात्तात्० (४।१।३६) से डीप् एवं त को न होकर एनी श्येनी बना । अब एनीवाचरित श्येनीवाचरित ऐसा विमह करके कर्तुः क्यङ् सलोपश्च (३।१।११) से क्यङ् होकर अकृत्सार्वः (७।४।२५) से दीघ होकर एतायते श्येतायते बन गया। प्रकृत सूत्र से पुंबद्भाव होने से ङीप् एवं तत्सिन्नयोगिशष्ट नकार हट गया। दर्शनी-

ी पा

दत्त

तत्र अर

हुये

प्रति

220

यामिमां मन्यतेऽयमिति दर्शेनीयमानी । यहाँ मनः (३।२।८२)हे हद घातु से णिनि प्रत्यय हुआ है।। द्त्त गोप

न कोपधायाः ॥६।३।३६॥

न अ० ।। कोपघायाः ६।१।। स० - ककार उपघा यस्याः सा अत था तस्याः ' 'बहुत्रीहिः ।। अनु ० — स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादन्ह्ः दश पदे ॥ अर्थः - भाषितपुंस्कादनूङ् कोपधायाः स्त्रियाः पुंबद्भाः भवति ॥ उदाः - पाचिकाभार्यः, कारिकाभार्यः, वृजिकाभार्यः, व भार्यः । मद्रिकाकल्पा। मद्रिकायते, वृज्ञिकायते । मद्रिकामानिनी, कृ मानिनी ।।

भाषार्थ:—[कोपधायाः] ककार उपधावाले स्त्री शब्द को एंग तहि नि] नहीं होता ।। पूर्व सूत्रों से प्राप्ति थी उन सबका प्रतिषे पुर पाचक कारक ण्वुलन्त शब्दों से टाप् तथा प्रत्ययस्थात् (७११॥ वृह्य इत्व होकर पाचिका कारिका बना । अब यहाँ पाचिका कारिक स्वी पूर्ववत् भाषितपुंस्क हैं, अतः स्त्रियाः पुंवद्भाषितः (६१३।३३) से मार् भाव प्राप्त था, ककार उपधा में होने से प्रकृतसूत्र से निषेध हों मद्रिकाकल्पा में तसिलादिष्वा० (६।३।३४) से पुंबद्भाव प्राप्त्री मद्रिकायते आदि में क्यङ्मानिनोश्च से प्राप्त था, निषेध है अर्थ मद्रवृज्योः कन् (४।२।१३०) से मद्रिका वृज्ञिका में कन् प्रत्यय हुन णित

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ६।३।४० तक जायेगी॥

संज्ञापूरण्योश्च ॥६।३।३७॥

संज्ञापूरण्योः ६।२॥ च अ०॥ स०—संज्ञा० इत्यत्रेतरेता अनु०—न, स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्काद्नूङ्, उत्तरपदे ॥ अर्थः पूरण्याश्च भाषितपुंस्काद्नूङ् स्त्रियाः पुंवद्भावो न भवित्। दत्ताभायः गुप्ताभायः, दत्तापाशा गुप्तापाशा, दत्तायते द्त्तामानिनी गुप्तामानिनी । पूरण्याः—पञ्चमीभार्यः दश्मीभार्यः पाशा दशमीपाशा, पञ्चमीयते दशमीयते, पञ्चमीमार्यः दशमीमार्थः वित

भाषार्थः—[संज्ञापृरययोः] संज्ञावाची तथा पूरणी प्रत्ययान पुंस्क स्त्री शब्दों को [च] भी पुंचद्भाव नहीं होता।। पूर्ववर्त

[पादः]

द्भाः

हैं ह्वाहरणों में पूर्वसूत्रों से पुंबद्भाव प्राप्त था, निषेध कर दिया।। दत्ता गुप्ता में किच्की० (३।३।१७४) से क प्रत्यय हुआ है। दत्तादिति दत्तः गोपायताद् इति गुप्तः। स्त्रीलिङ्ग में टाप् होकर दत्ता गुप्ता बने। दत्तः दत्ता, गुप्तः गुप्ता दोनों में प्रशृत्तिनिमित्त दान और गोपन एक ही है, सा अतः दत्ता गुप्ता भाषितपुंस्क शब्द हैं। इसी प्रकार पद्धमः पद्धमी है, दशमः दशमी में पद्धमत्व दशमत्व प्रशृत्ति का निमित्त समान है।

वृद्धिनिमित्तस्य च तद्धितस्यारक्तविकारे ।।६।३।३८॥

वृद्धिनिमित्तस्य ६।१॥ च अ०॥ तद्धितस्य ६।१॥ अरक्तविकारे ७।१॥ स० — वृद्धेनिमित्तं यस्मिन् स वृद्धिनिमित्तस्तद्धितस्तस्यः वहुत्रीहिः। रक्तं च विकारस्य रक्तविकारं न रक्तविकारमरक्तविकारं वहुत्रीहिः। रक्तं च विकारस्य रक्तविकारं न रक्तविकारमरक्तविकारं प्रकादनुङ्, उत्तरपदे॥ अर्थः— अरक्तेऽर्थेऽविकारे चार्थे यो विहितो वृद्धिनिमित्तस्तद्धितस्तद्नतस्य स्त्रीशब्दस्य पुंवद् न भवति॥ उदाः— स्त्रीष्ट्वीभार्यः, माधुरीभार्यः, स्त्रौद्वीपाशा, माधुरीपाशा, स्त्रौद्वीयते, स्त्रोद्वीमानिनी, माधुरीमानिनी॥

भाषार्थः—[वृद्धिनिमित्तस्य] वृद्धि का निमित्त = कारण है जिस विद्वितस्य] तिद्धित में ऐसा तिद्धित यि [श्वरक्तावकारे] रक्त तथा विकार अर्थ में न विहित हो तो तदन्त स्त्री शब्द को [च] भी पुंवद्भाव नहीं होता ॥ पूर्ववत् प्राप्ति थी, प्रतिषेध कर दिया ॥ वृद्धि के निमित्त वित् णित् तथा कित् (७१२।११६) प्रत्यय ही हैं । स्त्रीहनी, माथुरी शब्दों में तत्र भवः (४१३।५३) से वृद्धि निमित्तक अण् तिद्धित प्रत्यय हुआ है । अरक्तिविकार अर्थ में विहित है ही, अतः टिड्ढाण्वि (४।११६) से हुये डीप् प्रत्ययान्त शब्दों को पुंवद्भाव प्राप्त था, प्रकृत सूत्र से प्रतिषेध हो गया ॥

स्वाङ्गाचेतः ॥६।३।३९॥

स्वाङ्गात् ५।१॥ च अ०॥ ईतः ६।१॥ अनु०—न, स्त्रियाः पुंवद्भा-श्रितपुंस्कादनूङ्, उत्तरपदे॥ अर्थः— स्वाङ्गादुत्तरो य ईकारस्तदन्तायाः स्त्रियाः न पुंवद् भवति॥ उदा०—दीर्घकेशीभार्यः, दीर्घकेशीपाशा, रह्मणकेशीपाशा, दीर्घकेशीयते, रह्मणकेशीयते॥ भाषार्थः—[स्वाङ्गात्] स्वाङ्गवाची शब्द से उत्तर [त] है, दितः] ईकार तदन्त स्त्रीशब्द को पुंवद्भाव नहीं होता ॥ दीर्षके (४। में स्वाङ्गाचोपसर्जनाद० (४।१।५४) से डीष् हुआ है ॥ यर

जातेश्व ॥६।३।४०॥

घर

ब्राह्म

जातेः ६।१॥ च अ० ॥ श्रनु०—न, स्त्रियाः पु'वद्भाषितपुंका उत्तरपदे ॥ अर्थः—जातेश्च स्त्रियाः पु'वद् न भवति॥ उत्तर-कठीभायः, बह्नृचीभायः, कठीपाशा, बह्नृचीपाशा, कठीयते, बहुर्गं अच्

भाषार्थः—[जातेः] जातिवाची स्त्रीलिङ्ग शब्दों को जिन्ह पुंवद्भाव नहीं होता।। कठ तथा बह्न्च शब्दों से जाते। बिह्न (४।१।६३) से ङीप् हुआ है।।

पुंवत् कर्मधारयजातीयदेशीयेषु ।।६।३।४१॥

पुंचत् अ० ॥ कर्मधारयज्ञातीयदेशीयेषु ७।३॥ स०-क्रिं इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु० – स्त्रियाः भाषितपुं स्कादन्द्वः ॥ अनु० – स्त्रियाः भाषितपुं स्कादन्द्वः ॥ अन्य कर्मधारये समासे जातीय देशीय इत्येतयोश्च प्रत्यययोः पतः स्व, पुंस्कादन्द्वः स्त्रियाः पुंचद् भवति ॥ प्रतिषेधार्थोऽयमारस्भः ॥ व सं न कोपधाया इत्युक्तं तत्रापि भवति — पाचकवृन्दारिका, पाचकविष्ठाया ॥ संज्ञापूरएयोश्चेत्युक्तं तत्रापि भवति — दत्तवृत्वः । दत्तजातीया । स्वापूरएयोश्चेत्युक्तं तत्रापि भवति — द्वाप्तिः । पद्धमवृन्दारिका, पद्धमवृत्वः । पद्धमवृन्दारिका, पद्धमविष्ठः । पद्धमवृन्दारिका, पद्धमविष्ठः । पद्धमवृन्दारिका, पद्धमविष्ठः । पद्धमवि

मावार्थः—[क्रमंघा चेषु] कर्मधारय समास में तथा जाती देशीय प्रत्ययों के परे रहते ऊङ्वर्जित भाषितपुंस्क स्त्री शब्द के हि।श पुंवद्भाव हो जाता है।। कर्मधारय समास में स्त्रियाः पुंवद्भाविः पुंवद्भाव प्राप्त था तथा जातीय देशीय प्रत्ययों के परे रहते ही लादिष्वा (६।३।३४) से प्राप्त था ही, पुनर्वचन न कोपधायाः जातेश्च तक जितने प्रतिषेध वचन कहे हैं, उनमें भी कर्मधार्य परे एवं जातीय देशीय प्रत्ययों के परे रहते पुंवद्भाव प्राप्त हो जाये हैं प्राप्त के परे रहते पुंवद्भाव प्राप्त हो जाये हैं

भी

1

र] है, जैसा कि उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट ही है।। प्रकारवचने जातीयर किं(पाशह९) से जातीयर प्रत्यय तथा ईषदसमाप्ती (४।३।६७) से देशी-यर प्रत्यय होता है।।

व्हपकरपचेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु ङ्योनेकाचो हस्यः ॥६।३।४२॥

क्षः घरूपः तेषु ७।३॥ ङचः ६।१॥ अनेकाचः ६।१॥ हस्वः १।१॥ हाँ अच् यस्मिन् स अनेकाच् , तस्य ' 'बहुव्रीहि: ।। श्रनु ० — भाषितपुंस्कात् , िं इत्तरपदे ।। अर्थ:--भाषितपुंस्कात् परो यो ङीप्रत्ययस्तदन्तस्यानेकाचो विहिस्सो भवति घ रूप कल्प चेलट् ब्रुव गोत्र मत हत इत्येतेषु परतः।। उदाः च न ब्राह्मणितरा ब्राह्मणितमा। रूप न ब्राह्मणिरूपा। कल्प-ब्राह्मणिकल्पा । चेलट् — ब्राह्मणिचेली । ब्रुव — ब्राह्मणिब्रुवा । गोत्र— ब्राह्मणिगोत्रा। मतः—ब्राह्मणिमता। इत—ब्राह्मणिहता।।

क्रम भाषार्थ: भाषितपुंस्क शब्द से उत्तर जो [ङचः] ङी तदन्त [अने-क्षित्रः] अनेकाच् शब्द को [हस्यः] हस्य हो जाता है [घरूपः तेषु] घ, हिंदप, कल्प, चेलट्, ब्रुव, गोत्र. मत तथा हत शब्दों के परे रहते।। घ से । इस संज्ञक तरप् तमप् (१।१।२१) प्रत्यय छिये गये हैं, तथा रूप से रूपप् कर्मप्रत्यय (५।३।६६) एवं कल्प से कल्पप् (५।३।६७) प्रत्यय लिया गया विह । चेलट् आदि शब्द हैं, प्रत्यय नहीं । ब्रुवतीति ब्रुवः यहाँ पचायच् मा हुआ है। चेलट् , बुव, गोत्र शब्द कुत्सार्थवाची हैं, अतः कुत्सितानि विश्वासनी: (२।१।५२) से समास हुआ है। मत, हत में विशेषणं विश २१११५६) से समास हुआ है।। ब्राह्मण शब्द ब्राह्मणत्वरूप प्रवृत्तिनिमित्त को किका पुँछिङ्ग को कहता है, इसिछिये भाषितपुंस्क है, इस तदन्त अनेकाच् से उत्तर ङीप् को प्रकृत सूत्र से हुस्व हो जाता है।।

यहाँ से 'मरूपकल्पचेलड्बुवगोत्रमतहतेषु ह्रस्वः' की अनुवृत्ति विद्विशिष्ठप्र तक जायेगी।।

नद्याः शेषस्यान्यतरस्याम् ॥६।३।४३॥

नद्याः ६।१॥ शेषस्य ६।१॥ अन्यतरस्याम् ०।१॥ श्रद्ध- चरूपक-प्रचेल्ड् ब्रुवगोत्रमतहतेषु, हस्तः, उत्तरपदे ॥ अर्थः — घादिषु परतो नद्याः

[] शेषस्य विकल्पेन हुस्वो भवति ।। अङी च या नदी ङ्यन्तं चक्क स शेषः ॥ उदा० - ब्रह्मबन्धुतरा, ब्रह्मबन्धृतरा । वीरबन्धुता, तरा । स्त्रितरा, स्त्रीतरा, स्त्रितमा, स्त्रीतमा ॥

भाषार्थ: - [नद्याः] नदी संज्ञक [शिषस्य] रोष (पूर्व सुत्रः शब्दों को [अन्यतरस्याम्] विकल्प करके घादियों के परे रहते हैं। है।। पूर्व सूत्र में जिसको हुस्व कहा है उससे जो शेप नदी संक उसे यहाँ हुस्व होगा। पूर्व सृत्र में ङचन्त कहा था अतः यहाँ के से अङ्चन्त जो नदी संज्ञक वे लिये जायेंगे, जैसे 'ब्रह्मवन्धू' क्र वहाँ अनेकाच् कहा था, यहाँ एकाच् ङचन्त शब्द भी शेष इ द्वे ले लिये जायेंगे, जैसे 'स्त्री' शब्द ॥ इसी प्रकार ब्रह्म ब्रह्मबन्धूरूपा आदि कल्प चेलट् ब्रुवगोत्र मत हत के उदाहरण जानने चाहिए।।

यहाँ से 'नद्याः' 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति ६।३।४४ तक क

उगितइच ॥६।३।४४॥

व

त

क

शिष्ठ

डगितः ५।१।। च अ०।। स०—उक् इत् यस्य स डगित्क् बहुत्रीहिः ॥ अनु ० — नद्याः, अन्यत (स्याम् , घरूपकल्पचे उड्हुक हतेषु, इस्वः, उत्तरपदे ॥ अर्थः—उगितः परा या नदी तदनार्थ परतो विकल्पेन हुस्वो भवति ॥ उदा० - श्रेयसितरा, श्रेयसीतरा। तरा, विदुषीतरा ॥

भाषार्थः — [उगितः] उगित् शब्द से परे जो नदी तदन [च] भी घादियों के परे रहते विकल्प करके हस्व होता है। ईयसुन् प्रत्यय हुआ है, अतः यह शब्द उगित् है। जीति उगितश्च (४।१।६) से ङीप् तथा प्रकृत सूत्र से उस ङीप् बेर् जाता है।। इसी प्रकार रूप कल्पादि के भी उदाहरण यहाँ जातते व

आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः ॥६।३।४५॥

आत् १।१॥ महतः ६।१॥ समानाधिकरणजातीययोः समानाः इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ श्रवः—उत्तरपदे ॥ श्रर्थः—मानाः करण उत्तरपदे जानीने — करण उत्तरपदे जातीये च प्रत्यये परतो महत आकारिको एवं उदा॰—महादेव: प्राप्त उदाः — महिद्विः, महाब्राह्मणः, महाबाहुः, महाब्रुः। जातीय आ जातीयः ॥ जातीयः ॥

व यहे

U, A

स्त्रहे

हिंह संब

ıı şi

200

प इ

त्रह्मक

णमं

क जा

तिः

ब्रुवा

7

in!

नेह

भाषार्थः —[समानाधिकरणजातीययोः] समानाधिकरण उत्तरपद रहते तथा जातीय प्रत्यय परे रहते [महतः] महत् शब्द को [आत्] आका-रादेश होता है ।। महादेव: आदि में महान् तथा देव आदि का समाना-धिकरण होने से कर्मधारय समास (२।१।६०) है।।

यहाँ से 'त्रात्' की अनुवृत्ति ६।३।४६ तक जायेगी।।

द्रचष्टनः संख्यायामबहुत्रीह्यशीत्योः ॥६।३।४६॥

द्रयष्टनः ६।१॥ संख्यायाम् ७।१॥ अबहुव्रीह्यशीत्योः ६।२॥ स०— द्दौ च अष्ट च द्व चष्ट, तस्य समाहारद्व द्वः । बहुव्रीहिश्च अशीतिश्च बहुत्रीह्यशीती न बहुत्रीह्यशीती अबहुत्रीह्यशीती तयो: 'द्रन्द्रगभेनव्-तत्पुरुषः ॥ अनु - आत् , उत्तरपदे ॥ अर्थः - द्वि अष्टन् इत्येतयोरा-कारादेशो भवति, संख्यायामुत्तरपदेऽबहुत्रीह्यशीत्योः ॥ उदाः —द्वाद्श, द्वाविंशतिः, द्वात्रिंशत् । अष्टाद्श, अष्टाविंशतिः, अष्टात्रिंशत् ॥

भाषार्थ:—[द्वयष्टन:] द्वि तथा अष्टन् शब्दों को आकारादेश होता है, [संख्यायाम्] संख्या उत्तरपद में हो तो [अबह्वीह्यशीत्योः] बहु-ब्रीहि समास को तथा अशीति उत्तरपद को छोड़कर ।। द्वादश इत्यादि में द्दौ च दश च ऐसा विप्रह करके द्रन्द्र समास हुआ है। अथवा द्वाभ्या-मधिका द्श ऐसा विम्रह करके शाक्षपार्थिवादीना० (वा० २।१।५६) इस वर्तिक से उत्तरपद्छोपी तत्पुरुष समास हुआ है।।

यहाँ से 'संख्यायामबहुत्रीह्यशीत्योः' की अनुवृत्ति ६।३।४८ तक जायेगी ॥

त्रेस्त्रयः ॥६।३।४७॥

त्रे: ६।१॥ त्रयः १।१॥ अनु०—संख्यायामबहुत्रीह्यशीत्योः, उत्तरपदे ॥ त्रर्थं:—त्रि इत्येतस्य शब्दस्य त्रयस् आदेशो भवति, संख्यायामुत्तरपदेऽ-बहुत्रीह्यशीत्योः ॥ उदा०—त्रयोद्श, त्रयोविंशतिः, त्रयस्त्रिशत् ॥

माषार्थ: [त्रे:] त्रि शब्द को [त्रय:] त्रयस् आद्ेश होता है, संख्या 211 वत्तरपद् रहते, बहुव्रीहि समास तथा अशीति को छोड़कर ॥ त्रयस् के सकार को ससजुषो रु: (८।२।६६) से रुत्व हिश च (६।१)११०) से उत एवं श्राद् गुणः (६।१।८४) से पूर्वपर के स्थान में ओकार होकर त्रयोदश आदि प्रयोग बन गये।।

१४

3

7

यहाँ से 'त्रयः' की अनुवृत्ति ६।३।४८ तक जायेगी ॥ विभाषा चत्वारिं शत्त्रभृतौ सर्वेषाम् ॥६।३।४८॥

विभाषा १।१॥ चत्वारिंशत्प्रभृतौ ७।१॥ सर्वेषाम् ६।३॥ हः चत्वारिंशत् प्रभृति यस्य तत् चत्वारिंशत्प्रभृति, तस्मिन् वहुकी श्रनु - संख्यायामबहुत्रीह्यशीत्योः, उत्तरपदे ॥ अथं:—चर्ता प्रभृतौ संख्यायाम्तरपदेऽबहुव्रीह्यशीत्योः सर्वेषाम् द्वचष्टन् विक्र यदुक्तं तद्विभाषां भवति ॥ उदाः—द्विचत्वारिशत्, द्वाचलाः त्रिपञ्चाशत्, त्रयःपञ्चाशत् । अष्टचत्वारिंशत् , अष्टाचत्वारिंशत् । पञ्चारात्, अष्टापञ्चारात्।।

भाषार्थः - [सर्वेषाम्] सबको अर्थात् द्वि अष्टन् तथा त्रि को वे भी कह आये हैं वह [चत्वारिंशत्प्रभृतौ] चत्वारिंशत् आदि संस्याः पद रहते बहुव्रीहि, अशीति की छोड़कर [विभाषा] विकल्प करके है

हृदयस्य हृङ्घेखयदण्ठासेषु ॥६।३।४९॥

हृद्यस्य ६।१॥ हृत् १।१॥ लेखयदण्ठासेषु ७।३॥ स॰-ने इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनुः—उत्तरपदे ॥ अर्थः — हृद्यस्य हृत् देशो भवति लेख, यत् , अण् , लास इत्येतेषु परतः॥ उदाः लिखतीति हृहेखः । यत्–हृद्यस्य प्रियं हृद्यम् । अण्–हृद्यस्ये लास-हृद्यस्य लासो हृहासः ॥

भाषार्थः—[हृदयस्य] हृद्य शब्द को [हृत्] हृत् आदेश हैं [लेखयदर्गतासेषु] लेख, यत्, अण् तथा लास परे रहते॥ अण् प्रत्यय हैं, एवं लेख लास शब्द हैं। हार्दम् यहाँ तस्येदम् (श्री से अण् प्रत्यय हुआ है, एवं हृद्यम् में हृद्यस्य प्रियः (४।४।६५) हुआ है। ह़हासः में तोर्लि (८।४।५६) से त् को ल् हुआ है। ·यहाँ से 'हृदयस्य हृत्' की अनुवृत्ति ६।३।५१ तक जायेगी॥

वा शोकष्यञ्रोगेषु ॥६।३।५०॥

वा अः। शोकव्यव्रोगेषु ७।३॥ स०--शोकः इत्यन्नेतरेत अनु० - हृद्यस्य हृत्, उत्तरपदे ॥ अर्थः - शोक, ध्यम्, परतः हृद्यस्य विकल्पेन हृत् इत्ययमादेशो भवति ॥ उदार्वा हृद्यंशोकः । ज्यन् सौहार्घम्, सौहृद्यम्। रोग हृद्रोकः। रोगः॥ रोगः ॥

[前]

H:

हुवीहि

त्वरि

इंदर

वारिः

1 13

वो

व्या ह

केहे

0-

\$14

10-1

दं ही

T E

या

8131 4) §

11

de

TE

Ti,

भाषार्थ:—[शोकष्यञ्रोगेषु] शोक, ष्यञ् तथा रोग के परे रहते हृद्य शब्द को हृत आदेश [वा] विकल्प करके होता है।। ष्यञ् से प्रत्यय गृहीत है।। शोभनं हृद्यमस्य स सुहृद्यस्तस्यभावः कर्म वा सौहार्धम्, यहाँ सुहृद्य शब्द से गुण्यवचन वा० (५।१।१२३) से ष्यञ् हुआ, तब इस ष्यञ् के परे रहते हृद्य को प्रकृत सूत्र से हृत् आदेश हो गया। हृत् आदेश पक्ष में हृद्गगिसिन्ध्वन्ते० (७३।१९) से उभयपद वृद्धि होती है। जब पक्ष में हृत् आदेश नहीं होगा तो ष्यञ् परे रहते तिहतेष्वचा० (७२।११७) से आदि अच् को वृद्धि हो जायेगी तथा यस्येति च (६।४।१४८) से अकार छोप होगा। हृच्छोकः में स्तोः श्चुना श्चुः (८।४।३६) से तृ को च् तथा शश्छोटि (८।४।६२) से श्र को छ हुआ है।।

पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु ॥६।३।५१॥

पादस्य ६११॥ पद लुप्तप्रथमान्तिनर्देशः ॥ आज्यातिगोपहतेषु जिश्रा स०—आज्या० इत्यत्रेतरेतरद्भन्द्रः ॥ अनु०— उत्तरपदे ॥ अर्थः— पादस्य 'पद' इत्ययमादेशो भवति आजि, आति, ग, उपहत इत्येते-पूत्तरपदेषु ॥ उदा०—पादाभ्यामजतीति = पदाजिः, पादाभ्यामततीति = पदातिः, पादाभ्यां गच्छतीति = पदगः, पादेनोपहतः = पदोपहतः ॥

भाषार्थ:—[पादस्य] पाद शब्द को [पद] 'पद' आदेश होता है, [आव्यातिगोपहतेषु] आजि, आति, ग, उपहत उत्तरपद रहते ॥ आजि, आति में औणादिक (उणा० ४११३१) इण् प्रत्यय हुआ है। यह 'पद' आदेश अकारान्त होता है, अतएव अगले सूत्र में दकारान्त पद् आदेश का विधान किया है।

यहाँ से 'पादस्य' की अनुवृत्ति ६।३।४५ तक जायेगी।।

पद्यत्यतद्थे ॥६।३।५२॥

पद् १।१॥ यति ७।१॥ अतद्र्थे ७।१॥ सः—तस्मै इदम् तद्र्यम्, न तद्र्यम् अतद्र्थे, तस्मिन् "चतुर्थीतत्पुरुषगर्भनञ्तत्पुरुषः॥ अतुः — पाद्स्य, उत्तरपदे॥ अर्थः — अतद्र्थे यति प्रत्यये परतः पाद्स्य 'पद्' कण्टकाः॥ अवित ॥ उदा० — पादौ विध्यन्ति = पद्याः शर्कराः, पद्याः कण्टकाः॥

भाषार्थः [अतद्र्थं] अतद्र्थं [यति] यत् प्रत्यय के परे रहते पाद

पि

शब्द को [पद्] पद् आदेश हो जाता है।। विध्यत्यधनुषा (४।४।४)। पाद शब्द से यत् प्रत्यय हुआ है, पश्चात् 'पाद' को प्रकृत स्वसे आदेश होकर 'पद्याः' बन गया। यह यत् प्रत्यय विध्यति अर्थमें है, अतः अतदर्थ है ही।।

यहाँ से 'पद्' शब्द की अनुवृत्ति ६।३।४५ तक जायेगी॥

हिमकाषिहतिषु च ॥६।३।५३॥

हिमकाषिहतिषु ७।३।। च अ० ।। स०—हिमं च काषी च हिमकाषिहतयस्तासु दिन्देतरहुन्द्वः ।। अनु०—पद्, पादस्य, उत्तार्षे अर्थः—हिम, काषिन्, हित इत्येतेषूत्तरपदेषु पाद्शब्दस्य पिक् मादेशो भवति ।। उदा०—पद्धिमम्, अथ पत्काषिणो यान्ति, पाइन्यते = पद्धतिः ।।

भाषार्थः — [हिमकाषिहतिषु] हिम, काषिन, हित इनके उत्तरणा [च]भी पाद शब्द को पद् आदेश होता है।। पादस्य हिमं शीतं = पि में षष्टीसमास है, तथा ह को ध् स्त्रयो होऽन्यतरस्याम् (८।४।६। पूर्वसवर्णादेश होने से हुआ है। पादी कषन्तीति पत्कािषणः में जाती० (३।२।७८) से णिनि तथा खरि च (८।४।५४) से द् हुआ है।।

ऋचः शे ॥६।३।५४॥

ऋचः ६।१॥ शे ७।१॥ अनु०—पद्, पाद्स्य, उत्तरपदे॥ अस् ऋक्सम्बन्धिनः पाद्शब्द्स्य शे परतः पद् इत्ययमादेशो अस् उदा॰—पच्छो गायत्री शंसति॥

भाषार्थः—[ऋचः] ऋचा सम्बन्धी पाद शब्द को [शे] । रहते पद् आदेश होता है ॥ शस् प्रत्यय का अवयवभूत जो श्वं अयहाँ श्रहण है । पच्छः में सङ्ख्यैकवचनाच वीप्सायाम् (प्राप्ति विकास प्रत्यय हुआ है । शचुत्व होकर त् को च् तथा शश्बोऽि (दी कि के ख़त्व होकर पच्छः बनता है ॥ गायत्री ऋचा सम्बन्धी पिं कर स्थान में यहाँ पद् आदेश हुआ है ॥

वा घोषमिश्रश्च देषु ।।६।३।५५॥ वा अ०॥ घोषमिश्रश्च देषु ७।३॥ स०—घोष० इत्यत्रेतरेतर्य अनु०—पद्, पादस्य, उत्तरपदे ॥ अर्थः—घोष, मिश्र, शब्द, इत्री

1(3):

त्र से द हैं में हु

न हो

त्तरप

पहिल् पहिल

रपहर

=पिं श्राहा

में ई

द्

W.

ST E

8/8

CIN

पदेषु पाद्शब्दस्य पदित्ययमादेशो भवति ।। उदा०—पद्घोषः, पाद्-घोषः । पन्मिश्रः, पाद्मिश्रः । पच्छब्दः, पाद्शब्दः ।।

माधार्थः—[घोषिमिश्रशब्देषु] घोष, मिश्र तथा शब्द उत्तरपद रहते पाद शब्द को [वा] विकल्प करके पद् आदेश होता है।। घोष तथा शब्द के साथ पाद शब्द का षष्टीसमास है, तथा मिश्र के साथ पूर्व-सहरा० (२।१।३०) से तृतीया समास है, ऐसा जानें।। पच्छब्दः में पूर्ववत् सन्धिकार्य है, एवं पन्मिश्रः में त् को न् यरोऽनुनासिकै० (८।४।४४) से हुआ है।।

उदकस्योदः संज्ञायाम् ॥६।३।५६॥

उद्कस्य ६।१॥ उदः १।१॥ संज्ञायाम् ७।१॥ अनु०—उत्तरपदे॥ अर्थः—उद्कशब्द्स्य 'उद्' इत्ययमादेशो भवति, संज्ञायां विषय उत्तरपदे परतः॥ उदा०—उद्मेघो नाम, यस्य औद्मेघिः पुत्रः। उद्वाहो नाम, यस्य औद्वाहिः पुत्रः॥

भाषार्थ:—[उदकस्य] उदक शब्द को [उदः] उद आदेश होता है [संज्ञायाम्] संज्ञा विषय में, उत्तरपद परे रहते।। उदमेघ, उदबाह ये किसी व्यक्ति के नाम हैं। यहाँ उदक को उद आदेश हुआ है। उदमेघः यहाँ षष्टीसमास है, तथा उदकं वहतीति उदवाहः यहाँ उपपद तत्पुरुष समास है।।

यहाँ से 'उदकस्योदः' की अनुवृत्ति ६।३।४९ तक जायेगी।।

पेषंवासवाहनिधषु च ॥६।३।५७॥

पेषंवासवाहनधिषु ७।३॥ च अ०॥ स०—पेषं० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—उद्कस्योदः, उत्तरपदे॥ श्रर्थः—पेषं, वास, वाहन, धि इत्येतेषु वोत्तरपदेषु उद्कशब्दस्य उद् इत्ययमादेशो भवति॥ उदा०—उद्पेषं पिन्षि । वास—उद्कस्य वासः = उद्वासः। वाहन—उद्कस्य वाहनः = उद्वाहनः। धि—उद्वं धीयतेऽस्मिन् = उद्धिः॥

१ श्रोदमेघि कौदवाहि नाम के व्यक्तियों को देखकर ज्ञात होता है कि उनके पिता का नाम उदमेघ खौर उदवाह था, यह उदाहरणों का भाव है।

भाषार्थः — [पेषंवासवाहनधिषु] पेषं, वास, वाहन तथा विक उत्तरपद रहते [च] भी उदक को उद आदेश होता है।। 'पेष' में पिषः (३।४।३८) से णमुल् प्रत्यय हुआ है। उद्धिः यहाँ कर्मएयकि च (३।३।९३) से उदक उपपद रहते था थातु से कि प्रत्यय हुआ धा के आ का छोप आतो लोप इटि च (६१४।६४) से हो ही जावे

एकहलादौ पूरियतव्ये ऽन्यतरस्याम् ॥६।३।५८॥

एकहळादौ ७।१।। पूर्यायतच्ये ७।१।। अन्यतरस्याम् ७।१॥ ह एको हुळ् आदिर्यस्य स एकह्लादिस्तस्मिन् *** 'त्रिपदबहुनी अनु - उद्कस्योदः, उत्तरपदे ॥ अर्थः - पूर्यितव्यवाचिन्येकहलतः पदे विकल्पेनोदकशब्दस्य उद इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०-उद्ध उद्ककुम्भः । उद्पात्रम् , उद्कपात्रम् ।

भाषार्थः — [पूर्रायतच्ये] जिसको पूर्ण (भरा) किया जाना च तद्वाची [एकहलादी] एक = असहाय हळ् है आदि में जिसे शब्द के उत्तरपद रहतं [अन्यतरस्याम्] विकल्प करके उदक आदेश होता है।। एक शब्द यहाँ सङ्ख्यावाची न होकर असहब है, सो अर्थ होगा असहाय अर्थात् तुल्यजातीयक कोई और हर में न हो एक अकेला ही हल् आदि में हो। पूरियतन्य अर्थात् पूर् जाने योग्य, सो उद्दुम्भ: में कुम्भ शब्द पूर्यितव्य एक हल् आर्व भी है, अतः विकल्प से उदक को उद आदेश हो गया।।

यहाँ से 'श्रन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति ६।३।६० तक जायेगी॥

मन्थौदनसक्तुविन्दुवज्रभारहारवीवधगाहेषु च ॥६।३॥५

मन्थौ हेषु ७१३॥ च अ०॥ स०—मन्थौ० इत्यनेतर्रिक अनु०-अन्यतरस्याम्, उद्कस्योदः, उत्तरपदे ॥ अर्थः-प्रत्या सक्तु, बिन्दु, वज्र, भार, हार, वीवध, गाह इत्येतेषूत्रपदेषूत्र इत्ययमादेशो विकल्पेन भवति ॥ उदा०—उद्केन मन्थः = उद्मित्री मन्थः । उद्केनीद्नः = उद्दौद्नः, उद्कौद्नः । उद्केन सक्तुः = उद्दौद्नः । उद्केन सक्तुः = उद्दौद्नः । उद्करक्तुः। उद्कर्म बिन्दुः = उद्बिन्दुः, उद्कबिन्दुः। उद्कर्म ख्द्वफ्रः, खद्कव्फः। खद्कं विभित्तं = खद्भारः, खद्कमा [0

वे शब

节府

(यिक

हुआ जाये

|| सः हुन्नीह

अदाव

उद्दुः

चा चा

कर

हिंबि

EQ. TO

गरि

1

149

ताहर

TRIP

217

उद्भा

gl

हरति = उदहारः, उदकहारः । उदकस्य वीवधः = उदवीवधः, उदकवीवधः । उदकं गाहते = उदगाहः, उदकगाहः ॥

भाषार्थः—[मन्थौ ••••• हेषु] मन्थ, ओदन, सक्तु, बिन्दु, बज्ज, भार, हार, वीवध, गाह इन शब्दों के उत्तरपद रहते [च] भी उदक की उद आदेश विकल्प करके होता है ॥

इको हस्वोऽङ्यो गालवस्य ॥६।३।६०॥

इकः ६।१।। ह्रस्वः १।१।। अङ्यः ६।१।। गालवस्य ६।१।। स० न डी अङी, तस्य अङ्यः, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु० — अन्यतरस्याम्, उत्तरपदे॥ अर्थः — अङ्यन्तस्येगन्तस्योत्तरपदे ह्रस्वो भवति विकल्पेन गालवस्या-चार्यस्य मतेन ॥ उदा० — प्रामणिपुत्रः, प्रामणीपुत्रः । ब्रह्मबन्धुपुत्रः, ब्रह्मबन्धूपुत्रः ॥

भाषार्थः—[ग्रङ्यः] डी अन्त में नहीं है जिसके ऐसा जो [इकः] इक् अन्त वाला शब्द उसकी [गालवस्य] गालव आचार्य के मत में विकल्प से [हस्वः] हुस्व होता है, उत्तरपद परे रहते।। प्रामणी तथा ब्रह्मबन्धू शब्द इगन्त एवं अङ्यन्त हैं, अतः हुस्व हो गया है।।

यहाँ से 'हस्वः' की अनुवृत्ति ६।३।६५ तक जायेगी।।

एक तद्धिते च ॥६।३।६१॥

एक लुप्तषष्ट्यन्तिनर्देशः ॥ तद्धिते ७।१॥ च अ०॥ अनु०—हस्तः, उत्तरपदे ॥ अर्थः – एकशब्दस्य तद्धिते उत्तरपदे च परतः हस्त्रो भवति ॥ उदा०—एकस्याः भावः एकत्वम्, एकता । उत्तरपदे—एकस्याः क्षीरम् एकक्षीरम्, एकदुग्धम् ॥

भाषार्थ:—[एक] एक शब्द को [ति इते] ति इति [च] तथा उत्तरपद परे एकते हिस्व होता है।। सामर्थ्य से यहाँ स्त्रीलिङ्ग विशिष्ट एक शब्द का महण है क्योंकि दीर्घ को ही हुस्व विधान सम्भव है।। एकत्वं, एकता में त्व तल् ति इति परे हैं।।

ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम् ॥६।३।६२॥

डियापोः ६।२॥ संज्ञाछन्द्सोः ७।२॥ बहुलम् १।१॥ सः च आप् च डियापो तयोः इतरेतरद्वन्द्वः ॥ संज्ञा च छन्द्रच संज्ञाछन्द्सी

ख

क

से

₹

हा

अ

भव हिर

तयोः इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु० ह्रस्यः, उत्तरपदे ॥ अर्थः ह्या आवन्तस्य च उत्तरपढे परतः संज्ञायां विषये छन्दसि विषये । ह्रस्वो भवति ॥ उदा०—ङचन्तस्य संज्ञायाम्—रेवतिपुत्रः, रोहिन् भरणिपुत्रः ।। बहुछवचनात्र च भवति—नान्दीकरः, नान्दीघोषः, क विशालः। ङचन्तस्य छन्दसि-- इमारीं ददति = कुमारिदाः, खीं ती र्डावदाः । न च भवति-फाल्गुनीपौर्णसासी, जगतीच्छन्दः। आक संज्ञायाम्— राखवहम् , शिलप्रस्थम् । न च भवति—लोमकागृहम्, के षण्डम्। आवन्तस्य छन्दसि-अजक्षीरेण जुहोति। ऊर्णम्रदा पृथिति धायसम्। न च भवति — ऊर्णास्त्रेण कवयो वयन्ति॥

भाषार्थ:-[ङ चापी:] ङ चन्त तथा आवन्त शब्दों को [संबाह्य [संज्ञा तथा छन्द विषय में उत्तरपद परे रहते [बहुलम्] बहुव हस्व होता है।। बहुल कहने से जहाँ नहीं होता वे उदाहरण दर्शा दिये हैं ॥

यहाँ से 'ङचापोः बहुलम्' की अनुवृत्ति ६।३।६३ तक जायेगी।

त्वे च ॥६।३।६३॥

त्वे ७।१॥ च अ०॥ अनु०—ङचापोः बहुलम्, हुस्वः॥ अर्थः प्रत्यये परतो ङ्यापोर्बहुछं ह्रस्वो भवति ॥ उदा०—तद्जाया भा अजत्वम्, तद्रोहिण्या भावो रोहिणित्वम्। बहुछवचनात्—अवि रोहिणीत्वम् ॥

भाषार्थ:—[त्वे] त्व प्रत्यय परे रहते [च] भी ङचन्त तथा के हिए शब्द को बहुल करके हुस्व होता है।।

इष्टकेषीकामालानां चितत् लभारिषु ॥६।३।६४॥

इष्टकेषीकामालानाम् ६।३॥ चितत्रूलभारिषु ७।३॥ स० हा चिततूल० इत्युभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—ह्नस्वः, उत्तरपदे ॥ अनु०—ह्नस्वः, उत्तरपदे ॥ इष्टका, इषीका, माला इत्येतेषां यथासङ्ख्यं चित, तूल, भारित हिष् त्तरपदेषु हस्यो भवति ॥ उदा०—इष्टकचितम् । इषीकत्लम् हो। भाषार्थः—[इष्टकेषीकामालानाम्] इष्टका, इषीका, मार्वि भत्तुं शीलमस्याः = मालभारिणी कन्या ॥

ङ्ग

विष्

हिणिए

ं, नार

द्र

आवत

, टोन

थवी है

₹**6**3

रण व

गी।

भा

शब्दों को [चिततूलभारिषु] चित, तूल तथा भारिन् शब्दों के उत्तरपद रहते यथासङ्ख्य करके हुस्व हो जाता है।।

खित्यनव्यग्रस्य ॥६।३।६५॥

खिति ७।१॥ अनव्ययस्य ६।१॥ स०—ख् इत् यस्य स खित् तिसान् वहुत्रीहिः । अनव्यः इत्यत्र नव्तत्पुरुषः ॥ श्रनुः हस्तः, बत्तरपदे ॥ श्रर्थः—खिद्न्त उत्तरपदेऽनव्ययस्य हस्वो भवति ॥ उदा०— कालिंमन्या, हरिणिमन्या ॥

भाषार्थः — [खिति] ख् इत् संज्ञक है जिसका ऐसे शब्द के उत्तरपद रहते क्ष्य [अनव्ययस्य] अव्यय भिन्न शब्द को हस्व हो जाता है।। कालीमात्मानं मन्यते = कालिंमन्या, यहाँ आत्ममाने लश्च (३।२।८३) से मन धातु से लश् प्रत्यय हुआ है जो कि खित् है, अतः मन्या खिद्न्त परे रहते काली को हुस्व हो गया है।। मुम् आगम भी श्ररुर्द्धिषद० (६।३।६६) से हो जायेगा। मन्या में दिवादिभ्यः श्यन् (३।१।६९) से श्यन् विक-रण हुआ है। इसी प्रकार हरिणिमन्या में जाने।।

यहाँ से 'खिति' की अनुवृत्ति ६।३।६७ तक तथा 'अनव्ययस्य' की ६।३।६६ तक जायेगी।।

अरुर्द्विषद्जन्तस्य ग्रुम् ॥६।३।६६॥

मजीव अरुर्द्धिषद्जन्तस्य ६।१॥ मुम् १।१॥ स०-अच् अन्ते यस्य स अजन्तः, बहुत्रीहिः । अरुश्च द्विषत् च अजन्तस्र अरुद्विषद्जन्तं तस्य समाहारो द्रन्द्वः ॥ श्रनु - खित्यनव्ययस्य, उत्तरपदे ॥ श्रर्थः - अरुस् द्विषत् इत्येतयोरजन्तानामनव्ययानास्त्र खिद्न्त उत्तरपदे मुमागमो मवति ॥ उदा - अरुन्तुदः, द्विषन्तपः । अजन्तानाम् -कालिमन्या, हरिणिमन्या ॥

भाषार्थ:—[अरुर्द्धिषदजन्तस्य] अरुस् द्विषत् तथा अञ्यय भिन्न अजन्त शब्दों को खिद्नत उत्तरपद रहते [सुम्] सुम् आगम होता है।। अरुन्तुदः यहाँ विध्वरुषोस्तुदः (३।२।३५) से खश् प्रत्यय हुआ है, एवं हिषन्तपः में द्विषतपरयोस्तापेः (३।२।३९) से खच् प्रत्यय हुआ है, दोनीं ही खित् प्रत्यय हैं। पूरी सिद्धि उपयुक्त सूत्रों में ही देखें। अजन्त के वदाहरण की सिद्धि पूर्व सूत्र में दर्शा दी है।।

अ

f

यहाँ से 'मुम्' की अनुवृत्ति ६।३।७१ तक जायेगी।। इच एकाचोम्प्रत्ययवच ॥६।३।६७॥

इच: ६।१॥ एकाच: ६।१॥ अम् १।१॥ प्रत्ययवत् अ०॥३। स०-एकोऽच् यस्मिन् स एकाच् , तस्य "वहुव्रीहि: ॥ अनुः उत्तरपदे ।। अर्थ: - खिदन्त उत्तरपदे इजन्तस्य एकाचोऽमागमे । (स च 'अम्' प्रत्ययवच = द्वितीयैकवचनवच भवति ।। उदा०-कं स्त्रींमन्यः, स्त्रियंमन्यः, नरंमन्यः, श्रियंसन्यः, भ्रवंमन्यः॥

भाषार्थः—खिद्न्त उत्तरपद् रहते [इचः] इजन्त [एकाचः]ः को [अम्] अम् आगम हो जाता है और वह अम् [प्रत्यक्ती ह के समान च भी माना जाता है अर्थात् द्वितीया के एकवनां र 'अम्' प्रत्यय है तद्वत् ही इस 'अम्' में कार्य होंगे। प्रत्यका उ जाने से गांमन्यः यहाँ औतोम्शसोः (६।१।६०) से पूर्व पर के ह आकार एकादेश हो जाता है, तथा स्त्रियंमन्यः यहाँ वाम्शासीः विक से इयङादेश विकल्प करके होता है। जिस पक्ष में इयह है त्ब अमि पूर्वः (६।१।१०३) से पूर्वसवर्ण एकादेश होकर स्त्रीमन्यः व इसी प्रकार प्रत्ययवत् अम् को मानने से नरमन्यः यहाँ नृ के ह भी सर्व० (७।३।११०) से गुण एवं श्रियंमन्यः अवंमन्यः में श्रिवित (६।४।७७) से (अम् को अजादि प्रत्ययवत् मानकर) ऋमशः हवा आदेश होता है।। पूर्ववत् सर्वत्र खिद्न्त उत्तरपद है ही॥

वाचंयमपुरन्दरौ च ॥६।३।६८॥

वाचंयमपुरन्द्रौ १।२॥ च अ०॥ स०—वाचंयम० इत्येत्रेति अनु - सम् ॥ अर्थः - वाचंयम पुरन्द्र इत्यत्र मुमागमी उदा०-वाचंयम आस्ते । पुरं दारयतीति पुरंदरः ॥

भाषार्थः—[वाचंयमपुरन्दरौ] वाचंयम पुरन्दर इन शब्दी है। जा मुम्आगम निपातन किया जाता है। वार्चयमः में वार्विकार (३।२।४०) से खच् तथा पुरन्द्रः में पू:सर्वयोदीरिसहीं (३०००) से खच् तथा पुरन्द्रः में पू:सर्वयोदीरिसहीं (३००००) खच् प्रत्यय होता है।।

कारे सत्यागदस्य ॥६।३।६९॥ कारे ७।१॥ सत्यागद्स्य ६।१॥ स०—सत्यञ्च आह्य [हे पादः]

)|| T

-

इयह

२३५°

तस्य : समाहारद्रन्द्र: ॥ अनु० - मुम्, उत्तरपदे ॥ त्रर्थः - कारशब्द बत्तरपदे सत्य, अगद इत्येतयोर्मुमागमो भवति ॥ उदाः सत्यं करो-तीति सत्यङ्कारः, अगदंङ्कारः ॥

भाषार्थः — [कारै] कार शब्दं उत्तरपद रहते [सत्यागदस्य] सत्य 10-तथा अगद शब्द को सुम् आगम हो जाता है।। सुम् के 'म्' को अनुस्वार मि । (८।३।२४) तथा परसवर्ण (८।४।५७) होकर 'ङ्' हो जायेगा।।

इयेनतिलस्य पाते वे ॥६।३।७०॥

नः]। रयेनतिलस्य ६।१।। पाते ७।१।। वे ७।१।। स०—श्येनश्च तिलश्च व्या श्येनतिल्रम्, तस्य : 'समाहारद्वन्द्वः ॥ श्रवु > — मुम्, उत्तरपदे ॥ श्रर्थः — वकः श्येन तिल इत्येतयोः वे प्रत्यये पातशब्द उत्तरपदे मुमागमो भवति॥ वका उदा०—श्येनपातोऽस्यां क्रीडायां श्येनम्पाता मृगया, तैलम्पाता ॥

केह भाषार्थ: - [श्येनतिलस्य] श्येन तथा तिल शब्द को [पाते] पात शब्द के उत्तरपद रहते तथा [ने] व प्रत्यय के परे रहते सुम् आगम् होता ह् है ॥ घनः सास्यां कियेति नः (४।२।५७) से घनन्त तिलपात एवं इयेनपात या ब शब्दों से व प्रत्यय हुआ है, अतः व प्रत्यय परे है ही, एवं पात शब्द को ह भी उत्तरपद है। व्य के वित् होने से आदि को (७।२।११७) वृद्धि हो ही विह जायेगी।।

रात्रेः कृति विभाषा ॥६।३।७१॥

रात्रेः ६।१॥ कृति ७।१॥ विभाषा १।१॥ ऋनु०—मुम् , उत्तरपदे ॥ अर्थः — कृद्न्त उत्तरपदे रात्रिशब्द्स्य विभाषा मुमागमो भवति ॥ उदा०-रात्रिखरः। रात्रिचरः, रात्रिमटः, रात्र्यटः॥

FAT भाषार्थ:-[कृति] कृद्न्त उत्तरपद् रहते [रात्रेः] रात्रि शब्द को विभाषा विकल्प करके मुम् आगम होता है।। चर धातु से रात्रि छप-पद रहते चरेष्टः (३।२।१६) से कृत्संज्ञक ट प्रत्यय हुआ है, एवं अट विशातु से पचाद्यच् हुआ है, इस प्रकार कृद्न्त उत्तरपद उदाहरणों में है ही। राज्यटः में यणादेश हो गया है।।

नलोपो नजः ॥६।३।७२॥ नलोपः १११॥ नव्यः ६११॥ स०—नकारस्य लोपः नलोपः षष्ठी- २३६ तत्पुरुषः ॥ श्रनु०—उत्तरपदे ॥ श्रथः—त्रञो नकारस्य छोपो मह पदे परतः ॥ उदा०—अब्राह्मणः, अनुषरुः, असुरापः, असोमपः॥

भाषार्थः—[नञः] नञ्के [नलोपः] नकार का छोप हो ब उत्तरपद परे रहते।। न् हळ्का छोप करने पर 'अ' शेष रहेगा॥ यहाँ से 'नञः' की अनुवृत्ति ६।३।७६ तक जायेगी।।

तस्मानुडचि ॥६।३।७३॥

प्रत् हो

भ

तस्मात् ४।१॥ नुट् १।१॥ अचि ७।१॥ श्रनु० — ननः, जा ना श्रर्थः — तस्मात् लुप्तनकारात् ननः नुट् आगमो भवति अजादानुज उदा० — अनजः, अनश्वः॥

भाषार्थः—[तस्मात्] उस लुप्त हुए नकार वाले नम् हिं [नुट्] नुट्का आगम [अचि] अजादि शब्द के उत्तरपद हिं है।। 'तस्मात्' से यहाँ प्रकृत नलोपो नञः से कहा हुआ हु। सिं वाला नम् ही निर्दिष्ट है।। न+अजः = अ+अजः यहाँ नुट् आणि अक्ष अनजः अनम्धः बन गया।।

नभ्राण्नपात्रवेदानासत्यानम्चचिनक्कलनखनपुंसकनक्ष्याः नाकेषु प्रकृत्या ॥६।३।७४॥ स्व

नभ्राण्नः 'केषु ७।३॥ प्रकृत्या ३।१॥ स०—नभ्राण्न० इला आ द्वन्द्वः ॥ अनु० — नवः ॥ श्रर्थः — नभ्राट् , नपात् , नवेदा, प्रकृत्या नमुचि , नकुळ, नख , नपुंसक , नक्षत्र , नक्ष , नाक इत्येतेषु का विद्याः ॥ उदा० — न भ्राजते = नभ्राट् ॥ न पातीति नपात् ॥ अत्वद्याः ॥ सत्या सत्याः , न असत्याः का नवेदाः ॥ सत्यु साधवः सत्याः , न सत्या असत्याः , न असत्याः का न मुख्यतीति नमुचिः ॥ नास्य कुळमस्तीति नकुळः ॥ नास्य नख्म ॥ न स्वा न पुमान् = नपुंसकम् ॥ न स्वर्गति श्लीयते नक्षत्रम् ॥ न क्षामतीति नकः ॥ नास्मिन् अकिमति नाकम् ॥ अम्

भाषार्थः—[नम्रायन ' नाकेषु] नम्राट्, नपात्, नवेदी मर्थ नमुचि, नकुल, नख, नपुंसक, नक्षत्र, नक्र, नाक इन श्रव्धे पदा उसे [मक्रत्या] प्रकृतिभाव हो जाता है, अर्थात् नलोपो नवि, भा सूत्रों की प्रयुक्ति नहीं होती।। नम्राट् में भ्राजृ धार्तु से (३।२।१७७) से किप् एवं व्रश्वम्रस्ज० (८।२।३६) से ब्रव्ध [ह पादः]

पः॥

विचा

ام ¥

ते

कि होकर टकार हुआ। नपात में पात् शत्रन्त है। नवेदाः में विद् धातु औणादिक असुन् प्रत्ययान्त है। जो सज्जनों में असाधु नहीं हैं वे नासत्याः कहे जायेंगे। नमुचिः यहाँ औणादिक (उणा० ४।१२०) कि ॥ _{प्रत्यय हुआ है । नपुंसकम् यहाँ स्त्रीपुंस को पुंसक भाव निपातन से} होता है। नकः यहाँ क्रम धातु से ड प्रत्यय निपातन से होता है। टि भाग का लोप होकर 'न क् अ = नक' बन गया। कम् सुख को कहते हैं, अतः अकम् दुःख होगा, पुनः नव्य् समास करने पर अकम्का विपरीत जा नाकम् स्वर्ग कहा जायेगा ।।

यहाँ से 'प्रकृत्या' की अनुवृत्ति ६।३।७६ तक जायेगी।।

एकादिश्चैकस्य चाढुक् ॥६।३।७५॥

便 एकादि: १।१।। च अ०।। एकस्य ६।१॥ च अ०।। आदुक् १।१॥ स०—एक आदियस्य स एकादिः, बहुत्रीहिः ॥ अनु०—प्रकृत्या, नवः॥ अर्थ: एकादिनेव् प्रकृत्या भवति, एकशब्दस्य च आदुक् आगमो मवति ।। उदा० एकेन न विंशतिः एकान्नविंशतिः, एकाद्नविंशतिः। क्रा एकान्नत्रिंशत्, एकाद्नत्रिंशत्।।

माषार्थ: [एकादि:] एक है आदि में जिसके ऐसे नव् को चि] भी मकृतिभाव होता है [च]तथा [एकस्य] एक शब्द को [त्रादुक्] आदुक्का अगम होता है ।। विंशति शब्द से पहले नव् समास होता है, पश्चात् एक शब्द के साथ तृतीया तत्पुरुष समास होता है। 'एक आदुक् न विश्वति यहाँ प्रकृतिभाव होकर तथा द् को यरोऽनुनासिके० (८।४।४४) से विश्वासिक आदेश होकर एकान्नविंशतिः बन गया। पक्ष में जब अनुनासिक नहीं हुआ तो एकाद्नविंशतिः ही रहा।।

नगोऽप्राणिब्वन्यतरस्याम् ॥६।३।७६॥

नगः १११॥ अप्राणिषु ७१३॥ अन्यतरस्याम् ७११॥ स०—न प्राणिनो अमाणिनस्तेषु " · · निञ्तत्युक्षः ॥ श्रनु०—प्रकृत्या, नञः, उत्तरपदे ॥ अर्थः अप्राणिषु वर्त्तमानो यो नगशब्द्स्तत्र नव् प्रकृत्या विकल्पेन भवति।। हता न गच्छन्तीति = नगाः वृक्षाः, अगाः वृक्षाः, नगाः पर्वताः त्राः पर्वताः ॥

भाषार्थः—[अप्राणिषु] प्राणि भिन्न अर्थ में वर्त्तमान जो [नगः]

िपा नग शब्द उसके नम् को प्रकृतिभाव [अन्यतरस्याम्] किला प्रत होता है।। डप्रकरणे अन्येष्वपि० (वा० ३।२।४८) इस वार्तिक इत धात से ड प्रत्यय होकर नगः बना है।।

सहस्य सः संज्ञायाम् ॥६।३।७७॥

उद

ग्र

की

प्रसि

सहस्य ६।१॥ सः १।१॥ संज्ञायाम् ७।१॥ अनु०-ना श्रर्थः -- सह्शब्दस्य स इत्ययमादेशो अवित संज्ञायां विषये॥ ह अ सह अश्वत्थेन = साश्वत्थम् , सपलाशम्, सशिशपम् ॥

भाषार्थ:-[सहस्य] सह शब्द को [सः] स आदेश सिंह सह संज्ञा विषय में होता है ।। तेन सहेति तुल्ययोगे (२।२।२८) से ज सर में बहुव्रीहि समास हुआ है।।

यहाँ से 'सहस्य' की अनुवृत्ति ६।३।८२ तक तथा 'सः' की व ६।३।८८ तक जायेगी।। अ्

प्रन्थान्ताधिके च ॥६।३।७८॥

प्रन्थान्ताधिके ७|१।। च अ०।। स०--प्रन्थस्यान्तः क्री षष्ठीतत्पुरुषः । प्रन्थान्तश्च अधिकञ्च प्रन्थान्ताधिकं, तस्मिन हारद्वन्द्वः ॥ अनु०—सहस्य, सः उत्तरपदे ॥ अर्थः - प्रन्थाने वर्त्तमानस्य सहशब्दस्य स इत्ययमादेशो भवति॥ ज्योतिषमधीते, समुहूत्तम् । अधिके — सद्रोणा खारी, समाषः र्ता सकाकिणीको माषः॥

भाषार्थः—[यन्थानताधिके] प्रन्थ के अन्त एवं अधिक सन वर्त्तमान सह शब्द को [च] भी स आदेश होता है।। कला की का नाम है। तत्सहचरित जो यन्थ वह कलया सह वर्त्तते सक्ल प्यन्त) कहा जायेगा । इसी प्रकार समुहूर्त्तम् में जाने । अर्थातिका जहां कला वा मन्द्री जहां कला वा मुहूर्त्त का वर्णन है वहां तक प्रन्थ पढ़ा। का अर्थ है, द्रोण से अधिक खारी। सर्वत्र पूर्ववत् बहुद्रीहि सामित

दितीये चानुपाख्ये ॥६।३।७९॥

द्वितीये जेशा च अा अनुपाख्ये जेशा अनु उत्तरपदे।। द्वयोः सहयुक्तयोरप्रधानो यः स द्वितीयः।

दा०-

विकारित्यक्षत उपलभ्यते यः स उपाख्यः। उपाख्याद्नयोऽनुपाख्यः, अनुमेय किः इत्यर्थः॥ अर्थः—अनुमेये द्वितीये च सहस्य स इत्ययमादेशो भवति॥ उदा०—साग्निः कपोतः, सपिशाचा वात्या, सराक्षसीका शाला॥

माषार्थ:—दो में जो अप्रधान हो वह यहाँ द्वितीय शब्द से कहा
तया है क्योंकि प्रधान तथा अप्रधान दोनों के होने पर अप्रधान को ही

कि वहाँ जाता है। प्रत्यक्ष उपल्प्यमान को उपाल्य तथा उससे
हितीय' कहा जाता है। प्रत्यक्ष उपल्प्यमान को उपाल्य तथा उससे
अन्य अर्थात् अनुमेय (अनुमान किया जाने योग्य) को अनुपाल्य कहेंगे।। [द्वितीय] अप्रधान [अनुपाल्ये] अनुमेय को कहने में [च] भी
हिंह सह को स आदेश हो जाता है।। साम्निः आदि में पूर्ववत् बहुव्रीहि समास है। कपोत आग खाता है, ऐसी लौकिक प्रसिद्धि है, अतः जहाँ र कपोत है, वहाँ र आग सी होगी ऐसा अनुपाल्य अनुमेय हुआ।
कि जहाँ र आग है वहाँ र कपोत अवश्य होगा, ऐसा अनुमान नहीं हो सकता, किन्तु जहाँ र कपोत है वहाँ र आग होगी ऐसा अनुमान होता है, इससे कपोत की प्रधानता सिद्ध होती है, तथा अग्नि की अप्रधानता। इस प्रकार अग्नि अनुपाल्य एवं द्वितीय = अग्रधान दोनों की स्थान अनुमेय एवं द्वितीय = अप्रधान मी है अतः सिपशाचा, सराहो सिनीका बन गया।।

अन्ययीभावे चाकाले ॥६।३।८०॥

१. कपोत का मांस ग्रत्युष्ण होता है। पक्षाघात (लकवा मारना) सहश ,वात श्रीत प्रमान रोगों में मांसाशियों को कपोतमांस पथ्यरूप में दिया जाता है। उससे प्रमाणित रोग में सद्यः लाभ होता है। ग्रत एव लोक में प्रसिद्धि है कि कपोत सांसिश्व खाता है। इसी प्रकार वात्या (= बबूला) आदि में फँस जाने के कारण प्रसिद्धि है वात्या (बबूला) में पिशाच का वास होता है। तद्वत् सराक्षसीका शाला को कहेंगे।।

भाषार्थः-[अन्ययीभावे] अन्ययीभाव समास में [च] भी वि अकालवाची शब्दों के उत्तरपद रहते सह को स आदेश हो मू सचकं सघुरं में श्रव्ययं विमक्तिसमीपः (२।१।६) से अन्ययीमाः अ हुआ है। सधुरं में ऋक्पूरब्धूः० (४।४।७४) से समासान्त अक्षाः हुआ है ॥

वोपसर्जनस्य ॥६।३।८१॥

र्वा अः ॥ उपसर्जनस्य ६।१॥ श्रनुः – सहस्य, सः ॥ अर्थः- स समासस्य सर्वेऽवयवाः उपसर्जनीभूतास्तद्वयवस्य सहशब्सा इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—सपुत्रः, सहपुत्रः, सन्बार च्छात्रः ॥

भाषार्थः—जिस समास के सारे अवयव [उपसर्जनस्य] 🕫 हैं, तद्वयव = उसके अवयव सह शब्द को [वा] विकल्प से ही होता है।। यहाँ 'उपसर्जनस्य' पद सह शब्द का विशेषण नहीं न समास के पदों का विशेषण है, अतः 'जिसके सारे अवयव सम ऐसा अर्थ होगा। इस प्रकार बहुव्रीहि समास में ही समास के उपसर्जन होते हैं, अतः यह विधि बहुव्रीहि समास में ही होगी।

प्रकृत्याऽशिषि ॥६।३।८२॥

₹8 म

R

T

प्रकृत्या ३।१।। आशिषि ७।१।। अनु०—सहस्य ॥ त्रर्थः विषये सहराब्दः प्रकृत्या भवति ॥ उदाः—स्वस्ति देवदत्ताय सहच्छात्राय सहामात्याय ॥

माषार्थः—[त्राशिष] आशीर्वाद विषय में सह शब्द के प्रकृतिभाव हो जाता है।। पूर्व सूत्र से प्राप्ति थी यहाँ प्रकृतिभा से आशीर्वाद विषय में स आदेश नहीं हुआ ॥

समानस्य छन्दस्यमूईप्रभृत्युदर्केषु ॥६।३।८३॥

समानस्य ६।१॥ छन्द्सि ७।१॥ अमूर्द्धप्रभृत्युद्केषु ॥३॥ च प्रभृतिष्ठा सन्दर्भन मूद्धी च प्रभृतिश्च उद्केश्च मूर्धप्रभृत्युद्कीः, इतरेतरद्वन्द्वः। रयुद्कीः अमूर्द्धभ्रभृत्युद्कारतेषु . . . नञ्तत्पुरुषः ॥ अवु पदे ॥ त्रर्थः—छन्दसि विषये समानशब्दस्य 'सं' इत्ययमहि

[भ्यादः]

दस्य

खाः

] ज

यस

तिभा

1311

18

100

भी कि मूर्धन, प्रभृति, उदर्क इत्येतान्युत्तरपदानि वर्जयत्वा ॥ उदा०— भा अनुस्राता सगर्भ्यः । अनुसखा सयूथ्यः । यो नः सनुत्यः ॥

भाषार्थ:-[छन्दसि] वेद विष्ठय में [समानस्य] समान शब्द को 'स' आदेश हो जाता है [श्रमूर्धप्रमृत्युदर्केषु] मूर्धन, प्रभृति, उद्के उत्तरपद् में न हों तो ।। समानो गर्भः = सगर्भः, तत्र भवः सगर्भ्यः, सयुध्यः, सनुत्यः । यहाँ सगर्भसयूथ० (४।४।११४) से यन् प्रत्यय हुआ है, एवं अर्थ- सर्वेत्र पूर्वापरप्रथम० (२।१।५०) से समास भी जानें ।।

यहाँ से 'समानस्य' की अनुवृत्ति ६।३।८८ तक जायेगी ।।

ज्योतिर्जनपदरात्रिनाभिनामगोत्ररूपस्थानवर्णवयोवचन-बन्धुषु ॥६।३।८४॥

सं ज्योतिर्जः वन्धुषु ७।३।। सः ज्योतिश्च, जनपद्श्च रात्रिश्च नहीं नाभिश्च नाम च गोत्रक्च रूपव्च स्थानक्च वर्णश्च वयश्च वचनक्च वन्धुश्च उपसः क्योतिर्जः वन्धवस्तेषु ः इतरेतरद्रन्द्रः ॥ अनु — समान्स्य, सः, केर उत्तरपदे ॥ अर्थः—ज्योतिस्, जनपद, रात्रि, नाभि, नाम, गोत्र, रूप, गी। स्थान, वर्ण, वयस् , वचन, बन्धु इत्येतेषूत्तरपदेषु समानस्य स इत्यय-मादेशो भवति ॥ उदा०—समानं ज्योतिरस्य = सज्योतिः, सजनपदः, सरात्रिः, सनाभिः, सनामा, सगोत्रः, सरूपः, सस्थानः, सवर्णः, सवयाः, सवचनः, सबन्धुः ॥

माषार्थ:-[ज्योतिर्जः " वन्धुषु] ज्योतिस्, जनपद्, रात्रि, नाभि, नाम, गोत्र, रूप, स्थान, वर्ण, वयस्, वचन, बन्धु इन शब्दों के उत्तरपद हि एहते समान को स आदेश हो जाता है।। सनामा यहाँ सर्वनामस्थाने० (६।४।८) से तथा सवयाः यहाँ अत्वसन्तस्य० (६।४।१४) से दीर्घ हुआ है।।

चरणे ब्रह्मचारिणि ।।६।३।८५॥

चरणे ७।१॥ ब्रह्मचारिणि ७।१॥ अनु०—समानस्य, सः, उत्तरपदे ॥ अर्थ: ब्रह्मचारिण्युत्तरपदे चरणे गम्यमाने समानस्य स इत्ययमादेशे भवति ॥ उदा० समानो ब्रह्मचारी सब्रह्मचारी। समाने ब्रह्मणि वतचारी = सब्रह्मचारी ॥

१६

े प

स

स

स

হা

अ रेख

41

इं

भाषार्थ:-[चररो] चरण गम्यमान हो तो [बह्मचारिण]क उत्तरपद रहते समान शब्द को स आदेश हो जाता है।। क्र कहते हैं, उसके अध्ययन के लिये जो व्रत वह भी ब्रह्म कहाता व्रत में जो चले वह ब्रह्मचारी होगा। व्रते (३।२।८०) से जिल हुआ है। इस प्रकार समान ब्रह्म (वेद्) में जो व्रत करे वह सा होगा ॥

तीर्थे ये ॥६।३।८६॥

तीर्थे ७।१॥ ये ७।१॥ श्रनुः—समानस्य, सः, उत्तरपदे॥ यप्रत्यये परतस्तीर्थशब्द उत्तरपदे समानस्य स इत्ययमादेशे म उदाः —सतीथ्यः ॥

भाषार्थ: - [तीथें] तीर्थ शब्द उत्तरपद में हो तो [ये] य प्रत रहते समान शब्द को स आदेश होता है।। समान का तीर्थ ह साथ कर्मधारय समास होकर समानतीर्थे वासी (४।४।१०७) ह प्रत्यय होता है, पश्चात् समान को स आदेश हो ही जायेगा॥

यहाँ से 'ये' को अनुवृत्ति ६।३।८७ तक जायेगी॥

१. ब्रह्म नाम वेद का है। यदि यहाँ ब्रह्म शब्द से प्रधान ऋषेवा श वेदों का ही ग्रहण माना जाए तो ऋग्वेद की समस्त शाखाओं के ग्रयोग दि सब्रह्मचारी होंगे, पर यह इष्ट नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्म से वेद की तत्र का ही ग्रहण किया जाए तो केवल उस उस शाखा के अध्येता ही सब्रह्मचारी होंगे, परन्तु इतने ही अर्थ में सब्रह्मचारी पद प्रयुक्त नहीं होता सूत्रकार ने "चरगो" विशेष पद पढ़ा है। एक मूल शाखा की अवाला का समूह चरण कहाता है। जैसे ऋग्वेद की शाकल आदि मुख्य पाँच शाबा उनको फिर अवान्तर शाखाएँ हुई, वे सब अवान्तर शाखाएँ शाकल चरण शब्द से व्यवहृत होती हैं। इसी प्रकार वाजसनेय मुख्य विभाग माध्यन्दिन काण्व ग्रादि ग्रवान्तर शाखाएँ हुई, ये सभी वाजसनेय वर्ष व्यवहृत होती हैं। इसी प्रकार तैतिरीय मैत्रायणी काठक आदि भी वर्ण न कि शाखामात्र। इस प्रकार वाजसनेय चरण प्रन्तर्गत किन्हीं भी शाखाम्रों के मध्येता भी एक चरणान्तर्गत होने से परस्पर सम्बद्धावारी की

णिक

ते स

源

धि ह

(v) F

खेवाँ

ध्येता ^ह त तर्व

हो ।

तर ई

TER

A STATE

माग है

RUT

RU F

所

1

विभाषोदरे ॥६।३।८७॥

विभाषा १।१॥ उद्दे ०।१॥ अनु०—ये, समानस्य, सः, उत्तरपदे॥
विभाषा १।१॥ उद्दे ०।१॥ अनु०—ये, समानस्य, सः, उत्तरपदे॥
विभाषा १।१॥ उद्दे व्ययस्थये परतः समानशब्दस्य विभाषा स
स्म इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—सोदर्थः, समानोद्र्यः॥

माषार्थः—[उदरे] उदर शब्द उत्तरपद रहते य प्रत्यय परे हो तो समान शब्द को स आदेश [विभाषा] विकल्प करके होता है॥ समानोदर्यः में समानोदरे शयित ओ चोदात्तः (४।४।१०८) से यत् प्रत्यय तथा सोदर्यः में सोदराद्यः (४।४।१०९) से यप्रत्यय हुआ है॥

हग्ह्यवतुषु ॥६।३।८८॥

हग्हरावतुषु ७१३।। स०—हक्० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०— समानस्य, सः, उत्तरपदे ॥ अर्थः—हक्, हश, वतु इत्येतेषूत्तरपदेषु समानस्य स इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—सहक्, सहशः॥

माषार्थः—[हग्हशवतुषु]हक्, हश, वतुइनके उत्तरपद् रहते समान शब्द को स आदेश हो जाता है।। समानान्ययोश्चेति वक्तव्यम् (वाव्याः) इस वार्त्तिक से समान उपपद रहते भी किन तथा कब् प्रत्यय होता है, अतः सहक्, सहशः बन गया। वतुप् प्रत्यय यतदेतेभ्यः परिमाणे० (५।२।३६) से यत् तद् एवं एतद् से ही होता है, अतः समान शब्द से उत्तर वतुप् सम्भव न होने से यहाँ वतुप् परे का उदाहरण नहीं दिया है। इस प्रकार वतुप् प्रहण उत्तरार्थ है।।

यहाँ से 'हग्हशवतुषु' की अनुवृत्ति ६।३।९० तक जायेगी।।

इदङ्किमोरीक्की ॥६।३।८९॥

इदक्किमोः ६।२॥ ईश्की लुप्तप्रथमान्तिनिर्देशः ॥ स०— इदम् च किम् च इदम्किमो, तयोः इतरेतरद्वन्द्वः । ईश्० इत्यत्रापि इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनुः हर्ग्वत्रापि इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनुः हर्ग्वत्रापि इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनुः हर्ग्वत्रापे इत्येतयोः ईश्, की इत्येतौ यथासंख्यमादेशौ भवतः दृग्दशवतुषु परतः ॥ उदा०—ईदृक्, ईदृशः, इयान् । कीद्दकः , कीद्दशः, कियान् ॥

भाषार्थः—[इदंकिमोः] इदम् तथा किम् को यथासंख्य करके [ईश्की] ईश् तथा की आदेश हो जाते हैं, हग् हश तथा वंतुप् परे

अष्टाध्यायीप्रथमावृत्तौ

T रहते ।। ईटक् ईट्याः कीटक् कीट्याः में कच् तथा किन् क्र सूत्रानुसार जानें। इयान् कियान् की सिद्धि भाग २ परि० ५१२ ५४८ में देखें ॥

आ सर्वनाय्नः ॥६।३।९०॥

आ १११। सर्वनाम्नः ६।१।। अनु - हग्द्रशवतुषु, जारं श्चर्थः—सर्वनाम्नः आकारादेशो भवति हग्दशवतुषु परतः॥ हा ताहक्, ताहशः, तावान् । याहक् , याहशः, यावान् ॥

भाषार्थ:-[सर्वनाम्न:] सर्वनाम संज्ञक शब्दों को [आ] आकाराहे। है, दग् दश तथा वतुप्परे रहते।। श्रलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) सेत्रः अन्तिम अल् को आकारादेश होता है। पूर्ववत् कब्, किन् प्रत्या

यहाँ से 'सर्वनाम्नः' की अनुवृत्ति ६।३।९१ तक जायेगी॥

विष्वग्देवयोश्च टेरद्रचश्चतौ वप्रत्यये ॥६।३।९१॥

विष्वरदेवयोः ६।२।। च अ०।। टेः ६।१।। अद्रि लुप्तप्रथमानि अञ्चतौ ७।१।। वप्रत्यये ७।१।। स - विष्वक् इत्यन्नेतरेतरद्वन्द्वः।वर् यस्मात् स वप्रत्ययस्तस्मिन् "बहुब्रीहिः ॥ अनु - सर्वनाम्नः, उन श्रर्थः विष्वक् देव इत्येतयोः सर्वनाम्नश्च टेः अद्रीत्ययमादेशे अञ्चतौ वप्रत्ययान्त उत्तरपदे ॥ उदाः—विष्याञ्चतीति विष् देवद्रथङ् । सर्वनाम्नः—तद्रथङ् , यद्रथङ् ॥

भाषार्थ:—[विष्वग्देवयोः] विष्वग् एवं देव शब्दों के वि सर्वनाम शब्दों के [टे:] टि को [अद्रि] अद्रि आदेश [वप्रत्यये] वप्रत्ययान्त [अञ्चतौ] अञ्च धातु के परे रहते॥ भि का जो 'व' उसी का यहाँ वप्रत्यय से अभिप्राय है।। अर्जु ऋित्रद्धृक्ः (३।२।५६) से किन् प्रत्यय होकर 'अङ्' वर्गी सिद्धि भाग १ परि० ३।२।५९ में देखें। अब इस वगत्ययान की परे रहते विष्वक के टि भाग 'अक' को तथा देव के टि भाग 'अक' को तथा देव के टि भाग 'अद्रि' आदेश होकर 'विष्व् अद्रि अङ् तथा देव अद्रि अङ् देश होक़र विष्वद्रचङ् देवद्रचङ् बन गया। तद् यद् से भी हती तद्र यङ्, यद्र यङ् की सिद्धि जाने ।।

षष्ट्रोऽध्यायः

रेष्ठप्र

यहाँ से 'श्रञ्जती वप्रत्ययें की अनुवृत्ति ६।३।६४ तक जायेगी।।

समः समि ॥६।३।९२॥

समः ६।१॥ समि लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ अनु - अक्रतौ वप्रत्यये, उत्तरपदे ।। श्रर्थः—सम् इत्येतस्य समि इत्ययमादेशो भवति वप्रत्य-यान्तेऽख्वता वुत्तरपदे ॥ उदा०—सम्यङ्, सम्यख्नौ, सम्यख्नः॥

माषार्थ: —[समः] सम् को [सिम] सिम आदेश होता है, वप्रत्ययान्त गाहे अब्रु धातु के उत्तरपद् रहते।। पूर्ववत् सिद्धि जानें।।

तिरसस्तिर्यलीपे ॥६।३।९३॥

तिरसः ६।१।। तिरि लुप्तप्रथमान्तिनिर्देशः ।। अलोपे ७।१।। स०-अह्येप इत्यत्र नव्तत्पुरुषः ॥ अनु०—अक्चतौ वप्रत्यये, उत्तरपदे ॥ अर्थः—तिरस् इत्येतस्य तिरि इत्ययमादेशो भवति वप्रत्ययान्तेऽस्त्रतौ परतोऽलोपे सति ॥ उदा०—तिर्यङ् , तिर्येख्रौ, तिर्येख्रः ॥

भाषार्थः—[तिरसः] तिरस् को [तिरि] तिरि आदेश वप्रत्ययान्त अख्रु के उत्तरपद रहते होता है, यदि इसका = अञ्चु का [अलोपे] छोप न हुआ हो तो।। तिरश्चा इत्यादि में अब्बु के 'अ' का छोप अचः (६।४।१३८) से होता है, अतः 'अलोपे' कहकर इसी विषय का प्रतिषेध किया है।।

सहस्य सिघः ॥६।३।९४॥

सहस्य ६।१।। सिंघः १।१।। ऋनुः —अञ्चतौ वप्रत्यये, उत्तरपदे।। त्रर्थः—सहस्य सिधरित्ययमादेशो भवति वप्रत्ययान्तेऽक्चतावुत्तरपदे॥ उदा०—संघ्रचङ् , संघ्रचळ्ळो, संघ्रचळः, संघ्रीचः॥

भाषार्थ:-[सहस्य] सह शब्द को [सिप्रः] सिंध आदेश वप्रत्ययान्त अञ्चु के उत्तरपद् रहते होता है।। सधीचः में अवः (६।४।१३८) से अब्रु के अ का लोप तथा चौ (६।३।१३६) से पूर्वपद को, दीर्घ हुआ है।।

यहाँ से 'सहस्य' की अनुवृत्ति ६।३।९५ तक जायेगी॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

41रा

पादः]

। उर

नेतद् र ।त्ययह

11 118

न्ति

19.8 उत्ता

a) F विषर

[7] I E **क्प**

म्बुध 首

त अर् साग है

ET:1

स्रे

अष्टाध्यायीप्रथमावृत्तौ

ם ון

3

सघ मादस्थयोग्छन्दसि ॥६।३।९५॥

सघ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ माद्स्थयोः ७।२॥ ब्रन्द्सि ज्याः माद् इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु --- सहस्य, उत्तरपदे ॥ अर्थः--इत्येतयोरुत्तरपद्योरछन्द्सि विषये सहस्य सध इत्ययमादेशो ह उदा०—सधमादो द्युम्न्य एकास्ताः। सघस्थाः॥

भाषार्थः-[मादस्थयोः] माद् तथा स्थ उत्तरपद् रहते [ह वेद विषय में सह शब्द को [सध] सध आदेश होता है॥

द्रचन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत् ॥६।३।९६॥

द्र्यन्तरुपसर्गेभ्यः ५।३॥ अपः ६।१॥ ईत् १।१॥ स०-द्विष्टः उपसर्गश्च द्वचन्तरुपसर्गास्तेभ्यः इतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०-उत्तरपरे द्वि अन्तर् इत्येताभ्यामुपसर्गाचोत्तरस्य 'अप्' इत्येतस्य ईकारादेशेष उदा०—द्वीपम्, अन्तरीपम्। उपसर्गात्—नीपम्, वीपम्, समीप

भाषार्थः — [द्रचन्तरुपसर्गेभ्यः] द्वि अन्तर् तथा उपसर्ग है [अपः] अप् शब्द को [ईत्] ईकारादेश हो जाता है ॥ गरे (१।१।५३) से अप् के अकार को ई होता है। सिद्धियाँ भाग १।१।५३ पृ० ७२७ में देखें।।

यहाँ से 'श्रपः' की श्रनुवृत्ति ६।३।९७ तक जायेगी॥

ऊदनोर्देशे ॥६।३।९७॥

ऊत् १।१॥ अनोः ५।१॥ देशे ७।१॥ अनु०—अपः, वर्ताः अर्थः—अनोः उत्तरस्य अप् इत्येतस्य ऊकारादेशो भवति देशे उदा०—अनुगता आपोऽस्मिन् = अनूपो देशः॥

भाषार्थः—[अनोः] अनु से उत्तर अपू शब्द को [उत] अने होता है [देश] देश को कहने में ।। पूर्ववत् अपू के अ होवा है।।

१. शर्ब्दस्वरूपापेक्षोऽयं प्रयोगः ।

७|श|:

र्थ:-

शोस

ते [इ

द्विश्व

(पदे॥

देशो म

समीपन

र्ग है।

आहे.

11111

उत्तर

अब्हुचतृतीयास्यस्यान्यस्य दुगाशीराश्चास्थास्थितोत्सुकोतिकार्-करागच्छेषु ॥६।३।९८॥

अषष्ट्यतियास्थस्य ६।१॥ अन्यस्य ६।१॥ दुक् १।१॥ आशी""गच्छेषु ७।३॥ स० न षष्टी अषष्टी, न तृतीया अतृतीया, नव्तत्पुरुषः । अषष्टी च अतृतीया च अषष्ट्यतृतीये, तयोः तिष्ठतीति अषष्ट्यतृतीयास्थः, तस्य " इतेरतरद्वन्द्वगर्भतत्पुरुषः । आशीरा० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अतृ० चत्तरपदे ॥ अर्थः — आशिस् , आशा, आस्था, आस्थितं, उत्सुक, कितं, कारकं, रागं, छ इत्येतेषु परतः अषष्टीस्थस्य अतृतीयास्थस्य चान्य-शब्दस्य 'दुक्' आगमो भवति ॥ उदा० — अन्या आशीः = अन्यद्ाशीः । अन्या आशा = अन्यद्ाशीः । अन्या आस्था = अन्यद्राशीः । अन्य अत्युकः = अन्यदुत्सुकः । अन्या कितः = अन्यदृतिः । अन्यः कारकः = अन्यत्कारकः । अन्यो रागः = अन्यद्रागः । अन्यस्मन् भवः = अन्यद्रीयः ॥

भाषार्थः—[त्राह्मी: 'गच्छेषु] आशिस्, आशा, आस्था, आस्थित, उत्सुक, ऊति, कारक, राग, छ इनके परे रहते [त्र्रषष्ठ्यतृतीयास्थस्य] अषष्ठी स्थित तथा अतृतीयास्थित [अन्यस्य] अन्य शब्द को [दुक्] दुक् आगम होता है।। अन्य दुक् आशीः = अन्यदाशीः। इसी प्रकार सबमें जानें। अन्यदीयः यहाँ गहादिभ्यश्च (४।२।१३७) से छ प्रत्यय हुआ है।।

यहाँ से 'अषष्ठ्यतृतीयास्थस्य अन्यस्य दुक्' की अनुवृत्ति ६।३।९९ वक जायेगी।।

अर्थे विभाषा ॥६।३।९९॥

अर्थे ७।१।। विभाषा १।१।। अनु०—अषष्ठ्यतृतीयास्थस्य अन्यस्य हुक्, उत्तरपदे ।। अर्थः—अर्थशब्द उत्तरपदेऽषष्टीस्थस्यातृतीयास्थस्या-न्यस्य विभाषा दुगागमो भवति ।। उदा०—अन्यस्मै इदम् = अन्यद्र्यम् । अन्यार्थम् ।।

माषार्थ: — [अर्थे] अर्थ शब्द उत्तरपद में हो तो अषष्ठीस्थ तथा अवतीयास्थ अन्य शब्द को [विभाषा] विकल्प करके दुक्-आगम होता है।।

कोः कत्तत्पुरुषेऽचि ॥६।३।१००॥

[] q

3

म

y

को: ६।१॥ कत् १।१॥ तत्पुरुषे ७।१॥ अचि ७।१॥ इ उत्तरपदे ।। अर्थः -- अजादावुत्तरपदे तत्पुरुषे समासे ह कदित्ययमादेशो भवति ॥ उदाः --- कुत्सितोऽजः = कद्जः, । से कदुष्ट्रः, कदन्नम्।।

भाषार्थः-[कोः] कु को [तत्पुरुषे] तत्पुरुष समास में हि अजादि शब्द उत्तरपद हो तो [कत्] कत् आदेश होता है॥ प्रादयः (२।२।१८) से कद्जः आदि में समास हुआ है। मलांक (८।२।३९) से जश्त्व होकर त् को द् हो ही जायेगा।।

यहाँ से 'कोः' की अनुवृत्ति ६।३।१०७ तक तथा 'कत्' की की तक जायेगी।।

रथवद्योक्च ॥६।३।१०१॥

रथवद्योः ७।२॥ च अ०॥ स०--रथ० इत्यन्नेतरेत्यः के श्रनु - को:, कत्, उत्तरपदे ।। अर्थ: - रथ वद इत्येतयोश्रोता स कोः किद्त्ययमादेशो भवति ॥ उदा० -- कद्रथः, कद्रदः॥

भाषार्थ:-[रथवदयोः] रथ तथा वद शब्द उत्तरपद में हो वे भी कु को कत् आदेश होता है।।

तृणे च जातौ ॥६।३।१०२॥

रुणे ७११। च अ० ।। जातौ ७।१॥ अनु०-कोः, कत् अर्थ: - तृणशब्द उत्तरपदे को: कदादेशो भवति जातावभिषेगा उदा० - कच्नुणा नाम जातिः।।

भाषार्थः—[तृणे] तृण शब्द उत्तरपद में हो तो [च] भी ई आदेश होता है [जातौ] जाति अभिघेय होने पर ॥

का पथ्यक्षयोः ॥६।३।१०३॥

का. १।१॥ पथ्यक्षयोः ७।२॥ स०—पथ्य० इत्यन्नेतरेत्त अनु०-कोः, उत्तरपदे ॥ अर्थः-पिथन् अत्त इत्येतयोस्तरपहे

है।। लां कां

ही है।

ति

उत्ता

कु के

का इत्ययमादेशो भवति ।। उदा०—कुत्सितः पन्थाः = कापथः, कुत्सिते-श्रक्षिणी अस्य = काक्षः ।।

आक्षणा अस्य म्यास्ता ।

माषार्थः—[पथ्यद्धयोः] पथिन् तथा अक्ष शब्द उत्तरपद हो तो कु

शब्द को [का] का आदेश होता है।। कापथः में ऋक्पूरब्धूः० (५।४।७४)

से समासान्त 'अ' प्रत्यय तथा काक्षः में बहुत्रीहो सक्थ्यच्णोः० (५।४।११३)

से समासान्त षच् प्रत्यय हुआ है। का पथिन् अ = नस्तिद्धते (६।४।१४४)

में से टि भाग का छोप होकर कापथः काक्षः बन गया।।

यहाँ से 'का' की अनुवृत्ति ६।३।१०७ तक जायेगी।।

ईषदर्थे ॥६।३।१०४॥

ईषद्र्थे ७।१।। स०—ईषदः अर्थः ईषद्र्थस्तस्मिनः 'पष्टीतत्पुरुषः ॥ अत्रु॰—का, कोः, उत्तरपदे ॥ अर्थः—ईषद्र्थे वर्त्तमानस्य कोः का इत्यय-मादेशो भवति ॥ उदा॰ —ईषन्मधुरम् = कामधुरम् , कालवणम् ॥

भाषार्थः — [ईषदर्थे] ईषत् (थोड़ा) के अर्थ में वर्त्तमान कु शब्द को 'का' आदेश हो जाता है।। पूर्ववत् कुगतिप्रादयः (२।२।१८) से तत्पुरुष समास उदाहरणों में जानें।।

विभाषा पुरुषे ॥६।३।१०५॥

विभाषा १।१।। पुरुषे ७।१।। श्रनु०— का, कोः, उत्तरपदे ।। अर्थः— पुरुषशब्द उत्तरपदे कोः का इत्ययमादेशो विकल्पेन भवति ।। उदा०— कापुरुषः, कुपुरुषः ।।

भाषार्थ:—[पुरुषे] पुरुष शब्द उत्तरपद हो तो [विभाषा] विकल्प से कु शब्द को 'का' आदेश हो जाता है।। जब का आदेश नहीं होगा तो कु ही रहेगा।। यहाँ भी तत्पुरुष समास पूर्ववत् जानें।।

यहाँ से 'विमाषा' की अनुवृत्ति ६।३।१०७ तक जायेगी।।

कवं चोष्णे ॥६।३।१०६॥

कवम् १।१॥ च अ०॥ उद्यो ७।१॥ अनु०—विभाषा, का, कोः, उत्तरपदे ॥ अर्थः—उद्याशब्द उत्तरपदे कोः कविमत्ययमादेशो भवति, का च विकल्पेन ॥ उदा०—कवोद्याम्, कोद्याम्, कदुद्याम्॥

भावार्थ: — [उष्णो] उष्ण शब्द उत्तरपद् रहते कु शब्द के कि कब आदेश िम होता है, एवं विकल्प से का आदेश भी हो दूर 'कव' आदेश होकर कवोष्णम् तथा 'का' होकर कोष्णम् एवं पा हे 'का' आदेश नहीं हुआ तो अजादि उष्ण शब्द के परे रहते की विविध्य होकर कदुष्णम् बन गया।।

यहाँ से 'कवम्' की अनुवृत्ति ६।३।१०७ तक जायेगी॥

पथि च च्छन्दिस ॥६।३।१०७॥

क

(1

200

F

पथि ७११। च अ०।। छन्दस्ति ७।१।। श्रनु०—विभाषा, का के को:, उत्तरपदे ।। अर्थः — पथिन् शब्द उत्तरपदे छन्दसि विषये को इत्येतावादेशो विकल्पेन भवतः ।। उदा० — कवपथः, कापथः, इ

भाषार्थ: - [पिथ] पिथन् शब्द उत्तरपद रहते [च] भी हिं विद विषय में कु को 'कव' तथा 'का' आदेश विकल्प करके हैं व पक्ष में जब कव एवं का आदेश नहीं होंगे तो कु ही रह करें हिं बनेगा।

प्रषोदरादीनि यथोपदिष्टम् ॥६।३।१०८॥

पृषोदरादीनि १।३॥ यथोपदिष्टम् अ०॥ स०—पृषोदर आदि तानि पृषोदरादीनि, बहुत्रीहिः । यानि यानि (शिष्टैः) उपितृ विष्मानि विष्टम्, यथाऽसाहरये (२।१।७) इति वीप्सायामव्ययीभावः ॥ पृषोदरप्रकाराणि शब्दरूपाणि शिष्टैयेथोच्चारितानि तथैव । भवन्ति ॥ दिशिरत्रोच्चारणिकयः, उपितृ ष्टान्युच्चारितानि उदा०—पृषद् उद्दरं यस्य तत् पृषोदरम् । पृषद् उद्दानं यस्य त द्वानम् । उभयत्र तकारछोपः । वारिवाहको बलाहकः । पूर्वपहर्वा शब्दस्य व अपदेशः उत्तरपदादेश्च ल्रुत्वम् । जीवनस्य मूतः अत्र वनशब्दस्य छोपः । शवानां शयनं श्मशानम् । अत्र श्वश्वम् आदेशः, शयनशब्दस्यापि 'शान' आदेशः ॥

भाषार्थः—[पृषोदरादीनि] पृषोद्र इत्यादि शब्दरूप (शिर्ष) है । [यथोदिष्टम्] जिस प्रकार उच्चरित हैं वैसे ही साधु माने जाते हैं । जहाँ छोप आगम-वर्ण विकार-वर्णविपर्यय आदि देखा जाये,

पादः]

1, 44

के हों

का ।

आदि

ष्ट्रातिः : 114

वि व

तानील

य ती पदर्श

ं जी OF F

ने हैं।

首

किली

248

भी हूरा उसका विधान न हो, ऐसे शब्दों को भी शिष्ट पुरुषों द्वारा उचरित के कारण साधु समझना चाहिये।। शिष्ट कौन होते हैं ? इस की विषय में इसी पूत्र के सहाभाष्य में कहा है— एतस्मिन्नार्यनिवासे ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्या अलोलुपा अगृह्यमाणकारणाः किञ्चिद्न्तरेण कस्याश्चिद् विद्यायाः पारगास्तत्र भवन्तः शिष्टाः ॥

अर्थात् इस आर्थ निवास (आर्यावर्त देश) में रहनेवाले कुम्भीधान्य (जो घर में घड़ाभर ही अन्न रखते हैं) छोभरहित, बिना किसी कारण के अर्थात निष्काम भाव से जो किसी विद्या में पारङ्गत हैं ऐसे व्यक्ति एयं शिष्ट कहाते हैं।

12:,3 धर्मशास्त्रों में शिष्ट का लक्षण षडङ्गवेदवित् किया है ऐसे महा-भी [इ विद्वान् शिष्टपुरुषों द्वारा प्रयुक्त शब्दों के यथाथँ ज्ञान के छिए ही भग-वान् पाणिनि ने अष्टाध्यायी बनाई। इसीलिए महाभाष्य में कहा है— शिष्टपरिज्ञानार्थाऽष्टाध्यायी (६१३।१०७) ।

उपर्कुक्त उदाहरणों में कहां किसका लोग वा आगम आदेश आदि हुआ है यह द्शा दिया है।।

संख्याविसायपूर्वस्याह्नस्याहनन्यतरस्याम् डो ।।६।३।१०९॥

संख्याविसायपूर्वस्य ६।१।। अह्नस्य ६।१।। अह्न १।१।। अन्यतर-स्याम् ७।१।। को ७।१।। स० — संख्या च विश्च सायश्च संख्याविसायम्, इत्येतत् पूर्वं यस्य स संख्याविसायपूर्वस्तस्यः दृन्द्रगर्भबहुव्रीहिः॥ श्रर्थ: संख्या, वि, साय इत्येवंपूर्वस्य अह्न शब्दस्य स्थाने अहन इत्ययमादेशो भवति विकल्पेन, ङौ परतः ॥ उदा० — द्वयोरह्वोभवः द्वच्दनः

१. आजकल के वैयाकरण महाभाष्यकार के 'शिष्टुपरिज्ञानार्था अष्ट्राध्यायी' नियम को न मानकर ऋषिकृत ग्रन्थों में प्रयुक्त शब्दों की विवेचना भी अष्ट्राच्यायी के आधार पर करते हैं श्रौर जो शब्द श्रष्टाध्यायी के नियमों से सिद्ध नहीं होते उन्हें श्रार्ष प्रयोग अर्थात् असाघु प्रयोग मानते हैं। वस्तुतः यह प्रक्रिया शास्त्रविरेंद्ध है। मार्ष शब्द सभी साधु हैं उनका साधुत्व इसी सूत्र से समक्त लेना चाहिये।

तिसमन् द्वयहिन द्वयहिन । ज्यहि ज्यहिन । ज्यपगतमहो व्यक्ष ज्यहिन ज्यहिन । सायमहः = सायाहः । सायाहि, सायहिन 'अहन्' आदेशो न तदा द्वयह्ने ज्यह्ने सायाहिन इति॥

भाषार्थः—[संख्याविसायपूर्वस्य] संख्या, वि तथा सार्वः [अहस्य] अह शब्द को [अहन्] अहन् आदेश [अन्यतरसाष्ट्रः करके होता है [ङो] कि परे रहते ।। द्वयोरहोर्भवः द्वयहः स्वित्वार्थोत्तर० (२।१।५०) से समास, भवार्थ में उत्पन्न औत्तिक द्विगोर्ल्युगनपत्ये (४।१।८८) से लुक् ५।४।८६ से अहादेश होगा, करव ज्यह से पुनः सप्तमी विभक्ति आने पर 'अह्न' को अहन् आहे विकर्ण से अकार छोप होकर द्वयहि द्वयहि सायाह में इसी सूत्र के ज्ञापक से एकदेशी समास जानना चि धा

[दीर्घप्रकरणम्]

ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः ॥६।३।११०॥

ढ़लोपे ७।१।। पूर्वस्य ६।१॥ दीर्घः १।१॥ अणः ६।१॥ सर्व् रेफश्च ढ्रौ, तयोलींपो यस्मिन् स ढ़लोपस्तस्मिन् '''दिन्दूगर्भन् ७ रुषः ॥ अर्थः—ढ़लोपे पूर्वस्याणो दीर्घो भवति ॥ उदा० – ढलोपे स मीढम्, उपगूढम्, मूढः । रलोपे — नीरक्तम्, अग्नी रथः, इद् स स रक्तं वासः, प्राता राजकयः ॥

भाषार्थ:—[द्रलोपे] ढकार एवं रेफ का छोप हुआ है जिसे पूर्व [पूर्वस्य] पूर्व [अणः] अण् को [दीर्घः] दीर्घ होता है ॥ छिई वि घातु से क्त होकर हो ढः (८।२।३१) भवस्तथो० (८।२।४०) वि घातु से क्त होकर हो ढः (८।२।३१) भवस्तथो० (८।२।४०) वि ६ का छोप होने से ढछोप से पूर्व अण् 'इ' को प्रकृत सूत्र से वि छोप होने से ढछोप से पूर्व अण् 'इ' को प्रकृत सूत्र से वि छोडम् बन गया। इसी प्रकार मिह सेचने से मीढम्, गृह से वि छोडम् बन गया। इसी प्रकार मिह सेचने से मीढम्, गृह से वि छुगतिप्रा० (२।२।१८) से समास तथा निर् के रेफ का रो वि से छोप हुआ है, अतः प्रकृत सूत्र से दीघ हो गया। इसी प्रकार स्व छोप होकर दीर्घ हो एया। इसी प्रकार स्व छोप होकर दीर्घ हो एया। इसी प्रकार हो हो छोप होकर दीर्घ हो एसा जानें।।

२५३

[बादः]

स्याम

(chi प्रकृष

व्यक्तः यहाँ से 'ढ्लोपे' की अनुवृत्ति ६।३।१११ तक 'पूर्वस्य' की ६।३।११२ यहिं क एवं 'दीर्घः' की ६।४।१८ तक तथा 'श्रणः' की ६।४।२ तक जायेगी॥

सहिवहोरोदवर्णस्य ॥६।३।१११॥

सहिवहोः ६।२॥ ओत् १।१॥ अवर्णस्य ६।१॥ स०—सिह्स्र वहस्र यहः सिंहवही तयोः '''इतरेतरद्वन्द्वः। अश्वासी वर्णश्च, अवर्णस्तस्य'' सिकिकर्मधारयस्तत्पुरुषः ॥ अनु - द्लोपे ॥ अर्थः - द्लोपे सह् वह् इत्येतयो-गा, तरवर्णस्यौकार आदेशो अवति ।। उदाः—सोढां, सोढुम्, सोढव्यम्। आरेर बोढा, वोढुम्, वोढव्यम्।।

चहिं भाषार्थः - ढकार और रेफ का छोप होने पर [सहिवहोः] सह तथा वह् चिं घातु के [अवर्णस्य] अवर्ण को [अोत्] ओकारादेश होता है।। पूर्ववत् छीढम् के समान सिद्धि जानें।।

साढ्ये साढ्वा साढेति निगमे ॥६।३।११२॥

मिं साट्ये अ०।। साढ्या अ०।। साढा १।१।। इति अ०।। निगमे हुगर्भ ७१॥ अर्थः – साढ्यै साढ्वा साढा इति निगमे निपात्यन्ते । साढ्यै इत्यत्र मेर्ने सहेः क्त्वाप्रत्ययः, क्त्वाप्रत्ययस्य ध्यैभावः, ओत्वाभावश्च निपात्यते। त्या साढ्ये समन्तात् । साढ्वा इत्यत्र पूर्ववत् कत्वाप्रत्यय ओत्वाभावश्च निपात्यते । साढ्वा शत्रून् । साढा इति तृनि रूपमेतत्, ओत्वाभावश्च जसां। पूर्ववत् ॥

港新 भाषार्थः—[साद्ये साद्वाासादित] साद्ये साद्वा तथा सादा ये शब्द ि विगमे वेद में निपातन किये जाते हैं।। साढ्ये यहाँ क्त्वाप्रत्यय को १३) ध्येमाव तथा ओत्व जो कि सहिवहो० (६।३।१११) से प्राप्त था उसका अभाव निपातन है। साढ्वा में क्त्वा प्रत्यय है ही ओत्वाभाव पूर्ववत् है।साढा वह तन् का रूप है, यहाँ भी ओत्वाभाव निपातित है। द्लोपे पूर्वस्य क्षि (६।३।१०६) से सर्वत्र दीर्घ हो ही जायेगा ॥

१. तृचीति काशिका। उभयथाऽपि शक्यमिह विज्ञातुम्, यद्युभयप्रत्ययस्वर जपलम्येत वेदे। र्व हैं

संहितायाम् ॥६।३।११३॥

संहितायाम् ७।१॥ अर्थः—संहितायामित्यधिकारः, आर्धिकारः, भारतेः ॥ उदा०—वस्यति — द्वयचोऽतस्तिङः (६।३।१३४) क्षित्रविह, व्रा सत्पतिं शूर् गोनाम् ॥

भाषार्थः—[संहितायाम्] संहितायाम् यह अधिकार प्रकृष्टिकी समाप्ति पर्यन्त जायेगा ।। उदाहरण में विद्मा को दीर्घ हु संहितायाम् कहने से पदपाठ में तथा अवप्रह में दीर्घल की विद्मा की पर्वा प्रयोजन है। इसी प्रकार अन्य सूत्रों में भी 'संहितायाम्' हो का प्रयोजन जान लेना चाहिये।।

कर्णे लक्षणस्याविष्टाष्ट्रपञ्चमणिभिन्नच्छिन्नच्छद्रसुन्ति ती

कर्णे ०।१॥ लक्षणस्य ६।१॥ अविष्टाः 'कस्य ६।१॥ सः न्या इसं इत्यत्र पूर्व द्वन्द्वस्ततो नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु० — पूर्वस्य दीघेः, अण्याके याम् ॥ अर्थः — विष्ट, अष्टन, पञ्चन, मणि, भिन्न, द्विन्न, क्रिंगात् स्वस्तिक इत्येतान् शब्दान् वर्जयित्वा कर्णशब्द उत्तरपदे लक्षणिया णो दीर्घो भवति संहितायां विषये ॥ उदा० — दात्राकर्णः, द्विण्यहे तिर्गुणाकर्णः, द्वचङ्गुलाकर्णः, ज्यङ्गुलाकर्णः ॥

माषार्थ:—[अविष्टाष्ट ' 'कस्य] विष्ट, अष्टन, पद्धन, मणि, मिंडे हिंद्र, स्तुव, स्वस्तिक इन शब्दों को छोड़कर [कर्ण] कर्ण शब्द हैं रहते [लत्तणस्य] छक्षणवाची शब्दों के अण् को दीर्घ होता है भी विषय में ।। जिससे छक्षित किया जाये वह छक्षण होता है। विषय में ।। जिससे छक्षित किया जाये वह छक्षण होता है। विषय में । दात्रं कर्णे यस्य स दात्राकर्ण:, अर्थात् दरांती का विष्ट मिंडे कान पर है, वह दात्राकर्ण: है सो दात्र उसका छक्षण है। अप मह वाची माना जाने से दीर्घ हो गया है। इसी प्रकार अन्य उद्योग मह भी बहुत्रीहि समासादि सब कुछ जानें।।

नहिच्चतिच्चिष्वच्यिक्षिक्तितिषु क्रौ ॥६।३।११५॥ सि नहिचुः 'निषु ७।३॥ क्षौ ७।१॥ स०—नहि॰ इत्यंत्रेतरेत ादः]

व्द ह

के सी

गु॰—पूर्वस्य दीर्घोऽणः, संहितायाम् ॥ अर्थः—निह, वृति, वृषि, व्यधि, विव, सिंह, तिन, इत्येतेषु किप्प्रत्ययान्तेषूत्तरपदेषु पूर्वस्याणो दीर्घो मिवित संहितायां विषये ॥ उदा॰—निह—उपानत्, परीणत् । वृति-विवृत्, उपावृत् । वृषि—प्रावृद्, उपावृद्। व्यधि-मर्मावित्, हृदया-वत्, श्वावित् । रुचि-नीरुक्, अभीरुक् । सिंह-ऋतीषट् । तिन-तरीतत्॥

सूत्र है घंडुः भाषार्थ:-[नहिः तिनषु] नहि, वृति, वृषि, व्यधि, रुचि, सहि, न में बिन इन [को] किप्प्रत्ययान्त शब्दों के उत्तरपद रहते पूर्व अण् को गि रीर्घ हो जाता है संहिता के विषय में ।। उपानत् यहाँ नह् धातु के ह् को गहों घः (८।२।३४) से धत्व हुआ है, पश्चात् जश्त्व (८।२।३८) एवं चर्त्व (८।४।४४) होकर उप नत् प्रकृत सूत्र से दीर्घ होकर उपानत् बना है।परिणहा-वि^{वित} तीति परीणत् यहाँ उपसर्गादसमासे ० (८।४।१४) से णत्व ही विशेष हुआ है। संपदादिभ्यः किप् (वा० ३।३।९४) इस वार्त्तिक से किप् हुआ है। नीवृत् यहाँ अन्येभ्योऽपि दश्यन्ते (३।२।७५) से किप् हुआ है। अंदूसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी किप् जानें। प्रावृट् यहाँ वृष् धातु भण, के ष्को जश्त्व डकार एवं चर्त्व टकार हुआ है। मर्मावित् यहाँ व्यध , जिंगातु को पहिज्या० (६।१।१६) से संप्रसारण होता है। नीरक यहाँ स्च् वणाधातुके च्को क् चोः कुः (८।२।३०) से हो जाता है। ऋतीषट् यहाँ विश्वासहैः वृतनर्ताभ्यां च (८।३।१०६) को योगविभाग करके षत्व होता है। तरीतत् यहाँ गमादीनामिति वत्त न्यम् (वा० ६।४।४०) इस वार्त्तिक से तन भि^{के} अनुनासिक का लोप हो जाता है।।

वनगियों: संज्ञायां कोटरिकंगुलकादीनाम् ॥६।३।११६॥

वनिगर्थोः ७।२॥ संज्ञायाम् ७।१॥ कोटरिकंशुलकादीनाम् ६।३॥ विक्रित्ते वन्न इत्यन्नेतरेतरद्वन्द्वः । कोटरश्च किंशुलकश्च कोटरिकंशुलकी, अत्र तो आदी येषां ते कोटरिकंशुलकाद्यस्तेषाम् इत्यार्भबहुन्नीहः ॥ अवु॰- विक्रियं दीर्घोऽणः, उत्तरपदे, संहितायाम् ॥ अर्थः—वन गिरि इत्येतयोरुत्तर पदयोयथासंख्यं कोटरादीनाम् किंशुलकादीनां च दीर्घो भवति, संज्ञायां विषये ॥ उद्ा०—वने कोटरादीनाम्—कोटरावणम्, मिश्रकावणम्, सारिकावणम् । गिरौ किंशुलकादीनाम्—किंशुलकािरिः अञ्जनािगिरः ॥

भाषार्थ:—[वनिगर्योः] वन तथा गिरि शब्द उत्तरपह के में संख्य करके [कोट : दीनाम्] कोटरादि एवं किंग्रुडकादि में शब्दों को [संज्ञायाम्] संज्ञा विषय में दीर्घ होता है ॥ अर्था रहते कोटरादियों को एवं गिरि पर रहते किंग्रुडकादियों के जाता है ॥ मिश्रकावणम् आदि में वन शब्द के नकार के मर मिश्रकाव (८।४।४) से णत्य होता है तथा सर्वत्र षष्टीसमास है।

यहाँ से 'संज्ञायाम्' की अनुवृत्ति ६।३।११९ तक जायेगी॥

वले ॥६।३।११७॥

वले ७११। श्रनुः—संज्ञायाम् , पूर्वस्य दीर्घोणः, संह तर् अर्थः—वले परतः संज्ञायां विषये पूर्वस्याणो दीर्घो भवितं स विषये ।। उदाः —आसुतीवलः, दन्तावलः, कृषीवलः ॥

भाषार्थ:—[वले] वल परे रहते पूर्व अण् को दीर्घ हो ब संज्ञा को कहने में ॥ वल से वलच् प्रत्यय लिया गया है, बो इध्यासुति० (४।२।११२) से होता है ॥

मतौ बह्वचोऽनजिरादीनाम् ॥६।३।११८॥

मतौ ७।१॥ बह्वचः ६।१॥ अर्नाजरादीनाम् ६।३॥ सः विस्मन् स बह्वच् तस्यः 'बहुत्रीहिः । अजिर आदिर्येषां ते औं न अजिराद्योऽनजिराद्यस्तेषाम् 'बहुत्रीहिगर्भनञ्तसुरुषः॥ संज्ञायाम् , पूर्वस्य दीर्घोणः, संहितायाम् ॥ अर्थः अजिर्पि विद्या विद्यो । उदा विद्या स्वायां विषये ॥ अर्थः स्वायां विषये ॥ उदा विद्या स्वायां स्वयां स्वायां स्वाय

भाषार्थ:—[अनिजरादीनाम्] अजिरादियों को छोड़ की मतुप् परे रहते [बहुच:] बहुच् शब्दों के अण् को दीर्घ होता कि विषय में ।। उदाहरणों में नद्यां मतुप् (४।२।८४) से मतुप् उदुम्बर मशक आदि शब्द बहुच् हैं ही ।।

यहाँ से 'मतो' की अनुवृत्ति ६।३।११९ तक जायेगी॥

में इ

ं शरादीनां च ।।६।३।११९॥ शरादीनाम् ६।३॥ चअ० ॥ स०—शरा० इत्यत्र बहुव्रीहिं। गी॥

:11

पर मती, संज्ञायाम् , पूर्वस्य, दीर्घोऽणः, संहितायाम् ॥ अर्थः—शरादीनां च पितृ मती दीर्घो भवति, संज्ञायां विषये ॥ उदा०—शरावती, वंशावती ॥

भाषार्थः—[शरादीनाम्] शरादियों को [च] भी संज्ञा विषय में मतुप्परे रहते दीर्घ होता है ॥ पूर्ववत् मतुप् प्रत्यय होकर संज्ञायाम् सहै। (८।२।११) से मतुप् के म को वत्व हुआ है।

इको वहे 5पीलो: ॥६।३।१२०॥

इकः ६।१॥ वहे ७।१॥ अपीछोः ६।१॥ स०—अपीछोः इत्यत्र नञ् तत्पुरुषः ॥ अनु०—दीर्घः, उत्तरपदे, संहितायाम् ॥ अर्थः—पीलुवर्जि-तस्य इगन्तस्य पूर्वपदस्य वह उत्तरपदे दीर्घो भवति ॥ उदा०— ऋषीवहम्, कपीवहम्, मुनीवहम्॥

का भाषार्थः—[अपीलोः] पीलु शब्द को छोड़कर जो [इकः] इगन्त विश्वेष्य वाले शब्द उनको [वहे] 'वह' शब्द के उत्तरपद रहते दीर्घ होता है। वह शब्द पचाद्यजन्त है। ऋषीवहम् आदि में षष्ठीसमास हुआ है।।

उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम् ॥६।३।१२१॥

जित्वा उपसर्गस्य ६।१॥ घिच ७।१॥ अमनुष्ये ७।१॥ बहुल्रम् १।१॥ वित्व ७।१॥ अमनुष्ये ७।१॥ बहुल्रम् १।१॥ अपि अमनुष्ये ७।१॥ बहुल्रम् १।१॥ अपि अमनुष्ये इत्यत्र नक्तरपुरे ।। अनु०-पूर्वस्य, दीर्घोऽणः, उत्तरपुरे, तिर्वित्वायाम् ॥ अर्थः—घव्यन्त उत्तरपुरे उमनुष्ये उभिष्ये उपसर्गस्याणो अप्राम्याम् ।। अर्थः—घव्यन्त उत्तरपुरे उमनुष्ये ।। अर्थः विकल्पे देशे स्वति ॥ उदा०—वीक्लेदः, वीमार्गः, अपामार्गः । न च

माषार्थः—[घिन] घवान्त उत्तरपद रहते [अमनुष्ये] अमनुष्य किमिषेय होने पर [उपसर्गस्य] उपसर्ग के अण् को [बहुलम्] बहुछ पर्म किस्ते दीर्घ होता है ॥ वीक्लेदः वीमार्गः यहाँ क्लिट्द तथा मृजूष् घातु किम्हिष्ट को मुजेर्नुद्धिः (७।२।११४) से वृद्धि एवं चजोः कु० (७।३।५२) से कुल हुआ है ॥

यहाँ से 'उपसर्गस्य' की अनुवृत्ति ६।३।१२३ तक जायेगी।।

िपा

यह से

(4

इकः काशे ॥६।३।१२२॥

इकः ६।१॥ काशे ७।१॥ अनु०—उपसर्गस्य, दीर्घः, संहितायाम् ॥ अर्थः—इगन्तस्य उपसर्गस्य काशशब्द उत्तर्तां सं भवति संहितायां विषये ॥ उदा०—नीकाशः, वीकाशः, अनुका

भाषार्थः — [इकः] इगन्त उपसर्ग को [काशे] काश शह दि रहते दीर्घ होता है संहिता के विषय में ।। काश्य दीप्ती बातु से करके काश शब्द बना है ।।

यहाँ से 'इकः' की अनुवृत्ति ६।३।१२३ तक जायेगी॥

दस्ति ॥६।३।१२३॥

दः ६।१॥ ति ७।१॥ श्रनु०—इकः, उपसर्गस्य, दीर्घः, संहि (४ श्रर्थः—दा इत्येतस्य यस्तकारादिरादेशस्तस्मिन् परत झालते मर दीर्घो भवति ॥ उदा०— नीत्तम्, वीत्तम्, परीत्तम्॥

भाषार्थः—[दः] दा के स्थान में हुआ जो [ति] तकाराहिं।
के परे रहते इगन्त उपसर्ग को दीर्घ होता है।। नि दा कः उपसर्गात्तः (७।४।४७) से दा धातु के अन्त्य अल् (१।१।४१) हे देश होकर नि द् त् त रहा। खिर च (८।४।४४) से द् को त कि सित्तां (८।४।६४) से एक तकार का लोप तथा प्रकृत स्थान के स्थान में जो तकारादि आहें।
पष्टी है, अतः 'दा के स्थान में जो तकारादि आहें।
किया है।।

अष्टनः संज्ञायाम् ॥६।३।१२४॥

अष्टनः ६।१।। संज्ञायाम् ७।१।। श्रनु०-पूर्वस्य, दीर्घोऽणः, मी उत्तरपदे ।। श्रर्थः—अष्टन् इत्येतस्य उत्तरपदे परतः संज्ञायां स्वायां स्वायां स्वायां स्वायां स्वायां स्वायां स्व

भाषार्थः—[श्रष्टनः] अष्टन् शब्द् को उत्तरपद् परे रहते वि संज्ञा विषय में दीर्घ होता है।। नलोपः प्राति० (८१२१७) हे हो ही जायेगा।।

यहाँ से 'श्रष्टनः' की अनुवृत्ति ६।३।१२५ तक जायेगी।

[पादः]

চ্চ=্

1

षष्टोऽध्यायः

348

छन्दसि च ॥६।३।१२५॥

ब्रन्दिस ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—अष्टनः, पूर्वस्य, दीर्घोणः, उत्तरपदे उत्तारं संहितायाम् ॥ श्रर्थः — छन्द्सि विषये अष्टन् इत्येतस्य दीर्घो भवति, न्_{षि। इत्तरपदे परतः ।। उदा० – आग्नेयमष्टाकपाछं निर्वपेत् । अष्टाह्रिरण्या} श्रदक्षिणा। अष्टापदी देवता सुमती।। ातु से

भाषार्थ: [छन्दिस] वेद विषय में [च] भी अष्टन् शब्द को दीव हो जाता है, उत्तरपद परे रहते।। अष्टसु कपालेषु संस्कृतमष्टाकपालम् यहाँ संस्कृतम् (४।४।३) से अण् होकर उसका द्विगोर्लुगनपत्ये (४।१।८८) से लुक् हुआ है। अष्टी पादा अस्या अष्टापदी यहाँ पादस्य लोपी॰ (५।४।१३८) से पाद शब्द के अ का छोप हुआ है, तथा पादोऽन्यतरस्याम् संह (४।१।८) से ङीप् हुआ है । अष्टाहिरण्या यहाँ अष्टी हिरण्यानि परिमाण-मस्य इस तिद्धतार्थ में समास तथा तदस्य परिमाण्म (४।१।४६) से इत्पन्न प्रत्यय का अध्यर्द्वपूर्विद्वगोर्त्तुगसंज्ञायाम् (४।१।२८) से तुक् होता है।।

चितेः कपि ॥६।३।१२६॥

१) के चिते: ६।१॥ किप ७।१॥ अनु०-पूर्वस्य, दीर्घोणः संहितायाम्,॥ त अर्थः—कपि परतश्चितिशब्दस्य दीर्घो भवति संहितायां विषये॥ उदाः— त स्वापका चितिरस्य = एकचितीकः, द्विचितीकः, त्रिचितीकः।।

हिंदी भाषार्थ:—[किप] कप् परे रहते [चिते:] चिति शब्द को दीर्घ हो हैंद्र हिंगता है, संहिता विषय में ।। स्त्रिया:पुंबद्० (६।३।३२) से उदाहरणों में वृद्धाव हुआ है, तथा शेषाद्विमाषा (५।४।१५४) से कप् प्रत्यय होता है।।

विश्वस्य वसुराटोः ॥६।३।१२७॥

विश्वस्य ६।१॥ वसुराटोः ७।२॥ स०—वसु० इत्यत्रतरतरहरू व वाह्यान्युर्वस्य, दीर्घोणः, उत्तरपदे, संहितायाम् ॥ त्रर्थः—विश्व इत्येतस्य पुर्वस्य, दोघोणः, उत्तरपदं, साहतायाम् ॥ अत्रर्वः वसु यस्य अति विक्रिक्तियोरुत्तरपद्योः दीर्घो भवति ॥ उदा०—विश्वं वसु यस्य विश्वावसुः । विश्वस्मिन् राजते इति विश्वाराट्॥

माषार्थः [वसुराटोः] वसु तथा राट् उत्तरपद् रहते [विश्वस्य] विश्व बन्द को दीर्घ हो जाता है।। विश्वाराट् यहाँ राज् धातु से सल्पृद्धिष०

वाव

भनु

ङ

(३।२।६१) से किप् हुआ है। सिद्धि (३।२।६१) इसी प्राहेश में देखें।। ीः

यहाँ से 'विश्वस्य' की अनुवृत्ति ६।३।१२९ तक जायेगी॥

नरे संज्ञायास् ॥६।३।१२८॥

नरे ७।१॥ संज्ञायाम् ७।१॥ अनु० — विश्वस्य, प्रवस्य उत्तरपदे, संहितायाम् ॥ अर्थः — नरशब्द उत्तरपदे संज्ञायां किता शब्दस्य दीर्घो भवति ।। उदा०—विश्वानरो नाम यस्य वैश्वाती

भाषार्थः—[नरे] नर शब्द उत्तरपद रहते [संज्ञायाम्]सं में विश्व शब्द को दीर्घ होता है।।

मित्रे चर्षी ।।६।३।१२९॥

मित्रे ७।१॥ च अ०॥ ऋषौ ७।१॥ अनु० — विश्वस्य, पूर्वस विष उत्तरपदे, संहितायाम्।। अर्थः — ऋषाविभवेये मित्रे चोत्तर्षा 狠 दीर्घो भवति ॥ उदा०—विश्वामित्रो नाम ऋषिः॥

भाषार्थः—[मित्रे] मित्र शब्द उत्तरपद रहते चि] भी क्रि अभिघेय होने पर विश्व शब्द को दीर्घ हो जाता है॥

मन्त्रे सोमाश्चेन्द्रियविश्वदेच्यस्य मतौ ॥६।३।१३११

मन्त्रे ७।१॥ सोमाः स्य ६।१॥ मतौ ७।१॥ स०-संक् समाहारो द्वन्द्वः ॥ श्रनुः—पूर्वस्य, दीर्घोणः, संहितायाम्॥ति सोम, अश्व, इन्द्रिय, विश्वदेठय इत्येतेषां मतुष् प्रत्यये वहाँ भवित मन्त्रविषये संहितायाम्।। उदा०—सोमावती, कि

भाषार्थ: — [सोमा 'स्य] सोम, अश्व, इन्द्रिय, विश्वीप शब्दों को [मतौ] मतुप् प्रत्यय परे रहने पर दीर्घ हो जाता मन्त्र विषय में ।। मन्त्र विषय में ॥ उदाहरणों में उगितश्च (४।१।६) से डीप् टाइ

यहाँ से 'मन्त्रे' की अनुवृत्ति ६।३।१३१ तक जायेगी॥

ओषघेश्च विभक्तावप्रथमायाम् ॥६।३।१३१॥ औषघेः ६।१॥ च अ०॥ विभक्तौ ७।१॥ अप्रथमायाम् सूत्र_{रेअप्र} इत्यत्र नञ्तरपुरुषः ॥ अतु — मन्त्रे, संहितायाम्, पूर्वस्य, र्श्चोणः ॥ अर्थः - अप्रथमायां विभक्तौ परत ओषधिशब्दस्य दीघों भवति गी॥ ग्निविषये ॥ उदा०-ओषधीभिरपीपतत् । नमः ओषधीभ्यः ॥

भाषार्थः—मन्त्र विषय में [त्रप्रथमायाम्] प्रथमा भिन्न [विभक्ती] र्श्त विभक्ति के परे रहते [अविषे:] ओषधि शब्द को [च] भी दीर्घ हो ां किताता है।।

श्वानी

म्रोसं

H ull

ऋचि तुज्ञधमक्षुतङ्कत्रोरुष्याणाम् ॥६।३।१३२॥

ऋचि ७।१॥ तुनु ""णाम् ६।३॥ स० — तुनु० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ भवुः—संहितायाम् , दीर्घोणः ॥ अर्थः—ऋचि विषये तु, नु, घ, मक्षु, 📴, छ, त्र, उरुष्य इत्येतेषां शब्दानां दीर्घो भवति संहितायाम् पूर्वत विषये ।। उदा०—आ तू नं इन्द्र वृत्रहन् (ऋ० ४।३२।१) । नु न् करणे त्तर्ता — दत वा घा स्यालात् (ऋ० १।१०६।२) । मक्षु — मक्षू गोमन्तमीमहे ऋः ८।३३।३) तङ्—भरंता जातवे दसम् (ऋः १०।१७६।२)। कु— क्षिमनः। त्र— अत्रा गौः। उरुष्य—उरुष्या णोऽग्नेः॥

भाषार्थ: — [तुनु 'साम्] तु, नु, घ, मश्च, तङ्, कु, त्र, उरुष्य न शब्दों को [ऋचि] ऋचा विषय में दीर्घ हो जाता है संहिता विषय में।। १३ गोट् लकार में लोटो लङ्बत् (३।४।८५) से लङ्बत् अतिदेश कर के मध्यम-्ते हिष बहुवचन 'थ' को तस्थस्थमिपां तांतंतामः(३।४।१०१) से जो 'त' आदेश वार्। ता है, तथा उसको लङ्वत् होने से ङित् माना जाता है, उस 'थ' का वे पहिं 'तङ्' से महण है।। अत्रा यह त्रलन्त (४।३।१०) का रूप है। ती, विदोऽन् (४।३।४) से त्रल् प्रत्यय करने पर अन् आदेश हुआ है। रुखा यहाँ पहले आत्मन उरुमिच्छति ऐसा विग्रह करके उरु शब्द से विश्वास्त्रनः क्यच् (३।१।८) से क्यच् प्रत्यय किया। पश्चात् सर्वप्राति-लालसायासुग्वक्तव्यः (वा० ७।१।५१) इस वार्त्तिक से सुक् प्राथम होकर् उरु सुक् क्यच् = उरु स् य रहा। सुषामादिषु च (।३।६८) से षत्व होकर छोट् मध्यमपुरुष एकवचन में अतो हैं: ॥ है। ४१०५) से हि का लुक् एवं दीर्घत्व होकर 'उरुष्या' बना है। यहाँ से 'ऋचि' की अनुवृत्ति ६।३।१३५ तक जायेगी।।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

इकः सुनि ॥६।३।१३३॥

[पां

इकः ६।१॥ सुन्नि ७११॥ श्रवु०—ऋचि, उत्तरपदे, संहि दीर्घः ॥ श्रर्थः—इगन्तस्य सुन्ति परतो ऋग्विषये दीर्घो भविः उ याम् विषये ॥ उदा०—अभी षु णुः सखी नाम् (ऋ० ४।३१॥)। दी ११२६/९१) ऊषु ण ऊतये ॥

माषार्थः—[इकः] इगन्त शब्द को [सुनि] सुन् परे हिं विषय में दीर्घ हो जाता है संहिता विषय में ।। सुन् यह निष् विषय में ।। सुन् यह निष् विषय है। सुनः (८।३।१०७) से सुन् के सु को षत्व हुआ है। नहें सुन्त 'अभि' एवं 'उ' को प्रकृत सूत्र से दीर्घ हुआ है। नहें सामातुस्थो० (८।४।२६) से जानें।।

द्रचचोऽतस्तिङः ॥६।३।१३४॥

द्रचचः ६।१॥ अतः ६।१॥ तिङः ६।१॥ स०—द्रौ अवी र चे द्रचच्, तस्य द्रचचः, बहुत्रीहिः॥ अनु०—ऋचि, उत्तरपरे, सीर ए दीर्घः॥ अर्थः— द्रचचित्तङन्तस्य अत ऋग्विषये दीर्घो भवित सम्प्रितस्य ॥ उदा०—विद्मा हि त्वा सत्पतिं शूरगोनाम्। विश्वापितरम्॥

भाषार्थ:—[द्वन्यनः] दो अच् वाले [तिङ:] तिङ्कत के अव अकार को ऋचा विषय में दीर्घ होता है संहिता विषय में ॥ छोट् छकार के 'मस्' का रूप है, उसे दीर्घ होकर विद्या वर्ग प्रव

निपातस्य च ॥६।३।१३५॥

निपातस्य ६।१॥ च अ०॥ श्रनु०—ऋचि, उत्तरपदे, सी दीर्घोऽणः॥ श्रर्थः—ऋग्विषये निपातस्य च दीर्घो भवित्॥ उद एवा ते । अच्छा ते ॥

भाषार्थः—ऋचा विषय में [निपातस्य] निपात को वि हो ,जाता है ॥ एव अच्छ चादि गण (१।४।५७) में पिर्व निपात हैं ॥

अन्येषामपि दश्यते ॥६।३।१३६॥

अन्येषाम् ६।३।। अपि अ० ।। दृश्यते क्रियापदम् ।। श्रनुः—दीर्घोणः, ति उत्तरपदे, संहितायाम्।। श्रर्थः--अन्येषामपि दीर्घो दृश्यते॥ यस्य हो दीर्घो न विहितः, दृश्यते च प्रयोगे, सः अनेन सूत्रेण शिष्टप्रयोगादनुग-न्तव्यः ।। उदा० — केशाकेशि, कचाकचि, नारकः, पूरुषः ।।

माषार्थः [ऋन्येषाम्] अन्यों को (शब्दों को) [ऋपि] भी दीर्घ माषार्थः—[अन्येषाम्] अन्यों को (शब्दों को) [अपि] भी दीर्घ [हर्यते] देखा जाता है, अर्थात् जिनको सूत्रों से दीर्घत्व नहीं कहा किन्तु देखा जाता है, ऐसे शब्दों को भी शिष्ट प्रयोग मान कर साधु समझना चाहिये।। कचाकचि, केशाकेशि में तत्र तेने॰ (२।२।२७) से समास तथा इच् कर्म० (५।४।१२७) से समासान्त इच् प्रत्यय होता है।।

चौ ॥६।३।१३७॥

चौ ७।१॥ अनु - पृबेस्य, दीर्घोणः, उत्तरपदे, संहितायाम् ॥ अर्थः -चौ परतः पूर्वस्याणो दीर्घो भवति ॥ चौ इत्यनेन अक्चितिर्त्तुप्तनकारो हि गृह्यते ॥ उदार - द्धीचः पश्य, द्धीचा, द्धीचे, मधूचः पश्य, मधूचा हमधूचे ॥

माषार्थ: [चौ] चु परे रहते पूर्व अण् को दीर्घ होता है।। चु से यहाँ नकार छोप की हुई अब्बु धातु का प्रहण है ।। अनिदितां० (६।४।२४) से अक्र् के नकार का छोप एवं श्रयः (६।४।१३८) से अकार छोप होकर अञ्च का च् शेष रहता है। किन् प्रत्यय ऋतिग्दधृः (३।२।४६) से होता ही है। सो 'द्धि च् शस्' = दीर्घ होकर द्धीचः बन गया। इसी प्रकार मधूचः आदि में जानें।।

संम्प्रसारणस्य ॥६।३।१३८॥

संप्रसारणस्य ६।१॥ अनु०—पूर्वस्य, दीर्घोणः, उत्तरपदे, संहितायाम्॥ अर्थः संप्रसारणान्तस्य पूर्वेपदस्याण् उत्तरपदे परतो दीर्घो भवति॥ हत्। कारोषगन्धीपुत्रः, कारीषगन्धीपतिः, कौमुद्गन्धीपुत्रः, कौमुद्ग-वीपतिः।।

भाषार्थः—[संप्रसारणास्य] सम्प्रसारणान्त पूचपद क जन्मा परिष्ठ प्रविधिष्ठ प्रविधिष्य प्रविधिष्ठ प्रविष्ठ प्रविधिष्ठ प्रविधिष्ठ प्रविधिष्ठ प्रविधिष्ठ प्रविधिष्ठ प्रविष भाषार्थः—[संप्रसारणास्य] सम्प्रसारणान्त पूर्वपद के अण्को उत्तरेपद ५४१ में की गई है, अतः उसे वहीं समझ छ। आगे कारिका पुत्रः, कारीषगन्ध्यायाः पतिः विष्रह् करके कारीषगन्धीपुत्रः आहिः जिसकी सिद्धि ष्यङ: सम्प्रसारणं० (६११११३) में स्पष्ट ह्या स कारीषगन्धि आदि शब्द सम्प्रसारणान्त हैं, अतः पुत्र पति शदः रहते प्रकृत सूत्र से दीर्घ हो गया है।।

यहाँ से 'सम्प्रसारणस्य' की अनुवृत्ति ६।४।२ तक जायेगी॥

।। इति तृतीयः पादः ॥

-:0:--

चतुर्थः पादः

अङ्गस्य ॥६।४।१॥

अङ्गस्य ६।१॥ त्रर्थः—अधिकारोऽयम् आसप्तमाध्यायपील यदित अध्वमनुक्रमिष्यामोऽङ्गस्य इत्येवं तद्वेदितव्यम्।। उदार्व्य हलः । हूतः, जीनः, संवीतः ॥

भाषार्थ:-[अङ्गस्य] 'अङ्गस्य' यह अधिकार सूत्र है। स की समाप्ति (७।४।९७) पयन्त इसका अधिकार जायेगा सो आ सूत्रों में यह बैठता जायेगा।। 'अङ्गस्य' में सम्बन्ध सामावं इत है।। यस्मात् प्रत्ययविधि (१।४।१३) से अङ्गसंज्ञा होती है। संवीतः की सिद्धि सूत्र ६।१।१५ में तथा जीनः की परि में देखें।।

हलः ॥६।४।२॥

हलः ५।१॥ अनु०—अङ्गस्य, सम्प्रसारणस्य, दीर्घः, अणः॥ आ अङ्गानयवाद् हरुः परं यत् सम्प्रसारणस्य, दायः, जात्री सन्ति ॥ जटाः भवति ॥ उदा०-हूतः, जीनः, संवीतः ॥

1

[पादः] '

EIF.

भाषार्थ:—अङ्ग का अवयव जो [हल:] इल् उससे उत्तर जो सम्प्र-सारण अण् तदन्त अङ्ग को दीर्घ होता है।। अर्थ करने में दो बार अङ्ग प्रहण 'अङ्ग' शब्द की आवृत्ति करके किया है।। ह्रेब्य से 'हु त' बन जाने पर अङ्ग जो 'हु' उसका हल् अवयव 'ह्' है, उस ह से उत्तर 'ड' सम्प्रसारण संज्ञक है, अतः तदन्त 'हु' अङ्ग को दीर्घ हो गया। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में सूत्रार्थ घटा छें।।

'अणः' की अनुवृत्ति ६।३।१०६ से यहाँ तक आने पर भी उफ्योगिता की दृष्टि से अर्थ में यहीं विशेषरूप से प्रदर्शित की है जो कि द्वितीया-वृत्ति में समझ आ जायेगी ।।

नामि ॥६।४।३॥

नामि ७।१।। श्रनु०—अङ्गस्य, दीर्घः ।। अर्थः—नामि परतोऽङ्गस्य दीर्घो भवति ।। उदा०—अग्नीनाम् , वायूनाम् , कर्तृ णाम् ।।

भाषार्थः—[नामि] नाम् परे रहते अङ्ग को दीर्घ हो जाता है।।
नाम् से नुट् आगम किया हुआ षष्ठी बहुवचन का आम् अभिप्रेत है।
हस्तनद्यापो नुट् (७।१।५४) से नुट् आगम होता है।।

यहाँ से 'नामि' की अनुवृत्ति ६।४।७ तक जायेगी।।

न तिसृचतसृ ॥६।४।४॥

न अ० ॥ तिस्चतस् लुप्तषष्ठ्यन्तिनर्देशः ॥ (सुपां मुलुक्० ७।१।३६ इत्यनेन) ॥ स०—तिस्० इत्यन्नेतरेतरद्वन्द्वः ॥ श्रनु०—नामि, अङ्गस्य, दीर्घः ॥ अर्थः—तिस्, चतस् इत्येतयोनोमि परतो दीर्घो न भवति॥ उदा०—तिस्णाम्, चतस्णाम्॥

भाषार्थः—[तिस्चतस्] तिसृ, चतसृ अङ्ग को नाम् परे रहते दीर्घं नहीं होता ।। पूर्व सूत्र से प्राप्ति थी प्रतिषेध कर दिया। त्रि तथा विषु को स्त्रीलिङ्ग में त्रिचतुरोः स्त्रियां० (७।२।६६) से तिसृ चतसृ आदेश होता है, उसी का यहाँ प्रहण है ।।

यहाँ से 'तिस्चतस्' की अनुवृत्ति ६।४।५ तक जायेगी।।

छन्द्स्युभयथा ॥६।४।५॥

पार

राज

स्था

सब 'शि

षपू

अङ् सव

(मै

ष्प

छन्द्सि ७।१।। उभयथा अ० ।। अनु०—तिसृचतसृ नामिः दीघै: ।। अर्थ: - छन्द्सि विषये तिसृ चतसृ इत्येतयोनीमि पतः बुद हृश्यते, दीर्घश्चादीघँश्चेत्यर्थः ॥ उदा०—तिसृणाम् मध्यन्ति हि मध्यन्दिने । चतस्णाम् मध्यन्दिने, चतस्णाम् मध्यन्दिने ॥

भाषार्थ:- [छन्दिस] वेद विषय में तिस चतस अङ्ग के ि दोनों प्रकार से अर्थात् दीर्घ एवं अदीर्घ दोनों ही देखा जाता है।

यहाँ से 'छन्दस्युभयथा' की अनुवृत्ति ६।४।६ तक जायेगी॥

न च ॥६।४।६॥

नृ लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ॥ च अ० ॥ अनु०-- छन्दस्युभयम् स्वर अङ्गस्य, दीर्घः ।। अर्थः -- नृ इत्येतस्य अङ्गस्य नामि परत उभका **छन्द्**सि विषये ।। उदा०—त्वं नृणां नृपते, त्वं नृणां नृपते ॥

भाषाथः [च] नृ अङ्ग को [च] भी नाम् परे रहते वेदि दोनों प्रकार से अर्थात् दीर्घ एवं अदीर्घ देखा जाता है।।

नोपधायाः ॥६।४।७॥

न अविभक्तः चन्तं पद्म्।। उपधायाः ६।१॥ श्रवु०—नामि, मिन दीर्घः ॥ अर्थः—नान्तस्याङ्गस्योपधायाः नामि परतो दीर्घे उदा०-पञ्चानाम्, सप्तानाम्, नवानाम्, द्शानाम्।।

भाषाथः—[न] नकारान्त अङ्ग की [उपघायाः] उपघा है स्था परे रहते दीर्घ होता है ॥ पञ्चन्, सप्तन् आदि नकारान्त अही से । उनकी उपधा (१।१।६४) को दीर्घ हो गया है। षट्चतुम्यक्व (७) से पद्धानाम व्यक्ति के पद्धन् नाम् यहाँ नलोपः (८।२।७) से नकार छोप होकर बन गया।।

थहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ६।४।१० तक तथा 'उपवाया!' की सोड तक जायेगी।।

यधाः

सर्वनामस्थाने चासंबुद्धौ ॥६।४।८॥

सर्वनामस्थाने ७।१।। च अ०।। असंबुद्धौ ७।१।। स०-असं-हा बुद्धावित्यत्र नञ्तत्पुरुषः।। अनु०—नोपधायाः, नामि, अङ्गस्य, के द्वीर्घ: ॥ अर्थ: - सम्बुद्धिभिन्ने सर्वनामस्थाने च परतो नान्तस्याङ्गस्यो-पधायाः दीर्घो भवति ।। उदा०—राजा, राजानौ, राजानः, राजानम्, ा राजानी । सामानि तिष्ठन्ति, सामानि पश्य ॥

भाषार्थः—[असम्बुद्धौ] सम्बुद्धिभिन्न [सर्वनामस्थाने] सेर्वनाम-स्थान विभक्ति परे रहते [च] नान्त अङ्ग की उपधा को दीर्घ हो जाता है।। सब सिद्धियाँ भाग १ परि० १।१।४२ पृ० ७११ में देखें। सामानि यहाँ 'शि' की शि सर्वं (१।१।४१) से सर्वनामस्थान संज्ञा है।।

यहाँ से 'सर्वनामस्थाने' की अनुवृत्ति ६।४।११ तक तथा 'श्रस-म मुद्धीं की ६।४।१४ तक जायेगी।।

वा षपूर्वस्य निगमे ॥६।४।९॥

वा अः।। षपूर्वस्य ६।१।। निगमे ।।१।। सः पूर्वी यस्मात् स षपूर्वस्तस्य ः बहुत्रीहिः ।। अनु - सर्वनामस्थाने, असम्बुद्धौ, नोपघायाः, अङ्गस्य, दीर्घः ।। श्रर्थः—निगमविषये नोपधायाः षपूर्वस्याऽसंबुद्धौ सर्वनामस्थाने परतो वा दीर्घो भवति ॥ उदाः —स तक्षाणं तिष्ठन्तमत्रवीत् (मैं॰सं॰ २।४।१, काठ॰ १२।१०)। स तक्षणं तिष्ठन्तमत्रवीत्। ऋभुक्षाण-मिन्द्रम्। ऋभुक्षणिमन्द्रम्।।

भाषार्थ:-[निगमे] वेद विषय में नकारान्त अङ्ग के उपधाभूत [षपूर्वस्य] षकार है पूर्व में जिससे ऐसे अच्को सम्बुद्धिभिन्न सर्वनाम-स्थान के परे रहते [वा] विकल्प से दीर्घ होता है।। तक्षन,ऋ मुक्षिन क्षि के 'अ' को विकल्प से दीर्घ हुआ है, क्योंकि इस अकार से पूर्व ष् है, एवं नकार की उपधा है। ऋ मुक्षिन् में पहले इतोत्सर्वना० ((११८६) से इकार को अत्व होकर पश्चात् अ को दीर्घ हुआ है ॥

सान्तमहतः संयोगस्य ॥६।४।१०॥

सान्त लुप्तषष्ठचन्तनिर्देशः ॥ महतः ६।१॥ संयोगस्य ६।१॥ स०— सोऽन्ते यस्य स सान्तस्तस्य ' 'बहुब्रीहि: ॥ अनु - सर्वनामस्थानेऽ- सम्बुद्धौ, नोपधायाः, अङ्गस्य, दीर्घः ॥ अर्थः सकारानास ह महतस्र यो नकारस्तस्योपधाया दीर्घो भवति असंबुद्धौ स्का परतः ॥ उदा०—श्रेयान्, श्रेयांसौ, श्रेयांसः । श्रेयांसि, पर्यापि, प्र महतः-महान्, महान्ती, महान्तः ॥

भाषार्थः - [सान्त] सकारान्त [संयोगस्य] संयोग का और वि महत् शब्द का जो नकार उसकी उपधा को दीर्घ होता है, संबंधि सर्वनामत्थान विभक्ति के परे रहने पर ।। पर्यांसि यशांसि ई श भाग १ परि १।१।४६ पृ० ७१७ में देखें। श्रेयान् महान् आदि। के तकार का लोप संयोगान्तस्य० (८)२।२३) से होगा।।

अप्तृन्तृच्स्वसृनप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षतृहोतृपोतृप्रशास्तृणाम् ॥६॥

61

अ

धा अ

धा TO

अप्तृन्तृच् '''णाम् ६।३।। स० — अप्तृन् इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥६ सर्वनामस्थानेऽसम्बुद्धौ, उपधायाः, अङ्गस्य, दीर्घः ॥ अर्थः—अ तृच्, स्वस्, नप्तु, नेष्टू, त्वष्टू, क्षत्त, होत्, पोत्, प्रशास्त इयो अ नामुपधायाः सम्बुद्धिभिन्ने सर्वनामस्थाने परतो दीर्घो भवित॥ ह दी अप्-आपः । तृन्-कर्त्तां, कर्त्तारी, कर्त्तारः, कर्त्तारम्, कर्त्तारी।हर कत्तारी सर्वममे पूर्ववत् । स्वस्-स्वसा, स्वसारी । नप्त-नमा, इन नेष्ट् —नेष्टा, नेष्टारी । त्वष्ट् —त्वष्टा, त्वष्टारी । क्षत्-क्षना, है (त होल-होता, होतारौ । पोल-पोता, पोतारौ । प्रशास-प्रशास्तारौ ॥

भाषार्थः—[अप्रः त्याम्] अप् , तृन् , तृच् प्रत्ययान, त्रः नेष्ट् , त्वष्ट् , क्षत्र, होत्, पोत्त, प्रशास्त् इन अङ्गों की उपर्या होता है, सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान परे रहते ॥ तृत्री प्रत्ययों में रूप की दृष्टि से कोई भेद नहीं स्वर का भेद है। परि० १।१।२ के चेता नेता के समान सिद्धियाँ जानें।।

इन्हन्पूषार्यम्णां शौ ॥६।४।१२॥

इन्ह-पूषायमणाम् ६१३॥ शौ ७११॥ स०—इन्ह० इत्यंत्रेत्रेती श्रुतुः — इपधायाः, अङ्गस्य, दीर्घः ॥ अर्थः — इन्, हन्, पूर्वः

181

115

आ.

18

T.

1, 6

at ! 1 4

1

11

इत्येवमन्तानामङ्गानामुपधायाः शौ परतो दीर्घो भवति नान्यत्र ॥ उदा०-इन् - बहुद्ण्डीनि, बहुच्छत्रीणि । हन् - बहुवृत्रहाणि, बहुभूणहाणि । पूषन् - बहुपूषाणि । अर्थमन् - बहुर्यमाणि ।।

भाषार्थः — [इन्ह न्पूषार्थम्याम्] इन्प्रत्ययान्त हन् पूषन् अर्थमन् इन र विश्वकों की उपधा को [शौ] शि विभक्ति परे रहते ही दीर्घ होता है। दिण्डन् कि छित्रन् शब्दों में मत्वर्थक इनि (४।२।११४) प्रत्यय हुआ है। सर्वत्र बहु 🕯 शब्द के साथ बहुव्रीहि समास हुआ है ।। सिद्धि भाग १ परि० १।१।४१ के कुण्डानि के समान है। णत्व भी ८।४।२ से तथा बहुवृत्रहाणि में ८।४।१२ से हो जायेगा।।

यहाँ से इन्हन्पूषार्यम्याम्' की अनुवृत्ति ६।४।१३ तक जायेगी।।

सौ च ॥६।४।१३॥

सौ ७।१।। च अ०।। श्रनु०—इन्ह्नपूषार्यम्णाम् , असम्बुद्धौ, उपघायाः, के अङ्गस्य, दीर्घः ॥ अर्थः — सावसम्बुद्धौ परतः इन्हन्पूषार्यमणासुपधाया दीर्घो भवति ॥ *उदा*ः—दण्डी, वृत्रहा, पूषा, अर्यमा ॥

माषार्थ:—सम्बुद्धिभिन्न [सौ] सु विभक्ति परे रहते [च] भी इन्, हन, पृषन, अर्यमन् अङ्गों की उपधा को दीर्घ होता है।। नलोपः (८।२।७) से नकार लोप उदाहरणों में हो ही जायेगा।।

यहाँ से 'सौ' की अनुवृत्ति ६।४।१४ तक जायेगी।।

अत्वसन्तस्य चाधातोः ॥६।४।१४॥

अत्वसन्तस्य ६।१॥ च अ०॥ अधातोः ६।१॥ स०—अतुम्र अम्र अत्वसौ तावन्ते यस्य स अत्वसन्तस्तस्य : : : : द्रन्द्रगभेबहुव्रीहिः। न धातुरधातुस्तस्य नव्तत्पुरुषः ॥ अनुः —सौ, असम्बुद्धौ, उपधायाः, अङ्गस्य, दीर्घ: ।। अर्थ: —धातुभिन्नस्य अत्वन्तस्य असन्तस्य चाङ्गस्योप-धायाः सावसम्बुद्धौ परतो दीर्घो भवति ॥ उदा० — डवतु — भवान् । कवतु कृतवान् । मतुप्—गोमान्, यवमान् । असन्तस्य—सुपयाः, सुयशाः, सुस्रोताः ॥

माषार्थः—[अघातोः] धातु भिन्न [ऋत्वसन्तस्य] अतु तथा अस्

पाद अन्त वाले अङ्ग की उपधा को [च] भी दीर्घ होता है संब्धि हुदा अन्त वाल अङ्ग का प्राचन शब्द में भातेर्डवतुप् (उणाः विभक्ति परे रहते। अवान् शब्द में भातेर्डवतुप् (उणाः विभक्त डवतुप् प्रत्यय हुआ है । डवतुप् का अवतु शेष रहेगा, इस प्रा शब्द अतु अन्त वाला है । शेष सिद्धि भाग १ परि० १।१॥ है। के समान जानें। सुपयस् सुयशस् से सुपयाः सुयशाः आदि को की वि

अनुनासिकस्य किञ्चलोः क्डिति ॥६।४।१५॥ सि

अनुनासिकस्य ६।१॥ किझलोः ७।२॥ क्डिति ७।१॥ सः केव इत्यंत्रतरेतरद्वन्द्वः। कश्च ङश्च कङो, कङो इतौ यस्य स किन्त द्रन्द्रगर्भेबहुत्रीहिः॥ श्रनु०—उपधायाः, अङ्गस्य, दीर्घः॥। अनुनासिकान्तस्याङ्गस्योपधाया दीर्घो भवति किप्रत्यये पत्तो ह क्डिति ।। उदा०—प्रशान्, प्रतान् । झलादौ किति—शानः, ह शान्त्वा, शान्तिः । ङिति-शंशान्तः, तन्तान्तः ॥

भाषार्थः — [अनुनासिकस्य] अनुनासिकान्त अङ्ग की राषां अर्थः होता है [निवसलो:] कि तथा झळादि [निङित] कित् हित् गीउदा प्रशान् गतान् में शमु तथा तमु धातु से किप् (३।२।७६) म है एवं मो नो घातो: (८।२।६४) से म् को न् होता है। शाना विक में निष्ठा प्रत्यय एवं शान्तिः में झलादि क्तिन् प्रत्यय हुआ है। समा तन्तान्तः यहाँ भी पूर्ववत् यङन्त शसु तथा तसु धातुओं से हर्ण तस् प्रत्यय हुआ है। सिद्धि भाग १ परि॰ २।४।७४ के पार समान ही है, केवल यहाँ नुगतोनुनासिः (७।४।८५) से नुक् आगम होता है, अतः अभ्यास को दीघ नहीं होता, व है, तस् परे रहते तो प्रकृत सूत्र से दीर्घ होगा ही।।

यहाँ से 'नित्रक्तलोः' की अनुवृत्ति हाधा२१ तक तथा कि ६।४।१९ तक जायेगी।।

अज्झनगमां सनि ।।६।४।१६॥

त्वा

अन्झनगमाम् ६।३॥ सनि ७।१॥ स०—अच् च हत्ती अज्झनगमः, तेषां ''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु — झर्छि, अङ्गरी अर्थः—अजन्तानामङ्गानां ह्निगम्योश्च झलादौ सनि परतो ही

पार अ

किंदुरा अजन्तानाम् चिचीषति, तुष्टूषति, चिकीषैति, जिहीषैति। हन्-जिघांसति । गम्-अधिजिगांसते ।।

माषार्थः - [श्राज्यतमाम्] अजन्त अङ्ग तथा हुन् एवं गम् अङ्ग को झळादि [सनि] सन् परे रहने पर दीर्घ होता है।। चिचीषति आदि की सिद्धि भाग १ परि० १।२।६ पृ० ७६८ में देखें। अधिजिगांसते की सिद्धि भाग १ सूत्र २।४।४८ में देखें। इङादेश जो गिम वह यहाँ लिया गया है। हन् घातु से जिघांसति की सिद्धि में कुछ भी विशेष नहीं है। केवल यहाँ अभ्यासाच (७।३।४५) से अभ्यास से उत्तर ह् को कुत्व घू क्षित्र पहा अभ्यासाच (णाराध्य) से अभ्यास से उत्तर हिं हुआ है। अभ्यास को चुत्व आदि पूर्ववत् हो जायेंगे॥

यहाँ से 'सनि' की अनुवृत्ति ६।४।१७ तक जायेगी।।

तनोतेर्विभाषा ॥६।४।१७॥

तनोतेः ६।१।। विभाषा १।१।। अनु०-- सनि, झिळ, अङ्गस्य, दीर्घः ॥ भा^{त्वर्थः}—तनोतेरङ्गस्य मळादौ सनि परतो विभाषा दीर्घो भवति॥ र्षाख्या॰—तितांसति, तितंसति ॥

भाषार्थ:-[तनोते:] तन् अङ्ग को झलादि सन् परे रहते [विभाषा] विकल्प से दीर्घ होता है।। सिद्धियाँ पूर्ववत् सन्नन्त की सिद्धियों के |समान हैं ।। de

यहाँ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति ६।४।१८ तक जायेगी।।

ऋमश्र क्तिव ।।६।४।१८।।

TE क्रमः ६।१॥ च अ०॥ कित्व ७।१॥ ऋनु०—विभाषा, झिल, डप-बायाः, अङ्गस्य, दीर्घः ॥ श्रर्थः -- ऋमेरङ्गस्य उपघाया विभाषा दीर्घो भवित झलादौ क्त्वा प्रत्यये परतः ॥ उदा०—क्रन्त्वा, क्रान्त्वा॥

भाषार्थ: [क्रमः] क्रम अङ्ग की उपधा को [च] भी झलादि [क्लि] त्वा प्रत्यय परे रहते विकल्प से दीर्घ होता है।।

च्छ्वो: ग्र्डनुनासिके च ॥६।४।१९॥

व्यक्षाः ६।२॥ ग्रह् १।१॥ अनुनासिके ७।१॥ च अ०॥ स०— विश्व वश्व च्छ्वौ तयोः च्छ्वोः, इतरेतरद्वन्द्वः। शश्च ऊठ् चं श्रूठ्,

समाहारो द्रन्द्रः ॥ अनुः — किझलोः किङति, अङ्गस्य ॥ की इत्येतयोः स्थाने यथासंख्यं श् ऊठ इत्येतौ आदेशौ भवतोऽत्र प्रत्यये परतः, कौ झलादौ च किङति ॥ उदाः — अनुनासिकः हो प्रश्नः, विश्नः । वकारस्य ऊठ्-स्योनः । कौ छ्रस्य-शब्दपाद्, नि प्रस्य कौ — अक्षय् इत्यय्यः । झलादौ किति छ्रस्य-ण्यः है, पृष्ट्या । वकारस्य झलादौ किति च्रूप्यः । इत्यान् , चूत्वा ॥

मीषार्थ:—[च्छ्रवो:] च्छ्र और व् के स्थान में यथासंख्यकां (वि श् और ऊठ् आदेश होते हैं [अनुनासिके] अनुनासिकादिक ज् रहते [च] तथा कि और झलादि कित् कित् प्रत्ययों के वे तुक् सहित जो लकार उसको यहाँ शकारादेश होता है॥

यहाँ से 'च्छ्वोः अनुनासिके' की अनुवृत्ति ६।४।२१ कह प्रत्ये की ६।४।२० तक जायेगी ।। उठ्ठ

ज्वरत्वरस्निच्यविमवास्रुपधायाश्च ।।६।४।२०॥

ज्वरत्वरित्त्वचिमवाम् ६।१॥ उपधायाः ६।१॥ च कः ज्वरः इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनुः — अवः अनुनासिके ग्रहः अङ्गस्य ॥ अर्थः — ज्वरः, त्वरः, स्निवि, अव, मव इत्येतेषामङ्गावि विद्यायाश्च स्थाने ऊठ् इत्ययमादेशो भवति कौ परतो झलवावि सः च प्रत्यये परतः ॥ उदाः — ज्वर क्वौ — जूः जुरौ, जुरः । इलि हुणः, तूर्णवान् । त्वर — तूः तुरौ, तुरः । तूर्तिः तूर्णः, तूर्णवान् । त्वर — तूः तुरौ, तुरः । तूर्तिः तूर्णः, तूर्णवान् । स्वूः, स्वूतः, स्वूतवान् । अव — उः, वित्तः, स्वूतः, स्वूतवान् । अव — उः, वित्तः स्वूः, स्वूतौः, स्वुवः । स्वूतिः, स्वूतः, स्वूतवान् । अव — उः, वित्तः स्वूः, स्वूतौः, स्वुवः । स्वूतिः, स्वूतः, स्वूतवान् । अव — उः, वित्तः स्वूः, स्वूतौः, स्वूतः । स्वूः । अनुनासिके — अवतेर्मनिन्प्रत्यये । वित्तः त्याः । स्वतः । अनुनासिके — अवतेर्मनिन्प्रत्यये ।

भाषार्थ:—[जनर ' 'वाम्] ज्वर, त्वर, स्निवि, अव, मवह विहि वकार [च] तथा [उपधायाः] उपधा के स्थान में ऊठ आहें लेप किव तथा झलादि एवं अनुनासिकादि प्रत्ययों के परे रहते॥

इस सूत्र में काशिका में ङ्किति की अनुवृत्ति भी लागे सिति ठीक नहीं, क्योंकि श्राक्डित् स्थल में भी इस सूत्र की प्रवृति से राह है। यथा—अन धातु से सितिनगिमि० (उगा० ११६६) के करके ओतुः में। 'अनुनासिके' की अनुवृत्ति तो लागे

gol

क्योंकि अब घातु से अवतेष्टिलोपश्च (उगा० १११४२) से अनुना-प्रिकादि मन् प्रत्यय के परे रहते प्रकृत सूत्र से उपधा एवं वकार को ऊठ् कि होकर मन् के टि का छोप होक्रर 'ओम्' शब्द सिद्ध होता है।। इस प्रकार अनुनासिकादि का एक उदाहरण ही सुलभ होने से दिखा दिया है, अन्यत्र भी इसी प्रकार हो सकता है।।

जूः, जुरौ आदि में पूर्ववत् किप् प्रत्यय हुआ है। ज्वर् त्वर् क्रिं (जित्वरा) की उपधा 'व' का 'अ' है अतः उसको एवं व् को ऊठ् होकर ज् ऊठ् र् = जूर् = जूः बन गया। तूर्णः में इट् निपेध भी पक्ष में रुष्य-मित्वर० (७।२।२८) से हुआ है। इसी प्रकार स्त्रिव् अव् मव् की उपधा क्रमशः इ, अ एवं म का अ है, अतः उपधा एवं वकार के स्थान में ऊठ् होकर सूः आदि प्रयोग बन गये। जूर्तिः आदि में झढ़ादि क्तिन् आदि प्रयोग बन गये। जूर्तिः आदि में झढ़ादि क्तिन् आदि प्रत्यय परे हैं ही।। सामध्ये से यहाँ 'च्छ्वोः शूठ्' की अनुवृत्ति आने पर भी चळ् एवं श् का सम्बन्ध सूत्रार्थ में नहीं बैठता, वकार एवं उठ् का ही छगता है।।

राह्णोपः ॥६।४।२१॥

रात् ४।१॥ छोपः १।१॥ अनु०—छ्वोः, अनुनासिके, किझ्छोः, किङ्किति, अङ्गस्य ॥ अर्थः—रेफात् परयोः छ्वोर्छोपो भवित कौ झछादौ किङ्कित अनुनासिके च प्रत्यये परतः ॥ उदा०—कौ—मुर्छा—मूः, मुरौ, सुरः। झछादौ —मूर्त्तः, मूर्त्तवान् मूर्तिः। हुर्छा—हूः, हुरौ, हुरः। हुर्णः, हूर्णवान्, हूर्तिः। वकारस्य तुर्वी—तूः, तुरौ, तुरः। तूर्णः, तूर्णवान्, धूर्तिः। धुर्वी—धूः, धुरौ, धुरः। धूर्णः, धूर्णवान्, धूर्तिः॥

भाषार्थः—[रात्] रेफ से उत्तर छकार और वकार का लिए:] लोप हो जाता है कि तथा झलादि कित् कित् अनुनासिकादि स्वार के परे रहते ।। रेफ से उत्तर छकार को तुक् किसी सूत्र से विहित नहीं, अतः असम्भवहोने से यहाँ रेफ से उत्तर केवल छकार का ही के को लेक तक सहित का ।। मुर्छा हुर्छा = मुर्छ हुर्छ घातुओं के को लोप किप परे रहते होकर मुर् हुर रहा । शेष मूः आदि की सिद्धि भाग १ परि० ३।२।१७० के धूः के समान जानें ।। मूर्तः मूर्त्वान विष्ठातो० (८।२।४०) से प्राप्त निष्ठा के नत्व का अभाव न १८ विष्ठातो० (८।२।४०) से होता है । आदितश्च (७।२।१६) से १८

[प इट् प्रतिषेध तथा हिल च (८।२।७७) से दीर्घत्व भी होगा। वान् भी निष्ठा को नत्व करके इसी प्रकार बनेंगे।।

असिद्धवदत्रामात् ॥६।४।२२॥

में क्र

का

असिद्धवत् अः ॥ अत्र अः ॥ आ अः ॥ मात् ५।१॥ सः अ असिद्धः, नञ्तत्पुरुषः।। असिद्धेन तुल्यं वर्त्तत इत्यसिद्धवत्। क्षिः हा निष्पर्त्रवचनः, यथा 'सिद्ध ओदनः' इति ।। आ भात् इतः लें 'आइ' ॥ अर्थ: - आभात् अर्थाद् भाधिकारपर्यन्तमापादणाः गरे सिद्धवदित्यधिकारो वेदितवयः समानाश्रये ।। आभीयं शास्त्रं कि अर आभसंशव्दनाद् यदुच्यते तस्मिन् कर्त्तव्ये सिद्धकार्य= वह करोतीत्यर्थः ॥ सूत्रे 'अत्र' शब्दोपादानं समानाश्रयत्यक्षि हर्न समान एक आश्रयो निमित्तं यस्य तत् समानाश्रयम्॥ जाः स्प शाधि । आगहि, जहि ॥

भाषार्थः—'आभात्' यहाँ आङ् अभिविधि में है, अह से 'मस्य' (६।४।१२६) का अधिकार जहाँ तक जाता है, अर्था को समाप्ति पर्यन्त' ऐसा अर्थ होगा ।। अत

[त्रामात्] भस्य के अधिकार पर्यन्त अर्थात् इस अध्याव ई पर्यन्त [अत्र] समानाश्रय अर्थात् एक ही निमित्त होने पर [असिद्धवत्] सिद्ध के समान नहीं होता, अर्थात् आभीय करि पर भी वह न होने जैसा इस सूत्र से माना जाता है॥ यहाँ समानाश्रयत्व द्योतन के लिये हैं। समान = एक ही आश्री तम् है जिसका वह समानाश्रय हुआ। द्वितीयावृत्ति में प्रसुर्हिं। बात सुस्पष्ट हो जायेगी।। 'असिद्धवत्' यह अधिकार पार्ड पर्यन्त जानना चाहिये।।

अस भुवि तथा शासु अनुशिष्टौ धातु के छोट् मध्यम पूर्वि हि शाधि रूप हैं, अतः सिप्प्रत्यय आकर एवं सिप् को सेह्यावि हि आदेश तथा शप्का अदिप्रमृतिम्यः० (२।४।७२) से विक् हि, शास् हि रहा। अस् के अ का रनसोरक्षीपः (क्षिकत छोप होकर स् हि रहा। घ्वसोरेद्धावभ्याः (६।४।११९) है। या को भी एकार होकर 'ए हि'। इसी प्रकार शा ही (६१४)

आ-

के स्थान में 'शा' आदेश करने से 'शा हि' रहा । अब यहाँ दोनों स्थलों में हुमल्भ्यो हेथि: (६।४।१०१) से हि को धि प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि झल से उत्तर 'हि' नहीं है, किन्तु जब प्रकृत सूत्र से आभीय कार्य धित्व करने में, आभीय कार्य एत्व (६।४।११६) एवं शा भाव (६।४।३५) ा असिद्ध अर्थात् अनिष्पन्न के समान माने गये तो हुक्तल्म्यो हेर्षिः की कि हिष्ट में 'स् हि, शास् हि' ऐसा रूप ही दिखा, अतः एत्व शाभाव कर क तेने पर भी हु सलम्यो से झलन्त से उत्तर 'धि' होकर एधि, शाधि सिद्ध हो पि गये।। आगहि जहि भी पूर्ववत् ही गम् तथा हन् के छोट् के रूप हैं। गम् के क्रिअनुनासिक का छोप अनुदात्तोपदे० (६।४।३७) से हुआ है, तथा शप्का = इ बहुलं छन्दिस (२।४।७३) से लुक् हो जायेगा। हन को भी हि परे रहते प्रित हन्तेर्जः (६।४।३६) से ज आदेश हो जायेगा सो आगिह जिह ऐसे हा हम बने, किन्तु यहाँ अतो हे: (६।४।१०५) से 'ग' तथा 'ज' अदन्त अङ्ग से उत्तर हि का लुक् भी प्राप्त हुआ जो कि इष्ट नहीं, तब प्रकृत सूत्र से आभीय कार्य अतो है: की दृष्टि में आभीय कार्य अनुनासिक छोप एवं ज भाव असिद्ध हो गये, तो 'आ गम् हि, हन् हिं' ऐसा रूप ही अतो है: को दिखा, अब हि का लुक् करने में गम् हन् तो अदन्त हैं नहीं, अतः श्रतो है: से हि का लुक् भी नहीं हुआ, यही इस सूत्र का प्रयोजन है।।

व्नाञ्जलोपः ॥६।४।२३॥

रनात् ४।१॥ नलोपः १।१॥ स०—नकारस्य लोपः नलोपः षष्ठी-तपुरुषः॥ अर्थः—रनादुत्तरस्य नकारस्य लोपो भवति॥ रनादित्यनेन इतम् इत्सृष्टमकारो गृह्यते॥ उदा०—अनिक्तं, भनिक्तं, हिनस्ति॥

भाषार्थः—[श्नात्] श्न से उत्तर [नलोपः] नकार का छोप हो जाता है।। श्न से यहाँ श्नम् (१।१।७८) का श्रहण है।। अञ्जू व्यक्तिप्रक्षण-कान्तिगतिषु धातु से अनक्ति, अञ्जो आमर्दने से भनिक्त, हिसि हिंसायाम् होकर हिन्स् बना है। होष कार्य भाग १ परि० १।१।४६ के समिनित की सिद्धि के समान जानें। अ श्नम् ञ्च ति = अन व ज्ति यहाँ स्वा है) का छोप हो गया। पश्चात् चोः कुः (८।२।३०) से ज्को ग्

एवं खरि च (८।४।५४) से क् होकर अनक्ति बन ग्या। नव हिनस्ति में भी यही प्रक्रिया जानें।।

यहाँ से 'नलोपः' की अनुवृत्ति ६।४।३३ तक जायेगी॥

अनिदितां हल उपधायाः क्डिति ॥६।४।२४॥

उप

त्रर्थ

अनिदिताम् ६।३॥ हलः ६।१॥ उपधायाः ६।१॥ किं स०—इकार इत् येपां त इदितः, बहुत्रीहिः। न इदितोऽनि ''नव्ततपुरुषः। कश्च ङश्च कङी, कङी इतौ यस्य स क्कित्तं व्याप्तः द्वन्द्वगभवहुत्रीहिः ॥ अनु०—नलोपः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—विक् मङ्गानां हलन्तानामुपधाया नकारस्य लोपो भवति किति किंतिः परतः॥ उदा०—किति— स्वस्तः, ध्वस्तः। स्वस्यते, ध्वस्यते। होतिः सनीस्वस्यते, दनीध्वस्यते॥

भाषार्थः—[श्रिनिदिताम्] इकार जिनका इत् संइक नहीं [हल:] हलन्त अङ्ग की [उपधायाः] उपधा के नकार का लोग [निङ्गित] कित् ि इत् प्रत्ययों के परे रहते ॥ सन्मु ध्वन्मु धार्ष दृष्ट्व तथा हलन्त हैं, अतः इनके उपधा नकार का लोग हो गर्या वालि स्वस्तः एवं कर्म में यक् परे रहते स्वस्यते रूप बना है। यह माने नलोग होकर सनीस्तस्यते रूप बनेगा। इसकी सिद्धि भा नलोग होकर सनीस्तस्यते रूप बनेगा। इसकी सिद्धि भा निशेष में प्रदर्शित पापच्यते के समान ही है। केवल यहाँ में के प्रधानस्त (७।४।८४) से अभ्यास को 'नीक्' का आगम हो के रण विशेष है। नीक् का 'नी' शेष रहेगा।।

यहाँ से 'उपघायाः' की अनुवृत्ति ६।४।३४ तक जायेगी।

दंशसञ्जस्वञ्जां शपि ॥६।४।२५॥

दंशसञ्जस्वञ्जाम् ६।३॥ शपि ७।१॥ स०—दंश इयक्रेलिले अनु०—उपधायाः, नलोपः, अङ्गस्य॥ अर्थः—द्न्श, सञ्ज, मङ्गानामुपधाया नकारस्य लोपो भवति शपि परतः॥ वर्षा सजति । परिष्वजते ॥

भाषार्थः—[दंशसञ्जस्वञ्जाम्] द्न्यः, सञ्ज, व्यञ्ज इत ^{अही}

वेडि

tsfâ

डेवि र

नहीं

लेग

11

वा। नकार का लोप होता है [शिप] शप् प्रत्यय परे रहते।। पञ्ज एवं प्वञ्ज के षू को धात्वादेः षः सः (६।१।६२) से स्, पुनः उपसर्ग से उत्तर उपसर्गात् सुनोति (८।३।६५) से षत्व होकर परिष्वजते बनता है।। यहाँ से 'शपि' की अनुवृत्ति ६।४।२६ तक जायेगी।। 811

रङ्गेश्र ॥६।४।२६॥

रक्षेः ६।१।। च अा। अनु०-रापि, उपधायाः, नलोपः, अङ्गस्य।। न अर्थः – रञ्जेश्च उपधाया नकारस्य छोपो भवति शिप परतः ॥ उदा०— ्रांरजित, रजतः, रजन्ति ॥

भाषार्थ: —[रज्जे:] रञ्ज् अङ्ग की उपधा के नकार का [च] भी छोप ते। होता है, शप् परे रहते ।।

यहाँ से 'रक्षे:' की अनुवृत्ति ६।४।२७ तक जायेगी।।

घिन च भावकरणयोः ॥६।४।२७॥

घिन ७।१।। च अ०।। भावकरणयोः ७।२।। स० —भाव० इत्यत्रेतरेतर-हिन्दः ॥ श्रनु० — रञ्जेः, उपधायाः, नलोपः, अङ्गस्य ॥ श्रर्थः — भावकरण-गिवाचिनि घिन च परतो रञ्जेरुपघाया नकारस्य छोपो भवति ॥ उदा०— गर्भावे-आश्चर्यो रागः, विचित्रो रागः। करणे-रज्यतेऽनेनेति रागः॥

माषार्थ: [मावकररायोः] भाववाची तथा करणवाची [प्रिव] घन् क परे रहते [च] भी रञ्ज्धातु की उपधा नकार का छोप होता है॥ हैं बिरण में हलश्च (३।३।१२१) से घच् होता है।।

यहाँ से 'घनि' की अनुवृत्ति ६।४।२९ तक जायेगी।।

स्यदो जवे ॥६।४।२८॥

स्यदः १।१।। जवे ७।१।। श्रनुः—घिन, उपधायाः, नलोपः॥ शर्थः जिने असे परतः स्यद् इति निपात्यते । निपातनेन स्यन्दे-ति होषो वृद्ध यभावश्च भवति ॥ *उदा०*—गवां स्यद्ः = गोस्यदः, अश्व-

भाषार्थ: [जवे] जव = वेग अभिवेय हो तो घव् परे उहते [स्यदः] यद् शब्द निपातन किया जाता है। स्यन्दू धातु के न का छोप तथा

िप अत उपधायाः (७।२।११६) से प्राप्त वृद्धि का अभाव यहाँ कि होता है ।। भावे (३।३।१८) से घन् हो ही जायेगा ।।

अवोदेघोबमअयहिमअयाः ॥६।४।२९॥

न

4 (1

जा क्रि

अवो : : : श्रथाः १।३।। स - अवोदै । अनु - चिन, उपधायाः, नलोपः ॥ अर्थः - अवीद्, एघ, बोद् हिमश्रथ इत्येते निपात्यन्ते । अवोद इत्यत्र अवपूर्वस्य उन्देः की निपात्यते । अवोदः । एघ इत्यत्र इन्धेर्घाञ नलोपो गुणब्रान एधः । ओदा इत्यत्र उन्देरीणादिके (उणा० १।१४०) मन्प्रलं अ नळोपो गुणश्च निपात्यते । ओद्याः । प्रश्रथ इत्यत्र प्रपूर्वस ह यो नलोपो वृद्धसमावश्च निपात्यते । प्रश्रथः । हिमश्रथ इत्यत्र हि स्य श्रन्थेर्घिच नलोपो वृद्धचभावस्य निपात्यते ॥

भाषार्थः—[त्र्यवोः ः ध्याः] अवोद, एघ, ओद्म, प्रमा ये शब्द निपातन किये जाते हैं।। अबोद यहाँ अब पूर्वक वर् (६ नकार का लोप घच् परे रहते निपातन किया गया है। एवं स धातु के न का लोप एवं गुण घव्य परे रहते निपातन से किया वन न घातुलोप० (१।१।४) से गुण का निषेध प्राप्त था, निषाल हो करा दिया। ओद्मा यहाँ उन्द धातु से अर्त्तिस्तुसु॰ (उणा॰ १११) उणादि सूत्र से बाहुलक से हुये मन् प्राह्मय के परे रहते तलेग (ट निपातन से किया जाता है। प्रश्निय यहाँ प्रपूर्वक अन्य घातु से इस्ते तलेग रहते तलेग रहते नलोप एवं अत उपचायाः (७।२।११६) से प्राप्त वृद्धि निपातन से होता है। हिमश्रथ यहाँ हिम पूर्वपद रहते श्री घव परे रहते पूर्ववत् नलोप एवं वृद्ध यभाव निपातन है।

नाञ्चेः पूजायाम् ॥६।४।३०॥

न अ०॥ अञ्चेः ६।१॥ पूजायाम् ७।१॥ अतु० हि नलोपः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—पूजायाम् अञ्चेरङ्गस्योपमायाः लोपो न सवति ॥ — छोपो न भवति ॥ उदाः—पूजायामये अञ्चेरङ्गस्यापवा । अधिना वहति॥

भाषार्थः—[पूजायाम्] पूजा अर्थ में [अब्चे:] अब्बु अर्ध

पादः]

रोद्यः

र्घावः

1 त्य २७९.

नकार का छोप [न] नहीं होता है।। अनिदितां हल० (६।४।२४) से नकार लोप प्राप्त था इस सूत्र से निषेध कर दिया।। अख्रिताः यहाँ मतिवृद्धिः (३।२।१८८) से क्त प्रत्यय होता है। श्रब्नेः पूजायाम् (७।२।५३) से इट आगम भी यहाँ होता है।। रेतल

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ६।४।३२ तक जायेगी।।

क्तित्व स्कन्दिस्यन्दोः ॥६।४।३१॥

कि क्तित्व ७११॥ स्कन्दिस्यन्दोः ६१२॥ स०—स्कन्दि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ प्रतं अनु०—न, उपधायाः, नलोपः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—स्कन्द्, स्यन्द इत्येत-व हे योर्नकारलोपो न सवति क्तवाप्रत्यये परतः ॥ उदाः—स्कन्तवा, स्यन्तवा। । हि स्यन्देरुदित्वात् पशे इडागमः—स्यन्दित्वा ॥

भाषार्थ:-[स्किन्दिस्यन्दोः] स्कन्द तथा स्यन्द के नकार का छोप अर्थ [िन्ति] क्तवा प्रत्यय परे रहते नहीं होता ।। पूर्ववत् ऋनिदितां हलः ब्ह (हाश्रा२४) से प्राप्ति थी निषेध कर दिया। स्यन्दू धातु ऊदित् है, अतः वर्ष स्वरतिस्ति (७१२।४४) से पक्ष में इट् आगम होकर स्कन्दित्वा रूप भी वा बनता है। इट् पक्ष में न करवा सेट् (१।२।१८) से कित् का प्रतिषेध होने पर अकित् माना जाने से स्वयमेव नलोप का अभाव रहेगा॥ शाह रकन्त्वा आदि में खरि च (८१४।५४) से द् को चर्त्व होकर मरो मरि॰ क्षा (८।४।६४) से एक त् का छोप होता है।। सेह

यहाँ से 'क्लि' की अनुवृत्ति ६।४।३२ तक जायेगी।।

जान्तनञां विभाषा ॥६।४।३२॥

जान्तनशाम् ६।३।। विभाषा १।१।। स०—ज अन्ते येषाम् ते जान्ताः, जान्ताश्च नश्च जान्तनशस्तेषाम् ः ः बहुव्रीहिगर्भेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०— क्ति, न, उपधायाः, नलोपः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—जान्तानामङ्गानां नशेश्र क्लाप्रत्यये परतो विभाषा नकारलोपो न भवति॥ उदा०—रञ्च रङ्कत्या, रक्तवा । भञ्ज् – भङ्कत्वा, भक्तवा । नश्—नंष्ट्वा, नष्ट्वा ॥

भाषार्थ: - [जान्तनशाम्] जकारान्त अङ्ग के तथा नश् के नकार का di होप [विभाषा] विकल्प करके नहीं होता, अर्थात् होता है।। पूर्ववत् शाप्ति थी, विकल्प विधान कर दिया।। भङ्कत्वा आदि में ज्को चीः कुः

चित्रं पाव

स्था

आ

वर्

अंद्र तेन

(८।२।३०) एवं लिर च (८।४।५४) से क् होता है। न को परमक होकर इ हो ही जायेगा। नश् धातु को क्त्वा परे रहते मिस्जनशोक (७।११६०) से जो तुम् आगम होता है, उसी का यहाँ विकल्प से होता है। त्रश्रमस्त्र (८।२।३६) से श् को प् एवं ब्हुल होका ह नष्ट्रा बनता है।।

यहाँ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति ६।४।३३ तक जायेगी॥

मझेथ चिणि ॥६।४।३३॥

भक्ते: ६।१।। च अः।। चिणि ७।१।। श्रनुः —विभाषा, उपात नलोपः, अङ्गस्य ।। अर्थः—चिणि परतो भक्जेश्च विभाषा ननाली भवति ॥ उदा०—अभाजि, अभिः ॥

भाषार्थः—[भक्षेः] अञ्ज् अङ्ग के नकार का छोप [च] भी कि से होता है [चिण] चिण् प्रत्यय परे रहते ।। चिण् प्रत्यय कित्र नहीं है, अतः नलोप की प्राप्ति ही नहीं थी, अतः यह अप्राप्त विभागी चिया भावकर्मणोः (३।१।६६) से चिण् प्रत्यय होता है। अभावि अत उपधायाः (अरा११६) से वृद्धि हो जायेगी।।

शास इदङ्हलोः ॥६।४।३४॥

शासः ६।१॥ इत् १।१॥ अङ्हलोः ७।२॥ *स*०—अङ्० इत्यन्नेति द्वन्द्वः ॥ अनु०—उपधायाः, अङ्गस्य । क्लिकित इत्यप्यनुवर्त्तते मण्डूमङ् गत्या ॥ अर्थः—शास उपधाया इकारादेशो भवति, अङ परते हैं च क्रिकति ।। उदा० — अङ् — अन्विश्वत्, अन्विश्वताम्। ह्लादी शिष्टः, शिष्टवान् । ङिति-तौ शिष्टः, वयं शिष्मः ॥

भाषार्थः—[शासः] शास् अङ्ग की उपधा को [इत्] इकार्राहेशी जाता है [श्रङ्हलो:] अङ् तथा हलादि कित् ङित् प्रत्यय परे भाग १ परि० ३।१।५६ ए० ८८१ में अशिषत् की सिद्धि देखें। यहाँ पूर्वक प्रयोग है। निष्ठा में शिष्टः शिष्ट्वान् एवं तस् मस् में शिष्टः बने हैं। सार्वधातुकमित् (११२१४) से तस् मस् कित् हैं, अतं हैं। क्षित यह सम् िक्त प्रत्यय परे है ही। शासिवसि॰ (८।३।६०) से पत्व एवं हुई। विशेष हैं। शास् की उपधा 'आ' को सर्वत्र इत्व हुआ है।

पादः]

īgi

半

市

ग्रन्, त्थे

वेक

TIF

पाई

त्रंव

gal

यहाँ से 'शासः' की अनुवृत्ति ६।४।३५ तक जायेगी।।

शा हो ॥६।४।३५॥

शा १।१।। हो ७।१।। अनु०—शासः, अङ्गस्य ।। अर्थः—शासोऽङ्गस्य ह्याने ही परतः शा इत्ययमादेशो भवति ।। उदा०—अनुशाधि, प्रशाधि ।।

माषार्थ: - शास् अङ्ग के स्थान में [हौ] हि परे रहते [शा] शा यह आदेश होता है।। सिद्धि श्रसिद्धवदत्रामात् (६।४।२२) सूत्र में देखें।।

यहाँ से 'हौंं की अनुवृत्ति ६।४।३६ तक जायेगी।।

हन्तेर्जः ॥६।४।३६॥

हनते: ६।१॥ ज: १।१॥ श्रनुः—हो, अङ्गस्य ॥ श्रर्थः—हन्तेरङ्गस्य स्थाने ज इत्ययमादेशो भवति हौ परतः ।। उदाः — जहि शत्रून् ।।

भाषार्थ:-[हन्ते:] हन् अङ्ग के स्थान में हि परे रहते [जः] ज वह आदेश होता है।। सिद्धि असिखवद० सूत्र में ही देखें।। विवं

अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिक लोपोझिल क्डिति ॥६।४।३७॥

अनुदाः दीनाम् ६।३।। अनुनासिक लुप्तपष्टचन्तनिर्देशः ॥ छोपः विशा ब्रिंग प्राप्त प्राप्ता जनुसास्त्र जुत । उपदेशे येषां ते अनुस्ति । स०—अनुदात्त उपदेशे येषां ते अनुस्ति । क्षतीपदेशाः, बहुत्रीहिः । तमोतिराद्येषां ते तमोत्याद्यः, बहुत्रीहिः। अनुदात्तोपदेशाश्च वनितश्च तनोत्याद्यश्च अनुदात्तोपदेश्वनितनोत्याद्-विकार प्रतिकार विकारिया प्रतिकार प्रतिकार प्रतिकार स्वासी होयः ॥ अनु --अङ्गस्य ॥ अर्थः — उपदेशे अनुदात्तानाम् अनुनासिकान्तानां वनतेः मिल्रादीनां चाङ्गानां झलादौ किङति प्रत्यये परतोऽनुनासिकस्य लोपो भवति ॥ उदा० अनुदात्तोपदेशानाम् यम् यत्वा, यतः, यतवान्, यतिः। भवात ।। उदा० अनुदात्तोपदेशानाम् यम् –यत्वा, यतः, यतपारः प्रात्वा, रतः, रतवान्, रतिः । वनतेः —वतिः । तनोत्यादीनाम् –ततः, कत्रान्, सत्यान्, रतिः । वनतः—वातः । तनारपानः । वनतः । तनारपानः । वनतः । तनारपानः । वनतः । व भाषार्थः श्रिनु दीनाम्] उपदेश में जो अनुदृश्त अनुनासि-भान हमके तथा वन एवं तनोत्यादि अङ्गों के [अनुनासिक] अनुनासिक का

चिंही पाद

करि

होत

(3)

हत्य

किस्य सि

[लोपः] लोप होता है, [ऋलि विङ्ति] झलादि कित् कित् कित् परे रहते ।। अनुनासिक का संबन्ध छोप के साथ और अनुदात्तोपहें। साथ भी लगाना इष्ट है, अतः 'अनुनासिक' पद लुप्तविभक्ति माना वही है। अनुदात्तोपदेश का विशेषण 'अनुनशसिकानाम्' न वनाने पा कि में म लोप प्राप्त होगा।। वन धातु से किन् में वितः रूप वना है। हि प्रति में तो न किचि दीर्घश्च (६१४।३९) से अनुनासिक छोप निषेध का प्रस अतः क्तिच् का रूप नहीं हो सकता। अतत, अतथाः की सिद्धि मा सूत्र २।४।७६ में देखें। त तथा थास् सार्वधातुकमित् (१।२॥) ङित् हैं॥

यहाँ से 'अनुदात्तोपदेशवनितनोत्यादीनाम्' की अनुवृत्ति ११६। वर्ष तक तथा 'अनुनासिक लोपः' की ६।४।४० तक जायेगी।।

वा स्यपि ॥६।४।३८॥

वा अ०॥ ल्यपि ७।१॥ श्रनु० — अनुदात्तोपदेशवनिततनोत्यादीक अनुनासिक लोपः, अङ्गस्य ॥ अर्थः---अनुदान्तोपदेशवनितनीता नामङ्गानां ल्याप परतो विकल्पेन अनुनासिकछोपो भवति॥ इयं व्यवस्थि विभाषा, तेन मान्तानां विकल्पेन लोपो भवति नान्तानां तु नित्योग उदा०—प्रयत्य, प्रयम्य, प्ररत्य, प्ररम्य, प्रणत्य, प्रणम्य, आगत्य, आग आहत्य, प्रमत्य, प्रवत्य, वितत्य, प्रक्षत्य ॥

भाषार्थ:-अनुदात्तोपदेश, वनति तथा तनोत्यादि अङ्गी अनुनासिक का लोप [ल्याप] ल्यप् परे रहते [वा] विकल्प कर्ष है।। यह व्यवस्थित विभाषा है, अतः मकारान्तों का विकल्प से होता है नकारान्तों का नित्य ही लोप देखा जाता है ॥ सिद्धियां भा परि० १।१।५५ के प्रकृत्य के समान जानें।।

न क्तिचि दीर्घश्र ।।६।४।३९॥

पदेशवनितनोत्यादीनाम्, अनुनासिक छोपः, अङ्गस्य ॥ अर्थः अर्थः भाष्यः परतोऽनुदात्तोपदेशवनिक् परतो,ऽनुदात्तोप्देशवनितनोत्यादीनामङ्गानामनुनासिक होपः विभि भवति ॥, उदा०-यन्तिः, वन्तिः, तन्तिः ॥

बहु पादः]

यों

भाग

18)

ल

वसि यमेव

HIE

तेते

भाषार्थः—[किचि] क्तिच् परे रहते अनुदात्तोपदेश, वनति तथा क तोत्यादि अङ्गों के अनुनासिक का छोप [च] तथा [दीर्घ:] दीर्घ [न] ा ही होता है।। अनुनासिक छोप का प्रतिषेध कर देने पर अनुनासिकस्य कि विमलो: (६।४।१५) से जो तीर्घत्व प्राप्त था उसका भी इस पुत्र से हि प्रतिपेध कर दिया गया ।। किच्कों च संज्ञायाम् (३।३।१७४) से किच् हां प्रत्यय होता है ।।

गमः की ॥६।४।४०॥

गमः ६।१॥ कौ ७।१॥ श्रनु०-अनुनासिक होपः, अङ्गस्य॥ 🕅 वर्यः कौ परतो गमोऽनुनासिक लोपो भवति।। उदाः अङ्गगत्, बिद्धगत् , अध्वानं गच्छन्तीति = अध्वगतो हरयः ॥

गापायं:-[क्यों] कि परे रहते [गमः] गम् के अनुनासिक का छोप होता है।। झलादि प्रत्यय परे न होते से ६।४।३७ से अनुनासिक लोप गप्त नहीं या अतः विधान कर दिया है।। उदाहरणों में निवप् च (श्रा७६) से किप् प्रत्यय तथा तुक् आगम पूर्ववत् होगा ।।

विड्वनोरनुनासिकस्यात् ॥६।४।४१॥

विद्वनोः ७।२॥ अनुनासिकस्य ६।१॥ आत् १।१॥ स०—विद् स्यित्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु ० — अङ्गस्य ॥ अर्थः — अनुनासिकान्तस्याङ्गस्य विंद विन च प्रत्यये परत आकारादेशो भवति॥ उदा०—अञ्जाः, कारा करवय परत आकारादशा नजार । कृपसाः, शतसाः, ऋतजाः, अद्रिजाः, गोषा इन्द्रो नृषा असि, कृपसाः, शतसाः, क्षिताः, द्धिकाः, अमेगा उन्नेतृणाम् । वन्—विजावा, अमेजावा ॥

भाषार्थ: [विड्वनोः] विट् तथा वन् प्रत्यय परे रहते [अनुनासि-हित्याँ भारती सिकान्त अङ्ग को [त्रात्] आकार आदेश होता है।। बिद्धियाँ भाग १ सूत्र ३।२।६७ में देखें। विजावा अम्रेजावा में वितिप् भाग १ सूत्र ३।२।६७ में देखें । विजावा अम्रजावा स भक्षण में केटें 福

यहाँ से 'श्रात्' की अनुवृत्ति ६।४।४५ तक जायेगी ॥ °

ि चुने पा

N

उद

अ

R

क

अ [

T

क

11

6

O

5 4

जनसनखनां सञ्झलोः ॥६।४।४२॥

जनसनखनाम् ६।३।। सन्झलोः ७।२।। स०—जन० सञ्झलोः, व यत्रापीतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—आत् । अनुदान्तोपदेश० (६।४॥३ इत्यतः झलि किङतीत्यप्यनुवर्तते मण्ड्कप्लुतगत्या ।। अर्थः—जन्ह खन, इत्येतेषामङ्गानामाकारादेशो अवित झलादौ सिन झलादौ चिक्कि उदा०—जन्-जातः, जातवान्, जातिः । सन्-सिन-सिषासित । किकि सातः, सीतवान्, सातिः । खन्-खातः, खातवान्, खातिः ॥

भाषार्थः—[जनसनखनाम्] जन, सन, खन इन अङ्गों को आका देश हो जाता है [सञ्कलोः] झलादि सन् तथा झलादि कित् कित् दि रहते।। जन खन धातुयें नित्य सेट् हैं, अतः उनसे झलादि सन् सन् ही नहीं, इसलिये सन धातु का ही सन् प्रत्यय में उदाहरण दिक्ष है। सनीवन्तर्घ० (७१२।४९) से सन् को भी जब पक्ष में इर्षा नहीं होगा तभी इस सूत्र का उदाहरण बनेगा। अलोन्त्यस्य (१॥॥ से अन्तिम अल् को आकारादेश होता है।।

यहाँ से 'जनसनखनाम्' की अनुवृत्ति ६।४।४३ तक जायेगी॥

ये विभाषा ॥६।४।४३॥

ये ०११॥ विभाषा १११॥ अनु०—जनसनखनाम्, आत्। किं इत्यनुवर्त्तते पूर्ववत् ॥ अर्थः —यकारादौ किङति प्रत्यये परतो जनस्ति नामङ्गानामाकारादेशो भवति विकल्पेन ॥ उदा०—जायते, जन्म जाजायते, जञ्जन्यते । सन—सायते, सन्यते । सासायते, संस्ति खन्—खायते, खन्यते । चाखायते, चङ्कन्यते ॥

भाषार्थः—[ये] यकारादि कित्-िक्त प्रत्ययों के परे रहते जा कित-िक्त प्रत्ययों के परे रहते जा कित-िक्त अङ्गों को [विभाषा] विकल्प से आकारादेश है। है। जायते जन्यते यहाँ भाववाच्य में छकार हुआ है, तथा सन्यते आदि में भी भाव अथवा कर्म में छकार जानें, इस प्रकार कित् प्रत्यय इन उदाहरणों में है। जाजायते जञ्जन्यते आदि प्रत्यय हुआ है। जिस पक्ष में आत्व नहीं हुआ उस पक्ष में जाति नासिकान्तस्य (७।४।८५) से अभ्यास को जुक् आगम होता है। की सिर्द्धि कई बार दिखायी है।।

चादः]

, 56 8131

न, ह

हिं।

गकार त् र

सम्

देखा आल

181

तसन

निर्देश Hra

A, 8

T HI

和

Tais!

114

यहाँ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति ६।४।४४ तक जायेगी।।

तनोतेर्यकि ॥६।४।४४॥

तनोतेः ६।१॥ यकि ७।१॥ अनु०-विभाषा, आत् , अङ्गस्य॥ व्रर्थ:-तनोतेरङ्गस्य यकि परतो विकल्पेन आकारादेशो भवति॥ उदा०-तायते, तन्यते ॥

भाषार्थ: [तनोते:] तनु अङ्ग को विकल्प से [यिक] यक परे रहते आकारादेश होता है ॥ भाव अथवा कर्म में सिद्धियाँ जाने ॥

सनः क्तिचि लोपञ्चास्यान्यतरस्याम् ॥६।४।४५॥

सनः ६।१।। क्तिचि ७।१।। छोपः १।१।। च अ० ।। अस्य ६।१।। अन्यतर-साम् ७।१।। श्रनु ०-आत् , अङ्गस्य ।। अर्थः - किचि प्रत्यये परतः सनोतेर-इस्य आकारादेशो भवति, छोपश्च विकल्पेन ॥ उदा०—सातिः, सतिः, सन्तिः ।।

माषार्थ: [किचि] क्तिच् प्रत्यय परे रहते [सनः] सन् (धातु) अङ्ग को आकारादेश हो जाता है [च] तथा [अन्यतरस्याम्] विकल्प से [अस्य] इसका [लोपः] छोप भी होता है।। इस प्रकार तीन रूप बनेंगे— प्रथम आत्व पक्ष में साति:, द्वितीय छोप पक्ष में सितः तथा तृतीय छोप क विकल्प कहने से जब पक्ष में छोप नहीं हुआ तो सन्तिः ये हप बने ॥

आर्घघातुके ॥६।४।४६॥

आर्धधातुके ७।१॥ अर्थः—आर्धधातुक इत्यधिकारो वेदितव्यः, न ल्यिषे इति प्रागेतस्माद् यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः तद् आर्धघातुक हरेवं बोद्धन्यम् ॥ उदा०—वक्ष्यति—अतो होपः—चिकीर्षिता। यस्य ्षः वेभिद्ता, वेभिद्तुम्, वेभिद्तिवयम्। णेरिनिटि—कारणा,

भाषार्थ:—यह अधिकार सूत्र है न ल्यपि से पूर्व पूर्व (६।४।६८) क इसका अधिकार सूत्र है न ल्याप स पूर्व रूप रेस आर्थियातके के सूत्रों में [आर्थियातके] आर्ध्धातुके ऐसा पद बैठता जायेगा ।। चिकीर्षिता सन्नन्त चिकीर्ष धातु

चि पाद

लि

हैंप

#

के तृच्का रूप है। न पदान्तः (१।१।५७) सूत्र के परिशिष्ट है। धातु से चिकीर्ष बनाने की प्रक्रिया देखें। यहाँ तृच् आर्घधातुक है। रहते 'च' के 'अ' का अतो लोपः (६।४।४८) से छोप हुआ है। यङ्गे धातु से 'वेभिच' रूप वन कर तृच् आर्धधातुक परे रहते यस अक से विकार का लोप हुआ है, पश्चात् इट् आगमादि होकर वेकि कि रूप बन गया। कारणा हारणा की सिद्धि साग १ सूत्र ३।३।१०७ में हे

अस्जो रोपधयो रमन्यतरस्याम् ॥६।४।४॥

भ्रस्जः ६।१॥ रोपधयोः ६।२॥ रस् १।१॥ अन्यतरस्याम् जशासः में रेफरच उपधा च रोपधे तयोः इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनुः—आर्थात् देवे अङ्गस्य ॥ अर्थः—भ्रस्जो रेफस्योपधायाश्च स्थाने रमागमो कि भवति, आर्धधातुके परतः ॥ उदा०—भ्रष्टा, भर्छा । भ्रष्टुम्, गर् भ्रष्टन्यम्, भर्ष्टन्यम्। भ्रज्जनम्, भर्जनम्।।

भाषा र्थः-[अस्जः] भ्रस्ज धातु के [रोपघयोः] रेफ तथा के स्थान में [रम्] रम् आगम [अन्यतरस्याम्] विकल्प से होता उत्त आर्घधातुक परे रहने पर ।। रेफ एवं उपधा सकार के स्थान में ए की चोऽन्त्यात् परः (१।१।४६) से अन्त्य अच् अ से परे होकर भृष ज् तृच्= भ र् ज् तृ रहा । व्रश्च अस्ज ० (८।२।३६) से ज् के प् ष्टुत्व होकर भर्षा बना । पक्ष में जब रम् आगम नहीं हुआ वी संयोगा० (८।२।२९) से सकार छोप एवं पूर्ववत् षत्व छुत अष्टा बन गया। भ्रज्जनम् भर्जनम् में स् को कलां बर् (८।४।५२) से दकार एवं श्चुत्व होकर 'ज्' हो गया है।। स अकार उच्चारणार्थ रखा है ।।

१. वस्तुतः यस्य हलः से अकार सहित 'य' सम्पूर्ण का लोप होता है य् वर्ण का लोप होता है ये दोनों ही पक्ष माने गये हैं। किन्तु य् लोप का अतो लोप: से लोप करने में प्रक्रिया गौरव होने 'य' समुदाय का ही तीप श्रेयस्कर है।।

२. यहाँ रोपघयो: में षष्ठी विभक्ति होने से रम् ग्रागम रेफ एवं उपवीके होता है. तथा पर हो दे में भी होता है, तथा रम् में मित् होने से अन्त्य श्रच् श्र के अ से परे श्री ये दोंनों ही व्यवस्था षष्ठीनिर्देश एवं मित्करण इन दोनों बातों का के लिये एक ही साथ हो जाती हैं।।

बहोऽध्यायः

260

अतो लोपः ॥६।४।४८॥

अतः ६।१।। लोपः १।१।। अनुः — आर्धधातुके, अङ्गस्य ।। श्रर्थः — सह अकारान्तस्याङ्गस्य आर्धधातुके परतो छोपो भवति ॥ उदाः—चिकीर्षिता. कि विकीर्षितुम्, चिकीर्षितव्यम् । धिनोति, कुणोति ।।

गागर्थ:- श्रितः] अकारान्त अङ्ग का आर्घधातुक परे रहते लोपः] होप हो जाता है।। चिकीर्षिता आदि की सिद्धि ६।४।४६ सूत्र । में ही देखें। धिनोति कुणोति की सिद्धि भाग १ परि० ३।१।८० में कि देखें। यहाँ 'उ' आर्धधातुक के परे रहते 'अ' का छोप हुआ है।।

यहाँ से 'लोपः' की अनुवृन्ति ६।४।४४ तक जायेगी।।

यस्य हलः ॥६।४।४९॥

यस्य ६।१॥ हलः ५।१॥ अनु - लोपः, आर्धधातुके ॥ अर्थः – हल जात्य यशब्दस्य आर्धधातुके छोपो भवति ।। उदाः—बेभिदिता, ए वेभिद्तुम्, वेभिद्तुवयम् ॥

माषार्थ: [हलः] हल् से उत्तर [यस्य] 'य' का लोप होता है अर्षधातुक परे रहते ।। सिद्धि ६।३।४६ सूत्र में देखें ।।

यहाँ से 'हलः' की अनुवृत्ति ६।४।५० तक जायेगी।।

क्यस्य विभाषा ॥६।४।५०॥

क्यस्य ६।१॥ विभाषा १।१॥ अनुः—्हलः, लोपः, आर्घघातुके ॥ क्षे: हेल उत्तरस्य क्यस्य विभाषा होपो भवति ॥ उदाः—समिध-भिल्लन इच्छिति, समिद् ६वाचरतीति वा = समिध्यिता, समिधिता।

भाषार्थ: हिल् से उत्तर [क्यस्य] क्य का [विभाषा] विकल्प से आर्थात्व हरू से उत्तर [क्यस्य] क्य का [क्षिमाया] जिल्ला करके क्यच् क्षक का का कि होता है ॥ क्य से सामान्य करके क्यच् क्ष्यह का महण होता है।। क्य से सामान्य करें। क्ष्यह का महण होता है।। सुप आत्मन:० (३।१।८) से क्यच् एवं केर्तुः भाष्ट्र होता है।। से क्यङ् होता है।।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

क् पादः]

iîi

155

विक

मपु

1 5 होवा

नेप

तोर्न

व

N 141

ता है।

前

9 61

180 調

णेरनिटि ॥६।४।५१॥

ित्र पाद

वनि

न्त र्षण्

होर

आर

णे: ६।१।। अनिटि ७।१।। स० - न इट् यस्मिन्, ह तस्मिन् अनिटि, बहुव्रीहिः ॥ अनु — छोपः, आर्धधातुके, अहा ह्वार स्रर्थः — अनिडादावार्धधातुके णेर्छोपो अवति ॥ उदा० — अता बीन् अररक्षत्, आटिटत्, आशिशत्। कारणा, हारणा। कारकः, का कार्यते, हार्यते । ज्ञीप्सिति ॥

भाषार्थः—[अनिटि] अनिडादि आर्घधातुक परे रहते [गे:]िही लोप होता है।। अततक्षत्, अररक्षत् की सिद्धि भाग १ पि पृ ८२१ में देखें। आटिटत्, आशिशत् की सिद्धि परि भ पृ० ७५२ में देखें। कारणा हारणा की सिद्धि ३।३।१०७ सूत्र में कारकः हारकः में णिच् छोप ही विशेष है। कार्यते हार्यते णिज कर्म के रूप हैं। अचो विश्वति (७।२।११५) से कु ह को वृद्धि हुई ज्ञीप्सित यहाँ ज्ञा धातु से णिच् एवं अतिही (७।३।३६) से पुर होकर ज्ञापि धातु बनी । ततः मारणतोषणानिशामनेषु ज्ञा (धातुणार अमि से ज्ञा की मित् संज्ञा होकर मितां ह्रस्वः (६।४,९२) से हुन पश्चात् सन् प्रत्यय एवं द्वित्वादि होकर 'ज ज्ञप् इ स' रहा। से णिलोप एवं सनीवन्तर्घ० (७।२।४६) से इट् आगम का अभाव की 'ज ज्ञप् सं रहा। श्राप्त्रप्यामीत् (७।४।५५) से ज्ञप् के अ के अत्र लोपोऽभ्या० (७।४।५८) से अभ्यास छोप होकर 'ज्ञीप सं आगे ज्ञीप्सित बन गया।।

यहाँ से 'णे:' की अनुवृत्ति ६।४।५७ तक जायेगी॥

निष्ठायां सेटि ॥६।४।५२॥

निष्ठायाम् ७११॥ सेटि ७११॥ स०—इटा सह सेट्, तिस्ति । अनु०—णेः, छोपः ॥ अर्थः—सेटि निष्ठायां पति । अवि ॥ उटार भवति ॥ उदा० —कारितम्, हारितम्, गणितम्, छक्षितम्॥

भाषार्थः—[सेटि] सेट् [निष्ठायाम्] निष्ठा परे रहते जि जाता है ।। गण तथा छन्न धातु चुरादि गण की हैं, अति विकास कि स्तार की हैं, अति कि स्तार की स्त नुरादिभ्यो णिन् (३।१।२५) से णिन् हो गया ।।

क् पादः]

मंत

गेउन

TA"

जनिता मन्त्रे ॥६।४।५३॥

जनिता शशा मन्त्रे ७।१॥ अनु०-णेः, छोपः ॥ अर्थः-मन्त्रविषये हादौ त्चि परतः 'जनिता' इति निपात्यते ॥ उदाः—यो नंः पिता जीतता (ऋ० १०।८२।३) ।।

माषार्थः—[मन्त्रे] मन्त्र विषय में इडादि तृच् परे रहते [अनिता] विनता यह निपातन है ।। गोरनिटि (६।४।५१) से अनिट् आर्घघातुक परे रहते कि ही जिलेप प्राप्त था, इंडादि आर्धधातुक में भी हो जाये अतः निपातन है। जिनता में जो वृद्धि करके 'जान' बना था उसे जनीज्य भा (भा० पा०) से मित् होकर मितां हस्वः (६।४।६२) से हस्व हो गया है।।

शमिता यज्ञे ॥६।४।५४॥

इं शमिता १।१॥ यज्ञे ७।१॥ अनु०--णेः, छोपः॥ अर्थः--यज्ञकर्मणि क सादी वृचि परतः 'शमिता' इति निपात्यते ।। उदा०—श्वतं हविः गुढ व शिनतः ॥

विष भाषार्थ:-[यज्ञे] यज्ञ कर्म में इडादि तृच् परे रहते [शमिता] अमिता यह निपातन किया जाता है।। पूर्ववत् इडादि परे णिलोप प्राप्त मिया निपातन कर दिया ॥ 'शमितः' यह तृच्प्रत्ययान्त सम्बुद्धचन्त हि । पूर्ववत् हस्वत्व आदि जाने ॥

अयामन्ताल्वाय्येतिन्वष्णुषु ॥६।४।५५॥

अय १।१॥ आमः चणुषु ७।३॥ स०—आम० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ ण ह्रियतेषु परतो णेरयादेशो भवति ॥ उदा० - आम् - कारयाञ्चकार, हात्याञ्चकार।अन्त-गण्डयन्तः, मण्डयन्तः।आलु-स्पृह्यालुः, गृह्यालुः। भाषार्थः, गृहयाच्यः । इत्तु — स्तनयित्तुः । इष्णु — पोषयिष्णवः ॥
भाषार्थः , गृहयाच्यः । इत्तु — स्तनयित्तुः । इष्णु — पोषयिष्णवः ॥ भाषार्थः प्रह्माय्यः । इत्नु स्तनायत्तु । रण्यु । इत्नु इष्णु । अन्त, आलु, आय्य, इत्नु, इष्णु । भाषार्थः । भे ।। णेर्रानीट से भिक्षे परे एहते णिको [अय्] अय् आदेश होता है।। णेरनिटि से अय् आदश करा । अय् आदश करा ।। , क्ष्यां अय् आदेश कर दिया।। , यहाँ से 'अयू' की अनुवृत्ति ६।४।४७ तक जायेगी ।।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

ि चाषः

1

6

1

वयं:-भवति

7

वा

i di (8)

380

ल्यपि लघुपूर्वात् ।।६।४।५६॥

ल्यपि ७।१।। लघुपूर्वात् ५।१।। स०-लघु पूर्वी यसमात् स हा ली स्तरमात् वहुव्रीहिः ॥ अनु अय् णेः, आर्घघातुके॥ की लघुपूर्वादुत्तरस्य णेः स्थाने ल्यपि परतो अयादेशो भवति॥ जा प्रश्मच्य गतः, संद्मच्य गतः, प्रवेभिद्य्य गतः, प्रगणय्य गतः॥

भाषार्थः—[लघुपूर्वात्] छघु है पूर्व में जिससे ऐसे वर्ण हैन णि के स्थान में [ल्यपि] ल्यप् परे रहते अयादेश हो जाता है। शिया मय्य आदि में पूर्ववत् मित् होने से मितां हस्यः (६।४।६२) हेन को हस्य हो जाता है। 'प्र शम् णि ल्यप्' यहाँ शम् अङ्ग के अहोता म् वर्ण है, उससे पूर्व 'अ' लघु है, अतः 'लघुपूर्व में है जिस ग यह कथन सङ्गत हो जाता है।। प्रवेशिद्य्य यह यङन्त के णिज रूप है। यस्य हलः (६।४।४९) से यहाँ यङ् के य का लोप हुआ है। णय्य गण सङ्ख्याने धातु से बना है। गण धातु चुरादि गण में पढ़ी है, अतः पूर्ववन् अकार लोप हो जायेगा।। नण्यत

यहाँ से 'ल्यपि' की अनुवृत्ति ६।४।५९ तक जायेगी।।

विभाषाऽपः ॥६।४।५७॥

विभाषा १।१॥ आपः ५।१॥ अनु० — त्यपि, अय् , में, धातुके ॥ अर्थः — ल्यपि परत आप उत्तरस्य णेर्विकल्पेनायादेशो म उदा०-प्रापय्य गतः, प्राप्य गतः ॥

भाषार्थः — [आपः] आप् से उत्तर ल्यप् परे रहते [विभाष] से णि के स्थान में अयादेश होता है।। आप्त समाते (चुराहि) व्याप्तौ (स्वादि) इन दोनों घातुओं का यहाँ आप् से प्रहण है। गण की आप्ल से हेतुमित च (३।१।२६) से णिच् होगा।।

युप्छवोदीर्घश्छन्द्सि ॥६।४।५८॥

युप्तुवोः ६।२॥ दोर्घः १।१॥ छन्दिस ७।१॥ स० युप्तुः रद्वन्द्वः ॥ अन्तर् तरेतरद्वन्द्वः ॥ श्रनु०— ल्यपि, अङ्गस्य ॥ अर्थः — छन्द्सि ह इत्यंतयोर्ल्यपि परतो दीर्घो भवति॥ उदा० - दान्त्यवुपूर्व यत्रा नों दक्षिणा परिष्लूय ।।

षष्टोऽध्यायः

358

म् पादः] भाषार्थः—[इन्दिस] वेद विषय में [युप्लुवोः] यु मिश्रणे तथा प्लुङ मती घातु को [दीर्घ:] दीर्घ होता है लयप् परे रहते।। यहाँ से 'दीर्घः' की अनुवृत्ति ६ । ४। ६१ तक जायेगी।।

क्षियः ॥६।४।५९॥

वर उदाः

:1

सेल

जन है।

में ज

विर्ध M

क्षियः ६।१।। अनु - दीर्घः, ल्यपि, अङ्गस्य ।। अर्थः - ल्यपि परतः ॥ वियस्च दीर्घो भवति ।। उदा०—प्रक्षीय ।।

गाषार्थः—[चियः] क्षि क्षये अथवा क्षि निवासगत्योः धातु को दीर्घ अहीता है, ल्यप् परे रहते ।।

वहाँ से 'ज्ञियः' की अनुवृत्ति ६।४।६१ तक जायेगी।।

निष्ठायामण्यदर्थे ॥६।४।६०॥

निष्ठायाम् ७११। अण्यद्रथे ७११। स०-ण्यतोऽर्थः ण्यद्रथः, षष्ट्रीतत्पुरुषः। गण्दर्थोऽण्यद्रथस्तिस्मन् · · नञ्तत्पुरुषः ॥ श्रनु ० – क्षियः,दीर्घः,अङ्गस्य॥ ण्यद्रथीं भावकमणी, ताभ्यामन्यत्र या निष्टा तस्यां क्षियो दीर्घी विति ॥ उदा०—आक्षीणः, प्रक्षीणः, परिक्षीणः, प्रक्षीणिमदं देवदत्तस्य ॥ माषार्थ:—[अर्यदर्थे] ण्यत् के अर्थ से भिन्न अर्थ में वर्त्तमान जो निष्ठा उसके परे रहते क्षि अङ्ग को दीर्घ हो जाता है।। पर पहत । क्ष अङ्ग पर पर स्वत । क्ष अङ्ग प्राप्त । विश्व । विश भाव तथा कम से अन्यत्र' ऐसा अर्थ होगा।। यहाँ कि क्षि धातु होने से गत्यार्थाकर्म (३।४।७२) से कर्त्ता में क प्रत्यय हैं जिल्लामिद यहाँ को ऽधिकरणे (२।४।७५) से तथा अट्कुपाङ् (४१२) के को नत्व चियो दीर्घात् (८।२।४६) से तथा अट्कुपाङ् (१४१२) से णत्व होता है ।। , 4

वहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ६।४।६१ तक जायेगी।।

वाऽऽकोशदैन्ययोः ॥६।४।६१॥ बार्व अवा। आक्रोशाँदैन्ययोः अशा सर—आक्रोशः

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

[श्रु पाद

चरि

हिंदी होंगे

होता होता

आभ

द्रन्द्रः ॥ अनु -- निष्टायामण्यद्र्ये, क्षियः, दीर्घः, अङ्गस्य॥ अर्थः । अर निष्टायामण्यद्थे विकल्पेन दीर्घो भवति, आक्रोहो दैन्ये च गमा वास उदा०—आक्रोशे—िश्नतायुरेधि, श्लीणायुरेधि । दैन्ये-श्नितकः, क्षेत्रह क्षितोऽयं तपस्वी, क्षीणोऽयं तपस्वी ॥

भाषार्थः—क्षि अङ्ग् को अण्यद्र्थ निष्टा के परे रहते कि दैन्ययोः] आक्रोश तथा दैन्य गम्यमान होने पर [वा] विकलारे होता है ।। क्षितायुः = क्षीण उम्र वाला तू एघि=हो जा, य सिव आक्रोश है। पूर्ववत् कर्त्ता में क्त जानें। दीर्घ पक्ष में पूर्वत् क होता है। क्षीणकः आदि में क्षीण वनाकर आगे अनुकम्पायाम् (भी कि से 'क' प्रत्यय हुआ है।।

स्यसिच्सीयुट्तासिषु भावकर्मणोरुपदेशेऽज्झनग्रह्यां चिण्वदिट् च ॥६।४।६२॥

स्यः सिषु ७।३॥ भावकम्मेणोः ७।२॥ उपदेशे ७।१॥ अब मान ६।३।। वा अः।। चिण्वत् अः।। इट् १।१।। च अः।। सः —सा होप सीयुट् च तासिश्च स्यः 'तासयस्तेषुः'। भावश्च कर्म च भाव तयो । अच् च हनश्च प्रहश्च दश् च अज्झः 'हशस्तेषाम्' । सिंह तरद्वन्द्वः ॥ चिणीव चिण्वत् तत्र तस्येव(५।१।११५) इति सप्ती वितः ॥ अनु - अङ्गस्य ॥ श्रर्थः - स्य, सिच्, सीयुट्, तारि परतो भावकर्मविषयेषु उपदेशेऽजन्तानामङ्गानां हन, पह, द्राह्म चिण्वत् कार्यं विकल्पेन भवति, इडागमश्र ॥ चिण्वद्भाविधित विधानात् यदा चिण्वत्कार्यं तदेव इडागमः॥ उदार्व स्थेऽक्र चायिष्यते, चेष्यते, अचायिष्यत अचेष्यत । दायिष्यते, दालि यिष्यत, अदास्यत । शामिष्यते, शमिष्यते, शमिष्यते, अशामिष्यते, अशामिष्यते, अशामिष्यते, अशामिष्यते, अशामिष्यते, हयत, अश्वमिद्यत । हन्—घानिहयते, हिन्दयते, अधारिहरू ब्यत । मह—माहिष्यते, महीष्यते, अमाहिष्यते, अमहीष्यते द्विष्यते, अमहीष्यते द्विष्यते, अमहीष्यते व द्शिष्यते, द्रक्ष्यते, अद्शिष्यत, अद्रक्ष्यत । सिचि-अन्तातार विषाताम्, अचेषाताम्। अद्याविषाताम्, अद्विषाताम्। अव्याविष्याताम्, अद्विषाताम्। अद्याविषाताम्, अद्विषाताम्। अत्याविष्याताम्, अद्विषाताम्। अंशमिषाताभ्, अशमिषाताम्। इन्—अघानिषाताम्, अहिषाताम्। अश्रीप्रात्ताम्। अश्रीप्राताम्। इन्—अघानिषाताम्, अविष् अहर्साताम् । यह्—अग्राहिषाताम् , अग्रहीषाताम् । दृश्

[म् पादः]

सि 歌

अहक्षाताम्। सीयुटि-अजन्तानाम्—चािराषीष्ट, चेषीष्ट, दाियषीष्ट, वातिष्ठ, शामिषीष्ठ, शमिषीष्ठ, शमिषीष्ठ । हन्—यानिषीष्ठ, विधिषीष्ठ । क्षेत्र महिषीष्ट, प्रहिषीष्ट । दश्-दर्शिषीष्ट, दक्षीष्ट । तासावजन्तानाम्-विवता, चेता, दायिता, दाता, शामिता, शमिता, शमियता। हन्-मानिता, इन्ता । प्रह्—प्राहिता, प्रहीता । दश्—दर्शिता, द्रष्टा ॥

पते माषार्थः —[भावकर्मणोः] भाव तथा कर्म विषयक [स्यः सिष्] स्य, मिन्, सीयुट् और तास् के परे रहते [उपदेशे] उपदेश में [अज्म-क शाम] अजन्त घातुओं तथा हन, प्रह् एवं दृश् घातुओं को [चिज्वत] भि विषत् = चिण् के समान [वा] विकल्प से कार्य होता है, [च] तथा हि इट्आगम भी होता है।। चिण्वत् कार्यं के साथ इट्का विधान हों से जिस पच में चिण्वत् कायँ होता है, उसी पक्ष में इट् आगम शंहिता है, ऐसा जानना चाहिये।। इट् आगम स्य, सिच्, सीयुट् तास् को होता है, अङ्ग को नहीं ॥ इस सूत्र से जो इट् का आगम होता है वह आभात् प्रकरणान्तर्गत होने से णेरिनिटि (६।४।५१) की दृष्टि में असिद्ध वा भाग अभ्यानतगत हान स णरागाट (राठार १) ... भाग जाने से 'शामिष्यते शमिष्यते' आदि णिजन्त प्रयोगों में णि का के हो जाता है। सप्तमाध्यायस्थ इडागम होने पर णिलोप नहीं हो मान म्बता, यथा 'रामियदयते'। यह इस णि विधान का वैशिष्ट्य है।। बिद्धियाँ परिशिष्ट में देखें।।

दीडो युडचि क्डिति ॥६।४।६३॥

तीड: ५११॥ युद् १११॥ अचि ७११॥ किङति ७११॥ स०—'किङति' क्रिक्टः पूर्ववज्ज्ञेयः ॥ श्रनु०—अङ्गस्य, आर्धधातुके॥ श्रर्थः— लि विक्रित प्रत्यये परतो दीङो युडागमो भवति ॥ उदा०—उपि वा वित्र वित्रीयाते, उपदिदीयिरे ॥

मापार्थः [अचि] अजादि [िक्डिति] कित् िक्त् प्रत्ययों के परे भिक्षिति हैं। दीक्ष् धातु से उत्तर [युट्] युट् का आगम होता है।। परि॰ विहः विह धातु से उत्तर [युट्] युट् का आगम हाता ह ... के ईधे के समान सिद्धि की प्रक्रिया समझें। यहाँ विहा में पश्चमी होने से दीङ् धातु से उत्तर अजादि प्रत्यय को थुट

388

भि पार यहाँ से 'श्रिचि' की अनुवृत्ति ६।४।६४ तक तथा 'कि ६।४।६८ तक जायेगी।।

आतो लोप इटि च ॥६।४।६४॥

N.

हा

त्य

आ

a

व 1

a

आतः ६।१॥ लोपः १।१॥ इटि ७।१॥ च अ०॥ अतु० 🖥 मह किङति, आर्घधातुके, अङ्गस्य ।। अर्थः—आकारान्तस्याङ्गस्य झा धातुके ङ्किति चाजादावार्धधातुके परतो छोपो भवति॥ स इडादावार्धधातुके—पपिथ, तस्थिथ। कित्यजादौ —पपतुः पपुः व तस्थु:, गोदः, कम्बलदः । ङिति—प्रदा, प्रधा ॥

भाषार्थः - [इटि] इडादि आर्धधातुक [च] तथा अजादि जि आर्घघातुक प्रत्ययों के परे रहते आतः] आकारान्त अङ्ग का लोप होता है।। इट्का पृथक् महण अक्डिद्ध है।। पा तथा स से लिट् लकार में सिप् को थल् (३।४।८२) तथा ऋतो भार (७।२।६३) के नियम से इट् आगम होकर 'प पा इ थ' रहा । की से अन्त्य आ (१।१।५१) का लोप होकर पपिथ तस्थिथ बन गया। पपुः की सिद्धि परि० १।१।५८ पृ० ७४९ में देखें। गोदः कवा पा आतोऽनुपसर्गे कः (३।२।३) से क प्रत्यय हुआ है। प्रवृष्णे त्रातश्चोपसर्गे (३।३।१०६) से अङ् ङित् प्रत्यय हुआ है। आग है एवं टाप् होकर प्रदा प्रधा बनता है।।

यहाँ से 'आतः' की अनुवृत्ति ६।४।६८ तक जायेगी॥

ईद्यति ॥६।४।६५॥

ईत् १।१।। यति ७।१।। अनु०—आतः, अङ्गस्य ।। त्रर्थः—आर् स्याङ्गस्य ईकारादेशो भवति यति परतः॥ उदा० देवम् हेयम्, स्थेयम् ॥

भाषार्थ:—आकारान्त अङ्ग को [ईत्] ईकारादेश होता है। यत् प्रत्यय परे रहते ॥ अचो यत् (३।१।९७) से यत् प्रत्यव होता है। ३।१।९७ सन के की नि ३।१।६७ सूत्र के ही परिशिष्ट में गेयम् की सिद्धि के समान वहीं जातें।। जानें।।

यहाँ से 'ईत्' की अनुवृत्ति ६।४।६६ तक जायेगी।।

[म पादः]

डित'

स्य

आर्थ

L #

意 **E**

16

घुमास्थागापाजहातिसां हलि ॥६।४।६६॥

वुमाः साम् ६।३।। हिल ७।१।। स०—घु० इत्यन्नेतरेतरद्वन्द्वः।। प्रतुः—ईत्, क्ङिति, आधंघातुके, अङ्गस्य ॥ अर्थः—घुसंज्ञकाना-महानां मा, स्था, गा, पा, हा, सा इत्येतेषां च हलादौ क्रिक्त्यार्घधातके बात पत ईकारादेशो भवति ।। जदा०—घु—दीयते, धीयते । देदीयते, का देवीयते । मा- मीयते, मेमीयते । स्था-स्थीयते, तेष्टीयते । गा-ार्ज गीयते, जेगीयते । अध्यगीष्ट, अध्यगीषाताम् । पा—पीयते, पेपीयते । ह-हीयते, जेहीयते । सा-अवसीयते, अवसेषीयते ॥ मि

माषार्थः-[घुमा : : : साम्] घुसंज्ञक सा, स्था, गा, पा, ओहाक् लागे तथा षो अन्तकर्मणि इन अङ्गों को [हिलि] हलादि कित् ङित् वार्षधातुक के परे रहते ईकारादेश होता है।। दीयते धीयते यहाँ कर्म में कार हुआ है। देदीयते यह यडन्त का रूप है। इसी प्रकार मीयते मीयते आदि में जानें। अध्यगीष्ट की सिद्धि भाग १ परि० १।२।१ में त्वं। जहाति से यहाँ ओहाक् त्यांगे का ग्रहण है। षो धातु को मालादेः (६।१।६२) से स तथा आदेच उप० (६।१।४४) से आत्व होता है। तेष्टीयते यहाँ शर्पूर्वाः खयः (७।४।६१) से अभ्यास का खय् भाग शेप रहता है।।

यहाँ से 'वुमास्थागापाजहातिसाम्' की अनुवृत्ति ६।४।६९ तक नायेगी ॥

एर्क्लिङ ॥६।४।६७॥

पः १।१॥ लिङि ७।१॥ श्रमुः—घुमास्थागापाजहातिसाम्, किङ्ति, आर्धेषातुके, अङ्गस्य ।। श्रर्थः—िकङत्यार्धधातुके लिङि परतः घुमास्था-भाषानहातिसामङ्गानां एकारादेशो भवति ॥ उदा०—देयात्, मेयात्, वेयात्, ह्येयात्, गेयात्, पेयात्, अवसेयात्।।

माषार्थः—कित् ङित् [लिङि] छिङ् आर्धधातुक परे रहते घु, मा, षा, गा, पा, हा तथा सा इन अङ्गों को [एः] एकारादेश हो जाता है ॥

१. 'गामादाग्रहरोष्ट्विविशेषः' इति परिभाषया इङादेशोऽपि गृह्यते ।

या पार

अङ् स्य

[3 अप

सि

इत

13

南

G

व

आशीर्छिङ् ३।४।११६ से आर्घघातुक और किदाशिष (३।४।१०४)हे होता है सो उसी के उदाहरण हैं। अन्य कोई विशेष सिद्धि में ही मेयात् मा माने का रूप है।। ङित् की अनुवृत्ति होने पर भी आ होने से उसके उदाहरण नहीं बनते ॥

यहाँ से 'एक्किंडि' की अनुवृत्ति ६।४।६८ तक जायेगी॥

वान्यस्य संयोगादेः ॥६।४।६८॥

वा अः ॥ अन्यस्य ६।१॥ संयोगादेः ६।१॥ सः —संयोग आलि स संयोगादिस्तस्य ः ः बहुत्रीहिः ।। श्रनु ० — एहिङि, आतः, ह धातुके, अङ्गस्य ॥ अर्थः — ध्वाद्भियो ऽन्यस्य संयोगादेराकारानामा क्डित्यार्घधातुके लिङि परत एत्वं भवति विकल्पेन ॥ उदा०-ले ग्लायात्, म्लेयात्, म्लायात्।।

भाषार्थः—घु, मा, स्था से [ग्रान्यस्य] अन्य जो [संयोगादें] ही हो आदि वाला आकारान्त अङ्ग उसको कित् ङित् छिङ् आर्घमातः रहते [वा] विकल्प से एकारादेश होता है।। ग्लै म्लै धातु संयोगी इनको पूर्ववत् आत्व तथा अलोन्त्यस्य (१।१।५१) से यासुर् पोर्व अल् को एत्व होता है।। 'अन्यस्य' यहाँ प्रकृत में कहे घुमा स्वा की अपेक्षा से ही रखा है, अतः 'ध्वादियों से जो अन्य' व हुआ है ॥

न ल्यपि ।।६।४।६९॥

न अ०।। ल्यपि ७।१।। श्रनु०—घुमास्थागापाजहाति अङ्गस्य ।। अर्थः — ल्यपि प्रत्यये परतो घुमास्थागापाजहातिसं तन्न भवति ॥ उदा०—प्रदाय, प्रधाय, प्रमाय, प्रस्थाय, प्रगाय, प्रहाय, अवसाय ॥

भाषार्थः—घु, मा, स्था आदियों को [ल्यिप] ल्यप् परे कुछ कहा है वह [न] नहीं होता ॥ *घुमास्था*० (६।४।६६) से हुई था उसीका निषेध कर दिया।।

यहाँ से 'ल्यापि' की अनुवृत्ति ६।४।७० तक जायेगी।।

[क् पादः]

(前 त्री

अस

, 5

स्याह न्ति

Ida (

rfda

福

मयतेरिदन्यतरस्याम् ॥६।४।७०॥

मयतेः ६।१॥ इत् १।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ अनु०-ल्यपि. अङ्गस्य ॥ त्रर्थः — मयतेरङ्गस्य इकोरादेशो भवति, ल्यपि परतोऽन्यतर-साम्।। उदाः —अपमित्य, अपमाय।।

माषार्थ:-[मयते:] मेङ् प्रणिदाने अङ्ग को [इत्] इकारादेश [अन्यतरस्याम्] विकल्प करके होता है ल्यप् परे रहते।। अपितस्य अपमाय यहाँ उदीचां माङो० (३।४।१९) से क्तवा' प्रत्यय हुआ है, शेष मिद्धि परि० १।१।५५ के प्रकृत्य के समान जानें।।

<u>खब्लब्लब्</u>ध्वद्ध**दात्तः** ॥६।४।७१॥

बुङ्लङ्कुङ्क्षु ७।३॥ अट् १।१॥ उदात्तः १।१॥ स०—बुङ्० इयत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०-अङ्गस्य॥ अर्थः-लुङ् लङ् ह्येतेषु परतोऽङ्गस्य 'अट्' आगमो भवति, उदात्तश्च स भवति॥ ज्याः — लुङ् — अकार्षीत् , अहार्षीत् । लङ् — अकरोत् , अहरत्। गारि हरू-अकरिष्यत्, अहरिष्यत्।।

ग्रेन भाषार्थ: - [लुङ्लङ्लुङ्चु] लुङ्, लङ्तथा लुङ्के परे रहते अङ्गको शर् अट् का आगम होता है, और वह अट् [उदात्तः] उदात्त भी होता म है॥ अकार्षीत् अहार्षीत् की सिद्धि भाग १ परि० १।१।१ पृ० ६६६ में की है। अकरिष्यत् की सिद्धि भी परि० १।४।१३ में देखें। अट् कु उ वि=अकर् ड त्=अकरोत् बना। इसी प्रकार शप् विकरण होकर अहरत् बना ।।

यहाँ से 'लुङ्लङ्लुङ्द्वडुदात्तः' की अनुवृत्ति ६।४।७५ तक

आडजादीनाम् ॥६।४।७२॥

आट् १।१॥ अजादीनाम् ६।३॥ स०—अच् आद्येषां तानि अजा-हीति तेषाम् विद्यास्य अजादीनाम् ६।३॥ स०—अच् आदियमा आकृत्य ॥ भर्थः अञ्चलक्ष्याहिः ॥ अनु०—लुङ्लङ्लुङ्खु, उदात्तः, अङ्गस्य ॥ विष्युं भाष्य वहुत्रीहि: ।। अनु०—तुङ्लङ्खुः छुः । अनु०—तुङ्लङ्खुः । अनु०—तुङ्लङ्खुः । अनु०—तुङ्लङ्खुः । अनु०—तुङ्लङ्खुः । अविष्युं । अविषयः । अविष विष्युत्ति स्त्राम्य स्त्राची अवित् । अवित् अविजीत् । अवित् । अवित ।

िश पा

मा

币 यो

म्

मा

मा

अ

fe

यो से

4

औम्भीत्। लङ्—ऐक्षत, ऐहत, औच्जत्, औम्भत्। लृङ्—ऐक ऐहिब्यत, औब्जिब्यत्, औस्भिब्यत्।।

माषार्थ:-[श्रजादीनाम्] अच् आदि वाले अङ्ग को [बार्] का आगम होता है, लुङ् लङ् इनके परे रहते, और वह आर् भी होता है ।। सम्पूर्ण सिद्धियाँ आटश्च (६।१।८७) सूत्र में देखें।

यहाँ से 'आट्' की अनुवृत्ति ६।४।७५ तक जायेगी।।

छन्दस्यपि दृश्यते ॥६।४।७३॥

ब्रन्दिस ७।१।। अपि अ० ।। दृश्यते कियापदम् ॥ ऋतु०-त ग उदात्तः, अङ्गस्य ।। अर्थः -- छन्दसि विषये आडागमो हार्क विह्तिस्ततोऽन्यत्रापि हर्यत इत्यर्थः ॥ आडजादीनामित्युक्तमह नामपि दृश्यते ।। उदा०—सुरुचो वेन आवः । आनक् । आयुन्त्॥

भाषार्थ:-[छन्दिस] वेद विषय में [अपि] भी आर् [दृश्यते] देखा जाता है ॥ अर्थात् आडजादीन।म् से अजादियों से आगम कहा है, अनजादियों से भी देखा जाता है।। आवः बी भाग १ परि॰ २।४।८० में देखें, तथा णश् घातु से आनक् की भी प्रणक् के समान वहीं देखें। युजिर् योगे से छड् में शत्म होकर आयुनक् बनेगा। चो: कु: (८।२।३०) से कुत्व गकार खंड होकर ककार हुआ है।।

न माङ्योगे ।।६।४।७४।।

न अ० ।। माङ्योगे ७।१।। स०—माङो योगः माङ्योगर्लामा षष्ठीतत्पुरुषः॥ अनु०—लुङ्लङ्लुङ्द्वट् , आट् , अङ्गस्य ॥ अर्थः लङ्लृङ्क्षु परतो यो अट् आट् आगमावुक्तौ तो माङ्योगे त उदा०—मा भवान् कार्षीत्, मा भवान् हार्षीत्। मा स्म करोत्। हरत्। मा भवान् ईहिष्ट । मा स्म भवान् ईहत । मा स्म भवान

भाषार्थ:—लुङ् लङ् लुङ् परे रहते जो अट् आट् आर्म ही [माङ्योगे] माङ् के योग में [न] नहीं होते॥ मा भवान् कार्षीत् । यहाँ माहि लुद्ध (२)२००० विकास यहाँ माङि लुङ (३।३।१७५) से लुङ् हुआ है, तथा मा स्म करीता ईक्षत' यहाँ स्मोत्तरे लड्च (३।३।१७६) से छङ् हुआ है। ईह् ह त = ईहिष्त = ईहिष्ट बन गया।।

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ६।४।७५ तक जायेगी।

षष्ट्रोऽध्यायः

335

बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि ॥६।४।७५॥

बहुलम् १।१॥ छन्दिस ७।१॥ अमाङ्योगे ७।१॥ अपि अ०॥ स०— माडो योगः माङ्योगः, षष्टीतत्पुरुषः, न माङ्योगोऽमाङ्योगस्तिसमन् न्त्तपुरुषः॥ श्रनुः – लुङ्लङ्लङ्क्बडुदात्तः, आट्, अङ्गस्य, माङ्-बोगे, न।। श्रर्थः — लुङ्लङ्लुङ्क्षु छन्दसि विषये माङ्योगेऽपि बहुल-महारी भवतः, अमाङ्योगेऽपि न भवतः।। उदा०—अमाङ्योगे— बितिष्ठा बुप्रः (ऋ० १०।७३।१) काममूनयीः । काममद्दैयीत्। माङ्योगे-🗝 गावः क्षेत्रे परबीजान्यवीप्सुः । मा अभित्थाः । मा आवः ॥

माषार्थ: - लुङ् लुङ् लुङ् परे रहने पर छिन्दसि वेद विषय में माइ का योग होने पर अट् आट् आगम [बहुलम्] बहुल करके होते हँ और [अमाङ्योगे] माङ्का योग न होने पर [श्रपि] भी नहीं होते। बन् घातु से लुङ् में थास् विभक्ति आकर जानकाः जान स् मङ् का योग न होने पर भी अट् आगम नहीं हुआ है। काममूनयीः, की विद्यान की सिद्धि सूत्र ३।१।५१ में देखें। डुवप् धातु से अवाप्सुः की मिद्धि परि० ३।४।१०६ के अकार्षुः के समान जाने। यहाँ माङ् के प्रित योग में पूर्व सूत्र से अट् आगम प्राप्त नहीं था, इस सूत्र से बहुल कहने वं से हो गया। भिद् धातु से थास् में अभित्थाः बना है। यहाँ मलो मलि (८१२६) से सिच् का लोप होता है। आवः की सिद्धि पूर्वोक्त प्रद-वित परिशिष्ट में देखें ।।

यहाँ से 'बहुलं छन्दिसि' की अनुवृत्ति ६।४।७६ तक जायेगी ॥

इरयो रे ॥ ६। ४। ७६॥

स्योः ६।२॥ रे लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ अनु०-बहुछं छन्द्सि ॥ र्थः ६।२॥ रे लुप्तप्रथमान्तिर्देशः ॥ अनु०—बहुण् अर्थः इरे इत्येतस्य छन्दसि विषये बहुछं रे इत्ययमादेशो भवति ॥ १९ इत्यतस्य छन्द्सि विषये बहुल र इत्ययमापुरा प्राच्नाभी प्रथमं दे<u>ष्ट्र आपः (ऋ०१०८२</u>४५) । यास्यऽपरिद्ध्रे । न च भवति षहुछवचनात्—परमाया धियोग्निकर्माण चिकरे॥

भाषार्थ: [इरयो:] इरे के स्थान में वेद में बहुल करके [रे] रे भारेश होता है। इरे से यहाँ लिटस्तम्मयोः (३।४।८१) वाला इरेच् रहीत है। इरे से यहाँ लिटस्तक्षयोः (३।४।८५) पाल रे है। 'द्धा इरे' यहाँ रे भाव कर लेने पर अनजादि परे'होने से

[ब् पादः]

ाट् क खें॥

रेहिंग

मनङ्

क्॥

FIM

भक (, 419

神神 雅

T.

ि सु पाव

(6

वि

\$00

त्रातो लोप इटि च (६।४।६४) से आकारहोप नहीं प्राप्त या तर् असिद्धवदत्राभात् (६।४।२२) से असिद्ध होने से (इरे मानका) जाता है ।।

विशेष:—'इरयोः' में द्विचन इसिंखिये निर्दिष्ट है कि रे मान तेने के पश्चात् सेट् धातुओं को इट् आगम होने पर जो पुत्त कि कप बन जाता है, उसको भी इस सूत्र से पुनः 'रे' भाव होते सि अर्थात् हो 'झ' के स्थान में इरेच् तथा जो बाद में 'रे' को इर्क करके 'इरे' बना हुआ रूप दोनों को रे भाव हो जाये। इस प्रकार के इरेश्च इरेश्च इरेश्च इरयोः ऐसा एकशेष (१।२।६४) करके निर्देश है।

अचि शुधातुभुवां य्वोरियङ्वङौ ॥६।४।७७॥

अचि ७।१।। रनुधातुभ्रुवाम् ६।३।। य्वोः ६।२।। इयङ्वकी स०— रनुश्च धातुश्च भ्रूश्च रनुधातुभ्रुवस्तेषां । इरच अत्त तयोः । इयङ्च च ववङ्च इयङ्ग्वङो । सर्वत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अतः अङ्गस्य ॥ अर्थः — रनुप्रत्ययान्तस्य इवर्णोवर्णान्तधातोः भ्रू हर्ते चाङ्गस्य इयङ् दवङ् इत्येतावादेशो भवतोऽचि परतः ॥ उदा प्रत्यान्तस्य — आप्नुवन्ति, राध्नुवन्ति, शक्नुवन्ति । इवर्णोवर्णाः भ्रत्ययान्तस्य — आप्नुवन्ति, राध्नुवन्ति, शक्नुवन्ति । इवर्णोवर्णाः धातोः — चिक्षियतुः, चिक्षियुः, लुलुवतुः, लुलुवुः, नियौ, नियः, इत्रुवः, । भ्रू — भ्रुवौ, भ्रुवः ॥

माषार्थ:—[श्नुधातुभुवाम्] श्नु प्रत्ययान्त अङ्ग तथा वि इवर्णान्त चवर्णान्त धातु एवं भ्रू शब्द को [इयङ्वडो] इयङ् आदेश होते हैं [श्रिच] अच् परे रहते ।। यहाँ 'एवोः' इवर्ण वर्षा का ही विशेषण है, क्योंकि श्नु भ्रू तो उवर्णान्त हैं ही। अर्वाद (१।१।५१) से इवर्ण के स्थान में इयङ् तथा उवर्ण के स्थान में यथासंख्य करके होता है। आप्नुवन्ति आदि श्नुप्रत्ययान्त अर्हा णी तथा ल्यानु से क्विप् में नियो, नियः, लुवो, लुवः बना है।

यहाँ से 'श्रिच' की अनुवृत्ति ६।४।१०० तक तथा 'खीः' की शि तक एवं 'इयड्वडों' की ६।४।८० तक जायेगी ॥

अभ्यासस्यासवर्णे ॥६।४।७८॥ अभ्यासस्य ६।१॥ असवर्णे ७।१॥ स०—अस० मि पादः] '

जा

粉碗

70-1 वर्ण

[:, §

1 [

5 cm

लोन

Ho अङ्गी

Elghi

या, तसुरुषः ॥ अनु०—अचि, य्वोः, इयङुवङौ ॥ अर्थः—इवर्णान्तस्यो-क्षान्तस्याभ्यासस्य असवर्णेऽचि परत इयङ् उवङ् इत्येतावादेशौ

भवतः ॥ उदा० — इयेष, उवोष, इयर्त्ति ॥

भाषार्थः-इवर्णान्त उवर्णान्त [अभ्यासस्य] अभ्यास को [असवर्णे] भावः सवर्ण भिन्न अच् परे रहते इयङ् उवङ् आदेश होते हैं।। उबोष की हो सिद्धि परि॰ ३।१।३८ पृ० ८७२ में देखें, तद्वत् इषु धातु से इयेष की द्व सिद्धि जानें। ऋ गतौ धातु से जुहोत्यादिभ्यः रुलुः (२।४।७५) से शप् बार हो खु एवं द्वित्वादि करके लट् लकार में इयर्त्ति की सिद्धि जानें। क्षास को उरत् (७।४।६६) से अत्व, रपरत्व तथा अतिपिपत्योध (जाशाज्ज) से इतव होकर 'इ ऋ ति' रहा । अब इयङ् होकर इय् ऋ ति=गुण होकर इयर्त्ति बन गया। अची रहाभ्यां० (८।४।४५) से त् है। बे दिल भी हो जाता है।।

स्त्रियाः ॥६।४।७९॥

बियाः ६।१॥ अनु०-अचि, इयङ्॥ ऋर्थः-स्त्री इत्येतस्य अजादौ प्रत्ये परत इयङादेशो भवति ॥ उदा०—स्त्रियौ, स्त्रियः॥

माषार्थ:—[स्त्रिया:] स्त्री शब्द को अजादि प्रत्यय परे रहते इयङ् आदेश होता है।। पूर्ववत् ईकार को इयङ् होता है।।

यहाँ से 'स्त्रियाः' की अनुवृत्ति ६।४।८० तक जायेगी।।

वाऽम्श्रसोः ॥६।४।८०॥

वा अ०॥ अम्शसोः ७।२॥ स०—अम्० इत्यन्नेतरेतरद्वन्द्वः॥ मुः - स्थियाः, इयङ् ॥ श्रर्थः - अमि शसि च परतः स्थियाः वा इयङा-रेशो भवति ।। उदा०—स्त्रीं पश्य, स्त्रियं पश्य । शस्—स्त्रीः पश्य, स्त्रियः

भाषार्थः—[अम्शसोः] अम् तथा शस् विभक्ति परे रहते स्त्री शब्द को [ग] विकल्प से इयङ् आदेश होता है।।

इणो यण् ॥६।४।८१॥

हेणः ६।१॥ यण् १।१॥ त्रनुं — अचि, अङ्गस्य ॥ त्र्रयः — इणोऽङ्गस्य पणादेशो भवति अचि परतः ॥ उदा०—यन्ति, यन्तु, आयन् ॥

च्हि पाद

मि

यण (31

किप

वोति

अव

भाषार्थ:-[इरा:] इण् अङ्ग को [यरा] यणादेश होता है, हारा परे रहते ।। अचिश्नुधातु० (६।४।७७) का यह अपवाद है।। यनि विक प्रथम पुरुष बहुवचन, यन्तु छोट् बहुवचन, एवं आयन् छङ् बहुवचन हु क्षप है। आयन् में श्रसिद्धवद् (६।४।५२) से यण् के असिद्धन से आडजादीनाम् (६।४।७२) से आट् आगम हुआ है। श्रदिप्रमृतिक (२।४।७२) से शप् का लुक् हुआ है।।

यहाँ से 'यस्' की अनुवृत्ति ६।४।८७ तक जायेगी।।

एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य ॥६।४।८२॥

ए: ६।१।। अनेकाचः ६।१।। असंयोगपूर्वस्य ६।१।। स०-न ह अनेकः, नञ्तत्पुरुषः। अनेकोऽच् यस्मिन् स अनेकाच् तसः बहुब्रीहिः । अविद्यमानः संयोगः पूर्वो यस्मात् स असंयोगपूर्वस्य" बहुब्रीहिः ॥ श्रुनुः — अचि, यण् , अङ्गस्य । श्रचि रनुधातुः (धार्षः इत्यतः 'धातोः' इत्यनुवर्त्तते मण्डूकप्तुतगत्या ।। श्रर्थः—धातोकः संयोगः पूर्वो यस्मादिवर्णात्र भवति तद्नतस्याङ्गस्यानेकाचोऽिव यणादेशो भवति ।। उदाः—निन्यतुः, निन्युः, उन्न्यौ, उन्न्यः, प्रान् त्रामण्यः ॥

माषार्थ:—धातु का अवयव जो [असंयोगपूर्वस्य] संयोग, वह प्रीवर नहीं है जिस [ए:] इवर्ण के तदन्त [अनेकाच:] अनेक अच् बार् को अच् परे रहते यणादेश होता है।। 'नी नी अतुस्' यहाँ भी भी अवयव जो 'ई' उससे पूर्व संयोग नहीं है, तथा 'नी नी' अङ्ग भी है, अतः अच् परे रहते यणादेश हो गया है। यहाँ असंगीत को धातु के अवयव इवर्ण का विशेषण बनाना है, न कि अई इससे 'उत् + नी' में त्न् का संयोग होने पर भी धातु भागनी उसका अवयव रूप संयोग होने पर भी धातु भाग है। अवयव है।। क्रांच्या संयोग नहीं है, क्योंकि त् उपरा अवयव है ॥ श्रचि रनुधातु० (६।४।७७) का अपवाद यह सूत्र है॥

यहाँ से 'श्रनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' की अनुवृत्ति ६१४८८ जायेगी॥

ओः '६।१॥ सुपि ७।१॥ अनु०--अनेकाचोऽसंयोगपूर्विया

न्त पादः] क्ष्य । धातोः इत्यनुवर्त्तते मण्डूकप्लुतगत्या ।। अर्थः-धात्व-त्र वर्षः संयोगः पूर्वी यस्मादुवर्णान्न भवति तदन्तस्याङ्गस्यानेकाचोऽजादौ मा ध्रिप परतो यणादेशो भवति ।। उदा०—खलप्बी, खलप्बः। शतस्वी, त् है ज्ञलः । सकुल्ल्वी, सकुल्ल्वः ।

भाषार्थ:—धातु का अवयव जो संयोग वह पूर्व में नहीं है जिस बो: डवर्ण के, तदन्त अनेकाच् अङ्ग को अजादि [सुपि] सुप् परे रहते गादेश होता है।। खलं पुनातीति खलपूः यहाँ अन्येभ्योऽपि॰ (য়াথেওে) से तथा शतं सूत इति शतसूः यहाँ सत्सृद्धिष० (३।२।६१) से म्प्रित्यय हुआ है। यहाँ भी धात्ववयव संयोग उवर्ण से पूर्व नहीं है, न ला ललपूः, शतसूः अनेकाच् अङ्ग हैं। सकुल्लू यहाँ सकृत् के त् को वालीं (८।४।५९) से परसवर्ण छ हुआ है। यहाँ भी संयोग घातु का भवयव नहीं है ।।

क्षा यहाँ से 'सुपि' की अनुवृत्ति ६।४।८५ तक जायेगी।।

तोसन

चे प

गले

imi

骄

वर्षाभ्वश्च ॥६।४।८४॥

वर्षाभ्यः ६।१॥ च अ० ॥ अनु०—सुपि, अचि, यण्, अङ्गस्य ॥ अर्थः वर्षाम् इत्येतस्याङ्गस्य अजादौ सुपि परतो यणादेशो भवति ॥ ह पूर्व ज्वा०—वर्षाभ्वी वर्षाभ्वः ॥

माषार्थ:—[वर्षाभ्व:] वर्षाभू इस अङ्ग को [च] भी अजादि सुप् वर्ष रहते यणादेश होता है।।

न मृसुधियोः ॥६।४।८५॥

न अ०॥ भूसुधियोः ६।२॥ स०—भू० इत्यन्नेतरेतरद्वन्द्वः॥ विध विश्व मुर्गि अचि, अचि, अज्ञस्य ।। अर्थः — मू सुधी इत्येतयोरङ्गविश्व मित्रिकः महिन्दी स्वति अजादी सुपि परतः ॥ उदा० — प्रतिसुवी, विसुवः) सुधियौ, सुधियः ॥

भाषार्थः [भूसुिंघयोः] भू तथा सुधी अङ्ग को यणादेश [न] नहीं होता, अजादि सुप् परे रहते ॥ प्रतिभू शब्द से भुवः संज्ञाक (३।२।१७६) के किए हुआ है। 'मू' को श्रो: सुपि से यणादेश की प्राप्ति थी; तथा

िश पाद

हुन्हें भवी

अय

'सुधी' को एरनेकाचो० (६।४।८२) से यण् प्राप्त था, निषेध कर कि यथाप्राप्त अचि शनुधातु० (६।४।७७) से इयङ् इवङ् आदेश ही होताः यहाँ से 'मूसुधियोः' की अनुवृत्ति ६।४।८६ तक जायेगी॥

छन्दस्युभयथा ॥६।४।८६॥

अन्द्सि ७।१॥ उभयथा अ०॥ अनु०—भूसुधियोः, अन् अर्थः—छन्द्सि विषये भू सुधी इत्येतयोरङ्गयोरभयथा हार् विद्यां विद्यां विद्यां (ऋ० ४।६।१), विशे विभुवप्। भा ह्व्यमग्ने, सुधियो ह्व्यमग्ने ॥

भाषार्थ:—भू सुधी इन अङ्गों को [छन्दिस] वेद कि बिले विकास किया दोनों प्रकार से देखा जाता है, अर्थात् यणादेश होता एवं नहीं भी होता। जब यणादेश नहीं होगा तो इयङ् उवहाँ जायेंगे।।

हुरनुवोः सार्वधातुके ॥६।४।८७॥

हुश्नुवोः ६।२॥ सार्वधातुके ७।१॥ स०—हुश्च श्रुश्च हुर्ग्य तयोः उद्धारा हुर्ग्य हुर्ग्य

भाषार्थः—[हुश्नुवोः] हु तथा श्नुप्रत्ययान्त अतेकाच् अ संयोगपूर्व में नहीं है जिससे ऐसा जो डवर्ण उसकी [सार्वधातुके] सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते यणादेश होता पूर्ववत् इयङ् उवङ् का अपवाद यह सूत्र भी है।। असी उवर्ण का, तथा अनेकाच् अङ्ग का विशेषण है। वह उवर्ण हु एवं कि का ही होना चाहिये।।

जहोति की सिद्धि भाग १ परि १।१।६० में की है, तहती की सिद्धि भाग १ परि १।१।६० में की है, तहती की में क्षि को अदभ्यस्यतात् (७)१।४) से अत् आदेश होकर जुका की सिद्धि जानें। सुन्वन्ति सुन्वन्तु की सिद्धि भाग १ परि० १।।।

[क पादः]

दिवा

हार

बङ् (

d F

भुवो वुग् छङ्लिटो: ।।६।४।८८।।

भुवः ६।१॥ वुक् १।१॥ लुङ्खिटोः ७।२॥ स० — लुङ् इत्यन्नेतरेतर-हृदः॥ त्रमु०—अचि, अङ्गस्य ॥ त्रर्थः—सुवोऽङ्गस्य वुक् आगमो क्ष्या परतः ॥ उदाः — लुङि — अभूवन्, अभूवम्। छिटि — बभूव, बभूवतुः, बभूवुः।। अङ्गत

माषार्थ:-[भुव:] भू अङ्ग को [वुक्] वुक् आगम होता है [लूड-लिटो: | लुड़ तथा लिट् अजादि प्रत्यय के परे रहते ।। बभूव की सिद्धि मा १ परि० १।२।६ में देखें। अभूवन् अभूवम् की सिद्धि में कुछ भी विशेष नहीं है, लुङ् लकार में सिद्धि बहुत बार दिखा ही आये हैं। शिक्षि अनि' तथा अम् (मिप् के स्थान में हुआ) अजादि प्रत्यय परे हैं ही। णित्यापुः (२।४।७७) से यहाँ सिच् लुक् होता है ।।

ऊदुपधाया गोहः ।।६।४।८९।।

जत् १११॥ उपधायाः ६११॥ गोहः ६११॥ श्रवु०—अचि, अङ्गस्य ॥ ग्रं-गोहोऽङ्गस्योपधाया ऊकारादेशो भवति, अजादौ प्रत्यये परतः ॥ ^{रदा० – निगृहति, निगृहकः, निगृही, निगृहं निगृहम्, निगृहन्ति ॥}

भाषार्थ: [गोहः] गोह अङ्ग की [उपघायाः] उपधा की [ऊत् UST क्षिपहेंग होता है अजादि प्रत्यय परे रहते ।। गुहू संवरणे धातु को सर्व गुण करके 'गोह' निर्देश किया है, अतः जहाँ गुहू को गोह ऐसा मुली से बनेगा, वहीं ककारादेश होगा ।। निगृही में सुप्यजाती (३।२।७=) कित्र हुआ है। निगृहं निगृहम् में त्रामीद्राये (३।४।२२) से के अपनि स्था आमी द्यये (वा० ८।१।१२) से द्वित्व हुआ है। शेष स्पष्ट

यहाँ से 'जत' की अनुवृत्ति ६।४।६१ तक तथा 'उपधायाः' की 31E वृष्टि शिक्षा१०० तक जायेगी ॥

दोषो णौ ॥६।४।९०॥

दोषः ६|१॥ गौ ७|१॥ अनु ०— ऊत् , उपधायाः, अङ्गस्य।। श्रर्थः-दोष प्रमाया ककार आदेशो भवति णौ परतः ॥ उदा०—दूषयति, दूषयतः,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

308

ि पाद भाषार्थ:-[दोष:] दोष अङ्ग की उपधा को ऊकार आदेश हैं। [गाँ] णि परे रहते ॥ दुष वैकृत्ये धातु को गुण करके हो। निर्देश है ॥

यहाँ से 'सी' की अनुवृत्ति ६।४।६४ तक तथा 'दोषः' की क्षा तक जायेगी।।

वा चित्तविरागे ॥६।४।९१॥

भव

ण्सु 1

E

a

100 10

वा अ० ॥ चित्तविरागे ७११॥ स०—चित्तस्य विरागः = कं (३) चित्तविरागस्तस्मन् "।। अनु - दोषो णौ, ऊत् , उपधायाः, अह है। अर्थ:—चित्तविरागेऽर्थे दोष उपधाया वा ऊकारादेशो भवति गौ ए र उदा० - चित्तं दूषयित, चित्तं दोषयित । प्रज्ञां दूषयित, प्रज्ञां दोष्तं (श

भाषार्थः - [चित्तविरागे] चित्त के विराग = अप्रीति = विश्रा में दोष अङ्ग की उपधा को णि परे रहते [वा] विकल्प से उन होता है।। चित्तं दूषयति का तात्पर्य है—चित्त को विमुख कर्ला

मितां हस्वः ॥६।४।९२॥

मिताम् ६।३॥ ह्रस्वः १।१॥ स०—म् इत् येषां ते मितलेष बहुव्रीहिः ॥ अनु० - णौ, उपधायाः, अङ्गस्य ॥ अर्थः - मिला मुपधाया हुस्वो भवति णौ परतः ॥ उदाः —घटयति, व्यथमी यति, रजयति, शमयति, ज्ञपयति ।।

भाषार्थः—[मिताम्] मित् अङ्ग की उपघा को [हस्तः] हत्व है, णि परे रहते ।। धातुपाठ के अन्तर्गत भ्वादिगण में मि कीन २ हैं यह बताया है यथा—घटादयो मितः, आं ऽमन्ताश्च इत्यादि । इन्हीं सूत्रों से ये सब धातुयें मित् होती सूत्र से इनके उपघा को हुस्व हो जाता है, अर्थात् अत उपघाषा के वृद्धि को हस्व होता है।।

यहाँ से 'मिताम्' की अनुवृत्ति ६।४।९३ तक जायेगी॥

चिंण्णमुखोः ७।२॥ दीर्घः १।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ म ुचिण्णम्रलोदींघोंन्यतरस्याम् ॥६।४।^{९३॥}

[म पादः]

विशा

उन्हा

तसोपा

हम।

मत् व HIGH

हो इयन्नेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—िमताम्, णौ, उपधायाः, अङ्गस्य ॥ हो। प्रर्थः—िमतामङ्गानामुपधायाः चिण्परे णमुल्परे च णौ परतो दीर्घो मवित विकल्पेन ।। उदा० -- अशिम, अशामि, अतिम, अतिमि। शर्म-क्षि भम्, शामंशामम्, तमंतमम् तामंतामम्।।

भाषार्थः—िमत् अङ्ग की उपधा को [चिरास्मुलोः] चिण्परंक तथा णुल्परक णि परे रहते [अन्यतरस्याम्] विकल्प से [दीर्घः] दीर्घ होता है॥ शम् धातु से णिच् होकर तथा चिल के स्थान में चिल् माव० =कं (शश६६) से चिण् होकर अ शाम् इ चिण् त रहा । गोरनिटि (६।४।५१) अस से ण लोप तथा प्रकृत सूत्र से दीर्घ विकल्प एवं चिएों लुक् (६।४।१०४) से गौण र होप होकर अशमि, अशामि बना । शमंशमम् आदि में श्राभी द्राये बेक्क (अप्रारर) से णमुळ् हुआ है। णि छोप पूर्ववत् हो ही जायेगा।।

खचि हस्वः ॥६।४।९४॥

ता बिच जिशा हस्वः शशा श्रमु०—णौ, उपधायाः, अङ्गस्य ॥ वर्गः अङ्गस्योपधायाः खच्परे णौ परतो हस्वो भवति॥ उदा०— ^{द्विन्तपः}, परन्तपः, पुरन्द्रः ॥

भाषार्थ:-[खिच] खच्परक णि परे रहते अङ्ग की उपधा को तिष् । स्व होता है ।। द्विषन्तपः परन्तपः में द्विषत्परयोस्तापेः (३।२।३६) विविच्यात्रत्यय एवं पुरन्दरः में पूः सवयोर्दा० (३।२।४१) से खच् प्रत्यय का है। सिद्धि तत्तत् सूत्रों में ही देखें।।

यहाँ से 'हस्वः' की अनुवृत्ति ६।४।९७ तक जायेगी।।

ह्वादो निष्ठायाम् ॥६।४।९५॥

होका हिलादः ६।१।। निष्ठायाम् ७।१॥ अनु०—हस्वः, उपधायाः, विष्याम् ७।१॥ त्रिष्ठायाम् ७।१॥ त्रातु०—हरपः, विष्याः—निष्ठायां परतः ह्लादोऽङ्गस्योपधाया हस्वो भवति॥ क्षा॰-,प्रह्लनः, प्रह्लनवान् ॥

भाषार्थः हिनदः] ह्लाद् अङ्ग की उपधा को [निष्ठायाम्] निष्ठा परे को हो जाता है।। उदाहरणों में रदाभ्यां (८)२।४२) से निष्ठा के कार एवं दकार को 'न' हुआ है। श्वीदितो० (७।२।१४) से इट् निषेष भी हो जाता है।।

शिपाइ

स

नग च€

350

छादेचें ऽद्वच्यसर्गस्य ॥६।४।९६॥

छादेः ६।१।। चे ७।१।। अद्रचुपसर्गस्य ६।१।। स०—द्वौ उपसाँ वर्ष स द्र्युपसर्गः, बहुब्रीहिः। न द्रयुपसर्गः अद्रयुपसर्गसिम् तत्पुरुषः ॥ श्रनु ः —हस्यः, उपधायाः, अङ्गस्य ॥ श्रर्थः —अद्रुष्णः अन तत्पुरुषः ॥ १७७ जुन् । छादेरङ्गस्योपधायाः घप्रत्यये परतो हस्यो भवति ॥ उदा०—स्व प्रच्छद्ः, दन्तच्छदः॥

माषार्थः-[अद्रयुपसर्गस्य] दो उपसर्गों से युक्त नहीं है बे [ब्रादेः] ब्रादि अङ्ग की उपधा को [घे] घ प्रत्यय परे रहते ग होता है।। उरश्बदः आदि की सिद्धि भाग १ परि० ३।३।११८३ इन उदाहरणों में कहीं पर भी दो उपसर्गों से युक्त छादि अङ्गर्द

यहाँ से 'ब्रादेः' की अनुवृत्ति ६।४।९७ तक जायेगी॥

इस्मन्त्रनिकषु च ॥६।४।९७॥

इस्मन्त्रिक्षिषु ७।३॥ च अ०॥ स०—इस्० इत्यत्रेतरेताल आ अनु०-छादेः, हस्वः, उपधायाः, अङ्गस्य ॥ अर्थः-छादेखसी इस्, मन्, त्रन्, कि इत्येतेषु परतो हुस्वो भवति॥ उदार् छदा, छत्रम्, धामच्छत्, उपच्छत्।।

भाषार्थः—[इस्मन्त्रन्विषु] इस्, मन्, त्रन्, कि इन प्रत्यों रहते [च] भी छादि अङ्ग की उपधा को हुस्व होता है। अचिंशुचिहुसृपिक्वादि० (उसा० २।१०८) इस उणादि से क्ष हुआ है। छुद्म में सर्वधातुम्यो मिनन् (उगा० ४।१४५) से मिन है। छत्रम् में सर्वधातुभ्यः पून् (उगाः ४११५९) से पून् प्रवास है। ष्ट्रन् का 'त्र' शेष रह जाता है। पकार (जिसके योग से हुन था) के हट जाने से ष्टुत्व भी हट जाता है, सो टू का व धामच्छत् में विवप् च (३।२।७६) से किप् होता है। जिल्ला णेरनिटि (६।४।५१) से होगा ।।

गमहनजनखनघसां लोपः क्टिल्यनिङ ॥६।४।९८॥

ं गमहनजनखनघसाम् ६।३॥ छोपः १।१॥ किङति ^{७१॥ अर्थ} ०— गमहन० इत्यचेनचेन स०-गमह्न० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः । कश्च ङश्च वङी, वडी

[भारः]

त्ययों वि

स विक्रत् तिसान् "द्रन्द्रगर्भ बहुत्रीहिः । न अङ् अनुङ् तिसान्" नञ्-ना ना अनु - अचि, उपधायाः, अङ्गस्य ॥ श्रर्थः - गम, इन, जन, मन् वन् वस् इत्येतेषामङ्गानामुपधायां छोपो भवति, अजादौ किङति भारतः ॥ उदा०—गम—जग्मीतुः, जग्मुः । हन—जघ्नतुः, जघ्नुः । वस्तुः, अन्तर्प्रमीमदन्त पितरः ॥

हे बे माषार्थ:-[गमःसाम्] गम, हन, जन, खन, घस् इन अंङ्गों की ते बाग्या का [लोपः] लोप हो जाता है, [अनिङ] अङ् भिन्न अजादि र्वं कित कित् कित् प्रत्यय परे हो तो ।। अङ्प्रत्यय अजादि एवं कित् हु है अतः उपधा छोप प्राप्त था निषेध कर दिया ।। भाग १ परि० १।१।५७ १० ७४८-४६ में जक्षतुः जक्षुः एवं 'अक्षन्' की सिद्धि देखें, तथा जमतुः जग्मुः की परि० १।१।४५ में देखें। इसी प्रकार जन्ततुः क्लतुः बनेंगे। जद्दतुः में अभ्यासाच्च (७१३।५५) से अभ्यास को इल होता है। जज्ञे में स्तोः श्चुना श्चुः (८।४।३९) से श्चुत्व हुआ है। रेति गत्मनेपद में लिटस्तम्मयो० (३।४।८१) आदि हो जायेंगे।।

यहाँ से 'लोप:' की अनुवृत्ति ६१४।१०० तक तथा 'किडति' की अनु-दाःनी र्शित ६।४।१२६ तक जायेगी।।

तनिपत्योक्छन्दसि ॥६।४।९९॥

तिपत्योः ६।२॥ छन्द्सि ७।१॥ स०—तिन इत्यन्नेतरेतरद्वन्द्वः॥ इसि मी मार्जियाः, किङ्किति, उपधायाः, अचि, अङ्गस्य ॥ अर्थः—ति, पति प्रता स्वेत्योग्छन्द्रिस विषये उपधाया लोपो भवति, अजादौ किङ्ति प्रत्यये में पाता । उदार्थ वितंतिनरे कवयः (ऋं १।१६४।५) । शकुना इंव पितम त लेगा

भाषार्थ:—[तिनिपत्योः] तन् तथा पत् अङ्ग की उपधा का छोप होता हैं [इन्देशि] वेद विषय में अजादि कित् हित् प्रत्यय परे रहते।। तन् मि होच् व विषय में अजादि कित् छित् प्रत्यथ पर रहा। भाषा पत पर होरे, उपधा अकार का छोप होकर वितितनरे बना। मत्पत्म इर, उपघा अकार का आप त्म म, इडागम होकर पप्तिम बना।। हो हो

रहाँ से 'बन्दिस' की अनुवृत्ति ६।४।१०० तक जायेगी ।।

घसिमसोईलि च ॥६।४।१००॥

ि पाद

घसिमसो: ६।२॥ इंडि ७१॥ च अ०॥ स०—घसि॰ इस्के द्रन्द्रः ॥ अनु - छन्द्सि, छोपः, किङ्गित, उपधायाः, अचि, क अर्थ: चिस भस इत्येतयोश्छन्द्सि विषये उपधाया लेपो हलादौ अजादौ च क्ङिति प्रत्यये परतः ।। उदा० — सिर्धश्च मे सा में (य० १८।९)। बच्धां ते हरी धानाः (नि० ५।१२)। अजादी - व्य

भावार्थः - [घसिभसोः] घस् तथा भस् अङ्ग की उपमा गर्है [हिलि] हलादि [च] तथा अजादि कित् डित् प्रत्यय परे हो है वेद विषय में ।। सिग्धः तथा बन्धाम् की सिद्धि परि॰ शा देखें।। भस् घातु से झि को अत् आदेश (७११४) तथा रली (भी हे से भस् को द्वित्व एवं अभ्यास कार्य होकर 'बभस् अति' रहा, ना होकर तथा खरि च (=18148) से भ् को चर्तव पकार होका विक बन गया।।

यहाँ से 'हलिं' की अनुवृत्ति ६।४।१०१ तक जायेगी॥

हुझरुभ्यो हेर्घिः ॥६।४।१०१॥

हुझल्भ्यः ११३॥ हेः ६११॥ घिः १११॥ स०—हुस्र झलस्र हुझली इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—हलि, अङ्गस्य ॥ अर्थः—हु इत्येतसात् भ्यश्रोत्तरस्य हलादेहें: स्थाने 'धि' इत्ययमादेशो भवित ॥ अ जुहुधि। झळन्तेभ्यः—भिनिद्ध, छिनिद्ध॥

भाषार्थः--[हुकल्भ्यः] हु तथा झलन्त से उत्तर हलि के स्थान में [िष:] घि आदेश होता है।। जुड़िंघ की लिड़िंग ३।३।१६६ ए० ९११ में देखें। मि रनम द् हि = भिनदी श्नसोरल्लोपः (६।४।१११) से न के अ का लोप एवं हि को धि होती छिन्द्धि बन गया।।

यहाँ से 'हेर्घिः' की अनुवृत्ति ६।४।१०३ तक जायेगी॥

श्रुशृणुपृक्वद्यभ्यक्छन्द्सि ॥६।४।१०२॥

ंश्रुश्रणपृक्तवृभ्यः ५।३॥ छन्द्सि ॥६।४।१०२॥ स०—श्रुश्रणुः ह्याः द्वन्द्वः ॥ अर्थः—श्रुश्रणुः पृत्तं द्वाः द्वन्द्वः ॥ अर्थः—श्रुश्रणुः पृत्तं द्वाः

िपादः

रहते.

सात्

सिंह

इतास्य छन्दिस विषये हेर्धिरादेशो भवति ॥ उदा०—श्रुधी हर्वम् (ছ॰ शराश) श्रृणुधी गिरं: (ऋ॰ ८।८४।३) रायस्पूर्द्धि (ऋ॰ १।३६।१२) क्राणकृषि (ऋ० ८।७५।११) अपावृषि ॥

भाषार्थ: [श्रुशृणुपॄक्षवृभ्य:] श्रु, श्रुणु, पू, कृ तथा वृ से उत्तर स्पैं [ब्रदिस] वेद विषय में हि को घि आदेश होता है।। श्रुघि में शप् - वर्ष ब बादस लोप होता है। इसी प्रकार पूर्वि, कृषि, वृषि में भी शप् लुक् होता वा करि अप् के अभाव में अन्यविकरण नहीं होते। श्रृणुधी में श्रृवै: शृच (३११७४) से श्रृ आदेश तथा रनु प्रत्यय होता है। अन्येषामि हश्यते (६१११३४) से श्रुधी श्रृणुधी में धि को दीर्घ हुआ है। पूर्छि में पृ धातु (शा के उदोष्ठचपू० (७)१।१०२) से उत्व रपरत्व तथा हिल च (८)२।७७) से देशें होता है। उरु अस्माकं कृषि उरुणस्कृषि यहाँ बहुवचनस्य० (४१२१) से अस्माकं को नस् आदेश तथा नश्च धातु० (८।४।२६) से णव हुआ है। उरुण: के विसर्जनीय को यहाँ कृधि परे रहते कःकरत्ः (विश्४०) से सत्व हुआ है।। अपावृधि वृज् अथवा वृङ् का रूप है। हु का मानने पर व्यत्यय से परस्मैपद छन्द में होगा।।

यहाँ से 'छन्दिस' की अनुवृत्ति ६।३।१०३ तक जायेगी।।

अङ्तिश्च ॥६।४।१०३॥

अङ्गतः ६।१॥ च० अ०॥ स०—ङ इत् यस्य स ङित्, न ङित् अहित् तस्य ' 'बहुत्रीहिगर्भनञ्तत्पुरुषः ॥ अनु - छन्द्सि, हेर्षिः ॥ विषये।। उदा०—सोमे णिय (ऋ० १।९१।१३) अस्मभ्यं तद्धर्यश्च प्रयन्धि । युयोध्यसमज्नुहु-हिं। (य० ४०। १६) ।।

भाषार्थः [अङ्त:] अङ्त् हि को [च] भी धि आदेश होता है, विषय में ।। वा छन्दिस (३।४।८८) से हि को विकल्प से अपित हैं सो अपित् पक्ष में 'हि' सार्वधातुकमपित् (१।२।४) से डित्वत् हैं। अपित् पक्ष में 'हि' सार्वधातुकमापत् (१।२।४) रा विक्ष पित् पक्ष में डित् नहीं होगा, इस प्रकार जिस पक्ष में डित् विशापत् पक्ष में कित् नहीं होगा, इस प्रकार जिस पक्ष कि होती । उसी पक्ष में अकित् हि के होते से इस सूत्र की प्रवृत्ति है, तथा वहलं के रारन्धि बना है। यहाँ व्यत्यय से परस्मैपद होता क्षा वहुलं ब्रन्दिस (२।४।७६) से शप् को श्लु एवं तुजादीनां दीर्घो० CC-0 Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

ि पाद

ŞH. हों

वंद

पर

T

100 H

(६।१।७) से अभ्यास को दीर्घ होता है। अनुदात्तोपदेशः (६।४। से 'हि' के अङित् होने से ही मकार छोप नहीं होता। प्रयन्धि में के शप् का बहुलं छन्दिस (२।४।७३) से लुक् होता है। युवेदिः का शप् को रलु होने से द्विज्ञन तथा पित् पक्ष में अङित् होते हैं। होता है॥

चिणो छक् ॥६।४।१०४॥

चिणः ५११॥ लुक् १११॥ श्रेनु०—अङ्गस्य ॥ श्रर्थः—चिण क प्रत्ययस्य लुग् भवति ।। उदा०—अकारि, अहारि, अलावि, अर्का

भाषार्थः — [चिणः] चिण् से उत्तर प्रत्यय का [लुक्] हुक् 📢 को र्शन) होता है।। प्रत्ययस्य लुक्० (१।१।६०) से प्रत्यय के अहा ही लुक् संज्ञा कही है, अतः यहाँ लुक् कहने से प्रत्यय का ही ह समझा जायेगा। चिण्भाव० (३।१।६६) से उदाहरणों में चिष् है, उस चिण् से उत्तर त का प्रकृत सूत्र से लुक् हो जाता है।

यहाँ से 'लुक्' की अनुवृत्ति ६।४।१०६ तक जायेगी॥

अतो है: ॥६।४।१०५॥

अतः ५।१॥ हैः ६।१॥ अनु०—लुक्, अङ्गस्य ॥ त्रर्थः—अवि दङ्गादुत्तरस्य हेर्लुक् भवति ॥ उदा०—पच, पठ, गच्छ, धाव॥

भाषार्थ:-[श्रत:] अकारान्त अङ्ग से उत्तर [हे:] हि का ही जाता है।। विभक्ति विपरिणाम होकर अर्थानुसार अङ्गर्भ म विभक्ति में बद्छ जाता है।।

यहाँ से 'हे:' की अनुवृत्ति ६।४।१०६ तक जायेगी।।

उत्रश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात् ॥६।४।१^{०६॥}

उतः ५११। च अ० ।। प्रत्ययात् ५११।। असंयोगपूर्वात् १११। अविद्यमानः संयोगः पूर्वी यस्मात् स् असंयोगपूर्वात् शाः अनु०—हेः. लक अनु०—हेः, लुक् , अङ्गस्य ॥ अर्थः—असंयोगपूर्वे यः प्रत्ये दन्तादङ्गात्परस्य हेर्लुक् भवति ॥ उदा०—चिनु, सुनु, कुरु॥ भाषार्थः—[श्रसंयोगपूर्वात्] संयोग पूर्व में नहीं है जिससे

[च वादः]

अद्ध ी क

चेण्

11

11

a gall ययोक

ने देश

कार तद्न्त [प्रत्ययात्] जो प्रत्यय, तद्न्त अङ्ग से उत्तर [च] यां भी हिका लुक् हो जाता है।। छुरु में छु को गुण रपरत्व कर छेने पर वोवि का उत्सार्वधातुके (६।४।११०) से उत्व होता है।।

यहाँ 'असंयोगपूर्व' उकार का विशेषण है न कि उकारान्त प्रत्यय का ते ते त सिलिए 'आप्तुहि' में तु प्रत्ययावयव उकार से पूर्व प् न का संयोग होते से हि का लुक् नहीं होता। उकारान्त प्रत्यय का विशेषण बनाने पर 'तु' प्रत्य से पूर्व संयोग न होने के कारण यहाँ भी लुक् प्राप्त ही जाता, ण उत्त काः असंयोगपूर्वप्रहण उकार का विशेषण माना गया है ॥ अपारि

यहाँ से 'उतः प्रत्ययात्' की अनुवृत्ति ६।४।११० तक तथा 'असं-हर् गेगपूर्वात्' की ६।४।१०७ तक जायेगी ।।

लोपश्चास्यान्यतरस्यां स्वोः ६।४।१०७॥

बोपः १।१॥ च अ०॥ अस्य ६।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ म्बोः ष्या स०—मश्च वश्च म्बी, तयोः इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—उतः भवगत्, असंयोगपूर्वात्, अङ्गस्य ॥ अर्थः — असंयोगपूर्वी योऽयमुकारो व्यास्य प्रत्ययस्य लोपो भवति विकल्पेन, मकारादौ वकारादौ च प्रत्यये पतः॥ उदा०—सुन्वः, सुनुवः, तन्वः, तनुवः। सुन्मः, सुनुमः, तन्मः, वनुमः ॥

भाषार्थः - असंयोगपूर्व [श्रस्य] इस उकारान्त प्रत्यय का [लोपः] छोप क्ष मिमि अन्यतरस्याम् विकल्प से होता है [म्वो:] मकारादि तथा वकारादि स्य के परे रहते ।। सुनुतः की सिद्धि परि० १।१।५ में की है तद्गत भ्यम् परे रहते यहाँ भी जानें। अलोन्त्यस्य (१।१।५१) के नियम से अल्य के अन्त्य उकार का लोप होता है। तन्त्वः तन्मः में उकारमात्र ही किए हैं इसका छोप होता है। सामर्थ्य से असंयोगपूर्वात् आदि, पद भी पष्ट्यान्त में यहाँ बद्छ जाते हैं।। 8118

यहाँ से 'लोपः' की अनुवृत्ति ६।४।१०६ तक तथा 'म्वोः' की ६।४।१०८ वेक जायेगी ॥

नित्यं करोतेः ॥६।४।१०८॥

नित्यम् १११॥ करोतेः ५११॥ अनु०—छोपः, स्वोः, उतः प्रत्ययात्,

ि पा अङ्गस्य ।। अर्थः — वकारमकाराद्ये प्रत्यये परतः करोतेरुत्तरस्य का यस्य नित्यं छोपो भवति ॥ उदा०—कुवैः, कुर्मः ॥

भाषार्थः - वकारादि मकारादि प्रत्यय परे रहते [करोते:] से उत्तर उकार प्रत्यय का [नित्यम्] नित्य ही छोप हो जा पूर्ववत् उकार का छोप, एवं श्रत उत्सार्वः (६।४।११०) से उत् कर् उ मस् = कुरु मस् = कुर्मः ।।

यहाँ से 'नित्यम्' की अनुवृत्ति ६।४।१०६ तक तथा कोते ६।४।११० तक जायेगी।।

ये च ॥६।४।१०९॥

भि

11

अ

अ

ये ७।१।। च अ० ।। अनु -- नित्यम् करोतेः, होपः, हार् यात्, अङ्गस्य ।। अर्थः - यकारादी च प्रत्यये परतः करोतेला कारस्य प्रत्ययस्य नित्यं छोपो भवति ।। उदा०—कुर्यात्, इस क्यु:॥

भाषार्थः-[ये] यकारादि प्रत्यय परे रहते [च] भी कृष उत्तर उकार प्रत्यय का नित्य ही छोप होता है।। कु उ यासुद् सुर्^{हिं} ड यास् स् त् यहाँ उत्व (६।४।११०) तथा उकार छोप होकर झ्या त् रहा, पश्चात् लिङः सलोपो० (७।२।७६) से दोनों सकारों क कर कुर्यात् आदि रूप बने । कुर्यु: में मेर्जुस् (३।४।१०८) एवं उस न्तात् (६।१)६३) सूत्र विशेष छगेंगे ।।

अत उत्सार्वधातुके ॥६।४।११०॥

अतः ६।१॥ उत् १।१॥ सार्वधातुके ७।१॥ श्रवु०-कोते। प्रत्ययात् , क्लिति, अङ्गस्य ॥ अर्थः — उकारप्रत्ययान्तस्य करोति स्थाने उकार आदेशो भवति, क्रिङ्कित सार्वधातुके परतः ॥ ज कुरुतः, कुवन्ति ।।

भाषार्थः— उकारप्रत्ययान्त कु अङ्ग के [अतः] अकार के हिंगी प [उत्] उकारादेश हो जाता है, कित् ङित् [सार्वधातुके] परे रहते ।। क को गुण रपरत्व करने पर 'अ' के स्थान में हिंदी है । सिद्धियाँ परि० १।२।४ में देखें ।।

यहाँ से 'सार्वधातुके' की अनुवृत्ति ६।४।११८ तक जायेगी।

षष्टोऽध्यायः

३१५ '

[भ्यादः]

उक्क

तेस्च

कु भी ह विः

र् यार

का लो

तिः,

इनसोरछोपः ॥६।४।१११॥

श्तसो: ६।२।। अल्छोप: १।१।। स०- रनश्च अश्च रनसौ (शकन्ध्वाद्वत ग्रह्मम्) तयोः ''इतरेतरद्वन्द्वः। अतो लोपः, अल्लोपः, षष्टीतत्पुरुषः॥ : 3 म्बर्ण-सार्वधातुके, किङ्ति, ॥ अर्थः- इनस्यास्तेश्चाकारस्य छोपो जाव भवति सार्वधातुके किङति परतः ॥ उदा० - रुन्धः, रुन्धन्ति । भिन्तः, त्व हो भिन्दन्ति। अस्ते:-स्तः, सन्ति।। करोते.

गाषार्थः—[श्नसोः] श्नम् प्रत्यय तथा अस् धातु के [अल्लोपः] कार का लोप होता है, कित् ङित् सार्वधातुक परे रहते।। परि॰ १११४६ के रुणद्धि के समान रुन्धः में सब कार्य जाने, केवल यहाँ रन कें अ का लोप तस् ङित् सार्वधातुक परे रहते होता है। नकार को अनुस्वार (८।३।२४) तथा परसवर्ण (८,४।५८) हो कर पुनः नकार होता है अतः न के असिद्ध (८।२।१) होने से णत्व भी नहीं होता है। स्तः सन्ति बी सिद्धि परि० १।१।५७ में देखें।।

यहाँ से 'लोप:' की अनुवृत्ति ६।४।११२ तक जायेगी।।

वनाभ्यस्तयोरातः ॥६।४।११२॥

श्नाभ्यस्तयोः ६।२॥ आतः ६।१॥ स०—श्ना० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ क्षु॰-होपः, सार्वधातुके, क्रिङति, अङ्गस्य ।। अर्थः-श्ना इत्येतस्य अभ्यतानाञ्चाङ्गानामाकारस्य छोपो भवति सार्वधातुके क्डिति परतः॥ ज्या जानाम्, अलुनत । अभ्यस्तानाम्—मिमते, मिमताम्, अभिमत । संजिहते, संजिहताम्, समजिहत ॥

भाषार्थः—[रनाम्यस्तयोः] श्ना तथा अभ्यस्तसंज्ञक के [आतः] क्षित्र का लोप होता है, कित् ङित् सार्वधातुक परे रहते।। यद्यपि कित् हित् सामान्य सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते आकार का छोप कहा है, विवाधिक कर का किया कि सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते आकार का छोप कहा है, विवापि उत्तर सूत्र में हलादि कित् ङित् सावधातुक में ईकारादेश का विधान होते से यहाँ अजादि सार्वधाठुक में ही यह विधि जाननी चाहिये।। परिः १।३।१४ भाग १ में व्यतिलुनते की सिद्धि की है, तद्वत् लुनते, (वहुनचन) जुनताम्, (छोट् में श्रामेतः ३।४।६० छगकर) की सिद्धि बाते। माह माने धातु को श्ली (६।१।१०) से द्वित्व एवं अभ्यास को रेशामित (७।४।७६) से इत्व होकर 'मि मा अ ते' रहा। उमे अम्यस्तम्

[7] 91

वि

(६।१।५) से अभ्यस्त संज्ञा होकर प्रकृत सूत्र से आकार के मिमते बन गया। इसी प्रकार मिसताम्, अमिमत (लङ्) तथा के गतौ घातु से संजिहते आदि भी समझें।।

यहाँ से 'श्नाभ्यस्तयोः' की अनुवृत्ति ६।४।११३ तक तथा ह की ६।४।११४ तक जायेगी।।

ई हल्यघोः ॥६।४।११३॥

ई तुप्तप्रथमान्तनिर्देशः।। हलि ७।१।। अघोः ६।१॥ स०-न प्रह तस्य ' 'नन्तत्पुरुषः॥ अनु - शनाभ्यस्तयोः, आतः, सार्वधातुके, वि अङ्गस्य ।। अर्थः—घुवर्जितानां श्नान्तानामङ्गानामभ्यस्तानाम्र वर्षे स्थाने ईकारादेशो भवति हलादौ किङति सार्वधातुके परतः॥ स लुनीतः पुनीतः, लुनीथः पुनीथः, लुनीते पुनीते । अभ्यस्तानाम्-ि मिमीषे, मिमीध्वे, संजिहीते, संजिहीध्वे ॥

भाषार्थ:—[श्रघो:] घु संज्ञक को छोड़ कर जो श्नात भ अभ्यस्तसंज्ञक अङ्ग उनके आकार के स्थान में [ई] ईकारिक है [हिलि] हलादि कित् िक्त् सार्वधातुक परे रहते॥ भागा शशिर में परिक्रीणीते की सिद्धि की है, तद्वत् लुनीते पुनीते औ जानें। परस्मैपद में तस् थस् हलादि कित् (११२१४) सार्वमाही रहते जुनीतः जुनीथः आदि की सिद्धि जानें। मिमीते आदि में द्वित्वादि कार्य होगा।।

यहाँ से 'हलि' की अनुवृत्ति ६।४।११६ तक जायेगी।।

इहरिद्रस्य ॥६।४।११४॥

आतः, सार्वेष इत् १।१॥ दरिद्रस्य ६।१॥ ऋनुः—हिल, क्डिति, अङ्गस्य ।। अर्थ:—द्रिद्रातेरातो हलादौ क्डिति परत इकारादेशो भवति ॥ उदा०—द्रिद्रितः, द्रिद्रियः, दरिद्रिमः ॥

भाषार्थः—[दरिदस्य] दरिद्रा धातु के आकार के स्थात में इकारादेश होता है, हलादि कित् छित् सार्वधातुक परे रहते॥

ैश. ग्रांकार की ग्रनुवृत्ति के बिना भी ग्रलोन्त्यस्य के नियम से अल्ल को ही ईकारादेश होगा, ग्रतः ग्रनुवृत्ति स्पष्टार्थ है।

[म्पादः]

होप ह

ग बेह

[-in

1 31

ादेश (

i F

सावंध सार्वेष द्धिः

[

RY OF

वहाँ से 'इत्' की अनुवृत्ति ६।४।११६ तक जायेगी।।

मियोऽन्यतरस्याम् ॥६।४।११५॥

भियः ६।१॥ अन्यतरस्याम् ७६१॥ अनु०-इत्, हलि, सार्वधातुके, विकति, अङ्गस्य ॥ अर्थः—्भी इत्येतस्याङ्गस्य विकल्पेन इकारादेशो भवित, हलादी किङति सार्वधातुके परतः ॥ उदा०—विभितः विभीतः, विभियः, विभीथः, विभिनः विभीनः, विभिमः विभीमः॥

भाषार्थ:-[मिय:] भी अङ्ग को [श्रन्यतरस्याम्] विकल्प करके न घुः के लि स्वादि कित् कित् सार्वधातुक परे रहते इकारादेश होता है।। पक्ष में ब्रु वर्ष ही रहेगा। अभ्यास कार्य एवं द्वित्व पूर्ववत् जानें। अन्त्य अल् 'ई' को इकार आदेश होगा।।

यहाँ से 'श्रन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति ६।४।११७ तक जायेगी।।

जहातेक्च ॥६।४।११६॥

जहातेः ६।१।। च अ०।। श्रनु०—अन्यतरस्याम्, इत्, ह्छि, सार्व-गार गतुके, क्डिति, अङ्गस्य ।। अर्थः—जहातेश्च इकारादेशो भवति किल्पेन इलादौ किङ्कित सार्वधातुके परतः ॥ उदाः—जहितः, जहीतः, विश्वातं विह्यः, जहीथः ॥

भाषार्थ:-[जहाते:] ओहाक् त्यागे अङ्ग को [च] भी इकारादेश किल्प से होता है, हलादि कित् कित् सार्वधातुक परे रहते॥ई हिल्मों: से अभ्यस्त के अ को नित्य ईत् प्राप्त था, सो इत् अभाव क्षिमें ईत् ही होता है। भाग १ पृ० ७५५ के जुहोति के समान द्विवादि कार्य जाने ।।

यहाँ से 'जहाते:' की अनुवृत्ति ६।४।११८ तक जायेगी।।

आ च हो ॥६।४।११७॥

भा लुप्तप्रथमान्तिनिर्द्शः॥ च अ०॥ हो ७।१॥ श्रवु०— वहाते: अन्यत्तरस्याम् ॥ च अ०॥ ६। जाः अन्यत् वात्यां भक्तिः अन्यत्तरस्याम् ॥ श्रर्थः — जहातेराकारश्चान्तादेशो अन्य-वात्यां भवति इकारश्च हो परतः ॥ उदा०—जहाहि, जहिहि, जहीहि॥
भाषार्थः भाषार्थः - ओहाक् अङ्ग को [आ] आकार आदेश विकल्प से होता है [म] तथा इकार आदेश भी विकल्प से होता है [हौ] हि परे

'शिपाद रहते ।। पूर्वसूत्र में इकारादेश विकल्प से कहा है, यहाँ आकारहे व भी विकल्प से विधान किया, अतः पक्ष में पूर्ववत् ईकारादेश (हाला क्ष होकर तीन रूप बनते हैं।।

लोपो यि ॥६।४।११८॥

र्वि

Q4

9

ोनु ह्योपः १।१।। यि ७।१।। अनु ० - जहातेः, सार्वधातुके, क्डिति॥ श्र जहातेर्छीपो भवति यकारादौ क्ङिति सार्वधातुके परतः॥ उक् जह्यात्, जह्याताम्, जह्यः ॥

भाषार्थ:—ओहाक् अङ्ग का [लोपः] छोप होता है [पि] का कित् डित् सार्वधातुक परे रहते ।। त्रालोन्त्यस्य (१।१।५१) से कि आकार का छोप हो जायेगा।।

घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपइच ॥६।४।११९॥

घ्वसोः ६।२॥ एत् १।१॥ हो ७।१॥ अभ्यासलोपः १।१॥ चअ०॥ ह्वसोः इत्यत्रेतरेतरद्भन्द्भः। अभ्यासस्य छोपः अभ्यासछोपः, षष्टीतस्य अनु -- अङ्गस्य, किङ्कित ॥ अर्थः -- घुसंज्ञकानामङ्गानामसोर्य देशो भवति हो किङ्कित परतोऽभ्यासछोपश्च ॥ उदा०-देहि अस्ते:-एधि ॥

माषार्थः—[म्वसोः] घुसंज्ञक अङ्ग को एवं अस् को लि रादेश [च] तथा [अभ्यासलोपः] अभ्यास का छोप होता है हि क्डित् परे रहते ।। हि ङित् सार्वधातुक है । देहि वेहि की भाग १ परि १।१।१६ में देखें, तथा एघि की सिद्धि श्रीमिक (६।४।२२) सूत्र में देखें।।

'यहाँ से 'एत् अभ्यासलोपश्च' की अनुवृत्ति हाडार्शि जायेगी।।

अत एकहल्मच्येऽनादेशादेर्लिटि ॥६।४१२०॥

अतः ६।१॥ एकहल्मध्ये ७।१॥ अनादेशादेः ६।१॥ छिटि ०।१॥ एकद्व एकौ । एकौ च तौ हलौ च एकहलौ, कर्मधारयस्तत्पुरुषः। एकहल्मध्यः तस्मिनः । पार्वे एकहलमंध्यः, तस्मिन् ' 'षष्टीतत्पुरुषः । अविद्यमान आदेश

'[भादः]

श्रीश्र

1

कारहे ब्रादिस्तस्य ' 'बहुब्रीहिः ॥ अनु०—एत् , अभ्यासलोपश्च, क्टिति, रिशिक्षस्य ॥ अर्थः — लिटि परतः अनादेशादेरङ्गस्य एकहल्मध्ये = अस-विश्वेष्ट योऽकारस्तस्य एकारादेशो भवति, अभ्यासलोपश्च बिट किङ्कित परतः ॥ उदा०—रेणेतुः, रेणुः, येमतुः, येमुः, पेचतः, चुः, देमतुः, देमुः ॥

भाषार्थः—िलट् परे रहते [अनादेशादेः] अनादेशादि अङ्ग के ।। जा अर्थात् लिट् परे जिस अङ्ग के आदि को आदेश नहीं हुआ है) [कहलमध्ये] एक = असहाय = (अकेले दो) हलों के बीच में वर्तमान का विकार अकार उसको एकारादेश तथा अभ्यासलोप हो जाता है से जिल्लिटि] छिट् परे रहते ।। एक शब्द यहाँ असहायवाची है ॥ ण भातु को द्वित्वादि होकर 'र रण अतुस्' रहा। अब यहां 'रण्' गङ्ग के आदि 'र' को छिट् को मानकर आदेश नहीं हुआ है, अतः र अनादेशादि अङ्ग है, एवं 'रण्' के र का अ, र् तथा ण् अशाहिल असहाय हलों के बीच में है। इस प्रकार अकार के एकहल्मध्य किसे अभ्यास छोप एवं अकार को एत्व प्रकृत सूत्र से हो गया है। व मिंगि प्रकार येमतुः आदि में जानें।। 'लिटि' पद् की आवृत्ति करने से कि छिटि' का संबन्ध 'अनादेशादेः' के साथ होता है और दूसरे का कि के साथ। अनादेशादेः के साथ छिटि का संबन्ध इसिलए जाता है कि जो धातु को आदि आदेश छिट् निमित्तक नहीं होते क्षित होते हैं उनमें निषेध न हो । यथा षध = सध—सेधतुः, सेघुः, म = नम-नेमतुः नेमुः ये सत्व नत्व सामान्य आदेश हैं।

यहाँ से 'श्रतः लिटि' की अनुवृत्ति ६।४।१२६ तक तथा 'एकहल्मध्ये पहा स अतः ।लाट का उड्ड अगदेशादेः' की ६।४।१२१ तक जायेगी ।।

थिल च सेटि ॥६।४।१२१॥

थिंड जिल्ला च अ ।। सेटि जिल्ला अनु ज्या एकहल्मध्येऽना-हिन्द्र हैं जारा। च अ० ।। सेटि ७।१।। अनु०—अत ५५०० च सेटि पतोऽनाहेकारे, अभ्यासछोपश्च, अङ्गस्य ॥ अर्थः—थिल च सेटि पतिऽनादेशादेरङ्गस्यासलोपस्र, अङ्गस्य ॥ अथः — याः स्थाने पति ।। अथः स्थाने वर्त्तमानस्याकारस्य स्थाने भवत्यभ्यासहाययोर्हलोमध्य वत्तानाः भवत्यभ्यासलोपश्च ॥ उदा०—पेचिथ, शेकिथ ॥ भाषार्थः सिंहि] सेट् [थिलि] परे रहते [च] भी अनादेशादि

् [भाव अङ्ग के दो असहाय हलों के सध्य में वर्त्तमान जो अक्षा स्थान में एकार आदेश हो जाता है, तथा अभ्यास का लेप होता है पेचिथ शेकिथ की सिद्धि परि० ३।४।११५ में देखें।। यल्कित्ति स है, अतः इस सूत्र का आरम्भ अक्डिन्थे हैं।।

यहाँ से 'थिल च सेटिंग की अनुवृत्ति ६।४।१२६ तक जायेगी। हर

तफलभजत्रपञ्च ॥६।४।१२२॥

तुफलभजत्रपः ६।१।। च अ० ।। स०—त् च फलश्च भजश्र ऋष अभ्यासलोपस्र, विङ्ति, अङ्गस्य ।। अर्थः—तृ, फल, भज, त्रपहर्ते ह्रा ङ्गानामकारस्य स्थाने एकारादेशो भवति अभ्यासलोपस्र विक्री परतस्थिल च सेटि।। उदा०—तेरतुः, तेरुः, तेरिथ। फेल् फेलिथ। भेजतुः, भेजुः, भेजिथ। त्रेपे, त्रेपाते, त्रेपिरे॥

भाषार्थः — [तूफलभजत्रपः] त्, फल, भज, त्रप इन अङ्गी हे कि के स्थान में चि भी एकारादेश तथा अभ्यासलोप होता है डित् लिट् परे रहते तथा सेट् थल् परे रहते ।। तेरतुः में वृ त्रप्रच्छत्यूताम् (७।४।११) से होता है, अतः न शसदद० (हा) से तृ को अभ्यासलोप तथा एत्व प्रतिषेध प्राप्त था, यहाँ विकास दिया। फल से फल निष्पत्तौ एवं विफला विशरणे दोनों व होता है। फल तथा भज को अभ्यास कार्य होकर 'प वं आधि आदेश होते हैं, अतः आदेशादि होने से अप्राप्ति थी तथा में आकार अनेक हल्मध्य वाला है, अतः उसे पूर्वसूत्र से प्राप्ति की सर्वत्र विधान कर दिया।।

राघो हिंसायाम् ॥ ६।४।१२३॥

राधः ६।१॥ हिंसायाम् ७।१॥ अनु०—थिं च से^{दि, अत}्या एत्, अभ्यासलोपश्च, किङति, अङ्गस्य ॥ श्रर्थः—हिंसायाम् । अङ्गस्य ॥ श्रर्थः—हिंसायाम् । अङ्गस्य ॥ श्रर्थः—हिंसायाम् । अङ्गस्य । अर्थः—हिंसायाम् । अङ्गस्य । अर्थः—हिंसायाम् । अङ्गस्य । अर्थः—हिंसायाम् । अङ्गस्य । अर्थः । अर्यः । अर्थः । अर् भाषार्थः—[हिसायाम्] हिंसा अर्थ में वर्त्तमान [राघः] ग्री

ं [भादः] का के अवर्ण के स्थान में एकार आदेश तथा अभ्यासलीप होता है, कित् के हित् लिट् परे रहते तथा सेट् थल् परे रहते ।। ६।४।१२० से अकार के विशा यहाँ तपरत्वनिर्दिष्ट 'अतः' की अनुवृत्ति होने पर भी राघ में विता है।।

वा जुअसुत्रसास् ॥६।४।१२४॥

羽 हिंदि:

प इत्या

वा अः ।। ज्ञ्ञसुत्रसाम् ६।३।। सः —ज् च असुत्र त्रस् च ज्ञ्ञसु-सस्तेषाम् . . इतरेतरद्वन्द्वः ।। अनुः —थ्रिष्ठं च सेटि, अतः छिटि, एत् अभ्यासळोपस्र, क्डिति, अङ्गस्य ।। अर्थः—ज्, भ्रमु, त्रस्, इत्येतेषाम-महार्थ मानामतः स्थाने एकारादेशो वा भवति, अभ्यासछोपश्च किङति छिटि पतस्यि च सेटि।। उदा०—जेरतुः, जेरुः, जेरिथ। पक्षे न भवति— क्षा विकातः, जजरः, जजरिथ । श्रेमतुः श्रेमु श्रेमिथ । पक्षे – वश्रमतुः, क्षमुः, बभ्रमिथ । त्रेसतुः, त्रेसुः, त्रेसिथ । पक्षे—तत्रसतुः, तत्रसुः, ों के वितत्रसिथ ।।

ता है गाषार्थ: - [ज्यमुत्रसाम्] जू, भ्रमु, त्रस् इन अङ्गों के अकार के विकल्प से एत्व तथा अभ्यासलीप [वा] विकल्प से होता है, कित् डित् कि में गण होता है, अत: न शसदद० से गुणकृत अकार होने से निषेध भाषा विधान कर दिया। इसी प्रकार भ्रम् धातु के आदेशादि और आरि क्षेत्रक हल्मध्य होने से, एवं त्रस् में अनेकहल्मध्य अकार होने से भा भा प्राप्त कान सं, एवं त्रस् सं जानकर् भा भा विकल्प से प्राप्त करा दिया।।

यहाँ से 'वा' की अनुवृत्ति ६।४।१२५ तक जायेगी।।

फणां च सप्तानाम् ॥६।४।१२५॥

भणाम् ६।३॥ च अ०॥ सप्तानाम् ६।३॥ अनु०—वा, अतः छिटि, अर्थे व सेटि, एत् अभ्यासलोपश्च, किङ्ति, अङ्गस्य ॥ अर्थः—फणा-भारत पत् अभ्यासलोपख्य, किङांत, अङ्गस्य ॥ अन्यस्य प्राप्ति स्तानां धातूनामवर्णस्य स्थाने वा एकार आदेशो भवति, अभ्यास-भिष्य हिन्द्र विकास स्थाने वा एकार आदशा भवात, केणुः, केणुः, किण्य। को किलात परतस्थिल च सेटि॥ उदा०—फेणतुः, फेणुः, अपि विष्य । पक्षे प्रतस्थित च सेटि ।। उदा - फणजुः, रेजुः, विष्य । पक्षे पफणतुः, पफणुः, पफणिथ । राजृ—रेजतुः, रेजुः, विष्य । राजृ—रेजतुः, रेजुः, रराजिथ । दुभ्राज—भ्रेजे, भ्रेजाते,

[म पा

4

भ्रेजिरे । पक्षे — बभ्राजे, बभ्राजाते, बभ्राजिरे । दुभ्राश्व—भ्रो, के भ्रेशिरे । पक्षे — बभ्राशे, बभ्राशाते, बभ्राशिरे । दुम्लाश्य—भ्रो, शाते, भ्रेशिरे । पक्षे — बभ्राशोते, बभ्राशिरे । स्क्षे मतुः, स्येमुः, स्येमिथ । पक्षे — सस्यमतुः, सस्यमुः, सस्यमिश । स्वे — सस्यमतुः, सस्वमुः, सस्यमिश । स्वे — सस्यमतुः, सस्वनुः, सस्वनिश ॥

भाषार्थ:—[फर्णाम्] फण आदि [सप्तानाम्] सात (अर्था) के के के के के के के स्थान में [च] भी कि एत्व तथा अभ्यास छोप होता है, कित् डित् छिट् तथा सेट् के उहते।। बहुवचन निर्देश से यहाँ आदि अर्थ छिया जाता है अर्थ जो सात धातुएँ ऐसा अर्थ होगा। कहीं आदेशादि एवं के अनेकहल्मध्य और कहीं दीर्घ आकार होने से एत्वाभ्यास छोप के से नहीं थी, सो विधान कर दिया।।

न शसददवादिगुणानाम् ॥६।४।१२६॥

न अ० ।। शसददवादिगुणानाम् ६।३।। त०—वकार आहित वादिः, बहुत्रीहिः । शसश्च ददश्च वादिश्च गुणश्च शसददवादिगुणाति इतरेतरद्वन्द्वः ।। श्रनु०—थिल च सेटि, अतः लिटि, एत् अभ्याक किङति, अङ्गस्य ।। अर्थः—शस, दद इत्येतयोर्वकारादीनां व गुणशब्देनाभिनिष्टेत्तस्य च योऽकारस्तस्य स्थाने एकारादेशे र ले लोपश्च न भवति, लिटि किङति थिल च सेटि परतः।। उदा० - विश्वशस्यः, विश्वशस्यः । दददे, दददाते दददिरे । वादीनाम् ववसुः, ववसिथ । गुणस्य—विश्वशरतुः, विश्वश्वरः, विश्वशिष्

भाषार्थः—[शसददवादिगुणानाम्] शस दद तथा वकार भारित एवं गुण ऐसा उच्चारण करके गुणादेश द्वारा निष्पन्न जो अधार स्थान में एत्व तथा अभ्यासछोप कित् िक्त छिट् एवं थर्ष पर्द ति होता है।। 'गुण' शब्द से यहाँ 'गुण करके जो निष्पन्न परेसा अर्थ अभिप्रेत है। यथा श को गुण करके जो शर् का अधार सको एत्व अभ्यासछोप नहीं होता, एवं लू को गुण व्या करके जो अकार निष्पन्न हुआ उसको भी नहीं होता।। अधि (६।४।१२०) से सर्वत्र प्राप्ति थी, निषेध कर दिया।।

रो, फ्रे

रहेते.

स्यम्-

11

आदिक

गासोद: भ्यास्य

था Wil Pil

अर्वणस्त्रसावननः ।।६।४।१२७।।

अर्वणः ६।१।। तृ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ।। असौ ७।१।। अनवः ५।१।। ।। अनु —असौ, अनव इत्युभयत्र ुनव्तत्पुरुषः।। अनु —अङ्गस्य।। अर्थ:-- नवा रहितस्य अर्वन् इत्येतस्याङ्गस्य तृ इत्ययमादेशो भवति, मुखेत्ततः परो न भवति ।। उदा - अर्वन्तौ, अर्वन्तः, अर्वन्तम् , अर्वन्तौ, अर्था अर्थतः, अर्वता अर्वेद्भ्याम् , अर्वेद्भिः । अर्वेती, आर्वेतम्।।

कि भाषार्थः — [त्रवंगः] अर्वन् अङ्ग को [तृ] तृ आदेश होता है, यदि विक् ति क्वन शब्द से परे [असी] सु न हो, तथा वह अर्वन् अङ्ग [अनवः] तः प्राक्त से उत्तर भी न हो।। अलोन्त्यस्य से अन्त्य अल् न को तृ आदेश वं इतिक अर्वत रहा। ऋकार की इत् संज्ञा होने से उगिदचां० (७११७०) भे होत् आगम होकर अर्वन्त् औ = अर्वन्ती बना । उगितर्च (४।११६) हे, हीप् होकर अर्वती, तथा अपत्यार्थ विवक्षा में अण् होकर आर्वतम् बन गया ॥

यहाँ से 'तृ' की अनुवृत्ति ६।४।१२८ तक जायेगी।।

मघवा बहुलम् ॥६।४।१२८॥

मध्या, सुब्व्यत्ययेनात्र षष्ट्यर्थे प्रथमा ।। बहुलम् १।१॥ अनु०-7 1 द्रोहित अङ्गरमा । अर्थः—मघवन् इत्येतस्याङ्गस्य बहुलं तृ इत्ययमादेशो मिन्ति॥ उदा०—मघवान् , मघवन्तौ, मघवन्तः, मघवन्तम् , मघवन्तौ, म्यवतः, मघवता । मघवती, माघवतम् । बहुछव्चनात् न च भवति म्या मघवानी, मघवानः मघवानम् मघवानौ मघोनः मघोना इत्याद्यः। _{वियाम्}—मघोनी, माघवनम् ।।

भाषार्थः—[मघवा] मघवन् अङ्ग को [बहुलम्] बहुल करके र अक्षा भारत होता है।। मघवान् की सिद्धि में नुमादि कार्य परि० १।१।५ में भविषेत चितवान् के समान जानें। जब तृ आदेश नहीं होगा तो परि॰ प्राथि। अपनित्र के समान जानें। जब तृ आद्श नहा दः । प्राप्त विक्रि होगी। मघवती भाष्यतम् में पूर्ववत् कार्यं जानें ।।

मस्य ॥६।४।१२९॥

भस्य ।। ५। ४। ५ र रा। अर्थः — अधिकारो ऽयम् आ अध्यायपरिसमाप्तेः । यदित

ि पा

36

ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामो भस्य इत्येवं तद् वेदितव्यम्।। उदाः मा पादः पत्—द्विपदः पश्य, द्विपदा कृतम्।।

भाषार्थ:-भस्य यह् अधिकार सूत्र है। अध्याय की ह पर्यन्त (६।४।१७४) जायेगा, अतः आगे [मस्य] भ संज्ञक के अर्थ सर्वत्र सूत्रों में होता जायेगा।। यि मम् (१।४।१८) से क अजादि सर्वनामस्थान भिन्न स्वादि प्रत्ययों के परे रहते पूर्व कीम कही है, अतः द्विपदः द्विपदा में शस् एवं टा परे रहते पूर्व की म होकर पादः पत् से पाद् शब्द को पद् आदेश हो गया है॥

पादः पत् ॥६।४।१३०॥

पादः ६।१॥ पत् १।१॥ अनु --- भस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः -- पाद्श्व स्याङ्गस्य भस्य पद् इत्ययमादेशो भवति॥ उदा० – द्विषद द्विपदा, द्विपदे, द्विपदिकां ददाति, त्रिपदिकां ददाति, वैयाव्रपदाः।

भाषार्थः - भसंज्ञक [पादः] पाद् शब्द को [पत्] पत् आहे जाता है।। पाद् शब्द यहाँ अकार छोप किया हुआ लिया द्वौ पादौ अस्य द्विपाद् , यहाँ संख्यासुपूर्वस्य (५।४।१४०) से प 'द' के 'अ' का छोप होता है। द्विपदिकाम् यहाँ पादशतस्य श्री से वुन् प्रत्यय एवं द के अ का छोप होता है। वैयावपदा मा लोपो॰ (४।४।१३८) से अकार लोप हुआ है, इस प्रकार संवी पाद् शब्द है। वैयाघ्रपद्यः में यव् (४।१।१०५) परे रहते गर् संज्ञा है, सो पत् आदेश हो गया ।। समास में ही पाद के सर्वत्र लोप होता है, अतः 'पाद्शब्दान्त' ऐसा अर्थ किया है। मानस्यादेशा भवन्ति' इस नियम से सूत्र में निर्दिष्ट शब्द पार् के आदेश होगा न कि सम्पूर्ण तदन्त शब्द को ॥

वसोः सम्प्रसारणम् ॥६।४।१३१॥

वसोः ६।१॥ सम्प्रसारणम् १।१॥ श्रवुः—भस्य, अङ्गर्य॥ वस्वन्तस्याङ्गस्य भस्य सम्प्रसार्णं भवति ॥ उदा०—विदु^{धः} विदुषाः विदुषाः विदुषाः । विद्रुषा, विदुषे । पेचुषः पश्य, पेचुषा, पेचुषे । ययुषः ॥ भोषार्थः—[नसोः] वसु अन्त वाले भसंज्ञक अङ्ग को [मामा

[भ पादः]

पद्यः॥

न् आहे

TIME

म्प्रसारण होता है।। विद् ज्ञाने धातु से शतृ (३।२।१२४) प्रत्यय होकर 'विद् शतृ शस्' रहा । विदेः शतुर्वसुः (७११।३६) से शतृ के स्थान में शाशाप्र से वसु आदेश होकर 'विद् वस् शस्' रहा। अब भ संज्ञा के होकर सम्प्रसारण एवं (८।३।५६) धैत्व होकर विदुषः बना । इसी प्रकार ग्वातु से लिट् होकर तथा लिट् के स्थान में क्वसुरूच (३।२।१०७) से कीमा सबसु होकर पच् कवसु रहा। लिट्स्थानी क्वसु होने से लिट् के सब की मह कर्ष दिलादि होकर 'प पच्चस्' रहा। अत एकहल्० (६।४।३२०) से अभ्यास छोप एवं एत्व होकर 'पेच् वस् शस्' रहा। सम्प्रसारण होकर वेचुपः वन गया। या से कसु होकर या या कसु = य या वसु शस् = य या अस् अस् यहाँ त्रातो लोप इटि च (६।४।६४) से आकारछोप होकर ययुषः **जा। सम्प्रसारण हो जाने पर वळादि आर्घधातुक न होने से ७।२।६७ से** पदः हिं होता ।।

यहाँ से 'सम्प्रसारणम्' की अनुवृत्ति ६।४।१३३ तक जायेगी।।

वाह ऊढ् ॥६।४।१३२॥

ते वाहः ६।१॥ ऊठ् १।१॥ श्रवुः—सम्प्रसारणम्, भस्य, अङ्गस्य॥ वाहः इत्येवमन्तस्याङ्गस्य भस्य ऊठ् इत्येतत् सम्प्रसारणं भवति॥ वहं वित्योहः, प्रष्टोहः, प्रष्टोहा, प्रष्टोहे । दित्योहः, दित्योहा, दित्योहे ॥

भाषार्थः—[वाहः] वाह् अन्त वाले भसंज्ञक अङ्ग को सम्प्रसारण-पर्वा कि जिल्ला वार्य सम्प्रसारणसंज्ञक होने से जिस प्रकार के सम्प्रसारणसंज्ञक होने से जिस प्रकार अस्त्रसारण 'यण्' के स्थान में होता है, उसी प्रकार ऊठ् भी यण् के विकासित के स्थान में होता है, उसा अकार अपूर्व अल् को होता है, अन्यथा श्रलोन्त्यस्य से अन्त्य अल् को कृ होता। सिद्धियाँ एत्येधत्युड्स (६।१।८६) सूत्र में देखें।।

व्वयुवमघोनामतद्भिते ॥६।४।१३३॥

ख्युवमघोनाम् ६।३॥ अतद्धिते ७।१॥ स०—श्वा च युवा च मघवा वियुवमघोनाम् ६।३॥ अतद्धिते ७।१॥ स०—श्वा च अपा त्वा वियुवमध्यवानस्तेषां 'इतरेतरद्वन्द्वः । अतद्धित इत्यत्र नव्यत्युरुषः ॥ हुष विश्व सम्प्रसारणम् , सस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—श्वन्, युवन्, मघवन् स्रोतिषां अर्थः—श्वन्, सम्बन् वितेषां मसंज्ञकानामङ्गानामतद्धिते प्रत्यये परतः सम्प्रसारणं भवति ॥ भारता भमज्ञकानामज्ञानामति द्विते प्रत्यये परतः सम्प्रसारण स्वीते ॥ अनः, श्रुना, श्रुने । यूनः, यूना, यूने । मघोनः, मघोना, मघोने ॥

ि पा भाषार्थः-[इवयुवमघोनाम्] श्वन्, युवन्, मघवन् इत अङ्गों को [अतिदित] तिद्धित भिन्न प्रत्यय परे रहते संप्रसारण होता युवन् के व् को सम्प्रसार्ण 'उ' होकर सवर्णदीर्घत्व होता है। सघवन् को सम्प्रसारण होकर आद् गुराः (६।१।८४) से गुण काते जाता है। सम्प्रसारण करने पर सम्प्रसारणाच (६।१।१०४) सूत्र ह जायेगा॥

अल्लोपोऽनः ॥६।४।१३४॥

अह्रोपः १।१।। अनः ६।१।। स०—अतो लोपोऽह्रोपः, षष्टीत्तुः श्रनु -- भस्य, अङ्गस्य ॥ श्रर्थः - अन इत्येवमन्तस्याङ्गस्य भस लोपो भवति ।। उदा०—राज्ञः पश्य, राज्ञा, राज्ञे । तक्ष्णः, व तक्ष्णे॥

भाषार्थः—[अनः] अन् है अन्त में जिसके ऐसे भसंक्ष ब [अक्षोपः] अकार का छोप होता है।। राजन शस् यहाँ अक्ष [अक्षापः] अकार का लोप हाता है।। राजन शेस् यहा जना है। होने पर श्चुत्व (८।४।३९) होकर राज्ञः बना। तक्षन शर्म अस् = तद्याः णत्व होकर् बन गया ।।

यहाँ से 'अत्' की अनुवृत्ति ६।४।१३८ तक, तथा 'लोपः' की शि तक एवं 'श्रनः' की ६।४।१३७ तक जायेगी।।

षपूर्वेहन्धृतराज्ञामणि ॥६।४।१३५॥

षपूर्वहन्धृतराज्ञाम् ६।३॥ अणि ७।१॥ स०—षकारः पूर्वे हु स पपूर्व:, बहुव्रीहि:। पपूर्वश्च हन् च घृत्राजा च प्र्याप राजानस्तेषाम् इतरेत्रदून्द्रः ॥ श्रनु०—अल्लोपोनः, भर्य, अर्थः—षकारपूर्वस्य हनो घृतराज्ञश्च अङ्गस्य भस्य अतोऽकार्यः परतो होगो भवति ।। उदा०— षपूर्व— उक्षणो ऽपत्यम् = और्गा विक् हन्-भ्रूणं हतवान् = भ्रौणव्नः । घृतराजन्-धार्तराज्ञः॥

भाषार्थः—[षपूर्वहन्धृतराज्ञाम्] षकार पूर्व में है जिस्के हैं। , तथा हन् एवं धनग्रा अन्, तथा हन् एवं घृतराज्ञाम्] षकार पूर्व में है जिसके अन्ति अन्ति होता है, [अणि] अण परे न होता है, [आण] अण् परे रहते ॥ अन् (६।४।१६७) से होने से अल्लोपोडन ने क्ल होते से अह्योपोऽनः से अकारलोप प्राप्त नहीं था, इसिंकिये वह क्ष उक्षन् तक्षन् शब्द पकार पूर्व अन् वाले हैं, अतः अपत्यार्थक (४)

[ह पादः]

कि म

र्जी हीं

ज़ीं हैं

E FE

\$ (8)8P

न में अग् के परे रहते अकार छोप हो गया है। भ्रौणध्नः में बह्मभूगा० होता (३१२८७) से किप् करके पश्चात् अण् (४।११६२) हुआ है। हो हिन्निन्गि (७।३।५४) से यहाँ ह् को कुत्व भी हो जाता है। धृतराजन् एको गृब्द में भी बहुव्रीहि समास होकर पूर्ववत् अण् प्रत्यय परे अकार छोप स्त्रह एवं स्तुत्व होकर धार्तराज्ञः बना है ।।

विभाषा डिच्योः ॥६।४।१३६॥

विभाषा १।१।। ङिश्योः ७।२।। स०—ङिश्योः इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः।। शिवसा भारता अङ्गस्य ।। अर्थः — कि शी इत्येतयोः परतः अन्न-स्य ज नसाङ्गस्य विकल्पेनाकारलोपो भवति ॥ उदा०—ङि—राज्ञि, राजनि, ाः, ब साम्नि, सामनि । शी—साम्नी, सामनी ॥

भाषार्थ: - [िङ्ग्यो:] ङि तथा शी विभक्ति परे रहते अन् अन्त वाले अकार का छोप [विभाषा] विकल्प से हो जाता है।। 'सामन वा यहाँ नपुंसकाच (७।१।१९) से औ को शी तथा म के अ का छोप हेकर साम्ती बना। पक्ष में सामनी बनेगा।।

न संयोगाद्रमन्तात् ॥६।४।१३७॥

न अ०॥ संयोगात् ५।१॥ वमन्तात् ५।१॥ स० वश्च मश्च वमी, भी अन्ते यस्य स वमन्तः, तस्मात् राज्यः इन्द्रगर्भबहुव्रीहिः॥ अनु०— विषोतः, भस्य, अङ्गस्य ।। अर्थः—वकारान्तात् मकारान्तात् संयोगा-हित्तस्य अनोऽकारस्य छोपो न भवति ॥ उदा०—वकारान्तात्—पर्वणा, वपूर्वर की, अथर्वणा, अथर्वणे । मकारान्तात्—चमणा, चमणे ॥

भाषार्थः विमन्तात्] वकार तथा मकार अन्त में है जिसके ऐसे गराव ! विशासिक्षिणात् संयोग से उत्तर (तदन्त भसंज्ञक) अन् के अकार का छोप मिन्हीं होता ।। पर्वन् अथर्वन् में र् तथा व्का संयोग है उससे भ संबोध के स्तिम छोप नहीं हुआ। इसी प्रकार चर्मन् में र् तथा मू भ संयोग है। श्रङ्खोपोऽनः से प्राप्ति थी, प्रतिषेघ कर दिया॥ कार्ब NETO

अचः ॥६।४।१३८॥

अवः ६।१।। अनु०—अह्योपः, भस्य, अङ्गस्य ।। अर्थः—अच इत्यय-

[वादः मञ्जितिर्देमनकारो गृह्यते, तद्न्तस्याञ्जतेर्भस्य अकारस्य लोगे क उदाः—द्धीचः पश्य, द्धीचा, द्धीचे। मधूचः पर्य, म मध्चे॥ 青1

माषार्थ:-अज्ञु धातु के नकार की छोप करके अचः ग्रह किया गया है।। भसंज्ञक लुप्तनकार वाले [अचः] अख्रु के अकारका होता है ॥ सिद्धियाँ ६।३।१३६ सूत्र में देखें ॥

यहाँ से 'अचः' की अनुवृत्ति ६।४।१३६ तक जायेगी॥

उद ईत् ॥६।४।१३९॥

f अङ्ग

होपे विशं

डदः ५११॥ ईत् १११॥ अनु -- अचः, अस्य, अङ्गस्य॥ क उद् उत्तरस्य भसंज्ञकस्याच ईकारादेशो भवति।। उदा०—उदीच, व उदीचे॥ (4

भाषार्थः-[उदः] उत् (उपसर्ग) से उत्तर भसंज्ञक (अब्रु) हा (शा [ईत्] ईकारादेश होता है।। श्रादेः परस्य (१।१।५३) से आरि 'अ' को 'ई' होगा।

आतो घातोः ॥६।४।१४०॥

आतः ६।१॥ धातोः ६।१॥ श्रनु० — छोपः, भस्य, अङ्गस्य॥ क्र आकारान्तो यो घातुस्तद्न्तस्य भस्याङ्गस्य लोपो भवित ॥ वर्षा कीलालपः पश्य, कीलालपा, कीलालपे, शुभंयः पश्य, शुभंया, शुभंया माषार्थ:—[त्रातः] आकारान्त जो [धातोः] धातु तदन

अङ्ग के आकार का लोप होता है।। यहाँ आकारान्त पाया के से श्रातो मनिन्वन (३।२।७४) से विच् प्रत्यय उदाहरणों में हैं। से श्रातो मनिन्क्व० (३।२।७४) से विच् प्रत्यय उदाहरण है। अतः उदाहरणों में आकारान्त धातु के आकार का (१।१।५१) प्रकृत सूत्र से हुआ है।।

मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः ॥६।४।१४१॥

मन्त्रेषु ७|३॥ आङि ७|१॥ आदेः ६|१॥ आत्मनः ६|१॥ श्री लोपः, भस्य, अङ्गस्य ।। अर्थः—आङि परतो मन्त्रेषु आत्मत भवित । उदा० तमना देवेषु (ऋ० ७।७।१) तमना सोमेषु ।

षष्ट्रोऽध्यायः

328 .

माषार्थ: -[मन्त्रेषु] मन्त्र विषय में [आङि] आङ् (टा) परे रहते ो मन व, म [आत्मन:] आत्मन् शब्द के [श्रादे:] आदि का (आकार का) छोप होता है॥ पूर्वाचार्यों की टा तृतीया एकवचन के लिये 'आङ्' यह संज्ञा है॥

ति विंशतेर्डिति ॥६।४।१४२॥

ति तुप्तषष्ट्यन्तनिर्देशः।। विंशतेः ६।१।। डिति ७।१।। अनु०-लोपः,भस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः-भसंज्ञकस्य विशतेस्तिशब्दस्य डिति प्रत्यये परतो बेपो भवति।। उदा० —विंशत्या क्रीतः = विंशकः। विंशतिरधिकाऽस्मिन् = क्षिं शतम् । विंशतेः पूरणो विंशः । एकविंशः ।।

भाषार्थ:-- भसंज्ञक विशते: विंशति अङ्ग के िति ति का िडिति ॥ के जिल्लास्यय परे रहते छोप होता है ।। विशकः में विशतित्रिशद्भ्यां० च, बं (प्रशिश्क्ष) से ड्वुन् डित् प्रत्यय हुआ है, तथा विशम् में शदन्तविंशतेश्व (गराष्ठ्र) से ड प्रत्यय हुआ है, एवं विंदाः, एकविंदाः में तस्य पूरणे डट् ब्रु) हा (शराष्ट्र) से डट् प्रत्यय हुआ है ।।

यहाँ से 'डिति' की अनुवृत्ति ६।४।१४३ तक जायेगी।।

देः ॥६।४।१४३॥

। क्रिंटः ६।१॥ अनु -- डिति, छोपः, भस्य अङ्गस्य ॥ अर्थः -- भसंज्ञक-। उसार देलींपो भवति, डिति प्रत्यये परतः।। उदाः - कुमुद्रान्, गुर्मे निवान, वेतस्वान, उपसरजः, मन्दुरजः, त्रिशता क्रीतः त्रिशकः ॥

माषार्थ: भसंज्ञक अङ्ग की [टे:] टि का छोप होता है, डित् प्रत्यय या के परे रहते ।। कुमुद्दान् नड्वान् में कुमुदनडवेतः (४।२।८६) से ड्म-में हैं। कि होता है, अतः कुमुद के टि (१।११६३) भाग 'अ' का छोप होता है। सिद्धि उसी प्रकरण में देखें। उपसरजः में सप्तम्यां जनेडः (३।२।६७) हे । त्रिंशकः में पूर्ववत् ड्वुन् प्रत्यय हुआ है।। यहाँ से 'टे:' की अनुवृत्ति ६।४।१४५ तक जायेगी।।

नस्तद्भिते ॥६।४।१४४॥

नः होशा तिद्धते ७११। अनु०— टेः, छोपः, भस्य अङ्गस्य ॥ अर्थः

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

यह

'[क्षादः]

भर भ

?II #3° न आर्रे

11

ा पाद

नञ्त तस्य

लेय

कास

स्त्री

动

वें

हो

नकारान्तस्य भसंज्ञकस्याङ्गस्य टेर्लोपो भवति तद्धिते परतः॥ काशश अग्निश्मणोऽपत्यम् = आग्निशस्मिः, औडुलोमिः॥ यत

सिवि भाषार्थ:-[न:] नकारान्त असंज्ञक अङ्ग के टि भाग का ले है [तिदिते] तिद्वत परे रहते।। अग्निशर्मन् तथा उडुलोमन् क्ष बाह्वादिभ्यश्च (४।१।६६) से इञ् तद्धित प्रत्यय हुआ है, अतः सह रहते टि भाग 'अन्' का छोप हो गया है।।

यहाँ से 'ति इते' की अनुवृत्ति ६।४।१४९ तक जायेगी।

अह्नष्टखोरेव ॥६।४।१४५॥

अहः ६।१॥ टखोः ७।२॥ एव अ०॥ स०—टश्च सत्रः तयोः इतरेतरद्भन्द्रः ॥ श्रनु०—तद्धिते, टेर्लोपः, भस्य,अङ्गस्य॥ अ अङ अहन् इत्येतस्याङ्गस्य टखोरेव परतः टेर्लोपो भवति॥ उदा०-१ ज्यहः। खे—द्वे अहनी अधीष्टो भृतो भृतो भावी वा द्रवहीनः, व अह्नां समूहः ऋतुः = अहीनः ऋतुः ॥

भाषार्थः — [अहः] अहन् इस अङ्ग के टि भाग को [खं को तथा ख तद्धित प्रत्यय परे रहते [एव] ही छोप होता है॥ नव से पूर्व सूत्र से ही टिलोप प्राप्त था, नियमार्थ यह सूत्र है ट ख परे ही छोप होगा, अन्य किसी के परे नहीं होगा॥

द्व चहः त्र्यहः की सिद्धि भाग १ परि० २।१।२२ में देखें। में रात्र्यहः० (५।१।८६) से ख प्रत्यय होता है, तथा अहीतः में खः कतौ (वा० ४।२।४१) इस वार्त्तिक से ख प्रत्यय होता है।

ओर्गुणः ॥६।४।१४६॥

ओः ६।१॥ गुणः १।१॥ अनु०—तद्भिते, भस्य, अङ्गर्य ॥ र्गान्तस्याङ्गस्य भस्य — रे उवर्णान्तस्याङ्गस्य भस्य गुणो भवति तद्धिते परतः॥ अङ्गर्य ॥ विकास सम्य गुणो भवति तद्धिते परतः॥ बाभ्रव्यः, माण्डव्यः, शङ्कव्यं दारु, पिचव्यः कार्पासः, भार्मिका पर्यासः, स्मार्थ मृत्तिका, परश्चन्यः, औपगवः, कापटवः॥

भाषार्थः—[ओः] उवर्णान्त भसंज्ञक अंङ्ग को गुणः ना है, तर्द्धित परे रहते ।। बाभ्रव्यः, माण्डव्यः की सिंद्धि माण्ड [श्वादः]

न् अव

उसरे

खर्च ह

1 8

1

का शाशि०६ में देखें। शङ्कव्यम् आदि में जगवादिम्यो यत् (४।१।२) से अत्यय होगा, सिद्धि बाश्चव्यः के समान है । औपगवः, कापटवः की को सिद्धि परि० १।१।१ प्र० ६६२ में देखें।।

यहाँ से 'ओ:' की अनुवृत्ति ६१४।१४७ तक जायेगी।।

हे लोपोऽकद्र्वाः ॥६।४।१४७॥

हे जिशा लोपः १।१॥ अकद्वाः ६।१॥ स० अकद्वा इत्यत्र म्ब्रत्सुरुषः ॥ अनु०-ओः, तद्धिते, भस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः-कद्रवर्जि-तयोवर्णान्तस्याङ्गस्य भस्य ढे परतो छोपो भवति ।। उदा० कामण्ड-हेयः, जाम्वेयः, माद्रबाहेयः, शैतिबाहेयः ॥

मापार्थ:—[अकद्वाः] कद्रू को छोड़कर जो उवर्णान्त भसंज्ञक 111 3 अङ्ग उसका [ढें] ढ तद्धित प्रत्यय परे रहते [लोपः] लोप होता है।। ०-१ अमण्डलेयः में चतुष्पाद्भ्यो ढज् (४।१।१३५) से ढन् प्रत्यय हुआ है। महबाहु शब्द से बाह्वन्तात्० (४।१।६७) से ऊङ् प्रत्यय करके तदन्त से क्षीमो दक् (४।१।१२०) से दक् हुआ है।। अन्त्य अल् का लोप सर्वत्र [रही बाने। जम्बू श्रगाल का तथा कमण्डलु शितिबाहु शब्द पशु विशेष के ताली गचक हैं।

यहाँ से 'लोप:' की अनुवृत्ति ६।४।१५६ तक जायेगी।।

यस्येति च ॥६।४।१४८॥

तः में बी यस्य ६।१॥ ईति ७।१। च अ०॥ स०—इस्र अस्र यम्, (यणादेशे क्षी) तस्य समाहारद्वन्द्वः ॥ अनु - छोपः, तद्भिते, भस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः इन्णीन्तस्य अन्णीन्तस्य चाङ्गस्य भस्य ईकारे तद्धिते च परतो बेपो भवति ॥ उदा०—इवर्णान्तस्य ईकारे—दाक्षी, प्लाक्षी, सली । विकासिय तिद्धिते—दुछि = दौलेयः, । बिलि = बालेयः, अत्रि = आत्रेयः । अवर्णान्तस्य ईकारे—कुमारी, गौरी, शार्क्सवी । अवर्णान्तस्य विद्यो अवणान्तस्य इकार—कुमारा, पारण स्विति ।। दाक्षिः, प्लाक्षिः, चौडिः, बालाकिः, सौमित्रिः ॥

भाषार्थः [यस्य] इवर्णान्त तथा उवर्णान्त ससंज्ञक अङ्ग का लोप रोग है [हैति] ईकार चि] तथा तिद्धत के परे रहते।। पूर्ववत् अत्त्य के होता हिकार [च] तथा तिद्धत के परे रहत ।। पूजारे से होगा ।। दाक्षी प्लाची में इतो मनुष्यजातेः (४।१।६५) से

ि पाद

सम्

परे

पर् अड

कीष होता है, सो कीष् परे इकार लोप हुआ है ॥ सबी का शर सरुपशि० (४।१।६२) से डीष् प्रत्ययान्त निपातित है। दौतेय क् में इतश्चानिजः (४।१।१२२) से ढक् प्रत्यय हुआ है। कुमारी की वृर्क सिद्धि भाग २ परि० ४।१।२ सें देखें। दाक्षिः आदि में भा (४।१।६५) से इब् तथा बालाकिः सौमित्रिः में वाहादिम्यश्च (आ से इव् हुआ है, सो उसके परे प्रकृत सूत्र से अवर्ण का लेप हुआ

यहाँ से 'ईति' की अनुवृत्ति ६।४।१५० तक जायेगी।।

सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानां य उपधायाः ॥६।४।१४९॥ अन

सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानाम् ६।३।। यः ६।१।। उपधायाः ६।१॥ सःन् ^{अप} इत्यन्नेतरेतरद्वन्द्वः।। श्रनु०-ईति, तद्धिते, भस्य, अङ्गस्य॥ अर्थः व उदा भसंज्ञकस्योपधायकारस्य लोपो भवति ईति परतस्तद्धिते च स चेवका तिष्य, अगस्त्य मत्स्य इत्येतेषां सम्बन्धी भवति ॥ उदा०-सौरीक तिष्य-तेषमहः, तेषी रात्रिः। अगस्तय-आगस्ती, आगस्तीयः। क मत्सी ॥

भाषार्थः—भसंज्ञक अङ्ग के [उपधायाः] उपधा [यः] यकार क होता है, ईकार तथा तद्धित के परे रहते यदि वह 'यू' सिर्व (प्र सूर्य, तिष्य, अगस्त्य तथा मत्स्य सम्बन्धी हो ।। उदाहरणों में अवर्ण का छोप यस्येति च (६।४।१४८) से होगा, पीछे 'यू' का क्रि से होगा ।। असिद्धवदत्रामात् के नियम से अकारलोप के असिद्धी 'यू' से परे ई वा तद्धित नहीं रहता, अतः उपधा प्रहण किया है। परिशिष्ट में देखें।।

यहाँ से 'यः' की अनुवृत्ति ६।४।१५२ तक तथा 'जण्याक' ६।४।१५० तक जायेगी।।

हलस्तद्धितस्य च ॥६।४।१५०॥

हलः १११॥ तद्धितस्य ६११॥ च अ०॥ अनु०—उपघायाः, व भस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थ:—हल उत्तरस्य भसंज्ञकस्याङ्गस्योषारि तिद्धतयकारस्य ईति परतो छोपो भवति ॥ उदा०—गार्गी, वासी

भःषार्थः—[हरू:] हरू से उत्तर भसंज्ञक अङ्ग के उपधामूत् तद्धित यकार का[च]भी ईकार परे रहते छोप होता है।। सिद्धिभाग

[वादः]

(8)

हुआ है

संद हों

उपधायाः

बीक शारि में देखें। वहाँ गार्ग्य का य् तिद्धित का एवं हल् से उत्तर है। के पूर्व होप करते समय अलोप असिद्ध (६।१।२२) हो जाता है, अतः विश्व विषया संज्ञा होगी।। में आ

यहाँ से 'हलः' की अनुवृत्ति क्षिशिश्य तक जायेगी।।

आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति ॥६।४।१५१॥

आपत्यस्य ६।१।। च अ०।। तिद्धिते ७।१।। अनाति ७।१।।सं० - न आत ४९॥ अनात्तिसमन्, : : नञ्तत्पुरुषः ।। अनु०— हलः, यः, लोपः, भस्य, अङ्गस्य।। । सः- अपत्यस्य इदम् आपत्यम् , तस्य ।।। अर्थः — हल उत्तरस्य भसंज्ञकस्या-क्ष्य आपत्ययकारस्यानाकारादौ तद्धिते परतो यछोपो भवति॥ विकार विश्व निर्माणां समूहो = गार्भकम्, वात्सकम्।।

भाषार्थ:—हरु से उत्तर भसंज्ञक अङ्ग के [आपत्यस्य] अपत्य री का ्। मिल सम्बन्धी यकार का चि] भी [अनाति] अनाकारादि [ति इते] ति द्वति गे रहते छोप होता है ।। गार्ग्य वात्स्य यव्यन्त शब्द से गोत्रोच्चोष्ट्रो० कार (शर।३८) से वुव् तद्धित प्रत्यय होता है, सो उसके परे रहते यूका कार के हो गया। अकार का यस्येति छोप हो ही जायेगा। यन प्रत्यय भूषे (११११०५) अपत्य अर्थ में ही हुआ है, अतः अपत्य सम्बन्धी यकार न प्रमुख्य है ही।।

यहाँ से 'त्रापत्यस्य' की अनुवृत्ति ६।४।१५२ तक तथा 'ति बते' की है। है शिश्य में जायेगी।।

क्यच्च्योक्च ॥६।४।१५२॥

क्यच्च्योः ७।२॥ च अ०॥ स०—क्य० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ भुः आपत्यस्य, हलः, लोपः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—हल उत्तरस्य अङ्गस्य।। अर्थः—हल उत्तरस्य 1, 1, 1 वात्सीमृतः।। त्सी॥

भाषार्थः हल्से उत्तर अङ्ग के अपत्य सम्बन्धी यकार का [न्य-भी:] क्य तथा चिव परे रहते [च] भी छोप होता है ।। पूर्ववत् यू

ि पादः अपत्य सम्बन्धी है।। गार्गीयति, वात्सीयति की सिद्धि परिक्षेत्रे हा के पुत्रीयित के समान जानें।। गार्गीयते वात्सीयते में कर् (३।१।११) से क्यड़ हुआ है, अतः ङित् होने से आत्मनेपद हो विरि गार्गीभृतः में क्रम्वस्तियोगे० (४।४।४०) से चिव होता है, सिंह एवं देखें।। 'क्य' से क्यच् तथा क्यङ् दोनों ही सामान्य क्रि गृहीत हैं।।

विच्वकादिभ्यक्छस्य छक् ॥६।४।१५३॥

बिल्वकादिभ्यः ५।३॥ छस्य ६।१॥ लुक् १।१॥ ह विल्वक् आदिर्येषां ते विल्वकाद्यस्तेभ्यः वहुव्रीहिः॥ अनुःन्तीयस भस्य, अङ्गस्य ।। अर्थः—विल्वकादिभ्य उत्तरस्य भसंज्ञकस्य व्रवि परतो लुक् भवति ॥ उदा० — बिल्वा यस्यां सन्ति बिल्वकीया, तसं बैल्वकाः । वैणुकीयाः = वैणुकाः । वेत्रकीयाः = वैत्रकाः ॥ [2:

भाषार्थः — [विल्वकादिभ्यः] विल्वकादि शब्दों से उत्तर है [ह्रस्य] छ का [लुक्] लुक् (अदर्शन) होता है ।। बिल्वादि ऋ गण में पठित हैं, सो नडादीनां कुक्च (४।२।९०) से कुक्आण सूत्र में बिल्वक् निर्देश किया है। 'छ' प्रत्यय करने पर बिल्की कीया बना, पश्चात् तत्र भवः (४।३।५३) से अण् करके उस अण् के परे रहते छ अर्थात् ईय् का लुक् हो गया तो आदि अव् के आदि कार्य होकर बैल्वकाः, वैणुकाः, वैत्रकाः बन गये॥

तुरिष्ठेमेयस्य ॥६।४।१५४॥

गुण वहु

अनु

तुः ६।१॥ इष्टेमेयस्सु ७।३॥ स० — इष्टश्च इमा च ईय्य हा स्तेषु : इतरेतरद्भन्दः ॥ अनु० — छोपः, सस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः तस्य भस्याङ्गस्य इष्टन् इमनिच् ईयसुन् इत्येतेषु परतो लोगे स्व उदा०—इष्टन्—आसुतिं करिष्टः, विजियष्टः, विहिष्टः। ईयस्त

माषार्थः—[तुः] तृ का छोप होता है [इछेमेयस्सु] हुई तथा ईयसुन् परे रहते ।। नकार छोप करके 'इछेमेयस्सु हिं। हैं। इमेनिच प्रहार करके 'इछेमेयस्सु हिं। है। इमंनिच् प्रहण उत्तरार्थ है, क्योंकि त्रन्त से 'तुरवन्दिति'

[श्यादः] रे के इष्टर ईयसुन का ही विधान है, न कि इमनिच् का। अतः यहाँ इष्टन करें विस्तृ के ही उदाहरण दिये हैं।। करिष्ठः, दोहीयसी की सिद्धि भाग २ हो परि पाराप९ में देखें। इसी प्रकार इष्टन् परे रहते विजेत से विजयिष्ठ: सिंह एवं बोढ़ से विद्यष्टः बना है ।।

यहाँ से 'इष्टेमेयस्सु' की अनुवृत्ति ६।४।१६३ तक जायेगी।।

देः ॥६।४।१५५॥

तस्या

आगम ल्बकीया

अण व

व के।

दे: ६।१॥ अनु०—इष्ठेमेयस्सु, लोपः, भस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—इष्ठे-?II 5 प्राच्ना भेगसु परतः भसंज्ञकस्याङ्गस्य टेर्लोपो भवति ॥ उदा०—पटु—पटिष्ठः, क्षरा गरिमा, पटीयान् । छघु—छिघष्टः, छिघमा, छघीयान् ॥

गागार्थ:—इष्टन् इमनिच् तथा ईयसुन् परे रहते भसंज्ञक अङ्ग के ि हि भाग का लोप होता है। सिद्धियाँ भाग २ सूत्र ४।३।४४ एवं ता इं १७ में देखें। ईयसुन् = ईयस् के परे रहते नुम् आगमादि कार्य परि॰ क्ष वितवान के सहश हो ही जायेंगे।।

स्थुलद्रयुवहस्वश्चिप्रश्चद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः ॥६।४।१५६॥

खूड जाम् ६।३।। यणादिपरम् १।१।। पूर्वस्य ६।१।। च अ०।। भारता वजावनसम् रासा द्रियंस्य तद् यणादि, क्ष्मीहिः। यणादि च अदः परक्क यणादिपरम्, कर्मधारयस्तत्पुरुषः॥ भू के हिम्मेयस्म, लोपः, भस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—स्थूल, दूर, युव, श्र हिंदि होते हैं स्थान होते हैं स्थान स्यान स्थान स्यान स्थान स्यान स्थान स र्थः विष्णो भवति ।। उदा० – स्थूल —स्थिविष्टः, स्थवीयान् । दूर—दिविष्टः, विक्रिमा। हिन्तु विष्टः, स्थाविष्टः, स्थवायायः हिस्सियान् । इस्तिमा। हिन्तु यिवष्टः, यवीयान् । हस्त्व—हसिष्टः, हसीयान् । विष्ठः, यवीयान् । ह्रस्व—हासठः, खः क्षोदी-यन् क्षेपिष्ठः, क्षेपीयान्, क्षेपिमा । ख्रुद्र—क्षोदिष्ठः, क्षोदी-श्चित्र हैं।

भाषार्थः [स्थूल : गाम्] स्थूल, दूर, युव, हस्व, क्षिप्र, क्षुद्र इत को के [य्यादिपरम्] परे जो यणादि भाग उस का छोप होता है

शे पा

इस

to.

इवा

भव

ì

इष्टन् इमनिच् तथा ईयसुन् परे रहते [च] तथा उस का [पूर्वस्य] पूर्व को [गुणः] गुण होता है।। स्थूछ दूर आदि के छ र आदि यणादि (शब्द) उनका छोप तथा पूर्व इक् के छ (शश्र) गुण होकर स्थो इष्ट = स्थ्रविष्टः बनता है। पर का छोप इसिछिये कहा कि युव हस्व शब्दों के पूर्ववाले यणादि गुण के छोप न हो जाये। हस्व क्षिप्र क्षुद्र शब्द पृथ्वादि गण में पहें। पृथ्वादिभ्यः (शश्रश्र) से इमनिच् हुआ है। इस प्रकार इती के इमनिच् परे का उदाहरण है, अन्यों का नहीं। हस्व शब्द में का प्र से पूर्व इक् न होने से गुण नहीं हुआ है। ईयसुन् परे हो बात हो। हमादि होकर सिद्धि जानें।।

प्रियस्थिर स्फिरोरुबहुलगुरुबृद्धतृप्रदीर्घवन्दारकार्ष प्रस्थस्फवर्षहिगवर्षित्रबृद्राधिवन्दाः ॥६।४।१५०॥

प्रियः 'णाम् ६।३॥ प्रस्थः ' वृन्दाः १।३॥ स० — उभयत्रेतरेततः अनु० — इष्टेमेयस्सु, भस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः — प्रिय, स्थिर, स्थि, वृद्धः, गुरु, वृद्धः, वृन्दारक इत्येतेषामङ्गानां स्थाने स्थाने स्थाने वृद्धः, व्

भाषार्थः—[प्रियः ः गाम्] प्रियं, स्थिरं, स्फिरं, वहं, वहं वहं वहं तुरं, तुर्घं, वृन्दारं इन अङ्गां को [प्रस्थः ः 'वृन्दाः] प्रविद्यं वर्ं, वहं, गर्ं, विषं, त्रप्ं, द्राघि, वृन्दं ये आदेश यथासंविद्यं जाते हैं, इष्टन इमिनच् तथा ईयसुन् परे रहते ॥ प्रियं, वहं, प्रविद्यं वथा दीर्घं शब्द पृथ्वादि गण में पढ़े हैं, अतः उनके ही इमिन् व उदाहरण दिखाया है, अन्यों का नहीं ॥ बंहि के इकार का है। से छोप होता है । प्रेष्ठः में टेः की प्रवृत्ति प्रकृत्येकाच् प्रवृत्तिवत् होने से नहीं होती, सो आद गुणः (धाराध्र) व्यवता है ॥

षष्टोऽध्यायः

[श पादः] '

柳

केल

राषा

तरेवधा

闸 स्थाने

यथास

HI,

रिष्ठ',

रेष्ठः,

न्॥

३३७

बहोलींपो भू च बहो: ॥६।४।१५८॥

दि में ह बहो: ५।१॥ लोप: १।१॥ भू लुप्तप्रथमान्तनिर्देश: ॥ च अ०॥ बहो: का भागा अनु - इष्ठेमेयस्सु, अस्त, अङ्गस्य ।। अर्थः - बहोरुत्तरेषामि-वृक्ष हेमेयसां होपो भवति, तस्य च बहोः स्थाने भू इत्ययमादेशो भवति।। पहें इदा०-भूयान, भूमा ।।

ह्यी भाषार्थ: [बहो:] बहु शब्द से उत्तर इष्टन् इमनिच् तथा ईयसुन् व्यान क [लोपः] लोप होता है, और उस [बहो:] बहु के स्थान में [मृ] मू क्षि बारेश [च] भी होता है।। यहाँ 'इछेमेयस्सु' षष्ठ्यन्त में बद्छ जाता है। बहु अब्द प्रथ्वादि गण में पढ़ा है। इष्टन् परे का उदाहरण यहाँ सिलिये नहीं दिखाया है क्योंकि वह अगले सूत्र का उदाहरण बन जाता है, अतः वहीं देखें ।। आदेः परस्य (१।१।५३) से ईयसुन् इमनिच् के ५७॥ सिर्ण का ही छोप हुआ है। भू यस् = भूयान्।। अनेकाल्० (१।१।५४) है सम्पूर्ण बहु को भू आदेश होगा।।

यहाँ से 'बहोः भू च बहोः' की अनुवृत्ति ६।४।१५६ तक जायेगी॥

इष्टस्य यिट् च ॥६।४।१५९॥

इष्टर्स्य ६।१।। यिट् १।१।। च अ०।। अनु०--बहोः भू च बहोः, भय, अङ्गस्य ।। अर्थ:—बहोः परस्य इष्टन् इत्येतस्य यिट् आगमो भवति, वहोस्त्र भूरादेशो भवति ॥ उदा०—भूयिष्टः ॥

भाषार्थ: बहु शब्द से उत्तर [इष्ठस्य] इष्ठन् को [यिट्] यिट् यान्। बाम होता है [च] तथा बहु शब्द को भू आदेश भी होता है।। यिट् कार उचारणार्थ है। टित् होने से इष्टन् के आदि को यिट् होकर भू है, बहुल ^{य् इष्ट} भूयिष्ठः बन गया ॥ नंह्य की

ज्यादादीयसः ॥६।४।१६०॥

6, T6 भात् ५|१|। आत् १|१|। ईयसः ६|१॥ श्रनु०—भस्य, अङ्गस्य॥ प्रिक्ष आयात् । शा ईयसः ६।१॥ अनु०— प्राप्त अति ।। उदा०—

भाषार्थः—[ज्यात्] ज्य अङ्ग से उत्तर [ईयसः] ईयस् को [म्रात] शिकार आदेश होता है।। पूर्ववत् आदि अक्षर ईयसुन् के 'ई' को

न पाद

से र

तत्पु

पत विण

JE J

आकारादेश होगा। ज्य च (५१३१६१) से प्रशस्य शब्द को ला भरा होता है। ज्य आ यस् = ज्यायान्।। मर्ज

र ऋतो हलादेर्लघीः ।।६।४।१६१॥

रः शशा ऋतः ६।१॥ हळादेः ६।१॥ छघोः ६।१॥ म (४। आद्यस्य तद् हलादि, तस्य ः वहुत्रीहिः ॥ अनु - इष्टेमेयस् प्रस अङ्गस्य ।। अर्थः —हलादेरङ्गस्य भस्य लघोः ऋकारस्य स्थाने र ह भवति, इष्ठेमेयस्सु परतः ॥ उदा०—प्रथिष्टः, प्रथिमा, क्री म्रदिष्टः, म्रदिमा, म्रदीयान् ।।

भाषार्थः—[हलादेः] हल् आदि वाले भसंज्ञक अङ्ग के लिले प्रस् [ऋतः] ऋकार के स्थान में [र] र आदेश होता है। इमनिच् तथा ईयसुन् परे रहते।। पृथु मृदु का ऋकार ह (१।४।१०) से छघु संज्ञक एवं हल् आदि वाला है, सोरक गया । यहाँ अकारविशिष्ट 'र' का प्रहण है । सिद्धियाँ श्राशश्री ही देखें॥

यहाँ से 'र ऋतः' की अनुवृत्ति ६।४।१६२ तक जायेगी॥

विभाषजों इछन्द्सि ॥६।४।१६२॥

विभाषा १।१॥ ऋजोः ६।१॥ छन्द्सि ७।१॥ ग्रुनु॰—र मा यस्सु, भस्य, अङ्गस्य ॥ श्रथः - छन्द्सि विषये ऋ जु इत्येतस्याङ्ग्री स्थाने विभाषा र आदेशो भवति, इष्ठेमेयस्सु परतः ॥ उदार् पन्थानम् । त्वं रिजंष्ठमनु नेषि (ऋ० १।६१।१)। पर्वे त्व

भाषार्थः—[ऋजोः] ऋजु अङ्ग के ऋकार के स्थान में विकल्प से र आदेश होता है [छन्दिस] वेद विषय में, इष्ट्री कि ईयसुन् परे रहते ॥ वेद का यथाप्राप्त इष्टन् परे का ही उद्दार दिया है ।। ऋजु इष्ट यहाँ टेः (६।४।१५५) से टिका लेप एवंड होकर रजिष्टः वन गया।।

प्रकृत्यैकाच् ॥६।४।१६३॥

ै प्रकृत्या ३।१॥ एकाच् १।१॥ स०—एकोऽच् यसिर्व इब्रीहि:॥ ब्रान्त बहुब्रीहि: ॥ श्रनु०—इष्ठेमेयस्सु, भस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः वि असंबक्षमङ्गं तत् प्रकृत्या भवति इष्ठेमेयस्य परतः ॥ उदा० स्रिजिष्टः, ह्यजीयान्, स्रजयति^१ । स्रुचिष्टः, स्रुचीयान्, स्रुचयति^१ ॥

भाषार्थः—[एकाच्] एक अच्वाला भसंज्ञक अङ्ग [प्रकृता] प्रकृति से एह जाता है, इष्टन इमिनच् ईयसुन् परे रहते ।। अस्मायामेषा० । हः (श्रा१२१) से स्रग्विन् में विनि प्रत्यय होकर पश्चात् इष्टन् आदि यस् प्रत्यय हुये हैं। इष्टन् आदि के परे विन्मतोर्लुक् (४।३।६४) से विन् का ते हैं हुई हुआ है। इस प्रकार स्त्रज् शब्द इष्टनादि के परे एक अच्वाला र्फ़ी है, अतः प्रकृतिभाव हो गया । प्रकृतिभाव होने से टेः (६।४।१५५) से बेटिमाग का लोप प्राप्त था वह नहीं हुआ। इसी प्रकार सुग्वत् मतुप् लि मत्ययान्त शब्द से स्नुचिष्टः आदि की सिद्धि जाने ।।

यहाँ से 'प्रकृत्या' की अनुवृत्ति ६।४।१७० तक जायेगी।।

इनण्यनपत्ये ॥६।४।१६४॥

इत् १।१॥ अणि ७।१॥ अनपत्ये ७।१॥ स०--अन० इत्यत्र नज्-ब्लुखः॥ श्रृतुः — प्रकृत्या, भस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः — अनपत्यार्थेऽणि का इन्नितं भसंज्ञकाङ्गं प्रकृत्या भवति ।। उदा०—सांकूटिनम्, सांरा-लिम्, सांमाजिनम्। स्रग्वी—स्रग्विण इदं स्राग्विणम्, तस्येदिमित्यण्।।

भाषार्थ:—[अनपत्ये] अपत्य अर्थ से भिन्न अर्थ में वर्त्तमान अण् प्रत्यय के परे रहते [इन्] इन्नन्त भसंज्ञक अङ्ग को कितमाव हो जाता है।। सिद्धियाँ परि० ३।३।४४ पृ० ६०७ में देखें। अपत्य अर्थ में नहीं आया है। इसी प्रकार मृजूष् धातु से त्त्री भाषिनम् भी समझें।। नस्ति द्विते (६।४।१४४) की प्राप्ति में यह सूत्र है।।

यहाँ से 'इन्' की अनुवृत्ति ६।४।१६६ तक तथा 'ऋणि' की ६।४।१७१ इस्त विक जायेगी।

गाथिविद्थिकेशिगणिपणिनक्च ।।६।४।१६५॥

गार्थि नः १।३।। च अ०।। स०—गाथी च विद्धी च केशी च भी च पणी च, गाथि : नः, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु - इन्, अणि, े णाविष्ठवत् प्रातिपदिकस्य (वा० ६।४।१५५) से णिच् को इष्ठवत् कार्य

त् है ।। पानष्ठवत् प्रातिपदिकस्य । क्षाहरण दिए हैं ।।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

त है। र होते

र आहे 1838

11

उद्दिश

एवं इ

(8)

भाव

₹4:

उदा

1

उदा

सः स

प्रकृत्या, भस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः –गाथिन् , विद्थिन् , केशिन् , गणिन् , से इत्येते च अणि परतः प्रकृत्या भवन्ति ॥ उदाः —गाथिनोऽकः गाथिनः, वैद्थिनः, कैशिनः, गाणिनः, पाणिनः॥

भाषार्थः-[गाथिः 'नः] गाथिन्, विद्धिन्, केशिन्, गणित् । इन अङ्गों को [च] भी अण् परे रहते प्रकृतिभाव हो जातां पूर्व शब्द मत्वर्थीय इनि (५।२।११५) प्रत्ययान्त हैं ।। इन्नन्त होने से पूर्व ह ही प्रकृतिभाव सिद्ध था, यहाँ अपत्यार्थक अण् परे रहते भी हैं इसिंखिये यह सूत्र है ।। सर्वेत्र तस्यापत्यम् (४।१।९२) से अण् प्रता ि है ॥ पूर्ववत् नस्तद्धिते (६।४।१४४) से टिलोप प्राप्त था तदप्वारी

संयोगादिश्च ॥६।४।१६६॥

संयोगादिः १।१॥ च अ०॥ स०—संयोग आदिर्यस्य स संगे बहुत्रीहिः ॥ अनु - इन्, अणि, प्रकृत्या ॥ अर्थः संयोगिति अणि परतः प्रकृत्या भवति ॥ उदा०—शङ्किनोऽपत्यं शङ्किन, म वाज्रिण: ॥

भाषार्थः—[संयोगादिः] संयोग आदि में है जिस 'इर्' के च भी अण् परे रहते प्रकृतिभाव हो जाता है॥ इस प्र आरम्भ अपत्यार्थक अण् परे रहते भी हो जाये इसिंख्ये हैं॥ शङ्किन् आदि इनिप्रत्ययान्त हैं, तदन्त से अण् प्रत्यय अपत हुआ है। पूर्ववत् यहाँ भी टिलोप प्राप्त था।। शङ्किन् , महिन् में 'इन्' से पूर्व संयोग (ङ्ख् आदि का) है ही॥

अन् ॥६।४।१६७॥

ँ अन् १।१॥ श्रनुः—अणि, प्रकृत्या, भस्य, अङ्गस्य । त्रन्तं भसंज्ञकमङ्ग्राणि — अन्नन्तं भसंज्ञकमङ्गमणि परतः प्रकृत्या भवति ॥ उदा० सामित्रं सीत्वनः जैन्तरः सौत्वनः, जैत्वनः ॥

्भाषार्थः—[श्रन्] अन् अन्त वाले, भसंज्ञक अङ्ग की आप्ती तिभाव हो ज्यान के प्रकृतिभाव हो जाता है।। सामान्य श्रण् (अपत्यार्थक हो या श्रम् थक) परे रहते यह विधि है।। सामनः, वैमनः में तस्वेदम्

भी हो है

प्रत्यः

青川

णा, हो अण् हुआ है। घुञ् धातु से सुयजो० (३।२।१०३) से ङ्वनिप् एवं विक्रिक्ष आगम होकर सुत्वन् बना, तत्पश्चात् तस्यापत्यम् (श्रशहर) से अण् होकर सौत्वनः बन गया । इसी प्रकार जि धातु से णित प्रतियोऽपि दृश्यन्ते (३।२।७५) से क्वनिप् होकर जित्वन् बनता है। गात विकास निर्मादित से टिलोप प्राप्त था तद्पवाद है।। पूर्व ह

यहाँ से 'श्रन्' की अनुवृत्ति ६।४।१७० तक जायेगी।।

ये चाभावकर्मणीः ॥६।४।१६८॥

प्रवारी ये जेशा च अ० ।। अभावकर्मणोः जेशा स०—भावश्च कर्म च 🎤 गाकर्मणी, न भावकर्मणी अभावकर्मणी, तयोः "दुन्द्वगर्भनव्तत्पु-सः॥ श्रुनुः —अन्, प्रकृत्या, भस्य, अङ्गस्य । त्रापत्यस्य च तिद्धतेऽ मंति (६।४।१५१) इत्यतः 'तद्धिते' इत्यनुवर्तते मण्डूकप्लुतगत्या।। गाति अर्थ: - यकारादौ च तद्धिते परतोऽभावकर्मणोरर्थयोरन् प्रकृत्या भवति ॥ त्रा ^{इत्} व्या॰—सामसु साधुः सामन्यः, वेमन्यः ॥

भाषार्थः — [श्रमावकर्मगाः] भाव तथा कर्म से भिन्न अर्थ में वर्तमान वि] यकारादि तद्धित के परे रहते [च] भी अन्नन्त भसंज्ञक अङ्ग को हार के कित्राव हो जाता है।। सिद्धि तत्र साधुः (४।४।९८) सूत्र में देखें।।

आत्माध्वानौ खे ॥६।४।१६९॥

अपत्म आत्माध्वानौ ११२।। खे ७११।। स०—आत्मा च अध्वा च आत्मा-हित्र भागे, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—प्रकृत्या, भस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः— आसन् अध्वन् इत्येतावङ्गौ खे प्रत्यये परतः प्रकृत्या भवतः॥ अत्यन् इत्यतावङ्गा ख अत्यय न्याः । अध्वानमळङ्गामी = अध्वनीनः ॥ भाषार्थः—[आत्माध्वानी] आत्मन् तथा अध्वन् भसंज्ञक अङ्गों को हो स प्रत्यय परे रहते प्रकृतिभाव होता है ।। आत्मनीनः में श्रात्म-विश्व (४)१८) से ख प्रत्यय होता है, तथा अध्वनीनः में अध्वनी नामनं, है ली (भ्रीराहर) से ख प्रत्यय होता है, तथा अञ्चलात (६।४।१४४) से ख होता है, उसके परे रहते पूर्ववत् (६।४।१४४) लिप प्राप्त था, प्रकृतिभाव कह दिया ॥ या अव स् (शरी

न मपूर्वोऽपत्येऽवर्मणः ॥६।४।१७०॥ -ने अ० ॥ मपूर्वः १११॥ अपत्ये ७११॥ अवम्मणः ६११॥ स० — मकारः

श पाद

U (8 हो

यह (8

पूर्वी यस्य (अनः) स मपूर्वः, बहुत्रीहिः। न वस्मा अवस्मा, तस नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु ० अन् , अणि, प्रकृत्या, भस्य, अङ्गस्य ॥ का अपत्यार्थकेऽणि परतो वर्म्भणो वर्जितस्य मपूर्वीऽन् प्रकृत्यान मां प्रति उदा०-सुवाम्णोऽपत्यं सौवामः, चान्द्रंसामः॥ पूर्व

भाषार्थ:-[त्रपत्ये] अपत्यार्थक अण् कं परे रहते क्रि वर्मन् शब्द को छोड़कर जो [मपूर्वः] सकार पूर्व वाळा अने व प्रकृतिभाव [न] नहीं होता ।। अन् (६।४।१६७) से प्रकृतिभाव प्र निषेध कर दिया तो यथाप्राप्त सुवामन् चन्द्रसामन् के टि (का) 🗢 छोप नस्ति इते से अण् (४।१।९२) परे रहते हो गया। हुन चन्द्रसामन् शब्दों के अन् से पूर्व मकार है ही। वर्मन् में भीत पूर्व था, अतः निषेध कर दिया।।

यहाँ से 'श्रपत्ये' की अनुवृत्ति ६।४।१७१ तक जायेगी॥

ब्राह्मोऽजातौ ॥६।४।१७१॥

ब्राह्मः १११।। अजातौ ७११।। स०—न जातिः अजातिः, 🗗 नञ्तत्पुरुषः ।। अनु - अपत्ये ।। अर्थः - ब्राह्म इति निपात्यों, जातौ न ।। योगविभागोऽत्र कर्त्तव्यः । अजातावित्यनेन 'अपरे सम्बध्यते न तु निपातनेन । तेन ब्राह्म इत्यत्र टिहोपो नि नपत्येऽणि । ततोऽजातौ—अपत्ये जातावणि ब्रह्मणः भवत्ययमर्थः सम्पद्यते ॥ उदा० — ब्राह्मो गर्भः, ब्राह्मम् अस्म ह्विः ॥ अपत्ये जातौ न भवति — ब्रह्मणोऽपत्यं ब्राह्मणः ॥

भाषार्थः—[बाह्यः] ब्राह्म शब्द में टिलोप निपातन किंगी की अपत्य [अजाती] जाति अर्थ को छोड़कर ।। इस पूत्र में बेले करके महास्थान करके महाभाष्यादि में इष्ट अर्थ का प्रतिपादन इस पूका है—'बाहा' करक है—'बाह्यः' ब्राह्म शब्द में टिलोप अपत्य अण् के परे हिंती से होता है। एक्टर अनुवृत्ति आकर अर्थ हुआ 'अपत्यार्थक जाति में ब्रह्मन् के हुई कि ति होता'। अर्थान 'अर्थने के हुई के कि होता'। अर्थान 'अर्थने के हुई के कि नहीं होता'। अर्थात् 'अपत्ये' का सम्बन्ध अजाती से लोगाति कि निपातन के साथ । सो ब्रह्मणोऽपत्यं ब्राह्मणः यहाँ अपत्यार्थकं क्री [स् पादः] े

तस इहते में टिलोप नहीं हुआ ।। अनपत्य अर्थ में ब्राह्म के टि का लोप ॥ क जाति अजाति सर्वत्र होगा, किन्तु 'अपत्य अर्थ में जाति में नहीं यह न मनं प्रतिषेध कर दिया ।।

ब्राह्म निपातन के साथ 'अपत्ये' अनुवृत्ति का सम्बन्ध न करने से र्ष् पूत्र से प्रकृतिभाव का निषेध ब्राह्म में नहीं प्राप्त हुआ, अर्थात् अन् (क्षप्रारह्क) से प्रकृतिभाव ही प्राप्त हुआ, अतः टिलोपार्थ यह अन् स बचन है।।

कारमस्ताच्छील्ये ॥६।४।१७२॥

कार्मः १।१।। ताच्छील्ये ७।१।। अनु०—अङ्गस्य, भस्य।। अर्थः— कार्म इति ताच्छील्ये णे टिलोपो निपात्यते ।। उदा०-कर्म-शील: - काम्म: 11

गाषार्थः — [कार्म्मः] कार्म्म इस शब्द में [ताब्बील्ये] ताब्छील्यार्थक ए परे रहते टिलोप निपातन किया जाता है।। छत्रादिभ्यो एः (शाहर) से कर्मन् शब्द से ण प्रत्यय होता है। टि भाग = अन् का बेप प्रकृत सूत्र से हो गया है।।

औक्षमनपत्ये ॥६।४।१७३॥

औक्षम् १।१॥ अनपत्ये ७।१॥ स०—अन० इत्यत्र नव्यत्पुरुषः॥ मु॰—्भस्य, अङ्गस्य ।। अर्थः—अनपत्येऽणि औक्षमिति टिलोपो निपात्यते ॥ उदा०—औक्षं पद्म्॥

भाषार्थः [अनपत्ये] अनपत्यार्थक अण् परे रहते [औत्तम्] औक्षम् वहाँ दिलोप निपातन किया जाता है ॥ उक्षन् शब्द से तस्येदम् (शहारिक) से अण् प्रत्यय एवं टिलोप होकर औक्षम् बना है।।

क्षिल्नायनहास्तिनायनाथर्वणिकजैद्याशिनेयवाशिनायनिश्रौण-हत्यधैवत्यसारवैक्ष्वाकमैत्रेयहिरण्मयानि ॥६।४।१७४॥ वाण्डिः यानि १।३॥ स०—दाण्डि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ अर्थः—

१. ब्रह्मिन्नीह्मर्गीविरचितानि वेदव्याख्यानानि ब्राह्मणानि । यहाँ भ्रपत्यार्थक भाति ने होने से दि का लोप प्राप्त होता है उसका अभाव छुन्दोब्राह्मणानि च त्र्विषयाणि (४)२।६५) इत्यादि सूत्रों में प्रन्यविशेषवाचक ब्राह्मण शब्द के निपातन से होता है ।।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

[] राव प्रा

(अन्) 1 5 में भी

à:, 🌃 त्यते, न

'अपते । निपत टिली HOT!

या जां नं योगि

T 641 हते कि ह 'अपूरी

हिंची र्थक औ

ि पाद दाण्डिनायन, हास्तिनायन, आथर्वणिक, जैह्माशिनेय, वाशिकारी भ्रीणहत्य, घैवत्य, सारव, ऐत्त्वाक, मैत्रेय, हिरणमय इत्येतानि अर्थ क्पाणि निपात्यन्ते ।। दण्डिन्, हस्तिन् इत्येतौ शब्दौ नहाद्यु । (४।१।६६) तयोरायने परतः प्रकृतियावो निपात्यते । दिन्द्रोहे दिन दाण्डिनायनः, हस्तिनोऽपत्यं हास्तिनायनः ।। अथवेन् शब्दो वसनं वह पठ्यते । अथवणमधीते यः स आथवणिकः, वसन्तादिभ्यष्ठक् (अरा प्रकृ इत्यनेन ठक्ष्रत्ययः। अत्रापि इके परतः प्रकृतिभावो निपाल जिह्याशिनोऽपत्यं जैह्याशिनेयः, ग्रुश्चादित्वाद्त्र (४।१।१२३) हरू होत निपातनाच्च प्रकृतिभावः ।। वाशिनोऽपत्यं वाशिनायनिः, उदीचे हिं सर (४।१।१५७) इत्यनेन फिञ्**प्रत्ययः, प्रकृतिभावश्च निपात**नात्॥ प्री हत्य, धैवत्य इत्यत्र अपूणहन् धीवन् इत्येतयोः व्यक्ति परतस्त्रक्षां त्य निपात्यते । भ्रूणध्नो भावः भ्रौणहत्यम्, धीठनो भावः धैवत्यम्॥ह इत्यत्र सरयू इत्येतस्य अणि परतो यूशब्दस्य स्थाने व इत्यमा गण निपात्यते । सरय्वां भवं सारवमुद्कम्।। ऐक्ष्वाक इति आहु क्रां अन्तोदात्तरच निपात्यते, उकारलोपश्च। इक्ष्वाकोरपत्यं कि जनपदशब्दा० (४।१।१६६) इत्यनेन अञ्, अथवा इक्ष्वाकुषु वर्ष भवः ऐक्ष्वाकः, कोपधादण् (४।२।१३१) इत्यण् प्रत्ययः, अत्रापिक लोपो निपातनात् । मित्रयुशब्दो गृष्ट्यादिषु पठ्यते तत्र गृण्यास्य (४।१।१३६) इत्यनेन ढ्व्, ततो ढिच परतः केकयिमत्रयुः इत्यनेन यकारादेः स्थाने प्राप्तस्य इयादेशस्यापवादो युलोपो निर्णा मित्रयोरपत्यम् मैत्रेयः इति ।। हिरण्मयम् इत्यत्र हिरण्यस् (४।३।१४१) परतो यादिछोपो निपात्यते । हिरण्यस्य विकारः हिरणा

भाषार्थः—[दारिडः यानि] दाण्डिनायन, हास्तिनायन, आर्थि वर्ष जैह्याशिनेय, वाशिनायिन, भ्रीणहत्य, धैवत्य, सारव, ऐश्र्वाक् हिरण्मय ये शब्द निपातन किये जाते हैं।।

दण्डिन् हस्तिन् शब्द नडादि गण में पढ़े हैं अतः वास फक् से फक् प्रत्यय हुआ है । निपातन से आयन परे रहते वहीं कि भाव होता है, अर्थात् ६।४।१४४ से टिलोप नहीं होता । दिला से हास्तिनायनः ।। आथर्वणिक यहाँ अथर्वन् शब्द वसन्तिहिंगण है, अतः वसन्तिदिग्ण के स है, अतः वसन्तादिभ्यः से ठक् प्रत्यय हुआ है। ठ को इक शिका परे प्रकृतिभाव निपातन है। अथर्वन् ऋषि के द्वारा प्रोक्त प्रन्थ भी गिति अधर्वन् उपचार से कहा जायेगा, अतः उस प्रनथ को पढ़ने वाला द्यु ह अथवी कि कहायेगा । जैह्याशिनेय यहाँ जिह्याशिन् शब्द से शुम्रा-ण्डोड़ हिमाध से ढक् होकर उसके परे अकृतिभाव निपातन है।। वाशिनायनिः वसन वहाँ वाशिन् शब्द से उदीचां वृद्धा० से फिञ् प्रत्यय हुआ है, पूचवत् अश्री प्रकृतिभाव निपातन है ।। भ्रौणहत्य घैवत्य यहाँ भ्रूणहन् धीवन् इन निपालं शह्यें को ष्यञ् (४।१।१२३) प्रत्यय परे रहते तंकारादेश न्स्पातन से बस् होता है। अलोन्त्यस्य से अन्त्य अल् न को 'त्' होगा।। सारव यहाँ चि मा स्यू शब्द के 'यू' के स्थान में व आदेश अण् परे रहते निपातन है।। त्। है स्त्राक शब्द सूत्र में एकश्रुति में पढ़ा है सो उसे आद्युदात्त एवं अन्तोदात्त त्त्रभा कारलोप निपातन से होता है। जब इक्ष्वाकु शब्द से जनपद-ग्मा ग्राविक सूत्र से अञ् होता है तो निपातन से एकश्रुति हटकर् यथा-त्यमा प्राप (६।१।१९१) आद्युदात्त स्वर होता है, तथा कोपघादरा से अण् अमृ इस्ते पर यथाप्राप्त (३।१।३) अन्तोदात्त स्वर होगा। दोनों पक्षों में कालोप होगा ही।। मैत्रेय यहाँ मित्रयु शब्द से गृष्ट्यादिभ्यश्च से यु उन हम् करके उस ढम् के परे रहते यादि = 'य्' आदि वाले अर्थात् 'य्' को वार्षि वो केक्यिमत्रयु से इय् आदेश प्राप्त था उसको बाधकर यहाँ 'यु' विपातन से होता है। मित्रयु ढ = मित्र एय = यस्येति छोपादि ि अपित मेत्रेयः बना ।। हिरण्मय यहाँ हिरण्य शब्द के 'य' का मयट् परे निपाल एते छोप निपातन है।।

वस्य विक्रियवास्त्वयवास्त्वमाध्वीहिरण्ययानि च्छन्दसि ॥६।१७४॥

कित्यः यानि १।३॥ छन्दसि ७।१॥ सः —ऋत्वयः इत्यन्नेतरेतरद्वन्द्वः॥ अविक्षिः ऋत्वयः वास्त्वयः वास्त्वयः माध्वीः हिरण्यय इत्येतानि शब्दरूपाणि वास्त्रे छन्दसि विषये ॥ ऋतु वास्तु इत्येतयोः यति (४।४।११०) वास्त्रो वास्त्वयो । ऋतौ भवम् ऋत्वयम् , वास्तौ भवं वास्त्वयम् ॥ वास्त्रो वास्तुशब्दस्य अणि परतो यणादेशो निपात्यते । वस्तुनि भवो वास्त्यः ॥ माध्वी इत्यत्र मधुशब्दस्य अणि परतो स्त्रियां यणादेशो विष्तायते । माध्वी इत्यत्र मधुशब्दस्य अणि परतो स्त्रियां यणादेशो विष्तायते । माध्वी नः स्वन्त्वोषंधीः (ऋ०१।९०।६) ॥ हिरण्ययम् इत्यत्र मधुशब्दस्य छोपो निपात्यते । हिर्ण्यये न विष्ता रथेन (ऋ०१।३५।२) ॥

1

स्र

अ

चि

3

HI

(8

H

12 100

भाषार्थः—[ऋल्य' 'यानि] ऋरुव्य, वास्त्व, वास्त्व, माध्ये, कि ये शब्दरूप निपातन किये जाते हैं [छन्दिसि] वेद विषय में ॥ ऋहि इन शब्दों को यत् परे रहते यणादेश निपातन से ऋत्वयम्, कि शब्दों में किया गया है। मवे छन्दिसि से यहाँ यत् प्रत्यय होते। वास्त्व यहाँ भी अण् (४१३१५३) परे रहते यणादेश निपातः श्रोगुंगाः (६१४१४६) से गुण प्राप्त था यणादेश कह दिया॥ श्रिमधु शब्द से अण् (४१३११२०) परे रहते स्त्रीलिङ्ग में का निपातन है। पूर्ववत् गुण प्राप्ति थी यणादेश कह दिया॥ श्रिमधु हिरण्य शब्द से विहित सयट् (४१३११४१) के मकार श्रामधान से होता है।।

॥ इति षष्ठोऽध्यायः॥



ऋथ सप्तमोऽध्यायः

[]

वी, हिर 1 783

, बाह होव नेपातन

या॥ में वर्ष

॥ हित

कार या

प्रथमः पादः

युवोरनाकौ ॥७।१।१॥

युवो: १।१।। अनाकौ १।२।। स०—युश्च वुश्च युवु, तस्य समाहारद्वन्द्वः । अनम्र अकम्र अनाकौ, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ ऋनु०—, भद्गत्य ॥ अर्थ:—अङ्गसम्बन्धिनोः यु वु इत्येतयोः स्थाने यथासङ्ख्यम् **बन अक इत्येतावादेशो भवतः ।। उदा०—नन्दनः, रमणः, सायन्तनः,** षित्ततः। अक—कारकः, हारकः, वासुदेवकः, अर्जुनकः।।

गाषार्थः अङ्ग सम्बन्धी [युवोः] यु तथा वु के स्थान में [अनाकौ] बन तथा अक आदेश यथासङ्ख्य करके हो जाते हैं।। नन्दनः रमणः विसिद्धि भाग १ सूत्र ३।१।१३४ में देखें। सायन्तनम्, चिरन्तनम् में वायं चिरं (४।३।२३) से ट्यु प्रत्यय तथा तुट् आगम होता है। ट्यु का व रोष रहेगा, तथा उसे अन आदेश हो जायेगा। कारकः हारकः की मिद्धि परि० १।१।१ में देखें । वासुदेवकः अर्जुनकः में वासुदेवार्जुनाम्यां० (धाराहर) से वुन् प्रत्यय होता है।।

आयनेयीनीयियः फढखछ्घां प्रत्ययादीनाम् ॥७।१।२॥

आयनेयीनीयियः १।३।। फढखळघाम् ६।३।। प्रत्ययादीनाम् ६।३॥ ति अयम् च एय्च ईन् च ईय्च इय्च आयनेयीनीयियः। फश्च दश्च च फढखळ्डघस्तेषाम् अभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः ।

१. 'युवो:' इति निद्देशे द्वौ पक्षौ, समाहारद्वन्द्वो वा स्यात् इतरेतरयोगो वा। वि समाहारद्वन्द्वपक्षे नपुंसकस्य कलचः (७११।७२) इत्यनेनागमशासनस्यानि-वित्र मित्र कार्या न मंदित । तेन 'युवुनः' इति न निर्दिष्टः। इतरेतरपक्षेतु 'युव्वोः' की मिनतव्यम्, तन्न भवति छान्दसत्वात् । छान्दसोऽत्र वर्णलोपो द्रष्ट्व्यः । यहा जिमालो ऽजम्हस्तदीर्घं प्लातः (१।२।२७) इति पुंस्त्विति ।। नेपुंसकत्वं प्रायिकमिति द्रष्टुट्यम् , तथा सत्यञ्जसा रूपं सिध्यति ॥ समाहोरस्य

ि पा

न अ

3

प्रत्ययस्य आदयः प्रत्ययादयस्तेषाम् प्रशिततपुरुषः ॥ श्रवु०-अक्ष्मः अर्थः—प्रत्ययादीनां फ्,ढ्, ख्, छ्, घ् इत्येतेषां स्थाने यथास्त्रः आयन्, एय्, ईन्, ईय्, इय् इत्येते आदेशा भवन्ति ॥ फालिं चारणार्थोऽकारोऽन्त्यवर्जम् ॥ उदा०—'फ' इत्येतस्य आयन् कां भवित । नडादिभ्यः फक्-नाडायनः, चारायणः । ढस्य एय् आदेशोकां स्वीभ्यो ढक्—सौपर्णेयः, वैनतेयः । खस्य ईन् आदेशोकां कुलात्तः — आढ्यकुळीनः, श्रोत्रियकुळीनः । छस्य ईय् आदेशोकां वृद्धाच्छः—गार्गीयः, वात्सीयः । 'घ' इत्येतस्य इय् आदेशोकां वृद्धाच्छः—गार्गीयः, वात्सीयः । 'घ' इत्येतस्य इय् आदेशोकां व्याच्छान् धः—क्षत्रियः ॥

भाषार्थः — [प्रत्ययादीनाम्] प्रत्यय के आदि के जो फ्, इ, इ इ तथा घ् उनको यथासङ्ख्य करके [न्नायनेयीनीयियः] क एय्, ईन्, ईय् तथा इय् आदेश होते हैं।। ये आदेश फ़ इस्कार्ध मात्र के स्थान में होते हैं, इनमें अकार उच्चारणार्थ है।।

यहाँ से 'प्रत्ययस्यादेः' की अनुवृत्ति ७।१।५ तक जायेगी॥

झोऽन्तः ॥७।१।३॥

झः ६।१॥ अन्तः १।१॥ श्रनु०—प्रत्ययस्यादेः, अङ्गस्य॥ अ प्रत्ययस्यादेरवयवस्य झस्य स्थाने अन्त इत्ययमादेशो भवति॥ अ कुर्वन्ति, सुन्वन्ति, चिन्वन्ति । पतिभिः सह शयान्ते॥ जर्तः, वेशः

भाषार्थ:—प्रत्यय के आद्यवयव [कः] झू के स्थान में कि अन्त् आदेश होता है।। 'अन्त' के त में अ उच्चारणार्थ है कि अन्त्' आदेश होता है।। कुर्वन्ति में श्रत उत् सार्व० (६१४११६) के उत्त होता है। चिन्वन्ति, सुन्वन्ति की सिद्धि परि० ११११६ के कि सामानते लेट् का रूप है, इसकी सिद्धि भाग १ परि० ३१४१९६ के कि समान जानें। जरन्तः, वेशन्तः में ज्विशिष्यां कच् (उणी० कि समान जानें। जरन्तः, वेशन्तः में ज्विशिष्यां कच् (उणी० कि समान जानें। जरन्तः, वेशन्तः भें ज्विशिष्यां कच् (उणी० कि समान जानें। जरन्तः, वेशन्तः भें ज्विशिष्यां कच् (उणी० कि समान जानें। जरन्तः, वेशन्तः भें ज्विशिष्यां कच् (उणी० कि समान जानें। जरन्तः, वेशन्तः भें ज्विशिष्यां कच् (उणी० कि समान जानें। जरन्तः भें ज्विशिष्यां कच् (उणी० कि समान जानें। जरन्तः भें ज्विशिष्यां कच् (उणी० कि समान जानें। जरन्तः सम् को अन्त् आदेश हो जाता है।

यहाँ से 'मः' की अनुवृत्ति ७।१।८ तंक जायेगी।।

१. अर्थवशात् वचनव्यत्ययेन 'प्रत्ययादेः' श्रनुवृत्तिर्द्रष्ट्वया ।

सप्तमोऽध्यायः

[भादः] .

- **3**

थासङ्ह

फाहिं

शो मह

€, : अत

इत्यारि

111

11 48

।। उद्गाः

1:, केवल

11

388.

अदभ्यस्तात् ॥७।१।४॥

अत् १११॥ अभ्यस्तात् ५११॥ श्रमुः—झः, प्रत्ययस्यादेः, अङ्गस्य ॥ वर्षः - अभ्यस्तादङ्गादुत्तरस्य प्रत्ययस्यादेरवयवस्य झकारस्य स्थाने 'अत' न को प्रथः—अभ्यस्तादङ्गादुत्तरस्य प्रत्ययस्यादेरवयवस्य झकारस्य स्थाने 'अत्' इत्ययमादेशो भवति ।। उदा०—ददति, ददतु । दधति, द्धतु । जक्षति, नक्षतु। जाप्रति, जाप्रतु।। तो भहे

भाषार्थ:-[अभ्यस्तात्] अभ्यस्त अङ्ग से उत्तर प्रत्यय के आदा-बयव झकार के स्थान में [अत्] अत् आदेश हो जाता है।। दद्ति शो भन नक्षति आदि की सिद्धियाँ परि० ६।१।५ एवं ६।१।६ में देखें।।

यहाँ से 'अत्' की अनुवृत्ति ७।१।८ तक जायेगी।।

आत्मनेपदेष्वनतः ॥७।१।५॥

आत्मनेपदेषु ७।३।। अनतः ५।१।। स०—न अत् अनत्, तस्मात् न्त्तत्पुरुषः ॥ अनु - अत् , झः, प्रत्ययस्यादेः, अङ्गस्य ॥ अर्थः— अनुकारान्तादङ्गादुत्तरस्य आत्मनेपदेषु वर्त्तमानस्य प्रत्ययस्यादेईकारस्य थाने 'अत्' इत्ययमादेशो भवति।। उदा० – चिन्वते, चिन्वताम्, अचिन्वतं। लुनते, लुनताम्, अलुनत । पुनते, पुनताम्, अपुनत ॥

भाषार्थः — अनतः] अनकारान्त अङ्ग से उत्तर [आत्मनेपदेषु] आसनेपद में वत्तमान जो प्रत्यय का आदि झकार उसके स्थान में अत् आदेश होता है।। परि० १।१।५ के चिन्वन्ति के समान चिन्वते में सब में कि कार्य जानें। केवल यहाँ आत्मनेपद के झ को अत् एं टित श्रात्मने॰ है। विशिष्र) से एत्व होता है। चिनु अते = चिन्वते। चिनु यह अनुकारान्त अङ्ग है ही। चिन्वताम् यहाँ त्रामेतः (३।४।९०) से छोट् 以并被 के (ए) को आम हुआ है, शेष झ्को अत् हो ही जायेगा। अचिन्वत हि का का के त्यातिल्या है । जनते आदि की सिद्धि परि० १।३।१४ के व्यतिजनते ६ के कि के समान जानें।। Mo all

े बीडो रुट् ॥७।१।६॥

बीहः ४।१॥ रुट् १।१॥ अनु०—अत्, झः, अङ्गस्य॥ अर्थः—

माषार्थ:—[शीडः] शीङ् अङ्ग से उत्तर झकार के स्थान में अहु जो अत् आदेश उसको [रुट्] रुट् का आगम होता है।। श्री के अद्दिगणस्थ होने से शप् का लुक् होकर शी अत् अ रहा। श्रा (श टिकती (शशप्र) से अत् के आदि को रुट् आगम तथा शिक्ष हुआ धातुके० (%।४।२१) से शीङ् को गुण होकर शे रुट् अते = शेरोकार इसी प्रकार शेरताम् (छोट्) अशेरत (छङ्) में जानें।।

यहाँ से 'रुट्' की अनुवृत्ति ७।१।८ तक जायेगी।।

वेत्तेर्विभाषा ॥७।१।७॥

अद् वृक्ष

वेत्तेः ४।१॥ विभाषा १।१॥ श्रानु०--रुट्, अत्, झः, अत् मं अर्थः-वेत्तेरङ्गादुत्तरस्य झादेशस्यातो विकल्पेन रुट् आगमो मा सि उदा०-संविद्रते संविदते । संविद्रताम् संविद्ताम् । समविद्रत, समित

भाषार्थः—[वेत्तेः] विद् अङ्ग से उत्तर झ के स्थान में इवि अ अत् आदेश उसको [विभाषा] विकल्प से स्ट् आगम होता है। अप्राप्त विभाषा है। समो गम्यू० (१।३।२६) सूत्रस्थ 'समो वि विदिप्रिच्छिस्वरतीनामुपसंख्यानम् वार्त्तिक से संविद्रते आदि में बि पद तथा शप् का लुक् पूबवत् होगा।।

बहुलं छन्दसि ॥७।१।८॥

बहुलम् १।१॥ अन्द्सि ७।१॥ अनु०—रुट्, अत्, इः, अर्थः—अर्थः—अन्द्सि विषये झादेशस्यातो बहुलं रुडागमो भविति॥ अद्वा भवित ४।२।१) गन्धर्वाटसरसो अदुह्व (मै० ४।२।१) गन्धर्वाटसरसो अदुह्व (मै० ४।२।१) मन्धर्वाटसरसो अदुह्व (मै० ४।२।१) अदृश्रमस्य केतवः (ऋ० १।५०।३)॥

भाषार्थ: — [छन्दिस] वेद विषय में झादेश अत के कि वहुल करके रुट् का आगम होता है।। अट् दुह् शप् झ को अत् होकर 'अदुह् अत' रहा। रुट् आगम

्रि वादः] े

। का आत्मने० (जार।४१) से 'त्' का छोप होकर अदुह् रुट् अ = अदुह् र् अ = श्रतोगुणे पररूप होकर अदुह बना । बहुल कहने से रुट् अभाव होकर ान में बहुहत बना एवं झादेश अत् से अन्यत्र भी बहुळवचन से रुट् होकर शे (अहम्म लुड़् के उत्तम पुरुष के एकवचन में बना है। यहाँ इरितो वा । कि (३१९१५७) से चिल को अङ् होता है, उसी को रुट् का आगम शीह: हुआ है ।।

अतो भिस ऐस् ॥७।१।९॥

अतः ५।१। भिसः ६।१॥ ऐस् १।१॥ श्रनु०—अङ्गस्य॥ श्रर्थः— अस्तादङ्गादुत्तरस्य भिसः स्थाने ऐस् इत्ययमादृशो भवति ॥ उदा०— रुषैः, प्लक्षैः ॥

गाषार्थः—[अतः] अकारान्त अङ्ग से उत्तर [भिसः] भिस् के स्थान ं अने में [ऐस्] ऐस् आदेश होता है।। परि० १।१।५४ के 'पुरुषें:' के समान मी भा सिद्धियाँ जाने ।।

यहाँ से 'श्रतः' की अनुवृत्ति ७।१।१७ एवं 'मिस ऐस्' की अनुवृत्ति में हुई जिशा तक जायेगी ।।

बहुलं छन्दिस ॥७।१।१०॥

वहुलम् १।१॥ छन्दसि ७।१॥ अनु०—अतो भिस ऐस्, अङ्गस्य।। श्रम् अन्द्रिस विषये अकारान्तादङ्गादुत्तरस्य बहुलं भिस ऐस् आदेशो भवति ॥ उदा० — अत इत्युक्तम् अनतोपि भवति — नद्यैः । अकारान्ताद्पि म्मविति—मद्रं कर्णेभिः (यजुः २५।२१) । देवेभिः सर्वेभिः प्रोक्तम् ॥

भाषार्थः [छन्दिस] वेद विषय में अकारान्त अङ्ग से उत्तर वहुलम् वहुल करके भिस् को ऐस् आदेश होता है।। बहुल कहने से भारी का अल से उत्तर भी भिस् को ऐस् हो जाता है, एवं अकारीन कें देव आदियों से उत्तर भी नहीं होता ।।

नेदमदसोरकोः ॥७।१।११॥

न अ०॥ इदमद्सो: ६।२॥ अको: ६।२॥ स०—इदम् च अदस् च क्ष्महत्ती तयो: ६।२।। अकोः ६।२।। स०—६५म प्यास्ती तयो: प्यास्ती

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

ति वन

समिक

ता है। में अ

·, 35

ने वि यहाँ हैं। एवं हैं

ना

स्या

(6) से

गय

' शिपाइ अकी तयोः 'वहुव्रीहि: ।। अनु - भिस ऐस् अर्थ: -इदम् अद्स् इत्येतयोरककारयोभिस ऐस् न भवति॥ ह एभिः, अमीभिः॥

भाषार्थः--[अकोः] ककार रहित [इदमदसोः] इद्म् अद्स् हे को ऐस् [न] नहीं होता।। एभिः की सिद्धि में भाग १ पिः। के आभ्याम् के अनुसार सब कार्य होकर 'अ भिस्' हा अदन्त अङ्ग से उत्तर भिस् को ऐस् प्राप्त था निषेध हो गया, वे मल्येत् (७।३।१०३) से अ को एत्व होकर एभिः बन गया। की सिद्धि परि० १।१।१२ में प्रदर्शित अमी के समान जानें, के भिस् परे है एवं वहाँ जस् परे था, यही भेद है। बहुवचने हैं एत्व हुआ था, उसी को ईकारादेश (८।२।८१) होकर अमीभि ल

टाङसिङसामिनात्स्याः ॥७।१।१२॥

टाङसिङसाम् ६।३।। इनात्स्याः १।३।। स०—टाश्र हर्षि होत टाङसिङसस्तेषाम् । इन् च आत् च स्यश्च इनात्याः तरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०-अतः, अङ्गस्य ॥ श्रर्थः-अद्नतादङ्गादुना डसि, डस् इत्येतेषां स्थाने यथासङ्ख्यं इन, आत्, स्य इत्येड भवन्ति ।। उदा०—टा-वृक्षेण, प्रुक्षेण । ङसि-वृक्षात्, अ ङस्-वृक्षस्य, प्लक्षस्य ॥

भाषार्थः—अदन्त अङ्ग से उत्तर [टाङसिङसाम्] टा, इहि, हित्त स्थान में क्रमशः [इनात्स्याः] इन् , आत् , स्य आदेश होते हैं। प्रकृतिक के समान जाने श्रट्तुप्वाङ्० (८।४।२) से णत्व करना ही विशेष है। वृक्ष आव दीर्घ होकर वृत्तात् बना।।

डेर्यः ॥७।१।१३॥

हे: ६।१॥ य: १।१॥ श्रनु०—अतः, अङ्गस्य ॥ श्र^{र्या} दङ्गादुन्तरस्य हे इत्येतस्य स्थाने य इत्ययमादेशो भवित । व वृक्षाय, प्लक्षाय ॥

सप्रमोऽध्यायः

३५३ ं

'[। पादः] े का माषार्थ: अकारान्त अङ्ग से उत्तर [डे:] 'डे' के स्थान में यः] । व व आदेश होता है।। सिद्धियाँ परि० १।१।५५ के पुरुषाय के समान जानें ॥

यहाँ से 'डें:' की अनुवृत्ति ७।१।१४ तक जायेगी।।

सर्वनास्नः स्मै ॥७।१।१४॥

सर्वनाम्नः ५११।। समे १११।। अनु०—ङेः, अतः, अङ्गस्य ।।- अर्थः— म् अभारान्तात् सर्वनाम्न उत्तर्स्य ङः स्थाने स्मै इत्ययमादेशो भवति॥ तं, का

गाषार्थ: अकारान्त [सर्वनाम्नः] सर्वनाम अङ्ग से उत्तर 'ङे' के थान में [समै] स्मै आदेश होता है।। किम् शब्द को किमः कः (धरा१०३) से 'क' आदेश तथा तद् यद् को त्यदादीनामः (७।२।१०२) रे अत्व कर लेने पर अदन्त अङ्ग मिल जाता है, अतः समै आदेश हो ाया, रोम सब पूर्ववत् है। सर्वादीनि सर्व० (१।१।२६) से सर्वनाम संज्ञा इसिंह होती है।।

यहाँ से 'सर्वनाम्नः' की अनुवृत्ति ७।१।१७ तक जायेगी।।

ङसिङ्चोः स्मात्स्मनौ ॥७।१।१५॥

इसिङ्गोः ६।२॥ स्मात्सिनौ १।२॥ स०—इसिश्च इसिङी क्षाः । सात् च स्मिन् च स्मात्सिनी, उभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ क्ष्य । अर्थः अकारान्तात् सर्वनाम्न वात्योः इसि डि इत्येतयोः स्थाने यथासङ्ख्यं स्मात् स्मिन् इत्येतावा-हैं। स्थानं यथासङ्ख्य रनात् स्थानं यथासङ्ख्य रनात् स्थान् हैं। स्थानं स्थानं यथासङ्ख्य रनात् स्थान्, तस्मात्, तस्मात्, तस्मात्, विश्वस्मात्, यस्मात्, तस्मात्, त्त्रं भवतः॥ उदाः—सवस्मात्, विश्वस्मात्, विश्वस्मात्, तस्मिन्, कस्मिन्॥ वश्वस्मान्, वश्वस्मिन्, वश्वस्मिन्यस्यस्यस्यस्यस्यस्य भाषार्थः अकारान्त सर्वनाम अङ्ग से उत्तर [ङिसङ्ग्रोः] ङिस तथा है के स्थान में क्रमशः [स्मात्स्मिनो] स्मात् तथा स्मिन् आदेश

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ७।१।१६ तक जायेगी।।

पूर्वीदिश्यो नवश्यो वा ॥७।१।१६॥ पूर्वीदिभ्यः ४।३॥ नवभ्यः ४।३॥ वा अ०॥ स०—पूर्व आदिर्येषां ते

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

दस् है परिः

हा

ं से हैं

भः वत

गः। ब

नाडुचार इत्यो ह

I,

ङसि, ह

a 11 ar

पूर्वाद्यस्तेभ्यः " बहुत्रीहि: ॥ अनु - अनु - असिङ्योः स्माति सर्वनाम्नः, अतः, अङ्गस्य ।। अर्थः - पूर्वादिभ्यो नवभ्यः उत्तरयोर्ङसिङ्योः स्थाने स्मात् स्मिन् इत्येतावादेशौ विकल्पेन स्त उदा०-पूर्वस्मात्, पूर्वस्मिन् । पक्षे-पूर्वात्, पूर्वे । एवमप्रे-पा परस्मिन्। परात्, परे। अवर-अवरस्मात्, अवरस्मिन्। का अवरे । दक्षिण—दक्षिणस्मात्, दक्षिणस्मिन् । दक्षिणात्, ह उत्तर—उत्तरस्मात्, उत्तरस्मिन् । उत्तरात्, उत्तरे । अपर-अगर अपरस्मिन्। अपरात्, अपरे। अधर -अधरस्मात्, अमि

1 पा

बहु

तथ

की

81

नपु

कुण

(3

गुर

इत

श्र 11

रसात्, अन्तरस्मिन् । अन्तरात्, अन्तरे ॥ भाषार्थ:-[पूर्वादिभ्य:] पूर्व है आदि में जिनके ऐसे (का [नवभ्यः] नौ ६ सर्वनामों से उत्तर ङिस तथा ङि के स्थानमें स्मात् तथा स्मिन् आदेश [वा] विकल्प से होते हैं।। पक्ष में बा आदेश नहीं होगा तो टाङिमि॰ (७।१।१२) से 'आत्' आहें। पूर्वात् आदि रूप बनेंगे, तथा जब स्मिन् आदेश नहीं हुआ तो मह (६।१।८४) से गुण एकादेश होकर पूर्वे आदि रूप बन गये॥

अधरात्, अधरे । स्वस्मात्, स्वस्मिन् । स्वात्, स्वे । अन्त-न

जसः शी ॥७।१।१७॥

जसः ६।१॥ श्री लुप्तप्रशमान्तनिर्देशः ॥ अनुः—सर्वनामः अङ्गस्य ।। त्रर्थः - अकारान्तात् सर्वनाम्नोऽङ्गाद् उत्तरस्य वर्षः शी इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा० सर्वे, विश्वे, ये, के, ते॥

भाषार्थः अकारान्त सर्वनाम अङ्ग से उत्तर [जसः] जस् में [शी] 'शी' आदेश होता है ।। सर्वे आदि की सिद्धियाँ परि में देखें। पूर्ववत् ये, के, ते में 'क' आदेश एवं अप्त कर होता अर्झ हो जाता है।।

यहाँ से 'शी' की अनुवृत्ति ७।१।१९ तक जायेगी।।

औङ आपः ॥७।१।१८॥

ं औड़: ६।१॥ आप: ५।१॥ अनु०—शी, अङ्गस्य ॥ अर्थः औड़ी त्रास्य औड़: क्लान्टे ० दुत्तरस्य औडः स्थाने शी इत्ययमादेशो भवति॥ औड्राह्मी de

-/-17:

(6) न्त

思い

T.

i

RF

1 IK!

đ,

g, i

इत्येतयोः पूर्वीचार्याणां संज्ञा ।। उदा०—खट्वे तिष्ठतः, खट्वे पश्य। बहुराजे, कारीषगन्ध्ये ।।

भाषार्थः—[श्रापः] आबन्त, अङ्ग से उत्तर [ओङ:] औङ = औ तथा औट् के स्थान में शी आदेश होता है।। औङ् यह औ तथा औट् की पूर्वाचार्यों की संज्ञा है।। खट्वे आदि की सिद्धि भाग १ परि॰ शशिश के माले के समान जानें।।

यहाँ से 'श्रोंडः' की अनुवृत्ति ७।१।१९ तक जायेगी।।

नपुंसकाच्च ॥७।१।१९॥

नपुंसकात् ४।४॥ च अ० ॥ श्रनु०—औङः, श्री, अङ्गस्य ॥ अर्थः— न्युंसकादङ्गादुत्तरस्य औङ: स्थाने शी इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०— कुण्डे तिष्ठतः, कुण्डे पश्य ।।

भाषार्थ:—[नपुंसकात्] नपुंसक अङ्ग से उत्तर [च] भी औड़् (बी, औट्) के स्थान में शी आदेश होता है।। कुण्ड औ = कुण्ड शी गुण एकादेश (६।१।८४) होकर कुण्डे बना ।।

यहाँ से 'नपुंसकात्' की अनुवृत्ति ७।१।२० तक जायेगी।।

जक्शसोः श्चिः ॥७।१।२०॥

जरशसोः ६।२॥ शिः १।१॥ स०—जश् च शश्च जरशसौ, तयोः क्षरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु - नपुंसकात् , अङ्गस्य ॥ अर्थः - नपुंसकादङ्गा-इत्तरयोर्जश्त्रासोः स्थाने शि इत्ययमादेशो भवति॥ उदा॰—कुण्डानि विष्टन्ति, कुण्डानि पश्य, द्धीनि, मधूनि, त्रपूणि, जतूनि ॥ 913

भाषार्थः — नपुंसक लिङ्ग वाले अङ्ग से उत्तर [जरशसोः] जस् और भू के स्थान में [शि:] शि आदेश होता है।। सिद्धियाँ भाग १ परि०

यहाँ से 'जरशसो:' की अनुवृत्ति ७।१।२२ तक जायेगी।।

अष्टाभ्य औज् ॥७।१।२१॥

अष्टाभ्यः ४।३॥ और् १।१॥ अनुः—जश्यासोः, अङ्गस्य ॥ अर्थः-

उ

अं

ह 43

ति अ

1

3

41

वा

R

व

18

अष्टाध्य उत्तरयोर्जश्रासोः स्थाने 'औश्' इत्ययमादेशो भवति॥ उत्तर अष्टौ तिष्ठन्ति, अष्टौ पश्य ॥

भाषार्थ:-आत्त्व किये हुये [अष्टाभ्य:] अष्टन् शब्द से जाः और शस् के स्थान में [श्रीश्] औंश् आदेश होता है॥ म 'अष्टाभ्यः' ऐसा दीर्घ निर्देश होने से अप्टन आ विभक्ती (जराया जहाँ आत्व होकर अप्टन् को दीर्घ अष्टा हो जाता है उस दीई हुये अष्टन् से उत्तर ही जस् शस् को औश् होता है ऐसा जापि है है।। अष्टन् जस् = अन्त्य अल् को अप्टन आ० (जरा८४) हे होकर अष्टा जस् = अष्टा औ = अष्टी वन गया।।

षड्भ्यो छक् ॥७।१।२२॥

षड्भ्यः ५१३॥ लुक् १११॥ श्रनुः—जश्रासोः, अङ्गस्य॥ क षट्संज्ञकेभ्य उत्तरयोर्जश्रासोर्छुग् भवति ॥ उदा०—षट् तिष्ठित् पश्य, पञ्च, सप्त, नव, दश।।

भाषार्थ: [षड्भ्य:] षट्संज्ञक से उत्तर जस् अस् का [ह लुक् होता है ॥ सिद्धियाँ भाग १ परि० १।१।२३ में देखें॥ यहाँ से 'लुक्' की अनुवृत्ति ७।१।२३ तक जायेगी॥

स्वमोर्नपुंसकात् ॥७।१।२३॥

स्वमोः ६।२॥ नपुंसकात् ५।१॥ सः—सुश्र अम् च स्वमौ, ति इतरेतरद्रन्द्रः ॥ अनु०—लुक्, अङ्गस्य ॥ अर्थः — नपुंसकादङ्गा सु अम् इत्येतयोर्लुक् भवति ॥ उदाः—द्धि तिष्ठति, द्धि प्रा तिष्ठति, मधु पश्य । त्रपु, जतु ॥

भाषार्थः—[नपुंसकात्] नपुंसक छिङ्ग वाले अङ्ग से हता कि सु और अम् (द्वितीया एकवचन) का लुक् होता है।।

यहाँ से 'स्वमोः' की अनुवृत्ति ७।१।२६ तक तथा निर्माण अनुवृत्ति ७।१।२४ तक जायेगी।।

इ.तः ५११॥ अम् १११॥ अनु०—स्वमोर्नपुंसकात्, अङ्ग्या

37 H3:

(S.

مناء علاء

44.

d, T

A

前

5

119

P

A

अद्नान्नपुंसकादङ्गादुत्तरयोः स्वमोः स्थाने 'अम्' इत्ययमादेशो सवति ॥ ह्याः —कुण्डं तिष्ठति, कुण्डं पश्य, वनम् , पीठम् ॥

भाषार्थः—[ग्रतः] अकारान्त नपुंसक छिङ्ग वाले अङ्ग से उत्तर सु और अम् केस्थान में [अम्] अम् आदेश होता है।। अम् होकर त्रमि पूर्वः (क्षशा१०३) से पूर्वरूप एकादेश उदाहरणों में हो जायेगा॥

अदुड् १११।। डतरादिभ्यः ५१३।। पञ्चभ्यः ५१३।। स० — डतर आदिर्येषां ते हतराद्यस्तेभ्यः' 'बहुत्रीहिः ॥ ऋनु०-स्वमोः, अङ्गस्य॥ अर्थः-डतराद्भियः पब्रभ्यः परयोः स्वमोः 'अद्ड्' इत्ययमादेशो भवति ।। उदा०-कर्तर-तिष्ठति, कतरत्पश्य । कतमत् तिष्ठति, कतमत्पश्य । इतरत्, अन्यतरत्, अन्यत् ॥

माषार्थ:—[डतरादिभ्य:] डतर आदि में है जिनके ऐसे सर्वादि गण पिठत [पञ्चम्य:] पाँच शब्दों से परे सु तथा अस् को [अद्द्] अद्ब् आदेश होता है।। कतर सु, कतर अद्ब् = बित् होने से बिता-पर्धादमस्या० (बा० ६।४।१४३) से टिलोप होकर कतर् अद् रहा। ^{बावसाने} (८।४।५५) से चत्वे होकर कतरत् बन गया।।

यहाँ से 'अद्ड्' की अनुवृत्ति ७।१।२६ तक जायेगी।।

नेतराच्छन्दिस ॥७।१।२६॥

नअः।। इतरात् ४।१।। ल्लन्द्सि ७।१।। अनु०-अद्ड्, स्वमोः, अङ्गस्य।। अर्थः इतरशब्दादुत्तरयोः स्वमोः स्थाने 'अद्ब्' इत्ययमादेशो न भवति कृत्सि विषये ॥ उदाः — इतरमितरमण्डमजायत । वार्त्रध्नमितरम् ॥

माषार्थ: [इतरात्] इतर शब्द से उत्तर सु तथा अम् के स्थान में अपि भी के विषय में अद्ब् आदेश [न] नहीं होता है।। पूर्व सूत्र से शामि थी, वेद विषय में निषेध कर दिया तो अतोऽम् (७११२४) से अम् आदेश ही हो गया।।

युष्मदस्मद्भ्यां इसोऽश् ॥७।१।२७॥

युष्मदसमद्भयम् ४।२॥ ङसः ६।१॥ अश् १।१॥, स०—युष्म० हर्वित्रत्तरद्वन्द्वः ॥ अनु०-अङ्गस्य ॥ अर्थः-युव्मद् असाद् इत्ये- ताभ्यामङ्गाभ्यामुत्तरस्य ङसः स्थाने 'अश्' इत्ययमादेशो मा उदा०—तव स्वम् , मम स्वम् ॥

िक्र पाद

को

(3)

आ

युष

अनु भ्य

युष

वि

भाषार्थ:-[युष्मदस्मद्भ्याम्] युष्मद् तथा असमद् अङ्ग हे [इस:] इस् के स्थान में [अश्] अश् आदेश होता है।। तन सिद्धि भाग १ परि० २।२।१६ पृ० ८४४ में देखें।। युष्मद् आह मपर्यन्त को तब मम आदेश ७।२।६६ से होकर शेष बचे आ का लोप रोषे लोपः (७१२।६०) से हो जाता है, ऐसा जानें॥

यहाँ से 'युष्मदस्मद्भ्याम्' की अनुवृत्ति ७।१।३३ तक जावेगी॥

हे प्रथमयोरम् ॥ ७।१।२८॥

ङे, लुप्तषष्ट्यन्तनिर्देशः ।। प्रथमयोः ६।२।। अम् १११॥ गः युष्मद्समद्भ्याम्, अङ्गस्य ।। अर्थः —युष्मद्समद्भ्यामङ्गाभ्याला य के इत्येतस्य प्रथमाद्वितीययोश्च विभक्त्योः स्थाने 'अम्' इत्यमी गई भवति ।। उदाः — छे — तुभ्यं दीयते, मह्यं दीयते । प्रथमयो (१ युवाम् यूयम्, त्वाम् युवाम्। अहम् आवाम् वयम्, माम् आवाम्॥

भाषार्थः — युष्मद् तथा अस्मद् अङ्ग से उत्तर [हे] हे विभाव का स्थान में तथा [प्रथमयोः] प्रथमा एवं द्वितीया विभक्ति के स्थ [अम्] अम् आदेश होता है।। 'प्रथमयोः' इस द्विवचन निर्देश हे एवं द्वितीया विभक्ति ही गई है। प्रथमा च प्रथमा च ते प्रमे प्रथमयोः ऐसा एकशेष (१।२।६४) करके निर्देश है।। द्वितीया की में इस सूत्र का अपवाद स्वरूप आगे नकारादेश कहा है, अतः गहुँ की उदाहरण नहीं दिया।।

शसो न ॥७।१।२९॥

शसः ६।१॥ न लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः॥ श्रनु०—युक्तद्सद्भा अङ्गस्य ।। त्रर्थः — युष्मद्समद्भ्यामुत्तरस्य शसो 'न' इत्यावानिकाः भवति ।। लटा भवति ।। उदाः—युष्मान् ब्राह्मणान्, अस्मान् ब्राह्मणान्। क्रीह्मणान्। ब्राह्मणीः, अस्मान् ब्राह्मणीः । युष्मान् कुलानि, अस्मान् कुलीनि

भाषार्थः - युष्मद् असमद् अङ्ग से उत्तर [शसः] श्रम् कर्मा नकारादेश होता है। [न] नकारादेश होता है।। 'न' में अ उच्चारणार्थ हैं।

न पादः]

1

Ŋ

11

110

W 16

आदेश होता है।। शस् परे युष्मद् अस्मद् के अन्त्य अल् (१।१।५१) हो द्वितीयायां च (७।२।८५) से आत्व तथा प्रकृत सूत्र से आदे:परस्य (शश्यर) लगकर शस् के आदि को न होकर युष्म आ न स्, असम बान स्रहा। संयोगान्तस्य लोयः (८।२।२३) से स् का छोप होकर गुष्मान् अस्मान् वन गया ।।

भ्यसोभ्यम् ॥७।१।३०॥

भ्यसः ६।१॥ भ्यम् १।१ (अभ्यम् इत्यपि पदच्छेदः सम्भवति)॥ भारता अर्थः — युष्मद्रमद्भयाम् , अङ्गस्य ।। अर्थः — युष्मद्रमद्भयामृत्तरस्य यसः स्थाने भ्यम् (अभ्यम् इति वा) आदेशो भवति॥ उदा०-गुमभ्यं दीयते । असमभ्यं दीयते ॥

भाषार्थ:-युष्मद् अस्मद् अङ्ग से उत्तर [भ्यसः] भ्यस् के स्थान में [मम्]भ्यम् अथवा अभ्यम् आदेश होता है।। 'युष्मद् भ्यस्,अस्मद् भ्यस्, काँ प्रकृतसूत्र से भ्यम् आदेश एवं शेषे लोपः (७।२।६०) से अन्त्य द् (शश्रर) का लोप होकर युष्मभ्यम् अस्मभ्यम् बन्गया। अथवा अध्यम् आदेश एवं शेषे लोपः से टि (अद् भाग का) लोप करके युष्म् कि अध्यम् = युष्मभ्यम् अस्मभ्यम् बन गया ॥

यहाँ से 'भ्यतः' की अनुवृत्ति ७।१।३१ तक जायेगी।।

पश्चम्या अत् ॥७।१।३१॥

पद्मम्याः ६।१॥ अत् १।१॥ अनु०—भ्यसः, युष्मदसमद्भ्याम्, अङ्गस्य ॥ अर्थः — युष्मद्रसद्भ्यामुत्तरस्य पञ्चम्या भ्यसः स्थाने 'अत्' हेलयमादेशो भवति ॥ उदा०—युष्मद् गच्छन्ति । असमद् गच्छन्ति ॥

१. 'म्यम्' अथवा 'अम्यम्' दोनों प्रकार से ही यहाँ पदच्छेद हो सकता है। वैदोनों पक्ष ही भाष्य में हैं, एवं भाष्याभिमत हैं। प्रथित यदि 'म्यम्' ब्रादेश भानेंगे तो शेषे लोप: (७१२१६०) से युष्मद् ग्रस्मद् के टि का लोप नहीं, किन्तु कित्य दे का लोप इष्टिसिद्ध चर्च मानना पड़ेगा एवं यदि 'अभ्यम्' म्रादेश मानं तो रोष लोप: से टिलोप होता है ऐसा मानना होगा, अन्तय का नहीं। इन दोनों की कि कि कि कि होता है है। कारों में जो भी दोष आते हैं, उनका परिहार भाष्य में कर, दिया गया है। विलार के लिये वहीं देखें ।।

ि पाद भाषार्थ: - युष्मद् अस्मद् अङ्ग से उत्तर [पश्चम्याः] पन्नमी कि के भ्यस् के स्थान में [अत्] अत् आदेश होता है।। युभद् मर्ग यहाँ शेषे लोपः से टिलोप एवं अत् आदेश हो कर गुम्मत् वन गया।।

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ७।१।३२ तक जायेगी॥

एकवचनस्य च ॥७।१।३२॥

स्थान

सूत्र से वृ

से ह

बुहो

विषर

जीवत

BE

एकवचनस्य ६।१॥ च अ०॥ श्रनुः — पद्धम्या अत्, गुफ्त् से ह भ्याम्, अङ्गस्य ।। अर्थः —युष्मदस्मद्भ्यामुत्तरस्य पद्धम्या एकत्रमे र प स्थाने अत् इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०-त्वत्, मत्॥

भाषार्थः — युष्मद् अस्मद् अङ्ग से उत्तर पञ्चमी [एकवनात] वचन (ङिस) के स्थान में चि भी अत् आदेश होता है। इ अस्मद् के मपर्यन्त के स्थान में त्वमावेकवचने (७।२।६७) में आदेश एवं पूर्ववत् टिलोप (अद् भाग) होकर त्व अत् म आ अतो गुरो (६।१।६४) से पररूप होकर त्वत् मत् बना ॥

साम आकम् ॥७।१।३३॥

सामः ६।१॥ आकम् १।१॥ अनुः—युष्मदस्मद्भ्याम्, आकम् इत्यया अके अर्थः - युष्मद्स्मद्भ्यामुत्तरस्य सामः स्थाने भवति ॥ साम इत्यनेन षष्ठीबहुवचनमागतसुट्कं परिगृह्यते ॥ अभिका युष्माकम्, अस्माकम्।।

भाषार्थः—युष्मद् तथा अस्मद् अङ्ग से उत्तर्[सामः]क्ष स्थान में [श्राकम्] आकम् आदेश होता है।। 'साम' से सुर् षष्टी बहुवचन आम् है उसका प्रहण है, अर्थात् श्रामि सवनाम (७।१।५२) से आम् को सुद् का आगम होकर जो साम् ह्य उसके स्थान में प्रकृत सूत्र से आकम् आदेश हो जाता है। अद् भाग का लोप होकर युष्माकम् अस्माकम् बन गया।

आत औ णलः ॥७।१।३४॥

आतः ५११ं। औ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ णहः ६११।

भवादः]

[7]

क्षि अङ्गस्य ॥ अर्थ: - आकारान्तादङ्गादुत्तरस्य णलः स्थाने औकारादेशो म्मवि ॥ उदा०—पपौ, तस्थौ, जग्छौ, मस्छौ ॥

भाषार्थ: - [म्रातः] आकारान्त अङ्ग से उत्तर [एलः] णळ्के थान में [ओ] औकारादेश हो जाता है।। 'पा णल' यहाँ प्रथम प्रकृत सूत्र से णळ् के स्थान में औ हो कर पा औ रहा, तब वृद्धिरीच (६।१।८५) से वृद्धि एकादेश होकर 'पौ' वन गया पश्चात् दिवंचने ऽचि (१।१।५८) से स्पातिदेश स्थानिवत् होकर पा पौ द्वित्व हुआ, ततः हस्यः (७।४।५६) हिस होकर पपौ वन गया। यही क्रम अन्यों में भी जानें। तस्थी क में गर्प्वाः लयः (७।४।६१) से अध्यास का खयू रोष रहता है। जग्ही में ह्मोरनुः (७।४।६२) से अभ्यास को चुत्व होता है।।

तुद्योस्तातङाशिष्यन्यतरस्याम् ॥७।१।३५॥

तुह्योः ६।२।। तातङ् १।१।। आशिषि ७।१।। अन्यतरस्याम् ७।१॥ त्र मिः — तुह्योः इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्रः ।। अनु - अङ्गस्य ।। अर्थः — आशिषि विषये तु हि इत्येतयोः तातङ् आदेशो भवति, विकल्पेन ॥ उदाः— विवाद् भवान्, जीवतात् त्वम् । पक्षे — जीवतु भवान्, जीव त्वम् ॥

माषार्थः—[त्राशिष] आशीर्वाद विषय में [तुह्योः] तु और हि के विकल्प में [तातङ्] तातङ् आदेश होता है [अन्यतरस्याम्] विकल्प कि । एहः (३।४।८६) तथा सेर्ह्यापच्च (३।४।८७) लगकर जो 'तु हि' बने उनको ही यहाँ तातङ् आदेश होगा, तातङ् में डित्करण गुण वृद्धि के विषेष के लिये चरितार्थ होने से 'डिन्च' (१।१।५२) से अन्तादेश न का अनेकाल् (१।१।५४) से सबके स्थान में आदेश हो जाता है। क्षिप नहीं होगा तो जीवतु, जीव बनेगा। जीव में अतो हैं: अधिरिविधिरिविधेरे से हि का लुक् होता है।।

विदे: श्रुतुर्वेसु: ॥७।१।३६॥

विदेः ४।१॥ शतुः ६।१॥ वसुः १।१॥ श्रनुः—अङ्गस्य ॥ अर्थः— विकास विकास किया है। विकास क्षेत्र क् वहान, विद्वांसौ, विद्वांसः ॥

भाषार्थः—[विदेः] विद् ज्ञाने धातु से उत्तर [शतुः] शतृ के स्थान

शिदः से [वसु:] वसु आदेश होता है।। 'विद् शतृ' यहाँ शतृ को न्यु होकर एवं अन्य नुमागमादि कार्य परि० १।१।५ के चितवान् है। होकर विद्वान् वन गया। आगे विद्वान्स् औ = विद्वान्सी, न्याह (८।३।२४) से अनुस्वार होकर विद्वांसी विद्वांसः वन गये॥

समासेऽनज्पूर्वे कत्वो लयप् ॥७।१।३७॥

वण्ड

धुय

Her

4

समासे । १।। अनञ्पूर्वे । १।। क्तवः ६।१।। ल्यप् १।१॥ हः अनञ् , नञ्तत्पुरुषः । अनञ् पूर्वो (अवयवो) यस्मिन् सोजन्यये तस्मिन् ' 'बहुव्रीहि: ।। अर्थ: - अनञ्जूर्वे समासे क्ता इत्येता गर् ्रस्यप् इत्ययमादेशो अवति ।। उदा०-प्रकृत्य, प्रहृत्य, पार्क्षणु नानाकृत्य, द्विधाकृत्य।।

भाषार्थः—[अनन्पूर्वे] नञ् भिन्न पूर्व (अवयव) है जिसे स्पन् [समासे] समास में [क्त्वः] क्त्वा के स्थान में [ल्यप् वारे प्रे है ॥ प्रकृत्य प्रहृत्य की सिद्धि भाग १ परि० १।१।५५ में देखें। कृत्य में स्वाङ्गे तस्० (३।४।६१) से करवा प्रत्यय होता है, त्या द्विधाकृत्य में नाघार्थंप्रत्यये० (३।४।६२) से क्रा होगा, ही (२।२।२२) से यहाँ समास भी जानें।। प्ते प्रे

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ७११३८ तक जायेगी॥

क्त्वापि च्छन्द्सि ॥७।१।३८॥

क्त्वा लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ अपि अ० ॥ स्रन्दिस जीशा समासे उनञ्जूर्वे कत्वो लयप्।। श्रर्थः - अनञ्जूर्वे समासे क्ल स्थाने क्त्वा इत्ययमादेशो भवति, ल्यबपि भवति अन्ति उदा०—कृष्णं वासो यजमानं परिधापयित्वा । प्रत्यक्रमक प्रवित्व लयत्रिय स्वति अन्तर्भ प्रवित्व । प्रत्यक्रमक प्रवित्व ल्यत्रिप भवति—उद्धृत्य जुहोति ॥

भाषार्थः—अनञ्जूर्वे वाले समास में क्त्वा के स्थान में कि या होता है क्लान आदेश होता है तथा ल्यप् आदेश [श्रिप] भी [ब्रन्दिति के होता है। धा नगा करा होता है।। धा तथा ऋ धातु से हेतुमित च (३।१।२६) से जिब् की कि (७)३।३६) से पुक करके धापि = धापय इत्वा = धापित्र (८)।३।३६) से पुक करके धापि = धापय इत्वा = धापित्र (८)।३।३६) प्रत्यपयित्वा बना है। उत्हत्य = यहाँ क्यो होऽन्यः (८।४)६१) क्ये क् होकर उद्धत्य बना है [भादः] यहाँ से 'छन्दिसि' की अनुवृत्ति ७।१।५० तक जायेगी।।

ह्यां सुद्धक्पूर्वसवर्णांच्छेयाडाड्यायाजालः ॥७।१।३९॥

सुपाम् ६।३।। सुलुः " जालः १।३।। स० सुश्च लुक् च पूर्व-वर्णम आम्र आत् च रोम्र याम्र डाम्र ड्याम्र याच् च आल् च. चकुः जालः, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु० — छन्दिस ॥ अर्थः — छन्दिस क्रियये सुगां स्थाने सु, लुक् , पूर्वसवर्ण, आ, आत्, शे, या, डा, ड्या, हिन् , आर् इत्येते आदेशा भवन्ति ।। उदा० — सु — अनु क्षरा ऋजर्वः क्षिनु पन्थाः (ऋ० १०।८५।२३) पन्थान इति प्राप्ते । लुक् आद्रे चर्मन् 🗢 कि ज्याराश्वर), रोहिते चर्मन् (काठ० २४।२) चर्मणीति प्राप्ते । हविद्धाने सं ख्लिन तत्सामिघेनीरन्वाह, यश्मिन् सुन्वन्ति तस्मिन् सामिघेनीरिति कि पूर्वसवर्णः धीती मृती सुंब्दुती। धीत्या मत्या सुब्दुत्या इति वि आ— उभा यन्तारौ । उभौ यन्तारौ इति प्राप्ते । आत् – न ताद् क्षणाद् निन्दामि । तान् ब्राह्मणान् इति प्राप्ते । शे—न युष्मे विकास (ऋ० ८।६=।१९) असमे इंन्द्राबृहस्पती (ऋ० अहार) यूयं वयमिति प्राप्ते । या—उरुया भृष्णुया, उरुणा भृष्णुनेति वि। डा—नाभा पृथिवयाम् (ऋ० १।१४३।४) नाभौ पृथिव्यामिति षि। ह्या- अनुष्ट्या च्यावयतात् । अनुष्टुभेति प्राप्ते । याच्-ध्या (ऋ० १।४६।११) साधु इति (नपुंसकिन्द्रि) प्राप्ते । आल् म्बा यजेत । वसन्ते इति प्राप्ते ॥

्रियाम्] सुपों के स्थान में [सुलुक् ···· 'जालः] सु, प्रमान के स्थान के स ाया है, अन्यथा बहुवचन में पन्थानः प्राप्त था। पन्थाः की सिद्धि ि ११९ अन्यथा बहुवचन में पन्थानः प्राप्त था। नाना कि का हिंदुआ है। ने देखें ॥ चर्मन् , यद् , तद् में सप्तमी एकवचन कि का हिं। चर्मन् , यद् , तद् में सप्तमा एकप्या कि स्वामा कि स्वाम विना है। धीती मती सुब्दुती में धीति मात सुब्दुता रा को पूर्वसवर्ण आदेश अर्थात् पूर्व जैसे इकार था वैसे टा की पूर्वसवर्ण आदेश अथात् पूर्व जस इकार स्वार का प्राप्त को प्रविध्य प्रमात् होनां इकारों को सवर्णदीर्घ (६।१।६७) होकर भी श्री आदि वन गया पश्चात् दोनों इकारों को सवर्णदीघ (१।९।८०) विश्वात होनों इकारों को सवर्णदीघ (१।९।८०) विश्वात हो। ताद् भाषाति वन गया।। उभ शब्द से परे 'औं' को 'आ प्राप्ति ।। ताद्र (हिश्हिट) से पूर्वसवर्ण एकादेश होकर 'उभा' बनता है।। ताद्र ब्राह्मणात् में शस् के स्थान में आत् हुआ है ॥ युष्मे हो बहुवचन सु को हो आदेश हुआ है। 'अस्से' की सिद्धि पीः में देखें, तदूत् यह भी है ॥ उरुया घृष्णुया यहाँ 'टा' के स्का हुआ है।। नाभि शब्द से परे जिल्को 'डा' आदेश होका ना है। डित् होने से टि आग का छोप होता है।। अनुष्टुप् से के ड्या आदेश एवं टिलोप होकर अनुष्ट्या बनता है।। साधु गर प्रथमा एकवचन सु को याच् आदेश होकर साधुया कता है। ांट् व यहाँ कि के स्थान में आल् आदेश हुआ है।। 叔

अमी मशु ॥७।१।४०॥

80

प्रयः-

खो

ाश३

4

अमः ६।१॥ मञ् १।१॥ अनु०—छन्दसि ॥ अर्थः—आः आदेशो भवति छन्द्सि विषये। 'अम्' इति मिवादेशो गृह्यते॥ वधीं वृत्रम् (ऋ० १।१६५।८) क्रमीं वृक्षस्य शाखाम्॥

माषार्थः-[अमः]अम् के स्थान में [मश्]मश् आदेशहें विषय में।। तस्थस्थ० (३।४।१०१) से जो मिप् के स्थान में अम् अह है वह यहाँ लिया गया है।। मश् में अकार उच्चारणार्थ है, ह करण सर्वादेशार्थ (१।१।५४) है ।। हन् धातु से लुङ् में 'वर्धीएं कि बहुलं छन्दस्य० (६।४।७५) से अट् आगम का अभाव वर्ष तथा लुिं च (२।४।४३) से हन् को वध आदेश होता है। के शशि के अलावीत् के समान होकर वध् इ ई अम् रहा। होकर वधी म् = वधीम् बन गया । इसी प्रकार ऋषु धार् हो बना है, केवल यहाँ स्नुकमोर० (७)२।३६) से इट् आगम ही हैं।

लोपस्त आत्मनेपदेषु ॥७।१।४१॥

लोपः १।१॥ तः ६।१॥ आत्मनेपदेषु ७।३॥ सनु^० अर्थः —आत्मनेपदेषु यस्तकारस्तस्य छन्दिस विषये होषी उदा०—देवा अदुह्न, गन्धर्वाप्सरसो अदुह्न। अदुह्तेति प्राप्ते। भाषार्थः—वेद विषय में [आत्मनेपदेषु] आत्मनेपद में जी विषय का [लोप:] कोम ने भ्याम् पयो अघ्न्येयम् , दक्षिणतः शये ॥ उसका [लोपः] लोप हो जाता है ॥ सिद्धि परिशिष्ट में हैं

१. न्यासे 'व्रितीयैकवचनस्यात्' इति पाठः ।

[]

16

(01

: 1

97

ध्वमी ध्वात् ॥७।१।४२॥

व्यमः ६।१॥ ध्वात् १।१॥ अनुः — छन्द्सि ॥ अर्थः — छन्द्सि विषये स्थाने ध्वात् इत्ययमादेशो भवति॥ उदा०—अन्तरेवोष्माणं प्राथमात् (ऐ॰ ब्रा॰ २।६) वारयध्वीमिति प्राप्ते ॥

भाषार्थः चेद विषय में [ध्वमः] ध्वम् के स्थान में [ध्वात्] ध्वात् क्षि होता है।। वृङ् अथवा वृष्ट् धातु से हेतुमित च से णिच् करके र्का वारयध्वात् रूप है। वारि शप् ध्वम् = गुण अयादेश तथा ध्वात् म्म वारयध्वात् बन गया ।।

यजध्वैनमिति च ॥७।१।४३॥

🔐 यजध्वेनम् १ ११।। इति अ०।। च अ०।। श्रनु० — छन्द्सि।। होती प्रकारकोपो निपात्यते । यजध्वम् इत्यस्य एनम् इत्येतस्मिन्
होती प्रकारकोपो निपात्यते ।। उदा०—यजध्वैनं प्रियमेधाः (ऋ०
होती ।। र्ष-यजध्वैनमिति निपात्यते । यजध्वम् इत्यस्य एनम् इत्येतिसमन्

माषार्थ:-[यजध्वेनम्] यजध्वेनम् [इति] यह शब्द [च] भी भातन किया जाता है। एनम् परे रहते यजध्वम् के मकार का छोप विवित्ति है। यजध्वमेनम् प्राप्त था, यजध्वैनम् हो गया।।

वस्य तात् ॥७।१।४४॥

311 तस्य ६।१॥ तात् १।१॥ अनु - छन्द्सि ॥ अर्थः - छोट्मध्यमपुरुष-विष्यतस्य तशब्दस्य स्थाने छन्द्सि विषये तात् इत्ययमादेशो भवति॥ गात्रं गात्रमस्या नूनं कृणुतात् (ऐ० ब्रा॰ २१६) कृणुत इति पि । उत्वध्यगोहं पार्थिवं खनतात् (ऐ० ब्रा० २।६) खनत इति प्राप्ते । जिल्लास्यः संस्कतात् (ए० ब्रा॰ रार) संस्कतात् । सूर्यं चक्षुर्गम-गात् (ऐ॰ ब्रा॰ २।६) गमयतेति प्राप्ते ॥

भाषार्थः तं से यहाँ छोट् के मध्यम पुरुष में जो तस्थस्थिमपां बिष्य के संविधा हुआ त आदेश वह लिया गया है।। लोट्सध्यमपुरुष-हिंदिन का जो [तस्य] त उसके स्थान में [तात्] तात् आदेश वेद

रे काशिकाकार ने 'यजध्यैनम्' पाठ माना है। पदमञ्जरीकार न पर कि। विवास के प्रामादिक कहा है। सिद्धान्तक मुदी में 'यजध्यैनम्' पाठ को प्रामादिक कहा है। १. काशिकाकार ने 'यजध्येनम्' पाठ माना है। पदमञ्जरीकार ने 'यजध्येनम्'

पाद: विषय में होता है।। इणुतात् में धिन्वक्रएव्यो० (३११८०)। है। पूरी सिद्धि की प्रक्रिया परि० ३।१।८० के कुणोति की सिंहत देख छ । समुंजतात् में तुदादिभ्यः शः (३।१।७७) से शहुवां वाग गमयतात में णिजन्त से छोट् हुआ जानें।। के ए

यहाँ से 'तस्य' की अनुवृत्ति ७।१।४५ तक जायेगी॥

तप्तनपतनथनाश्च ॥७।१।४५॥

स्वा

तप्तनप्तनथनाः ११३।। च अ०।। स०-तप्० इत्येत्रोतः श्रुबुः — तस्य, छन्द्सि ॥ अर्थः — छन्द्सि विषये तस्य क्षा ⁷ तनप्, तन, थन इत्येते आदेशाः भवन्ति ॥ *उदा०-त*्-यावाणः शृणुतेति प्राप्ते । सुनोत, सुनुत इति प्राप्ते । तम् होता द्धातन (ऋंटि। १०१।५) धत्तेति प्राप्ते । तन—ऋभवसं जुङ्ग ४।३६।७) जुषध्विमिति प्राप्ते । थन-यदिष्ठन । यदिच्छतेति प्र

भाषार्थः —त के स्थान में [तप्तनप्तनथनाः] तप्, तन्। ये आदेश [च] भी छन्द विषय में होते हैं।। पूर्ववत् 'त' के बन पुरुषबहुवचन का लिया गया है।। ऋणोत में श्रुवः शृच (३११०) कि प्रत्यय एवं श्र आदेश हुआ है । तप् के पित् होने से सार्ववाहः से डित्वत् न होने से गुण हो गया है। सुनोत में खु (शिश्री हुआ है। द्धातन में श्ली (६।१।१०) से द्वित्व हुआ है। जुड़ुल् धातु से बहुलं छन्दिस (२।४।७६) से श को श्तु आदेश हुआ । द्वित्व एवं तन आदेश हाकर ब्दुत्व हुआ है। यद् इष्टन म के श विकरण का बहुलं छन्दिस (२।४।७३) से लुक् हुआ थन = ष्टुत्व होकर इष्टन बन गया।।

ररन्ता म|सः।।७।१।४६॥ इदन्तः १।१॥ मसि लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः॥ स०—इत् यस्य स इद्न्तः, बहुब्रीहिः ॥ अन्त शब्दोऽत्रावयवववनः॥ कृत्द्सि ॥ अर्थः—मस् इत्ययं शब्द् इकारान्तो भवित ब्रह्मि मसि इत्यत्र इकार उच्चारणार्थः ॥ उदा प्रतस्ति क्ष 'दीपयामः' इति प्राप्ते । शलभं भञ्जयामसि 'भञ्जयामः' त्विय रात्रि तास्त्र त्वयि रात्रिं वासयामिस 'वासयामः' इति प्राप्ते ॥

[पादः]

सारे

14-1

T

मि भाषार्थः —वेद्विषय में [मिति] मस् (स्कारान्त शब्द) [इदन्तः] ही हा = इकार अन्त = अवयव वाला हो जाता है, अर्थात् मस् को इकार बागम होता है, और वह अन्त को होता है।। दीपी, भञ्ज तथा वस धातु ह ज्यत से लट् में दीपयामिस आदि प्रयोग बने हैं।।

क्तवो यक् ॥७।१।४७॥

क्तः दिशा यक् १११। अनु - छन्दिस ।। अर्थः - छन्दिस विषये क्ता इत्येतस्य यक् आगमो भवति ।। उदा०—दत्वाय सर्विता घियः 'त्ला' इति प्राप्ते ।।

गाषार्थ:-वेद विषय में [क्त्वः] क्त्वा को [यक्] यक् आगमः ्हिता है।। दत्वा यहाँ आद्यन्तौ टिकितौ (१।१।४५) से अन्त में यक् आगम क्षेत्र दला यक् = दस्वाय बन गया।।

इष्ट्वीनमिति च ॥७।१।४८॥

इष्ट्वीनम् १।१।। इति अ० ।। च अ० ।। अनु० — छन्द्सि ।। अर्थः— अवस्ति विषये इष्ट्वीनमिति शब्दो निपात्यते । यजेः क्तवाप्रत्ययान्तस्य विमन्तादेशो निपात्यते ।। उदा०—इष्ट्वीनं देवान् । इष्ट्रा देवान् इति ा । शाप्ते ॥

भाषार्थः—वेद विषय में [इष्ट्वीनम्] इष्ट्वीनम् [इति] यह क्रवाप्रत्य-मा गलग्रव्द [च]भी निपातन किया जाता है।। यज् से क्त्वा प्रत्यय करके इष्ट्वा हिंगिरे १।१।४४ के इष्टः के समान बनता है, उसको यहाँ ईनम् अन्तादेश क्षिता जाता है । इष्ट्र ईनम् = इष्ट्रीनम् बना ॥

स्नात्व्याद्यश्च ॥७।१।४९॥

लाल्याद्यः १।३।। च अ० ॥ स०—स्नात्वी आदिर्येषां ते स्नात्व्या-खः, बहुवीहिः ॥ अनु०—छन्द्सि ॥ अर्थः—स्नात्वी इत्येवमादैयः विषये निपात्यन्ते, निपातनाद् ईकारान्तादेशो भवति॥ प्रवाः बन्दिस विषये निपात्यन्ते, निपातनाद् ईकारान्ताद्शा स्वार्धित्राम्ताद्शा स्वर्धित्राम्ताद्शा स्वर्धित्राम्य महादिव (मै. ३।११।१०) 'स्नात्वा' इति प्राप्ते । पीत्वी क्षित्र (ऋ० ३।४०।७) 'पीत्वा' इति प्राप्ते ॥

भाषार्थः स्नात्व्यादयः] स्नात्वी इत्यादि शब्द [च] भी वेद विषय में निपातन किये जाते हैं। ईकार अन्तादेश ही यहाँ निपातन है।

आज्जसेरसुक् ॥७।१।५०॥

। पाद

आत् ५११॥ जसेः ६११॥ असुक् १११॥ त्रनु०—ब्रन्ति, क् त्र्रश्चः—अवर्णान्तादङ्गादुत्तरस्य जस्त्रेरसुक् आगमो भवि क्ष्री विषये ॥ उदा० – ब्राह्मणासः (ऋ० ७१०३।७-८)। प्तिः क्ष्री (ऋ० १०११५११) ब्राह्मणाः, सोस्याः इति प्राप्ते ॥

यहाँ से 'श्रात्' की अनुवृत्ति ७।१।५२ तक तथा कि ७।१।५१ तक जायेगी।।

अञ्बक्षीरवृषलवणानामात्मप्रीतौ क्यचि ॥७।१।५॥

अरवक्षीरवृषलवणानाम् ६।३॥ आत्मप्रीतौ ७।१॥ स्वित्तिः स्टब्स्यन्तेतरेतरद्भन्द्वः । आत्मनः प्रीतः आत्मप्रीतिः स्टब्स्यन्तेतरेतरद्भन्द्वः । आत्मनः प्रीतः आत्मप्रीतिः स्टब्स्यः पष्टीतत्पुरुषः ॥ अनु०—असुक् , अङ्गस्य ॥ अर्थः—अर्वः स्टब्स्यिते व्यवः । स्टब्स्यिते गौः । स्टब्स्यत्यस्यस्यस्यस्य

भाषार्थ: — [अश्वज्ञीरवृषलवगानाम्] अश्व, क्षीर, वृष, क्ष्णार्थ को [वयचि] कयच् परे रहते [आत्मप्रीतो] आत्मा की प्रीति । असुक् आगम होता है ।। अश्व क्यच् यहाँ अङ्ग को असुक् । होकर अश्व असुक् य = अश्व अस् य रहा । अतो गुणे (शा के प्रस्पत्व एवं धातु संज्ञा (३।१।३२) होकर अश्वस्यित बता । पररूपत्व एवं धातु संज्ञा (३।१।३२) होकर अश्वस्यित बता । प्रकार सबमें जाने । सर्वत्र सुप त्रात्मनः क्यच् (३।१।८) से व्याप्त है अतः आत्मप्रीति (अपने को जो प्रिय) विषय है ॥ स्यति वडवा (घोड़ी अश्व को चाहती है) क्षीरस्यित माणवर्षी दृध चाहता है) इत्यादि सब इसी प्रकार हैं ॥ [पादः]

1811

前

आमि सर्वनाय्नः सुद् ॥७।१।५२॥

आमि ७।१।। सर्वेनाम्नः ५।१।। सुद् १/१।। अनुः—आत्, अङ्गस्य ।। अवर्णान्तात् सर्वनाम्न उत्तरस्यामः सुद् आगमो भवति ॥ उदा०— विंवाम्, विश्वेषाम्, येषाम्, तेषाम्, सर्वासाम्, यासाम्, तासाम्॥

गापार्थः—अवर्णान्त [सर्वेनाम्नः] सर्वेनाम से उत्तर [त्रामि] आम् हिंद] सुट् का आगम होता है।। तस्मादित्युत्तरस्य (१।१।६६) से क्षेताम से उत्तर 'आमि' का ⁹षष्टी विभक्ति में परिवर्त्तन होकर 'आम' बे सुद् होता है यह अर्थ हुआ है।। सर्वेषाम् विश्वेषाम् की सिद्धि कि ११११२६ में देखें। यद् तद् को त्यदाचत्व होकर इसी प्रकार, मिषाम् तेपाम् वनेगा । स्त्रीलिङ्ग में टाप् होकर यद् टाप् सुट् आम् रहा । ष्ताद्यत होकर य अ आ स् आम् = यासाम् आदि बनेगा ॥ ह्रस्वान्तों से भारतन्यापो० (**७११५४) से नुट्की प्राप्ति** थी सुट्कह दिया।।

यहाँ से 'श्रामि' की अनुवृत्ति ७।१।५७ तक जायेगी।।

त्रेस्त्रयः ॥७।१।५३॥

त्रे हाशा त्रयः शशा अनु -- आमि, अङ्गस्य ॥ अर्थः -- त्रि लिल्याङ्गस्य त्रय इत्ययमादेशो भवत्यामि परतः ॥ उदा०—त्रयाणाम् ॥ मापार्थ: [त्रे:] त्रि अङ्ग को [त्रयः] त्रय आदेश आम् परे रहते विहै॥ त्रि आम् = त्रय आम् यहाँ हस्वनद्यापो० (७।१।५४) से तुट् ्राष्ट्र होता आम् = त्रय आम् यहा हस्वनधायाः (जाराज्य स्वाधिक एवं क्षित्क एवं क्षित्क एवं क्षित्क एवं क्षित्क एवं ल (८।४।२) होकर त्रयाणाम् बन गया ।। गर्व

इस्वनद्यापो चुट् ॥७।१।५४॥

हैस्वनद्यापः ४।१॥ नुट् १।१॥ स०—हुस्वस्र नदी च आप् च हुस्व-तस्मात् समाहारो द्रन्द्रः ॥ अनु - आमि, अङ्गस्य ॥ अनु - आमि, अङ्गस्य ॥ कि विवान्तात् समाहारा द्वन्द्वः॥ अगुरु आगमो विवान्तात् अवन्ताचाङ्गादुत्तरस्यामो नुद् आगमो वित्र । उद्गः नद्यन्तात् आबन्ताञ्चाङ्गादुत्तरस्यामः उप् वित्र । उद्गः हस्यान्तात्—वृक्षाणाम्, प्लक्षाणाम्, अग्नीनाम्, क्यागणाम्, किशोरीणाम्, प्रमाम्, कर्वं णाम्, हर्वं णाम्। नद्यन्तात्—कुमाराणाम्, किशोरीणाम्,

१. इस वात की विशेष व्याख्या महाभाष्य में देखें ।।

गौरीणाम्, शार्करवीणाम्, छक्सीणाम्, ब्रह्मवन्ध्नाम्, वीरक्त्ती आबन्तात्—खट्वानाम्, माळानाम्, बहुराजानाम्, कारीणात्का स्त

श पाद

पष्टी

ब्रन्द

ींद

उदा

भाषार्थः-[हस्वनद्यापः] हस्वान्त नद्यन्त तथा आप् अन्त को भीन से उत्तर आम् को [नुट्] नुट्का आंगम होता है।। अकारानीं पूर्व च (७१३।१०२) से तथा अन्यत्र नामि (६।४।३) से दीर्घल हुआ कुमारी किशोरी आदि की यू स्त्रयाख्यों नदी (१।४।३) से नहीं सं बहुराजा में डावुभाभ्या० (४।१।१३) से डाप् हुआ है॥

यहाँ से 'नुट्' की अनुवृत्ति ७।१।५७ तक जायेगी॥

षट्चतुभ्यश्च ॥७।१।५५॥

षट्चतुर्भ्यः ५१३॥ च अ०॥ स०—षट् च चलास्त्र ह रस्तेभ्यः इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—तुट्, आमि,अङ्गस्य।त षट्संज्ञकेभ्यश्चतुःशब्दाचोत्तरस्यामो नुट् आगमो भवति॥ह षण्णाम्, पञ्चानाम्, सप्तानाम्, नवानाम्, द्शानाम्। चतुर्णाः

भाषार्थः—[षट्चतुभर्यः] षट्संज्ञक तथा चतुर् शब्द से ज भी आम् को नुट् का आगम होता है।। षष् नुट् आम् = ष् मलां जशोऽन्ते (८।२।३६) से जश्त्व होकर षड् नाम् रहा। गाँ (८।४।४४) से अनुनासिक होकर पण्नाम् हुआ तथा ब्दुल होग बन गया। पञ्चानाम् आदि की सिद्धि ६।४।७ सूत्र में देखें। भी (शश२३) से षट् संज्ञा है ही।।

श्रीग्रामण्योञ्छन्दसि ॥७।१।५६॥

श्रीप्रामण्योः ६।२॥ छन्दस्य ७।१॥ स०-- श्रीश्च प्रामणीय तयोः इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अतु — नुट्, आमि, अङ्गर्य॥ मामणी इत्येतयोश्छन्द्सि विषये आमो नुडागमो भविता क्रिया अप्रिया अप्रिय अप्रिया अप्रिय अप्रिया अप्रिया अप्रिय अ श्रीणामुंदारो धुरुणो र्यीणाम् (ऋ० १०।४५।५)। अवी प्राप्ता प्ता प्राप्ता प्ता प्राप्ता प्ता प्राप्ता प्

(१।४।'४) से विकल्प से नदी संज्ञा प्राप्त है, सो जब नदी संज्ञी

[पादः]

M:

取

UF

कि तो हस्वनद्या० (७।१।५४) से नुट् नहीं हो सकेगा, अतः नित्य ही नुट् हो क्षित्र श्री का प्रहण है। स्ताश्च शामण्यश्च स्त्रशामण्यस्तेषाम् स्त्रशाम-कि वीताम् यहाँ इतरेतरद्वन्द्व समास है। इतरेतरद्वन्द्व में हस्व न होने से वीत पूर्वन नुट् प्राप्ति नहीं थी तद्थे यह वचन है।।

यहाँ से 'कुन्दिस' की अनुवृत्ति ७।१।५७ तक जायेगी।।

गोः पादान्ते ॥७।१।५७॥

गोः ४।१॥ पादान्ते ७।१॥ स०—पादस्य अन्तः पादान्तस्तस्मिन् ।। श्रिशंतपुरुषः ॥ श्रिशं च्छन्दस्ति, नुद्, आमि, अङ्गस्य ॥ श्रिशं क्वां विषये गोः इत्येतस्माद् ऋक्पादान्ते वर्त्तमानादुत्तरस्यामो मविति ॥ उदा०—विद्या हि त्वा गोपंति श्रूरगोनं म्

ति भाषार्थः—वेद विषय में [पादानते] ऋचा के पाद के अन्त में पितानि ।। विषय में पितानि ।। विषय को नुट् का आगम होता है।। विषय के अन्त में अन्द का अधिकार होने से ऋचा का पादान्त ही लिया जायेगा, कि खोक का पादान्त ।। उपर्युक्त मन्त्रखण्ड मन्त्र के तीसरे पाद का विषय के अन्त में है ही, सो नुट् हो गया है।।

इदितो नुम् घातोः ॥७।१।५८॥

इद्तिः ६।१॥ नुम् १।१॥ धातोः ६।१॥ स०— इत् इत् यस्य स द्वित्, तस्य ''बहुव्रीहिः ॥ श्रर्थः— इद्ति धातोर्नुमागमो भवति ॥ व्या०—कुहि— कुण्डिता, कुण्डितुम्, कुण्डितव्यम्, कुण्डा । हुहि— कुण्डित्, हुण्डितुम्, हुण्डितव्यम्, हुण्डा ॥

माणार्थ:—[इदित:] इकार इत् संज्ञक है जिसका ऐसे [धातो:] कि ति को तिम जा अगम होता है।। कुण्डा, हुण्डा की सिद्धि पूर्व ही होता है, अत एव नुम् होने पर संयोगे गुरु (१।४।११) से बाता है।। वह नुमागम प्रत्ययोत्पत्ति हि संज्ञा होकर गुरोध हल: (३।३।१०३) से स्त्रीलिंग में अङ् प्रत्यय

यहाँ से 'नुम्' की अनुवृत्ति ७।१।८३ तक जायेगी।।

शे मुचादीनास् ॥७।१।५९॥

ले पार

त्य

हुअ

शे। मुचादीनाम् ६।३॥ स०—मुच् आद्येषां ते मुचा षाम् वहुव्रीहिः ॥ अनु० — नुम् , अङ्गस्य ॥ अर्थः — शे प्रत्ये । मुचादीनामङ्गानां नुमागमो भवति ॥ उदा० — मुच्ल — मुञ्जति। इत्ये लुम्पति । विद्ल — विन्दति । लिपि — लिम्पति । पिच् नि लि कृती — कृत्ति । खिद् — खिन्दति । पिश् — पिशति ॥

भाषार्थः—[शे] श प्रत्यय परे रहते [मुचादीनाम्] मुचि हैं को नुम् आगम होता है ।। मुद्धति की सिद्धि परि० १।१॥४६॥ भें देखें। इसी प्रकार अन्यों में भी जानें।।

मस्जिनशोर्ज्ञलि ॥७।१।६०॥

मस्जिनशोः ६।२॥ झिल ७।१॥ स०—मस्जि० इत्यन्नेतेता क्रि श्रनु०—नुम्, अङ्गस्य ॥ श्रर्थः—मस्जि, निश्च इत्येतयोद्धिः (श्र प्रत्यये परतो नुमागमो भवति ॥ उदा०—मङ्क्ता, मङ्क्तुम, व्यम्। नंष्टा, नंष्टुम्, नंष्टव्यम्॥

भाषार्थः—[मस्जनशोः] दुमस्जो शुद्धौ तथा णश अद्धीतः [सिल] झलादि प्रत्यय परे रहते नुम् आगम होता है।। विस्तान तृष्ट्य यहाँ मस्जेरन्त्यात् पूर्व नुमिन्छल्त्यनुष्ट्रसंपोणीति ति (वा० १११४६) इस वात्तिक से अन्त्य अल् से पूर्व को ग्री परे नुम् की प्राप्ति थी, इस वात्तिक से अन्त्य से पूर्व कर्ति। परे नुम् की प्राप्ति थी, इस वात्तिक से अन्त्य से पूर्व कर्ति। परे नुम् की प्राप्ति थी, इस वात्तिक से अन्त्य से पूर्व कर्ति। पर्व नुम् हुआ। मस् नुम् ज् तृच् = मस्त् न् तृ यहाँ स्त्रीः विष्ति पर्व नुम् हुआ। मस् नुम् ज् तृच् = मस्त् न् तृ यहाँ स्त्रीः विष्ति च (८।२।२९) से सकार लोप एवं चीः कुः (८।२।३०) से विष्ति अवत्य खिर च (८।४।४४) से चर्त्व होकर मन्कृता रहा। अवत्य खिर च (८।३।२४) से नकार को अनुस्वार एवं अनुस्वारम्य से परसवर्ण होकर मङ्क्ता बन गया, एकाच उपदेशे (७।३।४४) से इट् निषेध होता है।। नंष्टा यहाँ रधादिभ्यश्च (७।२।४५) से विद्य पर्व पर्व पर्देशे होता है। नंष्टा यहाँ रधादिभ्यश्च (७।२।४५) से विद्य पर्व पर्व पर्देशे होता है। नंष्टा बना है। इट् पक्ष में झलादित का वित्व पर्व पर्देशे होता है। से नुम् नहीं हुआ।।

[म पादः]

तेष

रिधनभोरचि ॥७।१।६१॥

रिधजमोः ६।२।। अचि ७।१।। स०—रिध० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ मा भारती प्रति अङ्गस्य ।। अर्थः अजादौ प्रत्यये परतो रिघ जिम । इत्येतयोरङ्गयोर्नुमागमो अवति ।। उदा० — रन्धयति, रन्धकः, साधुरन्धो, वि त्यंत्यम्, रन्धो वर्त्तते । जिस--जम्भयति, जम्भकः, साधुजम्भी, बम्भअम्भम् , जंभो वर्त्तते ।।

रेष माषार्थः—[अचि] अजादि प्रत्यय परे रहते [रिधजमोः] रध ि हिंसासंराध्योः तथा जभ गात्रविनासे अङ्ग को नुम् आगम होता है।। ल्ययित, जम्भयित में णिच् (३।१।२६) होकर छट् प्रत्यय हुआ है। ल्यकः में ण्वुह् तथा रन्धी में सुध्यजातौ शिनिः (३।२।७८) से णिनि हुआ है। रन्धंरन्धम् यहाँ आभीद्रएये० (३।४।२२) से णमुळ् तथा वापी वामी च्राये दे भवतः (वा० ८।१।१२) से द्वित्व हुआ है। रन्धः में भावे (शरा१८) से घच हुआ है । इसी प्रकार जम्भकः आदि में जानें।। 4,

यहाँ से 'श्रचि' की अनुवृत्ति ७।१।६४ तक जायेगी।।

नेखिलिटि रघेः ॥७।१।६२॥

न अ० ॥ इटि ७।१॥ अलिटि ७।१॥ रघेः ६।१॥ स०-—न लिट् अलिट् म् भारते एवरङ्गस्य नुमागमो न भवति ॥ उदा०—रिधता, रिधतुम्, व वितन्यम् ॥

होंगे भाषार्थः — [अलिटि] लिट्भिन्न [इटि] इडादि प्रत्यय परे रहते भाषार्थः—[त्रिलिटि] लिट्भिन्न [इटि] इडाए राज्य से प्राप्ति भि । एवं सूत्र से प्राप्ति प्राचित्र कर दिया। रघादिम्यश्च (७।२।४५) से पक्ष में जब इट् अवाम होता है तभी ये उद्ाहरण बनेंगे।। 18018

रमेरशब्लिटोः ॥७।१।६३॥

A SI भि: ६।१॥ अशब्लिटो: ७।२॥ स०—शप् च लिट् च शब्लिटौ, स्थाः ६।१॥ अशब्छिटोः ७।२॥ स०—शप् च ।७०६ । अनुकार्याः । न शब्छिटौ अशब्छिटौ तयोः नव्ततपुरुषः॥ अनुकार्याः । अनुकार्याः । अनुकार्यः । अनुकार्यः । अनुकार्यः । भिष्मि, सुम्, अङ्गस्य।। श्रर्थः— शब्छिडवर्जितेऽजादौ प्रत्यये परतो रमेरङ्गस्य नुमागमो भवति।। उदार्-आरम्भयति, आरम्भकः, साधारमी । मारम्भम्, आरम्भो वर्त्तते ॥

भाषार्थ: [अशन्तिटोः] दाप् तथा छिट् वर्जित अजादि क्र परे रहते [रमे:] रभ राभस्ये अङ्ग को नुम् आगम होता है।। (७।१।६१) सिद्धियों के सूत्र जानें। नुम् को अनुस्वार एवं पाक पूर्ववत् ही होगा ।।

यहाँ से 'अशन्लिटोः' की अनुवृत्ति ७।१।६४ तक जायेगी॥

लमेश्र ॥७।१।६४॥

नि पा

विष

घर

होत

विह

ř

[3

ईषा Fg.

लभेः ६।१।। च अ० ।। श्रमु०—अशब्लिटोः, अचि, तुम्, क श्रर्थः — लभेरङ्गस्य च शब्लिख्वर्जितेऽजादौ प्रत्यये पतो ह भवति ॥ उदाः — सम्भयति, सम्भकः, साधुसमी, समंसम्मा

माषार्थः—शप् तथा लिट्वर्जित अजादि प्रत्ययों के गे पा [लमेः] डुलभष् प्राप्ती अङ्ग को [च] भी नुम् आगम होता है॥ पूर्ववत् हैं।।

यहाँ से 'लमेः' की अनुवृत्ति ७।१।६९ तक जायेगी॥

आङो यि ॥७।१।६५॥

आङः ५११॥ यि ७११॥ श्रनु०—लभेः, नुम्, अङ्गर्गाः लभेर्यकारादिप्रत्ययविषय आङ उत्तरस्य नुमागमो भवित । आलमभ्या गौः, आलमभ्या वडवा ॥

भाषार्थ:-[य] यकारादि प्रत्यय के विषय में लभ अङ्गकी शिर्म से उत्तर नुम् आगम होता है।। यि में विषय सप्तमी मानने हे कि करके प्रशान करते करके पश्चात् ऋहलोय्येत् (३।१।१२४) से ण्यत् होता है। व्याप्त पर अदुपधत्व न होने से पोरदुपधात् (३।१।६८) से यत् नहीं कि ही हो, यही विषय सप्तमी का प्रयोजन है।। यहाँ से 'यि' की अनुवृत्ति ७।१।६६ तक जायेगी॥

उपात् प्रशंसायाम् ॥७।१।६६॥ उपात् ४।१॥ प्रशंसायाम् ७।१॥ श्रवु०—िय, छमें, वृष् [पादः]

1

141

11 5

क्ष्यं:—प्रशंसायां गम्यमानायामुपादुत्तरस्य लभेरङ्गस्य यकारादिप्रत्यय-विषये तुमागमो भवति ॥ उदा०—डपलम्भ्या भवता विद्या, उपलम्भ्यानि क्री धनानि ॥

भाषार्थः—[प्रशंसायाम्] प्रशंसा गम्यमान होने पर [जपात्] उप असर्ग से उत्तर छभ अङ्ग को यकारादि प्रत्यय के विषय में नुम् आगम होता है।। पूर्ववत् ण्यत् प्रत्यय उदाहरणों में जानें। उपलम्भ्या भवता बिया 'आप से विद्या प्राप्त करने योग्य है' अर्थात् आप विद्या प्राप्त कराने में समर्थ हैं, ऐसा कहकर प्रशंसा व्यक्त की जा रही है।।

उपसर्गात् खल्वजोः ॥७।१।६७॥

उपसर्गात् ५।१।। खल्घञोः ७।२।। स०- खळ् इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ बुः – हमेः, नुम्, अङ्गस्य ।। अर्थः – खल्घनोः परत उपसर्गादुत्तरस्य रमेर्नुमागमो भवति ।। उदा०—ईषत्प्रलम्भः, सुप्रलम्भः, दुष्प्रलम्भः। र्षो प्रवि—प्रलम्भः, विप्रलम्भः ॥

गाषार्थ:-[सल्घजो:] खल् तथा घन् प्रत्ययों के परे रहते लिसर्गात्] उपसर्ग से उत्तर लभ अङ्ग को नुम् आगम होता है।। गिर्दु:सुष्० (३।३।१२६) से खल् प्रत्यय होता है। दुष्प्रलम्भः में ह्युग्धस्य० (८।३।४१) से पत्व हुआ है ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ७।१।६८ तक जायेगी ॥

न सुदुभ्यों केवलाभ्याम् ॥७।१।६८॥

न अ० ॥ सुदुभ्याम् ४।२॥ केवलाभ्याम् ५।२॥ स० - सुश्च दुर् च कि स्थाम् प्राचाम् क्षणम्याम् ।।। अनु — उपसर्गात् खल्घनोः, है । अनु - उत्तर तरद्वन्द्वः ॥ अनु - उत्तराम् = उपसर्गान्तर-विकारमां हमेतुम् न भवति, खल्घनोः परतः ॥ उदा०—सुदुर्हभम्, हिंसिम्, दुर्लभम् । घिचि—सुलाभः, दुर्लीभः ॥

मानार्थः—[केनलाभ्याम्] केवल [सुदुर्भ्याम्] सु तथा पुर् कितर लभ धातु को खल् तथा घव् प्रत्यय परे रहते नुम् आगम [न] माषार्थः - किवलाभ्याम्] केवल [सुदुर्भ्याम्] सु तथा दुर् उपसर्गो मि होता है।। केवल महण इसलिये है कि कोई अन्य उपसग सु हुर् व एवं उत्तर में न हो ॥

विभाषा चिण्णस्रलोः ॥७।१।६९॥

हे पार

310

वार्

यश

विभाषा १।१।। चिण्णमुलोः ७।२।। स०—चिण्० इत्यन्नेतीतः स अनु ० — लभेः, नुम्, अङ्गस्य ।। अर्थः — लभेरङ्गस्य चिण् णगुरु परतो विकल्पेन नुम् अवति ।। उदी० चिण् अलामि, क णमल-लाभंलाभम् , लम्भंलम्भम् ॥

भाषार्थः — छभ अङ्ग को [चिएसमुलोः] चिण् तथा णसुर परे रहते [विभाषा] विकल्प से नुम् आगम होता है॥ अलिल पर में चिए माव० (३।१।६६) से चिण् हुआ है, एवं णमुरूप्रत्यय पूर्वन म

उगिद्चां सर्वनामस्थानेऽधातोः ॥७।१।७०॥

डगिद्चाम् ६।३॥ सर्वनामस्थाने ७।१॥ अधातोः ६।१॥ हः इत् येषां ते डिगतः, बहुव्रीहिः। डिगतश्च अच डिगद्चलेण इतरेतरद्रन्द्रः। न धातुरधातुस्तस्यः नब्तत्पुरुषः॥ श्रुःन अङ्गस्य ।। अर्थः-धातुवर्जितानामुगितामङ्गानामञ्चतेश्र ह भवति, सर्वनामस्थाने परतः ॥ उदाः — भवतु-भवान्, भवन्तै, ईयसुन्—श्रेयान्, श्रेयांसी, श्रेयांसः। शतृ—पचन्, पचनी, ल अक्रते:-प्राङ्, प्राक्री, प्राञ्चः ॥

भाषार्थः—[अधातोः] धातुवर्जित [उगिदचाम्] उक् स्र् जिनका ऐसे अङ्ग को तथा अञ्च धातु को [सर्वनामस्थाने] सर्वा परे रहते नुम् आगम होता है।। भवान् की सिद्धि ६।॥॥ देखें । यहाँ डवतुप् प्रत्यय डिंगत् है । श्रेयान् यहाँ ईयमुन् परे स्यस्य श्रः (५।३।६०) से श्र आदेश, ६।४।१० से दीर्घ तथा है (६।४।१६३) से प्रकृतिभाव हुआ है ॥ पचन आदि की कि ३।२।१२४ के पचन्तम् आदि के समान जानें। प्राङ्की सिद्धिपि पृ० ४६२ में देखें । सर्वत्र सर्वनामस्थान परे है ही ॥ यहाँ से 'सर्वनामस्थाने' की ऋनुवृत्ति ७११७२ तक जायेगी

, 0

युजेरसमासे ॥७।१।७१॥

ं युजेः ६।१॥ असमासे ७।१॥ स०—अस० इत्यत्र स्वीता अनुः सर्वनामस्थाने, नुम्, अङ्गस्य ॥ अर्थः पुनि सर्वनामस्थाने परतो नुमागमो भवति ॥ उदा०—युङ्, युडी,

[भ पादः]

部

मुङ्ग

में छ

\$100°

माषार्थ:-[असमासे] असमास में [युजे:] युजि अङ्ग को सर्वनाम-स्थान परे रहते नुम् आगम होता है।। युङ्की सिद्धि पूर्ववत् परि० शरायह में देखें।।

नपुंसकस्य झलेचः ॥७।१।७२॥

नपंसकस्य ६।१॥ झलचः ६।१॥ स०—झल् च अच् च झलच्, तय समाहारद्वन्द्वः ॥ अनु - सर्वनामस्थाने, नुम्, अङ्गस्य ॥ प्रशः-- झळन्तस्य अजन्तस्य च नपुंसकस्य सर्वनामस्थाने परती नुमागमो ^{म्हा}म्बति।। उदा०—झलन्तस्य उद्दिवन्ति, शक्नन्ति, यशांसि, पयांसि। अजनस्य - कुण्डानि, वनानि, त्रपृणि, जतूनि ॥

गापार्थः—[भलचः] झलन्त तथा अजन्त [नपुंसकस्य] नपुंसक लिङ्ग बाहे अङ्ग को सर्वनामस्थान विभक्ति परे रहते नुम् आगम होता है।। कांसि पयांसि की सिद्धि परि० १।१।४६ तथा कुण्डानि वनानि की पि १।१।४१ में देखें। इसी प्रकार शकुत् से शकुन्ति, उद्दिवत् से अव्यक्षिनित में जानें ॥

यहाँ से 'नपुंसकस्य' की अनुवृत्ति ७।१।७७ तक जायेगी।।

इको ऽचि विभक्तौ ॥७।१।७३॥

न्धि इकः ६११॥ अचि ७११॥ विभक्तौ ७११॥ अनु० - नपुंसकस्य, नुम् कार्य। अर्थः—इगन्तस्य नपुंसकस्याङ्गस्याजादौ विभक्तौ परतो नुगागमो भवति ॥ उदा०—त्रपुणी, जतुनी, तुम्बुरुणी । त्रपुणे, जतुने, तुम्बुरुणे ॥ भाषार्थ:-[इक:] इक् अन्त वाले नपुंसक अङ्ग को [श्रिचि] कि अजादि [विभक्तो] विभक्ति परे रहते नुम् आगम होता है।। त्रपु नुम् भी पहाँ औं को नपुंसकाच (७१११९) से शी आदेश होकर त्रपु न शी = त्रिम्म आ को नपुंसकाच (७१११९) से शा आद्य द्वार हैं ही। त्रूपुणे कि के किए बन गया। त्रपु जतु आदि शब्द इगन्त हैं ही। त्रूपुणे वाद् में हे विभक्ति परे है ।।

यहाँ से 'इकः' की अनुवृत्ति ७।१।७४ तक तथा 'श्रिच विभक्ती' की णश्राज्य तक जायेगी II Toda.

रतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद् गालवस्य ॥७।१।७४॥ वित्रोयादिषु ७।३॥ भाषितपुंस्कम् १।१॥ पुंवत् अ०॥ गाउवस्य

ि पाइ ६।१॥ स०—तृतीया आदिर्येषां ताः तृतीयाद्यसामु भाषितः पुमान् येन (समानायामाकृतौ एकस्मिन् प्रवृत्तिनिक पुरि भाषितपु स्कम् बहुव्रीहिः ॥ अनु - इको ऽचि विभक्तौ, नुम्, क अर्थ: तृतीयादिष्वजादिषु विभक्तिषु भाषितपुंस्कं त्रुंसम् मङ्गं गालवस्याचार्यस्य मतेन पुंबद् भवति ॥ यथा पुंसि ह्या भवतस्तद्वदत्रापि न अवत इत्यर्थः ।। उदा०—ग्रामण्या ब्रह्म प्रामणिना ब्राह्मणकुलेन, प्रामण्ये ब्राह्मणकुलाय, प्रामणिने ब्रह्म श्रामण्यो ब्राह्मणकुळात् , श्रामणिनो ब्राह्मणकुळात् , श्रामणो ह कुलस्य, प्रामणिनो ब्राह्मणकुलस्य, प्रामण्योर्बाह्मणकुलगेः, मा क्रीह्मणकुलयोः, प्रामण्यां ब्राह्मणकुलानाम् , त्रामणीनां ब्राह्मस्य यामण्यां ब्राह्मणकुले, यामणिनि ब्राह्मणकुले । शुचिना ब्राह्मण्या गुचये ब्राह्मणकुलाय, गुचिने ब्राह्मणकुलाय, गुचेर्बाह्मणकुला, व ब्राह्मणकुलात् , गुचेर्बाह्मणकुलस्य, गुचिनो ब्राह्मणकुलस्य गुन्ने ह कुळयोः शुचिनोर्बाह्मणकुळयोः, शुची ब्राह्मणकुले, शुचिति ब्राह्मण

भाषार्थः—[तृतीयादिषु] तृतीया विभक्ति से लेकर आगे बी निमक्तियों के परे रहते [माषितपुंस्कम्] भाषितपुंस्क नपुंस के वाले इगन्त अङ्ग को [गालवस्य] गालव आचार्य के मत में कि पुंवद्भाव हो जाता है।। जिस प्रकार पुँक्षिङ्ग में हुस्व (११८४) नहीं होते, तद्वत् पुंवद्भाव करने से यहाँ भी कि पक्ष में नहीं होते, तद्वत् पुंवद्भाव करने से यहाँ भी कि पक्ष में नहीं होते अर्थ के स्वार्थ के स्वर्थ के स्वार्थ के स्वर्थ के स्वार्थ के स्वार्थ के स्वार्थ के स्वार्थ के स्वार्थ के स्व पक्ष में नहीं होंगे, यही पुंबद्भाव का फल है।। भाषि क व्याख्या ६।३।३२ सूत्र में कर आये हैं, वहीं देखें॥ 'गाल्य आ मत में कहने से अन्य आचार्यों के मत में पुंबद्भाव नहीं होगा पक्ष बनेंगे, तद्वत् उदाहरण प्रदर्शित कर दिये हैं॥

•पुंवद्भाव पक्ष में श्रामण्या ब्राह्मणकुलेन यहाँ तुम् एवंहर्ण हुआ है। एरनेकाचो० (६।४।८२) से यणादेश हो गया है। पक्ष में शामणी के पक्ष में त्रामणी को हस्वो नपुंसके से हस्वत्व हो जायेगा। श्री श्रीचना यहाँ क्राची शुचिना यहाँ श्राङो ना० (७।३।११६) से हस्वत्व हो जायेगा। श्रीचना यहाँ श्राङो ना० (७।३।११६) से टा को नाभाव हो। विकास प्रकार आगे की विभक्तियों में भी सिद्धियाँ समझते जायें। विभक्तियों में भी सिद्धियाँ समझते जायें। में शुचये शुचेः आदि में भी सिद्धियाँ समझते जायें। पूजी के शुचें। अपुचें भी कि जिल्ला समझते जायें। पूजी कि शुचें कि शुचें कि अपुचें कि शुचें कि शुच अपुंवद्भाव पक्ष में शुचिने आदि में नुम् श^{३।७३} पूर्व [भादः] बारोगा।। प्रामणी तथा शुचि शब्द एक ही प्रवृत्तिनिमित्त को लेकर विविद्या को भी कहते हैं, अतः भाषितपुंस्क शब्द हैं ही।।

यहाँ से 'तृतीयादिषु' की अनुवृत्ति ७।१।०५ तक जायेगी।।

प्रकृत

4

(Har 制作

याई

अस्थिद्धिसक्थ्यक्ष्णामनङ्खात्तः ॥७।१।७५॥

अस्थि जाम् ६।३॥ अनङ् १।१॥ उदात्तः १।१॥ स०—अस्थि ह्मगर विष्य च सिक्थ च अक्षि च अस्थि " 'क्षीणि तेषां ' 'इतरेतर-क्राह्यः॥ अनु - नृतीयादिषु, अचि विभक्तौ, नपुंसकस्य, अङ्गस्य॥ क्रि वर्षः – अस्थि, द्धि, सिक्थ, अक्षि इत्येतेषां नपुंसकानामङ्गानां तृतीयाः कि दिल्जादिपु विभक्तिषु परतोऽनङ् इत्ययभादेशो भवति, स चोदात्तो भवति ॥ उदा -- अस्थना, अस्थने, अस्थनः, इत्येवमाद्यः । दुष्ना, दुष्ते, का ा । सुक्थना, सुक्थने, सक्थनः । अक्ष्णा, त्र्युच्णे, अक्ष्णः ॥

TE माषार्थः—[अस्यः च्याम्] अस्थि, दिध, सिन्थ, अक्षि इन वी मार्सिक लिङ्ग वाले अङ्गों को तृतीयादि अजादि विभक्तियों के परे मोशेपको अनुदात्त (६।१।१५२) होने से अनुदात्त 'इ' के स्थान में अनुदात्त का अनुदात्त (६।१।१५२) हान स अनुदाय २ १००० (१।१।४२) से का मह स्थानिवत् से प्राप्त था, उदात्त कह दिया ।। डिच (१।१।४२) से भारती अल्य अहं को अनङ् होकर अस्थ् अनङ् टा = अस्थन् आ रहा । अङ्कोपोनः अप अल्का अनङ् हाकर अस्थ् अनङ् टा - जरवर् का विकास । उदात्त अकार का छोप होकर अस्थ्ना बन गया। उदात्त अ बोप होने पर उदात्तिवृत्तिस्वर (६।१।१५५) से विभक्ति उदात्त हैं, श्रेष को अनुदात्त हो गया । इसी प्रकार सब में जानें।। 160

यहाँ से 'अस्थिदधिसक्थ्य द्शाम् उदात्तः' की अनुवृत्ति जाशाज्य तक व्या 'अन्ह' की ७।१।७६ तक जायेगी।।

छन्दस्यपि द्वयते ॥७।१।७६॥

E ME अन्दिस ७।१।। अपि अ०।। दृश्यते क्रियापदम्।। श्रनु०—अस्थि-विभिन्न १९।। अपि अ०।। दृश्यते क्रियापद्म्।। अ४ विभिन्न १४ देशामनङ्कृतात्तः, नपुंसकस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः — अस्थिद्धिः विभिन्न स्थापक्षां — अस्थिद्धाः किर्यहणां विन्दस्यप्यनङ् दृश्यते । यत्र विहितस्ततोऽन्यत्रापि दृश्यत

इत्यर्थः ।। उदा० — अचीत्युक्तमनजादाविष हश्यते च्हीं (६) अस्थिमिः (ऋ० १।८४)१३) अदं पंश्येमाक्षिः (यजुः का हिंग तियादिष्वत्युक्तमतृतीयादिष्वपि हश्यते — अक्षाण्युत्कृत्य जुहोति विश्वपुक्तमविभक्ताविष हश्यते — अक्षण्युत्कृत्य जुहोति विश्वपुक्तमविभक्ताविष हश्यते — अक्षण्यता लाङ्गलेन । अव्यवनस्था विभक्ति ॥

भाषार्थ:—अस्थि द्धि आदि अङ्गों को [अन्दित के कि [अपि] भी अनङ् [हश्यते] देखा जाता है, अर्थात् जहाँ विका गर्या है, उससे अन्यत्र भी देखा जाता है। यथा पूर्वसूत्र में कर पूरे कहा है अनजादि परे भी देखा जाता है। यथा पूर्वसूत्र में कर पूरे कहा है अनजादि परे भी देखा जाता है। वर्तागित का अनुतीयादि में भी होता है, एवं विभक्तों कहा है अविभिन्न स्व यहाँ अक्षाणि में द्वितीयाबहुवचन है। अक्ष्यभिः आदि में अन्द आ नकार छोप नलोपः० (८।२।७) से हुआ है। अक्षण्वता यहाँ कि का (८।२।६) से मुन्न मत् परे रहते भी अनङ् होकर 'अक्षन् मत्' रहा। कि का (८।२।६६) से मतुप् को नृद आगम तथा मादुपघा० (८।२।९) से इत्त होकर 'अक्षन् नत् वत् टा' रहा। पूर्ववत अनङ् वाले कि एवं णत्व होकर अक्षण्वता एवं अस्थनवन्तम् (२।१) वन गया। कि

यहाँ से 'छन्दिस' की अनुवृत्ति ७।१।७७ तक जायेगी॥

ई च द्विवचने ॥ ७१। ७७॥

ई लुप्तप्रथमान्तिर्देशः ॥ च अ० ॥ द्विवचने ०।१॥ क्रार्य ॥ अह्याय ॥ अत्याय ॥

भाषार्थः—[द्विवचने] द्विवचन विभक्ति परे रहते वेह कि अस्थि आदि शब्दों को [ई] ईकारादेश होता है, [च] और वह की है ॥ अक्षि औ यहाँ नपुंसकाच (७।१।१९) से औ को की की प्रमुक्त पुत्र से अन्त्य अल् को 'ई' होकर अक्ष्र ई शी रहा। पूर्वसवर्णः (६।१।६८) से प्राप्त पूर्वसवर्णः दीघँ का निवेध

रिवाहः] ' प्राप्तः वा स्टित् (६।१।१०२) से पुनः प्राप्त करा क्षित्राग्या सो पूर्वसवर्ण दीर्घ होकर 'अक्षी' बना । भ्याम् परे रहते भी किह्या गया सो पूर्वसवर्ण दीर्घ होकर 'अक्षी' बना । भ्याम् परे रहते भी

नाभ्यस्ताच्छतुः ॥७।१।७८॥

ति न अः ॥ अभ्यस्तात् ५११॥ शतुः ६११॥ श्रवु०—नुम्, अङ्गस्य ॥ का वर्षः-अभ्यस्तादङ्गादुन्तरस्य शतुर्नुम्न भवति ॥ *उदा०*—ददत्, में इस्तौ, ददतः । दधत्, दधतौ, दधतः । जक्षत्, जक्षतौ, जक्षतः । दि वाप्रत्, जाप्रतौ, जाप्रतः ॥

के मापार्थ:—[अभ्यस्तात्] अभ्यस्त अङ्ग से उत्तर [शतुः] शतृ को
भिः स्म का आगम [न] नहीं होता है।। उगिदचां० (७११७०) से नुम्
अगम प्राप्त था निषेध कर दिया। ददत् दधत् में दाधा के आ का
कि अप स्नाम्यस्तयोशतः (६१४१११२) से हुआ है। दा दा शतृ = ददा
। क अत् = दद् अत् = ददत् बन गया। जक्षत् जाप्रत् में जिल्लत्यादयः षट्
विश्विः से अभ्यस्त संज्ञा हुई है।।

यहाँ से 'श्रम्यस्तात्' की अनुवृत्ति ७।१।७६ तक तथा 'शतुः' की अनुवृत्ति ७।१।७६ तक जायेगी।।

वा नपुंसकस्य ॥७।१।७९॥

वा अ० ॥ नपुंसकस्य ६।१॥ श्रनु०—अभ्यस्ताच्छतुः, नुम्, अङ्गस्य ॥ अर्थः— अभ्यस्तादङ्गादुत्तरो यः शतृप्रत्ययस्तद्न्तस्य अर्थः— अभ्यस्तादङ्गादुत्तरो यः शतृप्रत्ययस्तद्न्तस्य अर्थाते । नुमागमो भवति ॥ उदा०— दद्ति कुळानि, द्दन्ति अर्थाते । द्धति, द्धन्ति कुळानि । जक्षति, जक्षन्ति । जाप्रति, जाप्रन्ति ॥

भाषार्थः अभ्यस्त अङ्ग से उत्तर जो शतृ प्रत्यय तद्न्त [नपुंसकत्य]
निपंसक शब्द को [ना] विकल्प से नुम् आगम होता है।। 'ददत्
को शिहोकर नपुंसक लिङ्ग में जरशामोः० (७।१।२०) से जस्
को शिहोकर द्दति बन गया, पक्ष में नुम् होकर द्दन्ति बन गया।

पहाँ से 'वा' की अनुवृत्ति ७।१।८० तक जायेगी।।

आच्छीनद्योर्चुम् ॥७।१।८०॥

ि पाद

qta

आ अन

चतु

ल

उद (7

आत् ५११॥ शीनद्योः ७१२॥ तुम् १११॥ स० —शीनद्योः इत्ये द्वन्द्वः ॥ श्रनु० — वा, नुम् , शतुः, अङ्गस्य ॥ श्रर्थः — अवर्णानाः दुंत्तरस्य शतुर्वा नुमागमो भवति शीनद्योः परतः॥ उदाः कुले, तुद्न्ती कुले । याती कुले, यान्ती कुले । करिष्यती कुले, की कुले । नद्याम्—तुद्ती ब्राह्मणी, तुद्न्ती ब्राह्मणी। याती ब्राह्मी ब्राह्मणी। कैरिष्यती ब्राह्मणी, करिष्यन्ती ब्राह्मणी॥

भाषार्थ:-[त्रात्] अवर्णान्त अङ्ग से उत्तर [शीनवोः]है नदी परे रहते शतृ प्रत्यय को विकलप से [नुम्] नुम् आगमहोना है। श अत् = तुदत् औ यहाँ नपुंसकाच (७।१।१६) से शी आते। तुदत् शी = तुदती वन गया।। पक्ष में तुदन्ती वना। नी नं उदाहरणों में स्त्रीलिङ्ग में तुद्त् से डीप् प्रत्यय उगितान (र से हुआ है सो एकवचन में तुद्ती बना। यू स्त्र्याख्यो नदी (११६) नदी संज्ञा हो ही जायेगी।।

यहाँ से 'शीनद्योः' की अनुवृत्ति ७।१।८१ तक जायेगी॥

शप्त्रयनोर्नित्यम् ॥७।१।८१॥

श्राप्यनोः ६।२।। नित्यम् १।१।। स०—श्रप् इत्यन्नेतरेनाम् अनु ं—शीन्द्योः, शतुः, नुम्, अङ्गस्य ।। अर्थः—शप् श्यन् शीनद्योः परतो नित्यं नुमागमो भवति॥ उदाः नद्याम्-पचन्ती ग्री हो कुले, दीव्यन्ती कुले, सीव्यन्ती कुले। दीव्यन्ती ब्राह्मणी, सीव्यन्ती ।।

भाषार्थः—[शप्रयनोः] शप् तथा श्यन् का जो शत प्राय [नित्यम्] नित्य ही नुम् का आगम होता है।। पचन्ती कुले के की प्रत्यय हुए के शी प्रत्यय हुआ है, एवं पच् के भ्वादिगणस्थ होते से भू हिला है। हुआ है, इस प्रकार शप् सम्बन्धी शतृ है। दीव्यन्ती में स्वाहित हुआ है। नदी परे वाले उदाहरणों में पूर्ववत् डीप हुआ बार्ते।

सावनडुहः ॥७।१।८२॥

सौ ७१॥ अनडुहः ६।१॥ श्रनु०—नुम्, अङ्गर्व ॥

[भ पादः]

(8)

पतोऽनड्होऽङ्गस्य नुमागमो भवति।। उदाः—अनड्वान्, हे

काह्यन् ॥

मार्गार्थः — [सी] सु परे रहते [अनडुह:] अनडुह् अङ्ग को नुम्

बागम होता है ॥ अनडुह् सु यहाँ मिदचोन्त्यात् परः (१।१।४६) से

अत्य अच् से परे प्रकृत सूत्र से नुम् होकर अनडु नुम् ह् स् रहा। अब

क्ति अत्य अच् से परे होकर 'अनडु आम् नुम् ह् स् = अनडु आम् न ह स्'

बा। हल्ङ्यादि लोप, यणादेश एवं संयोगान्तलोप (८।२।२३) होकर

अन्द्वान् बना। सम्बुद्धि में अम् सम्बुद्धी (७।१।६६) से आम् का

विश्व अप् आगम होगा, अतः हे अनड्वन् बनेगा।।

यहाँ से 'सी' की अनुवृत्ति ७।१।८५ तक जायेगी।।

द्दस्ववः स्वतवसां छन्द्सि ॥७।१।८३॥

हिन्सवः स्वतवसाम् ६।३।। छन्दसि ७।१॥ स०—हक्० इत्यत्रेतरेबहुन्दः ॥ अनु०—सौ, नुम्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—हक्, स्ववस्,
बिनस् इत्येतेषामङ्गानां सौ परतो नुमागमो भवति, छन्दसि विषये ॥
बिन्दे , ताहङ्, याहङ्, सहङ्, स्ववान् । स्वर्तवाँ पायुरंग्ने
(१६० ४।२१६) ॥

माषार्थः—[हनस्ववःस्वतवसाम्] हक, स्ववस्, स्वतवस् इन अङ्गों कि कि विषय में सु परे रहते नुम् आगम होता है।। भाग कि शेशिह सूत्र में याहक, ताहक की सिद्धि की है, तद्भन् सब कार्य गाँ हुआ है। के वल नुम् आगम विशेष होकर याह न श्र रहा संयोगानत वाह हो के वल नुम् आगम विशेष होकर याह न श्र रहा संयोगानत अर्थात् आन्तर्य से न को कु हुआ। ईहक की हक में भी इसी प्रकार जाने, कि यहाँ इतम् को 'ईश्' तथा किम् को 'की' आदेश हुआ है. ऐसा वाल नुम् स् सु = स्ववन्स् स् यहाँ हल्क्यादि लोप संयोगादिलोप समझे। संहिता पाठ में 'स्वतवाँ: पायुः' स्वतवान्पायौ (८१३।११) से कि के तथा के को विसर्जनीय होकर बनेगा। अत्रानुनासिकः में स्वतवान् पायुः रहेगा।।

दिव औत् ॥७।१।८४॥

शिवाद

सर्थ

परत

दिवः ६।१॥ औत् १।१॥ अनु०—सौ, अङ्गस्य॥ क्रिं प्रति इत्येतस्य प्रातिपदिकस्य सौ परत औत् इत्ययमादेशो ह

भाषार्थः—[दिवः] दिव् अङ्ग को सु परे रहते [औत्] के होता है ॥ सिद्धि भाग १ परि० १।१।५१ में देखें ॥

पथिमध्यृश्चक्षामात् ॥७।१।८५॥

पथिमध्यमुक्षाम् ६।३।। आत् १।१।। स०—पत्याश्च ह्यस्य पथिमध्यमुक्षाणस्तेषाम् । इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अः अङ्गस्य ।। अर्थः—पथिन, मथिन् ऋमुक्षिन् इत्येतेषामङ्गातं । आकारादेशो भवति ।। उदा०—पत्थाः, मन्थाः, ऋमुक्षाः ॥

भाषार्थः—[पिश्मथ्यृमुक्ताम्] पिथन्, मिथन् तथा ऋमुं आहें आहें। अहगों को सु परे रहते [श्रात्] आकारादेश होता है।। पन सिद्धि परि० १।१।५५ में देखें। इसी प्रकार अन्यों में भी समहें। ऋमुक्षाः में थो न्थः (७।१।८७) नहीं छगेगा यह विशेष है।

यहाँ से 'पथिमध्यृमुद्धाम्' की अनुवृत्ति ७।१।८८ तक जावेगी।

इतोऽत्सर्वनामस्थाने ॥७।१।८६॥

इतः ६।१॥ अत् १।१॥ सर्वनामस्थाने ७।१॥ अव्वर्णकी भुक्षाम्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—पथिन्, मथिन्, ऋभुक्षिन् इत्येतेषि । स्थाने अकारादेशो भवित, सर्वनामस्थाने परतः ॥ उद्योगी । पन्थानौ, पन्थानौ। ऋभुक्षाः, ऋभुक्षाणौ, ऋभुक्षाणौ, ऋभुक्षाणौ, ऋभुक्षाणौ, ऋभुक्षाणौ,

भाषार्थः—पथिन्, मथिन् तथा ऋभुक्षिन् अङ्गों के लि स्थान में [श्रत्] अकारादेश होता है [सर्वनामस्थाने] सर्वताम स्थान में [स्रत्] अकारादेश होता है [सर्वनामस्थाने] सर्वताम रहते। सिद्धियाँ पूर्ववत् जानें। 'सु' से अन्यत्र पूर्व पूर्व स्थान नहीं होगा, अतः पथिन् औ यहाँ इकार को अकार होकर एवं म

सप्तमोऽध्यायः

[भादः]

iji

1 U

क्षेकर पन्यम् औ रहा । सर्वनामस्थाने० (६।४।८) से दीर्घ होकर पन्थानी अदि प्रयोग बनेंगे ॥

यहाँ से 'सर्वनामस्थाने' की अनुवृत्ति ७।१।९८ तक जायेगी॥

थो न्यः ॥७।१।८७॥

খীয় यः ६।१॥ न्थः १।१॥ अनु - सर्वनामस्थाने, पथिमथोः, अङ्गस्य ॥ र्यः - पथिमथोस्थकारस्य स्थाने 'न्थ्र' इत्ययमादेशो भवति सर्वनामस्थाने पतः॥ उदा०-पन्थाः, पन्थानौ, पन्थानः, पन्थानम्, पन्थानौ। म्याः, मन्यानौ, मन्थानः, मन्थानम्, मन्थानौ ॥

माषार्थः —पथिन् तथा मथिन् अङ्ग के [थः] थकार के स्थान में व वादेश होता है।।

विशेषः—सामध्ये से यहाँ 'ऋभुक्षिन्' की अनुवृत्ति का सम्बन्ध नहीं वात, क्योंकि इस शब्द में थकार है ही नहीं, जिसके स्थान में न्थ पत्र आदेश हो ।।

भस्य टेलोंपः ॥७।१।८८॥

मस्य ६।१॥ टेः ६।१॥ छोपः १।१॥ अनु०—पथिमध्यूमुक्षाम्, कार्य। अर्थः—पथ्यादीनां ससंज्ञकानां टेर्लीपो भवति ॥ उदा०— व्यः, पथा, पथे । मथः, मथा, मथे । ऋभुक्षः, ऋभुक्षा, ऋभुक्षे ॥ ।

भाषार्थः—पथिन्, मथिन् तथा ऋभुक्षिन् [भस्य] भसंज्ञक अङ्गों विद्या है का [लोपः] छोप होता है।। पथिन् इस् यहाँ यि भम् (१८)१८) से पथिन की भ संज्ञा होकर प्रकृत सूत्र से टि भाग का लोप गया तो पथ् अस् = पथः वन गया। इसी प्रकार सबमें जानें॥

पुंसोऽसुङ् ॥७।१।८९॥

पुंसः ६।१॥ असुङ् १।१॥ अनुः—सर्वनामस्थाने, अङ्गस्य ॥ प्रमानिक प् प्रताउख्य सर्वनामस्थाने परताउख्य सर्वनामस्थाने परताउख्य सर्वनामस्थाने परताउख्य सर्वनामस्थाने परताउख्य स्थाने ॥ उदार्वे पुमान् , पुमांसौ ॥ क्षा प्राप्त प्र प् गुनार्थः पुंसः] पुंस् अङ्ग के स्थान में सर्वनामस्थान परे रहते

शिषाद [असुङ्] असुङ् आदेश होता है।। पुम्स् सु यहाँ क्षि (शास्त्र अन्त्य अल् स् को असुङ् होकर पुम् असुङ् सु = पुमस् स् रहा विश्वर (७।१।७०) से नुम् एवं सान्तमहतः० (६।४।१०) से दीर्घ होका प स् स् = पुमान् स् स् रहा । हल्ङ चादि छोप एवं संयोगान हो पुमान् बना । इसी प्रकार पुमांसी आदि जाने ॥

गोतो णित् ॥७।१।९०॥

सरि

णित

गोतः ४।१।। णित् १ १।। स० — णकार इत् यस्य स नि अर्थ:—गोहा त्रनु - सर्वनामस्थाने, अङ्गस्य II क्तवनामस्थानं णित् भवति ॥ उदा०—गौः, गावौ, गावः, गाम्, व

भाषार्थः —[गोतः] गो शब्द से उत्तर सर्वनामस्थान [िंगत्] णित्वत् होती है, अर्थात् णित् के समान कार्य हो ज यह अतिदेश सूत्र है ॥ गो सु यहाँ सु को णित्वत् अतिहेश क्य अची निगति (७।२।११५) से गो अङ्ग को वृद्धि होकर गौ स्व विसर्जनीय होकर गौः वन गया। औ औट् तथा जस्पोह इसी प्रकार जानें, केवल वहाँ एचोयवायावः (६।१।०५) से आई होगा। अम् परे रहते औतो ऽम्शसोः (६।१।९०) से आकार्यह है।। णित् के साथ सामानाधिकरण्य होने से 'सर्वनामस्थाने प प्रथमान्त में बदल जाता है।।

'यहाँ से 'ग्णित्' की अनुवृत्ति ७।१।६२ तक जायेगी॥

णळुत्तमो वा ॥७।१।९१॥

णल् १।१॥ उत्तमः १।१॥ वा अ०॥ अनु०—णित्॥ प्रवीति णल् विकल्पेन णित् भवति ॥ उदा०—अहं चकर, अहं ब पपच, अहं पपाच ॥

भाषार्थः—[उत्तमः] उत्तम पुरुष का जो [णल्] ण्रह्म विकल्प से णित्वत् होता है।। णित् पक्ष में पूर्ववत् कृ वृद्धि तथा अणित् पक्ष में वृद्धि नहीं होगी यही विशेष है। का प्रकार परि० ६।१।० 🐣 🔌

सल्युः ४।१॥ असंबुद्धौ ७१॥ स०—न संबुद्धिरसंबुद्धि

वादः]

गोह्य

न है

म्बत्सुरुषः ॥ अनु - णित् , सर्वनामस्थाने, अङ्गस्य ॥ अर्थः -असंबुद्धी यः सिखशब्द्स्तस्मात् परं सर्वनामस्थानं णित् भवति ॥ ए द्वाः—संबायौ, संखायः, संखायम् , संखायौ ॥

माषार्थ:-[असंवुद्धो] संबुद्धि परे नहीं है जिससे ऐसे [सल्यु:] मिस शब्द से उत्तर सर्वनामस्थान विभक्ति णित्वत् होती है।। पूर्ववत् लिहोने से सिख को वृद्धि होकर सखै औ रहा। आयादेश होकर सखायौ णित्, बन गया ।।

यहाँ से 'सल्युः' की अनुवृत्ति ७।१।६३ तक तथा 'श्रसंबुद्धी' की

अनङ् सौ ॥७।१।९३॥

बं अनङ् १।१।। सौ ७।१।। श्रनु०—सख्युरसंबुद्धौ, अङ्गस्य ॥ क्षे वरं: - सिख इत्येतस्याङ्गस्य सौ परतोऽनङ् इत्ययमादेशो भवति, स ्ब के सुराव्दः संबुद्धेर्न स्यात् ॥ उदा०—सखा ॥

परिकार सबुद्धन स्यात् ॥ *उदा*ः—सखा ॥ भाषार्थः—सखि अङ्ग को संबुद्धिभिन्न [सौ] सु परे रहते [अनङ्] आहें आहें शहें होता है।। िक (१।१।५२) से अन्त्य अल् को अनक स्वा ।। सल् अनक सु = सलन् स् यहाँ सर्वनामस्थाने० (६।४।८) से कि एवं हल्ड यादि लोप तथा नलोप होकर सला बन गया।।

यहाँ से 'अनङ् सौ' की अनुवृत्ति ७।१।६४ तक जायेगी।।

ऋदुश्चनस्पुरुदंसोऽनेहसां च ॥७।१।९४॥

श्रुवानस्प्रह्दंसोऽनेह्साम् ६।३॥ च अ०॥ स०—ऋच उरानश्र क्षित्र अनेह्य ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेह्सस्तेषाम् ः इतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु सी, असंबुद्धी, अङ्गस्य ॥ अर्थः—ऋकारान्तानामङ्गा-हा जिल्ला अङ्ग्रह्म ।। अयः निर्मा संबुद्धौ सौ ज्याना प्रतान प्रत विवास । उदाव । उदाव । उदाव । अनेहा ।।

रे. मृष्टाच्याय्यां 'पुरु दंशस्' पाठान्तरं । हश्यते । वैदिकवाङ्मये 'पुरुदंसस्' विश्वाप्यायां 'पुरुदंशस्' पाठान्तरं हश्यते । वादकपार् हिंस भाविष वाह प्यासिः दन्त्यसकारवान् पाठ एवाहतः । भातुपाठे दंश दंस भाविष वातू पठ्येते, तन्मूलक एवायं पाठभेदः स्यादित्यनुमीयते ॥

भाषार्थः — [ऋदुशनस्पुरुदंसो ऽनेह्साम्] ऋकारान्त अङ्ग के ह डशनस् , पुरुदंसस् , अनेहस् अङ्गों को [च] भी संगुद्धिमाः हर रहते अनङ् आदेश होता है।। कर्त्ता हत्ती की सिद्धि मान १।१।२ में देखें। इसी प्रकार मातृ पितृ शब्द से माता पित उञ्चनस् आदि में भी अन्त्य सकार को अनङ् होकर उज्जा रहा। अतो गुणे (६।१।६४) आदि छगकर पूर्ववत् उशना आदिना

तृज्वत् क्रोन्दुः ॥७।१।९५॥

[91

3 -

तुष्वत् अः।। क्रोष्टुः १।१।। श्रनुः—सर्वनामस्थाने, स अङ्गस्य ।। तृचा तुल्यं वत्तते इति तृष्यत्, तेन तुल्यं० (५११११) वतिः ॥ अर्थः — सर्वनामस्थाने ऽसंबुद्धौ परतस्तुन् प्रत्ययानः हेर् स्तृज्वत् भवति ॥ रूपातिदेशोऽयम् ॥ तृजन्तस्य यद् हां परे भवतीत्यर्थः ॥ उदा०—क्रोष्टा, क्रोष्टारी, क्रोष्टारः, क्रोष्टारम्, क्रोष्ट

भाषार्थः — संबुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान परे रहते तुर है [कोप्ट:] क्रोब्टु शब्द को [तृब्वत्] तृच्वत् हो जाता है। क प्रत्यय में जो रूप इस शब्द का होगा तहृत् सर्वनामस्थान पोह प्रत्ययान्त (उणा ११६९) इस क्रोच्टु को भी अतिदिष्ट हो जा प्रकार सर्वनामस्थान परे रहते तृच् के समान इस शब्द के हा यह, रूपातिदेश सूत्र है, सो कोच्टु को कोच्ट्र ऐसा रूप अतिहें। स्थान परे रहते होकर सब कार्य आगे परि १।१।२ के वेता हो गये । कोष्टारी, कोष्टारः में ऋतो ङि० (७)३।११०) हे इ अप्तृन्तृच्० (६।४।११) से दीर्घ होता है।।

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति जाशाएण तक जावेगी॥

स्त्रियां च ॥७।१।९६॥

स्त्रियाम् ७।१॥ च अ०॥ श्रनु०—नुज्यत् क्रीर्षुः श्रर्थ:—स्त्रियां च कोष्टुशब्द्स्य तुष्वत् भवति ॥ अस्वता यमारम्भ:॥ जना यमारम्भः ॥ उदा०—कोव्ह्री, कोव्ह्रीभ्याम्, कोव्ह्रीभिः॥

भाषार्थः—[स्रियाम्] स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान क्रोव्ह कर्व तृजन्त शब्द के समान अतिदेश हो जाता है॥ अस्वता

329.

[भवादः] . हित भी हो जाये इसिलिये इस सूत्र का आरम्भ है।। क्रोब्टु को तृज्वत् मा ह्य अतिदेश क्रोव्ह ऋकारान्त बना लेने पर ऋचे भ्यो डीप् (४।१।५) से कीप् एवं यणादेश होकर क्रोष्ट्री आदि रूप बन गये।।

विभाषा तृतीयादिष्वचि ॥७।१।९७॥

वार न ङ

11

HIP

विभाषा १।१।। तृतीयादिषु ७।३।। अचि ७।१।। स०—तृतीया आदियेंवा ते तृतीयादयस्तेषु " "बहुज्रीहिः ॥ श्रनु - तृज्वत् क्रोष्टुः, अन्नस्य ॥ अर्थः — तृतीयाद्दिवजाद्यि विभक्तियु परतो ऋोष्टुर्विभाषा ह्वत् भवति ।। उदा०—क्रोष्ट्रा, क्रोष्टुना । क्रोष्ट्रे, क्रोष्ट्वे । क्रोष्टुः, केष्टाः। कोष्टरि, कोष्टी । कोष्ट्रीः, कोष्ट्रीः।।

गाषार्थः — [तृतीयादिषु] तृतीयादि [अचि] अजादि विभक्तियों के हां गरे रहते कोच्डु शब्द को [विभाषा] विकल्प से तुज्वत् अतिदेश होता हों है। इस प्रकार तृतीयादि अजादि विभक्ति परे रहते दो २ रूप बनेंगे।। व्यत् पक्ष में यणादेश होकर 'टा' परे रहते कोष्ट्रा एवं अतृज्वत् पक्ष भू में आहो ना० (७१३१११६) से नासाव होकर क्रोप्टुना बना है। डे, नी, इस् परे रहते अतु जबद्भाव पक्ष में घेडिंति (७।३।१११) से गुण पर अवादेश होगा। क्रोब्टुः कोष्टोः की सिद्धि क्रमशः ६११११०६ एवं वार्ष प्रशिष्ट होगा। क्राब्टुः काष्टाः का । त्याच्य कोष्टरि में ऋतो हि॰ समान जानें।। क्रोष्टरि में ऋतो हि॰ हाती (अहे।११०) से गुण होता है, एवं क्रोष्टी में औदच घेः (अहे।११८) से के के अकारान्तादेश तथा कि को औत्व होकर क्रोष्ट औ रहा विद्वा कार्य होकर क्रोष्टी बन गया।। क्रोब्ट्रोः क्रोष्ट्रोः में यणादेश पूर्ववत्

चतुरनडुहोराम्बदात्तः ॥७।१।९८॥

वतुरतहुहो: ६।२॥ आम् १।१॥ उदात्तः १।१॥ स०—चतुश्र अनहवांश्च चतुरनडुहौ तयो: ''' इतरेतरद्रन्द्रः ॥ श्रनु०—सँवैनाम-शाने, अङ्गस्य ।। श्रर्थः — चतुर् अनडुह् इत्येतयोः सर्वनामस्थाने परत आम् आगमो भवति, स चोदात्तः॥ उदा०—चुत्वारः। अनुड्वान्, अन्द्वाही, अन्द्वाहं:, अन्द्वाहंम्, अन्द्वाहीं ॥

भाषार्थः—[चतुरन बुहो:] चतुर् तथा अनडुह् इन अङ्गों को सर्व-भामाधान विभक्ति परे रहते [श्राम्] आम् आगम होता है, और वह

ि पार [उदात्तः] उदात्त होता है।। सिद्धि ७।१।८२ सूत्र में देवा अनुदात्ता भवन्ति (परि० ११०) इस परिभाषा से आगम अनुहा हि हैं, अतः उदात्त कह दिया । चतु आम् र् जस् = चत्वारस्=कत यहाँ से 'चतुरनडुहोः की अनुवृत्ति ।१।६६ तक जायेगी॥

अस् सम्बद्धौ ॥७।१।९९॥

अम् १।१॥ सम्बुद्धौ ७।१॥ श्रनु०—चतुरनडुहोः, अङ्गराशि संबुद्धौ परतश्चतुरमङ्होरमागमो भवति ॥ उदा०-हे प्रियह क्षे अनड्वन् , हे प्रियानड्वन् ।।

भाषार्थ:—[संबुद्धौ] संबुद्धि परे रहते चतुर् तथा अनुह् ब [अम्] अम् आगम होता है।। पूर्व सूत्र का यह अपवाद है।

ऋत इद्धातोः ॥७।१।१००॥

से

पूर्व (१

ऋतः ६।१॥ इत् १।१॥ धातोः ६।१॥ अनु०—अङ्गरम॥६ (६ ऋकारान्तस्य धातोरङ्गस्य इकारादेशो भवति ॥ उदा०-किर्णि आस्तीणम् , विशीणम् ।।

भाषार्थः [ऋतः] ऋकारान्त [धातोः] धातु के अङ्ग के लि रादेश होता है।। किरति गिरति की सिद्धि परि॰ १११॥४० में स्तू तथा शू धातु से निष्ठा में आस्तीर्णम्, विशीर्णम् बना है। से इत्व रपरत्व होकर रदाभ्यां० (८।२।४२) से निष्ठा केत्र रषाभ्यां० (८।४।१) से णत्व तथा हिल च (८।२।७७) से विक हुआ है। श्रयुक्तः किति (७।२।११) से यहाँ इट् आगम क होता है।।

यहाँ से 'ऋतः धातोः' की अनुवृत्ति ७।१।१०३ तक त्यार्गित ७।१।१०१ तक जायेगी।।

भाषार्थः—धातु अङ्ग की [उपधायाः] उपधा ऋका कि [व पादः] `

1

HO

मिं हों

र्वा

वि किर्त इ रहा। उपधायां च (८।२।७८) से दीर्घत्व होकर कीर्त्ति धातु किर्त इ रहा। उपधायां च (८।२।७८) से दीर्घत्व होकर कीर्त्ति धातु किर्त इ रहा। उपधायां च (८।२।७८) से दीर्घत्व होकर कीर्त्ति धातु

उदोष्ठचपूर्वस्य ॥ ७।१।१०२॥

उत् १।१॥ ओष्ट्यपूर्वस्य ६।१॥ स०—ओष्ट्यः पूर्वो यस्मात् स श्रिकापूर्वेस्तस्यः बहुत्रीहिः ॥ श्रानु०—ऋतः धातोः, अङ्गस्य ॥ अर्थः— स्वक्ष ओष्ट्यः पूर्वो यस्मात् ऋकारात् तदन्तस्य धातोरङ्गस्य उकारादेशो स्वति ॥ उदा०—पूर्त्ताः पिण्डाः, पुपूर्षति, मुमूर्षति ॥

भाषार्थः—[त्रोष्ठचपूर्वस्य] ओष्ट्य वर्ण पूर्व में है जिस ऋकार से से तदन्त घातु को [उत्] उकारादेश होता है।। पृ घातु के ऋकार से पूर्व प् ओष्ट्य वर्ण है, इसी प्रकार मृङ् में भी सन् के इको मृछ् (शिश्ट) से कित् होने से गुण नहीं होता, तत्पश्चात् अष्मनगमां सिन (शिश्र हे) से दीर्घ 'मृ' होने पर इस सूत्र से उत्तव रपरत्व होकर मुर् स, उद्दाश के कार्य परि० १।१।५७ में प्रद्शित चिकीर्षकः के समान जानें। न ध्याख्या पृ० (८।२।५७) से निष्ठा के नत्व का निषेध होकर शिक्षामें पूर्ताः बनेगा।।

यहाँ से 'उत्' की अनुवृत्ति ७।१।१०३ तक जायेगी॥

बहुलं छन्दसि ॥७।१।१०३॥

बहुलम् १।१॥ इन्द्सि ७।१॥ अनु०—उत् , ऋतः धातोः, अङ्गस्य ॥ अर्थः अन्दिस विषये ऋकारान्तस्य धातोरङ्गस्य बहुलम् उकारादेशो भवित ॥ उदा० ओव्ह्यपूर्वस्योत्यक्तमनोष्ट्यपूर्वस्यापि भवित—मित्रावरुणौ बहुति। दूरे ह्यथ्वा जगुरिः । ओष्ट्यपूर्वस्यापि न भवित—पित्रतमम् । बिन्तमम् । कचिद् भवित च—पपुरिः ॥

माषार्थः—[छन्दिस] वेद विषय में ऋकारान्त धातु के अङ्ग को विद्वलिम्] बहुल करके उकारादेश होता है।। बहुल प्रहण से ओष्ट्यपूर्व बोक्का था, अनोष्ट्यपूर्व तू गू के ऋ को भी उत्त्व होता है, तथा विद्विभाग १ परि० ३।२।१०१ में देखें। पूसे इसी प्रकार पपुरिः

[भी पा वनेगा। पृ घातु से ही 'कि' प्रत्यय तथा द्वित्वादि इसी प्रकार करें कि रहा। अभ्यास कार्य उरद्त्व (७।४१६६) करके प पृ इ रहा। देश करके पप्रि प्रातिपदिक बना । तमप् प्रत्यय करके पिक्रक व व से विवितसम् बन गया । यहाँ वहुळ कहने से पूर्व सूत्र से प्राप पर भी उत्तव नहीं हुआ ।।

इति प्रथमः पादः

त Y

-:0:-

द्वितीयः पादः

[वृद्धिप्रकरणम्]

सिचि बृद्धिः परस्येपदेषु ॥७।२।१॥

सिचि ७।१॥ वृद्धिः १।१॥ परस्मैपदेषु ७।३॥ अवु०-गु अर्थः—परस्मैपदेषु परेषु सिचि परत इगन्तस्याङ्गस्य वृद्धि अपावीत्, अक्र उदा०—अचैषीत्, अनैषीत्, अलावीत्, अहार्षीत् ॥

भाषार्थः—[परस्मैपदेषु] परस्मैपद के प्रत्यय परे हैं जिले [सिचि] सिच् के परे रहते इगन्त अङ्ग को [वृद्धिः] वृद्धिः। गुण विक के विकास गुण वृद्धि के विधान स्थल में इको गुणवृद्धी (१।१।३) परिभाषी । उपस्थिति होने से — हैं उपस्थिति होने से यहाँ 'इगन्त अङ्ग' ऐसा अर्थ किया गया है। सिद्धियाँ परि० १।१।१ में देखें।।

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ७।२।७ तक जायेगी॥

अतो ल्रान्तस्य ॥७।२।२॥

॰अतः ६।१॥ ऴ लुप्तषष्ट्यन्तनिर्देशः॥ अन्तस्य ६।१॥ मः रश्च लूम्, तस्य : समाहारो ट्रन्ट्रः ॥ अन्तस्य धारा ।

[क्षेत्रादः]

जिस है

1 21

11

Ho.

Ple

का अक्रस्य।। अर्थ: - अतो इन्तौ = अकारसमीपो यो रेफलकारी तदन्त-वाहरण अत एव स्थाने वृद्धिर्भवति परस्मैपद्परे सिचि परतः ॥ समीप-अन् वन्तोऽयमन्त्रशब्दः ।। उदा०—छान्तस्य—व्वल—अन्वालीत्, हाल— प्रम अह्माळीत् । रेफान्तस्य — क्षर — अक्षारीत् । त्सर — अत्सारीत् ॥

भाषार्थः - अकार के [अन्तस्य] समीप जो [लू] रेफ तथा छकार त्त्त अङ्ग के [अतः] अकार के स्थान में ही वृद्धि होती है, परस्मैपद-पक सिच् परे हो तो ।। अन्त शब्द यहाँ समीपवाची लिया गया है, अतः सन्निकट होने से समीपस्थ अकार ही लिया जाएगा।। ज्वल् चर् आदि में ल्तथा रेफ के समीप 'अ' है ही, अतः उसको वृद्धि हो गई है।। अतो हलादेलिघोः (७।२।७) से छघु अकार को विकल्प से वृद्धि गप्त थी, तद्पवाद है ।। सिद्धियाँ पूर्ववत् जाने ।।

वदवजहलन्तस्याचः ॥७।२।३॥

वदव्रजह्लन्तस्य ६।१।। अचः ६।१।। स०—हल् अन्ते यस्य स हुनाः, बहुन्नीहिः । वद्श्च व्रजश्च हल्न्तश्च वद्व्रजहल्न्तम् तस्यः समाहारो द्वन्द्वः ।। श्रनु०—सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु, अङ्गस्य ।। अर्थः— न्त्र वर वर इत्येतयोः हुछन्तानां चाङ्गानामचः स्थाने वृद्धिर्भवति, परस्मैपद-कि परे सिचि परतः।। उदा०—अवादीत्, अन्राजीत्। इलन्तानाम्— अपक्षीत्, अभैत्सीत्, अच्छैत्सीत्, अरौत्सीत्।।

भाषार्थः — [वदत्रजहलन्तस्य] वद व्रज तथा हलन्त अङ्गों के [अचः] अच् के स्थान में वृद्धि होती है, परस्मैपद्परक सिच् परे हो तो॥ हिंदी मिनि वृद्धिः (७।२।१) से इगन्त अङ्ग को वृद्धि प्राप्त थी, अनिगन्तार्थ स सूत्र का आरम्भ है। वद् व्रज धातुएँ हलन्त हैं ही, पुनः इनका यक् महण अतो हलादेलंघोः (७१२।७) से प्राप्त विकल्प के बाधन के हिं है। अमैरतीत् आदि की सिद्धि परि० ३।१।५७ में देखें। डुंपचष् पाके से अपाक्षीत् चो: कु: (८।२।३०) से छुत्व होकर बनेगा।।

यहाँ से 'हलन्तस्य' की अनुवृत्ति ७।२।४ तक जायेगी।।

नेटि ॥७।२।४॥

न अ०॥ इटि ७।१॥ अनु०—हलन्तस्य, सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु,

अङ्गस्य ।। अर्थः—इडादौ सिचि परस्मैपदेषु परतो हलन्तसाङ्गा है भवति ।। उदा०—दिवु-अदेवीत्। सिवु-असेवीत्। इप-असेवीत्। सुप-असेवीत्। सुप-असेवीत्।

माषार्थ:—परसीपद परे है जिससे ऐसे [इटि] इडादि मि क रहते हलन्त अङ्ग को वृद्धि [न] नहीं होती।। इस प्रकार की विस् सिच् परे हलन्त अङ्ग को पूर्व सूत्र से वृद्धि होगी, क्योंकि इबिंदि परे रहते प्रकृत सूत्र से निषेध कहा है। पूर्व सूत्र से जो कि थी उसका यहाँ प्रतिषेध हो गया।। सिद्धियाँ पूर्ववत् अवतं समान ही जानें।।

यहाँ से 'नेटि' की अनुवृत्ति ७।२।७ तक जायेगी॥

स्रचन्तक्षणश्वसजागृणिक्च्येदिताम् ॥७१।५॥

ह्मचन्तः ''दिताम् ६।३॥ स० — ह् च म् च य् च ह्मयः, हिं यस्य स ह्मचन्तः, द्वन्द्वगर्भबहुत्रीहिः। एकार इत् यस्य स ह्मचन्तः, द्वन्द्वगर्भबहुत्रीहिः। एकार इत् यस्य स ह्मचन्तः ह्मचन्तः श्वर्णश्च श्वर्णश्च श्वर्णश्च श्वर्णश्च श्वर्णश्च श्वर्णश्च श्वर्णश्च श्वर्णः च णित्र श्वर्णः ह्मचन्तः ''दितस्तेषाम् '''' इतरेतरद्वन्द्वः॥ श्वर्णः — हकारान्तानां मकारान्तानां स्वर्णः अङ्गस्य॥ अर्थः — हकारान्तानां मकारान्तानां श्वर्णः मकारान्तानां श्वर्णः मकारान्तानां श्वर्णः स्वर्णः विद्वर्णः स्वर्णः विद्वर्णः स्वर्णः विद्वर्णः स्वर्णः स्वर्णः विद्वर्णः स्वर्णः स्वर्यः स्वर्णः स्वर्यः स्वर्यः स्वर्णः स्वर्यः स्वर्णः स्वर्णः स्वर्णः स्वर्णः स्वर्ण

भाषार्थः—[स्रयन्तः 'दिताम्] हकारान्त, मकारान्त तथा कि अङ्गों को एवम् क्षण, श्वस, जागृ, णि, श्वि तथा एदित् अर्धि परस्मैपद्परक इडादि सिच् परे रहते वृद्धि नहीं होती। मकारान्त तथा यकारान्त एवम् क्षण् श्वस् तथा एदित् अङ्गों मकारान्त तथा यकारान्त एवम् क्षण् श्वस् तथा एदित् अङ्गों हलादेर्लघोः (७।२।७) से विकल्प से वृद्धि प्राप्त थी, तिषेष् हे, एवं जागृ णि तथा श्वि को सिचि वृद्धिः (७।२।१) से प्राप्त थी प्रतिषेध कर दिया ॥ णि से यहाँ णिजन्त धार्षु का प्राप्त थी प्रतिषेध कर दिया ॥ णि से यहाँ णिजन्त धार्षु का

लवेन

स

主

前河

i a f

[File

निर्वा

अविध

H-F

T

1 8

南

व इ

FAR

REAL

कि है। अखबीत की सिद्धि परि० ३।१।४६ में देखें। ऊन णिजन्त धातु के से औनगीत, एवं इल णिजन्त से ऐलगीत् की सिद्धि सूत्र ३।१।५१ में रेखें।। यहाँ णिरिव प्रहण ज्ञापक है कि परत्व से प्राप्त गुण, वृद्धि कि का बाधक होता है अन्यथा णि रिव को वृद्धि प्राप्त ही नहीं थी, पुनः अने जनका ग्रहण व्यर्थ होता क्योंकि गुण करके एकारान्त होने से वृद्धि की प्राप्ति ही अनिगन्त होने से नहीं होती एवं अयादेश करने पर भी शिव यान्त मानकर ही प्रकृत सूत्र से निषेध हो जाता ।।

ऊर्णोतेर्विभाषा ॥७।२।६॥

कर्णोतेः ६।१।। विभाषा १।१।। श्रनुः—नेटि, सिचि वृद्धिः परस्मै-पदेषु, अङ्गस्य ।। अर्थ: - ऊर्णुञ् धातोरिडादौ सिचि परस्मैपदपरे पतो विभाषा वृद्धिन भवति ।। उदा० — प्रौर्णावीत् , प्रौर्णवीत् ।।

भाषार्थः—[ऊर्गाते:] ऊर्णुञ् धातु को परस्मैपद्परक इडादि सिच् परे रहते [विभाषा] विकल्प से वृद्धि नहीं होती ।। सिचि वृद्धिः० से नित्य वृद्धि प्राप्त थी विकल्पार्थ यह वचन है। विमाषीणीं: (१।२।३) से निस पक्ष में ङित्वत् नहीं होता उस पक्ष में ही यहाँ वृद्धि विकल्प से होगी क्योंकि डित् पक्ष में किडित च से वृद्धि निषेध का होगा। जब पक्ष में वृद्धि नहीं होगी तो ऊर्णु के णु के उ को गुण अवादेश होकर प्रौण-बीत् बनेगा।। ऊर्गु के 'उ' एवं 'आट्' को आटश्च (६।१।८७) से रृद्धि एकादेश होकर औणवीत् बना, एवं प्र उपसर्ग के साथ वृद्धिरेचि (क्षशाद्य) से वृद्धि एकादेश होकर प्रौर्णवीत् आदि बन गया।।

यहाँ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति ७।२।७ तक जायेगी।।

अतो हलादेर्लघोः ॥७।२।७॥

अतः ६।१॥ इछादेः ६।१॥ छघोः ६।१॥ स०—हरू आदिर्यस्य स 1 35 हिलादिसास्य वहुत्रीहि: ।। श्रनु - विभाषा, नेटि, सिचि वृद्धिः पासिपदेषु, अङ्गस्य ॥ श्रर्थः—हलादेरङ्गस्य लघोरकारस्य इडादी सिंचि परसीपदेषु परतो विभाषा वृद्धिन भवति ॥ उदा० — अकणीत्, अकाणीत्। अरणीत्, अराणीत्।।

भाषार्थः—[हलादेः] हलादि अङ्ग के [लघोः] लघु [श्रतः] अकार

को परस्मैपद्परक इंडादि सिच् के परे रहते विकल्प से वृद्धि है। अर्थात् विकल्प से होती है।। नेटि (७१२४) से प्रतिपेष प्र विकल्प से विधान कर दिया।। सिद्धियाँ पूर्ववत् हैं॥

[इट्निषेधप्रकैरणम्]

व

दि न

नेड्विञ्च कृति ॥७।२।८॥

न अ॰ ।। इट् १।१।। विशे ७।१।। कृति ७।१।। अर्थ:—कार्तः प्रत्यये परत इडागमो न भवति ।। उदा॰—ईश्—ईश्वरः। तेष्-रं रुस्— भस्म । याच्—याच्या ।।

भाषार्थः—[वशि] वशादि [क्टित] कृत् प्रत्यय परे किं हिंदि का आगम [न] नहीं होता ।। आर्धधातुक्तस्ये० (७२१३) है आगम प्राप्त था निषेध कह दिया । यह इट् निषेध प्रकरण करियेड्० का पुरस्ताद्पवाद अर्थात् विधान से पूर्व ही अपका ईश्वरः यहाँ स्थेशभास० (३।२।१७५) से वशादि वरच् कृत् प्रत्य है । दीप्रः में निमक्मिप० (३।२।१६७) से वशादि 'र' प्रत्यय है । सम्म यहाँ अन्येभ्योऽपि० (३।२।७५) से मनिन् प्रत्य है । सम्म चन् नपुंसकिछङ्ग में सस्म बना । याच्या में यज्यावि० (३।२।७५) से निक् प्रत्यय हुआ है ।।

यहाँ से 'नेट्' की अनुवृत्ति ७।२।३४ तक तथा 'कृति' की तक जायेगी।।

तितुत्रतथसिसुसरकसेषु च ॥७।२।९॥

पादः] '

ग्राही :

पवार

की ।

de

H. 河門

間 T:11

भाषार्थ:--[तितु ' सेषु] ति, तु, त्र, त, थ, सि, सु, सर, क, स इन क्र संज्ञक प्रत्ययों के परे रहते [च] भी इट् आगम नहीं होता ॥ पूर्व-भा पर्वा वाता । पूर्व-वत् श्रार्षवातु० (७)२।३५) से सर्वत्र इट् आगम प्राप्त था, प्रतिबेध कर हिया। ति, तु, त्र आदि प्रत्यय वशादि नहीं हैं. अतः पूर्व सूत्र से निषेध नहीं हो सकता था, सो पृथक् प्रतिषेध कर दिया ॥ 'ति' से किच् क्तिन होनों का ही सामान्य रूप से यहाँ ग्रहण होता है ॥

एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् ॥७।२।१०॥

एकाचः ५११॥ उपदेशे ७११॥ अनुदात्तात् ५११॥ स०-एकोऽच् विसन् स एकाच् , तस्मात् ' ' 'बहुब्रीहिः । न विद्यते उदात्तो यस्मित्र हो स अनुदात्तस्तस्मात् ... बहुजीहिः ॥ श्रनु ० — नेट् ॥ अर्थः — उपदेशे यो गतुरेकाच् अनुदान्तस्य तस्माद् इडागमो न भवति॥ उदा०—दाता, क्री नेता, चेता, स्तोता, कर्त्ता, हर्त्ता ।।

माषार्थः—[उपदेशे] उपदेश में जो धातु [एकाचः] एक अच्वाले प्रमा वया [अनुदात्तात्] अनुदात्त उनसे उत्तर इट् का आगम नहीं होता।। हुइ फ़िब्त इडागम प्राप्त था।। डुदाञ् जीञ् आदि धातु उपदेश में एकाच् एवं अनुदात्त हैं।। इस सूत्र के व्यवस्थानुसार अनिट् (जिनसे इट् नहीं होता) धातुयें कितनी हैं यह आख्यातिक एवं काशिका में कारिका रूप में पढ़ दिया है।।

श्युकः किति ॥७।२।११॥

श्युकः ६।१॥ किति ७।१॥ स०—श्रिश्च डक् च श्र्युक् तस्य " "समाहारद्वन्द्वः ॥ अनु - नेट् , अङ्गस्य ॥ त्रर्थः - श्रि इत्येतस्य आन्तानां च किति प्रत्यये परतो इडागमो न अवति ॥ उदा०—श्रित्वा, श्रितः, श्रितवान् । उगन्तानाम् युत्वा, युतः, युतवान् । लूत्वा, लूतः, ब्तवान् । वृत्वा, वृत्तः, वृतवान् । तीर्त्वां, तीर्णंः, तीर्णवान् ॥

म्पार्थः—[श्युकः] श्रि तथा उगन्त धातुओं को [किति] कित् भित्य परे रहते इट् आगम नहीं होता ।। लूनः में ल्वादिभ्यः (८।२।४४) से, तथा तीर्णः में रदाभ्यां निष्ठातो० (८।२।४२) से निष्ठा के त को न हुआ है।। तीण: की सिद्धि ७।१।१०० सूत्र पर देखें। तदाहरणों में यु, ष्, वृ आदि घातुर्ये उक् (प्रत्याहार) अन्त वाली हैं ही ॥

ि पादः इस प्रकरण में जहाँ २ पुत्रों में धातुओं का निर्देश पश्चेते (७१२ है, वहाँ २ पद्धम्यर्थ में षष्टी समझें। इससे इट् का आगम का होकर तस्मादित्युत्तरस्य (१।१।६६) के नियम से प्रत्यय को होगा।

यहाँ से 'उकः' की अनुवृत्ति ७।२।१२ तक जायेगी॥

सनि ग्रहगुहोश्च ॥७।२।१२॥

था, कु स्

ही इ

हैं, उ विभि

बहुव्री

उन १ ग्रनः

मर्थ

भव

हेंद्वा

मुद्ध द्वा

सनि ७।१।। प्रह्मुहोः ६।२।। च अ०।। स०-प्रह० इत्रे द्दन्द्र: ।। अनु०-- उकः, नेट्, अङ्गस्य ।। श्रर्थः-- प्रह गुह् हो र्गन्तानां च सनि प्रत्यये परत इडागमो न भवति ॥ उदा०-जि जुघुक्षति । उगन्तानाम् — रुह्रपति, लुलूपति ।।

नेट् भाषार्थः-[महगुहोः] मह गुह [च] तथा उगन्त अङ्ग के ि भवि सन् प्रत्यय परे रहते इट् आगम नहीं होता।। परि १० जिच्छक्षति की सिद्धि देखें, तदूत् जुचुक्षति की भी समझें। रहा रुरूषित की सिद्धि परि० १।२।६ में प्रदर्शित चिचीषित के समान लू में लुलूपित में कुछ भी विशेष नहीं है।।

ऋसुमृरुस्तुद्वसुश्रुवो लिटि ॥७।२।१३॥

कु**एः '**श्रुवः ६।१॥ छिटि ७।१॥ स०—कुस्० इत्यत्र स्र (८)२ द्वन्द्रः ॥ अनु० — नेट्, अङ्गस्य ॥ अर्थः — क, स, य, व, स्री क्रि इत्येतेषामङ्गानां लिटि प्रत्यये परत इड।गमो न भवति ॥ सिंह स्त नियमार्थः—काद्य एव लिट्यनिटस्ततोऽन्ये सेट् इति॥ ज्यानी चक्रव, चक्रम । सु—सस्व, सस्म । भृ—बभ्व, बभूम । वर्ष । वृङ्—वर्षवहे, वर्षि । स्तु—तुष्ट्व, तुष्ट्रम । दुद्रमा सु—सुस्व, सुस्नम । श्र—शुश्रव, शुश्रम ॥

भाषार्थः—[क्रसःशुवः] क, स, भू, व, ख, हु, ब अङ्गों को [लिटि] छिट् प्रत्यय परे रहते इट् आगम नहीं हैं। यहाँ वृङ् वृञ् दोनों का ही प्रहण है।।

धृङ् वृञ् को छोड़कर कु सृ आदि सभी धातुओं को कि २।१०) से इट किरे (७।२।१०) से इट् निषेध प्राप्त है, तथा वृङ् वृञ् को भी भी

[िषदः]

京

जिल

व् 7

111

कि (जरा११) से कित् प्रत्यय परे (असंयोगा ह्विट् कित् १।२।५ से लिट प्राप्त कित् है) इट् निषेध होता है, सो इन्हें इट् निषेध प्राप्त ॥ ॥, पुनः सिद्ध होने पर भी इस सूत्र का विधान नियमार्थ है, अर्थात— कृ मु आदि धातुओं से ही लिट् परे रहते इट्न हो इनसे भिन्न अन्यों से है इट् हो यह नियम ज्ञापित हुआ, सो भिद् इत्यादि जो धातुयें अनिट् हैं उनको लिट परे रहते इट् आगम इस नियम से हो जायेगा विभिद्वं, बिभिद्मि ।।

श्वीदितो निष्ठायाम् ॥७।२।१४॥

श्रीदितः ६।१।। निष्ठायाम् ७।१।। स०—ईत् इत् यस्य स ईदित्, बहुव्रीहिः। श्रिश्च ईदिच श्रीदित्, तस्य " समाहारद्वन्द्वः॥ श्रुतुः — के वित्रं, अङ्गस्य ।। श्रर्थः-श्यि इत्येतस्य ईदितश्च निष्टायाम् इडागमो न ११। यवित ।। उदा० -- शूनः, शूनवान् । ईदितः -- ओळस्जी -- छग्नः, हिं अनवान् । ओविजी—उद्विमः, उद्विग्नवान् । दीपी—दीप्तः, दीप्तवान् ॥

ात स्त्री माषार्थ:-[श्वीदित:] दुओश्वि तथा ईकार इत् गया है जिनका ज घातुओं को [निष्ठायाम्] निष्ठा परे रहते इट् आगम नहीं होता।। यतः यत्वान् की सिद्धि सूत्र ६।१।१५ में देखें। लग्नः उद्दिग्नः आदि में श्रोदितश्च (८।२।४५) से निष्ठा को नत्व हुआ है। पूर्वत्रासिद्धम् हा (दिश्र) से लग्नः आदि के निष्टा का नत्व चोः कुः (८।२।३०) की दृष्टि में असिद्ध होकर ज्को ग्होता है। लग्नः में लस्ज्के स्कांस्कीः क्ष संगी० (टारा२९) से छोप होता है ।। 70-1

यहाँ से 'निष्ठायाम्' की अनुवृत्ति ७।२।३४ तक जायेगी ॥

यस्य विभाषा ॥७।२।१५॥

यस्य ६।१।। विभाषा १।१।। अनु०—निष्टायाम्, नेटि, अङ्गस्य ॥ अर्थः पाता विभाषा १।१।। अनु - निष्ठायाम्, पार्वे इडागमो न भवित्रो धातोर्विभाषा कचिदिङ्कास्तस्य निष्ठायां परत इडागमो न भवति ॥ उद्ग०—स्वरितसूर्वितसूर्यि (७)२।४४) इत्यनेन विकल्पेन हिंगाम उत्तरितसूतिसूर्याते (७१२।४४) इर्जान । क्रिक्तस्य निष्टायाम् इट् प्रतिषेधः—विधूतः, विधूतवान् । ्हिं विकास निष्ठायाम् इट् प्रतिषधः—। वयूतः, । रू भित्रिष्ठः, गृहवान् । उदितो वा (७।२।४६) इत्युक्तं तस्य निष्ठायां इटे भित्रोष: — वृद्धः, वृद्धवान् ॥

ि पादः भावार्थ:-[यस्य] जिस धातु को कहीं भी इट विधान कि विकल्प से किया गया है उसकी निष्टा के परे रहते हान उदाह होता ।। उदाहरणों में स्वरतिसृति वथा उदितो वा से इट् कहा है, अतः प्रकृत सूत्र से निष्ठा परे रहते इट् निपेष है। गृढः, गृढवान् की सिद्धि ६१९१९५ सूत्र में प्रदर्शित उहः उक्त समान जानें, केवल यहाँ सम्प्रसारण नहीं हो सकता यही कि वृधु से वृद्धः वृद्धवान् में निष्ठा के त को समस्तथों (वाराक्ष) एवं घातु के घू को कलां जरकाश (८।४।५२) से जरल होता है।

आदितश्च ॥७।२।१६॥

भुब्ध

निष्ठाः

ज्ञेयम्

निपार

तत्र ए

म्लष्ट

ग्रके अनार

अभार

अनार आदितः ६।१।। च अ०।। स० – आत् इत् यस्य स आहित निपार बहुव्रीहिः॥ श्रनुः—निष्टायाम्, नेटि, अङ्गस्य॥ अर्थः-नं धातोर्निष्टायामिडागमो न अवति ।। उदा०—विमिदा—मि वान् । ञिच्विदा-च्विणाः, क्ष्विणवान् । ञिष्विदा-सिन्नः, सिन्न

साषार्थः—[त्रादितः] आकार इत्संज्ञक है जिनका ऐसे पिष्ट को [च] भी निष्ठा परे रहते इट् आगम नहीं होता॥ सिंढिं १ परि० १।३।५ में देखें ।।

यहाँ से 'श्रादितः' की अनुवृत्ति ७१२।१७ तक जायेगी॥

विभाषा भावादिकर्मणोः ॥७।२।१७॥

विभाषा १।१।। भावादिकर्मणोः ७।२।। स०—भावश्च आर्गिन भावादिकमणी तयोः इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु० -आदितः नेटि, अङ्गस्य ॥ अर्थः — भावे आद्किर्मणि च आद्ति भाव निष्टायामिडागमो न भवति ॥ उदा०—भावे — मिन्नमतेन, आद्रिक्मणि—प्रमिन्नः, प्रमिन्नवान्, प्रमेदितः, प्रमेदितवान्॥

भाषार्थः—[भावादिकर्मशाः] भाव तथा आदिकर्म में स्थापः आकार इत् वाळी धातुओं को निष्ठा परे रहते [विभाष] हिन्स के साव तथा आदिका प्रे विभाषा हुट् आगम नहीं होता ।। मिन्नमनेन यहाँ नपुंसके भावे का से का प्रत्यय हुआ है। के से क प्रत्यय हुआ है। मेदितम् में निष्ठा शीङ् (११२११६) है। प्रितिम् में निष्ठा शीङ् (११२११६) प्रितिषेध होने पर गुण हो जाता है। प्रिमन्नः यहाँ आदि क्र करने के लिये प्र उपसर्ग लगाया है। प्रभिन्नः यहाँ आदि कर्मण कः (३)

[ि पदः]

विक

होत

उद्ध

(3)3/1

वहाँ कर्ता में क्त होता है।। आव में क्तत्रतु नहीं होता, अतः उसका उद्यहरण नहीं द्रशीया है।।

क्षुब्धस्वान्तव्वान्तलग्नम्लिष्टविरिव्धफाण्टवाढानि मन्थ-मनस्तमःसक्ताविस्पष्टस्वरानायासभृशेषु ॥७।२।१८॥

श्रुब्धः बाढानि ११३॥ मन्थः शेषु ७१३॥ स०—उभयोः स्योतिरोतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—िनष्टायाम्, नेटि, अङ्गस्य ॥ अर्थः— श्रुब्ध, स्वान्त, ध्वान्त, छग्न, न्छिष्ट, विरिद्ध, फाण्ट, बाढ इत्येते शब्दाः निष्ठायाम् परतो यथासङ्ख्यं मन्थ, मनः, तमः, सक्त, अविस्पष्ट, स्वर, अन्यसस, भृश इत्येतेष्वर्थेषु निपात्यन्ते ॥ अत्र इडागमाभावः सर्वत्र निपात्यते ॥ उदा०—क्षुद्धो मन्थः । अन्यत्र क्षुभितं भवति, एवं सवत्र विष्यान्तं मनः । ध्वान्तं तमः । छग्नं सक्तम्, निष्ठानत्वमिष्टि निपात्वाद्त्र भवति । निरुष्टमविस्पष्टम्, न्लेच्छ्रधातोरत्र न्छिष्टं व्युत्पाद्यते, वर्ष्कारस्य स्थाने इत्वमिष निपातनाद् भवति । विरिद्धः स्वरः, अत्रापि स्वातुस्तस्य इत्वं निपात्यते । फाण्टम् अनायासः । बाढम् भृशम् ॥

भाषार्थः— [चुन्धः '' 'वाढानि] क्षुन्ध, स्वान्त, ध्वान्त, छगन, ज्यहे, विरिन्ध, फाण्ट, बाढ ये शन्द निष्ठा परे रहते यथासङ्ख्य अर्क [मन्थः फाण्ट, बाढ ये शन्द निष्ठा परे रहते यथासङ्ख्य अर्क [मन्थः फाण्ट, बाढ ये शन्द निष्ठा परे रहते यथासङ्ख्य अर्क [मन्थः 'रोषु] मन्थ, मनस्, तमस्, सक्त, अविरपष्ट, स्वर, अनायास, भृश इन अर्थों में निपातन किये जाते हैं ।। इट् आगम का अन्त सं किष्ठः एवं रेभृ से विरिन्धः यहाँ एकार के स्थान में इकार कि किष्ठः एवं रेभृ से विरिन्धः यहाँ एकार के स्थान में इकार विश्व को धत्व तथा जरत्व ७।२।१५ सूत्र में कहे वृद्धः के अनुसार अर्वे। स्वन से स्वान्त, ध्वन से ध्वान्त, तथा फण् से फाण्ट में अनुनासिन्यः (ह।४।१५) से दीर्घ एवं ८।४।४० से उद्धा मी हो जायेगा। विश्व प्रयत्ने से बाढम् की सिद्धि ७।२।१५ में प्रदर्शित गूढ के समान जने ।। विश्व पुले हुये सत्तू को, एवं फाण्टम् गरम पानी में चूर्ण डालकर के का का स्वान्त को कहते हैं।।

धृषिश्वासी वैयात्ये ॥ ७११ १९॥ वैयात्ये ७।१॥ सः धृषि इत्यत्रेतरेत्रद्वन्द्वः॥

ि पाद विरूपं यातं (गमनं) यस्य स वियातः = अविनीत इत्यर्थः, निगक्त वैयात्यम्।। अनु - निष्ठायाम् , नेटि, अङ्गस्य।। वर्षः इत्येती धातू निष्टायाम् परतो वैयात्येऽविनयेऽर्थेऽितरी .उदा० - धृष्टोऽयम् । विशस्तोऽयम् ॥

भाषार्थ:-[धृषिशसी] व्यिष्ट्रपा प्रागलभ्ये, तथा शसु हिसार निष्ठा परे रहते [वैयात्ये] अविनीतता गम्यमान होने पार्श्व हैं, अर्थात् इट् आगम नहीं होता ।। भृष् त = दुल होत (ढीठ) बना।।

दृढः स्थूलवलयोः ॥७।२।२०॥

स्वा

सम

निप

त्रनु

क्षे

व्या

निष

कष्टा

400

विस

निष्ठ

विज्

अवि के प्र

जिस

EU.

वयह

न्य

बदा

े हृद्धः १।१॥ स्थूलबलयोः ७।२॥ मः—स्थूलः इत्येत्रोतः श्रनु - निष्ठायाम् , नेटि, अङ्गस्य ।। अर्थः — दृढ इति निष्ठां निपारयते स्थूले बलवित चार्थे । दृहेः क्तप्रत्यये इडभावः, हव योर्जोपः, निष्ठातकारस्य च ढत्वं निपात्यते ॥ उदा० - दृढः शृ बळवान् ॥

माषार्थः—[इढः] इढ शब्द निष्टा परे रहते [स्थूलवलको तथा बलवान् अर्थ में निपातन किया जाता है।। हंहि घातुकी ह परे रहते इट् आगम का अभाव तथा होहि के हकार तथा नकार की निष्टा के त को ढ यहाँ निपातन से होता है। दह से हह भी नकार छोप छोड़कर ये ही सब कार्य निपातित हैं, सो हर बन सकता है।।

प्रभौ परिवृद्धः ॥७।२।२१॥

प्रभौ ७।१॥ परिवृद्धः १।१॥ अनु०—तिष्ठायाम्, तेरि, अर्थ:—परिवृद्ध इति निपात्यते निष्टायां प्रभुर्वेत्रवि परिपूर्वात् वृहेः क्तप्रत्यये इडभावः, हकारनकारयोर्वेषः, च ढत्वं निपात्यते ॥ उदा०—परिवृढः कुदुम्बी ॥

१. निष्ठा को घत्व ब्दुत्व तथा हो हे लोपः (दारे।१३) हे हैं है हर्ढं: बन ही ज़ाता, पुनः निपातन पूर्वत्रासिद्धम् (नारार्श) हर्मालये है जिसका को इसलिये है, जिसका प्रयोजन द्वितीयावृत्ति में समक्त में म्रायेगा ॥

साक और

नहान

स्थूड

लयो

हो है। र्वा

g: F

ह से

fall

भाषार्थ:-[परिवृद:] परिवृद शब्द निष्ठा परे रहते [प्रभौ] प्रभु = वामी अर्थ को कहने में निपातन किया जाता है।। पूर्ववत् हुढ़ के समान ही यहाँ वृहि वृद्धौ, अथवा वृह धातु से इडागमाभावादि कार्य निपातन से जानें।।

कुच्छगहनयोः कषः ॥७।२।२२॥

कुच्छ्गहनयोः ७।२।। कषः ५।१॥ स० — कुच्छ् इत्यत्रेत्ररेत्रदृन्दः॥ श्रु :- निष्ठायाम् , नेट् , अङ्गस्य ।। अर्थः - कुच्छ्रे गहन इत्येतयोर्थयोः भवति ॥ उदा० - कष्टोऽग्निः, कष्टं क्षेर्घातीर्निष्टायामिडागमो त व्याकरणम्, कष्टतराणि सामानि । गहने-कष्टानि वनानि, कष्टाः पर्वताः ।।

माषार्थ: [क्रच्छ्रगहनयोः] क्रच्छ (दुःख) तथा गहन (गभीर) अर्थ में [काः] कष हिंसायाम् धातु से निष्ठा परे रहते इट् आगम नहीं होता।। ष्टम् में पूर्ववत् ष्टुत्व जानें। कष्टोऽग्निः का अर्थ है यज्ञ में अग्नि चयन 朝 कृष्टकर है। इसी प्रकार कष्टं व्याकरणम् आदि में जाने।।

घुषिरविश्चब्दने ॥७।२।२३॥

घुषिः १।१।। अविशब्दने ७।१।। स०—न विशब्दनमविशब्दनं विस्तिन निव्ततपुरुषः ॥ अनु - निष्ठायाम् , नेट् , अङ्गस्य ॥ अर्थः -घुषिर्घातुरविशब्दनेऽर्थेऽनिट् भवति ॥ उदा०—घुष्टा ल्जुः, घुष्टौ पादौ ॥

मावार्थ: निष्ठा परे रहते [घुषिः] घुषिर् धातु [अविशब्दने] अविश्वाच्द्रन अर्थ में अनिट् होती है ।। विश्वाच्द्रन शब्दों द्वारा अपने भावों के प्रकाशन को कहते हैं, सो अप्रकाशन अविशब्दन है। घुष्टा रब्जु:= जिसकी छड़ें घुटकर एकाकार सी हो गई हैं। घुष्टौ पादौ = रगड़ कर घोए

अदेः सन्निविभ्यः ॥७।२।२४॥

FEE अहैं: ६११॥ सिन्निविभयः ५१३॥ स०—सम् च निश्च विश्व संनि-क्यतीर्थः इतरेतरद्दन्द्वः ॥ अनुः—निष्ठायाम् , नेट् , अङ्गस्य ॥ भर्षः इतरेतरद्दन्द्वः ॥ अनुः—निष्ठायाम् , नद् , जन ह्याः सम्, नि, वि इत्येतेभ्य उत्तरस्यादेनिष्ठायामिडागमो न भवित् ॥ भाषार्थः , न्यर्णः , व्यर्णः ॥

भाषार्थः—[सन्निविभ्यः] सम्, नि तथा वि उपसर्ग से उत्तर [अदैः]

अर्द धातु को निष्ठा परे रहते इट् आगम नहीं होता। हिं (८।२।४२) से निष्ठा तकार एवं पूर्व दकार को नत्व तथा रणायां (४ से णत्व, धुना० (८।४।४०) से पर नकार को णकार होकर कि ण रहा। हलो यमां यिन० (८।४।६३) से पूर्व णकार का ले। समर्ण: आदि प्रयोग वन गये।।

यहाँ से 'अर्देः' की अनुवृत्ति ७।२।२५ तक जायेगी॥

अभेक्चाविद्र्ये ॥७।२।२५॥

अनु

स्पश् निष्टा

इप्त

निपा

वस्तुत

बत इस्व

में प्रम

स्पश

वप्र

का व

असेः ५११॥ च अ०॥ आविद्र्ये ७११॥ स०—विशेषेण दृति श्रीमा न विदूरमविदूरम्, नञ्ततपुरुषः, तस्य भाव आविद्र्यम्, हा बाह्यसा० (५१११२३) इत्यनेन ष्यञ्प्रत्ययः॥ अनु०—अदें, विद् नेट्, अङ्गस्य ॥ अर्थः — अभिशब्दादुत्तरस्यार्देराविदूर्येऽथे निष्ठा गमो न भवति ॥ उद्रा०—अभ्यर्णा सेना, अभ्यर्णा शरत्॥

भाषार्थः—[श्रमेः] अभि उपसर्ग से उत्तर [च] भी [क्री आविदूर्य = अविप्रकृष्ट (सन्निकट) अर्थ में अर्द धातु से निष्ठार्थ इट् आगम नहीं होता । सिद्धि पूर्वसूत्रानुसार जानें॥

णेरध्ययने वृत्तम् ॥ ७।२।२६॥

णे: ६।१॥ अध्ययने ७।१॥ वृत्तम् १।१॥ अनु०—ितृश्याम् अङ्गस्य॥ अधीयते इत्यध्ययनम् , कृत्यल्युटो० (३।३।११३) कर्मणि ल्युट् ॥ अर्थः—िनष्टायां परतो ण्यन्तात् वृतेः वृत्तिमिति णिलुक् च निपात्यते अध्ययने गम्यमाने ॥ उद्ग०-वृत्ते देवदत्तेन, वृत्तं पारायणं देवदत्तेन ॥

भाषार्थः—[श्रध्ययने] अध्ययन को कहने में निष्ठा के विश्व कि एक वृति धातु से [वृत्तम्] वृत्त शब्द निपातन है है ।। इट् का अभाव तथा णिलुक् निपातन से होता है। कि से न लुमताङ्गस्य (१।१।६२) से प्रत्ययछक्षण कार्य का है, अतः णि को मान कर यहाँ गुण भी नहीं होता।। वृत्ती कि यहाँ गुण नाम ऋम पाठ का है जिसमें पद और संहिता कि पाठ होता है।।

[भ वादः]

E 0 (4

होग

विशे

यहाँ से 'ग्रो:' की अनुवृत्ति ७।२।२७ तक जायेगी।।

वा दान्तशान्तपूर्णदस्तस्पष्टच्छन्नज्ञप्ताः ॥७।२।२७॥

H वा अ० ॥ दान्त : 'इप्ताः १।३॥ स० — दान्त० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ ब्रुं - जे:, निष्ठायाम् , नेट् , अङ्गस्य ॥ अर्थः - दम् , शम् , पूरी, दस् सत्, ब्रद्, इप् इत्येतेषां ण्यन्तानां धातूनां विकल्पेनानिट्त्वं णिलुक्च निष्ठायां परतो निपात्यते, तेन पक्षे दान्त, शान्त, पूर्ण, दस्त, स्पष्ट, अन्न, इप इत्येते प्रयोगाः सिद्धःचन्ति ॥ उदा०—दान्तः, दुमितः । शान्तः, वृह्मि शमितः। पूर्णः, पूरितः। दस्तः, दासितः,। स्पष्टः, स्पाशितः। स्रुनः, ्रै बादितः। ज्ञप्तः, ज्ञपितः।।

माषार्थः - दम् , राम् , पूरी, दस् स्पर् , छद् तथा ज्ञप् इन ण्यन्त निक मार्च मातुओं को [वा] विकल्प से अनिट्रव तथा णि का लुक् निपातन से होकर पक्ष में [दान्त ज़प्ताः] दान्त, शान्त, पूर्ण, दस्त, स्पष्ट, छन्न, क्रिय प्रयोग बनते हैं।। शान्त दान्त यहाँ णिलुक तथा इट् का प्रतिषेध निपातन से कर लेने पर अनुनासिकस्य० (६।४।१५) से दीर्घ होता है। मतुतः शम् दम् की जिनजृष्वनसु० (घातुपाठ) से मित् संज्ञा होने से का उपघायाः (७।२।११६) से हुई वृद्धि को मितां हस्तः (६।४।६२) से हान हो जाता है, अतः ६।४।१५ से दीर्घ करने की आवश्यकता होती के दिमितः शिमतः में इसी प्रकार हस्व हो गया है।। पूरी आप्यायने में पूर्णः में निष्ठा को नत्व (८।२।४२) हुआ है।। दसु से दस्तः, (3) मा से स्पष्टः, इद से छन्नः में तथा ज्ञप (चुरादि) से ज्ञप्तः में जो 而何 अपा को वृद्धि हुई थी, उसे निपातन से हुस्व भी हो जाता है।। ज्ञाप भ प्रहण यहाँ सनीवन्तर्धं (७।२।४६) से विकल्प से प्राप्त इडागम का जो यस्य विमाषा (७।२।१५) से नित्य इट् प्रतिषेध प्राप्त था, वहाँ भी विकल्प से इट् प्राप्त कराने के लिये है।। 和 न हैं

यहाँ से 'वा' की अनुवृत्ति ७।२।३० तक जायेगी।।

रुष्यमत्वरसंघुषास्वनाम् ॥७।२।२८॥

Tolk ! रुष्यः नाम् ६।३॥ त०—रुष्यः इत्यत्रेतरद्वन्द्वः ॥, अनुः न्वा, विधायाम्, नेट्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—रुषि, अम, त्वर, संघुष, आस्वन

ि पादः इत्येतेषामङ्गानां निष्ठायां परतो वा इडागमो न भवति॥ इत्यत्वानज्ञानाः सार्वे अभ्यान्तः, अभ्यमितः। त्वर-तूर्णः,ते अप्य संघुष—संघुष्टौ पादौ, संघुषितौ पादौ, संघुष्टं वाक्यमाह, देवदत्तः, आस्विततो हे वाक्यमाह । आस्वन-आस्वान्तो आस्वान्तं मनः, आस्वनितं मनः ॥

भाषार्थः - [रुष्यः नाम्] रुषि, अम्, त्वर, सम्पूर्वेक गु आङ्पूर्वक स्वन अङ्ग को निष्ठा परे रहते इट् आगम नहीं होंग धातु को तीषसहलुम० (७।२।४८) से विकल्प से इट् आगम प्रा पर निष्ठा परे रहते यस्य विभाषा (७१२।१५) से जो तिल है प्राप्त था, वहाँ विकल्प प्राप्त कराने के लिये यहाँ रूप का का निष्ठा अभ्यान्तः में अनुनासिकस्य० (६।४।१५) से दीर्घ, तथा मुके इ (८।३।२४) एवं अनुस्वार को परसवर्ण (८।४।५७) न होता है। की सिद्धि ६।४।२० सूत्र में देखें। यहाँ त्रादितश्च (७।२।१६) हे इट् प्रतिषेध प्राप्त था, विकल्पार्थ त्वर का प्रहण है॥

ह्षेलींमसु ॥७।२।२९॥

जार्य :

वेद वि

एकाच

हृषे: ६।१।। लोमसु ७।१।। अनुः—वा, निष्टायाम्, नेट् अनिय अर्थः — छोमसु वर्त्तमानस्य हृषेनिष्ठायाम् परतो वा इडागमो न उदा - हृष्टानि लोमानि, हृषितानि लोमानि। हृष्टं लोमिन लोमभिः । हृष्टाः केशाः, हृषिताः केशाः, हृष्टं केशैः, हृषितं केशैः

भाषार्थः—[लोमसु] होम विषय में [हृषे:] हृष घाउँ को वि रहते इट् आगम विकल्प से नहीं होता है।। हृष से यहाँ हुष अव तुष्टी दोनों का प्रहण है, सो धात्वर्थ हर्ष विषय में वर्तमात है। विकल्प से इट् नहीं होगा। हृष्टानि लोमानि का अर्थ होगा हुई सिर हो गये जो होम'। यहाँ गत्यर्थां कर्मक (३।४।७२) से कर्ता में है, तथा हुष्टं छोभभिः, हुष्टं केशैः में नपुंसके माने कः (अश्रीतिक साने कः अर्था भाव में क्त हुआ है।। छोम से यहाँ केश तथा छोम दोनों का है।। षतः प्रहण है।।

अपचितश्च ॥७।२।३०॥

अपचितः ११।। च अ० ॥ अनु०—वा, निष्ठायाम्, तेर् अर्थः -- अपचित इति वा निपात्यते । अपपूर्वस्य वायुधी [क्षेत्रहः]

प्राप

H. शे:।

THE STATE OF THE S

क पतोऽतिट्लं चिभावश्च वा निपात्यते ॥ उदा०—अपचितोऽनेन गुरुः। वि अपचायितोऽनेन गुरुः।।

भाषार्थः—[अपचितः] अपचित शब्द [च] भी विकल्प से निपातन क्या जाता है। अप पूर्वक चायूं धातु को निष्ठा परे रहते अनिटत्य त्या चायू को 'चि' भाव विकल्प से निपातित है। जब पक्ष में निपातन क्यं नहीं होंगे तो अपचायितः प्रयोग बनेगां।।

हु ह्वरेक्छन्दिस ॥७।२।३१॥

Į į हु लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः।। ह्वरेः ६।१॥ छन्दसि ७।१॥ श्रातु०— क्षा विषये । अर्थः — ह्यरतेरङ्गस्य निष्टायां परतश्क्रन्द्सि विषये । इत्रायाम्, अङ्गस्य ।। अर्थः — ह्यरतेरङ्गस्य निष्टायां परतश्क्रन्द्सि विषये । इत्रायमादेशो भवति ।। उदा — ह्युतस्य चाह्युतस्य च । अह्युतमसि) हे हिव्यानम् (यजुः ११९) ।।

भाषार्थ:-[हरे:] ह्न कौटिल्ये धात को निष्ठा परे रहते [छन्दिस] विषय में [हु] हु आदेश होता है।। हृ धातु अनुदात्त है, अतः कार जपदेशे (७।२।१०) से इट् प्रतिषेध तो प्राप्त ही था, आदेशार्थ अ वियह वचन है।। A AF

यहाँ से 'छन्दिस' की अनुवृत्ति ७।२।३४ तक जायेगी।।

अपरिह्नताश्च ॥७।२।३२॥

制 अपरिहृताः १।३।। च अ०।। अनु०—छन्द्सि, निष्टायाम्, अविकास । अर्थः — अन्द्सि विषये अपरिद्धता इति निपात्यते ॥ हु विषय पूर्वेण प्राप्तिः, तस्याभावोऽत्र निपात्यते ॥ उदा०—अपरिह्नुताः मनुयाम वार्जम् (ऋ० १।१००।१६)।।

भाषार्थः वेद विषय में [अपिरह्वृताः] अपिरहृत् (बहुवचन्सन्त) भाषायः वेद विषय में [श्रपिरहवृताः] अपारकृत एउ भी निपातन किया जाता है।। पूर्व सूत्र से हु आदेश प्राप्त भी निपातन किया जाता है।। पूर्व सूत्र स यु के के स्था अभाव निपातन है।। वेद में यह शब्द बहुवचनान्त ही देखा बाता है, अतः सूत्र में बहुवचनान्त निर्देश है।।

सोमे ह्वरितः ॥७।२।३३॥

सोमे ७११। ह्वरित: १११। श्रनु० — छन्दसि, निष्ठायाम्, अङ्गस्य ।।

ि पादः अर्थ:—ह्नरित इति निपात्यते छन्द्सि विषये सोमश्चेत्तद् निष्टायाम् इडागमो गुणस्त्रात्र निपात्यते ॥ उदा०—मा नः सोनो ह विह्नरितस्त्वम् ॥

सत्ये

१०। वस्त

221

3550 स्तोम

व्रुग

चत्त

835

भी है

(6)

से इ

भित

शंख

अभ

35

भाषार्थः—[ह्वरितः] ह्वरित शब्द छन्द विषय में [सों] विक वाच्य होने पर निष्ठा परे रहते निपातन किया जाता है। है। तथा गुण एवं हु आदेश का अभाव यहाँ निपातन है। अनुरान गार (७।२।१०) इट् प्राप्त नहीं था, निपातन से कह दिया॥

> ग्रसितस्कभितस्तिभितोत्तिभितचत्तविकस्ता विश्रस्त्रांसः **शास्त्रतरुत्त**रूत्यरुत्वरुत्वरूत्वरूत्रीरुज्जविशिति क्षमितिवमित्यमितीति च ॥ ७।२।३४॥

प्रसितः 'विकस्ताः १।३।। विशस्तु, शंस्तु इत्यादिषु प्रत्येहं मान्तिनिर्देशः, केवलं वरूत्रीः इत्यत्र श्रूयमाणप्रथमाबहुवचनम् सर्वाणीमानि पृथक् पृथक् निर्दिष्टानि पदानि ॥ इति अ०॥ वर्ष स०-म्यासतः 'विकस्ताः, इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०-छन्दिस्, वि स्कभित, स्तभित, ह अर्थ:- प्रसित, अङ्गस्य ॥ चत्त, विकस्त, विशस्त, शंस्त्र, शास्त्र, तरुत, तरुत, वरुत, वरूत, उज्ज्विलित, क्षरिति, क्षमिति, विमिति, अमिति इत्येतानि पद्वि निपात्यन्ते ।। प्रसित, स्कभित, स्तभित, उत्तभित इत्यत्र मु स्तम्भु इत्येतेषामुद्प्वात् उदितो वा (७।२।५६) इति विकल्पिक निष्टायाम् यस्य विभाषा (७।२।१५) इति नित्ये इद्प्रतिवि इंडागमोऽत्र निपात्यते । चत्तं, विकस्त इत्यत्र क्रमेण चतेः विष्कृति निष्ठायामिडभावो निपात्यते । विश्वस्त इत्यत्र क्रमणचतः । विश्वस्त इत्यत्र क्रमणचतः । विश्वस्त इत्यत्र क्रमणचतः । श्रीस्त इत्यत्र क्रमणचतः । विश्वस्त विश् शसेः, शंसेः, शासेश्च तृचि इडभावो निपात्यते । तस्त्र वरुत, वरुत्रीः इत्यत्र तरतेवृङ्व्चोद्य त्वि उट् उद् उज्ज्वलिति, क्षरिति, क्षमिति, विमिति, अभिति, उत्पूर्वस्य ज्वलतेः क्षर, क्षम, वम, अम इत्येतेषां च तिपि श्रामात निपात्यते । अथवा शपो लुक् इडागमश्च निपात्यते १ ॥ उपी

[°]१. ग्रयं पक्षो युक्ततरः । लोकेऽपि रोदितीत्यादी कविद् इडागम्ब (द्र० ७१२१७६) न

[वादः]

प्रसितं वा एतत् सोमस्य (मै॰ ३।७।४) । स्कभित — विष्कभिते अजरे (ऋ॰ ६।७०।१) । स्तभित — येन स्वः स्तिभृतम् (य॰ ३२।६) । उत्तभित — सत्येनोत्तभिता भूमिः (ऋ॰ १०।८५।१) । चत्त — चत्ता वर्षेण विद्युत् । विक्रत — उत्तानाया हृद्यं यद् विकस्तम् । विश्वस्त — एक्स्त्वष्टुरश्रस्या-विश्वस्ता (ऋ॰ १।१६२।१६) । शंस्तृ — उत शंस्ता सुविप्रः (ऋ॰ १।१६२।५) । शास्त — प्रशास्ता (ऋ॰ २।५।४) । तरुत — तरुतारं रथानाम् । वरुत — वरुतारं रथानाम् । वरुत माम् । वरुत माम् । वरुत माम् । वरुत माम । वरुत म

वेषंडी माषार्थः—[यसितः विमिति] यसित, स्कभित, स्तभित, उत्तभित, न्त्, विकस्त, विशस्तु, शंस्तु, शास्तु, तरुत्, तरूत्, वरुत्, वरूत्, वरूत्, वरूत्, वरूत्, अमिति, क्षिति, क्षिति, विमिति, अमिति [इति] ये शब्द चि भी वेद विषय में निष्ठा परे रहते निपातित हैं।। प्रसित, स्क्रिमत, स्तिमत, का मित यहाँ प्रमु, स्कम्भु, स्तम्भु इन धातुओं के उदित् होने से अस्ति। अस्य विभाषा (अ२।१५) से इट् प्रतिषेध प्राप्त था निपातन में इट्कह दिया। ६।१।२४ से यहाँ अनुनासिक छोप भी जानें। उत्त-मित यहाँ उदः स्थास्तम्मोः (८।४।६०) से पूर्वसवर्ण हुआ है । उत् विकस्त यहाँ क्रमशः चते याचने तथा विष्कृ कस धातु से निष्ठा परे रहते इडभाव निपातन है।। विशस्त पूर्वति साल शास्तु थहाँ क्रमशः विपूर्वक शसु शंसु तथा शासु से तृच् परे रहते इट् अभाव निपातन है।। तरुत, तरूत, यहाँ तू धातु से क्रमशः त्च्परे रहते वह विकास निपातन है। तरुत, तरुत, यहां तू धातु स नगरा है व्याप्त है। वरुत, वरुत, वरुती: यहाँ वृङ् अथवा वृज्धातु कि प्रमाण निपातन है। वरुत, वरूत, वरूत्री: यहा वृङ् अयपा है । वरूत्री: यहा वृङ् अयपा है । वरूत्री: यहाँ ऋन्नेभ्यो डीप् शिशिश्र) से डीप् भी हो गया है। वृ उट् तृच् = गुण रपरत्व होकर क्षित्र होप् भी हो गया है। वृ उद् तृच् = गुण रपरा प्रमा । वृ उद् तृच् = गुण रपरा प्रमा । वृ उद् तृच् = वरूतृ । वरूतृ ङीप् = यणादेश होकर वरूत्री वर्षत्रीः ऐसा का आकर वा छन्दिस (६।१।१०२) से पूर्वसवर्ण दीर्घ करके बहुती: ऐसा सूत्र में निर्देश किया है। 'वहृत्रयः' उदाहरण में वहृत्री किया है। 'वहृत्रयः' उदाहरण में वहृत्री को जस् परे रहते यणादेश होकर वरूत्र्यः अनिष्ट रूप बनता था, अतः,

िं पादः छान्दसिक हुस्वत्व मानकर यहाँ जिस च (७।३।१०९) से गुण हुन ऐसा जानना चाहिये।। उड्डविंहित, क्षरिति, क्षमिति, विमित्रि यहाँ क्रमशः उत्पूर्वक ज्वल, क्षर, क्षम, वम, अम इन धातुओं से कि रहते शप् के अकार के स्थान में इकाराहेश निपातन है। अथा- विस् का लुक् करके इट् आगम निपातन से मान कर भी वे क्रो श्रय:-प्रहीतु हो सकते हैं॥

3

7

T

7

न से

सूत्र में प्रसित से लेकर विकस्त पर्यन्त समस्त प्रथमावहुन्त पद हैं, तथा विशस्त से आगे सभी पद पृथक् २ असमस्त कि वरूत्रीः प्रथमा बहुवचनान्त (वा छन्दिस लगकर) पद है॥ मह्ई

आर्धधातुकस्येड् वलादेः ॥७।२।३५॥

७११ आर्घधातुकस्य ६।१॥ इट् १।१॥ वलादेः ६।१॥ स०-वर् वर् स वळादिस्तस्यः 'बहुत्रीहिः॥ अर्थः -वलादेराघंघातुकस्य इडागोक्ष उदाः - लिवता, लिवतुम् , लिवतन्यम् । पविता, पवितुम्, पिक्

भाषार्थ:-[वलादेः] वल् (प्रत्याहार) आदि में है जिले हारोद्र [आर्धघातुकस्य] आर्धघातुक को [इट्] इट् का आगम हेगे लिवता पविता की सिद्धि परि० १।१।२ के चेता के समान बार्ग वास्त इ ता = लिवता बना।।

यहाँ से 'श्रार्घघातुकस्य' की अनुवृत्ति ७।२।७५ तक वि वलादेः' की ७।२।७८ तक जायेगी।।

स्जुक्रमोरनात्मनेपद्निमित्ते ॥७।२।३६॥

स्तुक्रमोः ६।२॥ अनात्मनेपद्निमित्ते १।२॥ स०—स्तर्भ द्वन्द्वः। आत्मनेपद्स्य निमित्ते आत्मनेपद्निमित्ते, बष्टीवस्य नव्तत्पुरुषः॥ आत्मनेपद्निमित्ते अनात्मनेपद्निमित्ते, आर्घधातुकस्येड्वलादेः, अङ्गस्य ॥ अर्थः - स्तुक्रमोः धातुकस्य इडागमो भवति, न चेत् स्नुक्रमो आत्मनेपदस्य निर्मितं विकास उदाः — प्रस्तविता, प्रस्तवितुम्, प्रस्तवितव्यम्। प्रक्रमिती, प्रक

भाषार्थः—[स्तुक्रमोः] स्तु तथा क्रम के (अर्थात् स्तु क्रमें के वलादि आर्घघातुक को इट् आगम होता है, यदि खी विकास के निमित्त न हों तो, आश्रित आत्मनेपद न हो रहा हो तो ।।

ग्रहोऽलिटि दीर्घः ॥७।२।३७॥

[के पादः]

100

मोस्त

ते, ज महः ५११।। अलिटि ७११।। दीर्घः १११।। स०—न लिट् अलिट मा तिसन् "नव्तत्पुरुषः ॥ अनु — आर्थधातुकस्येड्वलादेः, अङ्गस्य॥ या- प्राची प्रमान प्रह उत्तरस्य इटोऽिलिटि दीर्घो भवति ॥ उदा०—प्रहीता, ग्रहीतुम्, ग्रहीतव्यम्।।

माषार्थः—[यहः] प्रह् धातु से उत्तर [श्रिलिटि] लिट् भिन्न वलादि विश्वार्यमातुक परे रहते इट्को [दीर्घः] दीर्घ होता है।। प्रह् इट् तृ = ह्ई ता = प्रहीता बना।।

यहाँ से 'त्रलिटि' की अनुवृत्ति ७।२।३८ तक तथा 'दीर्घं:' की अहि शिशु तक जायेगी।।

वृतो वा ॥७।२।३८॥

ब्तः ४।१॥ वा अ०॥ स०—वृ च ऋत् च वृत् तस्मात् समा-विहें सोहन्द्रः ॥ अनु --- अलिटि दीर्घः, आर्घधातुकस्येड्वलादेः, अङ्गस्य ॥ होती होता, वरीता, प्राविद्याता, प्राविद्याता, जायपाडुः । अनु०—आलाट द्रायः, जायपाडुः । यहार । उदा०— वर्षे वर्षेता, वरीता, प्राविद्याता, प्राविद्याता । ऋकारान्तेभ्यः— तरिता, तरीता, गातारेता, आस्तरीता ।।

माषार्थ:-[वृत:] य तथा ऋकारान्त धातुओं से उत्तर इट्को विकल्प से लिट्भिन्न वलादि आर्घधा क परे रहते दीर्घ होता है।। से यहाँ वृङ्तथा वृञ्दोनों का प्रह्या है।। लुहा

यहाँ से 'वृतः' की अनुवृत्ति ७।२।४२ तक जायेगी ।।

न लिङि ॥७।२।३९॥

न अा । लिकि पश्या अनु०—वृतः, दीर्घः, इट्, अङ्गस्य ।। त्राप्तिक जारस्य इटो लिङि दीर्घो न भवति ॥ उदा०—विवरिषीष्ट, प्रश्नाविषिष्ट, आस्तरिषीष्ट, विस्तरिषीष्ट ॥

भाषार्थः व तथा ऋकारान्त धातुओं से उत्तर इट् को [लिङि] में परे रहते दीर्घ [न] नहीं होता ।। पूर्व सूत्र से प्राप्ति थी निषेध विश्वा सिद्धियाँ परिः १।२।१३ के संगंसीष्ट के समान जानें। विशेष हैं इट् आगम एवं चु को वर् गुण ही विशेष है।।

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ७।२।४० तक जायेगी॥ सिचि च परस्मैपदेषु ॥७।२।४०॥ ि पाद

द्वन्द्व

मिनि प्राव्

आत्र

वह

विश वश

सिचि ७।१।। च अ० ।। परसमैपदेशु णु३।। अनु०-न, का इट्, अङ्गस्य ।। अर्थः —वृत उत्तरस्य परसमैपद्परे सिचि पत्र आह न भवति ।। उदा०-प्रावारिष्टाम्, प्रावारिषुः, अतारिष्टाम्, अ आस्तारिष्टाम् , आस्तारिषुः ॥

भाषार्थ:-[परस्मैपदेषु] परस्मैपद्परक [सिचि] सिच् मे आग [च] भी वृ तथा ऋकारान्त धातुओं से उत्तर इट् को दीर्घ ही कि प्र अट् वृ इट् तस् = प्रा वृ इ ताम् = सिचि वृद्धिः (७१२१) हे होता वृद्धि होकर प्रावारिष्टाम् वन गया। तृ से अतारिष्टाम् तथा आ स्तृ से आस्तारिष्टाम् आदि बन ही जायेंगे॥

इट् सनि वा ॥७।२।४१॥

इट् १।१॥ सनि ७।१॥ वा अ०॥ अनु०—वृतः, अङ्गरमार्थियो वृत उत्तरस्य सनो वा इडागमो भवति ।। उदार् - वुवूर्षते, वि विवरीषते । प्रावुवूषति, प्राविवरीषति, प्राविवरिषति । ऋकारक वोर तितीषिति, तितरिषति, तितरीषति। आतिस्तीषिति, आर्विष पात आतिस्तरीषति ।।

भाषार्थः —व तथा ऋकारान्त घातु से उत्तर [सिन] सन् को [वा] विकल्प से [इट्] इट् आगम होता है।। सिव (७।२।१२) से नित्य प्रतिषेध प्राप्त था, यहाँ पक्ष में विधान कर वुवूर्षते आदि में उदोष्ट्यपूर्वस्य (७।१।१०२) से उत्व हुआ है। परि० १।१।५७ में प्रद्शित चिकीर्षक: के समान जानें। त्रहत इंदातोः (७१११००) से इत्व हुआ है। वृतो वा (७१११००) को प्रथ में टीन कर् को पक्ष में दीघ हुआ है, इस प्रकार तीन रूप बने।।

यहाँ से 'वा' की अनुवृत्ति ७।२।४३ तक जायेगी॥

ि लिङसिचीः ७।२॥ आत्मनेपदेषु ॥॥ स० — लिङ् लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु ॥ ७।२।४२॥

[वादः]

यार्था

हिन्दूः ॥ श्रवु॰ — वा, वृतः, इट्, अङ्गस्य ॥ अर्थः — वृत उत्तरस्य लिङ्गि मिचि चात्मनेपदे परतो वा इडागमो भवति ॥ उदा॰ — वृषीष्ट, वरिषीष्ट । प्रावृषीष्ट, प्रावरिषीष्ट । आस्तरिषीष्ट, आस्तीर्षीष्ट । सिचि — अवृत, अविष्ट, अवरीष्ट । प्रावृत, प्राविष्ट, प्रावरीष्ट । आस्तीर्ष्ट, आस्तरिष्ट, आस्तीष्ट ॥

मार्गार्थः वृतथा ऋकारान्त धातुओं से उत्तर [आत्मनेपदेषु]
आत्मनेपद परक [लिर्ङ्सिचोः] लिङ् तथा सिच् को विकल्प से इट्
पा आगम होता है।। सिद्धियाँ परि० १।२।११ एवं १।२।१२ के प्रयोगों
की समान जानें। लिङ् में इट् को दीर्घन लिङ् (७।२।३९) से नहीं
होता। सिच् में पूर्ववत् पक्ष में दीर्घत्व भी होता है।।

वहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ७।२।४३ तक जायेगी।।

ऋतश्च संयोगादेः ॥७।२।४३॥

श्रुतः १।१॥ च अ० ॥ संयोगादेः ५।१॥ स०—संयोग आदिर्यस्यःस संयोगादिस्तस्मात्ः वहुत्रीहिः ॥ अनु०—छिङ्सिचोरात्मनेपदेषु, वा, इर् अङ्गस्य ॥ श्रर्थः — संयोगादियों धातुः ऋकारान्तस्तस्मादुत्तरयोछिङ्सि-विक्रित्तिस्तिष्टेषु वा इडागमो भवति ॥ उदा०—ध्वृषीष्ट, ध्वरिषीष्ट। समृषीष्ट, भारिषीष्ट । सिचि—अध्वृषाताम्, अध्वरिषाताम् । अस्मृषाताम्, अस्मरि-पाताम् ॥

न भाषार्थः—[संयोगादेः] संयोग है आदि में जिसके ऐसे [ऋतः] त की किल्प से इट् आगम होता है।। सिद्धियाँ पूर्वोक्त स्थलों के समान ही

स्वरतिस्वतिस्यतिधृजूदितो वा ॥७।२।४४॥

खरितः दितः ४।१॥ वा अ०॥ स०—ऊत् इत् यस्य स ऊदित्, विश्वीहिः। स्वरितश्च स्विश्व स्यातिश्च धूच् च ऊदित् च स्वरितः दित्, क्ष्मातः समाहारद्वन्द्वः॥ अनु० —आर्धधातुकस्येडवढादेः, अङ्गस्य॥ अनु० —आर्धधातुकस्येडवढादेः, अङ्गस्य॥ अनु० —अर्थधातुकस्येडवढादेः, अङ्गस्य॥ अनु० इत्येतेभ्यः ऊदिद्भयश्चोत्तरस्य क्षिदेरार्धधातुकस्य वा इडागमो भवति ॥ उदा०—स्वृ—स्वर्तां, स्वरिता।

ि पाद पूङ् (अदाः) प्रसोता, प्रसविता । पूङ् (दिवाः) सोता अह धूव्—धोता, धविता । ऊदिद्भयः—गाहू—विगाढा, विगाहिता। कर गोप्ता, गोपिता ॥

भाषार्थः - [स्वः । दतः] स्वरति (स्वृ शब्दोपतापयोः) ही प्राणिगर्भविमोचने) सूयति (पूङ् प्राणिप्रसत्रे) धून् कम्पते वा धातुओं से उत्तर वलादि आर्धधातुक को [वा] विकल से हैं पत होता है।। गाहू आदि ऊदित् धातुऐं हैं। विगाढा में पूर्वत् ह (८।२।३१) ष्टुत्व तथा ढलोप (८।३।१३) जानें ॥

्यहाँ से 'वा' की अनुवृत्ति ७।२।५१ तक जायेगी।।

रधादिस्यश्च ॥७।२।४५॥

निष

निर्

निष

इट्

यह

उत्त

रधादिभ्यः ५।३॥च अ० ॥ स०—रध आदिर्येषां ते रापत्रके बहुव्रीहि: ।। अनु०—वा, आर्घधातुकस्येड्वलादे:, अङ्गरा। रधादिभ्य उत्तरस्य वलादेराधंधातुकस्य वा इडागमी भवित॥ ह रद्धा, रिवता। नंष्टा, निश्तता। त्रप्ता, तर्पा, वर्णिता। द्रप्ता, वर्णिता। द्रोग्घा, द्रोढा, द्रोहिता। मोग्धा, मोढा, मोहिता। स्रोष स्नोहिता । स्नेग्धा, स्नेढा, स्नेहिता ॥

भाषार्थ:-[रधादिभ्यः] रधादि आठ ८ धातुओं से उत्त वलादि आधंधातुक को विकल्प से इट् आगम होता है॥ वर्ष सूत्र ७।१।६० में देखें। त्रप्ता, द्रप्ता आदि की सिद्धि पूत्र शि देखें। द्रोग्धा यहाँ दुह् धातु के ह् को वा दुहमुहण्यह (वर्ष यत्व होकर क्षषस्तथोधों ऽधः (८।२।४०) से धत्व एवं कलां जर्म से घू को जश्त्व गकार हुआ है। इसी प्रकार माम्या, स्तीषा में जरने । जब वा दुहमुह० (८।२।३३) से ह् को घू नहीं हुआ है। (प्राचारिक से दत्व होकर द्राढा मोढा आदि ह्व बते। हा द्रोहिता मोहिता आदि रूप बनेंगे । इस प्रकार दुहू, मुहू, जुड़ी धातुओं के तीन तीन रूप बनते हैं ॥

निरः कुषः ॥७।२।४६॥

निरः ५|१॥ कुषः ५|१॥ श्रवुः—वा, आर्ध्यापुक्रिके

वादः]

ात् छ

द्यके

1115

11 6

दर्मा,

गधा,

STORY.

बाह्य ॥ अर्थः— निर्इत्येवम्पूर्वात् कुष अङ्गादुत्तरस्यव ठादेराधधातु-हा। इस्य वा इडागमी भवति ।। उदा० — निष्कोष्टा, निष्कोषिता । निष्कोष्टुम्, तिक्कोषितुम्। निष्कोष्टव्यम्, निष्कोषितव्यम्।।

माषार्थ:—[निर:] निर् पूर्वेक [कुष:] कुष अङ्ग से उत्तर वलादि आर्थघातुक को विकल्प से इट् आगम होता है।। निर् के विसर्जनीय को वेद्र पत इदुद्रपघस्य० (८।३।४१) से हुआ है।।

यहाँ से 'निरः कुषः' की अनुवृत्ति ७।२।४७ तक जायेगी ।।

इण्निष्ठायाम् ॥७।२।४७॥

इट् १।१।। निष्ठायाम् ७।१।। अनु०—निरः कुषः, अङ्गस्य ।। अर्थः 🛨 निर् इत्येवंपूर्वात् कुष उत्तरस्य निष्ठायामिडागमो भवति ॥ उदा०-निष्कुषितः, निष्कुषितवान् ॥

भाषार्थ: - निर् पूर्वेक कुष से उत्तर [निष्ठायाम्] निष्ठा को [इट्] इर् आगम होता है।। 'वा' की अनुवृत्ति आते हुये भी इट् प्रहण करने से यहाँ संबद्ध नहीं होती।।

वीषसहलुभरुषरिषः ॥७।२।४८॥

ति । १।। इषसहलु भरुषरिषः ५।१।। स० इषश्च सहस्र लुभश्च लश्च रिट् च इष "रिट्, तस्मात्" समाहारद्वन्द्वः ॥ अनुः —वा, आर्ध्यातुकरयेड्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—इषु, सह, लुभ, रुष, रिष इत्येतेभ्य ता विकास तकारादावार्धधातुके वा इडागमो भवति ॥ उदा०—इषु—एष्टा, वा भी परिता । सह—सोढा, सहिता । लुभ—छोब्धा, छोमिता । रुष—रोष्टा, त्रक्ष वेषिता। रिष – रेष्टा, रेषिता।।

भाषार्थ:-[इष : रिष:] इषु इच्छायाम्, षह मर्षणे, लुभ, रुष, िति इन धातुओं से उत्तर [ति] तकारादि आर्धधातुक को विकल्प से इट् आगम होता है।। ये धातुयें उदात्त हैं, अतः श्रार्थधातुकस्ये० (७११३६) हुआ में हेट प्राप्त ही था, विकल्पार्थ इस सूत्र का आरम्भ है। लोब्धा में पूर्वत् त् को ध् एवं भ् को जश्त्व (८।२।३८) ब् हुआ है। सोढा में विहिनहोरोदनर्शास्य (६१३।११०) से ओत्न हुआ है।।

सनीवन्तर्घभ्रस्जद्म्भ्रश्रिस्वृयूर्णभरज्ञपिस-

सिन ७|१॥ इवन्तः नाम् ६।३॥ स०—इव् अन्ते येषां ते इवन्ताः,

ि पादः बहुवीहिः । इवन्तास्र ऋधस्र भ्रस्तस्र दम्भुश्र श्रिश्र स्वा च कुर् भरश्च ज्ञपिश्च संश्च इ्वन्तः सनस्तेषाम् इतरेतरद्वन्दः॥ क्रा इट्, अङ्गस्य ।। अर्थः — इवन्तानां घातूनां ऋषु, भ्रस्त्, हम् स्व, यु, ऊर्णु, भर, ज्ञपि, सन्, इत्येलेषां च सनि वा इहालो हु उदा - इवन्तानाम् - दिदेविषति, दुद्यूपति । सिस्वेविपति, हुन ऋध् —अर्दिधिषति, ईत्सीति। अस्ज—विभ्रक्षिपति, किरिया विमर्जिषति, विभक्षति । दम्भु दिद्ग्मिषति, धिपसि, के प्रति श्रि – उच्छिश्रयिषति, उच्छिश्रीपति । स्वृ – सिस्वरिपति, क्र यु — यियविषति, युयूषति । ऊर्णु — प्रोर्णुनविषति, प्रोर्णुनुनिष्कि

भाषार्थः—[इवन्तः न।म्] इव् अन्त में है जिनके क्रिक ऋधु वृद्धौ, भ्रस्ज पाके, दम्भु दम्भे, श्रिञ् सेवायाम्, सृह् पयोः, यु मिश्रणे, ऊर्णुञ् आच्छादने, भृञ् भरणे, ज्ञिष, सन (ह एवं षण संभक्ती दोनों का यहाँ सन् से प्रहण है) इन धातुओं [सिन] सन् को विकल्प से इट् आगम होता है।।सिंहिं में देखें।।

र्षति । भर—विभरिषति, बुभूर्षति । ज्ञपि—जिज्ञपिषति, क्र

सन्-सिसनिषति, सिषासति ॥

क्लिशः क्तवानिष्ठयोः ॥७।२।५०॥

अत:

यह उपि

क्तिशः ५।१॥ क्त्वानिष्ठयोः ६।२॥ स०—क्त्वा च निष्ठा व क् तयोः इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु० – वा, इट अङ्गस्य ॥ अर्थः उत्तरस्य क्त्वानिष्ठयोर्वा इडागमा भवति ॥ उदाः — क्रियूः, निष्टा—क्लिष्टः, क्लिष्टवान्, क्लिश्तितः, क्लिशितवान्।।

भाषार्थः - [क्लिशः] क्लिशः घातु से उत्तर [क्लानिष्योः] निष्ठा को इट आगम विकल्प से होता है। किल्प्स व्यम्भरंज (८।२।३६) से श्को ष् एवं ब्दुत्व हुआ है। में मृडमृदगुघ० (१।२।७) से क्त्वा को कित्वत् हुआ है।
नहीं हुआ है। नहीं हुआ है।।

यहाँ से 'खानिष्ठयोः' की अनुवृत्ति ७२।५४ तक जीवेगी।

पूङः ५।१॥ च अ०॥ अनु०—क्त्वानिष्ठयोः, वा, इर्

880 .

[क्षेपादः] . अर्थ:-पूड्य क्त्वानिष्ठयोवी इडागमो भवति॥ उदा०-पूत्वा, अवित्वा। सोमोऽतिपूतः, सोमोऽतिपवितः। पूत्वान्, पवितवान्॥

भाषार्थ:-[पूड:] पूङ् धातु से उत्तर [च] भी क्तवा तथा निष्टा को मा इ आगम विकल्प से होता है।। श्र युकः किति (७।२।११) से पूड़ के ग्रान्त होने से इट् प्रतिवेध नित्य प्राप्त था, यहाँ विकल्प विधान कर विया।। पूड: क्त्वा च (१।२।२२) से क्त्वा तथा निष्ठा के कित् का क्षेत्रविषेध होने से पवित्वा आदि में गुण हो जाता है।।

वसतिक्षुधोरिट् ॥ ७।२।५२॥

明

षति, र

चक

All

वसतिश्चघोः ६।२॥ इट् १।१॥ स० वसति० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ मु॰-क्लानिष्टयोः, इट्, अङ्गस्य ॥ श्रर्थः-वस निवासे, श्रुध रुखायाम् इत्येतयोः क्त्वानिष्ठयोरिडागमो भवति ॥ उदा०—डिषत्वा, आ वितः, उषितवान् । क्षुधित्वा, क्षुधितः, क्षुधितवान् ।।

वृ स्त भाषार्थ:-[वसितत्तुधो:] वस तथा ख्रुध धातु के क्त्वा तथा निष्ठा प्राथायः—[वसित चुधोः] वस तथा श्लुध धातु के क्त्वा तथा निष्ठा औं भिष्य को [इट्] इट् आगम होता है।। ये दोनों धातु अनुदात्त हैं, ^{बतः} इट्प्रतिषेध (७।२।१०) प्राप्त था, क्त्वा निष्ठा को इट् विधानार्थ गह वचन है।। उषित्वा की सिद्धि परि० १।२।७ में देखें। इसी प्रकार अपतः आदि भी जानें।।

अश्वेः पूजायाम् ॥७।२।५३॥

श्रयं:-अञ्चेः ४।१॥ पूजायाम् ७।१॥ ऋनु०-क्त्वानिष्टयोः, इट्, किया अर्थः - अञ्चेः उत्तरस्य पूजायामर्थे क्त्वानिष्ठयोरिडागमो म्बिति ॥ उदा०—अञ्चित्वा जानु जुहोति । अञ्चिता अस्य गुरवः ॥ 7:] भाषार्थ: [श्रब्चे:] अञ्चु धातु से उत्तर [पूजायाम्] पूजा अर्थ ्व निष्ठा को इट् आगम होता है।। अख्रिता की सिद्धि पूत्र है। अख्रिता की सिद्धि पूत्र है। अख्रिता की सिद्धि पूत्र

छमो विमोहने ॥७।२।५४॥

खुभः ४।१॥ विमोहने ७।१॥ अनु०—क्त्वानिष्ठयोः, इट्, अङ्गस्य ॥ २७ विमोहनेऽर्थे वर्त्तमानात् लुभ उत्तरस्य क्त्वानिष्ठयोरिडागमो

भवति ।। उदा०—लुभित्वा, छोभित्वा, विलुभिताः केशा, हि सीमन्तः, विलुभितानि पदानि ॥

भाषार्थः—[विमोहने] विमोहन = व्याकुछ करने अर्थ में बिला है।। रली व्युपधाद् (१।२।२६) से क्त्वा को विकल्प से कि वी, की लिए को स्था की विकल्प से कि वी, की लिए को सिला हो कि लिए को कि लिए की लिए

जुब्रक्च्योः कित्व ॥७।२।५५॥

देंच्य

ज्वश्च्योः ६।२॥ क्ति ७।१॥ स०—ज् इत्येतेतः विद् श्रुनु०—इट्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—ज् व्रश्चि इत्येतयोः क्त्राप्तं निर् इडागमो भवति ॥ उदा०—जरित्वा, जरीत्वा । व्रश्चित्वा॥

भाषार्थ: [जृतरच्योः] जू वयोहानौ तथा ओत्ररपू होते माउ [क्ति] क्ता प्रत्यय को इट् आगम होता है।। जरीला है (७।२।३८) से पक्ष में इट् को दीर्घ होता है। त्रश्चिला होते से माउ सेट् (१।२।१८) से क्ता के कित् का प्रतिषेध होने से माउ (६।१।१६) से सम्प्रसारण नहीं होता।।

यहाँ से 'क्ति' की अनुवृत्ति ७।२।५६ तक जायेगी॥

उदितो वा ॥ ७। २। ५६॥

बहुत्रीहि: ।। अनु०—कित्व, इट्, अङ्गस्य ।। अर्थः —वित्री कित्र परतो वा इडागमो भवति ।। उदा०—रामु-रामित्र तम्-तिमत्वा, तान्त्वा, । दमु—दिमत्वा, दान्त्वा ।।

भाषार्थः—[जिदतः] डकार इत् गया है जिनका ऐसे बाज कित्वा कि विकल्प से इट् आगम होता है ॥ अतिह्य आप आदि में अनुनासिकस्य० (६।४।१५) से दीर्घ होता है ॥

यहाँ से 'वा' की अनुवृत्ति ७।२।४७ तक जायेगी'।

888 .

T, f

से ७११। असिचि ७।१।। कृतचृतच्छृद्तृद्नृतः ५।१।। स०—न सिच्
असिच्, तिस्मन् ' नञ्त्तपुरुषः । कृत० इत्यत्र समाहारद्वन्द्वः ॥ अवु०—
आसिच्, तिस्मन् ' नञ्त्तपुरुषः । कृत० इत्यत्र समाहारद्वन्द्वः ॥ अवु०—
आसिच्, तिस्मन् ' नञ्ज्ततपुरुषः । कृत० इत्यत्र समाहारद्वन्द्वः ॥ अवु०—
आसिच्, तिस्मन् ' नञ्ज्वतिपुरुषः । कृती, चृती, उच्छृदिर्,
आदिर्, नृती इत्येतेभ्यो धातुभ्य उत्तरस्य असिचः सकारादेरार्धधातुकस्य
ग इहागसो भवति ॥ उदा०—कृती—कत्स्येति, अकत्स्यत् , चिकृत्सिति ।
लोगे स्थे—किर्त्तिष्यति, अकर्तिष्यत् , चिकृत्सिति । चृती—चर्त्यति,
अन्तर्यते, चिच्छर्तिषति । पक्षे—चित्र्यति, अचर्त्यत् , विच्छर्तिषति । पक्षे—छर्दिष्यति, अच्छ्यः
विषयत्, चिच्छर्तिषति । तृद्—तत्स्येति, अत्तर्स्यत् , तिवृत्सिति । पक्षे—
क्रित्ति, अतिर्द्विषति । तृद्—तत्स्येति, अत्तर्स्यत् , तिवृत्सिति । पक्षे—
क्रित्ति, अतिर्दिष्यति । तृद्व—तर्स्येति, अत्तर्स्यत् , निन्तिषिति ॥

क्रित्ति, अतिर्दिष्यति । तृत्व—नर्त्यति, अनर्त्तिषति ।

क्रित्ति, अतिर्दिष्यति । नृत्—नर्त्यति, अनर्त्तिषति ॥

क्रित्ति। पक्षे—नर्तिष्यति, अनर्तिष्यत् , निनर्तिषति ॥

माषार्थः—[कृतः चृतः] कृती, चृती, उच्छृदिर्, उतृदिर्, नृती इन कृते पाउओं से उत्तर [श्रिसिचि] सिच् भिन्न [से] सकारादि आर्धधातुक को ला किल्प से इट् का आगम होता है।। ये धातुएँ उदात्त हैं, अतः इट विक्रित्प से इट् का आगम होता है।। ये धातुएँ उदात्त हैं, अतः इट विक्रित्प से इट् का आगम होता है। सिद्धियों में कुछ भी विशेष नहीं भी किल्प से इट् का आगम होता है। सिद्धियों में कुछ भी विशेष नहीं विक्रित्य हो था, विकल्पार्थ यह वचन है। सिद्धियों के समान ही सब कार्य जाने।

यहाँ से 'से' की अनुवृत्ति ७।२।६० तक जायेगी।।

गमेरिट् परस्मैपदेख ॥७।२।५८॥

ामें: ५।१॥ इट् १।१॥ परस्मैपदेषु ०।३॥ अनु०—से, आर्धधातुकस्य, क्षिय ॥ अर्थः—गमेरुत्तरस्य सकारादेरार्धधातुकस्य परस्मैपदेषु निर्माण्यः—गमेरुत्तरस्य सकारादेरार्धधातुकस्य परस्मैपदेषु निर्माण्यः—गमेः] गम्लू धातु से उत्तर सकारादि आर्धधातुक को प्रस्मैपदेषु परस्मैपदेषु परस्मैपदेषु परस्मैपदेषु परस्मैपदेषु परस्मैपदेषु परस्मैपदेषु परस्मैपदेषु अतः इट् प्राप्त नहीं था, सकारादि आर्धधातुक को यहाँ से 'परस्मैपदेषु' की अनुवृत्ति ७।२।६० तक जायेगी ॥

न वृद्भ्यश्रतुभर्यः ॥७।२।५९॥

पाद

शश

नस

गन्

न अः ॥ वृद्भ्यः ५१३॥ चतुभ्र्यः ५१३॥ अनुः नासी वृद् आर्घघातुकस्येड्, अङ्गस्य ।। अर्थः - वृतादिभ्यस्रतुभ्यं स्तासन्तर्य राध्यातुकस्य परस्मैपदेषु इंडागमो न भवति ॥ उदा०-कु-अवस्यत्, त्रिवृत्सति । वृधु —वर्स्यति, अवस्यत्, विवृत्सिति। भवी शर्त्स्यति, अशर्स्यत् , शिश्टत्सति । स्यन्दू — स्यन्त्यति, क सिस्यन्त्स्यति ॥

भाषार्थः — [वृद्भ्यः] वृतु इत्यादि [चतुर्भः] चार धातुओं भरे सकारादि आर्घघातुक को परस्मैपद परे रहते इट् आम होता ॥ वृद्भ्यः में बहुवचन निर्देश से आदि अर्थ प्रतीत होती वृत, वृधु, श्रधु, उद्दात्त धातुएँ हैं, अतः नित्य इट् प्राप्तशासी दिया, तथा स्यन्दू के ऊदित् होने से ७।२।४४ से विकल्प से था नित्य निषेध कर दिया।। वृतादि चार धातुओं को स्व, स प्रसौपद वृद्भ्यः स्यसनोः (१।३।६२) से होता है, आ आर्धघातुक, स्य सन् के ही यहाँ उदाहरण दिये हैं, अन्य सा आदि के नहीं, क्योंकि वहाँ परसमेपद परे सम्भव ही नहीं है। परि॰ १।३।६२ में ही देखें।। (१।२।१०) से सन् को किन सर्वत्र हलन्ताच गुण नहीं होता है।। विल्य

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ७।२।६५ तक जायेगी॥

तासि च क्लपः ॥७।२।६०॥

तासि लुप्तषष्ठ्यन्तिनिर्देशः ॥ च अ०॥ क्लृपः ४।१॥ से, आर्धघातुकस्येड्, परस्मैपदेषु, अङ्गस्य ॥ अर्थःन्त्री इत्येतस्मादुत्तरस्य तासेः सकारादेश्चार्धधातुकस्य परस्मिरहेषुः अञ्चलका भवति ॥ उदा०— इवः कल्प्ता, कल्प्स्यति, अकल्प्स्यति, विक्रिति । अकल्प्स्यति, विक्रिति । व

तथा सकारादि आर्धधातुक को इट् आगम नहीं होती, रहते ।। सिद्धियाँ भाग १ सूत्र १।३।६३ में देखें।। कृष्मी अतः पूर्ववत् विकल्प से इट् प्राप्त होते पर निषेध कर हिंगी

्रथचस्तास्वत्थल्यनिटो नित्यम् ॥^{७।२।६१॥} अचः १११॥ तास्वत् अ०॥ थिछ जारा। अतिहः

११॥ स० —न इट् अनिट् , तस्मात् : न्ञ्तसुरुषः ॥ अनु० —न, इट् , वक्त्य, उत्तरसूत्राद् 'उपदेशे' इत्यपकृष्यते ॥ तासाविव तास्वत् , तत्र तस्य (४।११११४) इत्यनेन सप्तन्यर्थे वितः ॥ अर्थः उपदेशेऽजन्ता ये व्य-भाववस्तासौ नित्यानिटस्तेभ्य उत्तरस्य तासाविव थिछ इडागमो न राष्ट्रिम् मर्वति ॥ उदा० — याता — ययाथ । चेता — चिचेथ । नेता — निनेथ । अह होता—जुहोथ।

[पादः] .

割

काली

581

इः श्रीमि

गापार्थ:-उपदेश में जो [श्रयः] अजन्त धातु [तास्तत्] तास् के वा परे रहते [नित्यम्] नित्य [अनिट:] अनिट् उससे उत्तर तास् के समान विवित् थल् को इट् आगम नहीं होता, अर्थात् जिस प्रकार तास् ति भारे रहते अनिट् धातु थी उसी प्रकार थल् में इट् आगम नहीं होता। जार सूत्र उपदेशें डत्वतः (७।२।६२) से यहाँ 'उपदेशे' का अपकर्षण में अवः' के विशेषणार्थ किया जाता है, ऐसा समझें ।। याता आदि तास् स्ता में हप अनिट्त्व प्रदर्शनार्थ हैं।।

यहाँ से 'थिलि' की अनुवृत्ति ७।२।६६ तक तथा 'तास्वत् श्रिनिटी अतः ह मुन्ना निलम्' की ७।२।६३ तक जायेगी।।

उपदेशेऽत्वतः ॥७।२।६२॥

वपदेशे जशा अत्वतः ५११ ।। अत् (अकार) अस्मिन्नस्तीति अत्वान् लात् तदस्या० (५।२।९४) इत्यनेन मतुप्।। श्रनु०—तास्वत् क्यिनिटो नित्यम्, न, इट्, अङ्गस्य ।। श्रर्थः—उपदेशे यो धातुरकार-नित्यमिनट् तस्मादुत्तरस्य थळस्तासाविव इडागमो न भवति॥ शा पका—पपकथ । यष्टा—इयष्ट । शंकता—श्राक्थं ॥

भाषार्थः—[जपदेशे] उपदेश में जो घातु [अत्वतः] अकारवान् और ति । पर पर पर पर कित्य अनिट् उससे उत्तर थल को तास् के संमान हिं श्रीगम नहीं होता ।। पच् यज् आदि धातु अकारवान् और तास् मि अतिट्हें अतः थल् को इट् आगम नहीं हुआ । यज् के ज् को भिश्विक्ष के इट् आगम नहा हुआ है। लिख्यम्यार्थ भिश्विक्ष के से ष् तथा ब्हुत्व हुआ है। लिख्यम्यार्थ बिंद्धी से सम्प्रसारण होकर इयष्ठ बन गया।।

ऋतो भारद्वाजस्य ॥७।२।६३॥

म्तः ५।१॥ भारद्वाजस्य ६।१॥ अनु०—तास्वत् थल्यनिंटो नित्यम्,

न, इट्, अङ्गस्य ।। अर्थः—तासौ नित्यानिट ऋकारानाहाते स्याचार्यस्य मतेन तासाविव थळ इडागमो न भवति ॥ उदाव्यस्य सहमर्थे । ध्वर्त्ता — दध्वर्थे ।।

मावार्थ:—तास् परे रहते जो नित्य अनिट् [ऋतः] ऋतात अवि इसे उत्तर [भारद्वाजस्य] भारद्वाज आचार्य के मत में तास् के हिं। थल को इट् आगम नहीं होता ।। ऋकारान्त धातु के अजनहीं ऋष्टि थल को इट् निषेध सिद्ध था, कृष्टि यल को इट् निषेध सिद्ध था, कृष्टि यल को इट् निषेध सिद्ध था, कृष्टि यल को इट् निषेध सिद्ध था, कृष्टि निष्य मार्थि है, जो इस प्रकार है—"भारद्वाज आचार्य के तास् परे नित्य अनिट् ऋकारान्त धातु से ही उत्तर थल् को हुः विकास परे नित्य अनिट् ऋकारान्त धातु से ही उत्तर थल् को हुः विकास धातुओं को थल् परे भारद्वाज के मत में इट् हो ही जावें। प्रकार सभी अजन्तों को नित्य इट् निषेध की प्राप्ति होने पर से अन्यों की ज्यावृत्ति कर दी, अर्थात् उनको पक्ष में प्राप्त को से अन्यों की ज्यावृत्ति कर दी, अर्थात् उनको पक्ष में प्राप्त को सो यिथ्य, विवथ, पेचिथ आदि में भारद्वाज के मत से इट् कि जाता है।।

बभूथाततन्थजगृम्मववर्थेति निगमे ॥७।२।६॥

इत्ये

铜

बभूथ आततन्थ जगृभ्म ववर्थ, सर्वाण पृथक् पृथक् अस् लुप्तप्रथमान्तानि पदानि ।। इति अ० ।। निगमे ७।१॥ अव०-वि स्ट्रा अर्थः—बभूथ, आततन्थ, जगृभ्म, ववर्थं इत्येतानि पत्ति भाष्पतो निपात्यन्ते, निगमविषये ।। निगमो वेदः ॥ सर्वत्र कार्दिनि केति प्राप्तस्याभावो निपात्यते ।। उदा०—त्वं हि होता प्रथमे येनान्तिस्समुर्वाततन्थ (ऋ० ३।२२।२)। जगृभ्मा ते दक्षिणित्र येनान्तिस्समुर्वाततन्थ (ऋ० ३।२२।२)। जगृभ्मा ते दक्षिणित्र विस्तर्था (ऋ० १०।४०।१)। ववर्थं त्वं हि ज्योतिषा ॥

माषार्थः—[बम्याः 'ववर्थ] बम्य, आततन्य, जग्म, क्षीये शब्द थल परे रहते निपातन किये जाते हैं [निगमे] वेह कि का दिनियम (७१११३) से सर्वत्र इट् प्राप्त था, उसका अभाव के हैं ॥ बम्यूथ में परि० १।२।६ के बम्यूव के समान कार्य जाते कि आक्पूर्वक तन्त विस्तारे से बना है। जग्भम प्रहू धार्ड के हिं। सस् को म आदेश परस्मैपदानां० (३।४।८२) से हुआ परिलयां। (६।१।१६) से सम्प्रसारण और हमहोभेरबद्धार ८।२।३५) से हकार को भकार भी जाने। वृत्य वर्गो से वर्ग ८।२।३५) से हकार को भकार भी जाने। वृत्य वर्गो से वर्ग

[ि पादः] . वोर्माः

क्य

811

विभाषा सृजिद्योः ॥७।२।६५॥

10-0 विभाषा १।१।। सृजिद्यशोः ६।२।। स०—सृजि० इत्यन्नेतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु व्यक्ति, न, इट्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—सृज विसर्गे, दृशिर् प्रेक्षणे भाग ह्येतयोत्थळो विभाषा इडागमो न भवति ॥ उदा० — सस्रष्ट, ससर्जिथः। जन् दूरष्ठ, द्द्शिथ।।

गा, माषार्थः—[स्विद्दशोः] सृज तथा दृशिर् अङ्ग के थल् को [विभाषा] व हैं विकल्प से इट् आगम नहीं होता ।। क्रादिनियम से यहाँ भी नित्य इट् वह वचन है।। सस्रष्ट दद्रष्ट में व्रथम्ब (।२।३६) से पत्व तथा सजिहशो० (६।१।५७) से अम् आगम पा ऋ हुआ है ।।

इडत्यर्त्तिव्ययतीनाम् ॥७।२।६६॥

ट् अन इट् १।१।। अत्यर्त्तिव्ययतीनाम् ६।३।। स०—अत्यर्त्तिः इत्यत्रेतरेतर-हरहा। श्रनु०—थलि, अङ्गस्य।। श्रर्थः—अर्ति, अर्ति, व्ययति क्ष्येतेपामङ्गानां थलि इंडागमो भवति ।। उदा०—आदिथ, आरिथ, संविव्ययिथ ।।

भाषार्थः—[अत्यक्तिव्ययतीनाम्] अद भक्षणे, ऋ गतौ, व्येव 0-4 विष्णे इन अङ्गों के थल को [इट्] इट् आगम होता है।। आदिथ विकि भारिय में अभ्यास के आदि अकार को अत श्रादेः (७।४।७०) से दीर्घ क्षा है। यहाँ संविव्ययिथ की सिद्धि ६।१।४५ सूत्र में देखें। इट क्षण 'न विभाषा' की स्पष्ट निवृत्ति के छिए है ॥

वस्वेकाजाद्यसाम् ॥७।२।६७॥

, ववर्ग वसु लुप्तसप्तम्यन्तनिर्देशः ॥ एकाजाद्घसाम् ६।३॥ स०—एकोऽच् पषु ज्ञासप्तम्यन्तिनिर्देशः ॥ एकाजाद्घसाम् पाराः । प्राप्तिका स एकाच् , बहुत्रीहिः । एकाच् च आत् च घश्च एकाजाद्-भाषा स एकाच् , बहुत्रीहिः । एकाच् च आत् प प्रश्नान् । स्वाप्तिकार् इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—इट् , अङ्गस्य ॥ अर्थः—एकाचां क्षित्र हतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—इट्, अङ्गस्य ॥ अनु०—इत् । स्वित्ति वित्ति ।। अनु०—इत् अङ्गस्य ॥ अन्या भवति ॥ स्विति वित्ति ।। अनुनां आकारान्तानां घसेश्च वसौ इडागमो भवति ॥ भारताम् । धातूनां आकारान्तानां घसस्र वसा इणाः श्रीवित्र आदिवान्, आशिवान्, पेचिवान्, शेकिवान् । आत्—या— हुन्नी विश्वान्, आाशवान्, पान्ताः विश्वान् । स्था—तस्थिवान् । घस्— जक्षिवान् ॥ — /टिर्वच भाषार्थः [एका जाद्धसाम्] एकाच् (द्विर्वचन कर छेने के प्रधात्)

ि पाद थातु तथा आकारान्त एवं घस से उत्तर [वसु वसु को इट् आवा सिन है।। द्विच्चन कर लेने पर जो एकाच् धातु वह यहाँ एकाच् के तिप है। वसु से छिट् के स्थान में जो क्वसु (३।२।१०७) आहे। प्रहण है। जिक्षिवान् की सिद्धि सूत्र ३।२।१०७ में देसें। हा सिद्धियाँ भी वहीं देख छें, केवल आदिवान आशिवान, में आ द्वित्व होकर अभ्यास के अकार को दीर्घत्व श्रत आदे: (७१४।७)। के जाता है, पश्चात् दोनों अकारों को सवणदीर्घत्व हुआ है।पेचिताः वान् में अत एकहल् (६।४।१२०) से अभ्यास छोप एवं एत हो निप क्रादिनियम से इन घातुओं से उत्तर हिट्स्थानी वसु को इट्आक ही था, पुनर्विधान नियमार्थ है, जो इस प्रकार है—"वसु को इस होत इन धातुओं से उत्तर ही हो, अन्यों से उत्तर नहीं", अर्थात् क्री से अन्य धातुओं से उत्तर भी वसु को इट् आगम प्राप्त था, ऋ नियम ने व्यावृत्ति कर दी, तो विभिद्धान् आदि में इट् नहीं हुन। यहाँ से 'वसु' की अनुवृत्ति ७।२।६९ तक जायेगी॥

विभाषा गमहनविद्विज्ञाम् ॥७।२।६८॥

अनु इहा

हन्ते

वि अ

विभाषा १।१॥ गमहनविद्विशाम् ६।३॥ स० – गमः इतर्र द्वन्द्वः ॥ अवु -- वसु, इट्, अङ्गस्य ॥ अर्थः -- गम्लू, हन, विहा विश प्रवेशने इत्येतेषां धातूनां वसोः विभाषा इडागमो भवति॥ जिम्मवान्, जगन्वान् । हन—जिम्मवान्, जघन्वान् । विद्रामी भवात ॥ अ वान, विविद्वान् । विश—विविशिवान्, विविश्वान् ॥

माषार्थः — [गमहनविद्विस्गम्] गम्त्रः, हत, विद्तः, विद् से उत्तर वसु को [विभाषा] विकल्प से इट् आगम होता है। पूत्रानुसार ही सिद्धियों का प्रकार है। जगन्वान् में गम् के प्रकार है। जगन्वान् में गम् के प्रकार (८।२।६५) से न् हुआ है। जिम्मवान् जिम्नवान् में आ (६।४।९८) से उपधा छोप करके पश्चात् पूर्ववत् हिर्वचनेऽिन्। होगा । जिल्लान के होगा। जिल्लाम् में अभ्यासाच (७।३।४४) से अभ्यास से क्रि कुत्व घ् भी हुआ है। शेष पूर्ववत् है। विद्कृ लाभे हे आदि जानें।।

सनिससनिवांसम् १।१॥ अनु०—वसु, इट्र, अङ्गर्य सनिससनिवांसम् ॥७।२।६९॥

ि पहः] .

अव सिनम् इत्येवंपूर्वात् सनतेः सनोतेनां वसोरिड् एत्वाभ्यासलोपाभावश्र व्याप्ति ॥ अन्द्रयेतत् निपातनम् ॥ उदा०—अञ्जित्वाग्ने सनिससनि-

गारेशः वांसम् ॥

, उसई हुआ

ना स

गहे।

THE

विशे

7 11 8

हा माषार्थ: सिनम् पूर्वक षणु ,दाने अथवा षण धातु से कसु को इट में आगम तथा अत एकहल्मध्ये० (६।४।१२०) से प्राप्त एत्व तथा अभ्यास िको के होप का अभाव करके [सनिससनिवांसम्] सनिससनिवांसम् यह शब्द निपातन किया जाता है।। द्वितीया विभक्ति के एकवचन में ही यह शब्द त्रहें निपातन है, अतः इसकी नियतानुपूर्वी देखकर वेद में ही यह शब्द आक तिपातन है ऐसा मानना चाहिये, क्योंकि नियतानुपूर्वी वेद में ही होती है ।। इस

ऋद्वनोः स्ये ॥७।२।७०॥

ऋद्धनोः १।२॥ स्ये ७।१॥ स०—ऋद्धनोः इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ ऋ्व-्इट्, अङ्गस्य॥ श्रर्थः-ऋकारान्तानां धातूनां हन्तेश्च स्ये ह्यामो भवति।। उदा०—ऋकारान्तानाम् करिष्यति, हरिष्यति। इते:-हिनष्यति ॥

भाषार्थ: [ऋदनोः] ऋकारान्त तथा हुन घातु के [स्ये] स्य को विद्ता है आगम होता है।। ऋकारान्त एवं हन के अनुदात्त होने से एकाच ल्पदेशे (७।२।१०) से इट्निषेध प्राप्त था, इट् प्राप्त करा दिया॥ विद्याँ परि० १।४।१३ में देखें ।।

अझे: सिचि ॥७।२।७१॥

अञ्जे: ४।१॥ सिचि ७।१॥ अनु०—इट्, अङ्गस्य ॥ अर्थ:—अञ्जे: म्बे अतिस्य सिचि इडागमो भवति ॥ उदाः—आञ्चीत्, आञ्चिष्टाम्, आञ्जिषु: ॥

भाषार्थ:—[अक्षे:] अञ्जू धातु से उत्तर [सिचि] सिच् को इट् 501 आगम होता है।। अब्जू धातु स उत्तर [ताराप्त शहर से इट् किल्प से प्राप्त था, नित्य कह दिया।। सिद्धियाँ परि० १।१।१ के अनुसार जानें।। ६।४।७२ से यहाँ आट् आगम होता है।। यहाँ से 'सिचि' की अनुवृत्ति ७।२।७३ तक जायेगी।। ॰

स्तुसुघूञ्स्यः परस्मैपदेषु ॥७।२।७२॥

ि पाद

द्वाद्व

घाउ

से

'न्'

तथ

भव

स्तुसुधूकभ्यः ४।३॥ परस्मैपदेषु ७।३॥ स०—स्तुः हार् द्वन्द्वः ॥ अनु - सिचि, इट्, अङ्गस्य ॥ अर्थः - स्तु, सु, भून् विष उत्तरस्य सिच इडागमो अवति परस्मैपद्गेषु परतः ॥ उदाः-का असावीत्। अधावीत्।।

भाषार्थ:-[स्तुसुघूवभ्यः] ब्टुन्न् , पुन् , तथा धून् धातु है। अभ [परस्मैपदेषु] परस्मैपद परे रहते सिच् को इट् आगम होता है। गुण पुञ् धातु अनुदात्त हैं, अतः उन्हें नित्य प्रतिषेध प्राप्त या, वा कदित् है, अतः पूर्ववत् विकल्प प्राप्त था, तद्र्थ यह सूत्र है। (६) यहाँ से 'परस्मैपदेषु' की अनुवृत्ति ७।२।७३ तक जायेगी॥

यमरमनमातां सक् च ॥७।२।७३॥

यमरमनमाताम् ६।३॥ सक् १।१॥ च अ०॥ स०-यमः हि तरद्वन्द्वः ॥ श्रनु०-परस्मैपदेषु, सिचि, इट्, अङ्गस्य॥ श्रम्भा रमु, णम इत्येतेषामङ्गानामाकारान्तानास्त्र सक् आगमो भवि इडागमस्र परसमैपदेषु परतः ॥ उदा०-यम-अयंसीत्, अवि अयंसिषुः। रमु—व्यरंसीत्, व्यरंसिष्टाम्, व्यरंसिषुः। ण सीत्, अनंसिष्टाम्, अनंसिषुः। आत्—अयासीत्, अव गड़ अयासिषुः ॥

भाषार्थः—[यमरमनमाताम्] यम, रमु, णम तथा आकार्ण को [संक्] सक् आगम होता है [च] तथा सिच् को पर्ति रहते इट् आगम होता है।। 'अट् यम् सक्, इट्, लिंग तिप्' यहाँ इट ईटि (८।२।२८) से सिच् के सकार का लोप ती सब होकर अ यम् स् ई त् = अयंसीत् बना । सक् कित्री कि के अन्त में, तथा इट् टित् होने से सिच् के आदि में बैठेगा। कि में व्याङ्परिभ्यो० (११३१८३) से परसमैपद होता है। वद्मका के से सर्वत्र वृद्धि पाप के से सर्वत्र वृद्धि प्राप्त होने पर नेटि (७)२।४) से प्रतिषेध होता है। वद्मवा होने पर नेटि (७)२।४) से प्रतिषेध होता है। वद्मवा होता हो। वद्मवा होता है। वद्मवा होता है। वद्मवा होता है। वद्मवा होता है। वद्मवा होता हो। वद्मवा होता है। वद्मवा होता हो। वद्मवा ह धातुएँ अनुदात्त हैं, अतः इट् प्रतिषेध प्राप्त होते पर वह इट् के सिन्नयोग से सक् आगम भी होता है। स्मिपूङ्रङज्वशां सनि ॥^{७।२।७४॥} समपूङ्र्डज्वशाम् ६।३॥ सनि ७।१॥ स॰—सि॰

ि पादः] .

施 TH-

याँ

Mi

訓

1

हुदू:॥ अतु०—इट्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—स्मिङ्, पूङ्, ऋ, अञ्जू, क्ष्य इस्येतेषां धातूनां सन इडागमो भवति ॥ उदा०—सिस्मयिषते, पिप-विषते, अरिरिषति, अञ्जिजिषति, अशिशिषते ।।

भाषार्थः-[स्मि" शाम्] स्मिङ्, पूङ्, ऋ, अञ्जू, अञ्जू इन Itai बातुओं के [सिन] सन् को इट् आगम होता है।। पिपविषते में अम्यास के उ को इत्व ह्याः पुराराज्यपरे (७।४।८०) से हुआ है। पू को गुण अवादेश करके द्विवंचने ऽचि (१।१।५८) से पू पाव् द्वित्व होगा। अरिरिषित में ऋ को गुण रपरत्व करके 'रिष् रिष्' द्वित्व अजादेद्वितीयस्य (१११२) से होगा, तथा अञ्जिजिषति में न न्द्राः संयोगादयः (६।१।३) से नकार को (अञ्जू में परसवर्ण होकर न को व् हुआ है, वस्तुतः वह (न' है) भी द्वित्व का निषेध होकर 'जिष् जिष्' द्वित्व होता है।। अञ्जू त्या अशू के ऊदित् होने से पूर्ववत् विकल्प प्राप्त था, तथा शेष धातुओं क डान्त होने से सिन यहगुहोश्च (७।२।१२) से नित्य इट् निषेध प्राप्त के वा, तदर्थ यह आरम्भ है।। र्ष्ट,

यहाँ से 'सनि' की अनुवृत्ति ७।२।७५ तक जायेगी।।

किरश्च पश्चभ्यः ॥७।२।७५॥

किरः ४।१॥ च अ०॥ पद्धभ्यः ५।३॥ श्रनु० – सनि, इट्, क्क्स्य ।। त्रर्थः —िकराद्भियः पद्धभ्यो धातुभ्य उत्तरस्य सन इडागमो भवति ।। उदा०—कृ-चिकरिषति । गृ — जिगरिषति । दृङ्-,दिद-रिषते । घुङ्—दिधरिषते । प्रच्छ-पिपृच्छिषति ॥

भाषार्थ:—[किर:] कू इत्यादि [पश्चभ्य:] पाँच धातुओं से उत्तर भी सन् को इट् आगम होता है।। टङ् धृङ् के उगन्त होने से अनुहास के १ (७)२।१२) से इट् प्रतिषेध प्राप्त था, तथा अन्यों के अनुदात्त होने से इट् निषेध प्राप्त था, विधान कर दिया ।। पिपृच्छिष्ठषि भ सिद्धि परि० १।२।८ में देखें । इसी प्रकार अन्यों में भी जानें।।

यहाँ से 'पश्चभ्यः' की अनुवृत्ति ७।२।७६ तक जायेगी।।

रुदादिभ्यः सार्वधातुके ॥७।२।७६॥ र्षादिभ्यः ५।३॥ सार्वधातुके ७।१॥ स०—रुद् आद्ग्रिंषां ते

ि पार रुदाद्यस्तेभ्यः वहुन्रीहिः ॥ अनु - पच्चभ्यः, वलादेः, हर् अर्थ:—रुद्दादिभ्यः पद्धभ्यो धातुभ्य उत्तरस्य वलादेः सामा तथ इडागमो भवति ॥ उदा० — रुद् -रोदिति । स्वप्-स्विधि है श्वसिति । अन्—प्राणिति । जक्ष्—जिक्षिति ॥

भाषार्थ:-[रुदादिभ्य:] रुदादि पाँच धातुओं से उत्तर [सार्वधातुके] सार्वधातुक को इट् आगम होता है॥ क्री अनितेरन्तः (८।४।१९) से णत्व हुआ है।। ये सब धातुएँ ह गणस्थ हैं ॥

यहाँ से 'सार्वधातुके' की अनुवृत्ति अश८१ तक जायेगी॥

ईशः से ॥७।२।७७॥

सव

सर

75 तस

कुर

हो

अ

(8

P R

9

ईशः ४।१।। से लुप्तपष्ट्यन्तिनिर्देशः ।। श्रनु०—सार्वधातुके अङ्गस्य ।। अर्थः—ईश उत्तरस्य से इत्येतस्य सार्वधातुकाय ह भवति ॥ उदा०-ईशिषे, ईशिष्व ॥

भाषार्थः — [ईशः] ईश ऐश्वर्ये धातु से उत्तर [से] से सार्वगहुः आगम होता है।। थासः से (३।४।८०) से जो थास् को से आदेश है उसका यहाँ 'से' से प्रहण है। ईशिषे यहाँ पूववत् अदिप्रमृतिमाः से शप् का लुक् होगा। एकदेशविकृतमनन्यवद् भवति (पिरिं परिभाषा से 'से' के एकार को जो सवाभ्यां वामी (३।४)ही आदेश होता है उसका भी इस सूत्र से प्रहण हो जाता है, अ में भी इट् आगम होता है।।

यहाँ से 'से' की अनुवृत्ति ७।२।७८ तक जायेगी।।

ईडजनोध्वें च ॥७।२।७८॥

ईडजंनोः ६।२॥ ध्वे लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः॥ च अ०॥ हः इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु० — से, सार्वधातुकस्य, इट्, अन्त्री हैंड, जन इत्येतर्भाः ईड, जन इत्येताभ्यां धातुभ्यामुत्तरस्य ध्वे इत्येतस्य से सार्वधातकस्य ह्या सार्वधातुकस्य इंडागमो भवति ॥ उदा० — ईंडिंध्वे, हिंडिंध्वे, ईडिष्व । जिन्द्वं, जिन्द्वम् , जिन्द्वं। इडिष्यं, इडिष्यं। इडिष्यं, इडिष्यं। इडिष्यं। जिन्द्वं। इडिष्यं। इडिष्यं। इडिज्यते-ईशिष्वम।

[ि पदः].

तुके,

शही

(13

115

A.

A.

भाषार्थ:--[ईडजनोः] ईड तथा जन धातु से उत्तर [ध्वे] ध्व चि 部 तथा 'से' सार्वधातुक को इट आगम होता है।। ईडिध्वम् जिनध्वम् छोट कि ह्य हैं। ईश धातु से भी ध्य परे इडागम इष्ट है—ईशिध्यम्। सवाभ्यां वामी (३।४।६१) से यहाँ 'म्' आदेश होगा।।

लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य ॥७।२।७९॥

हिङ: ६।१।। सलोप: १।१।। अनन्त्यस्य ६।१।। स०—सस्य लोप: सलोपः, षष्टीतत्पुरुषः । अन्ते भवो ऽन्त्यः, न अन्त्योऽनन्त्यस्तस्य न्न्-त्त्रुखः ॥ अनु - सार्वधातुके, अङ्गस्य ॥ अर्थः - सार्वधातुके यो छिङ् त्रयानन्त्यस्य सकारस्य छोपो भवति ।। उदा०-कुर्यात्, कुर्याताम्, क्यं। कुर्वीत, कुर्वीयाताम्, कुर्वीरन्।।

माषार्थः - सार्वधातुक में जो [लिङ:] लिङ् लकार का [श्रनन्त्यस्य] अनन्त्य [सलोपः] सकार, उसका छोप होता है।। सार्वधातुक छिङ् कहने में विधिष्टिङ् के स् का ही छोप होगा, आशीर्लिङ् तो लिङाशिषि (राष्ट्रा११६) से आर्धधातुक होता है।। छिङ् छकार को हुये यासुट्, सुट्, विया सीयुट् आगम के सकार ही अनन्त्य सकार हैं, सो उन्हीं का छोप होता है।। कुर्यात् आदि की सिद्धि सूत्र ६।४।१०६ में देखें। कुर्वात बादि में सीयुट् के स्का छोप हुआ है। कुरु ईय् त = लोपो व्योविल 0 7 (६।१।६४) लगकर कुर्वीत बन गया ।।

अतो येयः ॥७।२।८०॥

अतः ५।१॥ या लुप्तषष्ट्यन्तनिर्देशः॥ इयः १।१॥ अनु - सार्व-भातुके, अङ्गस्य ।। अर्थः — अकारान्तादङ्गादुत्तरस्य या इ्त्येतस्य सार्वधातुकस्य इय् इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—पचेत्, पचेताम्, पचेयुः॥

माषार्थः - [अतः] अकारान्त अङ्ग से उत्तर सार्वधातुक [या] या के स्थान में [इय:] इय् आदेश होता है।। अर्थ की दृष्टि से 'सार्व-भातके (१) इय् आदश हाता ह ।। जन का उत्तर का भारके सप्तम्यन्त यहाँ पष्ट्यन्त में बद्छ जाता है। सार्वधातुक का या कहने से पूर्ववत् विधिलिङ् का 'या' लिया जायेगा ।। पच् शप् यास् हर त् पच् अ या त् = पच इय् त यहाँ लोपो व्योवित (६।१।६४)

[हिंकी गर

11

777 航

部

आ

4

T:

न

वा

ल्याकर पचेत् बन गया। इसी प्रकार पचेताम् आदि जानें। त्या (३।४।१०१) से यहाँ तस् को ताम् होता है।।

यहाँ से 'श्रतः' की अनुवृत्ति ७१२।८२ तक तथा 'ईयः' की पर्धा तक जायेगी॥

आतो डितः ॥७।२।८१॥

आतः ६।१॥ क्रितः ६।१॥ स०—ङ् इत् यस्य स क्रित्, ततः बहुव्रीहिः ॥ अनु०-अतः, इयः, सार्वधातुके, अङ्गस्य॥ क अकारान्तादङ्गादुत्तरस्य ङिद्वयवस्य आकारस्य सार्वधातुकस्य ह इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा० - पचेते, पचेथे, पचेताम्, पनेगा। यजेते, यजेथे, यजेताम्, यजेथाम्।।

भाषार्थः अकारान्त अङ्ग से उत्तर [ङितः] ङित् सार्वधालुः। अवयव [आत:] आकार के स्थान में इय् आदेश होता है॥ की पचेथे की सिद्धि परि० १।१।११ में देखें। तद्वत् छोट् में गाँ। (३।४।६०) लगकर पचेताम् पचेथाम् की सिद्धि जानें।। सार्वमाहः व्य (११२१४) से 'आताम्' ङित् है, अतः उसके अवयव 'आ' के ह हो गया।।

आने मुक् ॥ ७।२।८२॥

आने ७।१॥ मुक् १।१॥ अनु०-अतः, अङ्गस्य॥ अर्थः-परतोऽङ्गस्यातो मुक् आगमो भवति ॥ उदा०—पचमानः, यजमानः॥

भाषार्थ:—[त्राने] आन परे रहते अङ्ग के अकार को मि आगम होता है।। 'अतः' पञ्चम्यन्त की अनुवृत्ति जो उपर से और है वह 'आने' में सप्तमी होने से तस्मितित (१।१।६५) सूत्र के की षष्ठी में बद्छ जाती है। भाष्य में तिसमित्रिति भूत्र का इस प्रका किया है।। परि० ३।२।१२४ में द्वितीयान्त पचमानम् की सिर्दि के तद्वत् प्रथमान्त पचमानः में भी जानें । यहाँ अङ्ग के शप् के अ आगम होता है न कि अङ्ग को ॥

यहाँ से 'आने' की अनुवृत्ति ७।२।८३ तक जायेगी।।

ईदासः ॥७।२।८३॥

前原了:

यमः

स्व

学

आ

1

5

1

10

A

1

हेतू १११॥ आसः ५११॥ श्रनु०—आने, अङ्गस्य ॥ अर्थः—आस न्या आतस्य ईकारादेशो अवति ॥ उदा०—आसीनो यजते ॥

गागर्थ:-[त्रासः] आस् से उत्तर आन को [ईत्] ईकारादेश होता ॥ 'आसः' में पञ्चमी होने से पूर्ववत् 'आने' षष्ट्यन्त में तस्मादित्यु-सम (१।१।६६) के नियम से बद्छ जायेगा।। आसीनः की सिद्धि कि शशपर में देखें।।

अष्टन आ विभक्तौ ॥७।२।८४॥

वा। अष्टनः ६।१।। आः १।१।। विभक्तौ ७।१।। अनुः—अङ्गस्य ।। अर्थः— क्तो विभक्तौ परत आकारादेशो भवति ।। उदा०—अष्टाभिः, अष्टाभ्यः, क्षां व्यानाम्, अष्टासु ।।

माषार्थ:- [श्रष्टनः] अष्टन् अङ्ग को [विभक्तौ] विभक्ति परे रहते 🌃 🕅 आकारादेश हो जाता है।। अलोन्त्यस्य (१।१।५१) से अन्त्य 🌃 क्रिके स्थान में आत्व हो जाता है। अष्ट आ भिस् = अष्टाभिः हि जा। अष्टानाम् में षट्चतुभ्र्यश्च (७।१।५५) से नुम् आगम होता है। अष्ट [¶] तुम् आम् = अष्टानाम् बना ।।

यहाँ से 'आः' की अनुवृत्ति ७।२।८८ तक तथा 'विमक्ती' की गरा११३ तक जायेगी।।

रायो हिल ॥७।२।८५॥

रायः ६।१॥ हिल ७।१॥ अनु०—आः, विभक्तौ, अङ्गस्य ॥ श्रर्थः— स्येतस्याङ्गस्य इलादौ विभक्तौ परत आकारादेशो भवति ॥ उदा०— ाध्याम्, राभिः ॥

भाषार्थ: [राय:] रै अङ्ग को [हिल] हलादि विभक्ति परे रहते अकारिश होता है ।। पूर्ववत् यहाँ भी अन्तिम अल् 'एँ' के स्थान में

युष्मदस्मदोरनादेशे ॥७।२।८६॥ युष्मद्रमदोः ६।२॥ अनादेशे ७।१॥ स०—युष्मच असमच

The state of युष्मद्स्मदी, तयो 'इतरेतरद्वन्द्वः। न आदेशः अनादेशसिम T नव्तत्पुरुषः ॥ श्रमु०-—आः विभक्तौ, अङ्गस्य ॥ अर्थः—गुमद् कः अ इत्येतयोरनादेशे विभक्तौ परत आकारादेशो भवति ॥ उदा०-गुमा ब्र अस्माभिः । युष्मासु, अस्मासु ।।

भाषार्थः-[युष्मदस्मदोः] युष्मद् तथा असमद् अङ्ग को श्रिताः आदेश रहित (जिसमें कोई आदेश नहीं हुआ है) विभक्ति के पी आकारादेश होता है।। भिस् तथा सुप् विभक्ति को कोई आहेर होता है, अतः अनादेश विभक्ति परे है, सो अन्तय अल् 'द्' के हो गया ॥

· यहाँ से 'युष्मदस्मदोः' की अनुवृन्ति ७।२।९८ तक तथा आहे वि की ७।२।८९ में ही जायेगी।।

द्वितीयायां च ॥७।२।८७॥

1

(8

ST.

द्वितीयायाम् ७१।। च अ० ।। श्रनु०—युष्मद्स्मदोः, आः विष अङ्गस्य ।। अर्थ:—द्वितीयायां च विभक्ती परत युष्मद्सादीरामणी भवति ॥ उदा० — त्वाम्, माम् । युवाम् । आवाम् । युष्मान्, असरि

भाषार्थ:-[द्वितीयायाम्] द्वितीया विभक्ति के परे रहते [ग्री युष्मद् तथा अस्मद् अङ्ग को आकारादेश होता है।। पूर्व सूत्र में अवी विभक्ति कहा था, यहाँ छे प्रथमयो० (७।१।२८) से अम् आदेश हो। आदेसरूप विभक्ति है, तद्र्थ यह वचन है।। त्वाम् आदि की मि परि० ७।१।२८ में तथा युष्मान् अस्मान् की सिद्धि प्राणी में देखें॥

प्रथमायाञ्च द्विवचने भाषायाम् ॥७।२।८८॥

भाषायाम् औ प्रथमायाः ६।१॥ च अ०॥ द्विवचने ७।१॥ अनुः — युष्मद्स्मदोः, आः विभक्तौ, अङ्गस्य ॥ अर्थः — प्रथमी द्विवचने विभक्तौ परतो युष्मद्स्मदोराकारादेशो भवति भाषायाँ वि अवाम् ॥ भाषार्थः—[प्रथमायाः] प्रथमा विभक्ति के [द्विववने] द्विववने] दिववने हिन्तु हो *उदा०*—युवाम् , आवाम् ॥

परे रहते [चू] भी [भाषायाम्] भाषा विषय में युष्मद् असी

सप्तमोऽध्यायः

E C

言

No.

४३३ ं

嘱:] अधारिश होता है।। यह सूत्र भी आहेश रूप विभक्ति परे रहते प्राप्त या ग्राते के लिये है ।। सिद्धि परि० ७।१।२८ में देखें।।

योऽचि ।।७।२।८९॥

य: १११॥ अचि ७११॥ अनु०-युष्मद्रमद्रोरनादेशे, विभक्ती. वन्य ॥ अर्थः — अजादावनादेशे विभक्तौ परतो युष्मदस्मदोर्यकारादेशो मित्र मिति॥ उदा०—त्वया, मया, त्विय, मिय, युवयोः, आवयोः॥

मापार्थ: कोई आदेश जिसको नहीं हुआ है ऐसी [श्रिचि] अजादि मिक के परे रहते युष्मद् अस्मद् अङ्ग को [यः] यकारादेश होता है॥मपर्यन्त युष्म् अस्म् को त्वयावैकवचने (७।२।६७) से त्व म आदेश ला प्रकृत सूत्र से द्को य् आदेश होकर त्व अ य्टा रहा। त्रातो गुणे (भ१६४) लगकर त्वया मया आदि बन गये । इसी प्रकार युवयोः आवयोः वह पंजानी दिवचने (७।२।६२) से युव आव आदेश करके सिद्धि जानें।। THE REAL PROPERTY.

शेषे लोपः ॥७।२।९०॥

भेषे जरा। छोपः १।१॥ अनु०—युष्मद्स्मदोः, विभक्ती, अङ्गस्य॥ वृह्म विभक्ती युष्मद्रमदोर्लीपो भवति॥ कश्च शेषः १ यत्र कारो यकारश्च न विहितः ॥ उदाः—त्वम्, अहम्। युयम् वयम्। म्यम्, महाम्। युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम्। त्वत्, मत्। युष्मत्, अस्मत्। क्ष, मम । युष्माकम् , अस्माकम् ॥

भाषार्थ: [शेषे] शेष विभक्ति के परे रहने पर युष्मद् असमद् कि का [लोप:] छोप होता है ।। यहाँ प्रश्न होता है किससे शेष भिक्ति के परे ? उत्तर है, जहाँ पूर्वधूत्रों से यकार एवं आकार कहा है असे अन्य में = रोष में | इस प्रकार पूर्वोक्त उदाहरण ही उनसे शेष हैं ॥

यहाँ से आगे युष्मद् अस्मद् को जो आदेश कहे हैं, वे युष्मद् भाद के मपर्यन्त को कहे हैं, अतः मपर्यन्त को आदेश कर लेने म बो अद् भाग शेष रहता है, उस 'अद्' अर्थात् टि भाग का के सि एवं साग शेष रहता है, उस 'अद्' अथात्। दे के कि हो, अथवा अन्त्य छोप (१।१।११) द् मात्र का हो, ये भारत से हो, अथवा अन्तय छोप (१।१।५१) द् मान स्थान के प्रकार में (म॰ भा० ७।१।३०) माने गये हैं, सो अन्त्य के पक्ष भाष्य में (मः भाः ७।१।३०) माने गय है, पा १८ में अ को श्रतो गुणे (६।१।६४) से पररूपत्व एवं अमि पूर्वः

[ÎZÎ ME (६।१।१०३) से पूर्वरूप होकर सिद्धि होगी। टिलोप पक्ष में कठिनाई ही नहीं।।

त्वम्, अहम्, यूयम्, वयम्, तुभ्यम्, महाम् की सिद्धित ७।१।२८ में देखें । युष्मभ्यम् , अस्मभ्यम् की सिद्धि सूत्र जाशका त्वत् मत् की ७।१।३२ तथा युष्मत् , अस्मत् एवं युष्माकम् असाम् ७।१।३१-३३ में देखें। तव मम की सिद्धि परिः शशाहमें अद भाग का लोप पूर्ववत यहाँ भी हो गया है।।

मपर्यन्तस्य ॥७।२।९१॥

48

मपर्यन्तस्य ६।१॥ स०-मः पर्यन्तो यस्य स मपर्यन्तस्य ह व्रीहि: ॥ अर्थ: - इतो ऽये वक्ष्यमाणा आदेशा मपर्यन्तस्यैव भवनीत्रीही वेदितव्यः ॥ उदा० — वच्यति — युवावौ द्विवचने — युवाम् , आवार्॥ 🔐

भाषार्थः — यहाँ से आगे ७।२।६८ तक सब आदेश [मर्पका]म मकार पर्यन्त को होंगे।। अर्थात् युष्मद्, असमद् को जो आहे ही वे आदेश युष्मद् असमद् के मकार तक जितना अंश युष्म असी उसके स्थान में हों ऐसा अधिकार जानना चाहिये॥ यह अधि क्ष स्त्र है॥

युवावौ द्विवचने ॥७।२।९२॥

युवावी १।२॥ द्विवचने १।२॥ स०—युवश्च आवश्च गुर्के इतरेतरद्भन्द्वः ॥ अनु०—मपर्यन्तस्य, युष्मदस्मदोः, विभक्तौ, अन्त अर्थः—द्विचने = द्व्यर्थाभिधानविषये ये युष्तद्सादी त्योमप्र स्थाने युव आव इत्येतावादेशी भवतः ॥ *उदा*ः—युवाम्, अव्य युवाभ्याम् , आवाभ्याम् । युवयोः, आवयोः ॥

भाषार्थः—[द्विवचने] द्विवचन = दो अर्थों को कथन करते वाहित्र कि अस्मद् अङ्ग के मपर्यन्त के स्थान में क्रमशः [युवावौ] युव, आव हो जाते हैं ।। मपर्यन्त के स्थान में क्रमशः [युवावी] युव, आव आव हो कर युव अद् भ्याम, अव भ्रम्भ स्थाम रहा । यहाँ भ्याम् रहा। यहाँ युष्मदस्मदो० (७।२।८६) से द् को 'आ पर्यात् सवर्णदीर्घत्व होकर युवाभ्याम् आवाभ्याम् बन ग्रामा अ आवयोः में भी योऽचि (७।२।८६) से द् को य होकर सिद्धि जाती

सप्तमोऽध्यायः

हिले हिले

H i

ři

·

४३४

युगवयौ जिस ॥७।२।९३॥

ग्रवयौ शशा जिस ७११। स०-यूयश्च वयश्च यूयवयौ, इतरेतर-देते हिं॥ अनु०—मपर्यन्तस्य, युष्म रस्मदोः, विभक्तौ, अङ्गस्य ॥ अर्थः— कि विभक्ती परतो यथासङ्ख्यं युष्मदस्मदोर्भपर्यन्तस्य यूय वय इत्ये-म् बादेशी भवतः ॥ उदा०—यूयम् , वयम् ॥

मापार्थ:-[जिस] जस् विभक्ति परे हो तो युष्मद् अस्मद् अङ्ग के क्यंत को क्रमशः [यूयवयो] यूय, वय आदेश होते हैं।। सिद्धि परि॰ गशर में देखें।।

त्वाही सौ ॥७।२।९४॥

वाहौ शरा। सौ ७११। स०—त्वाहौ, इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनुः— लिनस्य, युष्मदस्मदोः, विभक्तौ, अङ्गस्य ।। अर्थः—सौ विभक्तौ परतो मित्मदोर्मपर्यन्तस्य यथासङ्ख्यं त्व अह इत्येतावादेशौ भवतः॥ ह्यं वि-त्वम्, अहम्। परमत्वम्, परमाहम्। अतित्वम्, अत्यहम्।।

भाषार्थः—[सौ] सु विभक्ति परे रहते युष्मद् असमद् अङ्ग के विन को क्रमशः [त्वाहो] त्व तथा अह आदेश होते हैं।। त्वमावे० शिह्ण) से अस्मद् को म आदेश एकवचन में प्राप्त था तदपवाद यह परमत्वम् आदि में कमधारय तत्पुरुष समास है। अतित्वम भि में स्त्रती पूजायाम् (वा० २।२।१८) से समास हुआ है। सिद्धियाँ कि जाशायट में देखें।।

तुभ्यमद्यौ ङिय ॥७।२।९५॥

हिन्यमही ११२॥ इस्य ७११॥ स०—तुभ्य० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ भूपर्यन्तस्य, युष्मद्समद्ोः, विभक्तौ, अङ्गस्य ॥ श्रर्थः—युष्मद-जिसकों, अङ्गस्य ।। जन जुन्म क्रिक्तों, अङ्गस्य ।। जन जुन्म क्रिक्तों । जन जुन्म विभक्तों । जन जुन्म विभक्तों । जन जुन्म विभक्तों । जनमान्यम । जिल्ला प्रथाकम तुभ्य महा इत्यतावादशा नुनुस्त परममहाम्। ज्वाक्ता परममहाम्। परमतुभ्यम्, परममहाम्। अतिहाराम् ॥

भारि में किया है विभक्ति परे रहते होते हैं।। सिद्धि परि

[南京]

aH

TO

Æ.

तवमयो ङसि ॥७।२।९६॥

ङसि ७११। स० तवः इत्यत्रेतरेतरहरू तवसमी ११२॥ अनु०—मपर्यन्तस्य, युष्मद्रसदोः, त्रिभक्ती, अङ्गस्य ॥ त्रर्थः-कृष्ट्र समदोर्भपर्यन्तस्य यथाक्रमं तव सम इत्येतावादेशौ भवतो असि कि परतः ॥ उदा - तव, सम । परसतव, परसमम । अतितव, अतिमा

माषार्थः — युष्मद् अस्मद् अङ्ग के मपर्यन्त को क्रमशः क्रि तव तथा मम आदेश [ङिस] ङस् विभक्ति परे रहते होते हैं॥ विका परि॰ २।२।१६ में देखें। अद् भाग का शेषे लोपः से लोप हो जाने हा

त्वमावेकवचने ॥७।२।९७॥

त्वमौ श्रा एकवचने श्रा सं-त्वः इत्यन्नेतरेतरहा अनुः—मपर्यन्तस्य, युष्मदस्मदोः, विभक्तौ, अङ्गस्य ॥ अर्थः—एवर्ग ये युष्मदस्मदी तयोमेंपर्यन्तस्य त्व म इत्येतावादेशी भवतः॥ स त्वाम्, माम्। त्वया, मया। त्वत्, मत्,। त्वयि, मयि॥

भाषार्थ: [एकवचने] एकवचन = एक अर्थ का कथन कर्ते युष्मद् अस्मद् अङ्ग के मपर्यन्त को क्रमशः [त्वमौ] त्व, म आहेरि हैं।। पूर्वोक्त सूत्रों में ही सिद्धियाँ देखें। त्वया, मया आदि में की (७।२।८९) से यकारादेश जानें।।

ग्रहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ७।२।६८ तक जायेगी॥

प्रत्ययोत्तरपदयोश्च ॥७।२।९८॥

प्रत्ययोत्तरपद्योः ७१२॥ च अ०॥ स०-- प्रत्ययश्च उत्तरपद्ध्व प्र पदे, तयोः इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु — त्वमावेकवचने, म्पूर्वेक युष्मद्रमदोः, विभक्तीं, अङ्गस्य ॥ अवुः—प्रत्यये उत्तरपदे व एकार्थयोर्युष्मद्स्मदोर्भपयन्तस्य त्व म इत्येतावादेशी भवतः॥ प्रत्यये — तवायम् = त्वदीयः, मदीयः । अतिशयेन त्वम् = त्वतिः। त्वामिच्छति = त्वद्यति, मदीयः । आंतशयन त्वम् = त्वर्यते, मिन्नियः । त्विमवाचरित = त्वर्यते, मिन्नियः । त्विमवाचरित = त्वर्यते, मिन्नियः । उत्तरपदे—तव पुत्रस्त्वत्पुत्रः, मत्पुत्रः। त्वं नाथोऽस्य=विना मन्नाथः॥ मन्नाथः ॥

भाषार्थः — [प्रत्ययोत्तरपदयोः] प्रत्यय तथा उत्तरपद् परे हिते। रकत्व अर्थ में वर्त्तमण्य भी एकत्व अर्थ में वर्तभान युष्मद् असमद् अङ्ग के मप्यन्त क्षेत्र CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

南原门 वम आहेश होते हैं।। त्वदीयः, मदीयः में युष्मद् अस्मद् की त्यदा-क्षित्र (१११७३) से वृद्ध संज्ञा होने से वृद्धाच्छः (४।२।११३) से छ क्ष हुआ है। 'युष्मद् ङस्' यहाँ मपर्यन्त को त्व आदेश होकर 'त्व हिं हा, पश्चात् छ प्रत्यय होकर त्व अद् ईय रहा । अतो गुरो त्याकर कि होय वन गया। शालीयः के समान सब कार्य यहाँ जानें। छ प्रत्यय मा है परे है ही। त्व अद् तरप्=त्वत्तरः, मत्तरः में तरप् प्रत्यय तास (१११८) हुआ है। त्वद्यति, मद्यति में सुप आत्मनः० (३।१।८) से विन्त्तया लद्यते, मद्यते में कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्च (३।१।११) से क्यङ् कि लग हुआ है। 'युष्मद् ङस् पुत्र सुं यहाँ प्रकृत सूत्र से मपर्यन्त को विभावेश होकर त्व अद् पुत्र = त्वद् पुत्र, चर्त्व होकर त्वत्पुत्रः बना । भीप्रकार मत्पुत्रः में जानें। त्वन्नाथः में यरोऽनुनासिके० (८।४।४४)

त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ ॥७।२।९९॥

331:-

Hole M

त्रिवतुरोः ६।२॥ स्त्रियाम् ७।१॥ तिस्चतस् लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः॥ ते - त्रिश्च चतुर च त्रिचतुरी, तयोः 'इतरेतरद्वन्द्वः । तिस् च चतसृ कार तिस्चतस् (सुपां सुलुक्० इत्यनेन विभक्तेर्लुक्) इतरेतरद्वन्द्रः॥
कि पि-विभक्तो, अङ्गस्य॥ अर्थः—ित्र चतुर् इत्येतयोः स्त्रियां तिसृ, म् इत्येतावादेशौ भवतो विभक्तौ परतः ॥ उदा०—तिस्रः, चतसः। म्भिः, चतस्यः ॥

भाषार्थः—[त्रिचतुरोः] त्रि तथा चतुर् अङ्ग को [स्नियाम्] स्नीलिङ्ग मात्रः [तिस्चतस्] तिस् चतस् आदेश विभक्ति परे रहते होते हैं। म जस अथवा शस् यहाँ अचि र ऋतः (७।२।१००) से ऋ के स्थान व कितादेश होकर तिस्रः चतस्रः बन गया।।

काँ से 'तिस्चतसृ' की अनुवृत्ति ७।२।१०० तक जायेगी।।

अचि र ऋतः ॥ ७। २। १००॥

अदि जीशा रः १११॥ ऋतः ६११॥ श्रवु०—तिसृचतसृ, विभक्ती, अपि जिल्ला रः १।१॥ ऋतः ६।१॥ अनु०—तिसृचतसून, स्वाने रेफादेशो भवति, कारी विभक्ती परतः ॥ उदाः—तिस् इत्येतयोत्रहेतः स्थान राजः । चतस्र विभक्ती परतः ॥ उदाः—तिस्रस्तिष्ठन्ति, तिस्रः पश्य । चतस्र विभक्तो परतः ॥ उदाः—तिस्रस्तिष्टन्ति, तिस्रः परय । प्रियतिस्रः परय । प्रियतिस्र आनय, प्रियचतस्र आनय।

南 प्रियतिस्तः स्वम्, प्रियचतस्तः स्वम्। प्रियतिस्ति निषेहि, प्रियस्त निघेहि॥

भाषार्थः—तिसृ चतसृ अङ्गों के [ऋतः] ऋकार के सा [अचि] अजादि विभक्ति परे रहते [तः] रेफ आदेश होता है। इको यणि से यणादेश करके ही रेफ सिद्ध था, पुनः इस सुरा आरम्भ शस् में प्रथमयोः पूर्वसवर्गः (६।१।६८) से प्राप्त पूर्वसवर्णन तथा ङसि ङस् परे रहते ऋत उत् (६।१।१०७) से उल एवं हिताइ परे ऋतो डि॰ (७।३।११०) से गुण न हो इसिछिये है। इस हा यह सूत्र तत्तत् सूत्रों का अपवाद बनता है।।

यहाँ से 'श्रचि' की अनुवृत्ति ७।२।१०१ तक जायेगी॥ जरायाः जरसन्यतरस्याम् ॥७।२।१०१॥

京 की,

T

जरायाः ६।१॥ जरस् १।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ अनुः जी विभक्तौ, अङ्गस्य ।। अर्थः—अजादौ विभक्तौ परतो जरा इत्येतस क इत्ययमादेशो भवति विकल्पेन ।। उदा० - जरसौ जरे, जास क जरसा दन्ताः शीर्यन्ते, जरया दन्ताः शीर्यन्ते । जरसे त्वा परिदृष्टुः बी त्वा परिदृद्युः । एवमजादौ सर्वत्र ज्ञेयम् ॥

माषार्थः—[जरायाः] जरा शब्द को अजादि विभक्तियों के पोह [अन्यतरस्याम्] विकल्प से [जरस्] जरस् आदेश होता जरस्- औ = जरसौ। पक्ष में जरा औ, औ को त्रींड आपः (जारी से शी होकर जरा ई = आद् गुर्णः (६।१।८४) छमकर जरे का प्रकार जरया में आिंड चांडपः (७।३।१०५) से जरा को एत जरे आ = अयादेश होकर जरया बना । जरायै में याडापः (७)रा से याट् आगम होकर जरा याट् ए = जराया ए रहा । वृद्धिरी जरायै बन गया । पक्ष में जरसा आदि में कुछ भी विशेष नहीं है।

त्यदादीनाम् ६।३॥ अः १।१॥ स०—त्यद् आदिर्येषां ते स्वार्ति॥ ं अहुत्रीहिः ॥ स्व स्तेषां : बहुव्रीहि: ॥ श्रनु०—विभक्ती, अङ्गस्य ॥ श्रर्थः—स्वर्षाः क्रिकार्ते व्यवस्थितः ॥ श्रर्थः—स्वर्षाः क्रिकार्ते व्यवस्थितः ॥ श्रर्थः—स्वर्षाः क्रिकार्ते व्यवस्थितः ॥ श्रर्थः—स्वर्षाः व्यवस्थितः ॥ श्रर्थः—स्वर्षाः ॥ ङ्गालामकारादेशो भवति, विभक्तौ परतः॥ उदा०—त्यद् त्ये । तद् — सं:, तौ, ते । यद् —यः, यौ, ये । एतद् —एषः, एती,

[] [] भाषार्थ:-[त्यदादीनाम्] त्यदादि अङ्गों को विभक्ति परे रहते [अ:] क्रापदेश होता है ।। अलोन्त्यस्य (१।१।५१) से अन्त्य अल् को 'अ' ला हिंदी: सः (७।२।१०६) से तकार को सकार होता है। सर्वे की सिद्धि परि० १।१।२६ में की है, तद्वत् बहुवचन में त्ये, ते सा बाद की सिद्धि जानें। सः की सिद्धि परि० १।१।५५ में देखें। इसी का का एतद् से एवः में भी त् को स् होकर सिद्धि जानें।। था व

किमः कः ॥७।२।१०३॥

स प्रश क्रिम: ६।१॥ कः १।१॥ अनु०-विभक्ती, अङ्गस्य ॥ अर्थ:-किम लेतस स्थाने क इत्ययमादेशो भवति विभक्तौ परतः ॥ उदा०-कः, ही, के 11

गापार्थः-[किम:] किम् अङ्ग को विभक्ति परे रहते [कः] क बंदेश होता है ।। अनेकाल् (१।१।५४) से सम्पूर्ण किम् को 'क' आदेश का भा का की सिद्धि परि० १।१।५५ में देखें तथा 'के' की पूर्ववत् सर्वे के बर्ग सान जानें।।

वहाँ से 'किम:' की अनुवृत्ति ७।२।१०५ तक जायेगी।।

तेष

酮

AND THE

S. A.

कु तिहोः ॥७।२।१०४॥

11 🖲 १।१॥ तिहो: ७।२॥ स०—तिस्र हस्र तिहौ, तयो: "इतरेतर हिं॥ अनु०-किमः, विभक्तौ, अङ्गस्य ॥ अर्थः-तकारादौ हकारादौ परतः किमः कु इत्ययमादेशो भवति ॥ ति इत्यत्र इकार माणार्थः॥ उदा॰—कुतः, कुत्र । हकारादौ —कुह ॥

भाषार्थ: [तिहो:] तकारादि तथा हकारादि विभक्तियों के परे क्षिक्षि को कि ज आदेश होता है।। 'ति' में इकार उचारणार्थ है, का (तकाराहि) ऐसा अर्थ किया है।। कुतः में तिसल् तथा कुत्र में त्रल् शिया विभक्ति संज्ञक (५१३११) हुये हैं। कुह में वाह च च्छ्रन्दिस विभक्ति संज्ञक (४।३।१) हुय है। अह म सह प्रत्यय हुआ है। सिद्धि-प्रकार परि॰ धाराहर में समझें ।।

काति ॥७।२।१०५॥ कात ॥७।२।१००॥ कुष्तप्रथमान्तिनिर्देशः॥ अति ७।१॥ अनुः—िकमः, विभक्तौ,

L Peter of अङ्गस्य ।। अर्थ: —अति विभक्तौ परतः किमः क इत्ययमादेशो मह उदा०-क गमिष्यसि, क्व भोच्यते॥

भाषार्थः [श्रात] अत् विभक्ति के परे रहते किम् अङ्ग बे[क आदेश होता है।। सिद्धि किमोऽत् (४।३।१२) सूत्र में देखें॥

तदोः सः सावनन्त्ययोः ॥७।२।१०६॥

तदोः ६।२॥ सः १।१॥ सौ ७।१॥ अनन्त्ययोः ६।२॥ स०-त्यत्र हे तदौ तयोः इतरेतरद्भन्द्रः । न अन्त्यो अनन्त्यौ तयोः नग्तसूस अनु - विभक्तो, अङ्गस्य, 'त्यदादीनाम्' इति चानुवर्तते मण्ड्काला है श्रर्थः-त्यदादीनामनन्त्ययोस्तकारदकारयोः स्थाने सकारादेशे क सौ परतः ॥ उदा०-स्यद्-स्यः । तद्-सः । एतद्-एषः । द्याल अद्स_असौ ॥

भाषार्थ:—त्यदादि अङ्गों के [श्रनन्त्ययोः] अनन्त्य (जो अर्ग नहीं) [तदोः] तकार तथा दकार के स्थान में [सौ] सु विभिन्न रहते [स:] सकारादेश होता है।। त्यद् आदि के अन्तिम त्या बोड़ कर अन्य तकार-दकार को स् हो गया है। सः की सिंहित शश्य में देखें।। एषः में आदेशः (८।३।४६) से पत हुआ असौ यहाँ सु परे रहते अदस् के स् के स्थान में अदस औ॰ (जर्मा) से 'औ' आदेश तथा सु का छोप होकर अद औ रहा। द् को प्रकृष से स् तथा वृद्धिरेचि (६।१।८५) से वृद्धि एकादेश होकर असी बनाण

यहाँ से 'सौ' की अनुवृत्ति ७।२।१०८ तक जायेगी॥

अदस औ सुलोपश्च ॥७।२।१०७॥

1

अद्सः ६।१॥ औ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः॥ सुलोपः १।१॥ वकः स॰—सोर्लोपः सन्ते स०—सोर्लोपः सुलोपः, षष्टीतत्पुरुषः ॥ श्रुतु०—सौ, विभक्ती, अङ्गराः अर्थः—अतमः स्रो अर्थः—अद्सः सौ परत औकारादेशो भवति सोश्च लोपो भवि उदा॰—असौ ॥

भाषार्थः—[अदसः] अद्स् को सु परे रहते [श्री] 'औं औं [च] तथा [सुलोपः] सु का छोप होता है।। अलोन्यस्य से अस् सकार को ही 'क्षे' सकार को ही 'औ' आदेश होता है।। अलान्यल के अपने स्वार्थ की की अपने आदेश होता है।। सिद्धि पूर्व सूत्र आये हैं॥

南啊]

भेकी

n

अन

वा द्वित्री

आहे।

1100

100

114

FRI विश

all i

36

M

इदमी सः ॥७।२।१०८॥

इसः ६।१॥ मः १।१॥ अनु० — सौ, विभक्तौ, अङ्गस्य ॥ अर्थः— ह्मः सौ विभक्तौ परतो सकारो् डन्ता देशो भवति ॥ उदा० — अयम् , क्रे[इ

गापार्थ: [इदम:] इदम् को सु विभक्ति परे रहते [म:] मकारादेश त्यक्ष होता है।। यहाँ भी श्रलोन्त्यस्य से अन्त्य अल् 'म्' को मकारादेश होगा।। पुरा कार को मकारवचन त्यदादीनामः (७।२।१०२) से अत्व के निवृत्यर्थ है। पुँल्लिङ्ग में इदम् के 'इद्' भाग को इदोऽय् पुंसि (७।२।१११) से मां अ आदेश होकर अय् अम् सु रहा । हल्ङ चादि छोप होकर अयम् वन कार ला। स्त्रीरिङ्ग में इदम् के दु को यु यः सौ (७।२।११०) से होकर इयम ना। मु लोप हल्ङचाभ्यो० से पूर्ववत् हो गया।।

यहाँ से 'इदमः' की अनुवृत्ति ७।२।११३ तक तथा 'मः' की ७।२।१०९ कि जायेगी।।

दश्र ॥७।२।१०९॥

दः ६।१॥ च अ० ॥ त्रानु०--इद्मो मः, विभक्तौ, अङ्गस्य ॥ त्रर्थः--हमो दकारस्य च स्थाने मकारादेशो भवति विभक्तौ परतः ॥ उदा०— मो, इमे, इमम्, इमो, इमान् ॥

भाषार्थ: इदम् के [दः] दकार के स्थान में [च] भी मुकार आदेश कि है, विभक्ति परे रहते ।। इदम् औ यहाँ त्यदादीनामः से अकारादेश कि इद अ औ रहा। प्रकृत सूत्र से द को म तथा पूर्वरूप (६।१।६४) कि इम औ = इमी बना। शेष उदाहरणों की सिद्धि पूर्ववत् है। मान् में तस्माच्छसो० (६।१।९९) से नत्व होगा।।

यहाँ से 'दः' की अनुवृत्ति ७।२।११० तक जायेगी ॥

यः सौ ॥ ७। २। ११०॥

वः १।१॥ सौ ७।१॥ त्रनुः—दः, इदमः, विभक्तौ, अङ्गस्य॥ क्षे स्ति। सी ७।१॥ श्रनुः—दः, इदमः, ।पनः॥, दिन्नो दकारस्य स्थाने यकारादेशो भवति सौ विभक्तौ परतः॥

िहिती प

3 6

Ų

1

1

H

भाषार्थः—इदम् के दकार के स्थान में [यः] यकारादेश हिं। विभक्ति परे रहते होता है।। सूत्र ७।२।१०८ में सिद्धि देखें। इदमो मः से मकार को मकार कहने से त्यदादीनामः से अल हुआ है ॥

यहाँ से 'सौ' की अनुवृत्ति ७।२।१११ तक जायेगी।। इदोऽय् पुंसि ॥७।२।१११॥

इदः ६।१॥ अयु १।१॥ पुंसि ७।१॥ श्रनुः—सौ, इदमः, विगर्द अङ्गस्य ।। अर्थः —इदम इद्रूपस्य पुंसि सौ विभक्तौ परतोऽय् 🔝 मिदेशो भवति ॥ उदा० — अयं ब्राह्मणः ॥

भाषार्थः—इदम् शब्द के [इदः] इद् रूप को [पुंसि] पुँछि। [अय्] अय् आदेश होता है, सु विभक्ति परे रहते ।। सिद्धि जशह सूत्र में देखें॥

यहाँ से 'इदः' की अनुवृत्ति ७।२।११३ तक जायेगी।।

अनाप्यकः ॥७।२।११२॥

अन लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ।। आपि ७।१॥ अकः ६।१॥ मण्न विद्यते ककारो यस्मिन् तत् अक्, तस्य ' बहुव्रीहि: ॥ अनु - म इदमः, विभक्तौ, अङ्गस्य ॥ अर्थः—इदमोऽककारस्य इद्रूष्प्य उदा०-अते अन इत्ययमादेशो भवति आपि विभक्तौ परतः॥ अनयोः॥

भाषार्थः—[अकः] ककार से रहित इदम् शब्द के इद् भार्व [अन] अन आदेश होता है [आपि] आप् विभक्ति परे रहते॥

आप् से यहाँ प्रत्याहार का प्रहण होता है, जो कि तृतीया एकी 'टा' से लेकर सप्तमी बहुवचन 'सुप्' के पकार तक लिया गया है। विभक्तियों के परे रहते अगले सूत्र से इद् भाग का लोप कहा है। वहाँ इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी, अजादियों में भी टा तथा और ही इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी, अजादियों में भी टा तथा और ही इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है, ऐसा जानना चाहिये॥ अकर्ष ककार से युक्त होने पर न हो जाये, अतः 'अकः' निषेध किया है। टा = इद् अ टा = अन अ टा, यहाँ टाङिस॰ (७।१।१२) से टा की

४४३.

南 啊] होत अन इन = अनेन बना । इसी प्रकार अनयोः में जानें। बोसि च मा हिल्ल अंत रें। यहाँ न के 'अ' को एत्व एवं अयादेश ही विशेष है।। वहाँ से 'श्रकः' की अनुवृत्ति ७।२।११३ तक जायेगी।। ल है

हलि लोपः ।।७।२।११३॥

वेसरी

in

70-i

- हा

अर्ट

Mg .

M Ecli

क्षा

T. A.

हिंख जाशा लोपः शाशा अनु०-अकः, इदः, इदमः, विभक्ती. बन्धा अर्थ:—इद्मोऽककारस्य इद्रूपस्य लोपो भवति, हलादौ क्षिकी परतः ॥ उदा०—आभ्याम्, एभिः, एभ्यः, एषाम्, एषु ॥

भाषार्थ:-ककार रहित इद्म् शब्द के इद् भाग का [हिलि] हलादि क्मिक परे रहते [लोपः] छोप होता है।। आभ्याम् की सिद्धि पिरू गारि में देखें। तद्वत् भिस्, भ्यस् आदि परे रहते 'अ भिस्' ऐसा हिं। हेकर बहुबचने कल्येत् (७।३।१०३) से अ को एस्व हो जाता है। राहि एपम् में त्रामि सर्वनाम्नः (७।१।५२) से सुट् आगम हुआ है, अतः लिदि विभक्ति परे मिल ही जायेगी। अ।देशप्रत्यययोः (८।३।५९) से पत जाने ।।

विद्यप्रकरणम्

मुजेवृद्धिः ॥७।२।११४॥

मृजे: ६।१॥ वृद्धिः १।१॥ अनु०-अङ्गस्य॥ अर्थः-मृजेरङ्गस्य कि स्थाने वृद्धिभेवति ।। उदा०—मार्ष्टि, मार्ष्टी, मार्ष्ट्रम्, मार्ष्ट्रव्यम्।। माषार्थ:-[मृजे:] मृज् अङ्ग के इक् के स्थान में [वृद्धिः] वृद्धि विहै।। माष्टिं की सिद्धि परि० १।१।३ में देखें। तद्भत तृच् में मार्ष गाद समझें। तुजन्त की सिद्धि-प्रिक्रया परि० १।१।२ में प्रदर्शित चेता के समान जानें।।

यहाँ से 'वृद्धिः' की अनुवृत्ति ७।३।३५ तक जायेगी।।

अचो ञ्णिति ॥ ७। २। ११५॥

अवः ६।१॥ किणति ७,१॥ स०—वस्र णस्र वृणौ, वृणौ इतौ यस्य कियाति ७,१॥ स०—वश्च णश्च व्यूणाः, प्राप्तः ॥ क्रिन्तः, अङ्गस्य ॥ श्रिन्तः, तिस्मन् पद्धः, अङ्गस्य ॥ श्रिन्तः व्यूणाः, व अर्थः तास्मन् : 'द्रन्द्रगर्भबहुत्रीहिः ॥ अर् ० - १ कः । काः अजन्तस्याङ्गस्य वृद्धिर्भवति, ञिति णिति च प्रत्यये परतः॥ भाः विति एकस्तण्डुलिनचायः । द्वौ शूर्पनिष्पावौ । कारः, हारः ।

िहितीर प णिति—गौः, गानौ, गानः। सखायौ, सखायः। जैत्रम्, कै च्यौरतः ॥

भाषार्थः—[श्रचः] अजन्त अङ्ग को [िन्स्ति] चित् जित् परे रहते वृद्धि होती है ।। तण्डुलिनचाथः, शूर्णनिष्पावी, में व्यू हुआ है। सूत्र ३।३।२० में सिद्धि देखें। गौः, सखायौ आदि की कि क्रमशः सूत्र भीशह० एवं भाशां २ में देखें। जैत्रम् यौत्रम् में जिला धातु से सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् (डणा० ४।१५९) से ष्ट्रन् प्रत्यय और बहुलबन्ना णित् हुआ है। च्योल: च्यु धातु से जनिदाच्यु० (उगा० ४११०४) सेल णित् प्रत्यय हुआ है। कारः, हारः सें घन् (३।३।१८) हुआ है॥

यहाँ से 'अचः' की अनुवृत्ति ७१३।३१ तक तथा 'ब्यिनि' ई ७।३।३५ तक जायेगी।।

अत उपधायाः ॥७।२।११६॥

अतः ६।१॥ उपधायाः ६।१॥ ऋतु०-- जिणति, वृद्धिः, अङ्गरा अर्थ: - अङ्गस्योपघाया अकारस्य स्थाने वृद्धिभवति, विति णिति प्रत परतः ॥ उदा०-भागः पाकः, त्यागः, यागः । णिति-पान्धः पाचकः, पाठयति, पाठकः ॥

माषार्थ:—अङ्ग की [उपधायाः] उपधा [अतः] अकार के स्थार वृद्धि होती है, ञित् णित् प्रत्यय परे रहते ॥ भागः आदि की लि परि॰ १।१।१ में देखें। पाचयति, पाठयति में हेतुमित च (श्रारी से णिर्च्तथा पाठकः आदि में ण्वुल् हुआ है ॥

तद्भितेष्वचामादेः ॥७।२।११७॥

तिद्धितेषु ७।३॥ अचाम् ६।३॥ आदेः ६।१॥ अनु०—अचो विक् वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—तद्धिते चिति णिति च प्रत्यये परतेऽङ्ग चामादेर्चः स्थाने वृद्धिभैवति ॥ उदा०—विति-गार्ग्यः, वात्यः, वा प्ळाक्षिः । णिति—औपगवः, कापटवः ॥

भाषार्थः—िञ्जू णित् [तिद्धितेषु] तिद्धित परे रहते अङ्ग के वि अचों के [आदे:] आदि अच् को वृद्धि होती है।। औपावः, क्रींस की सिद्धि परि० ११११ में देखें। गार्ग्यः, वास्यः में गर्गादिया। (४।१११०५) से यव् तथा दाक्षिः, प्लाक्षिः में अत इज् (४।१६४) इन् प्रत्यय हुआ है ॥

सप्रमोऽध्यायः

884

[語 [[] क्षाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ७।३।३१ तक जायेगी॥ किति च ॥ ७।२।११८॥

यौक्

家

चन

सेल

क्सा 飘 चर्याः

IF ? सिंह

शर्भ

of a

朝

例

वारी

TO THE

A

किति ७१॥ च अ० ॥ स० क् इत् यस्य स कित् तस्मिन् वहु-र्क्षः॥ अनु०—तद्धितेष्वचामादेः, अचः, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ अर्थः-क्षिच तद्धिते परतोऽङ्गस्याचामादेरचः स्थाने वृद्धिर्भवति ॥ उदा०--त्याः बहायनः, चारायणः । आक्षिकः, शास्त्रकिकः ॥

गापार्थः - [किति] कित् तद्धित परे रहते चि भी अङ्ग के अचों मं आदि अच् को वृद्धि होती है।। नाडायनः आदि में नडादिभ्यः पत् भिशाहि) से फक्, तथा आक्षिकः आदि में प्राग्वहतेष्ठक् (४।४।१) से क्हुआ है। उस्येकः (७१३।५०) से ठ को इक हो ही जायेगा।। गहाँ से 'किति' की अनुवृत्ति ७।३।३१ तक जायेगी।।

॥ इति द्वितीयः पादः॥

तृतीयः पादः

देविकाशिशपादित्यवाड्दीर्घसत्रश्रेयसामात् ॥७।३।१॥

दैविका यसाम् ६।३॥ आत् १।१॥ सः देविः इत्यत्रेतरेतर-व्यः॥ अनु० — किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो किणति, वृद्धिः, अक्स्य ॥ अर्थ: - देविका, शिशपा, दित्यवाट्, दीर्घसत्र, श्रेयस् इत्येते-भाक्षानामचामादरचः स्थाने ञिति णिति किति तद्धिते परतो वृद्धि-भारते भागादरचः स्थाने जात णात ।कात भारते भागादरचः स्थाने जाता । जात । ज विकाक्त भवाः शालयः = दाविकाक्त्याः शालयः । पूर्वद्विकायां भवः = विवायिकः शामः । शिशपा–शिशपायाः विकारश्चमसः = श्रांशपश्चमसः । शिशपार्थाः शिवास्थिले भवाः = शांशपास्थलाः । पूर्वेशिशपायां भवः = पूर्वेशांशपः । स्वार् भवाः = शांशपास्थलाः । पूर्वशिशपाय। स्वर् - दूर्णि स्वार् दित्योह इदं दात्योहम्। दीर्घसत्र—दीघसत्रे भवं = दार्घ-भिम्। श्रेयस् अयसि भवं = श्रायसम्।।

The state of भाषार्थः—िदिविका अयसाम्] देविका, शिंशपा, दिलक दीर्घसत्र, तथा श्रेयस् इन अङ्गों के अचों में आदि अच्को कि प्रसङ्ग होने पर जित् णित् तथा कित् तद्धित परे रहते [श्रात]क रादेश होता है ॥ पूर्वदेविका पूर्विशिशर्पा आदि प्राच्य देश है ह विद्योष की संज्ञायें हैं, सो यहाँ तत्र भवः (४।३।५३) अर्थ में प्रत्यह लेने पर उत्तरपद के आदि अच् को प्राचां यामनगराणाम् (जारा) वृद्धि प्राप्त थी, तदपवाद प्रकृत सूत्र से आत्व होकर पूर्वदाविक, है। शांशपः बन पर्या । शांशपश्चमसः में पलाशादिभ्यो वा (४।३॥३) से अण् प्रत्यय, अथवा अनुदात्तादि मानकर अनुदात्तादेश्च (अशिक्ष र्से विकार अर्थ रों अञ् हुआ है, सो तिखते । (७।२।११७) से 🏚 प्राप्त होने पर आप्व हो गया है। इसी प्रकार अन्यत्र भी भवः को ए प्रत्यय होकर वृद्धि प्राप्त होने पर आत्त्व हुआ है।। देविका नाम की से कुछ मील दूर बहने वाली नदी का है। इसके किनारे पर होने हैं। चावल प्रसिद्ध हैं।।

केकयमित्रयुप्रलयानां यादेरियः ॥७।३।२॥

of o

किकयमित्रयुप्रलयानम् ६।३।। यादेः ६।१॥ इयः १।१॥ म केकय० इत्यत्रेतरेतरद्भन्द्रः। य आदिर्यस्य स यादिस्तस्य वहुनीहा त्रवु - किति, तद्धितेषु, ञ्णिति, अङ्गस्य ।। अर्थः - केकय, निर् प्रलय इत्येतेषामङ्गानां यकारादेरिय इत्ययमादेशो भवति, ति हि णिति किति च परतः ।। उदा० — केकयस्यापत्यं = कैकेयः । मित्रयुवार्ष रलाघते = मैत्रेयिकया रलाघते । प्रलयादागतं = प्रालेयसुद्कम्॥

भाषार्थः—[केकयमित्रयु गलयानाम्] केकय, मित्रयु, प्रह्म इत औ के [यादे:] य् आदि वाले भाग को [इय:] इय आदेश होता । अर्थात केक्स अर्थ अर्थात् केकय आदि शब्दों में 'य' तथा 'यु' को इय हो जायेगा । जनपदशब्दात्० (४)१।१६६) से अञ् प्रत्यय हुआ है, सो नित् परेही विकास अञ्च - केन्य केकय अन् = केक इय अ = यस्येति छोप एवं श्राद्गुणः (धार्मा) लगकर केकेय एवं ति इतेष्व (७)२।११७) से वृद्धि होकर केकिया। गया। मैं ने जिल्ला अ गया । मैंत्रेयिकया में गोत्रचरणा० (५।१११७) से वृद्धि हाकर क्या है। मित्र्य व्या = क्रिक्स कर मित्रयुं वुक् = मित्रयु अक = यु को इय होकर मैत्र इय अक है। बना। टाप् तथा प्रत्ययस्थात्० (७।३।४४) से इत्व होका

[洞廊 का का मिन्न में आङि चापः (७।३।१०५) लगकर मैत्रेयिकया बन गया। विकास में जान नारा (४)३।७४) से अण् हुआ है।। विकास में तत आगतः (४)३।७४) से अण् हुआ है।। विकास में तत आगतः (४)३।७४) से अण् हुआ है।।

के ह त्रकः तकः।। य्वाभ्याम् ५१२॥ पदान्ताभ्याम् ५१२॥ पूर्वौ ११२॥ तु ११) का। ताभ्याम् ५।२।। ऐच् १ १।। स० — यं च वश्च य्वी ताभ्याम् ... 🌃 🏚 पदान्ताभ्यां यकारवकाराभ्यामुत्तरस्य अचामादेरचः स्थाने वृद्धिर्न के कित जिति जिति किति च तिद्धिते परतः, ताभ्यां (यकारवकाराभ्याम्) कों लें तु कमादैजागमी भवतः ॥ यकारादैकारः, वकारादौकारः॥ उदा०— कं वसने भवं वैयसनम् , वैयाकरणः । स्वश्वस्यापत्यं सौवश्वः ॥

तेतं गाषार्थः — [पदान्ताभ्याम्] पदान्त [य्वाभ्याम्] यकार तथा वकार से जा नित् णित् कित् तद्धित परे रहते अङ्ग के अचों में आदि अच् को बि [न] नहीं होती, किन्तु [ताभ्याम्] उस यकार वकार से [पूर्वी] कि ती कमराः [ऐच्] ऐच् = ऐ, औ आगम होता है, अर्थात् में एवं एवं व् से पूर्व औं आगम होता है।। वि असन अण् यहाँ मारेश होकर व्यू असन् अ रहा। अब यहाँ पदान्त जो यू उससे उत्तर महि भिंद अच्को प्रकृत सूत्र से (७)२।११७) वृद्धि का निषेध तथा यू से कि एको ऐ आगम होकर व् ऐ य् असन = वैयसनम् बना । इसी प्रकार भार आगम हाकर व् ए य् असन - पनरासार भारतीय तहोद (४।२।५८) से अण् होकर = व् ऐ य् आकरण भा = वैयाकरणः बना । सु अश्व = सृब् अश्व अण्, यहाँ शिवादिम्यो शिशिश्र्) से अपत्यार्थ में अण् तथा यणादेश होकर प्रकृत सूत्र से विभागम होकर 'स् औ व् अश्व अ = सौवश्वः' बन गया।।

यहाँ से 'न खाभ्याम् पूर्वों ताभ्याम् ऐच्' की अनुवृत्ति ७।३।५ तक वायेगी।

द्वारादीनां च ॥७।३।४॥

割 183 .

狮

1 धारादाना च ॥णराजा श्रीहि:॥ च अ०॥ स०—द्वार आदिर्येषां ते द्वारादयस्तेषाम् " शिहिः॥ श्रु ० ।। स० — द्वार आदियेषा त द्वाराप्त्रामादेः, क्षितिक्व वामादेः, क्षितिक्व वामादेः, भि जिम्हि, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—द्वार इत्येवमादीनां व्वाभ्यामुत्त-

100 रस्याचामादेरचः स्थाने वृद्धिन भवति पूर्वी तु ताम्यामेन भवतस्ति द्विति णिति किति च परतः ॥ अपदान्तार्थोऽयमाह उदाः—द्वारे नियुक्तः द्ौवारिकः। द्वारपालस्येदं दौवारपाल्याः मधिकत्य कृतो प्रन्थः = सौवरः ।।

भाषार्थः - [द्वारादीनाम्] द्वार इत्यादि शब्दों के यकार का उत्तर [च] भी जित् णित् कित् तद्धित परे रहते अङ्ग के अचे में अच् को वृद्धि नहीं होती, किन्तु यकार वकार से पूर्व को ऐव् तो हो जाता है।। पूर्व सुत्र सें पदान्त यकार वकार से उत्तर का अपदान्तार्थ इस सूत्र का आरम्भ है।। दौवारिकः में तत्र नि (शशह९) से अण् हुआ है। पूर्ववत् सिद्धियाँ जानें॥

न्यग्रोधस्य च केवलस्य ॥७।३।५॥

न्यग्रोधस्य ६।१॥ च अ० ॥ केवलस्य ६।१॥ अनु०—न व्याप्रां तु ताभ्यामैच्, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अस अर्थः -- न्यप्रोधशब्दस्य केवलस्य यकारातुत्तरस्याचामादेरचः स्थाने ही भवति, तस्माच पूर्वमैकार आगमो भवति॥ उदा०-नकी विकारः = नैयमोधस्रमसः ॥

भाषार्थ: — [केवलस्य] केवल जो [न्यमोधस्य] न्यमोध गर्व कि अचों में आदि अच् को [च] भी वृद्धि नहीं होती, किन्तु उसके व पूर्व को ऐकार आगम तो होता है।। यहाँ केवल युका ही प्रसङ्घी ऐकार आगम ही होगा, न कि औकार ॥

न कर्मव्यतिहारे ॥७।३।६॥

न अ०॥ कर्मव्यतिहारे ७।१॥ श्रनुः—अङ्गस्य॥ अर्थः व्यतिहारेऽथे पूर्वेण यदुक्तं तन्न भवति ॥ प्रकृतस्य वृद्धिप्रितिषेषाण्याः प्रतिषेषः ॥ उत्य प्रतिषेधः ॥ उदा० — व्यावकोशी, व्यावलेखी, व्याववर्ती ॥

भाषार्थः—[कर्मन्यतिहारे] कर्मन्यतिहार अर्थ में पूर्व मूर्ति है कुछ कहा है वह [न] नहीं होता। अर्थात् ऐच् आगम कहा है। व होता, एवं वृद्धिप्रतिषेध कहा है, वह (प्रतिषेध) भी नहीं होती के वृद्धि होती हैं।। सिक्ति वृद्धि होती हैं॥ सिद्धि परि० ३।३।४३ में देखें॥

सप्तमोऽध्यायः

888 ,

[] वहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ७।३।९ तक जायेगी।।

in a ITE

118

नेकु

मक्री

HOF

स्वागतादीनां च ॥७।३।७॥

स्नागतादीनाम् ६।३।। च अ० ॥ स०— स्वागत आदिर्येषां ते स्वागताद्-का सोषा वहुत्रीहि: ॥ अनु० – न, अङ्गस्य ॥ अर्थः — स्वागत इत्येव-ह्यां यहुक्तं तन्न अवति ।। उदा०-स्वागतमित्याह = स्वागतिकः। क्षरेण चरति = स्वाध्वरिकः । स्वङ्गस्यापत्यं = स्वाङ्गिः।।

भाषार्थ:--[स्वागतादीनाम्] स्वागत इत्यादि शब्दों को चि] भी क्रिके कहा है, वह नहीं होता ।। पूर्ववत् ही ऐच् आगम एवं वृद्धि के क्रिके का प्रतिवेध यहाँ भी प्रकृत सूत्र से जानें।। श्राही प्रभूतादिम्यः गिथाशाश) इस वार्त्तिक से स्वागतिकः शब्द में ठक् हुआ है।स्वाध्वरिकः ं गति (४।४।८) से ठक्, एवं स्वाङ्गिः में श्रत इज् (४।१।९५) से इज् भंकि है।। सर्वत्र न खाभ्यां० (७१३१३) से प्राप्त ऐच् आगम एवं वृद्धि अङ्गता निपेय नहीं होता है ।।

क्वादेरिनि ॥७।३।८॥

खादे: ६।१॥ इञ्चि ७।१॥ स०—श्वा आदियस्य तत् श्वादि तस्यः कृषिहः॥ त्रनु० — न, अङ्गस्य ॥ अर्थः — श्वादेरङ्गस्य इनि परतो कृतं तम्र भवति ॥ उदा०—श्वभस्त्रस्यापस्यं श्वाभस्त्रः, श्वादंष्ट्रिः ॥ माषार्थ: [श्वादे:] खन् आदि में है जिसके ऐसे अङ्ग को [इनि] भ्यय परे रहते जो कुछ कहा है वह नहीं होता।। पूर्ववत ऐच् भाम एवं वृद्धि निषेध न खाभ्यां० (७।३।३) से प्राप्त था, नहीं हुआ। कृषण में खभस्त्र आदि श्वन् शब्द आदि वाले अङ्ग हैं ही।। गहाँ से 'स्वादेः' की अनुवृत्ति ७।३।९ तक जायेगी ।।

पदान्तस्यान्यतरस्याम् ॥७।३।९॥

प्रान्तस्य ६।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ स०—पद् शब्द अन्त पर् निक्ति तस्य बहुवीहिः ॥ श्रनु०—न, श्वादेः, अङ्गस्य ॥ श्रर्थः— किन्न्त्येन न भवति ॥ उदा०— पदान्तस्य ६।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ स०—पद् शब्द् अन्ते यस्य तत् भिवालस्य खादेरङ्गस्य यदुक्तं तत् विकल्पेन न भवति ॥ उदा०— कित्रात्तस्य श्वादेरङ्गस्य यदुक्तं तत् विकल्पेन न न्याः कि श्वपद्मस्य = श्वपदः, श्वपदस्येदं = श्वापदम्, शौवापदम्॥

[m]

भाषार्थः—[पदान्तस्य] पद शब्द अन्त में है, जिसके हो आदि बाले अङ्ग को जो ऐच् आगम, वृद्धि प्रतिपेध का [अन्यतरस्याम्] विकल्प से नहीं होता, अर्थात् पश्च में नहीं होता इस प्रकार यथाप्राप्त (७।३।३) पक्ष भें ऐच् आगम एवं वृद्धि की होकर शौवापदम् तथा ऐच् आगम निषेध एवं वृद्धि करके साएत्। होकर शावापदम् पया पर्या पर्या विकास होकर शावापदम् में शुनो दन्तदंष्ट्राकर्णा (वाट ६।३।१३५) इस की से दीर्घ होता है।।

उत्तरपदस्य ॥७।३।१०॥

उत्तरपदस्य ६।१।। अर्थः-- 'उत्तरपदस्य' इत्ययमधिकारो वेतिल स हनस्तो० (७।३।३२) इत्येतस्मात् प्राग् इति यावत् ॥ उदा०-वर्ताः अवयवाहतोः (७।३।११) = पूर्वेवार्षिकम् , अपरवार्षिकम्। पूर्वेह्ह अपरहैमनम् ॥

भाषार्थः—'उत्तरपद्स्य' यह अधिकार सूत्र है, अशिश जायेगा, सो वहाँ तक के सूत्रों में कहे हुये कार्य [उत्तरपदस्य] जा को हुआ करेंगे, ऐसा जानना चाहिये।।

अवयवाहतोः ॥७।३।११॥

अवयंवात् श्राशा ऋतोः ६।१॥ श्रमुः — उत्तरपदस्य, किति, वी ष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ श्रर्थः—अवयनान पूर्वपदादुत्तरस्य ऋतुवाचिन उत्तरपदस्याचामादेरचो वृद्धिभवित बिति णिति किति च परतः ॥ *उदा*०—पूर्ववार्षिकम्, पृर्वहर्ष अपरवार्षिकम् , अपरहैमनम् ।।

भाषार्थः—[अवयवात्] अवयववाची पूर्वपद् से उत्तर कि ऋतुवाची उत्तरपद शब्द के अचों में आदि अच् को ति वित्र ऐसा विग्रह करके पूर्ववार्षिकम् आदि में पूर्वापराघरोत्तर (व्या समास हुआ है, पश्चात् तत्र भवः अर्थ में वर्षाभ्यष्ठक् । त्राण्य च त० (११३।१८,२२) से ठक् एवं अण् प्रत्यय उद्गहिण हैं। पूर्व अपर शब्द अवयववाची हैं ही।। 'उत्तरपद्स्य की होने से पूर्वपद का यहाँ आक्षेप से प्रहण हो जाता है।। स्वी

सप्तमोऽध्यायः

[कं वहः]

होवाः

ŵ

龍

848

से हुई सम्पूर्ण शब्द के आदि अच् को वृद्धि प्राप्त होने पर तदपवाद उत्तर-

सुसर्वाङ्काजनपदस्य ॥७।३।१२॥

प्रमाद्धीत् ५।१॥ जनपद्स्य ६।१॥ स०—सुश्च सर्वश्च अर्द्धञ्च प्रमाद्धम्, तस्मात् समाहारो द्वन्द्वः ॥ श्रमु०— उत्तरपद्स्य, किति, बितेष्वचामादेः, अचो ञ्जिणति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ श्रश्यः—सु, सर्व, बर्द्धःत्येतेभ्य उत्तरस्य जनपद्वाचिन उत्तरपद्स्याचामादेरचः स्थाने विसंवति तद्धिते चिति णिति किति च परतः ॥ उदा०—सुपाञ्चालकः, क्षिणञ्चालकः, अर्द्धेपाञ्चालकः ॥

मापार्थः—[सुसर्वार्धात्] सु, सर्व तथा अर्द्ध शब्द से उत्तर विकार किल्ला किल्ला क्रिया क्रिया क्रिया क्रिया क्रिया क्रिया क्रिया क्रिया क्रिया परे रहते वृद्धि होती है।। अवृद्धा क्रिया कित् प्रत्यय परे रहते वृद्धि होती है।। अवृद्धा क्रिया क्रिया क्रिया क्रिया क्रिया क्रिया हुआ है। आश्रालकः में कुगतिप्रा० (२।२।१८) से तथा सर्वपाञ्चालकः में क्रिया क्रिया

यहाँ से 'जनपदस्य' की अनुवृत्ति ७१३।१३ तक जायेगी॥

दिशोऽमद्राणाम् ॥७।३।१३॥

दिशः ५।१॥ अमद्राणाम् ६।३॥ स०—न मद्रा अमद्रास्तेषां न्न्न् स्पः॥ अनु०—जनपद्स्य, उत्तरपद्स्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, को जिर्णात, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—दिग्वाचिन उत्तरस्य जनपद्-किति जिति किति च परतः ॥ उदा०—पूर्वेषु पञ्चालेषु भवः = पूर्व-

माण्यं: [दिशः] दिशावाची शब्दों से उत्तर [अमद्राणाम्] मद्र जनपद्वाची उत्तरपद शब्द के अचों में आदि अच की कित् जित् जित् जित् तथा कित् प्रत्यय परे रहते वृद्धि होती है।। उदाहरणों जीना वित् (२।१।५०) से समास होता है, पूर्ववत् वुक् प्रत्यय भी

िली प

प्राचाम् ६।३॥ त्रामनगराणाम् ६।३॥ स०—प्रामाश्च नारायकः नगरास्तेषां इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु - दिशः, उत्तरपद्स्य, तिद्धतेष्वचामादेः, अचो ञिणति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ अर्थः-विकार उत्तरेषां प्राचां देशे ये प्रामनगरास्तेषामचामादेरचः स्थाने वृद्धिक तिद्धिते चिति णिति किति च प्रत्यये परतः ॥ उदा०-प्रामाणः व पूर्वेषु कामशम्यां भवः = पूर्वेषुकामशमः, अपरेषुकामशमः, पूर्वा मृत्तिकः, अपरकार्ष्णमृत्तिकः । नगराणाम्—पूर्वस्मिन् पार्वः भवः = पूर्वपाटलिपुत्रकः, अपरपाटलिपुत्रकः, पूर्वकान्यकुटनः, स कान्यकुठजः॥

माषार्थः—दिशावाची शब्दों से उत्तर [प्राचाम्] प्राच्य देश हैं है [ग्रामनगराणाम्] प्राप्त तथा नगरवाची शब्द उनके अचों में आहिं। को तद्धित वित् णित् तथा कित् प्रत्यय परे रहते वृद्धि होती पूर्वेषुकामशमी की सिद्धि सूत्र २।१।४६ में देखें। पश्चात् इसो भवः (४।२।५२) से अण् हो जाता है। पूर्वपाटिलपुत्रकः में गेषि (४।२।१२२) से वुक् हुआ है।।

सङ्ख्यायाः संवत्सरसङ्ख्यस्य च ॥७।३।१५॥

सङ्ख्यायाः ५।१॥ संवत्सरसङ्ख्यस्य ६।१॥ च अ०॥ हर् संवत्सरश्च सङ्ख्या च संवत्सरसङ्ख्यम् तस्य समाहारो द्वरद्वः॥ उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ब्रिणति, वृद्धिः, अर्थः - सङ्ख्यायाः उत्तरस्य संवत्सरशब्दस्य सङ्ख्यायाश्चावार्याः स्थाने वृद्धिभवति, तद्धिते विति णिति किति च परतः॥ संवत्सरावधीष्टो भृतो भूतो भावी वा = द्विसांवत्सरिकः। सङ्ख्या द्दे षष्टी अधीष्टो भृतो भावी वा = द्विषाष्ट्रिकः, द्विसाप्रिकिः।

भाषार्थ:—[सङ्ख्याया:] सङ्ख्यावाची शब्द से उत्तर कि अवीं कि अवा सङ्ख्यावाची शब्द के अवा स्व अच् को [च] भी चित् णित् तथा कित् तद्धित परे रहते हुई ।। पूर्ववत् तद्धितार्थं के है।। पूरवत् तद्धितार्थं में द्विसांवत्सरिकः आदि में समास हैं। उदाहरणों में तम्बी उदाहरणों में तमधीष्टो० (५।१।७६) से ठब् प्रत्यय जाते॥

市

进

वसाय

[टिडिं

, जिल

म सं

गदिश ति है

वहाँ से 'मङ्ख्यायाः' की अनुवृत्ति ७।३।१७ तक जायेगी।।

वर्षस्यासविष्यति ॥७।३।१६॥

वर्षस्य ६।१।। अभविष्यति ५।१।। स० - न भविष्यत् अभविष्यत् क्रिन् नेज्तत्पुरुषः ॥ अनु - सङ्ख्यायाः, उत्तरपदस्य, किति, ग्वादि ब्रितेष्वचामादेः, अचो ञिणति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ अर्थः सङ्ख्याया द्रभंदी जास्य वर्षशब्दस्याचामादेरचो वृद्धिर्भवति, तद्धिते विति णिति किति माणः-क्पतः स चेत्तद्धितो भविष्यत्यर्थे न भवति ॥ उदा० — द्वे वर्षे अधीष्टो मो भूतो वा द्विवार्षिकः, त्रिवार्षिकः ।।

भाषार्थ: - सङ्ख्या शब्द से उत्तर [वर्षस्य] वर्ष शब्द के अचों में गरि अच्को चित् णित् तथा कित् तद्धित प्रत्यय परे रहते वृद्धि होती है गिर वह तिद्धित प्रत्यय [अभिविष्यति] भविष्यत् अर्थ में न हुआ वेते॥ पूर्ववत् सिद्धि जानें।।

परिमाणान्तस्यासंज्ञाञाणयोः ॥७।३।१७॥

ससे व परिमाणान्तस्य ६।१।। असंज्ञाशाणयोः ७।२।। स०—परिमाणमन्ते स्य स परिमाणान्तस्तस्य : वहुत्रीहिः । संज्ञा च शाणळ्ळा, संज्ञाशाणे, न बाराणे असंज्ञाराणि तयोः । दुन्द्रगर्भनव्ततपुरुषः॥ अनु०-सङ्ख्यायाः, निपद्स्य, किति, तद्धितेष्वचामादः, अचो विणति, वृद्धिः, अङ्गस्य॥ क्षं:-परिमाणान्तस्याङ्गस्य सङ्ख्याया उत्तरस्योत्तरपदस्याचामाद्धेरचः वित्र वृद्धिर्भवति तद्धिते व्यति णिति किति च परतः॥ उदा०—द्भौ अर्ड श्रियोजनमस्य = द्विकौडिविकः, द्वाभ्यां सुवर्णाभ्यां क्रीतं = द्विसौवणि-मात्रे म्, द्विनैिककम्।।

वार्थः प्राणिशः [परिमाणान्तस्य] परिमाणवाची शब्द अन्त में है जिस भारमाणानतस्य पारमाणवाचा राज्य के अचों में आदि भारते हैं कि से सामाणवाचा राज्य के अचों में आदि मिको नित् णित् तथा कित् तिद्धित परे रहते वृद्धि होती है [असंज्ञा-मियाः संज्ञा विषय एवं शाण शब्द उत्तरपद को छोड़कर ।। द्विकौड-भारती विषय एवं शाण शब्द उत्तरपद का छाण्यार प्राप्ति के प्राप्ति में प्रयोजनम् (४।१।१०८) से ठब्स् होता है। द्विसौवर्णिक क्षेत्र के स्थापिक के स्थापिक के स्थापिक क्षेत्र के स्थापिक के स्थापिक क्षेत्र के स्थापिक क्षेत्र के स्थापिक क्षेत्र के स्थापिक के भूम तेन कीतम् से हुए ठक् प्रत्यय का सुवर्णशतमानः (वा० ५।१।२६) विक्रित्म से हुए ठक् प्रत्यय का सुवर्णशतमानः (वार्णारा के किल्म होता है, अतः पक्ष में लुक् होकर द्विसुवर्णम् बनेगा।

(前) द्विनैष्किकम् में तेन क्रीतम् से हुए ठक् प्रत्यय का दित्रिप्नीतिक है (४।१।३०) से पक्ष में लुक् होता है।।

जे प्रोष्टपदानास् ॥७।३।१८॥

200

जे ७।१॥ प्रोष्टपदानाम् ६।३॥ अनु०-उत्तरपद्स्य, कित्, के तेष्वचामादेः, अचो बिणति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ अर्थः— नि जातार्थी निर्दिश्यते ।। जातार्थे यः प्रत्ययो विहितस्तस्मिन् ति किति च परतः प्रोष्टपदानासुत्तरपदस्याच।मादेरचो वृद्धिर्भते उदा०-श्रोष्टपदासु जातः = प्रोष्टपादो साणवकः।। प्रोष्टपदानािकः ब्हुवचननिर्देशात् तत्पर्यायो भद्रपदाशब्दोऽपि गृह्यते । भद्रपराह्य है भद्रपादो माणवकः ॥

माषार्थः —'जे' से यहाँ जात अर्थ का प्रहण है।। [जे] जात (श्रीक है अर्थ में विहित जो जित् णित् तथा कित् तद्धित उसके परे [प्रोष्ठपदानाम्] प्रोष्ठपद अङ्ग के उत्तरपद के अचों में आदि अर् वृद्धि होती है।। सूत्र में बहुवचन निर्देश से प्रोष्टपदा का पर्याय मह भी लिया जाता है।। प्रोष्टपद नाम का नक्षत्र है, उससे तथा पर्याय भद्रपदा से नचत्रेण युक्तः० (४।२।३) से अण् होका हुनि (४।२।४) से लुप् हुआ है। ततः सन्धिवेलाद्यृत्० (४।३।१६) हे ई होकर प्रोष्ठपादः भद्रपादः वन गया।। प्रोष्ठपदा अथवा भद्रक नक्षत्रों का समृह है । दो पूर्वप्रोष्टपदा अथवा पूर्वभाद्रपदा क्ष और दो उत्तरप्राष्ट्रपदा अथवा उत्तरभाद्रपदा कहे जाते हैं॥

हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च ॥७।३।१९॥

हृद्भगसिन्ध्वन्ते ७।१॥ पूर्वपद्स्य ६।१॥ च अ०॥ स०-हा भगद्भ सिन्धुश्च हृद्भगसिन्धु, तदन्ते यस्य तद् हृद्भगिरिन्धि तिसान् द्वन्द्वगभवहुत्रीहिः ॥ अनु०—उत्तरपदस्य, किति, चामादेः, अचो ञ्जिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ अर्थः हृद्
इत्येवमन्तेऽङ्गे पूर्वपदस्योत्तरपदस्य चाचामादेरचः स्थाते वृद्धिः तिद्विते चिति विकि तद्धिते चिति णिति किति च प्रत्यये परतः ॥ उदा०—सुहृद्यस्य भा

१. प्रोष्ठः = भद्रः = गौः, तस्येव पादाः सुप्रात० (५।४।१२०) इत्योवी । पदादेशः । सान्तः पदादेशः।

[] 柳原

भवति

概

भा तम THE PARTY

से ज

कि बहुर्वम् , सुहृद्यस्येदं = सीहार्द्म् । सुभगस्य भावः = सीभाग्यम् , क्षांयम्, सुभगाया अपत्यं = सौभागिनेयः, दौर्भागिनेयः। सक्तु-भागाः सिन्धवः = सक्तुसिन्धवः, सक्तुसिन्धुषु भवः = साक्तुसैन्धवः, गतसैन्धवः ॥

माषार्थ:-[हृद्मगसिनध्यन्ते] हृद्, भग, सिन्धु ये शब्द अन्त में इंके है जिन अङ्गों के उनके [पूर्वपदस्य] पूर्वपद के [च] तथा उत्तरपद क्षेत्रों में आदि अच्को भी जित् णित् तथा कित् तद्धित परे रहते दि होती है।। सौहार्चम् में गुरावचन० (४।१।१२३) से व्यव् समित षं ग शोकः (६।३।४९) से हृदय को हृद् आदेश होता है, तथा मुं महादम् में तस्येदम् (४१३११२०) से अण् एवं हृदयस्य हृल्ले॰ शिष्ट) से हृद्य को हृद् आदेश होता है। सौभागिनेयः दौर्भागिनेयः विक्याएयादीनामिनङ् (४।१।१२६) से ढक् प्रत्यय एवं इनङ् आदेश ते हैं | सक्तुसिन्धवः में पहले शाकपाथिवादीना० (वा० २।१।६०) से अर् भास होकर पश्चात् भव अर्थ में अण् प्रत्यय होता है।।

यहाँ से 'पूर्वपदस्य' की अनुवृत्ति ७१३।२५ तक जायेगी।।

अनुश्रतिकादीनां च ॥७।३।२०॥

द्रपत्र अनुशतिकादीनाम् ६।३।। च अ०।। स० अनुशतिक आदिर्येषां क्वातिकाद्यस्तेषाम् वहुत्रीहि:।। अनु०-पूर्वपद्स्य, उत्तरपद्स्य, किति किष्यामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ अर्थः-अनुशतिक लिवमादीनां चाङ्गानां पूर्वपदस्य चोत्तरपदस्याचामादेरचः स्थाने तद्धिते किति परतो वृद्धिभवति ॥ उदा०—अनुशतिकस्येदम् = मुशातिकम्, अनुहोडेन चरति = आनुहोडिकः, अनुसंवरणे दीयते = ब्लाबरणम् , आनुसांवत्सरिकः ॥

भाषार्थ:—[अनुशतिकादीनाम्] अनुशतिक इत्यादि अङ्गों के पूर्व-कित्रपद (दोनों) के अचों में आदि अच् को [च] भी नित् निविधा कित् ति परे रहते वृद्धि होती है।। आनुसांवरणम् में तत्र भारति कित् तिद्धित परे रहते वृद्धि होती है।। आनुसायर में स्वित्त परे रहते वृद्धि होती है।। आनुसायर अण्होगया है। शिक्षांवत्सरिकः में तत्र च दीयते (४।१।९४) से भववत् अतिदेश होकर क्षित्र (१)३।६७) से ठब् हुआ है, शेष सुस्पष्ट ही हैं।।

देवताद्वन्छे च ॥७।३।२१॥

कि कि

देवताद्वन्द्वे ७।१॥ च अ०॥ स०—देवतानां द्वन्द्वः देवता स्तिसिन् विशेषदस्य, वित्रम् ।। अनु - पूर्वपदस्य, वित्रम् तेष्वचामादेः, अचो किगति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ श्रर्थः—देकाः व च पूर्वपदस्योत्तरपदस्य चाचामादेरचः स्थाने वृद्धिर्भवति, तिह्नो वि णिति किति च परतः ।। उदा०—आग्निवारुणीमनड्वाहीमालमेत्। बं मारुतं कर्म । आग्निमारुतीं पृश्निमालभेत (मै॰ सं॰ राधा।)।।

भाषार्थः-[देवताद्दन्द्वे] देवतावाची द्रन्द्व समास में [च] 🕍 प्रदृतथा उत्तरपद के अचों में आदि अच् को चित् णित्तय है। तद्धित परे रहते वृद्धि होती है।। ६।३।२७ सूत्र में सिद्धियाँ देखें॥

यहाँ से 'देवताद्वन्द्वे' की अनुवृत्ति ७।३।२३ तक जायेगी॥

नेन्द्रस्य परस्य ॥७।३।२२॥

न अ० ॥ इन्द्रस्य ६।१॥ परस्य ६।१॥ अनु०—देवताद्वन्द्वे 🛱 तिद्धतेष्वचामाद्रेः, अचो व्यिणति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—इद्रक्ष परस्य अचामादेरचः स्थाने पूर्वेण सूत्रेण वृद्धिर्न भवति॥ जार्

सौमेन्द्रः, आग्नेन्द्रः ॥

भाषार्थः-[परस्य] पर [इन्द्रस्य] इन्द्र शब्द के (अर्थात् किये हुये अङ्ग के पर = उत्तरपद में स्थित इन्द्र शब्द को) अची में अच् की पूर्व सूत्र (७।३।२१) से प्राप्त वृद्धि [न] नहीं होती। स्थित इन्द्र शब्द का निषेध करने पर तिद्धितेष्वचामादेः (ज्यानि से अङ्ग के आदि अच् को वृद्धि हो जाती है।। देवताद्वन्द्वे व (ह्या से आनङ् आदेश करके सोमा इन्द्र अण् = आद्गुणः (६११८४) है। सौमेन्द्रः करके सोमा इन्द्र अण् = आद्गुणः (६११८४) सौमेन्द्र: बन गया । सास्य देवता (४।२।२३) से यहाँ अण् हुआ है।

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ७।३।२३ तक जायेगी।।

दीर्घात् ५।१॥ च अ०॥ वरुणस्य ६।१॥ श्रवु० न, क्ष्मी, तद्धितेष्वचारमञ्जूष किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्जिणति, वृद्धिः अङ्गस्य ॥ अर्थे । दुत्तरस्य वरुणस्य दुत्तरस्य वरुणस्य यहुक्तं तन्न भवति ॥ उदाः अङ्गस्य ॥ अथः वरुणम् । [in it

THE

मावार्थ:-[दीर्घात्] दीर्घ से उत्तर [च] भी [वरुणस्य] वरुण अब के अचों में आदि अच् को ७।३।२१ से प्राप्त वृद्धि नहीं होती।। हाँ भी उत्तरपद स्थित वरुण शब्द की वृद्धि का निषेध होने पर तिख-ववाद्व कि (७) १११७) से वृद्धि हो जाती है।। पूर्ववत् आनङ् कर लेने पर विक (अरार पर) राष्ट्र हो जायेगा । यहाँ भी सास्य देवता (४।२।२३) ते कि के बा होगा ।। ा है अण् होगा ।।

प्राचां नगरान्ते ॥७।३।२४॥

| भंद्र प्राचाम् ६।३।। नगरान्ते ७।१।। स०-नगरम् अन्ते यस्य तद् नगरान्तं या विसन् "बहुव्रीहिः ।। अनु - पूर्वपदस्य, उत्तरपदस्य, किति, तिद्ध-तं। विषयामादेः, अचो व्यिणति, वृद्धिः, अङ्गस्य ।। अर्थः – प्राचां देशे नग-क्लेडङ्गे पूर्वपदस्योत्तरपद्स्याचामादेरचः स्थाने वृद्धिर्भवति तद्धिते वित णिति किति च परतः ।। उदा०—सुद्यनगरे भवः सौद्यनागरः, गैण्ड्नागरः ॥

हीं माषार्थः—[प्राचाम्] प्राच्य देश में [नगरान्ते] नगर अन्त वाला नुक्र वे अङ्ग उसके पूर्वपद तथा उत्तरपद के अचों में आदि अच् को चित् ला मित्या कित् तिद्धित परे रहते वृद्धि होती है।।

न्ङ्गलघेनुवलजान्तस्य विभाषितम्रुत्तरम् ॥७।३।२५॥

वें बङ्गलः स्य ६।१।। विभाषितम् १।१।। उत्तरम् १।१।। स०—जङ्गलस्य विवि वहन्त्र वहन्त्र वहन्त्र वहन्ते यस्य तद् जङ्गलः 'जीन्तम्, क्षा दुन्द्रगभेबहुत्रीहिः।। श्रनु० — पूर्वपद्स्य, उत्तरपद्स्य, किति, तद्धि-भिष्यामादेः, अचो व्याति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—जङ्गल, घेनु, क्षित्र हर्यवमन्तस्याङ्गस्य पूर्वपद्स्याचामाद्रेरचः स्थाने, नित्यं वृद्धिमवित तिम् = उत्तरपद्म् विभाषितम् तद्धिते विति णिति किति च परतः॥ क्षा अस्त्र । विभाषितम् ताद्धतः । अस्त । अस्त । वैश्ववेनवम्, कौरुजाङ्गलेषु भवम् कौरुजङ्गलम्, कौरुजाङ्गलम्। वैश्ववेनवम्, भिष्मित्वम् । सीवर्णवलजः, सीवर्णवालजः ॥

भाषार्थः जङ्गलः सावणवालजः ।।
जङ्गलः स्य] जङ्गल, घेनु तथा वलज अन्त वाले अङ्ग जिल्ला स्य] जङ्गल, घेनु तथा वर्षण जन्म स्य] जङ्गल, घेनु तथा वर्षण जन्म स्वा को वृद्धि होती है तथा इन अङ्गों का लिएम् । उत्तरपद् [विभाषितम्] विकल्प से वृद्धि वाला होता है, ज़ित् कित् तिद्धत परे रहते।। 'उत्तरम्' से यहाँ ,उत्तरपद का

कि व अर्धात् परिमाणस्य पूर्वस्य तु वा ॥७।३।२६॥

अर्घात् ५।१॥ परिमाणस्य ६।१॥ पूर्वस्य ६।१॥ तु अ०॥ वाक्ष श्रन् - उत्तरपदस्य, किति, तिद्धतेष्वचामादेः, अचो बिणित, अङ्गस्य ॥ अर्थः — अर्घात्परस्य परिमाणवाचित उत्तरपद्स्याचामाते । स्थाने वृद्धिभैवति, पूर्वपदस्य तु विकल्पेन भवति, तद्धिते विवि किति च परतः ॥ उदाः — अर्धद्रोणेन कीतम् = अर्धद्रौणिकम्, द्रौणिकम्। अर्धकौडविकम्, आर्धकौडविकम्॥

भाषार्थः-[श्रर्धात्] अर्ध शब्द से उत्तर [परिमाणस्य] पील वाची उत्तरपद के अचों में आदि अच् को युद्धि होती है [पूर्वस]का को [तु] तो [वा] विकल्प से होती है, ञित् णित् तथा कित् तिहा रहते ।। उदाहरणों में अर्ध नपंसकम् (२।२।२) से समास तथा लेक (४।१।३६) से ठन् हुआ है ।। 'पूर्वस्य' से यहाँ पूर्वपद छिया है।

यहाँ से 'अर्घात् परिमाण्स्य' की अनुवृत्ति ७१३१२७ क 'पृर्वस्य' की **।।३।३१ एवं 'वा तु' की ७।३।३० तक** जायेगी।।

नातः परस्य ॥७।३।२७॥

न अ०॥ अतः ६।१॥ परस्य ६।१॥ श्रनु०—अर्घात् परिमार्ग पूर्वस्य तु वा, उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अवी कि वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ त्रर्थः —अर्द्धात् परस्य परिमाणवाचिनोऽकारवर्ष भवति, पूर्वपद्स्य तु वा भवति, तद्धिते विति णिति किति व उदा - अर्घप्रस्थिकः, आर्घप्रस्थिकः । अर्घकंसिकः आर्घकंसिकः॥

भाषार्थः—अर्ध शब्द् से [परस्य] परे परपरिमाणवाची अर्थ अचों में आदि [अतः] अकार को वृद्धि [न] नहीं होती, पूर्वपर के विकल्प से होती है, ञित् णित् तथा कित् तद्धित परे रहते॥ उदाहरणों में समास एवं प्रत्यय जानें।।

प्रवाहणस्य हे ॥७।३।२८॥

प्रवाहणस्य ६।१॥ हे ७।१॥ अनु०—पूर्वस्य तु वा, वत्राप्ति तिद्धितेष्वचाभादेः, अचः, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—प्रवाहणस्याहत [17 (17) क्षि परत उत्तरपदस्याचामादेरचो नित्यं वृद्धिभवति, पूर्वपदस्य तु वा विकास । ज्या अवाहणस्यापत्यं प्रावाहणेयः, प्रवाहणेयः ॥

भाषार्थ:- [प्रवाहरास्य] प्रवाहण अङ्ग के उत्तरपद के अचों में की कित्य वृद्धि होती है, पूर्वपद को तो विकल्प से होती है, मिते हैं ह ति प्रत्यय परे रहते ।। प्रपूर्वक णिजन्त 'वह' धातु से विक्ति बहुलम् (३।३।११३) से कर्ती में ल्युट् होकर प्रवाहण शब्द है बहै। प्रादि समास एवं रोविभाषा (८।४।२९) से णत्व भी यहाँ होता प्रधात् शुप्रादिम्यश्च (४।१।१२३) से ढक् प्रत्यय होकर प्रावाहणेयः पील ब्राह्णेयः वन गया ।।

क्षि वहाँ से 'प्रवाहगास्य' की अनुवृत्ति ७।३।२९ तक जायेगी।।

द्धि

न कं 11

तत्प्रत्ययस्य च ॥७।३।२९॥

त्रप्रत्ययस्य ६।१।। च अ० ।। स०—सः प्रत्ययो यस्मिन् स तत्प्रत्यय-ला बहुब्रीहिः ॥ अनु०—प्रवाहणस्य, पूर्वस्य तु वा, उत्तरपदस्य, कर्ताहर ॥ अगुण-जनावनात्त्र, अङ्गस्य ॥ अर्थः — ढक्प्र-भानस्य प्रवाहणाङ्गस्योत्तरपद्स्याचामादेरचः स्थाने वृद्धिर्भवति, लित्स तु वा भवति, तद्धिते चिति णिति किति च परतः ॥ उदा०— महणेयस्यापत्यम् = प्रावाहणेयिः, प्रवाहणेयिः। प्रावाहणेयकम्, प्रवाह-रिमाल विकम् ॥

Gi भाषार्थ:—[तस्प्रत्ययस्य] तत् = ढक् प्रत्ययान्त प्रवाहण अङ्ग के वर्ष जापद के अचों में आदि अच् को चि भी वृद्धि होती है, पूर्वपद विकल्प से होती है, ञित् णित् कित् तिद्धित परे रहते ॥ तत् पर महीं प्रकरणस्थ 'ढक्' का प्रहण है।। प्रवाहणेय ढप्रत्ययान्त शब्द से अवार्य में अत इव (४।१।६५) से इव्यू होकर प्रावाह्योयिः आदि बना प्राप्ताहणेयकम् आदि में गोत्रचरणाद् वुज् (४)३।१२६) से, वुज्

व्यः ग्रुचीश्वरक्षेत्रज्ञञ्जञ्जलियुणानाम् ॥७।३।३०॥

भेबः ४।१॥ शुचीः नाम् ६।३॥ स०—शुचीः इत्यन्नेतरेतरद्वन्द्वः॥ पूर्वस्य तु वा, उत्तरपद्स्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, क्षेत्रह, भित्र वे वा, उत्तरपद्स्य, किति, ताद्धतष्यपापारे, क्षेत्रज्ञ, विद्धः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—नञ उत्तरेषां शुचि, ईश्वंर, क्षेत्रज्ञ, कुशल, निपुण इत्येतेषामचामादेरचः स्थाने वृद्धिर्भवति, पूर्वप्ताः भवति तद्धिते विति णिति किति च परतः ॥ उदा०—ग्रुचि—ग्राहे अशौचम् । ईश्वर—आनैश्वर्यम् , अनैश्वर्यम् । क्षेत्रज्ञ—ग्राहे अक्षेत्रज्ञयम् । कुशल—आकौशलम् , अकौशलम् । निपुण—अनेहः अनैपुणम् ॥

भाषार्थः—[नजः] नज् से उत्तर [शुची नाम्] शुनि, के क्षेत्रज्ञ, कुश्रल, निपुण इन शब्दों के अचों में आदि अच् को वृद्धि है तथा पूर्वपद को विकल्प से होती है, जित् णित् तथा कि के परे रहते।। नास्य शुचयो विद्यन्ते = अशुचिः ऐसा विष्रह करके का है शनताच्च० (५।१११३०) से अण् प्रत्यय करके आशोचम्, को वना। अनीश्वर तथा अक्षेत्रज्ञ शब्द नज्तस्पुरुष समास करके जा णादि गण में पठित हैं, अतः इनसे गुण्वचन० (५।१।१२३) से हि शुआ है। आकौशलम् आनेपुणम् आदि में तस्येदम् (४।३।१२०) है हि हुआ है।

यहाँ से 'नजः' की अनुवृत्ति ७१३१२ तक जायेगी॥ यथातथयथापुरयोः पर्यायेण ॥७१३१॥

यथातथयथापुरयोः ६।२।। पर्यायेण ३।१।। स० — यथातथः हर्ने तरेतरद्वन्द्वः।। अनु० — ननः, पूर्वस्य, उत्तरपद्स्य, किति, तद्धितेषविक्षेत्रः अङ्गस्य ।। अर्थः — नन्न उत्तरयोः यथातयकः इत्येतयोरङ्गयोः पूर्वपद्स्योत्तरपद्स्याचामादेरचः स्थाने पर्यायकः भैवति, तद्धिते निति णिति किति च परतः।। उदा० — आयथातकः अयाथातथ्यम् , आयथापुर्यम् ।।

भाषार्थः — नव् से उत्तर [यथातथयथापुरयोः] यथातथ तथा कि अङ्गों के पूर्वपद एवं उत्तरपद के अचों में आदि अच् को पिर्णिय पर्याय से वृद्धि होती है, वित् णित् तथा कित् तद्धित परे रही समास किये हुये अयथातथ तथा अयथापुर शब्द ब्राह्मणादि गणिय हो मानना चाहिये, सो पूर्ववत् प्यव्य प्रत्यय हो गया है। पर्याय से एक बार नव् को तथा एक बार 'य' के 'अ' को वृद्धि हुई है।

१. ब्राह्मणादि गण श्राकृतिगण है ।।

सप्तमोऽध्यायः

8६१ ,

हनस्तोऽचिण्णलोः ॥७।३।३२॥

[20 16:]

द्खाः

1

हतः ६।१॥ तः १।१॥ अचिण्णलोः ७।२॥ स०—चिण् च णल् च हतः ६।१॥ तः १।१॥ अचिण्णलोः ७।२॥ स०—चिण् च णल् च हतः ६।१॥ तः १।१॥ अचिण्णलो अचिण्णलो तयोः ''नञ्तसु-हतः ६।१॥ अचु०— ज्ञिणति, अङ्गस्य ॥ अर्थः— हनस्तकारादेशो भवति, हतः ॥ अनु०— ज्ञिणति, अङ्गस्य ॥ अर्थः— हनस्तकारादेशो भवति, हतः ॥ अनु०— ज्ञिणति, अङ्गस्य ॥ अर्थः— हनस्तकारादेशो भवति, हतः ॥ अनु०— ज्ञिणति, अङ्गस्य ॥ अर्थः— हनस्तकारादेश । चात्रेष्ठा ।

कितं मार्गर्थः—[हनः] हन् अङ्ग को [तः] तकारादंश [श्रिचिएणलीः] के महिल्ला तथा णल् प्रत्ययों को छोड़कर ज्ञित् णित् प्रत्यय परे रहते होता कहीं।। चिण्, णल् प्रत्यय णित् हैं, अतः तकारादेश इनके परे प्राप्त के हा निषेध कर दिया।। अन्त्य अल् (१।१।५१) न् को त् होता है।। घातयित में जिल्ल में बना है। हो हन्तेर्जि० (७।३।५४) से ह् को घ् सर्वत्र हुआ हो। श्रेष्ठ अत उपधायाः (७।२।११६) से वृद्धि आदि हो ही जायेगी। मिकः में ण्वल् तथा घातंघातम् में श्रामीद्र्य एमुल् च (३।४।२२) से मुख्एं घातः में घञ् हुआ है। श्रामीद्र्य हे भवतः (वा० ८।१।१२), में वितंघातम् में द्वित्व हुआ है।

आतो युक् चिण्कृतोः ॥७।३।३३॥

आतः ६।१॥ युक् १।१॥ चिण्कृतोः ७।२॥ स०—चिण्० इत्यन्नेतरेबिन्दः ॥ त्रनु०—िकणित, अङ्गस्य ॥ अर्थः—आकारान्तस्याङ्गस्य
बिण्कृति किणितं च प्रत्यये परतो युक् आगमो भवति ॥ उदी०—
विण-अदायि, अधायि। किणितं कृति—दायः, दायकः। धायः, धायकः॥
भाषार्थः—[आतः] आकारान्त अङ्ग को [चिण्कृतोः] चिण् तथा
बिण् कृत प्रत्यय परे रहते [युक्] युक् आगम होता है ॥ चिण्
बिल् कृत प्रत्यय परे रहते [युक्] युक् आगम होता है ॥ चिण्
बिल् कृत प्रत्यय परे रहते [युक्] युक् आगम होता है ॥ चिण्
बिल् कृत प्रत्यय परे रहते [युक्] युक् आगम होता है ॥ चिण्
बिल् कृति कृत प्रत्यय परे रहते [युक्] युक् आगम होता है ॥ चिण्
बिल् कृति कृति प्रत्यय परे रहते [युक्] युक् आगम होता है ॥ चिण्
बिल् कृति कृति प्रत्यय परे रहते [युक्] युक् आगम होता है ॥ चिण्
बिल् कृति कृति प्रत्यय परे रहते [युक्] युक् आगम होता है ॥ चिण्
बिल् कृति कृति कृति कृति विण् तथा
विण् कृति कृति विण् तथा
विण् कृति कृति कृति ॥ चिण्कृतोः ॥ चिण्कृतोः । चिण्कृतोः । चिण्कृतोः । चिण्कृति विण् तथा
विण् कृति कृति विण् तथा
विण् कृति कृति विण् विण् तथा
विण् कृति कृति । चिण्कृतोः । चिण्कृतोः । चिण्कृतोः । चिण्कृतोः । चिण्कृतोः । चिण्कृतोः । चिण्कृति कृत्व प्रत्यय परे रहते [युक्] युक् आगम होता है ॥ चिण्कृति । चण्कृति ।

महाँ से 'चिएकितोः' की अनुवृत्ति ७।३।३५ तक जायेगी।।

नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः ॥७।३।३४॥ ,

१९६२

स॰—डपदेशे उदात्तः उदात्तोपदेशस्तस्य स्तर्तितित्तुस्यः। से यस्य स मान्तस्तस्य वहुत्रीहिः। न आचिमः अनाचिमस्तर्यः तत्पुरुषः।। अनुः—चिण्कृतोः, ज्ञिणति, वृद्धिः, अङ्गस्य॥ क्रिः उदात्तोपदेशस्य मकारान्तस्याङ्गस्याचिमिवर्जितस्य चिणि कृति विक्रिः भवति ।। उदाः—अशिम, अतिम अदिम। कृति विक्रिः शमकः, तमकः, दमकः। शमः, तमः, दसः।।

भाषार्थः—[उदात्तीपदेशस्य] उपदेश में जो उदात्त तथा [मल मकारान्त धातु उनको चिण् तथा जित् , णित् कृत् (शाहाः रहते वृद्धि [न] नहीं होती [अनाचमेः] आङ् पूर्वक चम् धातु के कि कर ।। उदाहरणों में अत उपधायाः (७।२।११६) से प्राप्त वृद्धि का कि हुआ है ।। शमः, दमः, तमः में घच् प्रत्यय हुआ है ॥

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ७।३।३५ तक जायेगी॥ जनिवध्योश्च ॥७।३।३५॥

जित्वध्योः ६।२॥ च अ०॥ स०—जित् इत्यत्रेतरेत्व्हाः अनु०—न, चिण्कृतोः, ञ्जिणित, वृद्धिः, अङ्गस्य॥ अर्थः—जितः व इत्येतयोश्चिणिकृति ञ्जिणित च वृद्धिनै भवति ॥ उरा०—अजिति, अर्थः व कृति ञ्जिणिति – जनकः, प्रजनः । वधकः, वधः ॥

भाषार्थ:—[जिनवध्योः] जन तथा वध अङ्ग को [च] चिण् त्यार्थि जित् कृत् परे रहते वृद्धि नहीं होती ।। प्रजनः, वधः में धर्ज हुवी पूर्ववत् अत उपधायाः (७।२।११६) की प्राप्ति में निषेध है ॥ वर्षि याम् जो भ्वादिगण में पढ़ी है, उसका यहाँ प्रहण है, न कि हत है। वध आदेश होता है उसका ।।

अर्तिहीव्लीरीकन्यीक्ष्माय्यातां पुग्णौ ॥७।३।३६॥

अत्तिहीव्छीरीक्नूयीक्ष्माच्याताम् ६।३॥ पुक् १।१॥ णौ जशाहित् अत्ति० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—अङ्गस्य ॥ अर्थः —ऋ ही रो, क्नूयी, क्ष्मायी इत्येतेषामाकारान्तानाक्काङ्गानां पुक् आणी णौ परतः । उदा अ — ऋ — अपयति । ही — हे पयति । व्ही - व्ही

[19 10] । हो, माषार्थः — [अर्त्तिः माताम्] ऋ, ह्वी, व्ली, री, क्नूयी, क्मायी स को तथा आकारान्त अङ्ग को [साँ] णिच् परे रहते [पुक्] पुक् । के बाम होता है।। सिद्धियों में कुछ भी विशेष नहीं है। ऋ पुक् णिच्= ते ज्ञात् इ शप् तिप् = अर्पे अ ति = अपयति बन गया।।

बहाँ से 'गाँ' की अनुवृत्ति ७।३।४३ तक जायेगी।।

शाच्छासाह्वाच्यावेषां युक् ॥७।३।३७॥

मान्त शास्त्राच्छासाह्वाव्यावेपाम ६।३।। युक् १।१।। स०-शाच्छा इत्यत्रेतरे-तु हो बद्दः ॥ अनु - णौ, अङ्गस्य ॥ अर्थः - शो तनूकरणे, छो छेदने, क्षक्षं बेडनकर्मणि, ह्रेच् स्पद्धीयाम् , व्येञ् संवरणे, वेञ् तन्तुसन्ताने, पा पाने शोषणे (दृश्ये।रिप ब्रहणम्) इत्येतेषामङ्गानां युगागमो भवति णौ ातः॥ उदा०—निशाययति । अवच्छाययति । अवसाययति । ह्वाय-कि। संन्याययति । वाययति । पाययति ॥

गागार्थः [शाच्छा विपाम्] शो, छो, घो, ह्रे ब्, व्येव, वेब, महा अङ्गों को णि परे रहते [युक्] युक् आगम होता है।। शो विकासी का जा पर रहत । उग्ना उर् तथा घो के घू को स् कार्या जादम उपद्रश (१।९।४४) स जादम जादम में छ से पूर्व तुक् गाम (६।१।७१) तथा रचुत्व हुआ है।। सभी धातुओं के आकारान्त त्या है। या से पूर्व सूत्र से पुक् आगम प्राप्त था, युक् कह दिया है।।

वो विधूनने जुक् ॥७।३।३८॥

हुआ है। 相何

1

相

ra de

व ६११॥ विधूनने ७११॥ जुक् १११॥ अनु० — णौ, अङ्गस्य॥ अर्थः — म्निऽर्थे वत्तमानस्य वा इत्येतस्य जुगागमो भवति णौ परतः॥ क्षः-पक्षेणोपवाजयति ॥

भाषार्थः _ [विधूनने] विधूनन (कंपाना) अर्थ में वर्त्तमान [वः] वा ाष्ट्र विधूननं विधूनन (कपाना) अथ न प्राप्त आपाना प्राप्त को पि परे रहते [जुक्] जुक् आगम होता है।। पुक् आगम प्राप्त

लीलोर्नुग्छकावन्यतरस्याम् स्नेहविपातने ॥७।३।३९॥ हीको: ६।२॥ तुग्लुकौ १।२॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ स्तेह्विपातने ७।१॥ क्रिके. भीकोः, तुग्लुकौ १।२॥ अन्यतरस्याम् अशास्त्रकानः स्नेह्विपा- तनं = द्रवत्वापादानं, तस्मिन् विष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—णौ, अन्त श्चर्थः — छी छा इत्येतयोरङ्गयोर्विकल्पेन स्नेह्विपातनेऽर्थे नुक् लुक् तावागमौ भवतो णौ परतः ॥ उदा०—घृतं विछीनयित, विलक्षे ह्या-विछालयित, विलापयिति ॥

भाषार्थः—[लीलोः] छी तथा छा अङ्ग को [स्नेह्रावपातने] वि (= घृतादि पदार्थ) के निपातन = पिघछाना अर्थ में णि पर हो [अन्यतरस्याम्] विकल्प से [जुग्लको] जुक् तथा लुक् आगम होताः विछीनयति में नुक् आगम तथा पक्ष में विछाययित में नुक् नहीं हु विछीनयित में नुक् आगम तथा पक्ष में विछाययित में नुक् नहीं हु विछीनयित में नुक् लि इ = विछायि शप् तिप् = विछाये अ ति = विछार्थ विभाषा लीयतेः (६।१।५०) से पक्ष में आत्व तथा लुक् आगम हो विछाययित बना, पुनः इसी प्रुत्र से पक्ष में लुक् विकल्प होने हैं। आगम होकर विछापयित बना। छी में ईकार प्रिष्ठिष्ट निर्दिष्ट हैं, इ अर्थ होगा कि ईकारान्त छी को ही जुक् हो विभाषा लीयतेः (१०० से आत्व कर लेने पर नहीं, इसीछिये आत्व पक्ष में जुक् का आक्ष महण है। छा से यहाँ छीङ् रहेषणे तथा छी रहेपणे दोने और महण है। छा से यहाँ छा आदाने और छी को जब पन्न में अर्थ जाता है उन दोनों का प्रहण है। छा को लुक् तथा पक्ष में पुक् का जाता है उन दोनों का प्रहण है। छा को लुक् तथा पक्ष में पुक् का जाता है उन दोनों का प्रहण है। छा को लुक् तथा पक्ष में पुक् का हो कर विछापयित, विछाछयित रूप बनता है।।

भियो हेतुभये पुक् ।।७।३।४०॥

भियः ६।१॥ हेतुभये ७।१॥ षुक् १।१॥ स०—हेतोर्भयं हेर्ड्स तस्मिन् ''षष्टीतत्पुरुषः ॥ अनु०—णी, अङ्गस्य ॥ अर्थः—भी हेर्ल हेतुभयेऽर्थे षुगागमो भवति णौ परतः ॥ उदा० – मुण्डो भी जटिलो भीषयते ॥

माषार्थ:—[मिय:] विभी भये अङ्ग को [हेतुमये] हेतुमवे कि पर रहते [युक्] षुक् आगम होता है ।। स्वतन्त्र कर्ती के प्रविध्य (१।४।५५) को हेतु कहते हैं, उससे जो भय वह हेतुभय कि भी' में ईकार का प्रश्लेष माना जाता है । इससे ईकारात श्री पुक् का आगम होगा, आकारान्त भापयते (बिमेतेहेंतुमये हार्थी पुक् ही होगाँ। सिद्धि परि० १।१।४५ में देखें।।

स्फायो वः ॥७।३।४१॥

(前原)

अक्रम

होता है।

हीं हुए

तें ग

आता

क्ष्मायः ६।१।। वः १।१।। अनु०—णौ, अङ्गस्य।। अर्थः—स्फाय् कारादेशो भवति णौ परतः ॥ उदा०—स्फावयति ॥ गावार्थ:-[स्फाय:] स्फायी वृद्धौ अङ्ग को णि परे रहते [व:]-ने जारिश होता है।। स्फायी णिच् = स्फाय् इ = अन्त्य अल् य को व पर क्षांबरकाव् इ = स्फावयति बन गया।।

शदेरगतौ तः ॥७।३।४२॥

रहे: ६।१।। अगतौ ७।१।। तः १।१।। स०—न गतिरगतिस्तस्मिन्ःः महामृत्वस्यः॥ अनु०—णौ, अङ्गस्य ॥ श्रर्थः—अगतावर्थे वर्त्तमानस्य त के विकास तकारादेशो अवति, णौ परतः ॥ उदा०—पुष्पाणि शातयति ॥ है ह गाषार्थ:-[त्रगतौ] अगति अर्थ में वर्त्तमान [शदेः] शद् शतने उत्ता वे कारादेश होगा ।।

रुहः पोऽन्यतरस्याम् ॥७।३।४३॥

हिः ६।१॥ पः १।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ त्रमु०—णौ, अङ्गस्य ॥ 5 5 क्ह् इत्येतस्याङ्गस्य पकारादेशो भवति विकल्पेन णौ परतः॥ 🗝 - ब्रीहीन् रोपयति । पत्ते — रोह्यति ।। गागर्थः—[रुहः] रुह् अङ्ग को [अन्यतरस्याम्] विकल्प से णि परे के[पः] पकारादेश होता है।।

SEE! मत्ययस्थात् कात् पूर्वस्यात इदाप्यसुपः ॥७।३।४४॥

भत्ययस्थात् ५११॥ कात् ५११॥ पूर्वस्य ६११॥ अतः ६११॥ इत् ११॥ प्रिक्ति असुपः ५११॥ स०—प्रत्यये तिष्ठतीति प्रत्ययस्थस्तस्मात् महतित्युरुषः। न सुप् असुप् तस्मात्ः न्व्तत्युरुषः॥ श्रर्थः— विष्णुरुषः। न सुप् असुप् तस्मात् निञ्तिष्ण भवति आपि किकारात् पूर्वस्याकारस्य स्थाने इकारादेशो भवति आपि पूर्वस्याकारस्य स्थानं इकाराद्रसः पुर्वस्याकारस्य स्थानं इकाराद्रस्य स्थानं इकाराद्य स्थानं स्थानं इकाराद्रस्य स्थानं इकाराद्रस्य स्थानं इकाराद्रस्य स्थानं स्थान क्षा हारिका, एतिकाश्चरन्ति ॥

भूषार्थः पितकाश्चरन्ति ।।
[श्रत्ययस्थात्] प्रत्यय में स्थित [कात्] ककार से [पूर्वस्य]
अकार के स्थान में [इत्] इकारादेश होता है, [श्चापि]

आप् (टाप्, डाप्, चाप्) परे रहते, यदि वह आप् [असुपः] सू उत्तर न हो तो।। जटिलिका मुण्डिका में जटिला मुण्डा क्र प्राणिवास्कः (५१३१७०) से क प्रत्यय, एवं केऽसाः (७।४१३) से हुआ है। कारिका, हारिका में ण्वुल् तथा एतिकाः में एत् का म्राज्ययसर्व ० (४।३।७१) से अकच् हुआ है। सर्वत्र ककार से पूर्व को इत्व हुआ है।।

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुत्रृत्ति ७।३।४९ तक जायेगी॥ न यासयोः ॥७।३।४५॥

न अः ॥ यासयोः ६।२॥ सः —याः इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ भ्रा-प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्यात इदाप्यसुपः ।। अर्थः - प्रत्ययस्थात् का पूर्वस्य या सा इत्येतयोरकारस्य स्थाने इकारादेशो न भवि॥ प्राप्तिः प्रतिषिध्यते ।। उदा०—यका, सका । यकां यकामधीमहे, व तकां पचामहे ॥

भाषार्थः - प्रत्यय में स्थित ककार से पूर्व [यासयोः] या त्या अकार के स्थान में इकारादेश [न] नहीं होता।। यद् तर् म स्त्रीलिङ्ग में टाप् एवं त्यदाद्यत्व करके या सा बना है, जो कि ए निर्दिष्ट है, अतः इन्हीं या, सा शब्दों से अन्ययसर्वं० (४।३।७१) भाग से पहले अकच् होकर य् अकच् आ = यका सका वन सका में प्रत्ययस्थात् (७।३।४४) से नित्य इत्व प्राप्त था, सो प्रकृष निषेधं हो गया।।

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ७।३।४८ तक जाती है।।

उदीचामातः स्थाने यकपूर्वायाः ॥ शश्रिहा।

्डदीचाम् ६।३॥ आतः ६।१॥ स्थाने ७)१॥ यकपूर्वायाः ६११॥ व कश्च यकौ ॐ यरच करच यकौ, तौ पूर्वों यस्याः (आतः) सा यकपूर्वा, तर्वा द्वरनार्थं वस्त्राः द्रन्द्रगभेबहुव्रीहिः ॥ अनु०—प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्यात इत्राम् अर्थः—यकारपूर्वायाः ककारपूर्वायाश्चातः स्थाने योऽकारस्त्र है कात् पूर्वस्य स्थाने इकारादेशो भवति, उदीचामाचार्याणं क्रिकार्या । अविकार प्रकार प्र प्रकार प्रकार प्रकार प्रकार प्रकार प्रकार प्रकार प्रकार प्रकार प उदा॰—यकारपूर्वायाः—इभ्यका, इभ्यिका । क्षत्रियका, ककारपूर्वायाः—इभ्यका, इभ्यिका । क्षत्रियका, ककारपूर्वायाः चटकका, चटकिका। मूर्षिकका, मूर्षिकिका

[10 16]

ाथा है।

४६७,

मार्गशं—[यकपूर्वायाः] यकार तथा ककार पूर्व में हैं जिस आकार के [स्थाने] स्थान में जो प्रत्ययस्थित ककार के [स्थाने] स्थान में जो प्रत्ययस्थित ककार के कूर्ण अकार उसके स्थान में इकारादेश [उदीचाम्] उदीच्य अवार्ग के मत में होता है ।। इदीच्य कहने से पाणिनि मुनि के मत पूर्व वनेंगे ।। इभ्या क्षत्रिया आदि सुवन्त शब्दों से आवार्ग में क प्रत्यय हुआ है । केऽणः (७।४।१३) से क परे रहते 'आ' के हुख हो गया तो, इभ्यका, क्षत्रियका आदि बना । अब यहाँ आकार विसके स्थान में हुस्व अकार हुआ है वह यकार एवं ककार पूर्व वाला तथा प्रयास्थित ककार से पूर्व वाला भी है सो प्रत्ययस्थात् से नित्य इत्त्व आव था प्रकृत सूत्र से विकल्प से हो गया।। इस सूत्र में 'न' की अवृत्ति का सम्बन्ध नहीं लगता।।

यहाँ से 'उदीचाम्' की अनुवृत्ति ७।३।४८ तक तथा 'त्रातः स्थाने' की अनुवृत्ति ७।३।४८ तक तथा 'त्रातः स्थाने'

भस्त्रैपाजाज्ञाद्वास्वा नञ्जपूर्वाणामपि ॥७।३।४७॥

भस्त्रैपाजाज्ञाद्वास्वाः १।३।। षष्ठ्यर्थे प्रथमा ।। नञ्पूर्वाणाम् ६।३।। भिष्ठा अप्रान्त ।। स०—भस्त्रे० इत्यत्रेतरेतरदृन्दः । नव् पूर्वे येषां ते न्यूर्वास्तेषां "बहुत्रीहिः ।। अनु०-न, उदीचाम् आतः स्थाने, प्रत्ययस्थात् अप्रत्यात इदाप्यसुपः ।। अर्थः—भस्त्रा, एषा, अजा, ज्ञा, द्वा, स्वा स्थानं नव्पूर्वाणामपि आतः स्थाने योऽकारस्तस्य उदीचामाचार्याणां कि इतं न भवति ।। उदा०—भस्त्रा—भित्रिका, भस्त्रका । नव्पूर्वाणान्यान् अविद्यमाना भस्त्रा यस्याः सा अल्पा = अमस्त्रिका, अभस्त्रका । अज्ञा—एषका, एषिका । अज्ञा—अज्ञका, अज्ञिका । अन्तज्ञका, अनिका । अञ्चका, अज्ञिका । अञ्चका, अज्ञिका । द्वा—द्वके, द्विके । स्वा—स्वका, अस्वका, अस्व

मणार्थः—[भरत्रे : स्वाः] भरत्रा, एषा, अजा, ज्ञा, द्वा, स्वा ये शब्द मिल्लिलाम्] नव्य पूर्व वाले हों तो [श्राप] भी (न हों तो भी) इनके स्थान में जो अकार उसको उदीच्य आचार्यों के मत में इल स्थान है।। पूर्ववत् यहाँ भी उदीच्य ग्रहण से दो रूप बनेंगे।। पूर्ववत् यहाँ भी उदीच्य ग्रहण से दो रूप बनेंगे।। पूर्ववत् यहाँ भी उदीच्य ग्रहण से दो रूप बनेंगे।। पूर्ववत् यहाँ भी उदीच्य ग्रहण से दो रूप बनेंगे।। पूर्ववत् यहाँ भी उदीच्य ग्रहण से दो रूप बनेंगे।। पूर्ववत् यहाँ भी उदीच्य ग्रहण से दो रूप बनेंगे।। पूर्ववत् व्या है। पूर्ववत् से उत्तर होने से इत्व की प्राप्ति न ही रूप बनता है। 'एषा द्वे' से अकच् हुआ है। द्व

अकच् ए = द्वके ॥ स्व शब्द जब सर्वनाम होता है तब उसमें भी को हेतु से कोई विशेषता नहीं होती किन्तु ज्ञाति और धन अं सवनाम संज्ञा न होने से नञ्पूर्वक अस्वका अस्विका प्रयोग होते। भस्त्रका आदि में प्रागिवात्कः (४१३१७०) अधिकार में अल्पे (४१३४ से क हुआ है, तथा पूर्ववत् हस्वत्व भी जानें।।

यहाँ से 'नञ्पूर्वाणामपि' की अनुवृत्ति ७।३।४९ तक जायेगी॥

अभाषितपुंस्काच ॥७।३।४८॥

अभावितपुंस्कात् ५११, वष्ट्यर्थे पद्धमी ॥ च अ०॥ स०-मात पुमान् येन (यस्मिन्नर्थे) स भाषितपुंस्कः, न भाषितपुंस्कोऽभारे पुंस्कस्तस्मात्' वहुत्रोहिगर्भनञ्तत्पुरुषः ॥ अनुः—न, नञ्पूर्वकि टदीचाम् आतः स्थाने, प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्यात इदापि॥ क्री-अभाषितपुंस्कस्य नञ्पूर्वस्यापि च शब्दाद् अनञ्पूर्वस्य च आहर् योऽकारः प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्तस्योदीचामाचार्याणां मतेन इगल न भवति ।। उदा० — खट्विका, खट्वका । अखट्विका, अख्या परमखट्विका, परमखट्वका ॥

भाषार्थः [अभाषितपुंस्कात्] अभाषितपुंस्क शब्द के प्रवर्गी ककार से पूर्व आकार के स्थान में जो अकार उसको नज्पूर्व होतेण और अनञ्जूर्व होने पर भी उदीच्य आचार्यों के मत में इकारहित होता है। पूर्ववत् यहाँ भी विकल्प जानें। खट्वा शब्द नित्य हिंदी होता है। क्ष्या कि स्वापित होता है। क्ष्य के स्वापित होता है। क्ष्य क्ष्य के स्वापित होता है। क्ष्य क्ष्य होता है। होता है। क्ष्य होता है है, अतः अभाषितपुंस्क है । अखटि्वका आदि में नब् समाप्त्री परमखटिवका अपि रे परमखिट्वका आदि में सन्महत्परमी० (२।१।६०) से कर्मधाय हुआ है। पूर्ववत् क प्रत्यय तथा केऽसः (७।४।१३) से हिं हुआ जानें।।

यहाँ से 'अमाषितपुंस्कात्' की अनुवृत्ति ७१३।४९ तक जावेगी।

आदाचार्याणाम् ॥७।३।४९॥

आत् १।१॥ आचार्याणाम् ६।३॥ अनु०—अभाषितपुंकातः पूर्वाणामपि, आतः स्थाने, प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्यात आपि॥ अभाषितपुंकातः स्थाने स्याने स्थाने स अभाषितपुरिकस्यानञ्जूवेस्यापि शब्दान्नव्पूर्वस्यात आपि । स्थाते क्षाति । स्थाति । स् m 呢:] च्यून

YIRI

1

-भारे

SHIF

ातः हर्

वरवर्ग

त्यवीत

नेपा[

मास व

वस

क्रियाचार्याणां मतेनाकारादेशो भवति ।। उदा०—खट्वाका, अखट्वाका, अर्थ होते । प्रमखट्वाका ।।

भाषार्थ: अभाषितपुंस्क के प्रत्ययस्थित ककार से पूर्व आकार के बात में जो अकार उसको नञ्पूर्व और अनञ्पूर्व रहते हुये भी बाचार्याणाम्] आचार्यों (उदीच्य आचार्य से अन्य) के मत में बात] आकारादेश होता है।। पूर्ववत् हस्वत्व कर लेने पर इत्व पूर्व स्त्र से प्राप्त था. तद्पवाद् आत्व विधान कर दिया।।

ठस्येकः ॥७।३।५०॥

क्स्य ६।१।। इकः १।१।। अनु०—अङ्गस्य ।। अर्थः—अङ्गस्य निमित्तै र्माम्ही गुप्तस्य इक इत्ययमादेशो भवति ।। उदा०—प्राग्वहतेष्ठक्—आक्षिकः, 🖚 गणिकः। खवणाडुञ्—लावणिकः।।

भाषार्थ:—अङ्ग के निमित्त (जिसके कारण अङ्ग संज्ञा हुई हो, ऐसे) वाही [स्य] ठ को [इक:] इक आदेश होता है।।

वहाँ से 'ठस्य' की अनुवृत्ति ७।३।५१ तक जायेगी।।

इसुस्तान्तात् कः ॥७।३।५१॥

इसुकान्तात् ५।१।। कः १।१।। सः—इस् च उस् च उक् च तश्च क्षिकम्। इसुसुक्तमन्ते यस्य स इसुसुक्तान्तस्तस्मात् "द्रन्द्रगभवहु-हीं अनुः — ठस्य, अङ्गस्य ॥ श्रर्थः — इसन्तात्, उसन्तात्, उग-कारान्तात् चाङ्गादुत्तरस्य ठस्य स्थाने क इत्ययमादेशो भवति॥ वित्वर्षकः, शाबरजम्बुकः, मातृकम्, पैतृकम्। तान्तात्-औद्श्वित्कः, कितः, याकुत्कः ॥

भाषार्थः [इसुसुक्तान्तात्] इसन्त, उसन्त, उगन्त तथा तकारान्त भी किसे हतार ठ के स्थान में [क:] क आदेश होता है।। सिपंस् शब्द से भाषितः में तदस्य परायम् (४।४।५१) से ठक् हुआ है। स्को रूत भिक्तिनीय होकर 'सर्पि: क' रहा। इणः षः (८।३।३९) से विसर्जनीय विविद्याल होकर 'सिपिं: क' रहा । इणः षः (टाशरट) से धानुष्कः वना । इसी प्रकार धनुस् शब्द से धानुष्कः वना । इसी प्रकार धनुस् शब्द से धानुष्कः वना । इसी प्रकार धनुस् शब्द से धानुष्कः ति विकर 'सिप: क रहा। २ ... विविधिका सार्पिष्क: बना। इसी प्रकार धनुस् शब्द स वाउ विविधिका: में जानें। यहाँ तेन दीव्यति खनति० (४१४१२) से ठक् के विष्या है। निषाद्कर्षू शब्द से नैषाद्कर्षुक: में श्रोदेश ठञ्

(m)

(४।२।११८) से ठव् तथा केऽसाः (७।४।१३) से हस्वत्व होता है। कम् पैतृकम् में ऋतष्ठञ् (४।३।७=) से ठञ् प्रत्यय तथा औद्धितः। उदिश्वतो० (४।२।१८) से ठक् हुआ है। शाकृतकः आदि में (४।४।२२) से ठक् हुआ है ।।

चजोः कु चिण्यतोः ॥७।२।५२॥

चजोः ६।२॥ कु १।१॥ घिण्ण्यतोः ७।२॥ स०-चन्न जन्न हो तयोः "इतरेतरद्रन्द्रः । घृ इत् यस्य स घित् , बहुव्रीहिः । धित् पह्न च घिण्ण्यतौ, तयोः "इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अर्थः चकारजकारयोः ह ववगादेशो भवति चिति ण्यति च प्रत्यये परतः ॥ उदाः — चिति-क त्यागः, रागः । ण्यति-पाक्यम् , वाक्यम् , रेक्यम् ॥

भाषार्थः-[चजोः] चकार तथा जकार के स्थान में [कु] ह्र आदेश होता है, [िघएएयतोः] चित् तथा ण्यत् प्रत्यय परे हो सिद्धियाँ परि० १।१।१ में देखें। त्रष्टहलोएर्यत् (३।१।१२४) मे प्रत्यय होता है।।

यहाँ से 'चजो: कु' की अनुवृत्ति ७।३।६९ तक जायेगी॥

न्यङ्कादीनां च ॥७।३।५३॥

न्यङ्कादीनाम् ६।३॥ च अ०॥ स० — न्यङ्कः आदिर्येषां ते वर्ष यस्तेषां बहुन्नीहिः ॥ अनुः —चजोः कु॥ अर्थः —न्यङ्क इत्येकाः कवर्गादेशो भवति ॥ उदाः — नयङ्कः, मद्गुः, भृगुः॥

भाषार्थः—[न्यङ्कादीनाम्] न्यङ्कु आदि गणपठित शब्दी के हैं। जकार को [च] भी कवर्ग आदेश होता है।। नि पूर्वक अख्रु से हि। (उणा० १।१७) ने -(डणा० १११७) से ड प्रत्यय हुआ है। न्यञ्च् ड=न्यञ्चु व होता है।। नि पूर्वक अख्नु से कि हो कर न्यञ्च ड न्यञ्च होता है। न्यञ्च् ड न्यञ्च हो हो कर न्यञ्च । को परसवर्णीद ८।४।५७ होकर) बन गया। कि दुगस्जी धातु से भृमृशी० (डणा० १।७) से 'ड' हुआ है। कि निकेश हो कर हो कि निकेश हो है। कि निकेश हो कर हो है। कि निकेश हो हो है। कि निकेश हो है। कि निकेश हो हो है। जिल्ला हो हो है। जिल्ला हो हो हो हो हो है। जिल्ला हो हो हो हो हो है। जिल्ला हो हो हो है। जिल्ला हो हो हो हो हो हो हो है। जिल्ला हो हो हो हो हो हो है। जिल्ला हो है। जिल्ला हो हो हो हो हो है। जिल्ला हो हो हो हो हो है। जिल्ला हो हो हो हो हो हो हो है। हो हो हो हो है। हो है। हो हो हो है। हो हुआ है। हो हो हो हो है। हो हो है। हो हो है। है। हो है। है। हो है। है। हो है। (८।४।५२) से स्को द्हो जायेगा। भृगुः यहाँ भ्रस्त पाके है। मृदि० (जाए० १)००) म्रदि० (डणा० ११२८) से उ प्रत्यय तथा सम्प्रसारण एवं सलीप हुनी सर्वेत्र गर्ने सर्वत्र यहाँ कुत्व हो गया है।।

हः ६।२॥ हन्तेः ६।२॥ ज्ञिणन्तेषु ।।७।३।५४॥ येगां ते ज्ञिणतः हाराः ज्ञिणन्तेषु ७।३॥ स०—वश्च ज्ञानां इतौ येषां ते ज्जितः, द्रन्द्रगर्भबहुत्रीहिः । ज्जितस्य नस्र ज्जिली

16:] भारताद्वरद्वः ॥ अनु ० — कु, अङ्गस्य ॥ अर्थः — हन्तेह्कारस्य स्थाने कव-पतः विशेष भवति, व्यिति णिति प्रत्यये परतो नकारे च ॥ उदा० — विति— क्तो वर्तते । णिति-घातयति, घात्तकः, साधुघाती, घातंघातम् । नकारे-र्जात, ध्नन्तु, अध्नन् ।।

前

सेष

भाषार्थ:-[हन्ते:] हन् धातु के [ह:] हकार के स्थान में कवगादिश अ का है [ज्जिननेषु] जित् जित् प्रत्यय तथा नकार परे रहते।। सिद्धियाँ अश्रेर सूत्र में देखें।। हनन्ति इत्यादि में ह के अ का लोप गमहन-कि कि (शिशहर) से होता है। हनन्तु छोट् तथा अहनन् छङ् प्रथमपुरुष ति-क इत्वन का रूप है। आन्तर्य से यहाँ सर्वत्र ह् को घ् ही कुत्व होता है। यहाँ से 'हः' की अनुवृत्ति ७।३।५६ तक तथा 'हन्तेः' की ७।३।५५ कु] क जायेगी ।।

अभ्यासाच ॥७।३।५५॥

अभ्यासात् ५।१।। च अ०।। अनु०—हो हन्तेः, कु, अङ्गस्य।। कि-अभ्यासादुत्तरस्य हन्तेह्कारस्य कवर्गादेशो भवति॥ उदा०-विवांसित, जङ्घन्यते, अहं जघन।।

भाषार्थ:- अभ्यासात् अभ्यास से उत्तर [च] भी हन धातु के का का कवगादिश होता है।। जिघांसित में अज्मनगमां सिन धिश्रीरह) से दीर्घ तथा कुहोश्चुः (७।४।६२) से अभ्यास को चुत्न 'झ' अभ्यासे चर्च (८।४।५३) से जश्त्व 'ज' होता है। जङ्घन्यते यङन्त के हैं। नुगतो उनुनासि० (७।४।८५) से यहाँ अभ्यास को नुक् व अपात होता है। शेष पूर्ववत् है। 'जघन' यह छिट् उत्तम पुरुष का भीत (जिश्हिर) पक्ष का रूप है।। जिस् पक्ष में तो पूर्व सूत्र से ही प्रमानकर हो जाता, अतः अणित् पक्ष का उदाहरण दिया है।। वहाँ से 'अभ्यासात्' की अनुवृत्ति ७।३।४८ तक जायेगी।।

हेरचङि ॥७।३।५६॥

हैं: ६।१॥ अचिक ७।१॥ स०—त चक् अचक्, तस्मिन् जन्तर्यं-१:६११॥ अचिक ७११॥ स०—त चङ् अचङ्, तासमर् भा हिनोकेट अभ्यासात्, हः, कु, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अभ्यासादुत्त-श्रितिहिकारस्य कवर्गादेशो भवति, अचिक परतः।। उदाः क्षिणिति, प्रजेघीयते, प्रजिघाय ॥

कि

भाषार्थः —अभ्यास से उत्तर [है:] हि गतौ धातु के ह्याहे। कवर्गादेश होता है, [अचिड] चङ् परे न हो तो।। प्रिजिमिन्नी एकाच उप० (७।२।१०) से इट् निषेध तथा इको मल् (१।२।६) हे होने से गुण निषेध एवं अज्मनगमां सनि (६।४।१६) से दीई होता प्रजेघीयते (यङन्त) में अकृत्सार्वधातु० (७।४।२५) से दीर्घ त्या यङ्लुकोः (जा४।८२) से अभ्यास को गुण हुआ है। प्रिज्ञाय गाँव परे रहते वृद्धि तथा आयादेश हुआ है।।

सन्लिटोर्जेः ॥७।३।५७॥

सन्लिटोः ७।२।। जेः ६।१।। स०—सन्० इत्यत्रेतरेतरहा त्रनु०—अभ्यासात् , कु, अङ्गस्य ।। *अर्थः*—जेरङ्गस्य योऽभ्यास्त कवर्गादेशो भवति, सनि छिटि च प्रत्यये परतः ॥ उदा० - जिमेरी जिगाय ॥

भाषार्थः—अभ्यास से उत्तर [जे:] जि अङ्ग को [सन्तिरो:] ह तथा लिट् परे रहते कवर्गादेश होता है।। श्रादेः परस्य (शश्री आदि ज् को ग् अभ्यास से उत्तर होता है। जिगीपित में पूर्व दीर्घादि तथा जिगाय में वृद्धि आयादेश जानें।।

यहाँ से 'सन्लिटोः' की अनुवृत्ति ७।३।४८ तक जायेगी॥

विभाषा चेः ॥ ७।३।५८॥

विभाषा १।१॥ चेः ६।१॥ श्रनु०—सन्छिटोः, अभ्यासार् अङ्गस्य ॥ त्रर्थः—अभ्यासादुत्तरस्य चिनोतेरङ्गस्य विभाषा क्रा भवति, सनि लिटि च परतः ॥ उदा०—चिचीषति, चिकीषि चिचाय, चिकाय ॥

भाषार्थः—अभ्यास से उत्तर [चे:] चि अङ्ग को [विभाष] से कवर्गादेश होता है, सन् तथा लिट परे रहते ॥ पूर्वनत् अस सभी कार्य उदाहरणों में जानें।।

न अ०॥ कादेः ६।१॥ *स०*—कुः (कवर्गः) आदिर्यस्य ^{स्कादिवी} ोहि<u>ः ॥ अनुरू</u> बहुवीहिः ॥ अतुः १।४॥ स०—कुः (कवर्गः) आदिर्यस्य सङ्गाद्यः ८८-०.२anपा Kanyबालोः क्रुपुर्वासङ्गस्साः ॥, अर्थः — कवगोदिवी [क्री वह

(दृदृ

यासल

能

ह्या बाते क्वर्गांदेशो न भवति ।। उदा० — कूजो वर्त्तते, खर्जः, गर्जः । कृष्यं षीकी: भवता, खर्ज्य गर्ज्य भवता ।।

मेहि माषार्थ:-[कादे:] कवर्ग आदि वाले घातु के चकार तथा जकार होता । चर्जाः कु वि० (७।३।५२) से विष्या मि थी, निषेध कर दिया ।। कूजः आदि में घन् तथा कूज्यं आदि में यहाँ पत् प्रत्यंय हुआ है ।।

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ७।३।६९ तक जायेगी।।

अजिव्रज्योश्च ॥७।३।६०॥

अजिब्रज्योः ६।२॥ च अ०॥ स०—अजि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ क्षेत्र मुः - न, चजोः कु, अङ्गस्य ।। अर्थः - अजि व्रजि इत्येतयोश्र चजोः ब्लादिशो न भवति ।। उदा०—समाजः, उदाजः । व्रजि—परिव्राजः । ां । पित्राज्यम् ।।

8143) भाषार्थ:-[अजिब्रह्योः] अज तथा व्रज घातुओं के जकार को [च] में भे कवर्गादेश नहीं होता।। पूर्ववत् प्राप्ति थी, निषेध कर दिया।। मानः उदानः में हलश्च (३।३।१२१) से घन् हुआ है, तथा परिव्रानः में माने (३।३।१८) से हुआ है। अज को अजेर्व्य० (२।४।५६) से आर्घ-गतुक में 'वी' आदेश हो जाता है, अतः अज का एयत् परे का उद्गाहरण दी दिखाया है।। 同意

भुजन्युब्जो पाण्युपतापयोः ॥७।३।६१॥

भुजन्युक्जी शशा पाण्युपतापयोः ७।२॥ स०—मुज०, पाण्यु० भागनेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—न, चजोः कु, अङ्गस्य ॥ अर्थः—्भुज कुर्व इत्येती राज्दी यथाक्रमं पाणावुपतापे चार्थे निपात्येते ॥ उदा०— भितें होती = मुजः पाणिः । न्युब्जिताः (अधोमुखाः) शेरतेऽस्मि-जिल्लान सुजः पाणिः । न्युङ्जिताः (अवासुकान क्रियामानो स्थापरत्र कुत्वाभावो गुणाभावश्चापरत्र कुत्वाभावो नेपात्यते ॥

भाषार्थः [भुजन्युन्जो] भुज तथा न्युन्ज शन्द क्रमशः [पार्यप्प-पाणि (हाथ) और उपताप (रोग) अर्थ में निपातन किये जाते रिष्ण में कुत्व का अभाव एवं गुण का अभाव तथा न्युब्ज में

[र्वोत

क़त्वाभाव निपातन है।। भुजः में भुज घातु से तथा न्युकाः प्रवक उन्ज आजवे धातु से हल्एच (३।३।१२१) से घन् प्रत्यक्ष है।। सर्वत्र पूर्ववत् कुत्व प्राप्ति से निपेश समझे।।

प्रयाजानुयाजौ यज्ञाङ्गे ॥७।३।६२॥

प्रयाजानुयाजौ १।२।। यज्ञाङ्गे ७।१॥ स०—प्रया० इस्केल द्रन्द्रः । यज्ञस्य अङ्गं यज्ञाङ्गं तस्मिन् "पट्टीतत्पुरुषः ॥ त्रमु०-न् सं कु, अङ्गस्य ।। अर्थः-प्रयाज, अनुयाज इत्येती यज्ञाङ्गे निपाती कुत्वाभावोऽत्रापि निपात्यते ।। उदाः—पद्ध प्रयाजाः । त्रयोऽतुगक्र त्वमग्ने प्रयाजानां पश्चात् त्वं पुरस्तात् ॥

भाषार्थः-[प्रयाजानुयाजी] प्रयाजी तथा अनुयाजी शब्द [क्की यज्ञ का अङ्ग हों तो निपातन किये जाते हैं ॥ कुत्वाभाव पूर्ववत् वां निपातित है।। अकर्त्तरि च कारके० (३।३।१६) से प्रयाज, अनुगर्व घञ् हुआ है।।

वश्चेर्गतौ ॥७।३।६३॥

वक्रोः ६।१॥ गतौ ७।१॥ अनु०—न, चजोः कु, अङ्गस्य॥ क गतौ वर्त्तमानस्य वख्चेरङ्गस्य कवर्गादेशो न भवति॥ उदा०-क वक्रन्ति वणिजः॥

भीषार्थः—[गतौ] गति अर्थ में वर्त्तमान [वन्चेः] वन्तु अर्थ कवर्गादेश नहीं होता।। वञ्च्य में ण्यत् हुआ है।। वञ्चं वणिजः, अर्थात् गन्तव्य स्थान को वणिक् छोग जाते हैं॥

ओक उचः के ॥७।३।६४॥

ओकः १।१॥ उचः ६।१॥ के ७।१॥ अनु०—चजीः कु॥ अर्थे । उचेर्घातोः के प्रत्यये परत ओक इति निपात्यते। कुर्व गुण्या निपात्यते ॥ उदा०--न्योकः शकुन्तः । न्योको गृहम्॥

भाषार्थः—[उचः] उच समवाये घातु से [के] क प्रत्यवारी कः] ओक राज्य ि [ओकः] ओक शब्द निपातन किया जाता है।। कुल तथा

१ प्रयाज ग्रनुयाज नाम के याग दर्शपौर्णमास ग्रादि यहीं में हैं। सिज्ञक याग प्रवास प्रयाज स्त्रक याग प्रधान याग से पूर्व होते हैं ग्रीर अनुयाज पश्चाद ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

क्षितित है, क्योंकि 'क' प्रत्यय परे रहते दोनों ही प्राप्त नहीं थे॥ नुष्पापि (३।१।१३५) से कत्ता में कं प्रत्यय हुआ है। न्युचन्त्यस्मिन् = काः में अधिकरण कारक में घनेर्थे क विधानम्० (वा० ३।३।४८) से होता है।।

ण्य आवश्यके ॥७।३।६५॥

त्रोत

स्य-

न् र ले ७१॥ आवश्यके ७११॥ श्रनु०—न, चजोः कु, अङ्गस्य॥ पिते क्यं परत आवश्यकेऽर्थेऽङ्गस्य चजोः कवर्गादेशो न भवति।। ^{याज} हा॰—अवश्यपाच्यम्, अवश्यवाच्यम्, अवश्यरेच्यम्।।

गापार्थ:-[एये] एय परे रहते [आवश्यके] आवश्यक अर्थ में का के चकार जकार को कवर्गादेश नहीं होता।। पूर्ववत् प्राप्ति थी, विश्व कर दिया ।। इत्याश्च (३।३।१७१) से आवश्यक अर्थ में ऋहलो-लुका से उदाहरणों में ण्यत् , मयूरव्यंसका० (२।१।७१) से समास षं अवस्यमः (भा० ६।१।१३६) से अवस्यम् के म् का लोप हुआ है।। वहाँ से 'एये' की अनुवृत्ति ७।३।६९ तक जायेगी।।

यजयाचरुचप्रवचर्चश्च ॥७।३।६६॥

यज्याचरुचप्रवचर्चः ६।१॥ च अ०॥ स०—यजस्र याचस्र रुच्रच का मित्र क्ष च यज चर्च तस्य समाहारो द्रन्द्रः ॥ श्रनु० — ण्ये, न ति: कु, अङ्गस्य ।। अर्थ: — यज, याच, रुच, प्रवच, ऋच इत्येतेषा-ल्यानं चजोः स्थाने ण्ये परतः कवर्गादेशो न भवति ॥ उदा॰— व्यम्, याच्यम्, रोच्यम्, प्रवाच्यम्, अर्च्यम् ॥

भाषार्थः [यज : चर्चः] यज, दुयाचू , रुच, प्रपूर्वक वच, ऋच इन क्षों के चकार जकार को [च] भी ण्य प्रत्यय परे रहते कवर्गादेश गुणका ही होता ॥

वचोऽशब्दसंज्ञायाम् ॥७।३।६७॥

नेव वर्षः ६।१॥ अञ्बद्संज्ञायाम् ७।१॥ स०—शब्द्स्य संज्ञा शब्द्संज्ञा, प्राचित्रियः । न शब्द्संज्ञायाम् ७।१॥ स०—शब्द्स्य स्वसा प्राचीत्रियः । न शब्द्संज्ञा अशब्द्संज्ञा, तस्याम् "नव्तत्पुरुषः ॥ १ भू पर्यः। न शब्दसंज्ञा अशब्दसंज्ञा, तस्याम् पर्याप् पर्याप् पर्याप् पर्याप् पर्याप् पर्याप् पर्याप् स्वाप् स्वाप्यसाह ।। भिष्याः क्वादिशो न भवति ॥ उदाः—वाच्यमाह अवाच्यमाह ॥

前 भाषार्थः—[अशब्दसंज्ञायाम्] शब्द की संज्ञा न हो तो विश् अङ्ग को ण्य परे रहते कवर्गादेश नहीं होता ॥ वाच्यम् (=कहते क यह शब्द की संज्ञा नहीं है ।। 'वाक्यम्' शब्द समूह की संज्ञा है। ,यहाँ कुत्व हो जाता है।।

प्रयोज्यनियोज्यौ शक्यार्थे ॥७।३।६८॥

प्रयोज्यनियोज्यौ १।२।। शक्यार्थे ७।१।। स०-प्रयोज्यः स्त्री तरद्वन्द्वः । शक्योऽर्थः शक्यार्थस्तस्मिन् "कर्मधारयतःपुरुषः॥ कः ण्ये, न, चजोः कु, अङ्गस्य ।। श्रर्थः-प्रयोज्य नियोज्य इतेती हा राक्यार्थे निपात्येते । कृत्वाभावो निपात्यतेऽत्र ॥ उदा०-क्र प्रयोक्तुं = प्रयोज्यः । शक्यो नियोक्तुं नियोज्यः ॥

भाषार्थः — [प्रयोज्यनियोज्यो] प्रयोज्य तथा नियोज्य ण्यत् प्रत्त शब्द [शक्यार्थे] शक्य अर्थ में निपातित हैं ॥ कुरवाभाव ही वहाँ कि से जानें।। शिक लिङ् च (३।३।१७२) से शक्यार्थ में ऋहलें (३।१।१२४) से ण्यत् होता है।।

मोज्यं भक्ष्ये ॥ ७।३।६९॥

भोज्यम् १।१॥ भक्ष्ये ७।१॥ श्रनु०—ण्ये, न, चजोः कु, अहते । श्रशं—भोज्यमिति निपात्यते, भद्दयेऽभिषेये॥ उदा०—भोज्य और भोज्या यवामः भोज्या यवागू॥

भाषार्थः—[मोज्यम्] भोज्यम् ज्ञब्द [मद्ये] भक्ष्य अभिवेव हैं। पर निपातन किया जाता है।। यहाँ भी कुत्वाभाव ही नि से जानें॥

घोर्लोपो लेटि वा ॥७।३।७०॥

घोः ६।१॥ छोपः १।१॥ लेटि ७।१॥ वा अ०॥ श्रुतु०—अह्मा श्रर्थः—घुसंज्ञकानामङ्गानां लेटि परतो वा छोपो भवति॥ द्धद् रत्नानि दाञ्चषे (ऋ ४।१५।३)। सोमो दर्द (ऋ० १०।८५।४१) न च भवति—यद्गित्रग्नये ददात्॥

, भाषार्थः—[घोः] घु संज्ञक अङ्ग का [लेटि] लेट् परे खिड्डि हलप से [लोपः] लेट के क्या का [लेटि] लेट् परे खीडि विकल्प से [लोपः] छ संज्ञक अङ्ग का [लेटि] लेट् परे रहता। रख एवं रलो (६।१।१०) के प्रहोता है।। डुधाञ् धातु से लेट् में रल एवं रली (६।१।१०) से द्वित्व इत्यादि होकर द धा

[[] क्षेड़ारी (३।४।६४) से अट् आगम तथा प्रकृत सूत्र से अन्त्य अल् किंडिया (राज्य में अट् त् = दधत् बन गया। इसी प्रकार दा विके विदेदत् में जानें। पक्ष में जब छोप नहीं हुआ तो 'द्दात्' है ह जाया।

वहाँ से 'लोपः' की अनुवृत्ति ७।३।७२ तक जायेगी।।

ओतः रयनि ॥७।३।७१॥

इलक्र मः। ओतः ६।१।। श्यनि ७।१।। श्रनु०— छोपः, अङ्गस्य ।। अर्थः— तौ है केत्रानस्याङ्गस्य इयनि परतो छोपो भवति ।। उदा० — शो—निश्यति । -मार्ग-अवच्छचित । दो-अवद्यति । सो - अवस्यति ।।

भाषार्थ:- [श्रोत:] ओकारान्त अङ्ग का [श्यिन] श्यन् परे रहते प्रवत में होता है।। अलो ८ न्त्यस्य से अन्त्य अल 'ओ' का लोप होता है।। विका विश्वा स्यन् ति = निश्यति ।।

क्सस्याचि ॥७।३।७२॥

हलोप

अहस

। ओहर

ङ्ग्राव

उद्गा

南河

1 LA

क्सस्य ६।१।। अचि ७।१।। अनुः—छोपः, अङ्गस्य ।। श्रर्थः— सायाजादौ प्रत्यये परतो छोपो भवति।। उदाः—अधुक्षाताम्, गुक्षाथाम्, अधुक्षि ॥

गाषार्थ:-[नसस्य] क्स का [त्रिच] अजादि प्रत्यय परे रहते छोप के हैं। पूर्ववत् अन्त्य अल् 'स' के अ का लोप यहाँ भी जानें। की सिद्धि परि० ३।१।४५ में की है, तद्वत् आताम् आथाम् Fare ला उत्तम पुरुष के इट् परे रहते यहाँ भी जानें। अधुक्ष ^{शताम् =} अधुक्षाताम् ॥

वहाँ से 'क्सस्य' की अनुवृत्ति ७।३।७३ तक जायेगी।।

छमा दुहदिहलिहगुहामात्मनेपदे दन्त्ये ॥७।३।७३॥

門 वा अ०।। दुहदिहिलहिगुहाम् ६।३।। आत्मनेपदे ७।१॥ लिश्री। स० ।। दुहिदिहोलहगुहाम् शरा। जात्रास्य स्तिमन् ।; भीतिकाला विकास समित्रास्य ।। दन्ते भवो दन्त्यस्तिसम् ।। भौतित्वनाच (४) इति यत् प्रत्ययः ॥ त्रन्त भवा प्रत्यः ॥ त्रन्त भवा प्रत्यः ॥ त्रन्त भवा प्रत्यः ॥ त्रन्तः वसस्य ॥ भैं दिह, विह, छह, गुह इत्येतेषामात्मनेपदे दन्त्यादी प्रतः क्सस्य

ि हो बाद वा तुग् भवति॥ उदा>—दुह्—अदुग्ध, अधुक्षत। अहुन् प्राम अधुक्षथाः । अधुग्ध्वम्, अधुक्ष्ध्वम् । अदुह्वहि, अधुक्षावहि। अदिग्य, अधिक्षत, इत्येवमाद्यः। लिह—अलीह, अलिक्षत। न्यगूह, न्यघुक्षत ॥

भाषार्थः—[दुहदिहलिहगुहाम्] दुह प्रपूरणे, दिह उपचे हि आस्वादने, गुहू संवरणे इन धातुओं के क्स का [वा] विकल्प से 🖥 लुक् होता है, [दन्त्ये] दन्त से उच्चरित अक्षर आदि में है जिन्हें [ब्रात्मनेपदे] आत्मनेपद संज्ञक प्रत्ययों के परे रहते॥ इस ज आत्मनेपद के तवर्गादि तथा वकारादि वाले प्रत्यय गृहीत हों। उनके परे रहते विकल्प से लुक् होगा।। लुक् कहने से सम्पूर्ण मह का लुक होता है, क्योंकि लुक संज्ञा सम्पूर्ण प्रत्यय के अद्की 🕯 एकदेश की नहीं।।

N

R

Ne To

अदुग्ध की सिद्धि परि० ३।१।६३ में देखें । यहाँ दन्यादि 🖁 परे है। जब पक्ष में क्स का लुक् नहीं हुआ, तो परि॰ आर्था अधुक्षत् के समान अधुक्षत बन गया। इसी प्रकार थास् ध्वम् वर्ष परे रहते अदुग्धाः आदि रूप बनेंगे । एकाचो बशो० (८।२।३७) सूत्र यथाप्राप्त लगते जायेंगे। इसी प्रकार दिह आदि धातुओं है रूप जानें। अलीढ में लिह् के ह् को हो ढः (८।२।३१) से छल्ही को पूर्वत धत्व तथा ष्टुत्व होकर 'अ छिढ ढ' रहा। अब हो हो (८।३।१३) से एक ढ का छोप एवं ट्रलोपे पूर्वस्य० (६।३।१०६) होकर अळीढ बन गया। इसी प्रकार नि पूर्वक गुह से न्याह के जानें। न्यघुक्षत पूर्ववत् बनेगा।।

श्रमामष्टानां दीर्घः स्यनि ॥७।३।७४॥

शमाम् ६।३॥ अष्टानाम् ६।३॥ दीर्घः १।१॥ श्यनि ७१॥ क्र उदाः — रामु — शास्यति । तमु — ताम्यति । दमु — दाम्यिति ।

[्]र २. वकारो दन्त्यौष्ठचः (वर्णो० ३२) से तवर्ण दन्त्य हैं। ता है।। जाता है।।

४७९

का विति। भ्रमु-भ्राम्यति । क्षमु-क्षाम्यति । क्लमु-क्लाम्यति । । कि कि माद्यति ।।

। माषार्थ: [शमाम्] राम् आदि वाली [श्रष्टानाम्] आठ धातुओं को मिन श्यन परे रहते [दीर्घ:] दीर्घ होता है ॥ 'शमाम्' यहाँ बहुवचन को किंग होने से 'आदि' अर्थ की प्रतीति होती है।।

ग्हाँ से 'दीर्घ:' की अनुवृत्ति ७।३।७६ तक जायेगी।।

[THE]

से [गु

जनके हैं

इस म

होंगे, है

लएं। हो हे हैं।

) हे

ते प्र

ष्टिबक्कस्चमां शिति ॥७।३।७५॥

ष्टिवुक्छमुचमाम् ६।३।। शिति ७।१।। स०-छिवु० इत्यन्नेतरेतर-र्ण्ण हिन्द्ः। शकार इत् यस्य स शित् तस्मिन् वहुवीहिः।। श्रनु - दीर्घः, क्षेत्री प्रमास्य ॥ त्र्रर्थः — ष्टियु क्लमु चम् इत्येतेषामङ्गानां दीर्घो भवति, र्षित परतः ।। *उदा*० – ष्टीवति । क्लामति । आचामति ।।

प्रज्ञ मापार्थ:—[ष्ठिवुक्लमुचमाम्] छिचु, क्लमु, तथा चमु धातुओं को कित प्रत्यय परे रहते दीर्घ होता है।। महाभाष्यानुसार आङ् स्वा कि चम् को ही दीर्घ होता है, अन्यत्र नहीं।। शप् शित् प्रत्यय सर्वत्र, ७) इं बाहरणों में परे है ।। नुओं हेर

वहाँ से 'शिति' की अनुवृत्ति ७।३।८२ तक जायेगी।।

क्रमः परस्मैपदेषु ॥७।३।७६॥

क्रमः ६।१॥ परस्मैपदेषु ७।३॥ अनु०—शिति, दीर्घः, अङ्गस्य॥ क्षां कमोऽङ्गस्य परस्मैपद्परे शिति परतो दीर्घो भवति ॥ उदा०— ^{क्रामति}, क्रामतः, क्रामन्ति ।।

भाषार्थः [क्रमः] क्रमु धातु को [परस्मैपदेषु] परस्मैपद्परक शित् श्यम के परे रहते दीर्घ होता है।।

इषुगमियमां छः ॥७।३।७७॥

1 धुगमियमाम् ६।३॥ छ: १।१॥ स०—इषु० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ भेषाता प्राप्ताम् दारा। छः १।१॥ स०—इपुर स्पाप्तामाम् दारा। छः १।१॥ स०—इपुर गम्ल, यम इत्येतेषा-हिंगानां शिति परतरछकारादेशो भवति ॥ *उदा*०—इच्छति, गच्छति,

भाषार्थः [इषुगिमयमाम्] इषु, गम्लः तथा यम् धातुओं को शित्

[10 m प्रस्यय परे रहते [छः] छकारादेश (अन्त्य अल् को) होता है। १।३।१५ में व्यतिगच्छन्ति की सिद्धि की है, तद्दत् अन्य मि भी जाने।।

> पाघाष्मास्थाम्नादाण् दश्यतिसत्तिशदसदां पिनिजन धमतिष्टमनयच्छपवयच्छिघौशीयसीदाः ॥७।३।७८॥

पाच्राः सदाम् ६।३।। पिचः सीदाः १।३।। स०—पाप्राः, हि डमयत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०--िश्चिति, अङ्गस्य ॥ अर्थः-पा पाते । हो गन्धोपादाने, ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः, ष्टा गतिनिवृत्तौ, मा अर्थ याण् दाने, हिशर् प्रेक्षणे, ऋ गतिप्रापणयोः, स गतौ, शद्ह हा षद्लः विशरणगत्यवसाद्नेषु इत्येतेषां धातूनां स्थाने यथाऋषे जिन्न, धम, तिष्ट, मन, यच्छ, पश्य, ऋच्छ, धौ, शीय, सीर ही आदेशा भवन्ति शिति प्रत्यये परतः ।। उदा०-पा-पिबति। प्र-जिन्नति । ध्मा—धमति । स्था—तिष्ठति । म्ना—मनति । हि यच्छ्रति । दृशि—पश्यति । ऋ—ऋच्छ्रति । स्–धावि । क्र शीयते । सदु-सीद्ति ॥

भाषार्थः—[पाघाः सदाम्] पा, घा, ध्मा, स्था (ष्टा), मा, हिशर्, ऋ, सृ, शद्ल, षद्ल इन धातुओं को शित् प्रत्यव परेष यथासङ्ख्य करके [प्रव सीदाः] पिव, जिद्य, धम, तिष्ठ, मन् पश्य, ऋच्छ, धौ, शीय, सीद ये आदेश होते हैं ॥ शदेः शितः (१) से शीयते में आत्मनेपद होता है।।

ज्ञाजनोर्जा ॥७।३।७९॥

ज्ञाजनोः ६।२॥ जा लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ स०—ज्ञा० इत्येति । स० विकास । स० (दैवादिकस्य प्रहणम्) इत्येतयोः स्थाने शिति प्रत्यये परतो जाहि मादेशो भवति ॥ उदा०—जानाति । जनी—जायते ॥

भाषार्थः—[ज्ञाजनोः] ज्ञा तथा जनी (दिवादिस्य) विद्वादिस्य) विद्वादिस्य प्रत्यय परे रहते [जा] जा आदेश होता है।। ज्ञा के क्रमीहिं। होने से श्ताः विकास होने से श्नाः विकरण होकर जानाति बना । जा श्यन् त = जायते ॥

सप्रमोऽध्याय:

828,

प्वादीनां हस्यः ॥७।३।८०॥

[1

110

電

611

अयन

ल शह

क्रमं लि

न, व्ह

ARE

जा इंक

बादीनाम् ६।३।। ह्रस्वः १।१।। स० — पूः आदिर्येषां ते प्वादयस्तेषां ः मः जिल्लि परास्था । अर्थः - पूर्व पवने इत्येवमादीनां ह्यो भवति शिति परतः ॥ ऋचादिषु प्रवादयः प्रह्यन्ते ॥ उदा०— म्-पुनाति । लूञ्—लुनाति । स्तृञ्—स्तृगाति ॥

ाः, मापाथ:-[प्वादीनाम्] पूञ् इत्यादि घातुओं को शित् प्रत्यय परे पो, हो [हस्व:] हस्व होता है ।। ऋचादि गण में प्वादि धातुएँ पढ़ी हैं ॥ यहाँ से 'हस्तः' की अनुवृत्ति ७।३।८१ तक जायेगी।।

मीनातेर्निगमे ॥७।३।८१॥

ीर हो मीनातेः ६।१।। निगमे ७।१।। अनु०—हुस्वः, शिति, अङ्गस्य ॥ । 🗷 🏚 — मीनातेरङ्गस्य शिति प्रत्यये परतो ह्रस्वो भवति, निगमे विषये ॥ ह- ता- प्रमिणन्ति व्रतानि ॥

। हा माषार्थ: -[मीनाते:] मीञ् हिंसायाम् अङ्ग को शित् प्रत्यय परे को [निगमे] निगम विषय में हुस्व होता है।। प्र मिणन्ति में हिन्न मीना नाहि (वशाय) से णत्व तथा श्ना के आ का श्नाभ्यस्तयो० (६।४।११२) से परेल अप होता है।।

मिदेर्गुणः ॥७।३।८२॥

(9) मिदेः ६।१।। गुणः १।१।। श्रनुः—िश्चितं, अङ्गस्य ॥ अर्थः— सिक्स्य इको गुणो भवति, शिति प्रत्यये परतः ॥ उदा०—मेदाति, वतः, मेद्यन्ति ॥

भाषार्थः—[मिदेः] मिद् अङ्ग के इक् को शित् प्रत्यय परे रहते यंगि णि हो जाता है ।। सिद्धियाँ परि० १।१।३ में देखें ॥ रहाँ से 'गुराः' की अनुवृत्ति ७।३।८८ तक जायेगी।।

जुिस च ॥७।३।८३॥

a Pr अति पारारारात्याः अर्थः—जुसि च पार्रे पार्रे च अ०॥ त्रानु०—गुणः, अङ्गस्य॥ अर्थः—जुसि च अल्ला प्राचित्र विश्वा अल्लास्य गुणोः, अङ्गस्य ॥ जन्मः अल्लास्य ॥ जन्मः अल्लास्य गुणोः भवति ॥ उदा०—अजुहर्युः, बिसयुं, अविसरः ।।

भाषार्थः — [जुिस] जुस् प्रत्यय परे रहते [च] भी झान अहां है। गुण होता है।। अजुहवुः तथा अविभयुः की सिद्धि परि॰ ३।॥। देखें, तद्वत् डुमृब् धातु से अविभरुः की सिद्धि जानें॥ जुस् के त (१।२।४) होने से जुस् परे रहते गुण का प्रतिषेध (१।१।४) मा। गुण विधान कर दिया।।

सार्वधातुकार्घधातुकयोः ॥७।३।८४॥

िको पह

V 项

硼

साव

ग्दा

गंद

वाह

सार्वधातुकार्धधातुकयोः ७।२।। स०—सार्वधातुकच्च आर्थातु सार्वधातुकार्धधातुके, तयोः : : इतरेतरद्वन्द्वः ।। श्रनु०-गुणः, अक्का गर्थ:- सार्वधातुके आर्धधातुके च प्रत्यये परत इगन्तस्याङ्गस भवति ।। उदाः —सार्वधातुकं —तरति, नयति, भवति । आर्धगतुः कर्त्ता, चेता, स्तोता ।।

भाषार्थः—[सार्वधातुकार्धधातुकयोः] सार्वधातुक तथा आर्था प्रत्यय परे रहते इगन्त अङ्ग को गुण होता है।। सभी सिद्धिगं ्शशय में देखें।।

यहाँ से 'सार्वधातुकार्घधातुकयोः' की अनुवृत्ति ^{७|३|८६ व} जायेगी।।

जाग्रोऽविचिण्णिल्ङत्सु ॥७।३।८५॥

जाप्रः ६।१॥ अविचिण्णल्ङित्सु ७।३॥ स०—ङ् इत् यस्य स्रीहर बहुत्रीहि: । विश्व चिण् च णल् च ङित् च विचिण्णिल्डतः, क्ष्मि हे दिन्द्रः । त विचिण्णिल्डतः, क्ष्मि द्वन्द्वः । न विचिण्णिहङ्तः अविचिण्णिहङ्गतस्तेषु " अव्यान्य ॥ अव्यान्य ॥ अव्यान्य ॥ अव्यान्य ॥ इत्येतस्याङ्गस्य गुणो भवति, अविचिण्णाल्ङत्सु सार्वधातुकार्धाण त्रवुः—सार्वधातुकार्धधातुकयोः, गुणः, परतः ॥ उदा०—जागरयति, जागरकः, साधु जागरी, जागर्वा जागरो वर्त्तते । जागरितः, जागरितवान् ॥

भाषार्थः—[जायः] जागृ अङ्ग को गुण होता है [अविवासी चिण् , णळ तथा — वि, चिण्, णल् तथा ङ्इत् वाले प्रत्ययों को छोड़कर अन्य होता है [अविव्यक्ष आर्घधातुक प्रत्ययों के परे रहते ।। जागरयित में जिल् परे की जीगरकः में एवल परे जीगरकः में ण्वुळ् एवं साधु जागरी में ताच्छील्यार्थक जिति हैं।
परे रहते गुण हुआ है परे रहते गुण हुआ है। जागरंजागरम् में आभी इपने

[前順] बहुः अधार्य) से णमुळ् तथा आभी दृग्ये द्वे भवतः (वा० ८।१।१२) से द्वित्व प्राकृत है। जागर: में भावे (३।३।१८) से घन् हुआ है। यहाँ सर्वत्र णित कित होने से अची ज्याति (७।२।११५) से वृद्धि प्राप्त थी, गुण कह दिया। प्राः वागरितः जागरितवान् यहाँ तो सार्वधातुकाः से प्राप्त गुण का विक्रित (१११४) से निषेध प्राप्त था, प्रकृत सूत्र से गुण हो गया। इस ना वृद्धि के विषय में, एवं प्रतिषेध के विषय में दोनों ही स्थलों में कृत पूत्र से गुण होता है।।

पुगन्तलघूपधस्य च ॥७।३।८६॥

पुगन्तलघूपधस्य ६।१।। च अ०।। स०—पुकि अन्तः पुगन्तः, क्ष्मीतत्पुरुषः। लघ्वी चासौ उपधा च लघूपधा, कर्मधारयतत्पुरुषः। गुन्तश्रं रुघूपधा च पुगन्तरुघूपधम्, तस्यः समाहारद्वनद्वः॥ अनु०— र्मगतुकार्धधातुकयोः, गुणः, अङ्गस्य ॥ त्रर्थः—पुगन्तस्याङ्गस्य व्याचात्रकाववातुकवाः, युजाः, अन्यात्रके च परतो गुणो भवति॥ ह्याँ हिन्दान्तस्य — व्लेपयति, ह्रेपयति, क्नोपयति। छघूपधस्य— बेदनम्, छेदनम्, भेत्ता, छेत्ता ॥

विश्वामार्थः—[पुगन्तलघूपघस्य] पुक् परे रहने पर तत्समीपस्थ अङ्ग क्ष को तथा लघुसंज्ञक इक् उपधा को [च] भी सार्वधातुक तथा अध्यातुक परे रहते गुण हो जाता है। 'पुगन्त' यहाँ अन्त शब्द भीपवाची है, सो अर्थ होगा 'पुक् परे रहते समीपस्थ जो अङ्ग का है। इको गुरावृद्धी परिभाषा सूत्र की उपस्थिति से यहाँ 'इक्" शब्द कें करने में रखा है।। व्ली पुक् इ यहाँ पुक् के समीप जो इक् उसे तिस्ति भ रखा ह ।। ठला पुक् इ यहा उ प् किर्वेकर व्लेपयित बन गया । इसी प्रकार सब में जानें ।। वहाँ से 'लघूपधस्य' की अनुवृत्ति ७।३।८७ तक जायेगी।।

नाम्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके ॥७।३।८७॥

ने अ०॥ अभ्यस्तस्य ६।१॥ अचि ७।१॥ पिति ७।१॥ सावैधातुके पकार इत् यस्य स पित् तस्मिन् "बहुव्रीहिः॥ अनु०— भूषित्य, गुणः, अङ्गस्य ॥ श्रर्थः—अभ्यस्तसंज्ञकस्याङ्गस्य लघूपधस्य ।। श्रर्थः—अभ्यस्तसंज्ञकस्याङ्गस्य लघूपधस्य हिं कि अजादी पिति सार्वधातुके परतो गुणो न भवति ॥ उदार — नेनिजानि, कितिनम्। वेविजानि, अवेविजम्। परिवेविषाणि, पर्यवेविषम्।। भाषार्थः विश्वान, अवैविजम् । पारवावषाण, प्राप्त संज्ञक अङ्ग की लघु उपघा इक्

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

र्धघादुव

अङ्गत

, झंट

LÉAIG Kapie.

T

ग् बार्

1

को अचि अजादि [पिति] पित् [सार्वधातुके] सार्वधातुक पोक्ष गुण [न] नहीं होता।। पूर्व सूत्र से प्राप्ति थी, निषेष का हि णिजिर् शौचपोषणयोः धातु के ण को न एो नः (६।१।६३) से होत्रई स स्थानी मिप् को मेिन: (३।४।८९) से नि होकर निज् निह आड्तमस्य० (३।४।६२) से आट् आगम श्लौ (६।१।१०) हे बी एवं अभ्यास कार्य होकर 'नि निज् आट् नि' रहा । निजा त्रयाणी (७।४।७५) से अभ्यास को गुण होकर ने निज् आनि रहा। अन् अजादि पित् स्थानी सार्वधातुक 'आनि' परे है, सो श्रीरहोती प्राप्त था उसका प्रकृत सूत्र से निषेध हो गया। इसी प्रकार है तथा विजिर् धातु से वेविषाणि एवं वेविजानि में जानें। छ ह अनेनिजम् आदि भी इसी प्रकार समझें। यहाँ 🛲 (३।४।१०१) से मिप को 'अम' हुआ है।।

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ७।३।८८ तक तथा 'पिति' की 👫 तक एवं 'सार्वधातुके' की ७।३।१०१ तक जायेगी।।

भूसुवोस्तिङ ॥७।३।८८॥

भूसुबोः ६।२॥ तिङि ७।१॥ स०—भूश्र भूष्य भूस्य भूस्य इतरेतरद्रन्द्रः ॥ अनु० – न पिति सार्वधातुके, गुणः, अङ्गस्य ॥ क मू सू इत्येतयोस्तिङ पिति सार्वधातुके, गुणो न भवति॥ म अभूत्, अभूः, अभूवम् । सुवै, सुवावहै, सुवामहै ॥

भाषार्थ:—[भूसुवो:] भू तथा षूङ् अङ्ग को [तिडि] हि सार्वधातुक परे रहते गुण नहीं होता ।। अभूत् आदि के सिन् गातिस्थाघुपा० (२।४।७७) से होता है। सिच् लुक् कर देते पालि परे हैं ही, सो गुण प्राप्ति थी निषेध कर दिया। अमूबम में मुन (६।४।८८) से वुक् आगम एवं मिप् को अम् हुआ है ॥ वुक् पूर्व प्राप्त गुण का निषेध यहाँ हो जाता है ॥ सुवै आदि की विश्व रे।४।६३ के करवे आदि के समान जानें। पित् आट् परे रही था, उसका निषेध कर दिया।।

१. इन्घमवितम्यां च (१।२१६) में गुणप्रतिषेधार्थ कित्व का वि से ज्ञापित होता है कि वुक् नित्य होने पर भी पहले गुण की प्राप्ति प्रन्यया सूत्रविधान व्यर्थ है।

उतो चृद्धिर्छिक हिल ॥७।३।८९॥

W:],

i griff 3164

क परे हां क्तः दाशा वृद्धिः १११॥ लुकि ७११॥ हिल ७११॥ अनु०-पिति होत्रः सर्ववातुके, अङ्गस्य ।। अर्थः — उकारान्तस्याङ्गस्य वृद्धिर्भवति लुकि सति हाअन्न वावनाअन्तर स्विधातुके परतः ।। उदा०—यौति, यौषि, यौमि। नौति,) से बीप, नौमि । स्तौति, स्तौषि, स्तौमि ।।

छड़ यहाँ से 'वृद्धिः' की अनुवृत्ति ७।३।९० तक तथा 'हलि' की तस अश्०० तक जायेगी।।

ऊर्णोतेर्विभाषा ॥७।३।९०॥

की क्षीतिः १।१।। विभाषा १।१।। श्रनु०—वृद्धिः, हल्लि, पिति, सार्व-म्हकं, अङ्गस्य ।। अर्थः—ऊर्णोतेर्विभाषा वृद्धिभेवति इलादौ पिति सार्व-कि परतः॥ उदा०—प्रोणौति, प्रोणौति। प्रोणौषि, प्रोणौषि। ती ले प्रेणींमि, प्रोणींमि ।।

भाषार्थः हलादि पित् सार्वधातुक परे रहते [ऊणोंतेः] ऊर्णुव विभाषा विकल्प से वृद्धि होती है।। पूर्व सूत्र मिल्य वृद्धि प्राप्त थी, विकल्प कह दिया।। प्र ऊणुं ति (६।१।८४) हि जित = प्रोणोंति । जब वृद्धि नहीं हुई तो गुण होकर प्रोणोति बना। व् म म् क लुक् पूर्ववत् जाने ।।

यहाँ से 'जगोतिः' की अनुवृत्ति ७।३।९१ तक जायेगी।।

गुणोऽष्टक्ते ॥७।३।९१॥

His णः १११॥ अप्रक्ते ७।१॥ श्रनु०—ऊर्णोतेः, हलि, पिति, सार्वधातुके, मि गुणे भवति ॥ उद् Ic—प्रौर्णोत् , प्रौर्णोः ॥ TAN

भाषार्थः अणुक् धातु को [अपृक्ते] अपृक्त हल् पित् सार्वधातुक ति जिल्ला होता है।। पूर्व सूत्र से विकल्प से बृद्धि प्राप्त

(d) थी, यहाँ नित्य गुण विधान कर दिया ।। छङ् छकार में आट् (क्ष्य को आटश्च (६।१।८७) से वृद्धि एकादेश होकर प्रीर्ण तः प्रौणीं स् = प्रौणीं: बन गया। 'त् , स्' यहाँ अपृक्त सार्वधातुक परि

त्वणह इस् ।। १७।३।९२।।

W.

नृष

G

T

新

तृणहः ६।१।। इम् १।१।। अनुः — हलि, पिति, सार्वधातुके, अक्ष अर्थ: - तृणह इत्येतस्याङ्गस्य इमागमो भवति हलादौ पिति सके परतः ॥ उदा०—तृणेढि, तृणेक्षि, तृणेह्यि । अतृणेट् ॥

भाषार्थ: [तृराह:] तृह् हिंसायाम् (रुधादिगणस्थ) अङ्ग ने हा पित् सार्वधातुक परे रहते [इम्] इम् आगम होता है।। तृह् धातुन्नि विकरण सहित निर्देश इस वात को जनाने के छिये कियाहै कि ही रनम् विकरण कर लेने के पश्चात् ही इम् आगम हो, पहले नहीं॥

त श्नम् ह् ति = तृ ण ह् ति = इम् आगम अन्त्य अच् (वि से परे होकर तृण इम् ह् ति = रहा । आद् गुणः (६।१।८४) ह तृणेह् ति रहा। शेष ह् को ढत्व धत्वादि कार्य सूत्र ७१३।७३ वे ह के समान होकर तृणेढि बन गया। तृणेक्षि में सिप् परे रहते गढों (८।२।४१) से द को 'क्' तथा सिप् के स् को पत्व हुआ है। इह अतृणेट् में भी सभी कार्य इसी प्रकार हैं। केवल तिप् के री हल्ङ्यादि छोप एवं ढ्को जश्त्व (८।२।३६) ड्तथा वावसाने (वि से चर्त्व 'ट्' हुआ है, यही विशेष है।।

ब्रुव ईट् ॥७।३।९३॥

ब्रुवः ४।१॥ ईट् १।१॥ अनु०—हलि, पिति, सार्वधातुके, अर्थः — ब्रून् इत्येतस्मादुत्तरस्य हलादेः पितः सार्वधातुकस्य हैंद् भवति ॥ उदा० — ज्रवीति, ज्रवीषि, ज्रवीमि ॥

भाषार्थः—[बुवः] ब्रव्स अङ्ग से उत्तर हलादि पित् सर्विष्ठीं [] ईट आगम को क्र [ईट्] ईट् आगम होता है।। 'सार्वधातुके' आदि सम्यात है।। यन्त में तम्मारिकार यन्त में तस्मादित्युत्तरस्य (१।१।६६) से बद्छ जाते हैं, अतः क्षि से तिप् के आदि में ईट् होकर ब्रू ईट् तिप् = ब्रो ई ति ब्रोबी गया। राप् का लुक् अदिप्रमृतिम्यः (२।४।७२) से हो ही जीवा

यहाँ से 'ईट्' की अनुवृत्ति ७।३।९८ तक जायेगी।।

यङो वा ॥७।३।९४॥

[8 16]

(EISIS

कें

पदो है ल्ल

के वि

अङ्ग

PAT

统=页 यहः ५।१॥ वा अ० ॥ अनु०-ईट्, हलि, पिति, सार्वधातुके॥ परे हैं। क्षं-यङ उत्तरस्य हळादेः पितः सार्वधातुकस्य ईडागमो विकल्पेन वित । उदा० - शाकुनिको लालपीति । दुन्दुभिर्वावदीति । त्रिधा बद्धोः अक्वा गुम्मो रोखीति (ऋ० ४।५८।३)। न च भवति —वर्वति चक्रम्। चर्किति ॥

सार्व माषार्थ: - [यङ:] यङ् से उत्तर हलादि पित् सार्वधातुक को [वा] के हैं कार्य से ईट् आगम होता है।। छाछपीति आदि की सिद्धि परि॰ विश्व में देखें। रु धातु से रोरवीति में अभ्यास को गुगो यङ लुकोः ातुना (अश/२) से गुण होता है। वृञ् से वर्वर्ति, कुञ् से चर्कर्ति में केवल कि सिंहिं हिआगम नहीं हुआ, शेष उरत् (७।४।६६) आदि अभ्यास कार्य ख़्बत हैं। ऋतश्च (७।४।६२) से अभ्यास को रक् आगम ही यहाँ (शा विशेष है।। (8) 2

यहाँ से 'वा' की अनुवृत्ति ७।३।६५ तक जायेगी।।

तुरुस्तुश्रम्यमः सार्वधातुके ॥७।३।९५॥

तुस्तुशम्यमः ५।१॥ सार्वधातुके ७।१॥ स०—तुस्र रुख्र स्तुश्र भित्र अम् च तुरुः 'स्यम् तस्मात्' 'समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०-वा, (कि रि, हिल, अङ्गस्य ।। अर्थ:—तु, रु, ष्टुव्य् शम, अम इत्येतेभ्य उत्तरस्य खदेः सार्वघातुकस्य वा ईडागमा भवति ।। उदा०—डत्तवीति उत्तौति । भवीति, उपरौति । उपस्तवीति, उपस्तौति । शमीध्वम् शन्ध्वम् । अभ्य-वित अभ्यन्ति ॥

भाषार्थः—[व्रुरुत्तुशम्यमः] तु, (सौत्र धातु) रु, ब्दुब्, शम, तथा मधातुओं से उत्तर हलादि सार्वधातुक को विकल्प से ईट् आगम के उत्तीति आदि के शप् का बहुलं छन्दिस (२।४।७३) से विष्य उती वृद्धिः (७।३।८९) से वृद्धि होती है। ईट् पक्ष में गुण भारेश होगा। १ शन्ध्वम् शमीध्वम् और अभ्यन्ति अभ्यमीति में विकरण भ हुक् होकर ईट् की प्राप्ति तथा अप्राप्ति होगी।।

रे. शमु दिवादि और श्रम म्वादि का घातु है जब तक विकरण का लुक् न भे भे प्रमा प्रमा भवादि का धातु है जब तक अपर प्रतः यहाँ विकास पातु से परे हलादि सार्वधातुक उपलब्ध नहीं होता। ग्रतः यहाँ

अस्तिसिचोऽपृक्ते ॥७।३।९६॥

[m]

3

11

1

al.

अस्तिसिचः ५।१॥ अप्रक्ते ७।१॥ स०-अस्तिश्च सिन् र सिच् तस्मात् समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—ईट्, हिल, सार्वाह्य अङ्गस्य ॥ अर्थ:—अस्तेरङ्गात् सिजन्ताच्च उत्तरस्याष्ट्रकस्य हा सार्वधातुकस्य ईडागमो भवति ॥ उदा०—अस्तेः—आसीत्, अर्ध सिजन्तात्—अकार्षीत् , अहार्षीत् । अपावीत् , अलावीत् ॥

भाषार्थः—[अस्तिसचः] अस घातु से उत्तर तथा सिन्हे ह [अपृक्ते] अपृक्त हलादि सार्वधातुक को ईट् आगम होता है॥ अर्था आदि की सिद्धि परि० १।१।१ में देखें। उड़ लकार में आसीत् बीब में आट् का आगम (६।४।७२) आटश्र (६।१।८७) से वृद्धि एतं तथा अदिप्रभृतिभ्यः (२।४।७२) से राप् का लुक् हुआ है। अने क्र ई त्=आसीत्॥

यहाँ से 'अस्तिसिचः' की अनुवृत्ति ७।३।९७ तक तथा 'क्र्हें हैं ७१३१०० तक जायेगी ॥

बहुलं छन्दसि ॥७।३।९७॥

बहुलम् १११॥ छन्द्सि ७११॥ श्रनुः—अस्तिसिचोऽपृक्ते, हैं हिल, सार्वधातुके, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अस्तिसिचोऽपृक्तस्य हलारेः स्व तुकस्य ईडागमो भवति बहुलं छन्द्सि विषये ॥ उदार्भाष सिंछं सर्वमाः। बहुलप्रहणात् भवति च अहरेवासीत्र ग्री सिच:—गोभिरक्षाः (ऋ० ६।१०७।९) प्रत्यद्धमत्साः (ऋ०१०० भवति च – अभैषीर्मा पुत्रक ॥

भाषार्थः—अस्तथा सिच्से उत्तर हलादि अपृक्त सार्वधातुक बी लम्],बहुल करके [छुन्द्रिम] वेद विषय में ईट् आगम होता है। 'आः' यहाँ अस्धातु से पूर्ववत् छङ् छकार में आट्आगमाहि होती है। का हल्ङ्यादि छोप करके आस् = 'आः' बन गया। इसी प्रकार

छान्दस प्रयोग मानकर शप् लुक् करना चाहिए। उभयथा ईट् के अभाव के भी विकरण लक पथ्य के 2 भी विकरण लुक् पक्ष में ही दिखाना चाहिए। विकरण रहे के प्राप्त के ही दिखाना चाहिए। विकरण रहे के प्राप्त के स्वतः ही प्राप्त नहीं स्वत: ही प्राप्त नहीं होता, श्रत: ईडभाव पक्ष में सविकरण दिखानी ही

829

िकं बहा रे

अधाः

की सि

80/26

प्रहे

क्याः एवं त्सर से अत्साः भी लुङ् लकार में बनेगा। अतो ल्रान्तस्य व है (जरार) से वृद्धि होकर अट् क्षार् स् त् रहा। प्रकृत सूत्र से ईट् आगम का अभाव तथा हल्ड चादि लोप होकर 'अक्षार् स्' रहा। सावशाह ातास (८।२।२४) से रेफ से उत्तर स् का लोप तथा र् को विसर्जनीय य हुने क्रि अक्षाः, अत्साः वन गया ।। विसी धातु से अभैषीः में बहुल कहनें , आर्च हेईर् आगम हुआ है। सिचि वृद्धिः० (७।२।१) से वृद्धि होकर अभैस् हैं सु = अभैधीः परि० १।१।१ के अचैधीत् के समान बन गया। छान्दस च्सेत श्रोग होने से माङ् का योग होने पर भी यहाँ अट् आगम हुआ है।।

रुद्रच पश्चभ्यः ॥७।३।९८॥

एश स्दः ५।१॥ व्यत्ययेन बहुवचनस्यैकत्वम् ॥ च अ०॥ पद्धभ्यः ५।३॥ । अन मान्या अपूक्ते, हिल, सार्वधातुके, अङ्गस्य।। अर्थः-स्वाद्भ्यः श्वभ्योऽङ्गेभ्य उत्तरस्य हलादेरप्रक्तस्य सार्वधातुकस्य ईडागमो भवति॥ 'श्रुहें। गाः — रुदिर् — अरोदीत् , अरोदीः । स्वप — अस्वपीत् , अस्वपीः । स-अधसीत्, अश्वसीः । अन—प्राणीत्, प्राणीः । जक्ष—अजक्षीत्, अजक्षी: 11

गाणार्थ: - [रुदः] रुदिर् इत्यादि [पञ्चभ्यः] पाँच घातुओं से उत्तर को है भी हलादि अप्रक्त सार्वधातुक को ईट् आगम होता है।। लङ् हे सा अट रुद् ईट् त् = अरोदीत् बन गया । सर्वत्र श्रदिप्रमृतिभ्यः शिक्ष्रि से शप्का लुक् तथा प्राणीत्, प्राणीः में अनितेरन्तः (८।४।१६) आप हैं। मेणल हुआ है।। ग्री

वहाँ से 'हदः पश्चभ्यः' की अनुवृत्ति ७।३।९९ तक जायेगी।।

अड् गाग्यंगालवयोः॥७१३।९९॥

क बोहि अट् १११॥ गार्ग्यगालवयोः ६।२॥ स०—गार्ग्य० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ मिलिक प्रमाण्यमालवयाः ६।२॥ स०—गाप्य र स्थाप्य अर्थः— विक्रिक्तः पञ्चभ्यः, अप्रकृते, हिल, सार्वधातुके, अङ्गस्य ॥ अर्थः— होका शादिभ्यः पञ्चभ्यः, अप्रकृते, हाल, सावधातुकः, जन्नः । । भिति गार्भः पञ्चभ्य उत्तरस्य हलादेरपृक्तस्य सार्वधातुकस्य 'अट्' आगमो कार शा भिति गार्थस्य उत्तरस्य हलादेरप्रक्तस्य सावधातुकस्य गालवस्य च मतेन ॥ उदा - अरोदः। विष्तु, अस्वपः। अश्वसत्, अश्वसः। प्राणत्, प्राणः। अजक्षत्, HI TI 1 991

भाषार्थः रुदादि पाँच घातुओं से उत्तर हळादि अप्रकः सार्वधातुक

को [श्रट्] अट् आगम [गार्ग्यगालत्रयोः] गार्ग्य तथा गाल्व आहे के मत में होता है ॥ अट् रोट् अट् त् = अरोदत्॥

यहाँ से 'अट्' की अनुवृत्ति ७।३।१०० तक जायेगी॥

अदः सर्वेषाम् ॥७।३।१००॥

्रिकी पा

T M

T

अदः ४।१॥ सर्वेषाम् ६।३॥ अनुः — अट् , अपृक्ते, हिंह ही धातुके, अङ्गस्य ॥ अर्थः — अद् अक्षणे अस्मादुत्तरस्य इत्रारेणः सार्वधातुकस्याडागमो भवति सर्वेषामाचार्याणां मतेन ॥ उदाः-आ आदः॥

भाषार्थः—[अदः] अद् अङ्ग से उत्तर हलादि अपृक्त सार्वशाहा [सर्वेषाम्] सभी आचार्यों के मत में अट् आगम होता है॥ अर्ड अट् त् = आदत् , शप् का लुक् (२।४।७२) एवं आट् को वृद्धि 🖷 होकर बन गया।। सर्वत्र अडादि आगम आद्यन्ती० (१।१।४५)हे के आदि में बैठेंगे।।

अतो दीर्घो यनि ॥७।३।१०१॥

अतः ६।१॥ दीर्घः १।१॥ यिन ७।१॥ त्रमु० — सार्वधातुके, भक्त अर्थः—अकारान्तस्याङ्गस्य दीर्घो भवति, यञादौ सार्वधातुके कि ज उदा०—पचामि, पचावः, पचामः । पक्ष्यामि, पक्ष्यावः, पक्ष्यामः॥

भाषार्थः—[त्रातः] अकारान्त अङ्ग को [दीर्घः] दीर्घ होती ह [यिंग] यञ् प्रत्याहार आदि वाले सार्वधातुक प्रत्यय के परे पक्ष्यामि में चोः कुः (८।२।३०) से च्को क् हुआ है। पक्षी पक्ष्यामि । एकाच उपदेशे० (७।२।१०) से इट् निषेध यहाँ होता है।

सहाँ से 'अतः' की अनुवृत्ति ७।३।१०४ तक तथा 'दीवीं गर्न ७।३।१०२ तक जायेगी।।

सुपि च ॥७।३।१०२॥

सुपि ७११। च अ० ।। अनु०—अतो दीर्घो याँ वाँ श्रथः—अकारान्तस्याङ्गस्य दीर्घो भवति यवादौ सुपि चपतः॥ वृक्षाय, प्लक्षाय । वृक्षाभ्याम् प्लक्षाभ्याम् ॥

को गहः] भाषार्थ: -- अकारान्त अङ्ग को यञादि [सुपि] सुप् परे रहते चि श्रीर्थ होता है।। वृक्षाय की सिद्धि परि० शश्रिप में देखें। वृत्त-षाम् = वृक्षाभ्याम् ॥

वहाँ से 'मुपि' की अनुवृत्ति श्री३।११६ तक जायेगी।।

बहुवचने झरयेत् ॥७।३।१०३॥

बहुवचने ७११।। झिल्डि ७११।। एत् १११।। श्रनु०—सुपि, अतः, एक क्ष्य।। अर्थ:—अकारान्तस्याङ्गस्य एकारादेशो भवति, बहुवचने झलादौ क्षि परतः ॥ उदा०—वृक्षेभ्यः, प्लक्षेभ्यः, वृक्षेषु, प्लक्षेषु ॥

मापार्थ:-- अकारान्त अङ्ग को [बहुवचने] बहुवचन लाद सुप् परे रहते [एत्] एकारादेश होता है।। सिद्धि सूत्र एक शिशर में देखें।।

यहाँ से 'एत्' की अनुवृत्ति ७।३।१०६ तक जायेगी।।

त्र र

सेति

HSF.

96

:1

ia i

C

ग्रि 割

ओसि च ॥७।३।१०४॥

बोसि जीशा च अ०।। श्रमु० – एत् , अतः, अङ्गस्य।। अर्थः– श्रीति च परतोऽकारान्तस्याङ्गस्य एकारादेशा भवति ॥ उदा०—वृक्षयोः ^{म्म्, प्ळक्षयोः स्वम् । वृक्षयोर्निघेहि, प्ळक्षयोनिघेहि ॥}

भाषार्थः — [ओसि] ओस् परे रहते [च] भी अकारान्त अङ्ग को कार्यदेश होता है ॥ वृक्ष ओस् = वृक्षे ओस् = वृक्षयोस् = वृक्षयोः॥

यहाँ से 'ओसि' की अनुवृत्ति ७।३।१०५ तक जायेगी।।

आङि चापः ॥७।३।१०५॥

相 आहि ।।। च अः।। आपः ६।१॥ श्रनुः—ओसि, एत् , अङ्गस्य।। भू आवन्तस्याङ्गस्य आङि परतश्चकारादोसि च परत एकारादेशो भारता अहि प्रति प्राचित्र प्रतिश्वकाराद्यास प्रहाते ॥ उदा०— क्षिया, माल्या, खट्वयोः, माल्योः । बहुराजया, कारीषगन्ध्यया, बहु-Se . वियोः, कारीवगन्ध्ययोः ॥

भाषार्थः [त्रापः] आवन्त अङ्ग को [त्राङि] आङ् = हा परे रहते

顶 च तथा ओस् परे रहते एकारादेश होता है।। वृतीया एकव्या को पूर्वीचार्य आङ् पढ़ते थे, सो वही सूत्र में निर्देश किया है। अन्त्य अल् 'आ' को ही एत्व होगा। खट्वा टा = खट्वे आ = छह्न आ = खट्वया । खट्वे ओस् = खट्वयोः ॥

यहाँ से 'श्रापः की अनुवृत्ति ७।३।१०६ तक जायेगी॥

सम्बुद्धो च ॥७।३।१०६॥

F

37

सम्बुद्धौ ७।१॥ च अ०॥ अनु०-आपः, एत् , अङ्गस्य॥ क्रि-क्र सम्बुद्धौ च परत आवन्तस्याङ्गस्य एकारादेशो भवति॥ ज्याःनी खूट्वे, हे बहुराजे, हे कारीपगन्ध्ये।।

भाषार्थः -[सम्बुद्धौ] सम्बुद्धि परे रहते [च] भी आवत है को एकारादेश होता है।। हे खट्वे सु = हे खट्वे स्, यहाँ स्वा हस्मात्० (६।१।६७) से छोप होकर हे खट्वे बन गया।। 🐃 (२।३।४९) से सम्बुद्धि संज्ञा होती है।।

यहाँ से 'सम्बुद्धी' की अनुवृत्ति ७।३।१०८ तक जायेगी॥

अम्बार्थनद्योर्हस्यः ॥७।३।१०७॥

अम्बार्थनद्योः ६।२।। ह्रस्वः १।१।। स०—अम्बा अर्थो सः अम्बार्थः, बहुव्रीहिः । अम्बार्थेश्च नदी च अम्बार्थनदी तयोः द्वन्द्वः ॥ अनु०—सम्बुद्धौ, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अम्बार्थानां नि चाङ्गानां हस्वो भवति, सम्बुद्धौ परतः ॥ उदा० हे अम्ब है हे अल । नद्याः—हे कुमारि, हे शार्करिव, हे ब्रह्मबन्धु, हे वीरवर्षु

भाषार्थः—[अम्बार्थनद्योः] अम्बा (माँ) के अर्थ वाले अहीं के नदी संज्ञक अङ्गो को सम्बुद्धि परे रहते [हस्व:] हस्व हो जाती का अक्का आदि अम्बार्थक शब्द हैं, तथा कुमारी आदि की यू क्या है। (१।४।३) से नदी संज्ञा है, अतः सम्बुद्धि का सु परे हिते हैं। गया, पश्चात 'स' कर है गया, पश्चात् 'स्' का एङ्हस्वात्० (६।१।६७) से छोप हो गया।

हस्वस्य गुणः ॥७।३।१०८॥

हस्वस्य ६।१॥ गुणः १।१॥ अनु०—सम्बुद्धौ, अङ्गर्य ॥

सप्तमोऽध्यायः

B

70-

\$38

呢.] विवासियाङ्गस्य गुणो भवति सम्बुद्धौ परतः॥ उदा०—हे अग्ने, हे क्षा बने, हे पटो ।।

माणार्थ:-[हुस्वस्य] हुस्वान्त अङ्ग को सम्बुद्धि परे रहते [गुणाः] लहोता है।। गुण कर लेने पर सु के स्का एड्हस्वात्० (६।१।६७). हे लोप हो जायेगा ।।

वहाँ से 'हस्वस्य' की अनुवृत्ति ७।३।१०६ तक तथा 'गणः' की कं- अशिश्य तक जायेगी।।

जिस च ॥ ७।३।१०९॥

जिस ७१॥ च अ० ॥ श्रनुः—हस्वस्य गुणः, अङ्गस्य ॥ अर्थः— विकास च परतो ह्रस्वान्तस्याङ्गस्य गुणो भवति ॥ उदा०—अग्नयः, वर्ष_{। गयः,} पटवः, घेनवः, बुद्धयः ॥

भाषार्थ:-[जिस] जस् परे रहते [च] भी हस्वान्त अङ्ग को गुण ता है।। अग्नि जस् = अग्ने अस् = अग्नयस् = अग्नयः। वायो वस् = वायवः ।।

ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः ॥७।३।११०॥

THE ! कृतः ६।१।। ङिसर्वनामस्थानयोः ७।२।। सः — ङिख्र सर्वनामस्थानस्र कृति मिर्वनामस्थाने तयोः इतरेतरद्रन्द्रः ॥ अनु०—गुणः, अङ्गस्य॥ क्षा अकारान्तस्याङ्गस्य ङौ सर्वनामस्थाने च परतो गुणो भन्नति॥ की—मातिर, पितिर, भातिर, कत्तिर । सर्वनामस्थाने—कत्तीरी, क्षारं, कर्तारम्, कर्तारौ । पितरौ, भ्रातरौ ॥

भाषार्थ:-[ऋतः] ऋकारान्त अङ्ग को [ङिसूर्वनामस्थानयोः] हि में हैं। मा सर्वनामस्थान विभक्ति परे रहते गुण होता है।। गुण करते में शासिः (१।१।४०) से सवेत्र रपरत्व होगा । कत्तीरी, कर्तारः आदि हैं। भाराप्त संस्कृत स्वाप्त रपरत्व हागा । प्राप्त है। कत्तर वी=कत्तारी।।

घेर्ङिति ॥७।३।१११॥

कार इत् यस्य स । जत् । स०— इकार इत् यस्य स । जत् । जार्थः । जार्यः । जार्थः । जार्यः । जार्थः । जार्यः । जार्यः । जार्यः । जार्यः । जार्यः । जार्य

(Print | 18] भवति ङिति सुपि प्रत्यये परतः ॥ उदा० - अग्नये, वायवे। वायोः । अग्नेः स्वम् , वायोः स्वम् ॥

माषार्थः—[ये:] घिसंज्ञक अङ्ग को [िडिति] हित् सुप् प्रत्यः रहते गुण होता है।। डे, ङसि, ङस् तथा डि ये डित् प्रत्यहें हे रहते गुण होता है।। ङ, ङास, ब्राह्म अग्ने:, वायोः की सिद्धि सूत्र ६।१।१०६ में देखें। अग्ने हे का हि

यहाँ से 'ङिति' की अनुवृत्ति ७।३।११५ तक जायेगी॥

आण् नद्याः ॥७।३।११२॥

ला

H

和 he

आट् १।१।। नद्याः ५।१।। अनु --- ङिति, अङ्गस्य ॥ त्रर्थः-न्न दुङ्गादुत्तरस्य ङितः प्रत्ययस्याडागमो भवति ॥ उदा०-कुमारै, ह बन्ध्वे, कुमार्याः, ब्रह्मबन्ध्वाः ॥

भाषार्थः-[नद्याः] नदी संज्ञक अङ्ग से उत्तर हित् प्रता [आट्] आट् आगम होता है।। यू स्त्र्याख्यौ० (१।४।३) से न्हीं होती है।। कुमायेँ आदि की सिद्धि भाग २ परिशिष्ट ४।११२ में हैं।

याडापः ॥७।३।११३॥

याट् १।१।। आपः ५।१।। श्रनु०—िङति, अङ्गस्य ॥ अर्थः—आर् दङ्गादुत्तरस्य ङितः प्रत्ययस्य याडागमो भवति॥ उदा०-वि बहुराजायै, कारीषगन्ध्यायै । खट्वायाः, बहुराजायाः, कारीषात्या

भाषार्थ:—[आप:] आबन्त अङ्ग से उत्तर ङित् प्रत्यय के कि याट् आगम होता है।। सिद्धियाँ भाग २ परि० ४।१।२ में देखें। में टाप्, बहुराजा में डाप् (४।१।१३) तथा कारीषगन्ध्या शब्द हैं (४)१।००) (४।१।७४) प्रत्यय हुआ है, इस प्रकार ये आबन्त हैं।

यहाँ से 'श्रापः' की अनुवृत्ति ७।३।११४ तक जायेगी॥

सर्वनाम्नः स्याड्ट्स्वश्च ॥७।३।११४॥

सर्वनाम्नः १११॥ स्याट् १११॥ ह्रस्वः १११॥ च अ०॥ अवः ङिति, अङ्गस्य ॥ अर्थः—सर्वनाम्न आबन्तादङ्गादुत्तस्य जित्र स्याडागमः सर्वनाम्नो हुस्वस्य भवति ॥ उदा०—सर्वस्य, विश्वरि, सप्तमोऽध्याय:

m (F:] को हुन, कस्य, अन्यस्य, सर्वस्याः, विश्वस्याः, यस्याः, तस्याः, कस्याः, अन्यस्याः ॥

मावार्थः—आवन्त [सर्वनाम्नः] सर्वनाम अङ्ग से उत्तर ङित् प्रत्यय विहे हिर्याट्] स्याट् आगम होता है, [च] तथा उस आवन्त सर्वनाम को क्षा हिला है ।। याडापः का अपवाद यह सूत्र है ॥ 'सर्वा यहाँ सर्वनाम शब्द को ह्रस्वत्व तथा के को स्याट् आगम होकर सब हार ए रहा । वृद्धिरेचि (६।१।८५) लगकर सर्वस्यै वन गया । इसी कार सबमें जानें । सर्वे स्याट् ङस् = सर्वस्या अस् = सवर्णदीर्घत्व होकर संस्याः बन गया ।।

यहाँ से 'स्याड् हस्वश्व' की अनुवृत्ति ७।३।११५ तक जायेगी।।

विभाषा द्वितीयातृतीयाभ्याम् ॥७।३।११५॥

祁 , 3

विभाषा १।१।। द्वितीयानृतीयाभ्याम् ५।२।। स०—द्वितीया० इत्यत्रे-ला गेताहुन्द्रः ॥ श्रनु - स्याड् हुस्वश्च, ङिति, अङ्गस्य ॥ अर्थः - द्वितीया विभाषा स्योताभ्यामुत्तरस्य ङितः प्रत्ययस्य विभाषा स्याडागमो भवति, हो वियात्तीययोः हस्वश्च भवति ॥ उदा०—द्वितीयस्यै, द्वितीयायै। लीयस्यै, तृतीयायै ।।

भाषार्थ: - [दितीयातृतीयाभ्याम्] द्वितीया तथा तृतीया शब्द से कित् प्रत्यय को [विभाषा] विकल्प से स्याट् आगम होता है, तथा विया, तृतीया शब्द को स्याट् के योग में हुस्व भी हो जाता है।। लीया, रतीया के सर्वनामसंज्ञक न होने से पूर्व स्त्र से प्राप्ति नहीं विधान है ।। सिद्धियाँ परि० १।१।२७ में प्रदर्शित उत्तरपूर्वस्य जिएवाँये आदि के समान ही हैं।।

हेराम्नद्याम्नीभ्यः ॥७।३।११६॥

हैं: ६|१॥ आम् १|१॥ नद्याम्नीभ्यः ५|३॥ स०—नदी च आप् च भि निवास्त्यस्तेभ्यः इतरेतरद्वन्द्वः ॥ श्रानु०—अङ्गस्य ॥ श्रर्थः— भितादान्त्रन्तात् नी इत्येतस्माचीत्तरस्य ङेः 'आम्' इत्ययमादेशो भाषाम् निष्ण निष्ण क्रियान्याम् । ज्ञान् व्याप्त क्रियान्याम् । ज्ञान्यान्याम् । ज्ञान्यान्यायाम् । जदा०—नद्यन्तात्—कुमार्याम्, गौर्याम्, श्रक्षपः प्राप्ताम्। आबन्तात्—खट्वार्याम्, बहुराजार्याम्, कारीषगन्ध्यार्याम्। जाबन्तात्— खट्नाः जन्याम्, सेनान्याम् ॥

४६६

भाषार्थ:—[नद्याम्नीभ्य:] नदीसंज्ञक, आवन्त तथा नी से हैं [ङे:] ङि विभक्ति के स्थान में [आम्] आम् आदेश होता हैं। इसे के स्थान में आम् आदेश होता हैं। इसे सिद्धियाँ भाग २ परि० ४।१।२ में देखें।।

यहाँ से 'डेः' की अनुवृत्ति ७।३।११८ तक तथा 'श्राम् नवाः' । । ।।

इदुद्रयास् ॥७।३।११७॥

1

इदुद्भ्याम् ५१२॥ स०—इत् च उत् च इदुतौ ताभ्यां क्रिकं द्वन्द्वः ॥ अनु०—नद्याः, ङेराम् ॥ अर्थः—इकारोकाराभ्यां क्रिकं भ्यामुत्तरस्य ङेराम् आदेशो भवति ॥ उदा०—कृत्याम्, घेन्वाम्॥

भाषार्थ:—[इदुद्भ्याम्] इकारान्त उकारान्त नदी संज्ञक से ह डि के स्थान में 'आम्' आदेश होता है।। पूर्व सूत्र से ही सिंहा ह पुनविधान उत्तर सूत्र से औकारादेश परत्व मानकर न हो है है इसिंछिये है।।

यहाँ से 'इदुद्भ्याम्' की अनुवृत्ति ७।३।११८ तक जायेगी॥

औदच घे: ॥७।३।११८॥

औत् १।१॥ अत् १।१॥ च अ०॥ घे: ६।१॥ अनु०—इदुर्का के:, अङ्गस्य ॥ अर्थ:—१इदुद्भ्यामुत्तस्य ङेरीकारादेशो भवि कि कस्य अकारादेशस्य भवति ॥ उदाः—सख्यी, पत्यी । अग्नी, वार्वी घेनी, पटी ॥

१. महाभाष्य में इस सूत्र में 'ग्रांत', 'ग्रच घे:' ऐसा योगिवभाग कर्ष के बनाये हैं। पहले सूत्र का अर्थ 'इंदुद्भ्याम' की अनुवृत्ति आकर हुआ उकारान्त से उत्तर कि को अत् = श्रोकारादेश होता है"। यही अपिरिलिखित अर्थ में एक सूत्र मानकर भी प्रकट किया है तदनुसार उकारान्त से श्रोकारादेश का विधान प्रधान है और घि संज्ञक की अविधान अन्वाचयरूप है। अतः जहाँ घि संज्ञा नहीं होती वहीं स्वीकार श्रोत्व केवल स्था घि संज्ञक अग्रनी आदि में श्रोत्व श्रीर अत्व दोनों कार्य है और

सप्तमोऽध्यायः

कि पहः

इताङ

itte

阿爾

1

896

भाषार्थ:—इकारान्त उकारान्त अङ्ग से उत्तर ङि को [औत] बाह्य बिकारादेश होता है, [च] तथा [घे:] घिसंज्ञक को [अत्] अकारादेश क्षि (अत्य अल् को) भी होता है।। सल्यो पत्यो औकारादेश होने पर बाहिश करके (घिसंज्ञा न होने से) बने। अग्नि ङि = अग्न् अ औ = बिहेरिच लगकर अग्नो बन गया।।

यहाँ से 'धेः' की अनुवृत्ति ७।३।११६ तक जायेगी।।

आङो नाऽस्त्रियाम् ॥७।३।११९॥

आङः ६।१।। ना १।१।। अस्त्रियाम् ७।१।। स०—न स्त्री अस्त्री, त्याम् न्व्तत्पुरुषः ।। अनु०—घेः, अङ्गस्य ।। त्रर्थः—घेरुत्तरस्य अङ्गे ना इत्ययमादेशो भवति, अस्त्रियाम् ।। उदा०—अग्निना, वायुना, पुना ॥

में विसंज्ञक अङ्ग से उत्तर [श्राङ:] आङ् = तृतीया एकविद्धां वन 'टा' के स्थान में [ना] ना आदेश होता है, [अस्त्रियाम्] स्त्रीलिङ्ग विकास को छोड़कर ।। शोषो ध्यसित (१।४।७) से घि संज्ञा हो ही विकासी।।

॥ इति तृतीयः पादः॥

-:c:-

चतुर्थः पादः

णौ चड्यपधाया हस्वः ॥७।४।१॥ अवु०—
कि ७।१॥ उपधायाः ६।१॥ हस्वः १।१॥ अवु०—
कि ७।१॥ उपधायाः ६।१॥ हस्वः १।१॥ अवु०—
कि ७१। उपधायाः ६।१॥ हस्वः १।१॥ अवु०—
कि अवीकरत्, अजीहरत्, अलीलवत् ॥
कि अविकर्तः, अजीहरत्, अलीलवत् ॥
कि अविकर्तः कि चङ् परे है जिसके ऐसे [णौ] णिच् के परे
कि कि कि कि एसे [णौ] णिच् के परे
कि कि कि कि एसे [णौ] णिच् के परे
कि कि कि एसे [णौ] णिच् के परे
कि कि कि हिस्तः] हस्व होता है ॥ 'चिंडिं'
कि विनों पदों में सप्तमी होने से "चङ्परक जो णि उसके परे

१८८ रहते" ऐसा अर्थ हुआ है।। अचीकरत् अजीहरत् की सिद्धि १।४।१० में देखें। लूञ् से लावि धातु वनाकर हस्वत्व, श्रोः पुष० (७११) से इत्व करके अलीलवत् की सिद्धि अपीपठत् के समान परि० ६।१।११ के

यहाँ से 'ग्री चङ्युपधायाः' की अनुवृत्ति ७।४।८ तक त्या कि की ७।४।३ तक जायेगी।।

नाग्लोपिशास्ट्रदितास् ॥७।४।२॥

न अ० ॥ अग्छोपिशास्तृदिताम् ६१३॥ स०—अको छोपः अहे षष्टीतत्पुरुषः । सोऽस्यास्तीति अग्छोपी, मतुवर्थे इनिप्रत्ययः।ऋष् धस्य स = ऋदित् , बहुव्रीहिः । अग्छोपी च शासुरच ऋदित् च अही शास्तृदितस्तेषां "इतरेतरहुन्द्रः ॥ ऋनु०—णो चङ्गुपशया ह अङ्गस्य ॥ अर्थः—अग्छोपिनामङ्गानां शासेऋदितां चाङ्गानां णो चङ्ग धाया हस्वो न अवति ॥ उदा०—अग्छोपिनाम्—माछामाख्यत् । माठत् । मातरमाख्यत् = अममातत् । राजानमितकान्तवान् अस्ति । सोतरमाख्यत् = अममातत् । राजानमितकान्तवान् अस्ति । सोतरमाख्यत् = अममातत् । शासेः—अश्वर्षः राजत् । छोमान्यनुमृष्टवान् = अन्वलुछोमत् । शासेः—अश्वर्षः स्ति स्विष्ट्याम्—बाघृ—अववाधत् । याच्—अययाचत् । ढोष्ट्र—अद्भर्षः स्वित्वाम्—बाघृ—अववाधत् । याच्—अययाचत् । ढोष्ट्र—अद्भर्षः

भाषार्थं:— [अग्लोपिशास्तृदिताम्] अक् प्रत्याहार के किसी का लोप हुआ है जिस अङ्ग में उसके तथा शासु अतुशिष्टों एवं की धातुओं के उपधा को चङ्परक णि परे रहते हुस्व [न] नहीं होती धातुओं के उपधा को चङ्परक णि परे रहते हुस्व [न] नहीं होती पूर्व सूत्र से प्राप्ति थी, निषेध कर दिया ।। परि० १।१।१६ में प्राप्त के समान माला शब्द से णिच् आकर एवं टि भाग होकर 'माल् इ' धातु बनी । टि भाग 'आ' का लोप होते से यह अझ है, अतः आगे 'अचीकरत्' (परि० १।४।१०) के समान अङ्ग है, अतः आगे 'अचीकरत्' (परि० १।४।१०) के समान इसी प्रकार पूर्व सूत्र से उपधा हुस्वत्व प्राप्त था, निषेध हो इसी प्रकार मातृ शब्द से अममातत् में 'ऋ' (टिभाग) का लोग से अत्यरराजत् , लोमन् से अन्वत्तुलोमत् में 'अर्थ के से णिच् तथा अत्यरराजत् , लोमन् से अन्वत्तुलोमत् में सत्यापपाश्व होने से अग्लोपी अङ्ग हैं। अन्वत्तुलोमत् में सत्यापपाश्व होने से अग्लोपी अङ्ग हैं। अन्वत्तुलोमत् में सत्यापपाश्व विकार से णिच् तथा अत्यरराजत् में प्रातिपदिकाद् धात्वे के अन्य से शासु तथा ऋदित् धातु अग्लोपी नहीं हैं, अतः अल्लो से शासु तथा ऋदित् धातु अग्लोपी नहीं हैं, अतः अल्लो से शासु तथा ऋदित् धातु अग्लोपी नहीं हैं, अतः अल्लो से शासु तथा ऋदित् धातु अग्लोपी नहीं हैं, अतः अल्लो से शासु तथा ऋदित् धातु अग्लोपी नहीं हैं, अतः विवार है।

क् पहः]

द्वपं 13/2

Ťà.

1 6

क्रम् ह अस्ती

चहर्

[=8

= 377

डोम्

सीर्ध が

विशे

R

वर

भ्राजभासभाषदीपजीवमीलपीडामन्यतरस्याम् ॥७।४।३॥

भ्राज ''पीडाम् ६।३।। अन्यतरस्याम् ७।१॥ स० — भ्राज० इत्यत्रेतरेतर-ह्यू:॥ अनु०-णौ चङ चुप्धाया हुस्वः, अङ्गस्य ॥ अर्थः-भ्राज, भास, भाष, हैं।, जीव, मील, पीड इत्येतेषामङ्गानां णौ चङ्युपघाया हस्यो विकल्पेन म्बति ॥ उदाः — भ्राज - अबिभ्रजत् , अबभ्राजत् । भास — अबीभसत् , अवभासत्। भाष — अबी सषत् , अब साषत्। दीपी — अदीदिपत् , अदि-विषत्। जीव—अजीजिवत् , अजिजीवत् । मील— अमीमिछत् , अमि-मीवत्। पीड—अपीपिडत् , अपिपीडत्।।

माषार्थः-[भ्राजः पीडाम्] भ्राज, भास, भाष, दीपी, जीव, मीछ, पीढ इन घातुओं की उपधा को चङ्परक णि परे रहते [अन्यतरस्याम्] किल्प से हस्य होता है।। जब पक्ष में हस्वस्व हो गया तो र्ष्वत् अचीकरत् के समान सिद्धि जानें। इस पक्ष में अविभ्रजत् में छघु बम्यास न होने से दीघों लघो: (७।४।९४) से अभ्यास को दीर्घ नहीं होता।। पक्ष में जब उपघा हस्वत्व नहीं हुआ तो लघु धात्वक्षर परे न होने से विलाधुनि० (७।४।६३) से सन्बद्धाव न होने से सन्यतः (७।४।७६) से ल नहीं होगा, केवल अभ्यास को हस्वः (७।४।५९) से हुख हो जायेगा।।

लोपः पिवतेरीचाभ्यासस्य ॥७।४।४॥

बोपः १।१।। पिबतेः ६।१।। ईत् १।१।। च अ०।। अभ्यासस्य ६।१॥ णुः—णौ चङ् युपधायाः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—पिबतेरङ्गस्य णौ ,चङ्यु-षाया होपो भवति, अभ्यासस्य च ईकारादेशो भवति ॥ उदा - अपी-षत्, अपीप्यताम् , अपीप्यन् ॥

17 4 भाषार्थ:—[पिवते:] पा पाने धातु की उपधा का चङ्परक णि परे क्षितियः] छोप होता है [च] तथा [अभ्यासस्य]अभ्यास को [ईत्] अधिकारी होता है।। उपधा हस्वत्व (७१४।१) प्राप्त था, लोप विधान अदिया।। पाणिच् = शाच्छासाहा० (७।३।३७) से युक् आगम होकर पा कि पिच् पा य् इ लुङ् = पाय् इ चङ् तिप् रहा । पश्चात् णि लोप भा यू इ लुङ् = पायू इ चङ् ातप् रहा । प्रतार द्विषेच-कि (१)११। यू की उपधा 'आ' का छोप प्रकृत सूत्र से होकर द्विषेच-हिल्प को उपधा 'आ' का छोप प्रकृत सूत्र त वार अभ्यास केल्य अन्य से रूपातिदेश होकर 'पाय प्य' द्वित्व हुआ। अभ्यास भाषा ।। को ईत्व होकर पीट्यू अ त् = अट् पीट्यत् = अपीट्यत्

तिष्ठतेरित् ॥७।४।५॥

1

1

तिष्ठतेः ६।१॥ इत् १।१॥ अनु०-णौ चङ्युपघायाः, अक्का अर्थ: - तिष्टतेरङ्गस्य णौ चङ्युपधाया इकारादेशो भवति॥ ह्या अतिष्टिपत्, अतिष्टिपताम्, अतिष्टिपन् ॥

भाषार्थ:-[तिष्ठते:] छा धातु की उपधा को चङ्परक णिपी है [इत्] इकारादेश होता है।। यह सूत्र भी उपधा हमल । का अपवाद है।। श्रितिहीव्ली० (७।३।३६) से पुक् आगम होन्न है इ चङ्त् रहा। णि छोप एवं स्थाप् की उपधा को इत्व होकर स्थिप्अतर पूर्वतत् द्वित्व तथा शर्भृवीः खयः (७१४१६१) अभ्यासे चर्च (वा लग कर 'अ ति स्थि प् अ त्' रहा। पत्व तथा प्टुत्व थ् को र् ते अतिष्ठिपत् वन गया ॥

यहाँ से 'इत्' की अनुवृत्ति ७।४।६ तक जायेगी।। जिघतेर्वा ॥७।४।६॥

जिघ्नते: ६।१।। वा अ०।। ऋनु०—इत्, णौ चङ्युपघायाः, अङ्ग अर्थ:--जिघ्रतेरङ्गस्य णौ चङ्युपधायाः विकल्पेन इकारादेशो मही उदा॰ - अजिबिपत् , अजिबिपताम् , अजिबिपन् । पक्षे - अजिबि अजिघ्रपताम् , अजिघ्रपन् ॥

मर्षार्थः—[जिन्नतेः] चा गन्धोपादाने अङ्ग की उपधा को वर्ष णि परे रहते [वा] विकल्प से इकारादेश होता है।। इकारादेश ह अजिबिपत् की सिद्धि पूर्व सूत्र में प्रद्शित अतिष्ठिपत् के समाव जब पक्ष में इकारादेश नहीं हुआ तो ७।४।१ से उपधा हुख्व एवं द्भाव तथा अभ्यास को इत्व (७।४।७९) होकर अजिघ्रपत् वन गि

यहाँ से 'वा' की अनुवृत्ति ७।४।७ तक जायेगी।।

ड: ६।१॥ ऋत् १।१॥ श्रनुः—वा, णौ चङ्गुपधायाः, अति :- णौ चङ्गुपधायाः, अति उऋत् ॥७।४।७॥ अर्थः — णौ चङ्गुपधाया ऋवर्णस्य स्थाने वा ऋकारादेशी हैं। इररीरामपवादः ॥ — इररीरामपवादः।। उदा०—इर्—अचीकृतत्, अचिकीर्तत्। अवीवृतत् , अववत्तत् । आर् — अमीमृजत् , अममार्जत् ॥

अङ्गा

埔 im

HER

भाषार्थ: - चङ्परक णि परे रहते उपधा [उ:] ऋवर्ण के स्थान में किल्प से [ऋत्] ऋकारादेश होता है।। यह सूत्र इर्, अर्, आर् ने गुण वृद्धि को उरएरपर: (१।१।५०) लग कर प्राप्त थे उनका अपनाद है। पक्ष में वे भी होते हैं।। कृत धातु से अचीकृतत् यहाँ लघा ऋ को जपघायाश्च (७१११०१) जरररपरः (१।१।५०) से इर पों गार था, ऋवर्ण को ऋकार ही विधान कर देने से नहीं हुआ, सो णौ (अ इस्तुपः (अप्रार) से हस्व होकर कृत् कृत् द्वित्व तथा अभ्यास ह हो उरत् (७।४।६६) आदि छगकर अचीकृतत् पूर्ववत् बन जायेगा। अत्र स्म में जब इर्हो गया तो किर्त् चङ्त् = होकर तथा द्वित्व करने के प्रात् हिल च (८।२।७७) से दीर्घ करके अचिकीर्त्तत् वन गया। वृतु से र् हो अविष्टतत् यहाँ पुगन्तलघूपघस्य च (७१३।८६) से गुण होकर अर् प्राप्त ग ऋकार विधान कर दिया। पक्ष में अर्भी हो जाता है। मृजूष् गतु को मुजेर्नुद्धिः (७।२।११४) से वृद्धि होकर 'आर्' प्राप्त था, पक्ष में म्भी होता है। आर् पक्ष में लघु धात्वक्षर परे न होने से सन्बद्धाव कीं होता ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति जाशीट तक जायेगी।।

नित्यं छन्द्सि ॥७।४।८॥

नित्यम् १।१॥ छन्दिस ७।१॥ अनु०—उर्ऋत् , णौ चङ्युपधायाः, क्षिय ॥ अर्थ: — छन्दसि विषये णौ चङ युपधाया ऋवर्णस्य स्थाने क्षिम् ऋकारादेशो भवति ॥ *उदा*०—अवीवृधत् पुरोडाशेन । अवी-म् मिताम्, अवीवृधन् ॥

भाषार्थः—[छन्दिस] वेद विषय में चङ्परक णि परे रहते उपधा विषय में चक्रपरक । जन्दिस वेद विषय में चक्रपरक । जन्दिस पूर्ववत् विषय में चक्रपरक । जन्दिस होता है ॥ पूर्ववत् कारादेश करके अचीकृतत् के समान ही वृध् वृध् द्वित्व होकर अभ्यास के अपाक्ष अचाकृतत् क समान हा वृध्य व्या अपाकृति की प्रक्रिया की प्रक्रिया भेत्र ११४११० में प्रदर्शित अचीक्रुधत् के समान ही समझते जायें।।

दयतेर्दिंगि लिटि ॥७।४।९॥

र्यते: ६११॥ दिगि लुप्तप्रथमान्तिनिर्देशः ॥ छिटि ७११॥ श्रवुः, स्वा क्षि । श्रिश्व दिगि लुप्तप्रथमान्तिनिर्देशः ।। । छाट जाराः श्रिशः द्यतेरङ्गस्य छिटि परतो दिगि इत्ययमादेशो भवति ॥ भारति अविद्ग्याते, अविद्ग्याते, अविद्ग्यिरे ॥

न्तुः व भाषार्थ:-[दयते:] देङ् रक्षणे घातु को [लिटि] छिट् छात्। रहते [दिगि] दिगि आदेश होता है।। लिटस्तमः (३।४।८१) है। एश होकर दे एश् = दिगि एश् रहा। अब यहाँ दिगि आदेश कि (६।१।८) का बाधक = अपवाद है, अर्तः द्विवचन नहीं होता, तेल इ काची (६।४।८२) से यणादेश होकर दिग्ये दिग्याते वन गया॥ है 'दयते:' निर्देश से दय धातु का प्रहण नहीं होता, क्योंकि उसरे हो प्रत्यय (३।१।३७) कह चुके हैं।।

यहाँ से 'लिटि' की अनुवृत्ति ७।४।१२ तक जायेगी॥ ऋतश्च संयोगादेर्गुणः ॥७।४।१०॥

ऋतः ६११॥ च अ० ॥ संयोगादेः ६११॥ गुणः १११॥ स०-क्षे आदिर्यस्य स संयोगादिस्तस्यः वहुत्रीहिः ॥ श्रनुः —िर्ह्राटः, अङ्ग अर्थः—संयोगादेऋंकारान्तस्याङ्गस्य गुणो भवति लिटि परतः॥ जार्थः स्वृ—सस्वरतुः, सस्वरः। ध्वृ—द्ध्वरतुः, द्ध्वरः। सृ—सम् त्ससमरुः ॥

भाषार्थः—[संयोगादेः] संयोग आदि में है जिसके ऐसे 🖫 ऋकारान्त अङ्ग को [च] भी [गुणः] गुण होता है।। स्पृष्टि प्रकृत सूत्र से गुण होकर समर् अतुस् रहा। द्विल होकर सार् अतुस् = अभ्यास कार्य होकर स स्मर् अतुस् = सस्मरतुः वन गया प्रकार अन्यों में जाने ।।

यहाँ से 'गुणः' की अनुवृत्ति ७।४।११ तक जायेगी।।

ऋच्छत्यृताम् ॥७।४।११॥

ऋच्छत्यूताम् ६।३॥ स०—ऋच्छतिस्र ऋ च ऋत् च तस्तेषां इतरेतरद्वन्द्वः ॥ श्रमु०—गुणः, लिटि, अङ्गस्य॥ श्रमु ऋच्छतेरङ्गस्य ऋ इत्येतस्य ऋकारान्तानां च छिटि परतो गुणो उदा०—ऋच्छ—आनच्छे, आनच्छेतुः, आनच्छेः। ऋ आरुः । ऋकारान्तानाम्—निचकरतुः, निचकरः ॥

भाषार्थः—[ऋच्छत्यूताम्] ऋच्छ, ऋ (घातु) तथा क्रिक् अङ्गों को लिट् परे रहते गुण होता है।। ऋच्छ धातु का ऋ खु व वाला नहीं हैं, अतः गुण की प्राप्ति ही नहीं थी विधान कर हिंगी क्षे वह

一法

भविवि 310

कात है कि महकारान्त धातु को कित् छिट् (अर्थात् णल्, थल्, णल्पित्-सेता बानी को छोड़कर) परे रहते गुण अप्राप्त था (१।१।५) विधान कर कि वा॥ प्रकृत सूत्र से गुण तथा द्वित्व होकर अर्च्छ् अर्च्छ् णल् = अ के बाब्द अ रहा। अब यहाँ अतो भुणे (६।१।६४) का बाधक सूत्र अत ॥ इं ब्रहें (७।४।७०) से अभ्यास को दीर्घ एवं तस्मान्तुड् द्विहलः (७।४।७१) से हो द्विहल् अङ्ग को नुट् आगम होकर आ नुट् अच्छ अ = आनच्छ बन मा। इसी प्रकार अन्यत्र जानें। आरतुः में भी प्रकृत सूत्र से गुण हित, पूर्ववत् अभ्यास दीर्घत्व होकर आ अर् अतुस् रहा। सवर्णदीर्घत्व क्ति आरतुः बना । कृ से निचकरतुः आदि प्रयोग बनेंगे ॥

शृद्प्रां हस्वो वा ॥७।४।१२॥

क्षाम् ६।३।। ह्रस्वः १।१।। वा अ०।। स०— शूचदूच पूच शूदूप्र-क्ष> तेषाम् ' 'इतरेतरद्वन्द्वः ॥ श्रनु०-छिटि, अङ्गस्य ॥ श्रर्थः — शृहिंसायाम्, क्कि विदारणे, पृ पालनपूरगयोः इत्येतेषामङ्गानां लिटि परतो वा हस्वो बित।। उदा॰—विशश्रतुः, विशशुः। पक्षे—विशशरतुः विशशरः। 🕫 जित्तुः, विददुः। पक्षे—विदद्रतुः, विदद्रः। निपप्रतुः, निपप्रुः। हूँ बी निपपरतुः, निपपरुः।।

माषार्थ:—[सृद्याम्] शू, दू, तथा पू अङ्ग को लिट् परे रहते [वा] हिस्वः] हस्य होता है।। जब पक्ष में हस्यत्व नहीं होता तो मियातुओं के ऋकारान्त होने से पूर्व सूत्र से गुण हो जाता है। इस कार नित्य गुण की प्राप्ति में यहाँ विकल्प से हुस्वत्व विधान है। अदि में हस्व करके शृश् द्वित्व, उरदत्व एवं यणादेश शिष्ष होता है।। 34

गहाँ से 'हस्यः' की अनुवृत्ति ७।४।१५ तक जायेगी।।

केटणः ॥७।४।१३॥

के ज़िशा अणः ६।१॥ अनु०—हस्वः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—के प्रत्यये जिडिलो हरेंचो भवति ॥ उदा०—इका, कुमारिका, किशोरिका ॥ 1 भाषार्थः कि जानातीति ज्ञः यहाँ इगुपधज्ञा० (३।१।१३५) से क

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

[3gt q प्रत्यय तथा तदन्त से टाप् होकर 'ज्ञा' बना। पश्चात् अलाहि औं। प्राणिवारकः (४।३।७०) से क होकर ज्ञा करहा। प्रकृत सूत्र हे। को हुस्वत्व तथा टाप् करके ज्ञका वन गया। इसी प्रकार कुमारी कि से क प्रत्यय होकर हुस्वत्व जानें।।

यहाँ से 'त्रणः' की अनुवृत्ति ७।४।१४ तक जायेगी।

न कपि ॥ ७। ४। १४॥

न अ०॥ कपि ७।१॥ अनु०-अगः, ह्रस्वः, अङ्गस्य॥ 🛪 कपि प्रत्यये परतोऽणो ह्रस्वो न भवति ।। उदा०—बहुकुमारीक, वधूकः, बहुलक्ष्मीकः ॥

भाषार्थः — [किप] कप् प्रत्यय परे रहते अण् को हुस्त [ग्रें है होता है।। सिद्धि भाग २ सूत्र ५।४।१५३ में देखें। फूर्वस् ह्रस्वत्व प्राप्ति थी, निषेध हो गया।।

यहाँ से 'न किप' की अनुवृत्ति ७।४।१५ तक जायेगी॥

आपोऽन्यतरस्याम् ॥७।४।१५॥

आपः ६।१।। अन्यतरस्याम् ७।१।। अनु०—न कपि, हस्वः, अङ्गा अर्थः -- आबन्तस्याङ्गस्य कपि परतो विकल्पेन हस्वो न भवति॥ अ बहुखटवकः, बहुखट्वाकः । बहुमालकः, बहुमालाकः ॥

भाषार्थः—[त्रापः] आबन्त अङ्ग को [अन्यतरस्याम्] विक्र (पक्ष में) हुस्व नहीं होता होता, कप् प्रत्यय परे रहते॥ (५।४।१५४) से यहाँ कप् होता है।।

ऋह्योऽङि गुणः ॥७।४।१६॥

ऋहराः ६।१॥ अङि ७।१॥ गुणः १।१॥ स०—ऋ च ह्य व तस्मात् समाहारो द्रन्द्रः ॥ अनु० — अङ्गस्य ॥ अर्थः - अव्य मङ्गानां हरोश्च अङि परतो गुणो भवति ॥ उदा०—शक्ताङ्कि अर्थः । अर्थः - हर्गणि । अर्थः - हर्गण अहं तेभ्योऽकरं नमः। असरत्, आरत्, जरा। हरोः

भाषार्थः—[श्रहशः] ऋवर्णान्त तथा दृशिर् अङ्ग को अङ् के जित्र होते हे

५०५

की गह

75-

Б., 🐺

प्रकृत

उदाः-

TEST

T SE

को (॥१।५) से गुण का प्रतिषेत्र प्राप्त था, विधान कर दिया ।। अकरत् में में महर्गहि॰ (३।१।४९) से चिल के स्थान में अङ् तथा असरत् आदि में क्षि क्षिशस्त्र (३।१।५६) से अङ् हुआ है। जरा में जूष घात से क्रिमदादि० (३।३।१०४) से अङ् प्रत्यय एवं टाप् हुआ है । अदर्शत किं को अङ इरितो वा (३।१।५७) से हुआ है। अद्रांत् की सिद्धि कि शशप्र में तथा असरत् आदि की परि० शशाह में देखें।।

यहाँ से 'श्रिडिं' की अनुवृत्ति ७।४।२० तक जायेगी।।

अस्यतेस्थुक् ॥७।४।१७॥

अस्यते: ६।१।। খ্রক্ १।१।। স্পন্ত — अङ्गि, अङ्गस्य ।। अर्थ:—अधु विक्रे के इत्यस्याङ्गस्य थुक् आगमो भवत्यङि परतः ॥ उदाः — आस्थत्, स्त्रः अस्थन् ।।

भाषार्थ:-[त्र्यस्यते:] असु क्षेपणे अङ्ग को अङ् परे रहते [युक्] क् आगम होता है।। अस्यतिवक्तिः (३।१।५२) से आस्थत् में च्छि के बान में अङ् होता है।। आट् अस् थुक् अङ् त् = आस्थत्।।

व्ययतेरः ॥७।४।१८॥

षयतेः ६।१॥ अः १।१॥ श्रनु०—अङि, अङ्गस्य ॥ श्रर्थः—रवयते-ष्ट्रियाकारादेशो भवति, अङि परतः ॥ उदा०—अश्वत् , अश्वताम् , कल ।

माषार्थ:-[श्वयते:] दुओश्व अङ्ग को अङ् परे रहते [श्रः] अका-विश्व होता है ॥ सिद्धि भाग १ परि० ३।१।४६ में देखें ॥

पतः पुम् ॥७।४।१९॥

पतः ६।१॥ पुम् १।१॥ अनु०—अङि, अङ्गस्य ॥ अर्थः—पत्तः गतौ THE STATE OF प्रमा अम् शारा। अनु ० आङ, जन्न । प्रमा अगमो भवत्यङि परतः॥ उदा०—अपप्रत् अपसन् ।।

भाषार्थः [पतः] पत्ल अङ्ग को अङ् परे रहते [पुम्] पुम् आगम पतः] पत्ल अङ्ग को अङ् पर रहत ८३५० उर् है।। पुषादिद्युता० (३।१।४५) से यहाँ पत्ल के लिदत् होने अङ् होता है। मिदचोऽन्त्यात् परः (१।१।४६) से अन्त्य

बिहुई ब्र अच् से परे पुम होकर अट् प पुम त् अङ्त् = अ प प् त्व हा अपप्तत् बन गया।।

वच उस् ॥७।४।२०॥

वचः ६।१॥ उम् १।१॥ अनु० — अङि, अङ्गस्य ॥ अर्थः — व हे तस्याङ्गस्याङि परत उम् आगमो अवति ॥ उदा०—अवोचत्,को ताम्, अवोचन्।।

भाषार्थः — [वचः] वच परिभाषाो अङ्ग को अङ् परे रहते हि उम् आगम होता है ।। सिद्धियाँ परि० ३।१।५२ में देखें।।

शीङः सार्वधातुके गुणः ॥७।४।२१॥

शीङः ६।१।। सार्वधातुके ७।१।। गुणः १।१।। श्रनुः—अङ्ग श्रर्थः—शीङोऽङ्गस्य सावधातुके परतो गुणो भवति॥ उदा०-हे व श्याते, शेरते।।

भाषार्थः—[शीङः] शीङ् अङ्ग को [सार्वधातुके] सार्वधातुक्र वि रहते [गुणः] गुण होता है।। अपित् सार्वधातुक परे रहते न नहीं (१।१।५) प्राप्त था वहाँ के लिये यह सूत्र है, पित् सार्वपाई परे तो सार्वधातुका० (७।३।८४) से हो ही जाता ।। शेरते की सिंहिए णशह में देखें।।

यहाँ से 'श्रीङः' की अनुवृत्ति ७।४।२२ तक जायेगी॥

अयङ् यि क्डिति ॥७।४।२२॥

अयङ् १।१॥ यि ७।१॥ किङति ७।१॥ स०-कश्च ङग्रक्डी, स्त्री यस्य स क्डित् तस्मिन् 'द्रन्द्रगभेबहुत्रीहिः॥ श्रनु - शीहः, अस्ति । अर्थः—यकारादौ किङति प्रत्यये परतः शीङोऽङ्गस्य अयह् इत्यापि भवति ॥ उदा०—शय्यते । शाशय्यते । प्रशय्य ॥

भाषार्थः—[यि] यकारादि [क्डिति] कित् डित् प्रत्यय । अङ्ग को जिल्ला शीङ् अङ्ग को [श्रयङ्] अयङ् आदेश होता है ॥ श्रयते भूष में बना है, सो सार्वधातुके यक् (३।१।६७) से यक् कित प्रत्यव है।

१. लोट् के उत्तंमपुरुष को आहुत्तमस्य पिच (३।४।६२) हे वि पित् सार्वधातुक मिलता है।।

विहे वहः

अहं परे अयङ् हो गया । िक्च (१।१।५२) से शी के 'ई' को अयङ् कि श् अयङ् यक् त = शय् य ते = शय्यते बना । शाशय्यते में हि तथा प्रशय्य आदि भें कत्वा को ल्यप् हुआ है। शाशय्यते में हिंचन करने से पहले परत्व से अयङ् होकर शय्, शय् द्वित्व होता, के है। शेष सिद्धि परि० ६।१।६ के पापच्यते के समान जानें। प्रशय्य

यहाँ से 'किङति' की अनुवृत्ति ७।४।२५ तक तथा 'यि' की ७।४।२६ क जायेगी ।।

उपसर्गाद्ध्रस्व ऊहतेः ॥७।४।२३॥

ब्रह्मा विपसर्गात् ४।१॥ ह्रस्वः १।१॥ ऊहतेः ६।१॥ श्रानु० — यि किङति, ०-हे ब्रह्म ॥ श्रार्थः — उपसर्गादुत्तरस्य ऊहतेरङ्गस्य यकारादौ किङति प्रत्यये स्तो ह्रस्वो भवति ॥ उदा० — समुद्यते, समुद्य गतः । अभ्युद्यते, अभ्युद्य वृह्यं स्ता

वर्षः भाषार्थः - [उपसर्गात्] उपसर्ग से उत्तर [उहतेः] ऊह वितर्के अङ्क वितर्के वितर्के अङ्क वितर्के वितर्के

वहाँ से 'उपसर्गात् ह्रस्वः' की अनुवृत्ति ७।४।२४ तक जायेगी।।

एतेर्लिङ ॥७।४।२४॥

पतिः ६।१॥ लिङि ७।१॥ अनु०—उपसर्गाद्धस्वः, यि विङ्कित, क्षित्। श्रर्थः—उपसर्गादुत्तरस्य एतेरङ्गस्य लिङि यकारादौ विङ्किति क्षिते भवति ॥ उदा०—उदियात् , सिमयात् , अन्वियात् ॥

भाषार्थः - हपसर्ग से उत्तर [एते:] इण् गतौ अङ्ग को यकारादि कित् लिक्षि लिङ्क परे रहते हस्व होता है ।। किदाशिष (३।४।१०४) से लिक्षि कित् है, अतः उसी के उदाहरण यहाँ होंगे । यासुट् यकारादि सो उसके परे रहते जब इण् को श्रक्षत् सार्व० (०।४।२४) हिता है, तो इस सूत्र से उपसर्ग से उत्तर हस्व हो जाता है। अकृत्सार्वधातुकयोदींर्घः ॥७।४।२५॥

1 d

A

अकृत्सार्वधातुकयोः ७।२॥ दीर्घः १।१॥ स० - कृच्च सार्वशाल कृत्सार्वधातुके, इतरेतरद्रन्द्रः । न कृत्सार्वधातुके अकृत्सार्वधातुके ः नव्तत्पुरुषः ॥ अनु०—िय किङ्ति, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अक्ष असावधातुकयकारे च किङ्ति प्रत्यये पर्तोऽजन्तस्याङ्गस्य दीवाँ मा उदा०-भृशायते, सुखायते, दु:खायते । चीयते, चेचीयते, ह्रा तोब्दूयते । चीयात् , स्तूयात् ॥

भाषार्थः--[श्रकृत्सार्वधातुकयोः] कृत् तथा सार्वधातुक से मित्रहि हित् यकार परे रहते अजन्त अङ्ग को [दीर्घ:] दीर्घ होता है।। का (१।२।२८) परिभाषा सूत्र से अचों को ही हुस्व, दीर्घ, जुत हों। अतः उसकी इस सूत्र में उपस्थिति होने से ही 'अजनत अङ्ग बें हैं।

सत्रार्थ किया गया है।।

भृशायते में मुशादिभ्यो० (३।१।१२) से क्यङ तथा सुका दुःखायते में सुखादिभ्यः० (३।१।१८) से क्यङ् प्रत्यय होता है।की स्तूयते में कम में यक् तथा चेचीयते आदि में यङ् हुआ है। वेष् में शर्पूर्वाः लयः (७।४।६१) से खय् शेष रहेगा । चीयात् स्त्याव आशीर्लिङ् में यासुट् परे रहते चि, स्तु को दीर्घ हुआ है। वि कृत् भिन्न एवं असावधातुक यकार हैं ही।।

यहाँ से 'अक्टत्सार्वधातुकयोः' की अनुवृत्ति ७।४।२६ तक तथा है है। की अंशे २६ तक जायेगी।।

च्वो च ॥७।४।२६॥

च्वो ७११। च अ० ॥ अनु०—दीर्घः, अङ्गस्य ॥ प्रर्थः—ि परतोऽजन्तस्याङ्गस्य दीर्घो भवति ॥ उदा० – शुचीकरोति, शुचीस्यात । प्राप्त शुचीस्यात्। पद्करोति, पद्दभवति, पद्दस्यात्।।

भाषार्थः—[च्वौ] च्वि प्रत्यय परे रहते [च] भी अजल होता है।। उन्ह दीर्घ होता है।। ग्रुचि तथा पटु शब्द से क्रभ्वस्तियोगे (१) चिव होकर पुनः इन शब्दों को दीर्घ हुआ है। शेष वि प्रंक्तिया ५।४।५० सूत्र में ही देखें।।

यहाँ से 'च्नी' की अनुवृत्ति ७।४।२७ तक जायेगी।।

१. कार्यकालं संज्ञापरिभाषम् (परि०२) के हेतु से यहाँ स्परिकार्य

[स्रापहः]

गत इ

रीङ् ऋतः ॥७।४।२७॥

विक् शिशा ऋतः ६।१॥ अनुः च्वी, अकृत्सार्वधातुकयोः, यि. कुरे अस्य ॥ अर्थ: - ऋकारान्तस्याङ्गस्य अऋद्यकारे ऽसावेधातुकयकारे च्वी विकार करती रीक् इत्ययमादेशो अवति ।। उदाः—मात्रीयति, पित्रीयति । मही मात्रीयते, पित्रीयते । चेक्रीयते । च्वौ मात्रीभूतः । पित्र्यम् ।। माषार्थः—[ऋतः] ऋकारान्त अङ्ग को ऋत् भिन्न एवं सार्वधातुक भित्र यकार परे हो तथा चित परे हो तो [रीङ्] रीङ् आदेश होता

महाहि । मात्रीयति में सुप आत्मनः (३।१।८) से क्यच् , मात्रीयते में कर्त्तः हों। क्षिमूतः में चिव एवं पित्रयम् में पितुर्यच (४।३।७६) से यत् प्रत्यय कों है। डिच (१।१।५२) से अन्त्य अल् ऋ के स्थान में रीड् होगा। गर क्यच् = मात् रीङ् य = मात्रीयते । चेक्रीयते में गुर्गा यङ्लुकोः मुह्म (गष्टा८२) से अभ्यास को गुण होता है।। पित्र्यम् में यस्येति च

। की (१४११४८) से रीड़ के ईकार का लोप होता है।।

यहाँ से 'ऋतः' की अनुवृत्ति ७।४।३० तक जायेगी।।

रिङ् शयग्लिङ्क्षु ॥७।४।२८॥

वेह हि १।१॥ शयग्लिङ्क्षु ७।३॥ स०—शश्च यक् च लिङ् च शयग्लि-विष्युः इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—ऋतः, असार्वधातुके, यि, अङ्गस्य॥ क्षि- ऋकारान्तस्याङ्गस्य श, यक् इत्येतयोः लिङ च यकारादौ मार्वेषातुके परतो रिङ् इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा० - श-आद्रियते, भियते। यक — कियते, ह्रियते। छिङ् — क्रियात्, ह्रियात्॥

भाषार्थः ऋकारान्त अङ्ग को [शयिंगलङ्सु] श, यक् तथा यकारादि क्षित्र भिन्न छिङ् परे रहते [रिङ्] रिङ् आदेश होता है।। को हिं असार्वधातुक लिङ् (३।४।११६) है, सो वहीं यासुद् परे असिवधातुक लिङ् (३।४।११६) ह, ता नव स्वार्थित के सिद्धि परि० १।३।१३ में कि अपने कि अपने के का (३।१।७७) भारत होगा।। कियते हियत का ।साध्य गर्ने ।शिष्णे। भारति हिन्दिक हर्ङ् घृङ् भातु से आद्रियते आध्रियते में श (३।१।७७) हित्र होकर 'आ द् रि अ ते' रहा । अचि श्तुधातु० (६।४।७७) के इकार के स्थान में इयङ होकर आद्र इयङ् अ त = आदिय कि आद्रियते बन गया ।।

गुणोऽर्त्तिसंयोगाद्योः ॥७।४।२९॥

[]

.

गुणः १।१॥ अर्त्तसंयोगाद्योः ६।२॥ स०—संयोग आहिता संयोगादिः, बहुव्रीहिः। अर्त्तिस्त्र संयोगादिस्त्र अत्तिसंयोगादी स इतरेतरद्रन्द्रः ॥ अनु०—यिक, लिङि, ऋतः, असार्वधातुक्तः अङ्गस्य । 'श' इत्यत्रासम्भवात् न सम्बध्यते ॥ अर्थः—अर्रे क्ष दीनामृकारान्तानामङ्गानां यिक लिङि च यकारादावसार्वधातुके भवति ।। उदा० — यिक अर्तेः — अर्थते । हिडि-क गुणो संयोगादीनाम् ऋकारान्तानाम् यकि—स्मर्यते । लिङि - सर्यात्॥

भाषार्थः—[त्र्यत्तिसंयोगाद्योः] ऋ तथा संयोग आदि में है लि ऐसे ऋकारान्त घातु को यक् तथा यकारादि असार्वधातुक छिड् गैर [गुण:] गुण होता है।। ऋ एवं संयोगादि ऋकारान्त धातुओं के ही गण की न होने से यहाँ 'श' प्रत्यय का आना सम्भव ही नहीं, का की अनुवृत्ति का सम्बन्ध यहाँ नहीं लगता।। सर्वत्र कित् यकार परि से सार्वधातुकार्धः से गुण की प्राप्ति नहीं थी, विधान कर दिया। यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ७।४।३० तक जायेगी॥

यिं च ॥ ७। ४। ३ ०॥

यिक ७११।। च अ०।। श्रनु०—गुणोर्त्तिसंयोगावीः, अङ्गस्य ॥ अर्थः — अर्त्तः संयोगादीनाम् ऋकारान्तानामङ्गानं परतो गुणो भवति ॥ उदा०—ऋ—अरायते । संयोगादीनाम्बर्ण नाम्-स्वृ—सास्वर्यते । ध्वृ—दाध्वर्यते । स्मृ—सास्मर्यते ॥

भाषार्थः—ऋ तथा संयोग आदि वाले ऋकारान्त अङ्ग बे यङ् परे रहते [च] भी गुण होता है।। अरायते की सिद्धि पिर्ध में देखें। सास्वर्यते आदि में अभ्यास को दीर्घोऽकितः (७१९८) दीघं होता है।।

यहाँ से 'यिंडि' की अनुवृत्ति ७।४।३१ तक जायेगी॥

ई लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ व्याध्मोः ६|२॥ स०—ग्रा^० ह्या द्वन्द्वः ॥ अनु०—यिकः, अङ्गस्य ॥ अर्थः — द्वा ध्मा इत्येत्वीकि परत ईकाखदेशो अन्ति परत ईकाखदेशो भवति ॥ उदा०—घा—जेघीयते। धार्वि [म् गदः]

देवान

वि

कस्य, हे

1

हुने ह -34

1

11

₹0 \$

3/21/

भाषार्थ:-[घ्राध्मोः] घ्रा तथा ध्मा अङ्ग को यङ् परे रहते [ई] क्वारिश होता है।। ब्रायङ् = अन्त्य अल् (१।१।५१) को ईत्व होकर श्रीय' रहा । द्वित्व अभ्यास कार्य एवं गुणो यङ्लुकोः (७१४।८२) से गुण बादि होकर जेघीयते, देध्मीयते वन गया।।

यहाँ से 'ई' की अनुवृत्ति ७।४।३३ तक जायेगी।।

अस्य च्यौ ॥७।४।३२॥

अस्य ६।१।। च्वौ ७।१।। अनु०-ई, अङ्गस्य ।। श्रर्थः-अवर्णान्त-माङ्गस्य च्वौ परत ईकारा देशो भवति।। उदा०—ग्रुक्छीभवति, है विक्रमें स्वात्। खट्वीकरोति, खट्वीस्यात्।।

भाषार्थः—[श्रस्य] अवर्णान्त अङ्ग को [च्या]।च्य प्रवेषत् अन्त्य के होता है।। सिद्धि भाग २, सूत्र १।४।४० में देखें।। पूर्वेषत् अन्त्य

यहाँ से 'अस्य' की अनुवृत्ति ७।४।३५ तक जायेगी।।

क्यचि च ॥७।४।३३॥

क्यचि ७१॥ च अ० ॥ त्रानु०—अस्य, ई, अङ्गस्य ॥ त्रर्थः - क्यचि , ^{ह । परतो}ऽवर्णान्तस्याङ्गस्य ईकारादेशो भवति ॥ *उदा०* पुत्रीयति, के ख्वीयति, घटीयति, माछीयति ॥

मुक्त भाषार्थ: [क्याच] क्याच् परे रहते [च] भी अवर्णान्त अङ्ग को मादेश होता है।। यह सूत्र त्रक्तसार्य (७।४।२५) का अपवाद है।। विषिद्वेयाँ परि० २।४।७१ में देखें।।

यहाँ से 'क्यचि' की अनुवृत्ति ७।४।३६ तक जायेगी।।

अश्वनायोदन्यधनाया बुस्रक्षापिपासागर्धेषु ७।४।३४॥

भागः वुमुक्षाः उभयत्रेतरद्वन्द्वः॥ ऋतुः—क्यचि, अङ्गस्य॥ क्षे अधुक्षाः डभयत्रंतरेतरद्वन्द्वः॥ अधुः प्राप्तः । अधुः अधानायं, उद्न्यं, धनाय इत्येतानि शब्द्रूपाणि यथाक्रमं बुसुक्षाः, ्रिश्वाय, उद्न्य, धनाय इत्येतानि शब्द्रूपाण जनाय उत्येतानि शब्द्रूपाण जनाय उत्येति ।। अश्वानाय इत्येते अश्वनशब्द्रस्यात्वं पार्वि परतो निपात्यते । उद्न्य इत्यत्र उद्कशब्द्स्य उद्न् आदेशो भाषाते निपात्यते । उद्नय इत्यत्र उद्कशब्द्रय उप् क्यांच प्रतः । धनाय इत्यत्रापि धनशब्द्रयात्वं क्यांच निपा- त्यते ।। उदा० — अश्वनायतीति भवति बुभुक्षा चेत् । अन्यत्र अश्वनिक्षेष्ट उद्वयतीति पिपासा चेत् । उद्कीयतीत्येवान्यत्र । धनायतीति गर्वति । अन्यत्र धनीयति ।।

भाषार्थः—[अशनायोदन्यधनायाः] अञ्चनाय, उद्ग्य, धनाय के हु क्रम्भाः [बुभुक्षापिपासागर्धेषु] बुभुक्षा, पिपासा, गर्ध इन अर्थो के तन किये जाते हैं ।। बुभुक्षा अर्थ में अञ्चन शब्द को क्यच् पर क्षात्व 'अञ्चनाय' यहाँ निपातन है । अन्य अर्थों में क्याच च के हि होगा । उद्ग्य शब्द में उद्क को क्यच् परे उद्न आदेश पिपास है निपातित है । धनाय यहाँ धन शब्द को क्यच् परे आति है (छालच) अर्थ में निपातित है ।।

नच्छन्दस्य पुत्रस्य ॥७।४।३५॥

न अ० ।। छन्द्सि ७।१।। अपुत्रस्य ६।१।। स०—न पुत्रोऽपुत्रस्त नव्यतत्पुरुषः ।। ऋनु०—क्यचि, अस्य, अङ्गस्य ।। अर्थः-पुत्राः स्यावर्णान्तस्याङ्गस्य छन्द्सि विषये क्यचि परतो यदुक्तं तम्र भवि दीर्घत्वमीत्वञ्चोक्तं तम्र भवित ।। उदा०—मित्रयुः, संस्वेदयुः, वेर्षे म गाति सुम्नुयुः (ऋ० ३।२७।१) ।।

माषार्थ:—[अपुत्रस्य] पुत्र शब्द को छोड़कर अवर्णात का [छन्दिस] वेद विषय में क्य परे रहते जो छछ कहा है, बा नहीं होता ॥ अकृत्सार्व० (७।४।२५) तथा क्यिच च (७।४।३३) से दें विषय में इत्व की प्राप्ति थी, प्रतिषेध कर दिया, अतः ईत्व का प्रतिषे देने पर औत्सर्गिक सूत्र अकृत्० से जो दीर्घत्व प्राप्त था वह विषे हुआ ॥ सिद्धियाँ ३।२।१७० सूत्र में देखें ॥

यहाँ से 'छन्दिस' की अनुवृत्ति ७।४।३६ तक जायेगी॥

दुरस्युद्रविणस्युच् षण्यति रषण्यति ॥७।४।३६॥ दुरस्यः १।१॥ द्रविणस्यः १।१॥ वृषण्यति क्रियापदम्॥ क्रियापदम्॥ अनुः—छन्दसि, क्यचि, अङ्गस्य ॥ अर्वाविषयः, वृषण्यति, रिषण्यति इत्येतानि शब्दरूपाणि क्यवि विषये निपात्यन्ते ॥ 'दुरस्यः' इत्यत्र दुष्टशब्दस्य दुरस्यवि निपात्यन्ते ॥ 'दुरस्यः' द्वरयत्र दुष्टशब्दस्य दुरस्यविषयः दिवणस्यः

[स् गदः]

स्तत

FOR

विश्वाब्दस्य वृषणभावो 'वृषणयति' इत्यत्र, रिष्टशब्दस्य च रिषण्भावो कित्र विषयिति इत्यत्र निपात्यते ।। उदा० - अवियोना दुरस्युः । दुष्टीयतीति श्रुते। द्रविण्स्युर्वि पुन्यया (ऋ० ६।१६।३५)। द्रविणीयतीति प्राप्ते। परेह गुण्यति । वृषीयतीति प्राप्ते । रिषण्यति । रिष्टीयतीति प्राप्ते ॥

में भाषार्थः—[दुरस्युः रिषएयति] दुरस्युः, द्रविणस्युः, वृषण्यति, परे विषयित ये शब्द क्यच् शत्ययान्त वेद विषय में निपातित किये जाते है। दुरस्युः में दुष्ट शब्द को दुरस् आदेश, द्रविणस्युः में द्रविण शब्द मामा है द्विणस् तथा वृषण्यति में वृष शब्द को वृषण्, एवं रिषण्यति में मत हिशब्द को रिषण् आदेश क्यच् परे रहते निपातित है।। दुरस्युः विणाखुः में क्याच्छन्दिस (३१२।१७०) से 'ड' प्रत्यय हुआ है ॥

अश्वाचस्यात् ॥७।४।३७॥

अधापस्य ६।१।। आत् १।१।। स०—अध्रश्च अध्रक्क अधापम्, अञ्चानस्य पारा। जात् रासाः । आत् भात् समाहारो द्वन्द्वः ॥ श्रनु०—छन्दसि, क्यचि, अङ्गस्य ॥ अध अघ इत्येतयोः क्यचि परतश्ळन्द्सि विषये आकारादेशो कित्रा उदा०—अ्यायन्तो मघवन् (ऋ० ७।३२।२३) मा त्वा वृका भगयवो विद्न् ।।

अड्ड भाषार्थ:---[अश्वाघस्य] अश्व अघ अङ्गों को क्यच् परे रहते वेद के बिता है।। क्यिच च (७।४।३३) का यह अपवाद है।। अघायबः ति होता है।। क्यचि च (७।४।३३) का यह अपवाद ए ।। अर्थ में क्याच्छ० (३।२।१७०) से 'ड' प्रत्यय होता है। अखाय भिन्न आगे शत प्रत्यय के बहुवचन में अश्वायन्तः बना है। शतप्रत्य-को सिद्धि परि० ३।२।१२४ में देखें।।

कों से 'श्रात्' की अनुवृत्ति ७।४।३८ तक जायेगी।।

देवसुम्नयोर्यजुषि काठके ॥७।४।३८॥

हेबसुम्नयोः ६।२॥ यजुषि ७।१॥ काठके ७।१॥ स०-देव० इत्यत्रेतरे -310 कित्वाः ६।२॥ यजुषि ७।१॥ काठके ७।४॥ तण्युन रेव सुम्त विकास अङ्गस्य ॥ श्रथः—देव सुम्त भेरतियोः क्यांचि परत आकारादेशो भवति यजुषि काठके ॥ उदार्थे

[48

भाषार्थः—[देवसुम्नयोः] देव तथा सुम्न अङ्ग को क्यच् परे हे आकारादेश होता है [यजुषि] यजुर्वेद की [काटके] कठ शाला में।। कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः ॥७।४।३९॥

कन्यध्वरपृतनस्य ६।१॥ ऋचि ०।१॥ छोपः १।१॥ स०-क्ष्र अध्वरश्च पृतना च कन्यध्वरपृतनम्, तस्य समाहारद्वन्दः॥ न्युंसक्षे हस्वत्वे कृते (१।२।४०) निर्देशः॥ अनु०— छन्दसि, क्यचि, अन्नतः अर्थः—कवि, अध्वर, पृतना इत्येतेषामङ्गानां क्यचि परतो होपेक्षं ऋचि विषये॥ उदा०—कन्यन्तः सुमनसः। अध्वर्यन्तः। कृत्वः स्तिष्टन्ति॥

भाषार्थः—[कव्यः स्य] किव, अध्वर, पृतना इन अङ्गो बा स परे रहते [लोपः] छोप होता है, [ऋचि] पादबद्धमन्त्र के विषय है। पूर्ववत् अन्त्य अल् (१।१।५४) का ही छोप होगा। सभी उदहर्षक के बहुवचन में हैं।। किव क्यच् = कव्य शप् शतृ = कव्य अ इ जस् = अतो गुणे (६।१।६४) छगकर कव्यन्तः वन गया।।

द्यतिस्यतिमास्थामित्ति किति ॥७।४।४०॥

चितस्यतिमास्थाम् ६।३॥ इत् १।१। ति ७।१॥ किति ७।१॥स०-विक् स्यतिश्च माश्च स्थाश्च चिति ''स्थास्तेषां' 'इतरेतरद्वन्द्वः । क् इत् कर्ति कित् तस्मिन्' 'बहुव्रीहिः ॥ श्रवु० — अङ्गस्य ॥ अर्थः — दो अवविक् षो अन्तकर्मणि, मा, स्था इत्येतेषामङ्गानामिकारादेशो भविति विक् किति प्रत्यये परतः ॥ उदा० — चिति — निर्दितः, निर्दितवान् । स्था – स्थितः, स्थित्वान् । स्था – स्थितः, स्थित्वान् । स्था – स्थितः, स्थित्वान् । स्था – स्या – स्था – स्या – स्था –

भाषार्थः—[द्यति : स्थाम्] द्यति = दो, स्यति = पो, मा वार्षः अङ्गों को [ति] तकार आदि वाले [किति] कित् प्रत्यय के पेषे [इत्] इकारादेश होता है।। अन्तय अल्को इकारादेश होका है। इत = निर्दित. आदि प्रयोग वन गये।।

यहाँ से 'इत्' की अनुवृत्ति ७।४।४१ तक तथा कि श्रिष्ठ तक जायेगी।।

शाच्छोरन्यतरस्याम् ॥७।४।४१॥ शाच्छोः ६।२॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ स० - शास्त्र 100

ने हो

में।

-

部

महस्र

पे भहे

गुतक

त्र स

य है।

हरण ह

अ इन

यसं वसम्ब

त्रा

K.

defi

त्याह

नेर

fix!

र्शत ।

व्योः "इतरेतरद्रन्द्रः ॥ अनु० — इत् ति किति, अङ्गस्य ॥ अर्थः —शो त्तृकरणे, छो छेदने इत्येतयोरन्यतरस्यामिकारादेशो भवति तकारादौ कित परतः ॥ उदा० – शा—निशितम्, पक्षे – निशातम् । निशितवान्, त्रिशातवान् । छा-अवच्छितम्, अवच्छातम् । अवच्छितवान्, अवच्छाः तवान् ।।

भाषार्थः — [शाच्छो:] शो तथा छो अङ्ग को [अन्यतरस्याम्] विकल्प इतके इकारादेश होता है, तकारादि कित् प्रत्यय परे रहते।। श्रादेच उपदेशे॰ (६।१।४४) से आत्व करके पुनः अन्त्य अल् 'आ' को 'इ' होकर निशितम् आदि प्रयोग वने । अवच्छितम् आदि में छे च (६।१।७१) से तुक् आगम एवं श्चुत्व भी हुआ है।।

दधातेर्हिः ॥७।४।४२॥

द्यातेः ६।१।। हिः १।१।। अनु०—ित किति, अङ्गस्य ।। श्रर्थः— शातेरङ्गस्य 'हि' इत्ययमादेशो भवति तकारादौ किति प्रत्यये परतः॥ द्याः—हितः, हितवान्, हित्वा ॥

माषार्थः—[दघाते:] डुधाञ् अङ्ग को [हिः] हि आदेश तकारादि कित् प्रत्यय परे रहते होता है।।

यहाँ से 'हि:' की अनुवृत्ति ७।४।४४ तक जायेगी।।

जहातेश्व क्तिव ॥७।४।४३॥

बहाते: ६।१।। च अ०।। कित्व ७।१॥ अनु०—हिः, अङ्गस्य॥ अर्थः जहातेश्वाङ्गस्य करवाप्रत्यये परतो हीत्ययमादेशो भवति॥ क्षाः—हित्वा राज्यं वनं गतः, हित्वा गच्छति ॥

भाषार्थ: [जहाते:] ओहाक त्यांगे अङ्ग को [च] भी [कितव] क्ता-श्लय परे रहते 'हि' आदेश होता है।।

यहाँ से 'जहाते: क्तिव' की अनुवृत्ति ७।४।४४ तक जायेगी।।

विभाषा छन्द्सि ॥७।४।४४॥

विभाषा १११। छन्दिस ७।१।। श्रनुः—जहातेः क्ति, अङ्गस्य ॥ अर्थः जहातेरङ्गस्य छन्द्सि ७।१॥ श्रनु०—जहातः । नत्न, २० क्वान्तिः जहातेरङ्गस्य छन्द्सि विषये विकल्पेन हीत्ययमादेशो भवति क्वान्ति । विषये विकल्पेन हीत्ययमादेशो भवति क्वान्ति । भयो पतः ॥ उदा० —हित्वा शरीरं यातव्यम् । हात्वा ॥

भाषार्थ:—ओहाक् अङ्ग को [विभाषा] विकल्प से [ब्रेन्सि]है विषय में क्त्वा प्रत्यय परे रहते 'हि' आदेश होता है॥ हाला हो वुमास्थागापा० (६।४।६६) से ईत्व छान्द्स प्रयोग होने से नहीं होता।

यहाँ से 'ब्रन्दिस' की अनुवृत्ति ७।४।४५ तक जायेगी॥ सुधितवसुधितनेमधितिधिष्विधिषीय च ॥७।४।४५॥

सुधितः इत्यादीनि लुप्तप्रथमान्तानि पृथक् पृथक् निहित्ती पदानि ।। धिष्व, धिषीय इति कियापदम् ।। च अ० ।। अव०-ह्रित्ती अङ्गस्य ।। अर्थः—सुधित, वसुधित, नेमधित, धिष्व, धिषीय इति क्रियापदम् ।। च अ० ।। अव०-ह्रित्ती अङ्गस्य ।। अर्थः—सुधित, वसुधित, नेमधित इति यथाक्रमं सुवसुनेमपूर्वस्य द्धातेः क्तप्रत्यये परत इत्वम्, अथवा प्रत्यक्ष इडागमो निपात्यते । धिष्व इत्यत्र छोट्मध्यमपुरुषेक्वचने द्धाति प्रत्ययस्य इडागमो निपात्यते । धिष्व इत्यत्र छोट्मध्यमपुरुषेक्वचने द्धाति प्रत्ययस्य इडागमो आशीर्लिङ्चात्मनेपदोत्तमपुरुषेक्वचने द्धातिरित्वं प्रत्ययस्य इडागमो आशीर्लिङ्चात्मनेपदोत्तमपुरुषेक्वचने द्धातिरित्वं प्रत्ययस्य इडागमो निपात्यते ॥ उदा०—गर्भः माता सुधितम् (ऋ० १०१२७।१६) । सुरि मिति प्राप्ते । वसुधितमग्नौ जुहोति । वसुहितमिति प्राप्ते । विष्व सोम्हि पित्ता (ऋ० १०१६३।१३) । नेमहिता इति प्राप्ते । धिष्व सोम्हि धत्त्वेति प्राप्ते । धिषीय । धासीयेति प्राप्ते ॥

भाषार्थः—[सुधित ''धिषीय] सुधित, वसुधित, तेमधित, क्षि धिषीय ये शब्द [च] भी वेद विषय में निपातित हैं।। सुधित, सुधित नेमधित इन शब्दों में क्रमशः सु, वसु तथा नेम पूर्व में रहते धिक्ष को क्त प्रत्यय परे रहते इत्व अथना प्रत्यय को इट् आगम निपात्वी यदि प्रत्यय को इट् आगम करके इन शब्दों की सिद्धि करेंगे तो धिं यदि प्रत्यय को इट् आगम करके इन शब्दों की सिद्धि करेंगे तो धिं आ का आतो लोप (६।४।६४) से लोप हो जायेगा। इत्व कर्ते पर्व आ' को ही इत्व होगा। सुधितम् में कुगतिप्रादयः (२।२।१८) ते विधितम् में विशोषणां विशेष्येण (२।१।५६) से एवं नेमधितम् में वस्व प्रत्येष विशेषणां विशेषणां विशेषणां (२।१।५६) से एवं नेमधितम् में एकवचन थास् के परे रहते 'धा' धातु को इत्य अथवा द्राय्य विशेषणां प्राप्त को इत्य अथवा द्राय्य विशेषणां विशेषणां विशेषणां भिन्न से धातु को इत्य अथवा द्राय्य विशेषणां प्राप्त को स्वाप्त को स्वाप्त के परे रहते 'धा' धातु को इत्य अथवा तिपात्वी शिषात्वी को स्वाप्त के परे रहते 'धा' धातु को इत्य अथवा तिपात्वी शिषात्वी को स्वाप्त के परे रहते 'धा' धातु को इत्य अथवा तिपात्वी शिषात्वी को स्वाप्त के परे रहते 'धा' धातु को इत्य अथवा तिपात्वी शिषात्वी को स्वाप्त के परे रहते 'धा' धातु को इत्य अथवा विषात्वी शिषात्वी का स्वाप्त कि परे रहते 'धा' धातु को इत्य अथवा विषात्वी शिषात्वी से आगम एवं श्ली (६।१।१०) से प्राप्त द्विचचन का अभाव निपात्वी शिषात्वी को स्वाप्त को स्वाप्त के स्वाप्त के स्वाप्त को स्वाप्त के स्वाप्त को स्वाप्त को स्वाप्त को स्वाप्त के स्वाप्त के स्वाप्त के स्वाप्त को स्वाप्त के स्वाप्त को स्वाप्त को स्वाप्त के स्वाप्त के स्वाप्त के स्वाप्त को स्वाप्त के स्वाप्

१. सामि इत्यत्रार्थग्रहणमाश्चित्य । तदभावे कर्मघारयः ।

पादः]

चेतुई:

] के

वि

वा॥

देशिव

न्द्रीस,

येतानि

इला

ययस

तेति

यत्रारि

मो ब मुहिन

वताव

IMI

ধিন

gliff

T

तहै।

धार्व

वरवे

10

邮

阿章

38

割

420

श्रास: से (३१४१८०) से थास् को 'से' एवं सवाभ्यां वामी (३१४१९१) से भ हो ही जायेगा। इट्करने पर धा के आ का छोप छान्दसत्वात् जाने।। धिषीय यहाँ आत्मनेपद में आशीर्लिङ् के उत्तम पुरुष एकवचन के परे हते धा को पूर्ववत् इत्व अथवा प्रत्यय को इडागम निपातन है। होऽत् (३।४)१०६) से 'इट्' को अत्व हो ही जायेगा।।

दो दद् घोः ॥७।४।४६॥

दः ६।१॥ दद् १।१॥ घोः ६।१॥ श्रनु०-ति किति, अङ्गस्य॥ वर्ष:- घुसंज्ञकस्य दा इत्येतस्य स्थाने 'द्द्' इत्ययमादेशो भवति, कारादौ किति प्रत्यये परतः ॥ उदा० - दत्तः, दत्तवान्, दत्तिः॥

भाषार्थ:-[घो:] घुसंज्ञक [दः] दा घातु के स्थान में [दद्] दद् आदेश होता है, तकारादि कित् प्रत्यय परे रहते ॥ दा + क्त = दुद व=सिर च (८।४।५४) से चर्त्व होकर दत्तः बन गया।।

यहाँ से 'दः घो:' की अनुवृत्ति ७।४।४७ तक जायेगी।।

अच उपसर्गात्तः ॥७।४।४७॥

अचः ५।१।। उपसर्गात् ५।१।। तः १।१।। अनुः—दः घोः, ति किति, ^{बहुत्य ।। अर्थः--अजन्तादुपसर्गादुत्तरस्य घुसंज्ञकस्य दा इत्येतस्याङ्गस्य} ^{त इत्ययमादेशो} भवति, तकारादौ किति प्रत्यये परतः ॥ *उदा*०—प्रत्तम्, ^{अवत्तम्}, नीत्तम्, परीत्तम्॥

भाषार्थ:—[अचः] अजन्त [उपसर्गात्] उपसर्ग से उत्तर घुसंज्ञक वा अङ्ग को तकारादि कित् प्रत्यय परे रहते [तः] तकारादेश होता है। 'त' में अकार मुखसुखार्थ रखा है, वस्तुतः 'त्' आदेश होता है। वा के आ को त् आदेश होकर 'प्र द् त् क्त' रहा। सिर च (८।४।५४) से देशों त् होकर प्रत् त् त = रहा। अनिच च (८।४।४६) से द्वित्व किर १ तकार हो गये तो सहरो सहि० (८।४।६४) से मध्य के दो कारों का छोप होकर प्रत् त अम् = प्रत्तम् आदि बन गये। नीत्तम्, भीतम् में दिस्त (६।३।१२२) से उपसर्ग को दीर्घ हुआ है।। यहाँ अवः पद् की आवृत्ति करने से दा का 'अच्' स्थानी मिल जाता है। कि का आवृत्ति करने से दा का 'अच् स्थाना निष्क्रित करने से दा का 'अच् स्थाना निष्क्रित करने से दा का 'अच् स्थाना निष्क्रित करने से अन्यथा श्रादेः भिल्ल (१११४३) से उपसर्ग से परे 'द्' के स्थान में होता,॥ रे

यहाँ से 'तः' की अनुवृत्ति ७।४।४९ तक जायेगी।।

६१८

अपो मि ॥७।४।४८॥

[चुहुं

अपः ६।१॥ भि ७।१॥ अनु०—तः, अङ्गस्य॥ अर्थः—क् इत्येतस्याङ्गस्य भकारादौ प्रत्यये परतः 'तः' इत्ययमादेशो मनी। उदा०—अद्भिः, अद्भयः॥

भाषार्थः—[त्रपः] अप् अङ्ग को [भि] भकारादि प्रत्यय है ते रहते तकारादेश होता है ।। अप् के अन्त्य अरु 'प्' को त् होगां, प्या अत् भिस् = अद्भिः, भलां जशो० (८।२।३६) से त् को द् होका का।

सः स्यार्घघातुके ॥७।४।४९॥

सः ६।१॥ सि ७।१॥ आर्घधातुके ७।१॥ ऋनु०-तः, अङ्गता ऋर्यः-सकारान्तस्याङ्गस्य सकारादावार्घधातुके परतस्तकारादेशोभकी। उदा०-वत्स्यति, अवत्स्यत्, विवत्सति, जिघत्सति॥

भाषार्थः—[सः] सकारान्त अङ्ग को [सि] सकारादि [आर्धणां अर्धिधातुक के परे रहते तकारादेश होता है।। वस् स्य ति = यहाँ ति सकारादि आर्धधातुक के परे रहते वस् के अन्त्य अल् स् को त्रोति वस्त्यति बन गया। लङ् में अवत्स्यत् तथा सन् में विवत्सिति बनेगा। जिघत्सिति की सिद्धि परि० २।४।३७ में देखें।।

यहाँ से 'सः' की अनुवृत्ति ७।४।५२ तक तथा 'सि' की ७।४।४० जायेगी ।।

तासस्त्योर्लोपः ॥७।४।५०॥

तासस्त्योः ६।२॥ छोपः १।१॥ स०—तास् च अस्तिश्च तास्त्रीः त्योः इतरेतरद्वन्द्वः ॥ श्रनु०—सः सि, अङ्गस्य ॥ श्रन्यं नतिः स्तेश्च सकारस्य सकारादौ प्रत्यये परतो छोपो भवति ॥ उदा० तिः कर्त्तासि, कर्त्तासे । अस्तेः—त्वम् असि । व्यतिसे ॥

भाषार्थः—[तासस्त्योः] तास् और अस् धातु के सकार का स्वार्धि प्रत्यय परे रहते [लोपः] लोप होता है।। पठिता की सिद्धि विश्वा चुके हैं, तद्वत् यहाँ भी सब कार्य होकर के सिप् = कर्तास् सि रहा। एकाच उपदेशे० (७।२।१०) से यहाँ इह होगा। प्रकृत सूत्र से स् लोप तथा श्रचो रहाभ्यां० (८।४।४५) से वि

चुं वहः

विति।

केलं

पश्चात्

वना

इस्र

विति।

पानुं]

F

司。

सर्व

गसें!

से:

TUR

off:

all PAN

14

हित होकर कत्तींसि बना। आत्मनेपंद में (११३।७२) थासः से (११४।८०) से थास् को 'से' होकर कत्तासे बना । अस् शप् सि = श्रदि-सितिम्यः (२।४।७२) से शप् लुक् होकर अस् सि = असि बन गया। र्मान्यतिहार में कर्त्तरि कर्मं० (१।३।१४) से त्रात्मनेपद होकर 'व्यति अस् शप् थास्' = पूर्ववत् स् लोपादि सब होकर न्यति अ से रहा। नसोरह्नोपः (६।४।१११) से अस् के 'अ' का भी छोप होकर व्यतिसे बन गया ।।

यहाँ से 'तासस्त्योः' की अनुवृत्ति ७।४।५२ तक तथा 'लोपः' की **।।।।१३ तक जायेगी ।।**

रि च ॥ ७। ४। ५१॥

रि ७१॥ च अ० ॥ अनु०—तासस्योर्छोपः, सः, अङ्गस्य॥ अर्थः— कारी च प्रत्यये परतस्तासेरस्तेश्च सकारस्य छोपो भवति॥ उदा०— कारी, कत्तारः । अध्येतारी, अध्येतारः ।।

भाषार्थ:—[रि] रेफादि प्रत्यय के परे रहते [च] भी तास् और अस् के सकार का लोप होता है।। लौकिक प्रयोग विषय में अस् से परे फादि प्रत्यय सम्भव ही नहीं, अतः उदाहरण नहीं दिखाया॥ कर् गस् रौ = कत्तारौ बन गया। अध्येतारौ आदि में आत्मनेपद के आताम्, इको री रस् हुआ है। सिद्धि सूत्र २।४।८५ में भी देखी जा सकती है।।

ह एति ॥ ७। ४। ५२॥

हः १।१।। एति ७।१।। श्रनु०—तासस्त्योर्छोपः, सः, अङ्गस्य।। वासस्त्योः सकारस्य हकारादेशो भवति, एति परतः ॥ लोप इति अनुवर्त्तमानं सद्पि न संबध्यते हकारविधानात्। उदा०-कत्ताहै। मते:-व्यतिहे ॥

भाषार्थ: तास् तथा अस् के सकार को [हः] हकारादेश [एति] कार परे रहते होता है।। छोप की अनुवृत्ति आने पर भी हकार विधान भामध्ये से संबद्ध नहीं होती। उत्तम पुरुष एकवचन में क तास् हिंदित् आत्मने० (३।४।७९) से एत्व होकर कर्तास् ए = कर्ताह् किताहि बन गया । इसी प्रकार कर्मेन्यतिहार आत्मनेपद में पूर्ववत्

यीवर्णयोदींधीवेन्योः ॥७।४।५३॥

T

यीवर्णयोः ७१२॥ दीधीवेच्योः ६१२॥ सः—ियस्य स्वित्रे विवार्षाः दिश्वां त्योः दिश्वां त्योः दिश्वं त्योः दिश्वं त्यो त्यो त्यो त्यो दिश्वं त्या त्या क्यां क्या

यकारादि एवं इवर्ण आदि वाला प्रत्यय परे हो तो लोप होता है।।

में इकार उच्चारणार्थ है वस्तुतः 'य्' है अतः यकारादि अर्थ कियोः

आ दीधी क्त्वा = आ दीधी ल्यप् = प्रकृत सूत्र से अन्त्य अल् (११११६) जोप होकर आदीध्य आवेव्य बन गया। कर्मवाच्य में यक् (३११६०) जोप होकर आदीध्य आवेव्य वन गया। कर्मवाच्य में यक् (३११६०) जोप होकर आदीध्यते आवेव्यते बना। तृच् में आ दीधी इद तृच्वाहि हो ता = आदीधिता बना। विधिलिङ् में आ दीधी शप् सीयुद सुत् अव वा वीधी सीय स्त रहा। शप् का लुक् (२१४१०२) एवं दोनों स्त आ दीधी सीय स्त रहा। शप् का लुक् (२१४१०२) एवं दोनों स्त का लिङ: सलोपो० (७१२१०६) से लोप होकर आ दीधी ईय् वर्व दीध् ईय् त = लोपो व्योविल (६१११६४) लगकर आदीधीत आके विध ईय् त = लोपो व्योविल (६१११६४) लगकर आदीधीत आके बन गया।।

सनि मीमाघुरभलभशकपतपदामच इस् ॥७।४।५४॥

सिन ७।१॥ मीमा ''पदाम् ६।३॥ अचः ६।१॥ इस् १।१॥ मिश्र माश्र घुश्र रमश्र लभश्र शकरच पत् च पद् च मीमा 'पदति इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—सि, अङ्गस्य ॥ अर्थः—मी इत्यति हिंसायाम्, डिमिञ् प्रक्षेपणे उभयो रिप प्रहणम्, मा इत्यतेन प्रभूतीनां त्रयाणां प्रहणम् । मी, मा, घु, रभ, डुलभष्, शक्षे पद् इत्यतेषामङ्गानामचः स्थाने इस् इत्ययमादेशो भवित सिन् रादौ प्रत्यये परतः ॥ उदा०—मीञ्-मित्सित डिमिञ्-प्रमित्सित

१. मिनोऽपि सिन दीर्घत्वे मीरूपत्वात् । २. गामादाग्रहणेष्वविशेषः कि

7=5 आर्व

(afti

मिसते, अपिमत्सते । घुसंज्ञकानाम् दित्सति, धित्सति । रभ-श्चिति । लभ-आलिप्सते । शक-शिक्षति । पत-पित्सित । पद्-क्षं प्रिंपत्सते ।।

भाषार्थ:-[मीमा पदाम्] भी, मा, तथा घुसंज्ञक एवं रभ, डुल-ह के वह, शक्ल, पत्ल और पद अङ्गों के [अचः] अच् के स्थान में [इस्] जा- सुआदेश होता है, सकारादि [सनि] सन् प्रत्यय परे रहते।। सन् गरेको है सकारादि है ही, पुनः सकारादि कहने का अभिप्राय यह है कि जहाँ हुआगम सन् को हुआ हो तो वहाँ 'इस्' न हो।। मी सन् = मृइस् किस मिस् स=सः स्यार्धधातुके (७।४।४९) लगकर मित् स रहा। द्वित्व है। कि मित् मित् स = मि मित्स रहा। अत्र लोपोऽभ्या० (७।४।५८) से अधास छोप होकर मित्सित बना। इसी प्रकार में के ब्रादेच० (११) ११) से आत्व होकर मित्सते बना। आ रम् स = अच्को इस् लेंहें कित आ र इस् भ् स = आरिस् भ् स रहा । भ् को लिर च (८।४।४४) क्षे पूर्व स्को: संयो० (८।२।२९) से सकार छोप होकर आरिप्सते मुह्म गिलिएसते बन गया । सर्वत्र अभ्यास का छोप पूर्ववत् हो जायेगा।। यहाँ से 'अचः' की अनुवृत्ति ७।४।५६ तक तथा 'सिन' की ७।४।५७ सका क जायेगी ।।

आष्त्रप्यधामीत् ॥७।४।५५॥

आप्त्रप्यधाम् ६।३।। ईत् १।१।। स० — आप्त्र० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ मु अचः, सिन, सः, अङ्गस्य ॥ अर्थः — आप्, इपि, ऋष् इत्येतेषा-स्थाने ईकारादेशो भवति सनि सकाराद् प्रत्यये परतः॥ अप्-ईप्सति । ज्ञपि-ज्ञीप्सति । ऋध्-ईर्सति ॥

भाषार्थः—[आप्तृप्युधाम्] आप्, ज्ञपि तथा ऋध् अङ्गों को अच् अप्, ज्ञाप तथा कर् निर्मा क्षित में [ईत्] ईकारादेश होता है, सकारादि सन् प्रत्यय परे कि शिक्षा है तथा ईर्त्सित की सिद्धि परि० ७।२।४६ में देखें। इसी का आप्त वथा इत्सिति की सिद्धि में एस एस द्वित्व एवं आ को कित्या अभ्यास का लोप होता है।।

यहाँ से ध्रित्' की अनुवृत्ति ७।४।५६ तक जायेगी।।

क्ष्मः ६११॥ इत् १११॥ च अ०॥ श्रातु०—ईत्, अचः, सिन्, सः, दम्भ इच ॥७।४।५६॥

अङ्गस्य ।। अर्थः - दभ्भेरङ्गस्य अचः स्थाने इकारादेशे कि चकारादीच सनि सकारादौ परतः ।। उदा० — घिप्सिति, धीप्सिति॥

भाषार्थः—[दम्मः] दम्भ अङ्ग के अच् के स्थान में [ज़्] हा देश होता है [च] तथा चकार से ईकारादेश होता है, सकार्णहरू प्रत्यय परे रहते ॥ सिद्धि परि० ७।२।४९ में देखें॥

मुचोऽकर्मकस्य गुणो वा ॥७।४।५७॥

मुचः ६।१॥ अकर्मकस्य ६।१॥ गुणः १।४॥ वा अ०॥ हान्ति विद्यते कर्म यस्य स अकर्मकस्तस्यः वहुत्रीहिः ॥ अनु०—सि अङ्गस्य ॥ अर्थः — अकर्मकस्य मुचोऽङ्गस्य गुणो विकल्पेन भविति सकारादौ परतः ॥ उदा० — मोक्षते वत्सः स्वयमेव ॥ मुमुक्षते इत्वयमेव ॥

भाषार्थः — [श्रकमंकस्य] अकर्मक [मुचः] मुच्छ धातु को [ज़ गुण [वा] विकल्प से होता है, सकारादि सन् प्रत्यय परे हो हलन्ताच (११२११०) से यहाँ झलादि सन् के कित् होते से प्रत्य (७१३।८६) से गुण प्राप्त नहीं (१११।५) था, यहाँ विकल्प से प्रार्व दिया ।।

मोक्षते आदि प्रयोग कर्मकर्ता में बने हैं, क्यों कि कर्मकर्ता में बने हैं, क्यों कि कर्मकर्ता में बने हैं, क्यों कि कर्मकर्ता है। वरसं मोक्तुमिच्छति = क्स बे हैं वाहता है। यहाँ जब वरस स्वयं छूटने में = स्वतन्त्र होते में अविष्य प्रदर्शित करता है, तो वरस कर्मकर्त्ता बन जाता है। इस प्रकार कर्मणा० (३।१।८७) से कर्मवद्भाव होकर मोक्षते, मुमुक्षते में भाकते (१।३।१३) से आत्मनेपद्द होता है। यहाँ सार्वधातुके यक (३।१।४०) यक् भी प्राप्त था, किन्तु भूषाकर्मिकरादिसनां चान्यत्रासनेपद्दा वा० ३।१।८७) इस वार्त्तिक से आत्मनेपद्द को छोड़कर कर्मकर्ती यक्, चिण्, एवं चिण्वद्भाव का निषेध हो जाता है। द्वित्व पर्व पर्व , चिण्, एवं चिण्वद्भाव का निषेध हो जाता है। द्वित्व पर्व (८।२।३०) से च् को क् यहाँ हो ही जायेगा। गुण पक्ष में अविषय (८।२।३०) से च् को क् यहाँ हो ही जायेगा। गुण पक्ष में अविषय (८।२।३०) से च् को क् यहाँ हो ही जायेगा। गुण पक्ष में अविषय (८।२।३०) से च् को क् यहाँ हो ही जायेगा। गुण पक्ष में अविषय (८।२।३०) से च् को क् यहाँ हो ही जायेगा। गुण पक्ष में अविषय (८।२।३०) से च् को क् यहाँ हो ही जायेगा। गुण पक्ष में अविषय (८)११४८ से छोप होकर मोक् षते = मोक्षते बनेगा तथा जब गुण से स्वया पर्व से सुच्या सुच्या सुच्या से सुच्या सुच्या सुच्या सुच्या से सुच्या सुच

१. कर्मवद्भाव के लिये ३।१।८७ सूत्र द्रष्ट्रव्य है।

अत्र लोपोऽभ्यासस्य ॥७।४।५८॥

[

वृति, सं

ते ह

PER

11 अत्र अः ॥ लोपः १।१॥ अभ्यासस्य ६।१॥ श्रनुः — अङ्गस्य ॥ हिन् अत्र = सनि मीमा० (७।४।४४) इत्यारभ्य मुचोऽकर्मकस्य० र्णिह (१४) इति यावद् विधिषु सत्सु अभ्यासस्य छोपो भवति ।। पूर्वेषु विषेवीदाहरणानि द्रष्टव्यानि ।।

माषार्थ: [अत्र] यहाँ सन् परे रहते जो कार्य कहा है वहाँ अर्थात क्षिमीण सूत्र से लेकर मुचो ऽकर्मकस्य० सूत्र तक जिन प्रयोगों में इस् मिन् बादि को विधान किया है, उनके [अभ्यासस्य] अभ्यास का सिंहि कि होता है।। पूर्व सूत्रों में उदाहरण दिखा ही चुके हैं।। ग्हाँ से 'श्रभ्यासस्य' की अनुवृत्ति ७।४।९७ तक जायेगी।।

हरवः ॥७।४।५९॥

क्तः १।१॥ श्रनु - अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः अङ्गस्याभ्या-महत्त्वो भवति ।। उदाः— इढौिकषते, तुत्रौिकषते । इढौके, तुत्रौके । ते पर खिकत्, अतुत्रीकत्।।

भाषार्थः—अङ्ग के अभ्यास को [हस्वः] हुस्व होता है।। ढौकु त्रौकु किन में डुढौिक बते तुत्रीकि बते, लिट् में त को एश् (३।४।८१) त्र इंडोंके तुत्रोंके, एवं णिजन्त के लुङ् में अडुढोंकत् अतुत्रोंकत् बना के अभ्यास को यहाँ दु हस्य हो जाता है। सन्नन्त में पूर्ववत्सनः अविविधिहर) से आत्मनेपद हुआ है ।। TI

हलादिः शेषः ॥७।४।६०॥

हिं। होति: १११।। होष: १११। स०—हल् चासौ आदिश्र हलादि:, व मिर्यातातपुरुष: ।। अनु०—अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ श्रर्थ:—अभ्यास-अनुः अभ्यासस्य, अङ्गरेष ।। अनुः —अभ्यासस्य, अङ्गरेष ।। उदाः —जग्लौ, मन्लौ । वं भार, पपाठ। आट, आटतुः, आदुः॥

भाषार्थः अभ्यास का [हलादिः] आदि हल् [शेषः] शेष रहता भी कियास का [हलादि:] आदि हल् [भारि वर्ष हो जाता के कि उसका छोप हो जाता भीकि शेष तभी कहा जा सकता है जब अनादि हल का लोप हो

1 जग्लौ मम्लौ की सिद्धि सूत्र ७।१।३४ में देखें। आट वहाँ है द्वित्व होकर अनादि हल् का लोप होकर अ अट् णल् रहा। म (७।४।७०) से अभ्यास को दीर्घ होकर आ अट् अ रहा। होकर 'आट' बन गया। तद्दत् आटतुः आदुः में भी समझें॥ यहाँ से 'शेषः' की अनुवृत्ति ७।४।६१ तक जायेगी॥

शर्वाः खयः ॥७।४।६१॥

शर्पूर्वाः ११३॥ खयः ११३॥ स०—शर् पूर्वी येषां ते ह्य , बहुन्नीहिः ॥ अनुः—शेषः, अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ त्रर्थः-अस् शर्पूर्वीः खयः शिष्यन्ते, अन्ये हलो लुप्यन्ते ॥ उदाः - मुख्येति तिष्टासति, पिस्पन्दिषते ॥

भाषार्थः - [शर्पृवाः] शर् प्रत्याहार का कोई वर्ण पूर्वमें है [सयः] खय् प्रत्याहार के ऐसे अभ्यास का खय् (प्रत्याहार) होत है।। अन्य हलों का लोप हो जाता है, यह फलितार्थ हुआ। व पूर्व सूत्र का अपवाद है ॥ श्च्युतिर् धातु के आदि में शर् प्रवास वर्ण है, उसके प्रधात् च् वर्ण खय् है सो द्वित्व होने पर अभार शेष रहेगा, अन्यों का छोप हो जायेगा। इसी प्रकार स्था एवं मी से भी नुम् (७११५८) होकर जानें।। इन दोनों सूत्रों से हर्ले की विभिन्नी गई है सो अचों का छोप नहीं होता, अतः रखी अभ्यास में च् के साथ २ 'उ' रोष भी रहता है, स्पिंद में अक्राह रहता 'प' है। ऐसा सर्वत्र जानें।।

द्वन्द्रः ॥ श्रनुः - अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ श्रर्थः - अभ्यास्य कारयोश्चवगदिको --कारयोश्चवर्गादेशो भवति ॥ उदा०—कृ-चकार । खन्-चर्मा जगाम । अद्-जघास । हकारस्य—हन् — जघान । हु-जहाँ। र्षति । ओहाक — भे र्षति । ओहाक्-जहाँ ।।

भाषार्थः—अभ्यास के [कुहो:] कवर्ग तथा हकार की [की आदेश होता है।। सिद्धियाँ सभी पूर्व दर्शा आये हैं। अवि

१२५ हिंद्य निर्म्यतरस्याम् (२।४।४०) से घस्तृ आदेश होता है, वहीं सिद्धि हिंद्य भी देखें। खन् में अभ्यास के ख को पहले इस सूत्र से चुत्व स्वात् श्रभ्यासे चर्च से च हुआ है। परि० १।१।५० के चिकीर्षकः स्वात जिहीर्षित का प्रकार जानें। श्रात औ० (७।१।३४) से णल् औं होकर जहाँ बन गया।।

वहाँ से 'चुः' की अनुवृत्ति ७।४।६४ तक जायेगी।।

ते स

和新

न कवतेर्यक्टि ॥ ७।४।६३॥

निकार निकार कार्तः ६।१॥ यिङ ७।१॥ अनु०— चुः, अभ्यासस्य, ज्ञानिकारम्॥ अर्थः—कुङ् (भ्वा०) इत्येतस्याङ्गस्याभ्यासस्य यिङ्क स्वार्थादेशो न भवति ॥ पूर्वेण प्राप्तिः प्रतिषिध्यते ॥ उदा०— भे हे भूषते उष्ट्रः । कोकूयते खरः ॥

के माषार्थः— [कवते:] कुङ् अङ्ग के अभ्यास को [यिङ] यङ् परे ॥ विकास विकास कि विकास कि

महाँ से 'न यिं की अनुवृत्ति ७।४।६४ तक जायेगी।।

क्रषेश्छन्दसि ॥७।४।६४॥

रुपे: ६।१॥ छन्दसि ७।१॥ अनुः—न यङि, चुः, अभ्यासस्य, हिल्ले ॥ अर्थः— कृष विलेखने ६त्येतस्याङ्गस्य योऽभ्यासस्तस्य कि विषये यङि परतश्चुत्वं न भवति॥ उदाः—करीकृष्यते

मार्थः—[क्रपे:] कृष अङ्ग के अभ्यास को [छन्दिस] वेद प्राप्त में यह परे रहते चवर्गादेश नहीं होता॥ पूर्ववत् प्राप्ति थी, कर दिया॥ करीकृष्यते में रीगृदुपधस्य च (७।४।६०) से की रीक् आगम हुआ है। क रीक् कृष् य शप्त ए = करीकृष्यते। कि से 'छन्दिस' की अनुवृत्ति ७।४।६५ तक जायेगी॥

PR दाधित्दर्धित्दर्धिवोसूतुतेतिक्तेऽल्प्यापनीफणत्संसिनिकः त्थापदपापदम् करिकत्कनिकदद्भरिअद्दविध्वतोदविद्युतत्तरित्रतः सांक् पतंबरीवृजन्ममृज्यागनीगन्तीति च ॥७।४।६५॥

दाधर्त्ति, दर्धर्त्ति इत्येवमादीनि सर्वाणि पृथक् २ निर्दिष्णि क इति अः।। च अः।। अनुः — छन्दसि, अभ्यासस्य, अस्स श्रर्थः - दाधर्त्ति, दर्धर्ति, दर्धर्षि, वोभूतु, तेतिक्ते, अल्पि, आप्तीका संसनिष्यदत्, करिकत्, कनिकदत्, भरिश्रत्, दविष्वतः, दिल् तरित्रतः, सरीसृपतम् , वरीवृजत् , मर्मृज्य, आगनीगन्ति इत्येतानि क्वा ह्माणि छन्द्सि विषये निपात्यन्ते।। दाधर्त्ति, दर्धर्षि इति इति भृञो भृङो वा रही यङ्लु कि वा निपात्यते । तत्र दार्धात इस है। धारयते: (धृव्) रही तदा णिलुक्, अभ्यासस्य दीर्घतं च निषतं यदा धृङस्तदापि रलावभ्यासदीर्घत्वं परसमैपदं त्वत्र निगत्वे। परत्वाण्णेरनिटीत्यनेन णिलोपः, दीर्घोऽकित इत्यनेन च दीर्वत् मेव। यङ् लुक्पक्षे शुद्धाद् धृङः ऋतश्चेत्यनेन प्राप्तो स्गादेग्पादी निपात्यते । दर्धित्तं इत्यत्र तु यङ्लुक्पश्चे धारयतेरनेकाच्लादमावी निपात्यते, उपधा हस्वत्वञ्च। शुद्धाद् यङ्लुक्पक्षे विशिष् इत्यनेन प्राप्तस्य दीर्घत्वस्य अभावश्च निपात्यते, रुक् वु क्ष (७।४।९२) इत्यनेन सिद्धः। यदा तु धारयतेः श्लौ त्वाऽमा स्गागमो णिलोपस्य निपात्यते ॥ दर्धर्षि इत्यत्र उभयोः पक्षणे परतो दर्धित्तवत् ज्ञेयम्।। 'बोभूतु' इत्यत्र भवतेर्यङ्खात्तव विभागात्त्र ।। 'बोभूतु' इत्यत्र भवतेर्यङ्खात्तव ।। गुणा भावो निपात्यते ।। तितिकते इत्यत्र तिजेर्यङ्खात्त्रविक्षिति ।। निपात्यते ॥ अलर्षि इत्यत्र ऋ गतौ इत्येतस्मात् लि (६।१।१०) इति द्वित्वे उरद्त्वे च कृते हलादि शेषाप्वादीऽभी

१. ग्रत्र भूसुवोस्तिङ (७।४।८८) इति गुणाभावः सिद्धः, पातनम्—ग्रन्यत्र यङ्लुगन्तस्य गुणप्रतिषेधो न भवति, बोभोति बोभवीति।
२. यक्षो विकास

२ यङो हित्वात् प्रत्ययलक्षगोनात्मनेपदं सिद्धमेव, ज्ञापनार्थमेतदि क्रियात् प्रत्ययलक्षगोनात्मनेपदं सिद्धमेव, ज्ञापनार्थमेतदि क्रियात् प्रत्ययलक्षगोनात्मनेपदं सिद्धमेव, ज्ञापनार्थमेतदि क्रिया क्रियात् क पदिवधायकं च 'चर्करोतम्' गणसूत्रमनपेक्ष्यैतदुक्तम्। तद्येक्षाणाम् व तमनेपदं विधोयते।

[भि विश्वति ॥ आपनीफणत् इत्यत्र आङ्पूर्वस्य फणतेर्यङ्जुगन्तस्य विश्वति ।। संसनिष्यदेत् इत्यत्र संपूर्वस्य विश्वति ।। संसनिष्यदेत् इत्यत्र संपूर्वस्य विश्वति ।। संसनिष्यदेत् इत्यत्र संपूर्वस्य ॥ त्रात्यते ॥ करिक्रदिति करोतेयेङ्खुगन्तस्य शतरि अभ्यासककारस्य कि तामावी रिगागमध्य निपात्यते ॥ कनिकददिति ऋन्देर्लुङ च्लेरङा-अस्त हो दूर्वचनमभ्यासस्य चुत्वाभावो निगागमश्च निपात्यते ॥ भरिश्रदिति निराम्ब इत्येतस्य यङ्लुगन्तस्य शतरि भृत्यामिदिति अभ्यासस्य क्षित्र विस्वताभावो जरुत्वाभावो रिगागमश्च निपात्यते ॥ द्विध्वतः इत्यत्र ने अस्यासस्य विगागम ऋकारछोपश्च क्षेत्रमात्यते।। द्विद्युतद्ति द्युतेयं ङ् लुगन्तस्य शतरि द्युतिस्वाप्योः ता । ।।।।।। इत्यनेनाभ्यासस्य प्राप्तस्य सम्प्रसारणस्याभावोऽत्वं निवरं निवासम्य निपात्यते ।। तरित्रत इति तरतेः शति रही षष्ट्रयेकवचने-वे। कामासय रिगाममो निपात्यते ।। सरीसृपतिमति सुपैः शतरि रही क्षितियैकवचनेऽभ्यासस्य रीगागमो निपात्यते ॥ वरीवृजद्ित वृजेः विभारि खौ रीगागमोऽभ्यासस्य निपात्यते ॥ मर्मुज्येति मृजेर्छिटि पछि विकासस्य रगागमो धातोश्च युगागमो निपात्यते ॥ आगनीगन्ति इत्यत्र विक्रिक्ष्य गमेळेटि रली अभ्यासस्य चुत्वाभावो नीगागमश्च निपात्यते ॥ भाषार्थः [दाघत्तिं...गिन्त] दाधत्ति, दर्धित, दर्धिष, बोभूतु, ज्या किं, अलिं, आपनीफणत्, संसनिष्यदत्, करिकत्, कनिकदत्, के विभाग , दिविध्वतः, दिवद्युतत् , तरित्रतः, सरीसृपतम् , वरीवृजत् , मिंग्स्य, आगनीगन्ति [इति] ये शब्द [च] भी वेद विषय में निपातन के जाते हैं।। दाधत्तं, दर्धति, दर्धि ये शब्द णिजन्त धृव्धारणे विकास हुइ अवस्थाने या भृङ् अवध्वंसने धातुओं से शतु में अथवा यङ्-अपिता हैं। दाधित यहाँ जब णिजन्त घुन् से श्लु में निपा-मानी तो णि का लुक् एवं अभ्यास की दीर्घत्व निपातन से होगा। कि वहुलं छन्दिस (२।४।७६) से सवेत्र होगा। जब घृङ् से विकरण विकरण प्राप्त कर गे तो श्लु पर रहत अभ्यास उप श्रा विकरण के प्राप्त से होगा। तुदादिगणस्थ धृङ् से मानने पर श्रा विकरण विष्हिले व्यत्यय से शप् कर लेने पर पूर्वोक्तानुसार शतु होगा। यङ् किम दार्थित की निष्पत्ति मानने पर धारि (धृत्र) णिजन्त धातुओं के भिकाष की निष्पत्ति मानने पर धारि (धुन्) । असे प्राप्त करा दिया तथा

[7] उपधा हस्वत्व भी निपातन से जानना चाहिये। इस पक्ष में हा आर्घघातुक होने से गोर्निट (६।४।५१) से णिलोप एवं विकि (अ४।८३) से अभ्यास को दीर्घत्व हो जायेगा, अतः ये विधियाँ है। तन नहीं हैं ॥ दर्धर्त्ति यहाँ पूर्ववत् धारि धातु से रत में रक्षा णिलोप निपातन है। यङ्खुक् पक्ष में दीघों उकितः (७।४।८३) है। दीर्घत्व का अभाव धारि के अनेकाच् होने से अप्राप्त यह भी कि है। दर्धित में रुक् आगम तो ऋतरच (७।४।६२) से सिद्ध ही है। विका समान ही दर्धिष में भी सिप् परे रहते सव कार्य जानें।। स्वेत्र कार्य द्वित्व एवं अभ्यास कार्यादि समझते जायें।। वोभूतु यहाँ भू मा थङ्जुक् में छोट् परे रहते सार्वधातु० (७।३।८४) से प्राप्त गार्व अभाव निपातन है।। तेति ते. यहाँ तिज धातु के यङ्तुक् में कर् पदत्व निपातन है। ज् को क् चो: कु: (८।२।३०) सरि च (वाक से हो जायेगा।। यङ्लुक् की सिद्धि का प्रकार परि० २।४।४४ लाह णरा९४ में देख हैं।। अलर्षि यहाँ ऋ गतौ (जुहो०) धातु के ही सिप् परे रहते श्लो से द्वित्व एवं उरत् (७।४।६६) इत्यादि साम अर् सि रहा । अब यहाँ हलादिः शेषः (७।४।६०) का अपवाद हर्ते हस पूत्र से अभ्यास के रेफ् को निपातन से छत्व होकर अङ्भि अलिष बन गया। अतिपिपत्योध से प्राप्त अभ्यास के इल का अगी यहाँ निपातन से जानें।। श्रापनीफरात् यहाँ आङ् पूर्वक पण यङ्लुक् में शतृ प्रत्यय परे रहते अभ्यास को नीक् आगम निष्का आ प फण् शतृ = आ प नीक् फण् अत् = आपनीफणत् वत् मिनिक्यत् = -संसनिध्यदत् यहाँ सम् पूर्वक स्यन्द धातु के यङ्जुक् में शह पर अभ्यास को निक् आगम तथा धातु के सकार को पत्र निर्माण सम् स निक् स्यद् अत् = (यङ् परे रहते अनिदितां विश्वास अनुनासिक छोप होकर) सं स नि ष्यद् अत् = संसनिष्यदत् का किरिकृत् में हरूर स्थापन करिकत् में डुकुञ् धातु के यङ्लुक् में शतृ परे रहते कुहोर्नुः से प्राप्त अभ्यास के चुत्व का अभाव तथा रिक् आगम निष्की अरत् इत्याहि ज्यान उरत् इत्यादि लगकर क कु अत् = क रिक् कु अत् = यणीर्वे कि करिकत् बन गया ।। कनिकदत् यहाँ कन्द धातु के लुङ् में जिल्ली

१. इस विषय में पृ० ५२६ को टिप्पणी १ द्रष्ट्रव्य है।। २. यहाँ भी पृ० ५२६ की टिप्पणी २ द्रष्ट्रव्य है।।

[भावः]

में क्विन, अभ्यास को चुत्व का अभाव तथा निक् आगम निपातन है।। विक्रमा यहाँ डुभूव् धातु के यङ लुक् में शतृ परे रहते भ्वामित् आकः (विधिर्देश) से प्राप्त जरूरव का असीव तथा रिक् आगम निपातन है।।) है। कियतः यह ध्वृ धातु के यङ्लुक् में शतृ परे रहते जस् का रूप है। कि इं अभ्यास को विक् आगम तथा ध्वृ के ऋकार का लोप निपातन | विक्रित है। नाभ्यस्ताच्छतुः (७११।७५) से यहाँ उगिदचां० (७११७०) से वक्त वा तुम् आगम का निवेध हो जाता है।। दविध्वतो रश्मयः सूर्यस्य र १११२।४)।। दविद्युतत् यहाँ द्युत् धातु के यङ्तुक् में शत परे ए के वृतिस्वाप्योः सम्प्रसारणम् से अभ्यास को प्राप्त सम्प्रसारण का में बार्च आव एवं अत्व तथा विक् आगम निपातन है। दु चुत् अत् = अत्व एवं (वा क् आगम होकर द विक् चुतत् = द्विचुतत् बन गया।। तरित्रतः यहाँ ग्रम को रिक् आगम निपातन है। श्लौ से द्वित्व करके तृतृ व= ल्या आदि ल्याकर त तू अत् = त रिक् तू अत् इस् = तरित्रतः अर्मिया।। सहोजा तरि त्रतः (ऋ०४।४०।३)।। सरीसपतम् यहाँ भी सुप्ल अपार में शत परे रहते शप् को श्लु होकर द्वितीया के एकत्वन में भागिषास को रीक् आगम निपातन है।। वरीवृजत् यहाँ भी वृजी धातु को शल पूर्ववत् होकर शतृ परे रहते अभ्यास को रीक् आगम विविद्यालय है।। सर्वत्र अप् को रलु करने का प्रयोजन द्वित्व करना ही है।। वे वहाँ मृजूष् धातु से छिट् में णल् परे रहते अभ्यास को रक् विश्वास विश्वास विश्वास विश्वास मुज् मुज् पल् = उरत् शाकर = म मृज् णल् = म रुक् मृज् युक् अ = मर् मृज्य मार्थिक बन गया। यहाँ युक् आगम (१।१।४५) कर लेने पर मृज् कि अलिव्यूपध हो जाने से मुजेर्वृद्धिः (७।२।११४) से वृद्धि नहीं मा का का निस्त मुजवृद्धः (अरार १०) में शप् को खु पूर्वक गम् धातु के छट् में शप् को खु भा नीक अभ्यास को कुहोश्चुः (७।४।६२) से प्राप्त चुत्व का अभाव भाषा । विश्व अभ्यास को कुहोश्चुः (७।४।६२) स प्राप्त चुल का कि ने कि अगम ति = म् कि अगम ति = म् ति = आग नीक् गम् ति = म् विश्व अगम् ति अगम् ति = म् विश्व अगम् ति च विश्व अगम् ति = म् विश्व अगम् ति च विश्व अगम् ति = म् विश्व अगम् ति = म् विश्व अगम् ति च विश्व अगम् ति च विश्व अगम् ति = म् विश्व अगम् ति च विश्व अगम् ति = म् विश्व अगम् ति च विश्व अगम् ति च भाषा (८।३।२३) तथा परसवर्ण (८।४।२) ।।. ३७ व्ह्यन्ती वेदा गंनीगन्ति कर्णम् (ऋ० ६।७५।३) ॥.

उरत् ॥७।४।६६॥

[F

डः ६।१॥ अत् १।१॥ श्रनु०—अभ्यासस्य, अङ्गस्य॥ क्रि ऋवर्णान्तस्याभ्यासस्याकारादेशो अवित ॥ उदा०—ववृते, ववृषे। क्रि निर्मित्तं, नरीनित्तं ॥

भाषार्थः — [जः] ऋवणान्त अभ्यास को [अत्] अकाराहेत हैं है।। अत्व करने में उरएरपरः (१।१।६०) लगकर रपरत है को और उसका हलादिः शेषः (७।४।६०) से लोप हो जायेगा। यहतुः है नृत् धातु को द्वित्वादि होकर रुपिकी च लुकि (७।४।९१) से अभार्थ है क् रिक् एवं रीक् आगम होकर नर्नित्त आदि प्रयोग वनते हैं।

द्युतिस्वाच्योः सम्प्रसारणम् ॥७।४।६७॥

चुतिस्वाप्योः ६।२॥ सम्प्रसारणम् १।१॥ सः—चुतित्र क्षात्रे व्यतिस्वाप्यो तयोः इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनुः अभ्यासस्य, अङ्गां अर्थः —चुति स्वापि इत्येतयोरभ्यासस्य सम्प्रसारणं भवति ॥ उर्वाः छिटि—विदिद्युते । ण्यन्ताल्लुङि — व्यदिद्युतत् । सनि —विदिवीर्वि । विदिद्युतिषते । यङि —विदेद्युत्यते । स्वापेः —सुष्वापियपति ॥

सप्तमोऽध्यायः

[F TE:]

1

अङ्गर्भ। उदाः-

होतिय

नवारी (11 438 -

मितिप्रहा। स्तौतिरायो० (८।३।६१) से अभ्यास से उत्तर षत्व होकर मुजापिषति बन गया।।

वहाँ से 'सम्प्रसारगाम्' की अनुवृत्ति ७।४।६८ तक जायेगी।। च्यथो लिटि ॥७।४।६८॥

व्यथः ६।१।। छिटि ७।१।। श्रनुः—सम्प्रसारणम्, अभ्यासस्य, श है क्षय ॥ अर्थ: — व्यथ भयसञ्चलनयोरित्येतस्याभ्यासस्य लिटि परतः हुत्। असारणं भवति ।। उदा - विवयथे, विवयथाते, विवयथिरे ।।

माषार्थः—[व्यथः] व्यथ अङ्ग के अभ्यास को [लिटि] छिट् परे हो सम्प्रसारण होता है।। हलादिः शेषः से अभ्यास के यूका छोप माथा, सम्प्रसारण हो गया। 'व्' को तो न सम्प्रसारणे० (६।१।३६) सम्प्रसारण का निषेध हो जाता है। व्यथ् व्यथ् त = वि व्यथ् स्=विव्यथे ।।

यहाँ से 'लिटि' की अनुवृत्ति ७।४।७४ तक जायेगी।।

दीर्घ इणः किति ॥७।४।६९॥

्रीर्घः १।१।। इणः ६।१।। किति ७।१।। स० क् इत् यस्य स्कित् भिन् वहुत्रीहि: ।। अनु — लिटि, अभ्यासस्य, अङ्गस्य ।। अर्थः— अहात्य योऽभ्यासस्तस्य दीर्घो भवति किति छिटि परतः॥ उदा०-=बंग्लिः, ईयुः॥

अप्राची कार्याः विश्व होता है।। इण्को द्विवचन करने से पूर्व इणो ्रिशिटशे से यणादेश होकर पश्चात् द्विर्वचनेऽचि (१।१।५८) से रूपा-होकर इ य् अतुस् = दीर्घ होकर ईयतुः बन गया।। वहाँ से 'दीर्धः' की अनुवृत्ति ७।४।७० तक जायेगी।।

अत आदः ॥ण्याण्याः ।। अतः भाषाः ।। अतुः च्यासस्य, अङ्गस्य॥ क्षिक्षाः ।। अतो गुणे भारतः है।१।। अनुः है।१।। अनुः —दीर्घः, छिटि, अम्यासस्य, उस अभ्यासादेरकारस्य दीर्घो भवति छिटि परतः ।। अतो गुग् अध्यासादेरकारस्य दीर्घो भवति लिटि परतः।। इस्यनेन पररूपत्वे प्राप्ते तदपवादो दीर्घत्वं विधीयते ॥ उदा०—

43 भाषार्थ: - अभ्यास के [आदे:] आदि [अतः] अकार के छिए रहते दीर्घ होता है ॥ सिद्धि ७।४।६० सूत्र में देखें॥

तस्मान्तुड् द्विहलः ॥७।४।७१॥

तस्मात् ५।१।। नुट् १।१।। द्विहलः ६।१।। स०—द्वौ इलौ यसह द्विहरू, तस्य वहुवीहि:।। अनु - लिटि, अभ्यासस्य, अङ्गस्य॥ क्र तस्माद् दीर्घीभूतादभ्यासादुत्तरस्य द्विहछोऽङ्गस्य नुडागमो मा उदा॰—आनङ्ग, आनङ्गतुः, आनङ्गः । आनञ्ज, आनञ्जतुः, आनजुः।

भाषार्थः—[तस्मात्] अभ्यास के दीर्घ हुए हुए आकार से ह [द्विहलः] दो हल्वाले अङ्ग को [नुट्] नुट् आगम होता है।। तर से समीपस्थ अत आदे: से दीर्घ किये हुये आकार का यहाँ आक्षेपी अगि धातु को इदितो नुम्० (७।१।५८) से नुम् होकर अङ्ग् का। इ अङ्ग द्वित्व तथा पूर्व सूत्र से दीर्घत्व होकर 'आ अङ्ग् अ' हा। र दीर्घत्व किये हुये 'आ' से उत्तर दो हल् वाले अङ्ग को तर्का (१।१।४५) हो गया। अङ्ग्यहाँ ङ्तथा ग्रो हरु हैं ही सो अङ्ग् दो हल् वाला है।। इसी प्रकार अञ्जू धातु से आनञ्ज आदि में स्व यहाँ भी व् तथा ज्दो हल् हैं, सो अअ्दो हल् वाला अङ्ग है।

यहाँ से 'तस्मान्तुट्' की अनुवृत्ति ७।४।५२ तक जायेगी॥

अक्नोतेश्व ॥७।४।७२॥

अर्नोतेः ६।१॥ च अ०॥ अनु०—ल्लिटि, तस्मान्तृट्, अभ्याह अङ्गरय।। अर्थः—अश्नोतेश्च दीर्घीभूतादभ्यासादुत्तरस्य नुडाामी भी। अद्विह्छर्थोऽयमारम्भः ॥ उदा०—व्यानशे, व्यानशाते, व्यानि

भाषार्थ:—[त्रश्नोते:] अइनोति = अश्र व्याप्तौ अङ्ग के विक्र हुये अभ्यास से उत्तर [च] भी नुट् आगम होता है ॥ अश् अर् वाला नहीं है, अतः पूर्व सूत्र से नुट् की प्राप्ति नहीं थी, निर्मा हिया ।। पर्ववन कार्या से नुट् की प्राप्ति नहीं थी, निर्मा दिया ।। पूर्ववत् अत आदेः से दीर्घ करके नुट् होगा ।।

भवतेः ६।१॥ अ: १।१॥ अनु०—िलटि, अभ्यास्य,

[क्षे पहः]

| Fr.

भनी

ञ्जु:

से हत

र् आल

1

छि । अर्थः—भवतेरङ्गस्याभ्यासस्याकारादेशो भवति छिटि परतः॥ उदा०— म्मृत, बभूवतुः, बभूतुः, अनुबभूवे।।

भाषार्थ:-[भवते:] भू अङ्ग् के अभ्यास को [ग्रः] अकारादेश हिएरे रहते होता है।। बभूव की सिद्धि परि० १।२।६ में देखें। यस अनुवभूवे कर्मवाच्य में आत्मनेपद (१।३।१३) तथा 'त' को एश् होकर बाहै॥

यहाँ से 'श्रः' की अनुवृत्ति ७।४।७४ तक जायेगी।।

सस्वेति निगमे ॥७।४।७४॥

। तल्ल ससूव, ऋयापदम् ॥ इति अ०॥ निगमे ७।१॥ ऋनु०—अः, छिटि, क्षेप्। अयासस्य, अङ्गस्य ।। अर्थः—ससूव इति निपात्यते । सूतेर्लिट पर-॥। ह मेपदं वुक् आगमोऽभ्यासस्य चात्वं निगमे (वेदे) विषये निपात्यते ॥ ।। इत्राः—सस्व स्थविरं विपश्चिताम्।।

भाषार्थ:-[ससूव] ससूव [इति] यह शब्द [निगमे] वेद विषय, F 1 मिन्पातन किया जाता है।। षूङ् धातु से छिट् परे रहते परस्मैपद, को वुक् आगम तथा अभ्यास को अत्व निपातन है ॥ घातादेः षः सः शि।६२) से ष्को स् होकर सृ वुक् णल् = सूव् सूव् अ = ससूव बन ाया ।।

निजां त्रयाणां गुणः इलौ ॥७।४।७५॥

भारत निनाम् ६।३॥ त्रयाणाम् ६।३॥ गुणः १।१॥ रही ७।१॥ अनु०— अङ्गस्य ।। अर्थः—ितजादीनां त्रयाणां धातूनामभ्यासस्य निर्मा भवित रही सित ।। उदा०—णिजिर्—नेनेक्ति । विजिर्—वेवेकि। क्षि विष्ठ विवेष्टि ।।

इ लेश भाषार्थ: [मिजाम्] णिजिर् आदि [त्रयासाम्] तीन धातुओं के भ्यास को [श्लौ] श्लु होने पर [गुणः] गुण होता है।। 'निजाम' में धाव व अवन निर्देश से आदि अर्थ निकलता है।। नेनेक्ति की सिद्धि परि॰ येश्राज्य में देखें ।।

वहाँ से 'त्रयासाम्' की अनुवृत्ति ७।४।७६ तक तथा 'रली' की क्षिष्ट तक जायेगी।।

भृजामित् ॥७।४।७६॥

भृजाम् ६।३॥ इत् १।१॥ अनुः—त्रयाणाम्, रलौ, अयाह अङ्गस्य ॥ अर्थ:—भृञादीनां त्रयाणां धातूनामभ्यासस्येकाक्षे भवित रही सित ।। उदा०—डुभृञ्-विभित्ते। ओहाङ्-जिहीते।।

भाषार्थः—[भृजाम्] हुभृञ् आदि तीन धातुओं के अभार [इत्] इकारादेश होता है, रत्तु होने पर ।। अभ्यास के अलाह (१।१।५१) को ही इत्व सर्वत्र जानें।। पृवेवत् 'भृवाम्' में वहुवका से आदि अर्थे लिया गया है।। मिमीते जिहीते में हिल (६।४।११३) से अभ्यस्त अङ्ग के आ को 'ई' हुआ है। मा तन से द्वित्व होकर मा मात = म मात, इत्व होकर मि मात = मिम्हें मिमीते बन गया । विभक्ति की सिद्धि परि० २।४।७५ में देखें॥

यहाँ से 'इत्' की अनुवृत्ति ७।४।८१ तक जायेगी॥

अत्तिपिपत्योश्च ॥७।४।७७॥

अर्त्तिपिपत्यों: ६।२।। च अ० ॥ स०—अर्त्ति० इत्यन्नेत्रेताहरू अतुः—इत् , रलौ, अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—ऋ गतौ, पृष्ण पूरणयोः इत्येतयोरभ्यासस्य इकारादेशो भवति रही सित्। ज्यान इयर्त्ति धूमम् । पिपर्त्ति सोमम् ॥

भाषार्थः—[त्र्रितिपिपत्योः] ऋ तथा पू धातुओं के अभ्यास के भी श्लु होने पर इकारादेश होता है।। इयर्त्त की सिद्धि पूर्व में देखें।।

बहुलं छन्द्सि ॥७।४।७८॥

बहुलम् १११॥ छन्द्सि ७११॥ श्रनु०—इत् , श्ली, अम्बिस् स्य ॥ अर्थः अङ्गस्य ॥ त्रर्थः — लुन्द्सि विषयेऽभ्यासस्य बहुर्लीमकार्राहेगी रली सति ॥ जन्म रही सित ।। उदा — पूर्णा विविध । जिनमा विविक्त । वर्त विविध । जिनमा विविक्त । सिषक्ति । जिघर्त्ति सोमम् । न च भवति-ददातीत्येवं व्र्यात्। मिन्द्रं माता राजीते न मिन्द्रं माता यद्वीरं द्धनम् धनिष्टा ॥

भाषार्थः—[छन्दसि] वेद विषय में अभ्यास को ^{[बहुत्त्व] कै}

िक् परः]

量

न्त्व ह

चन हैं।

म् ईतेः

रहन्द्र। पूर्व

उदाः"

इते खु होने पर इकारादेश होता है।। विवष्टि विवक्ति की सिद्धि क्षि राष्ट्रा में देखें। पच धातु से सिपक्ति, एवं घृ से जिचित्ति क्षा । जन से छङ् में जजनम् तथा धन से द्धनम् इत्व न होकर होगा। बहुलं छन्दस्य० (६।४।७५) से अट् आगम का अभाव एवं श्ली हे द्वित तथा मिप् को अम् (३।४।१०१) होकर जजनम्, द्धनम् भ्यास है बन गया ।।

सन्यतः ॥७।४।७९॥

सनि ७११। अतः ६।१।। अनु०—इत्, अभ्यासस्य, अङ्गस्य।। क्ल क्षं-सिन परतोऽकारान्तस्याभ्यासस्य इकारादेशो भवति ॥ उदा०-तः विषक्षित, यियक्षति, तिष्टासति, पिपासति ॥

भाषार्थः [सनि] सन् परे रहते [अतः] अकारान्त अभ्यास को ल होता है।। श्रलोन्त्यस्य (१।१।५१) से अन्त्य अल् 'अ' को 'इ' णा।। पच्, यज् अनिट् धातुएँ हैं। पिपक्षति में चोः कुः (८।२।३०) क इल तथा यियक्षति में यज् के ज् को ८।२।३६ से ष् एवं षढोः कः० (वरा४१) से क् हुआ है।।

यहाँ से 'सनि' की अनुवृत्ति ७।४।८१ तक जायेगी।।

ओः पुयण्ज्यपरे ॥७।४।८०॥

ओ: ६।१॥ पुराण्जि ७।१॥ अपरे ७।१॥ स०—पुश्च राण् च ज्च भण्ज् तिस्मन् ' 'समाहारद्वन्द्वः । अः परो यस्मात् पुयण्जस्तद्परम् के विस्तृ तास्मन् समाहारद्वन्द्वः। अ. परा परायस्य, अङ्गस्य॥ कार्याहः ।। अनु०—सान, इत्, जार, छ) जकारे क्वर्णान्तस्याभ्यासस्य पवर्गे यणि (य, व, र, छ) जकारे कार्यास्यास्य पवन वाज (न, न, न) ज्यान्य परतः॥ उदा०— भिंडपरे पिपविषते, पिपाविषयिषति । विभाविषयिषित । यण्यपरे-भ्यविषति, यियावयिषति । रिरावयिषति, छिछावयिषति । ज्यपरे-जु-वामा विवाययवित ।।

भाषार्थः—[अपरे] अवर्ण परक [पुयस्यि] पवरा, जार् भाषार्थिका कोई वर्णे) तथा जकार परे वाला जो [मोः] डवर्णान्त अभ्यास माषार्थ: [अपरे] अवर्ण परक [पुयस्ति] पर्वा, यण्, (यण् मित्रों का कोई वर्ण) तथा जकार परे वाला जो आ: अवन्य अभ्यास कित्रों कारादेश होता है, सन् परे रहते, अर्थात् उवर्णान्त अभ्यास किए होता है, सन् परे रहते, अथात् उपना । पिप-कि अपि प्रमा पवर्ग यण् तथा जकार हो जिससे परे अवर्ण हो ॥ पिप-आदि में उवर्णान्त अभ्यास 'पु' से उत्तर अवर्ण परकं पवर्णादि हैं

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

कि व ही, सो इत्व हो गया।। उवर्णान्त अभ्यास होने से पूर्व सूत्र हे हो ही नहीं थी, विधान कर दिया ।। स्मिपूङ्० (७।२।७४) से पिपाकि स इट् आगम होता है, गुण अवादेश करके स्थानिवद्भाव करके द्वित्व होगा। इसी प्रकार सबसें द्वित्व की प्रक्रिया समझे। पिपाकी आदि में ण्यन्त से सन् हुआ है, सो 'पू पाव्' द्वित्व सर्वत्र होगा। यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ७।४।८१ तक जायेगी॥

स्रवतिशृणोतिद्रवतिप्रवतिप्लवतिच्यवतीनां वा ॥७।४।८१॥

स्र

स्रवति : 'तीनाम् ६।३॥ वा अ० ॥ स०-स्रवति० इत्यन्नेतेताहाः अनुः—ओः पुराण्डयपरे, सनि, इत् , अभ्यासस्य॥ अर्थः-मुह श्रु श्रवणे, द्रु गतौ, प्रुङ् , ट्लुङ् , च्युङ् गतौ इत्येतेपामभान ओरवर्णपरे यणि परतो विकल्पेनेत्वं भवति सनि प्रत्यये परतः॥ ल-स् –सिस्रावयिपति, सुस्रावयिपति । श्रु–शिश्रावयिपति, ग्रुश्रविति दु-दिद्रावियवति, दुद्रावियवति । प्रु-पिप्रावियवति, पुप्राविका ्र प्ल-पिप्लावियषति, पुप्लावियषिति। च्यु-चिच्याकि चुच्यावयिषति ॥

माषार्थः—[स्रवतिः ग्तीनाम्] सु, श्रु, दु, प्रुङ्, जुङ्, जुङ् इनके अवर्णपरक यण् परे है जिससे ऐसे होने वाले उवर्णात वार को [वा] विकल्प से इकारादेश होता है।। यहाँ सर्वत्र इन णवत पर से ही सन् होता है।। पूर्ववत् स्थानिवत् से 'सु स्नाव्' ऐसा स्कृष्टि होगा ।। सभी उदाहरणों में अभ्यास से सीधा अवर्णपरक वर्ण परि है, मध्य में स्, श्, द् आदि का व्यवधान है, सो यहाँ वचन मार् से उवणान्त अभ्यास एवं अवर्णपरक यण् के मध्य में एक व्यवधान होने पर भी इकारादेश हो जाता है। पूर्व सूत्र है कि यण के परे ही प्राप्ति थी, अतः इस सूत्र में अप्राप्त विभाषा है। 'पुयण्डयपरे' की अनुवृत्ति आते हुये भी केवल 'यण अपरे क्रि सम्बन्ध सम्भव होने से लगता है, अन्य का नहीं ॥

गुणो यङ्खकोः ॥७।४।८२॥

ं गुणः १।१॥ यङ्खुकोः ।।७।४।८२॥ गोः इततेत्रकाः ।।। स०—यङ् च सुक् तयोः इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ वर्ष 1

तरहुन् -सृतं

मभ्यास

उदा:-

विदर्भ

त पड़ि 南村

से वहतुकि च परतोऽभ्यासस्य गुणो भवति ।। तुगिह् यङ एव विवक्षितः पिका समिप उपस्थितत्वात् ।। उदा० — यिक — चेचीयते, लोल्यते । यङ्कुिक-के 🕫 🗂 जोहबीति । क्रुश—चोक्रुशीति ।।

गर्वाव भाषार्थ:-[यङ्लुकोः] यङ् तथा यङ्लुक् के परे रहते झान्त ॥ (१११३) अभ्यास की [गुणः] गुण होता है।। यहाँ 'लुक्' कहने से स्मीपस्थ यङ् के लुक् का ही प्रहण होता है, अन्य किसी का नहीं।। गहतुक् में सिद्धि परि० २।४।७४ तथा यङ् में परि० ३।१।८२ में देखें॥ 16811

यहाँ से 'यङ्लुकोः' की अनुवृत्ति ७।४।६० तक जायेगी।।

दीर्घोऽकितः ॥७।४।८३॥

दीर्घः १।१।। अकितः ६।१।। स० ककार इत् यस्य स कित्, विकी वृत्रीहिः। न कित् अकित् तस्य ' 'नञ्तत्पुरुषः।। श्रवु०—यङ्कुकोः, विका अभ्यासस्य, अङ्गस्य ।। अर्थः — अिकतोऽभ्यासस्य दीर्घो भवति, यक्टि ग्ह्लुिक च परतः ।। उदा०—पापच्यते, पापचीति, यायज्यते, गयजीति ॥

भाषार्थ: - [अकितः] कित्भिन्न अभ्यास को [दीर्घः] दीर्घ होता है, महत्वा यङ्तुक् के परे रहते ।। सिद्धियाँ परि० २।४।७४ तथा ३।१।८२

नीग्वञ्चस्रंसुध्वंसुभ्रंसुकसपतपदस्कन्दाम् ॥७।४।८४॥

नीक् १।१॥ वञ्चुः स्कन्दाम् ६।३॥ स० वञ्चु० इत्यन्नेतरेतर-कि । अनु० — यङ्जुकोः, अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः — वञ्चु, स्रंसु, क्षेत्र प्रमासस्य, अङ्गरपासस्य, अङ्गरपा । उत्तर निर्माणमा प्रमासस्य नीगागमो क्षेत्र प्रमासस्य नीगागमो क्षेत्र प्रमासस्य नीगागमो क्षेत्र प्रमासस्य नीगागमो क्षेत्र प्रमासस्य नीगागमो भू प्रसु, कस, पत्ल, पद, स्कान्दर् इत्यतपान न्यास्त्र वनीवस्त्रीति, यिक यङ्लुकि च परतः ॥ उदा०—वनीवच्यते, वनीवस्त्रीति विष्णुकि)। संयु—सनीस्त्रस्यते, सनीस्त्रंसीति। ध्वंयु—दनीध्वंस्यते, सनीस्त्रंसीति। भ्रंयु—वनीभ्रस्यते, बनीभ्रंसीति। भ्रंयु—वनीभ्रस्यते, बनीभ्रंसीति। कस—चनीक्रस्यते, भिक्सीति। पत्—पनीपत्यते, पनीपतीति। पद्—पनीपद्यते, पनी-भीति। स्कन्द्—चनीस्कद्यते, चनीस्कन्द्रीति॥

भाषार्थः—[वब्चुःःस्कन्दाम्] वब्चु, स्रंसु, ध्वंसु, भ्रंसु, कस, पत्ल भाषः विञ्च ः स्कन्दाम् वञ्च, स्रम्, ध्वस्त, श्वस्त, श

के बार [नीक्] नीक् आगम होता है।। सर्वत्र अनिदितां हलः (६।४।४)। इड अनुनासिक छोप यङ् परे रहते हुआ है। यङ्खुक् में तो यह के प्रत्यय के परे न होने से तथा न लुमताङ्गस्य (१।१।६२) से प्रत्यक का भी निषेध हो जाने से अनुनासिक छोप नहीं होता॥

नुगतोऽनुनासिकान्तस्य ॥७।४।८५॥

अड़

गरे

तेवं

स्त्र नुक् १।१॥ अतः ६।१॥ अनुनासिकान्तस्य ६।१॥ स०-अनुनं कोऽन्ते यस्य तद् अनुनासिकान्तम् , तस्य ' 'वहुव्रीहिः ॥ अनु०-यक्को वह अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ श्रर्थः—अनुनासिकान्तस्याङ्गस्य योऽक्रारं हे भ्यासस्तस्य नुगागमो भवति यङि यङ्लुकि च परतः॥ उदाः-त-॥ तन्तन्यते, तन्तनीति । गम्—जङ्गम्यते, जङ्गमीति । यम्-गंग्ने हर् यंयमीति । रम्-रंरम्यते, रंरमीति ॥

भाषार्थः—[ऋनुनासिकान्तस्य] अनुनासिकान्त अङ्ग का जो 🕫 अकारान्त अभ्यास उसको [नुक्] नुक् आगम होता है, क्ष यङ् लुक् परे रहते ।। तन् गम् आदि अनुनासिकान्त अङ्ग हैं ज द्वित्वादि करने पर 'त तन्' रहा। अत्र यहाँ अनुनासिकान अ अकारान्त अभ्यास है, सो नुक् आगम (१।१।४५) हो गया। नुक् आगम अनुस्वार के रूप में होता है, अतः झल् परे नहींने पा यंयम्यते रंग्न्यते आदि में अनुस्वार होता है। पश्चात् प्रानाना वि वक्तव्यम् (वा० ७।४।८५)से पदान्तवत् अतिदेशहोने से जङ्गम्यते म आदि में वा पदान्तस्य (८।४।५८) से विकल्प से परसवण हैं केवल रंदम्यते रंदमीति में रेफ का सवर्ण न होने से परसवर्ण नहीं हुआ

यहाँ से 'नुक्' की अनुवृत्ति ७।४।८७ तक जायेगी।।

जपजभद्हद्शभञ्जपशां च ॥७।४।८६॥

जपजभद्हद्शभञ्जपशाम् ६।३॥ च अ०॥ स०—जप० हर्त तरद्वन्द्वः ॥ अनु०—नुक , यङ्लुकोः, अभ्यासस्य, अङ्गर्या जप व्यक्तायां वाचि, जभी गात्रविनामे, दह भस्मीकरणे, दंश विकेश आमद्ने, पश (सौत्रो धातुः) इत्येतेषामभ्यासस्य तुगागमी भविष्य यङ्लुकि च परतः ॥ उत्तर यङ्जुकि च परतः ॥ उदा०—जप-जझप्यते, जझपीति । जम्म

सप्तमोऽध्यायः

354

शिक्षा ब्रुमीति । दह-दन्द्द्यते, दन्द्हीति । दंश-दन्दश्यते, दन्द्शीति । मञ्ज-यह् क्सज्यते, बम्भजीति । परा—पम्पश्यते, पम्पशीति ।।

माषार्थः—[जपः पशाम्] जप, जभी, दह, दंश, भञ्ज, पश इन क्यां के अभ्यास को [च] भी नुक् आगम होता है यङ् तथा यङ्लुक् रे रहते ॥ पूर्व सूत्र से अप्राप्त था, विधान कर दिया ॥ दंश धातु का मि में 'द्श' निर्देश यह बताने के लिये किया है कि इसके अनुनासिक अतः ग्रें भी हो जाता है, अतः यङ्लुक् में भी अनुनासिक छोप होगा, बहुत हु परे तो अनिदितां० (६।४।२४) से हो ही जाता ।। जझप्यते आदि अपर शिसिद्ध परि० ३।१।२४ में देखें। आदि की ४ घातुओं को लुपसद० -त-(अशार४) से यङ् , तथा अञ्ज, पदा को घातोरैकाचो सामान्य सूत्र से -वंबन वह होता है।।

चरफलोश्च ॥७।४।८७॥

ि चरफलो: ६।२।। च अ० ।। स०—चरश्च फल् च चरफलौ, तयो: ... ब्ह्न होतरद्वन्द्ः॥ अनु०--नुक्, यङ्लुकोः, अभ्यासस्य, अङ्गस्य॥ अर्थः--हैं ज स फल इत्येतयोरभ्यासस्य नुगागमो भवति यिङ यङ्कुकि च परतः॥ 🌃 गा॰—चञ्चूयते, चब्चुरीति । फल—पम्फुल्यते, पम्फुलीति ॥

मापार्थ:—[चरफलो:] चर गतौ तथा विफला विशर्ण अथवा फल नेपती (फल से यहाँ इन दोनों का प्रहण है) अङ्ग के अभ्यास की मि भी यङ् तथा यङ् लुक् परे रहते नुक् आगम होता है।। इस्मृर्यते में सिद्धि परि० ३।१।२४ में देखें । तद्वत् पम्फुल्यते में समझें । यङ्बुक् भुष्यत के समान सब काये होकर तथा १८ (२०००) से कि चूबुरीति बना। हल् परे न होने से यहाँ हिल च (८।२।७७) से वैषं नहीं हुआ।।

यहाँ से 'चरफलो:' की अनुवृत्ति ७।४।८६ तक जायेगी।।

उत्परस्यातः ॥७।४।८८॥

क्त्शिशा परस्य ६।१॥ अतः ६।१॥ अनु०—चरफलोः, यङ्कुकोः, भारता परस्य ६।१।। अतः ६।१।। अनु०—परमञ्जा, परस्य १।१।। अर्थः—चर, फल इत्येतयोरभ्यासात् परस्य भारता ।। अर्थः—चर, फल इत्येतयोरभ्यासात् परस्य भारत, अङ्गस्य ।। अर्थः—चर, फल इत्यतयारम्याः भारत स्थाने उकारादेशो भवति, यङि यङ्कुकि च परतः ॥ उदा०— अर्था, चञ्चुरीति । पम्फुल्यते, पम्फुलीति ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

[क् गहः]

STATE OF

THE !

भाषार्थः—चर तथा फल धातुओं के अभ्यास से [पास] के [आतः] अकार उसके स्थान में [जत्] उकारादेश यङ् तथा यङ्क्षा रहते होता है ॥ 'च चर् य' यहाँ अभ्यास से उत्तर 'च' का अहै है हिंदि होता है ॥ भाषा भाषा से उत्तर 'च' का अहै है हिंदि होता है ।।

यहाँ से 'उत् अतः' की अनुवृत्ति ७।४।८६ तक जायेगी॥

ति च ॥ ७। ४। ८९॥

तेपा

育

ति ७।१॥ च अ०॥ श्रनु०—उत् , अतः, चरफलेः, अतः। श्रर्थः—तकारादौ प्रत्यये च परतश्चरफलोरकारस्य स्थाने उन्नार्थः भवति ॥ उदा०—चूर्त्तिः । प्रफुल्तिः । प्रफुल्ताः सुमनसः॥

भाषार्थः — [ति] तकारादि प्रत्यय परे रहते [च] भी चरत्यात । अङ्ग के अकार के स्थान में उकारादेश होता है।। 'यह जुकी ते अम्यासस्य' की अनुवृत्ति का सम्बन्ध यहाँ सूत्र के वचनसामर्थं नहीं लगता, क्योंकि यङ् तथा यङ्जुक् के तकारादि प्रत्यय परे के सूत्र से ही सिद्ध था।। चूर्त्तिः में क्तिन् प्रत्यय हिल च (८१४४०) से त् को द्वित्व हुआ है। प्रकृताः के बहुवचन स्त्रीलिङ्ग का रूप है।।

रीगृदुपधस्य च ॥७।४।९०॥

रीक् १।१॥ ऋदुपधस्य ६।१॥ च अः।। सः —ऋकार व्यवा कि तद् ऋदुपधम् तस्यः 'बहुव्रीहिः ॥ अनुः —यङ् लुकोः, अभ्याकः अङ्गस्य ॥ अर्थः —ऋकारोपधस्याङ्गस्य योऽभ्यासस्तस्य रीगाणो कि यङ् लुकि च परतः ॥ उदाः — वृतु —वरीवृत्यते, वरीवृधीति । नृती — नरीनृत्यते, नरीनृतीिति ॥

भाषार्थः—[ऋदुपधस्य] ऋकार उपधा वाले अङ्ग के अभाषार्थः [च] भी यङ् यङ्लुक् में [रीक्] रीक् आगम होता है ॥ वृत्र वृत्र विक्रिक्ष कि अभाषा कि अङ्ग के अभाषा कि विक्रिक्ष कि अप्राप्त कि अगम होता है ॥ वृत्र वृत्र विक्रिक्ष कि अगम होता है ॥ वृत्र वृत्र विक्रिक्ष कि अगम होता है ॥ वृत्र वृत्र विक्रिक्ष कि अगम हो विक्रिक्ष कि अगम हो विक्रिक्ष कि अगमित विक्र कि अगमित विक्रिक्ष कि अगमित विक्र कि अगमित विक्रिक्ष कि अगमित विक्र कि अगमित वि

यहाँ से 'ऋदुपघस्य' की अनुवृत्ति ७।४।६१ तक तथा भी ७।४।९२ तक जायेगी।।

रुग्रिको च लुकि ॥७।४।९१॥

[स्रोगहः]

ग्रेश

त्या त

ते.' त ामर्थ ।

2 (55)

ताः हो

भ्यास

ोक्स

कृषिको १।२।। च अ०।। लुकि ७।१।। स०—रुप्रिकावित्यत्रेतरेतर-हैं हैं हैं ।। अनु०—रीक्, ऋदुपधस्य, अभ्यासस्य, अङ्गस्य ।। अर्थः —ऋका-विध्याङ्गस्य योऽभ्यासस्तस्य रुप्रिकावागमौ भवतः चकाराद्रीक् च क्तुकि ।। उदा० — रुक् — नर्नेत्ति । रिक् — नरिनत्ति । रीक् — नरीनर्ति । वीत, वरिवर्त्ति, वरीवर्त्ति ।।

मापार्थ:-ऋकार उपधा वाले अङ्ग के अभ्यास को [रुपिकौ] रुक् अक्त कि तथा [च] चकार से रीक् आगम होते हैं, [लुकि] यङ्लुक् में।। क्षा हैं 'तुकि' प्रहण से यङ्तुक् में ही होता है, यङ परे नहीं।। रुक् का क् मात्र शेष रहेगा ।।

यहाँ से 'रुपिकौ लुकि' की अनुवृत्ति ०।४।६२ तक जायेगी।।

ऋतश्र ॥७।४।९२॥

रेतेत ऋतः ६।१।। च अः ।। अनुः – रुप्रिकौ लुकि, रीक्, अभ्यासस्य, क्त्य॥ त्रर्थः - ऋकारान्तस्याङ्गस्य योऽभ्यासस्तस्य रुक् रिक् रीक् ली आगमा भवन्ति यङ्लुकि ।। उदा०—क्र-चर्कत्तं, चरिकत्तिं, गौकित्ति । ह्र-जर्देत्ति, जिरहित्ति, जरीहिति ॥

भाषार्थ:-[ऋतः] ऋकारान्त अङ्ग के अभ्यास को [च] भी रक् मा कित्या रीक् का आगम यङ् लुक् होने पर होता है।।

सन्बल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे ॥७।४।९३॥

सन्यत् अ०॥ लघुनि ७।१॥ चङ्परे ७।१॥ अनग्लोपे ७।१॥ स०— क्षो यस्मात् तञ्चङ्परं तस्मिन् " बहुव्रीहिः । अको छोपः अग्छोपः, भारत त्यङ्पर तास्मन् अष्टुआएर । वित्युरुषः। नास्ति अग्लोपो यस्मिन् तद्नग्लोपम् , तस्मिन् ''बहु-अनु - अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः - चङ्परे णौ परतो कि तथा योऽभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ अवन् वर्षः भवति छपुनि धात्वक्षरे भारति वार्डभ्यासस्तस्य सनीव काय भवात ल्युः भारति हर्गेकोपे ।। उदा०—सन्यत इत्युक्तं चङ्परेऽपि भवति तथा-भिक्रत्, अपीपचत् । श्रोः पुयराज्यपरे (७।४।८०) इत्युक्तं चङ्-हित्र तथा-अपीपचत् । त्रोः पुयराज्यपरं (७।४।८०) रूप्यातिस्युक्तं । स्वतिशृणोतीत्युक्तं पि तथा-अपीपवत्, अछीलवत्। स्वातर्थाः अजीलवत्। स्वातर्थाः अछीलवत्। स्वातर्थाः अध्यान्यः । अशिश्वत्, अध्यान्यः । अशिश्वत्, अध्यान्यः ।

[7g 10 अद्द्रवत् , अदुद्रवत् । अपिश्वत् , अपुप्रवत् । अपिष्ठवत् , अपुष्क अचिच्यवत् , अचुच्यवत् ॥

भाषार्थ:—[चड्परे] चड् परे है जिससे ऐसे णि के परे हो। अङ्ग उसके अभ्यास को [लघुनि] छंघु धात्वक्षर परे रहते कि सन् के समान कार्य होता है यदि अङ्ग के [अनग्लोपे] अक् (प्रलाह) का छोप न हुआ हो तो ॥ 'सन् के समान कार्य होता है' अर्थात्सन (७।४।७९) इत्यादि से जो कार्य सन् के परे रहते कहा है वह यहँ म परक णि परे रहते अभ्यास को भी अतिदिष्ट हो जाये। सन्यतः हत से अभ्यास को इत्त्व कहा है वही यहाँ हो जाता है।। सिद्धियाँ की री४।१०, ६।१।११ आदि में देखें। 'अप पच् अत्' इस अवसा अभ्यास से परे 'प' का अ छघु धात्वक्षर है, तथा चङ्परे प्रत्यक से चङ्परक णि परे है सो अध्यास को सन्वत् अतिहेश के इत्व हो गया। यहाँ सर्वत्र ही लघु धात्वक्षर तथा अभ्यास के महा पक वर्ण का (प् आदि का) व्यवधान रहते हुये भी वचनसामधी कार्य हो जाता है।। चङ् णिच् में ही सम्भव है अतः यहाँ कि णि' कहा है।।

असिस्नवत् आदि में स्रवतिशृणोति (७।४।८१) से विकल्प से ह विधान होने के कारण यहाँ भी विकल्प हुआ है। सिद्धि प्रकार हा एक जैसा है।। स्नुको स्नाव् इ वृद्धि एवं हुस्व तथा स्थानिकत् होत्रा स्रव्द्वित्वादि हुये हैं।।

यहाँ से 'लवुनि अनग्लोपे' की अनुवृत्ति ७।४।६४ तक तथा कि की ७।४।९७ तक जायेगी।।

नि ६ जी

दीर्घः १।१॥ लघोः ६।१॥ अनुः—लघुनि च्रूपरेऽनालेपे, अस् , अङ्गस्य ॥ अर्थः—— सस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थ:—लघुनि धात्वक्षरे परतो लघोरभ्यास्य । भवति चङ्परे दन्न भवति चङ्परेऽनग्लोपे ॥ उदा०—अचीकरत्, अजीहरत्, अलीहरत्। अपीपचत् ॥

भाषार्थ:—चङ्परक णि परे रहते जो अङ्ग उसके लिबी। हैं।। अभ्यास को लघु धात्वक्षर परे रहते जो अङ्ग उसके [लगण है अभ्यास को लघु धात्वक्षर परे रहते [दीर्घः] दीर्घ होता है। पूर्ववत् करके टीर्घ के का

पूर्ववत् करके दीर्घ हो जायेगा।।

अत् स्मृद्दवरप्रथम्रदस्तृस्पशाम् ॥७।४।९५॥

[बहुन बहुः]

पुजन

त मध्ये ।मर्घ ह

'चङ्गा

अत् १।१।। स्मृः ''स्पशाम् ६।३।। स० स्मृ० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः।। क्षां मा चार्यो, अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः स्मृ चिन्तायाम्, द् मि में जिल्ला संभ्रमें, प्रथ प्रख्याने, भ्रद मद्ने, स्तूच् आच्छादने, प्रताह हा वाधनस्पर्शनयोः इत्येतेषामभ्यासस्य अकारादेशो भवति चङ्परे त् विका विषयतः ॥ उदा० – स्मृ-असस्मरत् । दू-अददरत् । त्वर-अतत्वरत् । वहाँ 🕫 अगप्रथत् । स्रद्-अमस्रदत् । स्तू-अतस्तरत् । स्पश-अपस्पशत् ॥

: इल र्यं 🖟 भाषार्थः — [स्मृः स्पशाम्] स्मृ, दॄ, वित्वरा, प्रथ, म्रद, स्तृव्, अवसा सा इन अङ्गों के अभ्यास को चङ्परक णि परे रहते [अत्] अकारा विश्वास होता है।। सन्वल्लघुनि । से सन्वद्भाव होने से सन्यतः से इस्व की क्ष भी थी, अकारादेश विधान कर दिया।।

यहाँ से 'श्रत्' की अनुवृत्ति ७।४।६७ तक जायेगी।।

विभाषा वेष्टिचेष्ट्योः ॥७।४।९६॥

विमाषा १।१॥ वेष्टिचेष्ट्योः ६।२॥ स०—वेष्टि॰ इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ महेड रि॰-अत्, चङ्परे, अभ्यासस्य, अङ्गस्य ।। अर्थः-वेष्ट वेष्टने, चेष्ट र हां शियाम् इत्येतयोरभ्यासस्य विभाषा अकारादेशो भवति चङ्परे णौ होत्रा । जदाः — अववेष्टत् , अविवेष्टत् । अचचेष्टत् , अचिचेष्टत् ॥

गावार्थ:-[वेष्टिचेध्योः] वेष्ट तथा चेष्ट अङ्ग के अभ्यास को चङ् किण परे रहते [विभाषा] विकल्प से अकारादेश होता है।। इन खिंग के अभ्यास से परे छघु धात्वक्षर (१।४।१०) परे नहीं है, अतः निद्माव (७।४।६३) से इत्व प्राप्त ही नहीं था, विकल्प से यहाँ अत्व को से पक्ष में अभ्यास के एकार को हस्वः (७।४।५९) से कि होकर इकार जाता है।। रेखा।

ई च गणः ॥७।४।९७॥

है ख्राप्रथमान्तिनिर्देशः ॥ च अ०॥ गणः ६।१॥ श्रानु०—अत्, ्रित्रियमान्तिनिर्देशः ॥ च अ०॥ गणः ६।४॥ अउ भारति, अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः— गणेरभ्यासस्येकारादेशो भवति भिष्मि चङ्परे णौ परतः ॥ उदाट — अजीगणत्, अजगणत्॥

भाषार्थः—[गर्णः] गण धातु के अभ्यास को [ई] ईकारोत्ता तथा चकार से अकारादेश भी होता है, चङ्परक णि परे रहो॥ प्रकार दो पक्ष बनेंगे।।

गण घातु चुरादि गण में अदन्त पढ़ी है, सो इसके अकार कार लोपः (६।४।४८) से छोप होने के कारण अग्छोपी यह अङ्ग है, ह इसके अभ्यास को सन्वद्भाव होकर इत्व ए दीघों लघोः से की प्राप्त नहीं था, ईकारादेश कर दिया, तथा पर्याय से अत् भी कि कर दिया।।

॥ इति सप्तमोऽध्यायः॥



अथ अष्टमोऽध्यायः

[16

दिश[र ते॥ ह

(वार

क्रिक्स

ी कि

प्रथमः पादः

सर्वस्य हे ॥८।१।१॥

सर्वस्य ६।१।। द्वे १।२।। अर्थः — अधिकारोऽयम् । इत उत्तरं यद्वत्त्यामः सर्वत्यतः प्राक्, तत्र सर्वस्य द्वे भवत इत्येवं तद्वेदितव्यम् ॥ वक्ष्यिति सर्वीसयोः (८।१।४) तत्र सर्वस्य स्थाने द्वे भवतः ॥ उदाः — पचिति वि सि । प्रामो प्रामो रमणीयः ॥

भाषार्थः —यह अधिकार सूत्र है, पदस्य (८।१।१६) से पहले-पहले क्षेणा। यहाँ से आगे पदस्य से पहले-पहले जो भी कहेंगे वहाँ किंखें। सबके स्थान में [द्वे] द्वित्व होता है, ऐसा अर्थ होता जायेगा।। मिलियवीप्सयोः (८।१।४) आगे कहेंगे सो वहाँ अर्थ होगा "नित्यता मिलिया अर्थ में (सर्वस्य) सबको (द्वे) द्वित्व हो"।।

तस्य परमाम्रेडितम् ॥८।१।२॥

तस्य ६।१॥ परम् १।१॥ आम्रेडितम् १।१॥ त्रर्थः—तस्य द्विरुक्तस्य भाराब्दरूपं तदाम्रेडितसंज्ञं भवति ॥ उदा०—चौर चौर ३, र्युषठ-भि ३, दस्यो दस्यो ३ घातियष्टयामि त्वा, बन्धियष्यामि त्वा॥

मापार्थ:—[तस्य] उस द्वित्व किये हुये के [परम्] पर वाले (अर्थात् ह्या) शब्द की [श्राम्नेडितम्] आम्नेडित संज्ञा होती है।। 'चौर' आदि होष को वाक्यादेराम० (८।१।८) से द्वित्व होकर 'चौर चौर' बना। विपा वाले चौर की आम्नेडित संज्ञा हो जाने से आम्नेडित मर्ताने विश्वादेश से आम्नेडित संज्ञा हो जाने से आम्नेडित मर्ताने विश्वादेश से आम्नेडितसंज्ञक चौर की टि को प्लुत हो गया, इसी प्रकार को जाते,। चौर के 'सु' का एङ्ह्स्वात्० (६।१।६७) से छोप होकर कि है।। एवं दस्यो दस्यो ३ में हस्वस्य गुगाः (७।३।१०८) से गुण

भू से 'श्रामेडितम्' की अनुवृत्ति ८।१।३ तक जायेगी॥'

अनुदात्तं च ॥८।१।३॥

不可

अनुदात्तम् १।१।। च अ०।। ऋनु०—आम्रेडितम्।। ऋष्-क्षे म्रेडितसंइं तद्नुदात्तं च भवति ॥ उदा० - भुङ्क्ते भुङ्क्ते। ह्या र पंशुन् ॥

भाषार्थः—जिसकी आम्रेडित संज्ञा होती है, वह [म्रनुताम] है।।। दात्त [च] भी होता है ॥ नित्यवीप्सयोः से अङ्क्ते आदि में दिनहें। है। भुङ्क्ते की सिद्धि परि० १।३।६४ के प्रयुक्कते के समार्थ मुजोऽनवने (१।३।६६) से यहाँ आत्मनेपद हुआ है। मुज जाती प्रत्यय स्वर से उदात्त हुआ । सतिशिष्टोऽपि विकरणस्वरो लसावेषात्रक न बाधते (वा > ६।१।१५२) से श्नम् को अनुदात्त प्राप्त हुआ, परनुह्ण अदुपदेशहोने से तास्यनुदात्तेन्डिददुपदेशा० (६।१।१८०) से तिंबहा हो गया। सो श्नम् प्रत्यय स्वर से उदात्त हुआ। पश्चात् श्नम् के खातक के छोप होने पर अनुदात्तस्य च० (६।१।१५५) से अनुदात्त ते जान गया। द्वित्व होने के प्रधात् पर भाग में भी यही खर प्राप्त होंग उसकी आम्रेडित संज्ञा होने से सब स्वर हटकर सारा पद अतुराव पश्चात् भु के ड को स्वरित (८।४।६४) एवं अन्य अनुदात्तों को एक है। गई। इसी प्रकार प्रा शब्द अर्जिहाश० (उगा० १।२७) से कु प्रति होने से प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। पर वाला भाग आर्प्रीत है। होने से सारा अनुदात्त हो गया।।

नित्यवीप्सयोः ॥८।१।४॥

नित्यवीप्सयोः ७|२॥ स०—नित्यक्च वीप्सा च नित्यवीप्से कि इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु — सर्वस्य द्वे ॥ अर्थः — नित्ये चार्थे वीपानि यः शब्दो न यः शब्दो वत्तते तस्य सर्वस्य द्वे भवतः ॥ उदा०—िनत्ये-प्विति जल्पति जल्पति । भुक्त्वा २ व्रजति । भोजं २ व्रजिति । अक्ति । भोजं २ व्रजिति । इत्येवमयं लुनाति । वीप्सायाम्-प्रामो २ रमणीयः । जनपदी २ मि पुरुषः पुरुषो निधनसुपैति ॥

माषार्थः—[नित्यवीप्सयोः] नित्यता एवं वीप्सा अर्थ में क्रिक्

उस सम्पूर्ण शब्द को द्वित्व होता है।। तथा कृत् ओ अञ्यय संज्ञक उत्तमें ही होती है, सो उसी प्रकार

480 "

बिदिये हैं। बीप्सा भिन्न २ पदार्थों की किया तथा गुण की व्याप्ति के के साथ कहने की इच्छा को कहते हैं। यथा जनपद २ रमणीय विष्या । यहाँ भिन्न २ जनपदों के रमणीयता गुण को एक साथ कह दिया। म प्रकार वीप्सा सुपों का ही धम है।। श्रामीद्राये सामुल् च म्। हिश्वरिश से उदाहरणों में कत्वा णमुल् तथा क्रियासमिमहारे॰ (३।४।२) द्वित रहनीह में छोट् को 'हि' हुआ है। क्त्वा, णमुळ् क्त्वातोसुन्० (१।१।३९) समार विक्रमेजन्तः (१।१।३८) से अव्ययसंज्ञक तथा कृत्संज्ञक (३।१।९३) वक्त के से से उनको नित्यता अर्थ में द्वित्व हुआ है।।

परेर्वर्जन ॥८।१।५॥

न्तु रहा परेः ६।१॥ वर्जने ७।१॥ श्रमु०—सर्वस्य द्वे ॥ अर्थः परीत्येतस्य ति के विनेट वर्षमानस्य द्वे भवतः ।। उदा०—परि २ त्रिगर्त्तेभ्यो वृष्टो देवः । अवार्ष २ सौवीरेभ्यः । परि २ सर्वसेनेभ्यः ॥

माषार्थः—[वर्जने] वर्जन = छोड़ने अर्थ में वर्त्तमान [परेः] परि वार्ष को द्वित्व होता है।। अपपरी वर्जने (१।४।८७) से 'परि' शब्द की क्ष्मिं क्षेप्रवचनीय संज्ञा होने से पश्चम्यपाङ्० (२।३।१०) से त्रिगर्तीभ्यः मार्ग में पद्धमी हुई है। विभाषा ५५० (२।१।११) से विकल्प से समास हा है, सो असमास पक्ष में ही इस सूत्र से द्विवचन होता है, समास भूमें दित्व नहीं होता ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि समास पक्षु में विवन्त्र पद् नहीं रहता । यहाँ वीएसा अर्थ में द्विवेचन प्राप्त था, विमार्थ सूत्र है।।

त्रसम्रुपोदः पादपूरणे ॥८।१।६॥-

त्रसमुपोदः ६।१॥ पादपूरणे ७।१॥ स०—प्रश्च सम् च उपश्च उत् च असमुपोद्: ६।१।। पाद्पूरणे ७।१।। स०—प्रश्च सम् च ज्या तिसन् । । पाद्स्य पूरणं पाद्पूरणं तिसन् । । पाद्स्य पूरणं पाद्पूरणं तिसन् प्रात् तस्य समाहारद्वन्द्वः । पादस्य पूरण पादपूरण पाद भारती द्विवेचनेन चेत्पादः पूर्यते ॥ उदा० — प्रप्रायमग्निमं रतस्य भिष्य (के णाटा४) । संसमिद्युवसे (ऋ०१०।१६१११) । उपोप मे कि पटि। । संसमिद्युवसे (ऋ० १०१८८।।। कि नोदुंदु हुष्से दात्वा र (ऋ० ४।२१।९)॥ भाषार्थः—[प्रसमुपोदः] प्र, सम्, उप, तथा उत् उपसर्गों को पाद की पूर्त्ति करनी हो (अक्षरादि कम हों तो, पूर्ति करने

श्वा प में) तो द्वित्व हो जाता है।। इस प्रकार का प्रयोग भाषा विषयमें होता, अतः सामर्थ्य से यह सूत्र छन्द में ही प्रवृत्त होगा।।

उपर्यध्यधसः सामीप्ये ॥८।१।७॥

à

1

10

(4

T

उपर्येध्यधसः ६।१॥ सामीप्ये ७।१॥ स० उपर्यं० इत्यत्र समह द्दन्द्रः ॥ श्रनु० — सर्वस्य द्वे ॥ अर्थः — उपरि, अघि, अघस् इस्रोतेः भवतः सामीप्ये विवक्षिते ।। उदा०—उपर्युपरि दुःखम्। उपर्युपरि ग्रह्म अध्यधि ग्रामम् । अधोऽधो नगरम् ।।

भाषार्थः—[उपर्यध्यधसः] उपरि, अधि, अधस् इनको [सार्वे समीपता अर्थ कहना हो तो द्वित्व होता है।। उपर्युपरि आदि में का ब हुआ है। उपर्युपरि दुःखम् अर्थात् अभी २ दुःख का क्षण दूर हुआ उपरि आदि अव्यय शब्द हैं।।

वाक्यादे रामन्त्रितस्यासूयासम्मतिकोपकुत्सन-भर्त्सनेषु ॥८।१।८॥

वाक्यादेः ६।१।। आमन्त्रितस्य ६।१।। असूयाः 'भर्त्सनेषु ^{७।३॥ ह} वाक्यस्य आदिः वाक्यादिस्तस्यः ' 'षष्टीतत्पुरुषः । असूया च समानि इ कोपश्च कुत्सनक्च भत्सेनक्च असूया ''नानि, तेषु ' इतरेतरहर श्रुनु - सर्वस्य द्वे ।। श्रर्थः - वाक्यादेरामन्त्रितस्य द्वे भवतः, सम्मित्र, कोप, कुत्सन, भत्सन इत्येतेषु गम्यमानेषु यदि व भवति ॥ उदा०—असूया—माणवकं ३ माणवक अभिरूपकं रूपक रिक्तं ते आभिरूप्यम्। सम्मतौ—माणवकं ३ माणवक्र अभिरूष अभिरूपक शोभनः खल्वसि । कोपे — माणवक र माणवक अविकि अविनीतक इदानीं ज्ञास्यसि जाल्म । कुत्सने-शक्तिके व शक्ति यष्टिके रिक्ता ते शक्तिः। भत्सने—चौर चौर ३ वृष्ठ हुन घातयिष्यामि त्वा बन्धयिष्यामि त्वा ॥

भाषार्थः—[वाक्यादेः] वाक्य के आदि के श्रापिकारी आमन्त्रित को द्वित्व होता है, यदि वाक्य से श्रिमूया तिने हैं। सम्मति, कोए सम्मति, कोप, कुत्सन, भत्सन गम्यमान हो रहा हो ते॥ हैं। गुणों को भी न सहन करने को असूया, सत्कार को सम्मिति, हैं। कोप, निन्दा को करने को असूया, सत्कार को सम्मिति, कोप, निन्दा को कुत्सन, तथा डराने भमकाने को भत्सन कहते हैं।

[शक्त पादः]

य में ह

रे प्राप्त्

हुआ है।

अर्द तहान

3 36

महारा

वर्गान गिष्टि

वृष्ट

FRON

38

東海

蒙川

हदाहरणों में माणवक आदि शब्द आमन्त्रित (२।३।४८) एवं वाक्य क्षादि में स्थित हैं सो द्वित्व हो गया है, वाक्य से असूयादि अर्थों की प्रतीति ही ही है।। सर्वत्र अस्यादि अर्थों में द्वित्व किये हुये पूर्व वाले पद के सरितमाम्रेडिते॰ (८।२।१०३) से प्लुत स्वरित होता है, केवल भत्सन समाह अर्थ में आम्रेडितं भर्त्सने (८।२।९५) से पर वाले पद = आम्रेडित को लिते जुत उदात्त हुआ है, सो उदाहरणों में दर्शा दिया है।।

एकं बहुत्रीहिवत् ॥८।१।९॥

एकम् १।१।। बहुत्रीहिवत् अ०।। बहुत्रीहेरिवेति बहुत्रीहिवत्।। सामार्थ वकं वर्षः हिरुक्तमेकिमत्येतच्छब्द्रूपं बहुवीहिवद् भवति ॥ बहुवीहिवद्भ-गय प्रयोजनं — सुव्लोपपुंवद्भावौ ॥ उदा० — एकैकमक्षरं पठित । फैक्याऽहत्या जुहोति।।

गापार्थः—द्वित्व किये हुये [एकम्] एक शब्द को [बहुबीहिवत्] इब्रीहि के समान कार्य हो जाता है।। एकैकम् यहाँ वीप्सा अर्थ (८११४) में द्वित्व होकर बहुव्रीहिवद्भाव होने से 'एकम् एकम्' यहाँ जो मिनिक थी उसका सुपो घातु० (२।४।७१) से लुक् हो गया। पश्चात् समार्थ हिंदू एकादेश (६।१।८५) करके एकैक से 'सु' आया उसको अतोऽम् पहिं (जरारिश) से अम् होकर एकैकम् बन गया । स्त्रीलिङ्ग में एकैकया यहाँ भी इसी प्रकार एकया एकया में विभक्ति लुक् करके 'एका एकया' रहा, वियाः पुंबद् (६।३।३२) से पुंबद्भाव होकर एकएकया बना । व्युद्धि कादेश करके एकैकया (३।१) बन गया।।

यहाँ से 'बहुत्रीहिवत्' की अनुवृत्ति ८।१।१० तक जायेगी ॥

आबाघे च ।।८।१।१०॥

आबाचे ७।१॥ च अ० ॥ अनु० —बहुद्रीहिवत् , सर्वस्य द्वे ॥ आबा-क्तिवाधः = पीडा । भावे (३।३।१८) इत्यनेनात्र घर्वे ।। अर्थः—आबाघे क्षित्रस्य द्वे भवतो बहुव्रीहिवचास्य कार्य भवति ॥ उदा०—गतगतः, क्षित्रहः, प्रतितपतितः । गतगता, नष्टनष्टा, प्रतितपतिता ॥

भाषार्थः [आबाधे] आबाध = पीडा अर्थ में वर्त्तमान शब्द को [च] भे दिल होता है, तथा उस शब्द को बहुव्रीहिवत् कार्य भी होता है। भिन्त बहुबीहिवत् करने के प्रयोजन हैं।।

Rip 9 कोई अपने प्रिय के चले जाने पर पीड़ित = दुखित हुआहुआहुआ में कहता है 'गतगतः = चला गया, नष्टनष्टः = नष्ट हो गया से से यहाँ आबाध अर्थ है। इस प्रकार प्रयोक्ता के कथन से यहाँ आवा की प्रतीति है।। गतगतः आदि सें सुप् छोप तथा गतगता का ं सुप् छोप एवं पुंबद्धाव दोनों हुये हैं।।

कर्मधारयवदुत्तरेषु ॥८।१।११॥

त्त

कर्मधारयवत् अ० ॥ उत्तरेषु ७।३॥ श्रर्थः — इत उत्तरेषु द्विति ह कर्मधारयवत् कार्यं भवतीति वेदितव्यम्।। कर्मधारयस्य इव क्रांशालाक कर्मधारयवत्वे प्रयोजनं —सुब्लोपपुंवद्भावान्तोदात्तर्वा उदा०—सुब्लोपः—पटुपदुः, मृदुमृदुः, पण्डितपण्डितः। पुंत्रकः पदुपट्वी, मृदुमृद्वी, कालककालिका। अन्तोदात्तलम्-पुष्ट पुडुपट्वी ॥

भाषार्थः — यहाँ से [उत्तरेषु] आगे द्विवचन करने में [कर्मधालां] कर्मधारय समास के समान कार्य होते हैं, ऐसा जानना चाहिंगे। इ कार्यातिदेश है।। कर्मधारयवत् करने का प्रयोजन-सुब्बेष् प्रसा तथा अन्तोदात्तत्व है। सुप् का लोप तथा पुंबद्भाव पूर्ववत् है। गुण्वचनात् (४।१।४४) से पट्वी मृद्वी शब्दों में डीष् हुआ है, पूर्वी में उसी की निवृत्ति पुंबद्भाव करने से होकर पटु मृदु शब है कारकेकालिका यहाँ न कोपघायाः (६।३।३५) से पुंबद्धाव का प्रति प्राप्त था, कर्मधारयवत्त्व होने से पुंवत् कर्मधारय॰ (६।३।४०) से पुंचत् हो गया तो प्राप्त हो गया तो पूर्वपद वाले कालिका के टाप् एवंति मित्तक इकार के कि होकर कालककालिका बन गया । काला शब्द से प्राणिवालः (प्रिकेट) के के उत्तर के प्राणिवालः से क, केऽए: (७।४।१३) से हस्वत्व एवं प्रत्ययस्थात्० (०।३।४४) से हिस्तत्व एवं प्रत्ययस्थात्० (०।३।४४) से हिस्तत्व होकर कालिका शब्द बना है, उसीको पुंवद्भाव हो गया। अलोकि समासस्य १ (६।१।२१७) के समासस्य (६।१।२१७) से कर्मधारयवत् मानने से होता है। च (८।१।३) से आम्रेडित को अनुदात्त प्राप्त था, कर्मघारवर्त,

१. इस सूत्र को कार्यातिदेश मानने पर समासस्य का बावक अवुद्धि । से अनुदात्त ही होना चानि परत्व से अनुदात्त हो होना चाहिये, अतः इसी सूत्र से समास के कार्वा विधान भी महनना चाहिये। शास्त्रातिदेशः पक्ष में तो समास हो जायेगी

अष्टमोऽध्यायः

442.

अकि इत होकर समास अन्तोदात्तत्व ही हुआ।। प्रकारे गुरा० (८।१।१२) में में सर्वत्र द्वित्व हुआ है ।।

यहाँ से 'कर्मधारयवत्' की अनुवृत्ति ८।१।१५ तक जायेगी।। प्रकारे गुणवचनस्य ॥८।१।१२॥

प्रकारे ७।१॥ गुणवचनस्य ६।१॥ स०—गुणमुक्तवान् गुणवचन-त्रायः तत्पुरुषः ॥ अनु०—कमधारयवत् , सर्वस्य द्वे॥ अर्थः—प्रकारे द्विनंत वर्गानस्य गुणवचनस्य द्वे भवतः, कर्मधारयवत् चास्य कार्यं भवति। क्षंशा कारः साहश्यमिह गृहाते ।। *उदा* - प<u>दुपदुः, मृदुमृदुः, पण्डितप</u>ण्डितः।। तला माषार्थः — [प्रकारे] प्रकार अर्थ में वृत्तमान [गुरावचनस्य] गुणवचन क्या को द्वित्व होता है, और उसे कर्मधारयवत् कार्य भी होता है॥ न्यु महस्य अर्थ वाले 'प्रकार' का यहाँ प्रहण है, सो पटुपटु का अर्थ है, छ कम पदु गुण वाला, अर्थात् यहाँ पूर्ण पदु की अपेक्षा से किसी में आला अ न्यूनता दिखाकर प्रकार = सादृश्य (उपमा) कहा जा रहा है। मृदु-वे । ब छु को अर्थ होगा परिपूर्ण मृदुवाले की अपेक्षा से कुछ कम मृदु गुण ज़्ह्म का, सो सबमें ऐसा ही जानें।। पूर्व सूत्र से कर्मधारयवत् होने से पूर्व-म् अन्तोदात्तत्व अनुदात्तं च (८।१।३) का बाधक हो जायेगा।।

अकुच्छ्रे प्रियसुखयोरन्यतरस्याम् ॥८।१।१३॥

अकृच्छ्रे ७।१।। प्रियसुखयोः ६।२।। अन्यतरस्याम् ७।१।। स० – न कृच्छ्रो-किष्णुसासिन् ' 'नव्यतत्पुरुषः । प्रियद्य सुखद्य प्रियसुखे तयोः' 'इतरेतर-कि । अनु कर्मधारयवत् , सर्वस्य द्वे ॥ अर्थः - प्रिय मुख इत्येतयी-किया चोत्येऽन्यतरस्यां द्वे भवतः, कर्मधारयवश्चास्य कार्य भवति॥ विक्रियप्रियेण द्दाति, सुखसुखेन द्दाति। पक्षे—प्रियेण द्दाति,

भाषार्थः—[प्रियसुखयोः] प्रिय तथा सुख शब्दों को [अङ्ब्ल्ले]
प्रिक्त (कष्ट न होना) अर्थ द्योत्य हो तो [अन्यतरस्याम्] विकल्प
होता है। एवं कर्मधारयवत् कार्य उसको (द्वित्व किये हुये होता है। 'प्रियप्रियेण द्दाति' का अर्थ है, अत्यन्त निर्धन होने भिन्न है। 'प्रियप्रियेण द्दाति' का अथ ह, अत्यन्त सिल-भिन्न' के वस्तु अनायास प्रसन्नता से दे देता है। इसी प्रकार 'सुल-भिन्न वस्तु अनायास प्रसन्नता से दे दता ह। रूप समझें, यही यहाँ अकुच्छ्र है।। प्रियेण, सुलेन वृतीयान्त

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

आयह

[FF 115:]

आहे

, पूर्व व हिंगी

输

[解] शब्दों को द्वित्व करने पर कर्मधारयवत् होने से सुप् का लुक् हो का भारता प्राप्त । पुनः तद्न्त शब्द से तृतीया एकवचन 'टा' आक्र है। इ त्रियेण, सुखसुखेन बन गया।।

यथास्वे यथायथम् ॥८।१।१४॥

gt 58

Ę

Di

1

यथास्वे ७।१॥ यथायथम् १।१॥ स०—यो यः स्वो वयातः तस्मिन् । यथाऽसादृश्ये (२।१।७) इति वीप्सायामन्ययीभावसमाह स्वशब्दो ह्यत्रात्मवचनः, आत्मीयवचनो वा।। श्रनुः कर्मधारम् सर्वस्य द्वे ॥ अर्थः - यथास्वे ८र्थे यथायथमिति निपात्यते, कर्मशारका कार्य भवति । यथाशब्दस्य द्विवचनं नपुंसकिङ्कता च निपनं भवति । नपुंसकिङ्कतया हस्वो नपुंसके० (१।२।४७) इत्यनेन ह उदा - ज्ञाताः सर्वे पदार्था यथायथम् । सर्वेषां तु यथायथम्॥

माषार्थः— [यथास्वे] यथास्वम् अर्थे में [यथायथम्] यशन्ति शब्द निपातन है, तथा कर्मधारयवत् काये भी इसे होता है। याह्म को द्विवचन तथा नपुंसकिलङ्गता निपातन से होती है, नपुंसकी म होने से हस्वो नपुंसके० से हस्व होकर यथायथम् बनेगा॥

यथास्वे में 'स्व' शब्द आत्मा (वस्तु का अपना स्वभाव) का आत्मीय (उसकी अपनी स्वाभाविकता) अर्थ का वाचक है। बार् पदार्थाः यथायथम् का अर्थ है "मैंने सब पदार्थों के उनके अपने हैं। को जान लिया है"। सर्वेषां तु यथायथम् = अर्थात् सब की आलीका स्वाभाविकता को ।। कर्मधारयवत् होने से पूर्ववत् अन्तोदात्तलहोवा

द्रन्द्वं रहस्यमर्यादावचनव्युत्क्रमणयज्ञपात्र-प्रयोगाभिव्यक्तिषु ।।८।१।१५॥

द्वन्द्वम् १।१॥ रहस्यः व्यक्तिषु ७।३॥ स०—यज्ञपात्राणं क्रि यज्ञपात्रप्रयोगः, षष्टीतत्पुरुषः । मर्यादायाः वचनं मर्यादावनं के तत्पुरुषः । रहस्यक्त प्रकार त्रपुरुषः । रहस्यक्र मर्यादावचनक्र व्युत्क्रमणक्र यज्ञपात्रप्रयोगि व्यक्तिश्च रहस्य' 'व्यक्तयस्तेषु' 'इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०-क्रम्पाद्वा सर्वस्य द्वे ॥ अर्थः सर्वस्य द्वे ॥ अर्थः — रहस्य, मर्यादावचन, व्युत्क्रमण, वार्ष अभिव्यक्तिः इत्येतेष्वर्थेषु द्वन्द्वमिति निपात्यते कर्मधार्यवर्त वास [新順]

होवा है।

वतं, हैं

पृथ्इ ,

हो माति॥ द्रन्द्रमित्यत्र द्विश्वरस्य द्विवचनम्, द्विवचने कृते पूर्वपदस्याम्भावः, क्रिक्तरपद्स्य चात्वं निपात्यते ।। उदा०—रहस्ये-द्रन्द्वं मन्त्रयन्ते । मर्यादा-वते-आचतुरं हीमे पश्वो द्रन्द्वं मिथुनायन्ते। माता पुत्रेण पौत्रेण भीत्रेण च मिथुनं गच्छति । व्युत्क्रमणे-द्रन्द्वं व्युत्कान्ताः। यज्ञपात्र-श्योगे-द्वन्द्वं न्यक्ति यज्ञपात्राणि प्रयुनिक्त धीरः। अभिन्यक्ती-द्वन्द्वं वयात् गरदपर्वती, द्रन्द्रं संकर्षणवासुदेवी ।।

समास भाषार्थः—[रहस्यः किषु] रहस्य, मर्यादावचन, व्युत्क्रमण, धारकः क्यात्रप्रयोग अभिवयक्ति इन अर्थों में [द्वन्द्वम्] द्वन्द्वम् यह शब्द रिकार किया में प्रितित है कर्मधारयवत् कार्यभी इसको होता है। द्वि शब्द को किंचन कर लेने के पश्चात् पूर्वपद के इकार को अम् भाव एवं उत्तरपद हैं दें को अत्व तथा नपुंसकत्व यहाँ निपातन है। 'द्वि औ, द्वि औ' सिं स्थिति में कर्मधारयवद्भाव होने से सुप् का लुक् पूर्ववत् हुआ, एवं यशक्तिमातन से अम् भाव एवं अत्व भी होकर द्वन्द्व रहा। नपुंसकछिङ्ग होने ग्यास में इन्द्र शब्द से आये हुये सु को अम् (७।१।२४) होकर द्रन्द्रम् वन पुंसिक गा। कर्मधारयवद्भाव होने से अन्तोदात्तत्व भी यहाँ पूर्ववत् होगा।। इस अर्थात् एकान्त । मर्यादावचन का अर्थ है स्थिति का अनितकमण अब अज्ञमण पृथक् अवस्थिति सेद को कहते हैं। असिव्यक्ति अर्थात् विवास मिल्यम ।। उदा - रहस्य में - द्वन्द्वं मन्त्रयन्ते (दो दो मिल कर परस्पर के का करते हैं)। मर्यादावचन में — आचतुरं हीमे पश्चो द्वन्द्रं मिश्चना-मीका भी (चौथी पीढ़ी तक ये पशु परस्पर मैथुन करते हैं)। माता पुत्रेण प्रियोत्रिण च मिथुनं गच्छति (माता पुत्र-पौत्र-प्रपौत्र से संयुक्त है। व्युत्कमण में हुन्द्रं व्युत्कान्ताः (दो दो वर्गं बना कर चले यज्ञपात्रप्रयोग में—द्रन्द्वं न्यब्चि यज्ञपात्राणि प्रयुत्तिक धीरः भियात्रिश्वाम म—द्वन्द्व न्याक्र प्रशासना वेदि में रखता भीक्षि अर्वाग्बिल = उलटे यज्ञपात्रों को दो दो को इकट्ठा वेदि में रखता अभिन्यक्ति में — द्वन्द्वं नारद्पर्वतौ (नारद् और पवत दोनों का साह-भें)। इन्द्रं संकर्षणवासुदेवी ॥ 知るか

पदस्य ।।८।१।१६॥

Raff पदस्य ६।१॥ अर्थः—प्रागपदान्तादधिकाराद् इतोऽग्रे वद्यमाणानि भाषि पदस्य भवन्तीत्यधिकारो वेदित्वयः॥ उदा०—वक्ष्यिति भवन्तात्याधकारा प्रजन् ॥ विकासि लोपः (८।२।२३) पचन्, यजन् ॥

प्रकृ पर भाषार्थः —यह अधिकार सूत्र है।। अपदान्तस्य मूर्षन्यः (वास्त्रा से पहिले २ अर्थात् ८।३।५४ तक के कहे हुये कार्य [फ्रस्य] मा स्थान में होते हैं, ऐसा अधिकार जानना चाहिये॥ शत प्रत्यक पचन्त् यजन्त् पद् के अन्त संयोग का छोप पचन् यजन् में हुआ

पदात् ॥८।१।१७॥

पदात् ५।१।। अनु०-पदस्य ।। अर्थः-अयमप्यधिकारः म कुत्सने च सुप्यगोत्रादी (८।१।६६) । इतो ऽमे वक्ष्यमाणानि कार्याण पह पद्स्य भवन्ति ।। उदा० — वन्द्यति – आमन्त्रितस्य च (८।१।१६) पर्व वेवदत्त ॥

भाषार्थ: - यह भी अधिकार सूत्र है। कुत्सने च सुप्यगोत्रती कि पहिले २ कहे हुये कार्य [पदात्] पद से उत्तर पद के स्थान में हैं खु हैं, ऐसा अधिकार जानना चाहिये।। पचिस दे वदत्त यहाँ से नी ही पद से उत्तर देवदत्त आमन्त्रित संज्ञक पद को अनुदात्त हुआ है।

अनुदात्तं सर्वमपादादौ ॥८।१।१८॥

黑

M 河

अनुदात्तम् १।१।।सर्वम् १।१।।अपादादौ ७।१।।स०-पादस्य आदिःपाद्ति 如一明 षष्टीतत्पुरुषः । न पादादिरपादादिस्तस्मिन् "नञ्तत्पुरुषः॥ अयमप्यधिकारः तिक्षि चोदात्तवित, (८।१।७१) इत्येतत्पर्यन्तम्। ह उत्तरं यद् वक्ष्यामस्तद् 'अनुदात्तं सर्वमपादादौ' इत्येवं तद् वेदितन्त्री उदाः नवस्यति-आमन्त्रितस्य चेति-पचिस देंवद्नु ॥

भाषार्थ: - यह भी अधिकार सूत्र है, तिङ चोदात्तवित (दाश्री) तक जार्येगा। यहाँ से आगे जो कुछ कहेंगे वहाँ [अपादादी] परि आदि में न हो तो [सर्वम्] सारा [अनुदात्तम्] अनुदात्त होता है। अधिकार बैठता जायेगा ।। पाद से यहाँ ऋचा का अथवा कि पाद गृहीत है सो 'उसके आदि में न हो तो' ऐसा अर्थ होगा। वि देवद्त् यहाँ सम्पूर्ण आमन्त्रित संज्ञक को (२।३।४८) अनुहात है है, क्योंकि कर करा है, क्योंकि इस सूत्र का श्रामन्त्रितस्य च में अधिकार है।

आमन्त्रितस्य च ॥८।११९॥
आमन्त्रितस्य ६।१॥ च अ०॥ अनु०—अनुदातं सर्वमापदाही
पदात्, पर्दस्य॥ अर्थः—पदात् परस्यामन्त्रितस्य पदस्यापदाही

R.] श्रास्य सर्वस्यानुद्।त्तो अवति ।। उदा०-पचिस दे<u>वदत्त</u> । पचिस 📿 | जिल्ला ||

माषार्थः पद से उत्तर [श्रामुन्त्रितस्य] आमन्त्रित संज्ञक सम्पूर्ण हके [च] भी पाद के आदि में वर्त्तमान न हो तो अनुदात्त होता ॥ बामन्त्रितस्य च (६।१।१६२) से आद्युदात्त प्राप्त था, निघात ब्रह्मि ॥ सामन्त्रितम् (२।३।४८) से आमन्त्रित संज्ञा होती है ॥

गुमदरमदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वान्नावौ ॥८।१।२०॥

युष्मदस्मदोः ६।२।। षष्टीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः ६।२।। वान्नावौ १।२। ान्युष्मद् च अस्मद् च युष्मद्स्मदौ तयोः 'इतरेतरद्वन्द्वः। षष्ठी च मुर्यो च द्वितीया च षष्टीचतुर्थीद्वितीयाः, तासु यौ तिष्ठतस्तौ षष्टीचतुर्थी-वियास्यौ तयोः 'इतरेतरद्वन्द्वगर्भतत्पुरुषः। वाम् च नौ च वान्नावौ, होताद्वन्द्वः ॥ अनु - अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात् , पदस्य ॥ र्शः - पदादुत्तरयोः षष्टीचतुर्थीद्वितीयास्थयोरपादादौ वर्त्तमानयोर्युष्मद्-पदयोर्यथासङ्ख्यं वाम् नौ इत्येतावादेशौ भवतोऽनुदात्तौ च तौ काः॥ उदा० - षष्टी-प्रामो वां स्वम् । जनपदो नौ स्वम् । चतुर्थी-भो गं दीयते । जनपदौ नौ दीयते । द्वितीया-प्रामो वां पश्यति । प्रामो विष्रयति ॥

माषार्थः—पद से उत्तर [षष्ठी ''स्थयोः] षष्ठी विभक्ति में स्थित भात पष्ट्यन्त, चतुर्थ्यन्त तथा द्वितीयान्त जो अपादादि में वर्त्तमान प्रमान में क्रमशः युष्यन्त तथा । द्वतायान्त सम्पूर्ण के स्थान में क्रमशः वाम् तथा नी आदेश होते हैं, एवं उन आदेशों को अनुदात्त है। युष्मद् असमद् के षष्टी चतुर्थी द्वितीया के बहुवचन, भारत में अन्य आदेश कहेंगे, अतः ये आदेश द्विचन में जानते किया जिल्ला कहा कहा अतः च जाउँ की मिल्कियत है) भारते नी स्वम् (जनपद् हम दोनों की मिल्कियत है)। प्रामी वा भिम् तम् (जनपद् इम द्रांना का । भारकार है। जनपद्रो नौ दीयते (जन-हिंस दोनों के लिये दिया जाता है) । श्रामी वां पश्यति (श्राम तुम भी के देखता है। शामा ना पर्यात है। शामा ना पर्यात है। ॥

श्री के वेखता है। शामो नौ पर्यति (शाम हम दोनों को देखता है)॥

श्री भाग क भिष्मिम या जनपद से उत्तर आदेश हुये हैं। षष्टी में युवयोः, आवयोः, चतुर्थी में युवाभ्याम्, आवाभ्याम्, तथा द्वितीया में क्र आवाम् के स्थान में ये आदेश क्रमशः हुये हैं।।

यहाँ से 'युष्मदस्मदोः षष्ठीचतूर्थीद्वितीयास्ययोः' की अताः ख ८।१।२६ तक जायेगी।।

बहुवचनस्य वस्नसौ ॥८।१।२१॥

和原

712

बहुवचनस्य ६।१।। वस्तसौ १।२।। स०—वश्च नश्च वस्तसौ, होर द्वन्द्वः ॥ अनु०—युष्मद्रसदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः, आ अर्थ: -पदादुत्तरयोर्वहुवनतत पद्स्य ।। सर्वमपादादौ, पदात्, वर्त्तमानयोर्युष्मद्स्मदोः [°]षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोरपादादौ सङ्ख्यं वस् नस् इत्येतावादेशी भवतोऽनुदात्ती च ती भवतः॥ व षष्टी—्त्रामो वः स्वम्, जनपदो नः स्वम्। चतुर्थी-प्रामो वे लि जनपदो नो दीयते । द्वितीया – ग्रामो वः पश्यति, जनपदो नः पर्शा

भाषार्थः - पद् से उत्तर अपादादि में वर्त्तमान जो विहुतका बहुवचन में षष्ट्यन्त चतुथ्यन्त एवं द्वितीयान्त युष्मद् आस उनको (सम्पूर्ण को) कमशः [वस्नमौ] वस् , नस् आदेश होते हैं वे आदेश अनुदात्त होते हैं।। 'श्रामो वः स्वम्' की सिद्धि परिविश्वा में देखें। सर्वत्र स्थानिवत् कार्य इसी प्रकार जान लेना चाहिये। ही युष्माकम्, अस्माकम् चतुर्थी में युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम् तथा दिवा युष्तान् अस्मान् के स्थान में क्रमशः वस्, नस् आदेश जाते हैं पद से उत्तर है ही।।

तेमयावेकवचनस्य ॥८।१।२२॥

तेंमयौ १।२॥ एकवचनस्य ६।१॥ स०—तेश्च मेश्च तेमयौ द्वन्द्वः ॥ अनु०—युष्मद्समदोः षष्टीच्तुर्थीस्थयोः, अनुदानं स्वापित्र पदात्, पदस्य ।। अर्थः—पदादुत्तरयोरेकवचनान्तयोः षष्ठीववुर्यास्य ।। पदादुत्तरयोरेकवचनान्तयोः षष्ठीववुर्यास्य ।। पदाद्वत्तरयोरेकवचनान्तयोः पष्टीववुर्यास्य पादादौँ वर्त्तमानयोर्युष्मद्स्मदोः पद्योर्यश्रमङ्ख्यं हे में इत्रेजीया भवतोऽनुदात्तौ च नौ र भवतोऽनुदात्तौ च तौ भवतः ॥ उदा०— षष्ठी—प्रामस्ते स्वर्गाः स्वम् । चतर्थी—गण्डे स्वम् । चतुर्थी—प्रामस्ते दीयते, प्रामो मे दीयते॥ दिवायते । देशान्तरिविधानान के

भाषार्थः—पद से उत्तर अपादादि में वर्तमान जो पिक्रियान प्रकार वाले पष्ट्यन्त चतुध्यन्त युष्मद् असाद् पर

和作 ते, मे आदेश होते हैं, और वे आदेश अनुदात्त होते हैं॥ श्वीयानत को अन्य आदेश आगे कहेंगे, अतः यहाँ 'द्वितीया' की ब्रिं का सम्बन्ध नहीं लगेगा।। षष्टी में तब, मम तथा चतुर्थी में क्ष्म, महाम् के स्थान में कमशः ते, मे आदेश होते हैं।।

वहाँ से 'एकवचनस्य' की अनुवृत्ति ८।१।२३ तक जायेगी।।

त्वामौ द्वितीयायाः ।।८।१।२३।।

नं

TE I

लामी १।२।। द्वितीयायाः ६।१।। स०—त्वास्य माश्र त्वामी, इतरेतर-का हा। श्रनु०-एकवचनस्य, युष्मदस्मदोः, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, क्षात्, पदस्य ।। अर्थः — द्वितीयाया यदेकवचनं तदन्तयोरपादादौ वर्त्तन क्षिक्षेप्रमद्स्मदोः पद्योर्थथासङ्ख्यं त्वा मा इत्येतावादेशौ भवतोऽनु-की व तौ।। उदा०-ग्रामस्त्वा पश्यति, श्रामो मा पश्यति।।

मापार्थः पद से उत्तर अपादादि में वर्त्तमान [द्वितीयायाः] द्वितीया भक्ति का जो एकवचन तदन्त युष्मद् अस्मद् पद को यथासङ्ख्य करके विश्वामी का जा एकवचन तदन्त युष्मद् अस्मद् पद को यथासङ्ख्य करके विश्वामी ला मा आदेश होते हैं। द्वितीया किन्नान्त त्वाम्, माम् को क्रमशः त्वा मा आदेश यहाँ हुये हैं।।

न चवाहाहैवयुक्ते ॥८।१।२४॥

न अ०॥ चवाहाहै वयुक्ते ७।१॥ स०—चम्र वाम्र हम्र अहम्र विचवाहाहैवाः, तैर्यु क्तः चवाहाहैवयुक्तस्तिसन् दुन्द्रगर्भवृतीया-क्षः॥ अनु० — युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः, पैदस्य, मा अर्थः च, वा, ह, अह, एव एभियों गे युष्मदस्मदोर्वान्नावादय मार्गात भवन्ति ॥ पूर्वैः सूत्रैः प्राप्ताः प्रतिषिध्यन्ते ॥ उदाः प्राप्त-मान स्वम्। श्रामो युवयोश्च स्वम्, श्राम आव-मिन्ने शामी युष्माकं च स्वम् । श्रामा अन्यान स्वम् । श्रामस्तुभ्यं भागा युष्माक च स्वम्, श्रामाञ्चा च दीयते, ग्राम मियां च दीयते । शामो युष्पभ्यं च दीयते, श्रामोऽसमभ्यं च दीयते । प्रयति । श्रामो युष्मभ्यं च द्यित, श्रामाञ्चाराति, श्रामा भाष प्रयति, श्रामो मां च पश्यति । श्रामो युवां च पश्यति, श्राम प्रियति । श्रामो युष्मांश्च पश्यति, श्रामोऽस्मांश्च पश्यति । वा-पश्यात । श्रामो युष्मांश्च पश्यति, श्रामाऽस्माञ्च पर्याते । श्रामो युष्मामो मम वा स्वम् । श्रामो युवयोर्वा स्वम् , श्राम आव-श्रामो युष्माकं वा स्वम् , श्रामोऽस्माकं वा स्वम् । श्राम-

[No. Of स्तुभ्यं वा दीयते, श्रामो महां वा दीयते । श्रामो युवाभ्यां वा दीवरे,हा आवाभ्यां वा दीयते । प्रामी युष्मभ्यं वा दीयते, प्रामोऽसम्यं वाही श्रामस्त्वां वा पर्यति, श्रामो मां वा पश्यति । श्रामो युवां वा का म्राम आवां वा पश्यति । मामो युष्मान् वा पश्यति, मामोऽसार पर्यति । ह-प्रामस्तव ह स्वम् , प्रासो मम ह स्वम् । प्रामो युव्योहे ह प्राम आवयोई स्वम्। प्रामो युष्माकं ह स्वम्, प्रामोऽसाहं स्वम्। प्रामस्तुभ्यं ह दीयते, प्रामो महां ह दीयते। प्रामो अव ह दीयते, प्राम आवाभ्यां ह दीयते। प्रामो युष्पभ्यं ह हि थामोऽस्मभ्यं ह दीयते । यामस्त्वां ह पश्यति, ग्रामो ग्री भश्यति। त्रामो युवां ह पश्यति, त्राम आवां ह पश्यति। तील युष्मान् ह पश्यति, श्रामोऽस्मान् इ पश्यति । अह - श्रामसनाहत् स त्रामो ममाह स्वम् । त्रामो युवयोरह स्वम्, त्राम आवयोरह सम्। ही 📠 युष्माकमह स्वम्, प्रामोऽस्माकमह स्वम्। प्रामस्तुभ्यमह दीयो, ह महामह दीयते। यामो युवाभ्यामह दीयते, प्राम आवाभ्यामह दी त्रामो युष्मभ्यमह दीयते, त्रामोऽसमभ्यमह दीयते । प्रामस्तामह त्रामो मामह पश्यति । त्रामो युवामह पश्यति, त्राम आवामह पर्यो प्रामो युष्मान् अह पश्यति, प्रामोऽस्मान् अह पश्यति। ख-प्रा स्तवैव स्वम्, प्रामो ममैव स्वम्। प्रामो युवयोरेव स्वम् आवयोरेव स्वम्। प्रामो युष्माकमेव स्वम्, प्रामोऽस्माकमेव हा यामस्तुभ्यमेव दीयते, प्रामो मह्यमेव दीयते । प्रामो युवाभ्यामेव ही शाम आवाभ्यामेव दीयते । शामो युष्मभ्यमेव दीयते, शामोऽसम्ब दीयते । त्रामस्त्वामेव पश्यति, त्रामो मामेव पश्यति । प्राप्ती गर्मा पश्यति, श्राम आवामेव पश्यति, श्रामा मामव पश्यति, श्री स्मान एव पश्यति, श्रामो युष्मान् एव पश्यति, श्री स्मान् एव पश्यति ॥

भाषार्थः— [चवाहाहैवयुक्ते] च, वा, ह, अह, एव इति विकास प्राथिः— [चवाहाहैवयुक्ते] च, वा, ह, अह, एव इति विकास प्राथिः— [चवाहाहैवयुक्ते] च, वा, ह, अह, एव इति विकास प्राथिः— प्राप्त वाम् नौ आदि आदेश [न] नहीं होते॥ एकववित्र विकास प्राप्त वाम् नौ आदि आदेश पूर्व सूत्रों से कह आये हैं, उन सक्षित वादि आदि के योग में प्रतिषेध हो जाता है, सो उसी प्रकार उदाहरण वादि के योग में प्रतिषेध हो जाता है, सो उसी प्रकार उदाहरण वादि के योग में दर्शा दिये हैं॥

यहाँ सें 'न' की अनुवृत्ति ८।१।२६ तक जायेगी।

पश्यार्थेश्वानालोचने ॥८।१।२५॥

取[]

1,5

ली।

源

詂

FF.

कि परवार्थै: ३।१।। च अ० ।। अनालोचने ७।१।। स०-पश्योऽर्थो येषां क्षि प्रयार्थास्तैः अस्मादेव निपातनात् , विहुलम् (३।३।११३) इति वा भावे शप्रत्ययः। पाघाध्माः ह (।।।८८) सूत्रेण च पश्यादेशः ।। न आलोचनमनालोचनम्, तस्मिन् मां मतपुरुषः।। दर्शनं ज्ञानम्। आलोचनं चक्षुर्विज्ञानम्।। अनुः—न, माद्रसदीः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः, पदस्य, पदात् ॥ अर्थः अनाली-वितर्शे वर्चमानैः पश्यार्थैः = ज्ञानार्थैधितुभिर्योगे युष्मदस्मदोर्वात्रावाद्यो मं शिभवन्ति ।। उदा० — श्रामस्तव स्वं समीच्यागतः, श्रामो मम स्वं समीक्ष्या-ह । एवं सर्वत्र द्विवचने बहुवचने ऽपि उदाहायम् । श्रामस्तुभ्यं दीयमान 🕅 भीत्यागतः, यामो मह्यं दीयमानं समीक्ष्यागतः । यामस्त्वां समीच्यागतः. मो मां समीक्ष्यागतः ।।

माषार्थः—[श्रनालोचने] अनालोचन = न देखना अर्थ में वर्तमान प्राथैं:] परय = दर्शन = ज्ञान अर्थ वाले धातुओं के योग में [च] भी असद् को पूर्व सूत्रों से प्राप्त वाम् नौ आदि आदेश नहीं होते।। कोचन चक्षु द्वारा देखने को कहते हैं। पश्यार्थ अर्थात् दर्श-र्थिक = ज्ञानार्थक । साधारणतया 'पश्य' का देखना अर्थ ही लिया वा है पर यहाँ अनाळोचन निषेध के कारण पश्य से देखना अर्थ बैं हेना किन्तु यहाँ ज्ञान अर्थ गृहीत है, तभी तो अनालोचन विषय विहाहरणों में 'समीद्य' ज्ञानार्थक घातु का योग है, अतः भारते आदि आदेश नहीं हुए। 'प्रामस्तव स्वं समीक्ष्यागतः' का अर्थ श्रीम वुम्हारी मिल्कियत है ऐसा मन से निरूपण = ज्ञान करके आ मा इस प्रकार यहाँ 'समीच्यं' का अनालोचन अर्थ है। इसी प्रकार भ्य खाहरणों का भी अर्थ जाने ।।

सपूर्वायाः प्रथमाया विभाषा ॥८।१।२६॥

1,5 मण्बीयाः ४।१॥ प्रथमायाः ५।१॥ विभाषा १।१॥ स० — सह = विद्य-भूषं यस्याः सा सपूर्वा, तस्याः " बहुत्रीहिः । तेन सहेति । (२।२।२८) भीतात्र समासः, वोपसजेनस्य (६।३।८०) इत्यनेन च सहस्य 'सं भीताः।। अनु०—न, युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः, पदात्,

पद्स्य ।। अर्थः — विद्यमानपूर्वात् प्रथमान्तात् पदादुत्तरयोर्थुम्मस्म विभाषा वान्नावादय आदेशा न अवन्ति ।। उदा० — प्रामे कम्बलते स्म पक्षे — प्रामे कम्बलते स्वम् । प्रामे कम्बलते स्वम् । प्रामे कम्बलते स्वम् । एवं सर्वत्र द्विवचनबहुवचनेऽपि पूर्वबहुदाहार्यम् । प्रामे कम्बल द्वियते, प्रामे कम्बल द्वियते, प्रामे कम्बल में दीयते, प्रामे कम्बल द्वियते । प्रामे कम्बल में दीयते, प्रामे क्षात्रास्वां पश्यन्ति । प्रामे छात्रास्त्वां पश्यन्ति । प्रामे छात्रास्त्वां पश्यन्ति । प्रामे छात्राः मा पश्यन्ति, प्रामे छात्राः मा पश्यन्ति ।

भाषार्थः—[सपूर्वायाः] विद्यमान है पूर्व में (कोई पद) जिससे हि [अथमायाः] प्रथमान्त पद से उत्तर पष्ट्यन्त, चतुर्ध्यन व द्वितीयान्त युष्मद् अस्मद् शब्द को [विभाषा] विकल्प से वाम नी हो आदेश नहीं होते, अर्थात् विकल्प से होते हैं ।। प्राप्ते कम्बस्ते सम्बं सभी उदाहरणों में प्रथमान्त कम्बस्त शब्द से पूर्व 'प्राप्ते' पद है, अतः सर्व विद्यमान पूर्व वाले कम्बस्त प्रथमान्त पद से उत्तर विकल्प से वाम विद्यमान पूर्व वाले कम्बस्त प्रथमान्त पद से उत्तर विकल्प से वाम विद्यमान पूर्व वाले कम्बस्त प्रथमान्त पद से उत्तर विकल्प से वाम विद्यमान पूर्व स्त्रों से कहे आदेश द्विवचनान्त बहुवक्त को भी विकल्प से होंगे। सभी वचनों में उदाहरण हमने न का से (८।१।२४) में दिखाये हैं, तद्वत् ही जान लेना चाहिये॥

तिङो गोत्रादीनि कुत्सनाभीक्ष्ययोः ॥८।१।२७॥

T

1

तिङ: ५११॥ गोत्रादीनि ११३॥ कुत्सनाभीक्ष्णययोः ७२॥ हाने गोत्र आदिर्येषां तानि गोत्रादीनि, बहुव्रीहिः । कुत्सनन्त्र अभिक्षित्र कुत्सनाभीक्ष्ण्ये तयोः इतरेतरद्भन्द्रः ॥ अनु० — अनुदात्तं सर्वमानि पदात्, पदस्य ॥ अर्थः — कुत्सने, आभीच्ष्ण्ये चार्थे वर्त्तमानानि विक्षा पदात् पराणि गोत्रादीनि अनुदात्तानि भवन्ति ॥ उदाः — कुत्सने पदात् पराणि गोत्रादीनि अनुदात्तानि भवन्ति ॥ उदाः — कुत्सने गोत्रम्, जलपति गोत्रम् । पचित ब्रुवम्, जलपति ब्रुवम्। आभिक्ष्मे पचित पचित गोत्रम् ॥ जलपति गोत्रम् ॥

भाषार्थ:—[तिङ:] तिङन्त पद से उत्तर [कुत्सनाभीद्राययोः] कि (तिन्दा) तथा आभीद्रण्य (पौनः पुन्य) अर्थ में वर्तमान कि दीनि] गोत्रादि गण पठित पदों को अनुदात्त होता है।। जी अपने

सेह

M 1

No.

gr

को को त्याग कर अपने गोत्र की उच्चतादि वताकर जीवन यापन कि हता है, उसे 'पचित गोत्रम्' कहते हैं। पच् घातु यहाँ व्यक्त = ख्यापन के क्षेत्र है। ब्रुव शब्द भी निन्दार्थवाची है, अतः पचित ब्रुवम् का अर्थ मा बाक पकाता है' ऐसा होगा। पचित २ गोत्रम् का अर्थ है, विवा-कि विषय में पुनः २ गोत्रोखारण करता है।। नित्यवीप्सयोः (८।१।४) में नित्यता आभीक्ष्ण्य अर्थ में पचित २ द्वित्व हुआ है। ब्रुव को वि (शश्रे १३) आदेश निपातन से नहीं हुआ है।।

तिङ्ङतिङः ॥८।१।२८॥

तिङ् १।१।। अतिङ: ५।१।। स०—न तिङ् अतिङ् , तस्मात् नन् हो सुरुषः ॥ अनु -- अनुदात्तं सर्वे अपादादी, पदात् , पदस्य ॥ अर्थः--किन्तात् पदादुत्तरं तिङन्तं पद्मनुदात्तं भवति ॥ उदा०—देवदत्तः र्षः वित । यज्ञदत्तः पुचति ।।

1, बि भाषार्थः—[अतिङ:] अतिङ्पद् से उत्तर जो [तिङ्] तिङ्पद् को (सम्पूर्ण को) अनुदात्त होता है।। सर्वत्र सूत्रार्थ में 'अपादादी' व पस्यन्य लगा लेना चाहिये।। उदाहरण में देवदत्त यज्ञदत्त अतिङ् हसे उत्तर 'पचति' तिङ् पद् है, सो उसे सब स्वर हट कर सर्वानुदात = वित हो गया।। निघात करने से पूर्व पचित का क्या स्वर था, यह कि राशिष्ठ में देखें।। यहाँ से आगे इस सूत्र के अपवाद सूत्र कहे #:-

गहाँ से 'तिङ्' की अनुवृत्ति ८।१।६६ तक जायेगी।।

न छट् ॥८।१।२९॥

50 न अ० ॥ लुद् १।१॥ श्रमु०—तिङ् , अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात् , भावित्रसक्ते प्रतिषेध आरभ्यते ॥ उदा०—श्वः कृत्ती, श्वः कृत्तीरी, विन कत्तारं: ।। STATE OF

[ी] गीत बताकर जीविका यापन करना निन्दित है, मनुस्मृति में कहा है ने मोजनार्थं स्वे विप्र: कुलगोत्रे निवेदयेत । मोजनाय हि ते शंसन्वान्ताशीत्युच्यते बुधैः ।। मनु० ३।७१॥°

R T भाषार्थ:—पद से उत्तर [लुट_] लुडन्त तिङन्त को अनुवात नहीं होता ।। पूर्व सूत्र से अतिप्रसक्ति प्राप्त थी, यहाँ से उसका की आरम्भ करते हैं ।। कृत्ती कृत्तीरी कृत्तीर: की स्वर सिद्धि सूत्र क्षा में देखें।।

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ८।१।६६ तक जायेगी॥

निपातैर्ययदिहन्तकुविन्तेच्चेचण्किचियत्रयुक्तम् ॥८।१।३॥

निपातैः ३।३।। यद्यदिहन्तकुविन्नेचचेचचण्कचिचदात्रयुक्तम् ११॥। यत् च यदिश्च हन्तश्च कुवित् च नेत् च चेत् च चण् च कित् पका थबदिः 'बत्रास्तैर्युक्तं यचिद् ••• युक्तम् , द्रन्द्रगर्भवतीयात्युरूः॥ ह न, तिङ् अनुदात्तं सर्वमपादादौं, पदात् , पदस्य ॥ अर्थः — यत् , हि हन्त, कुवित्, नेत्, चेत्, चण् कश्चित्, यत्र इत्येतैर्निपातैयुं कि नानुदात्तं भवति ।। उदा० - यत् -यत् क्रोतिं, यत् पर्वति । यदंगिह हं त्वम् (ऋ० ८।४४।२३) यदि-यदि क्रोति, यदि पर्चति। गु कृथः (ऋ॰ ४।७४।४) । हन्त-हन्त करोति, हन्त पचित । इकिन् करोति, कुवित् पचित । नेत्-नेज्जिह्यायन्तो नरकं पताम । चेत्-म भुङ्क्ते, स चेद्धीते । चण्-अयं च मर्डिष्यति । कचित्-किष् किच्योते । अचितिभिश्चकृमा किच्चत् (ऋ० ४।१२।४)। कि मुङ्क्ते, यत्राधीते । पुत्रास्रो यत्रं पितरो भवन्ति (ऋ० १।८६।६)॥

भाषार्थ:—[यद्य : युक्तम्] यत् , यदि , हन्तं , कुवित् , तेत् । चण् , किच्चत् , यत्र इन [निपातैः] निपातों से युक्त विकास अनुदान्त नहीं को स्थाप अनुदान नहीं होता ।। पूर्ववत् प्राप्ति थी, प्रतिषेध कर दिया। परिशिष्ट में देखें।।

नह अत्यारम्भे ।।८।१।३१॥
नह अ०॥ प्रत्यारम्भे ७।१॥ अनु०—न, तिङ्, अनुद्वि पादादौ, पदात्, पदस्य ।। प्रत्यारम्भः = पुनरारम्भः ॥ नह इति स्मित्रात्रे ।। प्रत्यारम्भः = पुनरारम्भः ॥ नह इति समुदायः ॥ ऋर्षः समुदायः ॥ अर्थः — नह इत्यनेन युक्तं तिङ्क्तं नातुर्वाते प्रत्यारम्भे ॥ जन्म प्रत्यारम्भे ॥ उदा०—नह भोक्ष्यसे, नहाध्ये ज्यसे ॥

भाषार्थ:—[नह] नह से युक्त तिङन्त को [प्रत्यारमें] पर अनुदात्त नहीं ने होने पर अनुदात्त नहीं होता ।। प्रत्यारम्भ पुनः आरम्भ की

क्षाहः]

पक

-84

100

विश्वित्रों या पढ़ों ऐसी आज्ञा देने के पश्चात् मना कर देने पर क्रोध से विवास से पुनः प्रतिषेध से सम्बन्धित वाक्य 'नह भोक्ष्यसे' = नहीं बार्म है।। नह शब्द न तथा है मिलकर निपातों के समुदाय रूप में क्षिष्ट है।। भोक्ष्यसे अध्येष्यसे यहाँ थास् को से (३।४।८०) होकर 'स्य' अदुपदेश होने से तास्यनुदात्ते (६।१।१८०) से 'से' अनुदात्त तथा व प्रत्ययस्वर से उदात्त है, पश्चात् से को स्वरित (६।४।६५) हो गया।। 116

सत्यं प्रक्ते ॥८।१।३२॥

इत्र सत्यम् १।१।। प्रश्ने ७।१।। अनु०-न, तिङ्, अनुदात्तं सर्वमपादादौ , तात, पदस्य ।। अर्थः — सत्यमित्यनेन युक्तं तिङन्तं नानुदात्तं भवति कि को सित ।। उदा०—सत्यं ओक्ष्यसे', सत्यमध्ये व्यसे'।।

नेह गाषार्थ:—[सत्यम्] सत्यम् शब्द से युक्त तिङन्त को [प्रश्ने] प्रश्न ्रों पर अनुदात्त नहीं होता ।। सत्यं भोक्ष्यसे = सचमुच खाओगे ? शिको ? यहाँ प्रश्न किया जा रहा है ।। सिद्धि पूर्व सूत्र में देखें।।

अङ्गाप्रातिलोम्ये ॥८।१।३३॥

बर्म अङ्ग अ० ।। अप्रातिलोम्ये ७।१।। स०—न प्रातिलोम्यम् अप्राति-) मियं तिसान् '''नव्यतत्पुरुषः ।। प्रातिलोम्यं प्रतिकूलता, तद्भावोऽप्रति-खाऽनुकूल्यमिति यावत् । गुरावचनवा० (४।१।१२३) इत्यनेन घ्यव्।। मिन्न, तिङ्, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ अर्थः— मितिहोम्ये गम्यमानेऽङ्ग इत्यनेन युक्तं तिङन्तं नानुदात्तं भवति॥ वा अङ्ग कुरु, अङ्ग पर्च, अङ्ग पर्ठ ॥

भाषार्थः—[अप्रातिलोम्ये] अप्रातिलोम्य = अनुकूलता गम्यमान हो अशातलाम्य । अशातलाम्य । अशातलाम्य । अर्थे होता ॥ कुरु भारति सूत्र ६।४।१०६ में देखें। कुरु प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त है। विकरण उ उदात्त है। पच, पठ धातुस्वर से आद्युदात्त हैं। भिक्ति व उदात्त है। पच, पठ घातुष्पर त नाजुः है तथा भिक्ति व यहाँ हि का श्रतो हे: (६।४।१०५) से लुक् हुआ है तथा भिष्कि पित् स्वर से अनुदात्त था पश्चात् स्वरित हो गया है।। अङ्ग भेड्यात् स्वर स अनुदात्त था परपात् । अर्थात् हाँ तुम करो । यही यहाँ अनुकूळता है ॥ वहाँ से 'अप्रातिलोम्बे' की अनुवृत्ति ८।१।३४ तक जायेगी।।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

हि च ॥८।१।३४॥

[FED 9

हि अ० ॥ च अ० ॥ अनु०—अप्रातिलोस्ये, न, तिङ्, का सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ प्रर्थः—हि इत्यनेन युक्तं तिङ्क्तः तिलोस्ये गम्यमाने नानुदात्तं भवति ॥ उदा०—त्वं हि कुरु, तंहिषं प्रमायभाने निहु हि से युक्त तिङ्क्त को [च] भी अप्राति । गम्यमान होने पर अनुदात्त नहीं होता ॥ पूर्ववत् स्वर सिद्धियाँ है।

यहाँ से 'हि' की अनुवृत्ति ८।१।३५ तक जायेगी॥

छन्दस्यनेकमपि साकाङ्गम् ॥८।१।३५॥

छन्दिस ७११॥ अनेकम् १११॥ अपि अ०॥ साकाङ्क्षम् । स्ट-न एकम् अनेकम् , नञ्तत्पुरुषः । सह आकाङ्क्षया वर्तते । ङक्क्षम् , बहुब्रीहिः ॥ अनु० हि, तिङ् , न, अनुदात्तं संवेषातं पदात् , पदस्य ॥ अर्थः हियुक्तं साकाङ्क्षं तिङन्तमनेकमि नहां । भवति, अपिप्रहणात् एकमि कि विद् न भवति छन्दि । कदाचिद्नेकिमत्यर्थः ॥ उदा० अनेकं तावत् अर्वे । सत्तो वदिति पापमा एनं प्रिनाति । एकमि आर्वि । स्वमि अर्वे । सत्तो वदिति पापमा एनं प्रिनाति । एकमि आर्वि । स्वमि अर्वे । सत्तो वदिति पापमा एनं प्रिनाति । एकमि आर्वि । स्वमि । स्वमि

भाषार्थ: हि से युक्त [साकाङ्क्षम्] साकाङ्क्ष [ब्रनेक्स] तिङ्क्तों को [अपि] तथा अपि प्रहण से एक को भी कहीं २ अप नहीं होता [ब्रन्दिस] वेद विषय में ।।

'अनृतं हि मत्तो वद्ति' तथा 'पाप्मा एनं विपुनाित' गर्हों विपुनाित दोनों तिङन्त हेतु हेतुमद्भाव (फल) होने से सामार्थ एवं दोनों 'हि' से युक्त हैं। हेतु है—क्यों कि मत्तः = पाण्ड श्रुट है, अतः पाप्मा = मत्तपन उसको शुद्ध कर देता है अशात माना कारण अनृत दोष का भागी नहीं होता—यह हेतुमद्भाव है। गर्हों साकाङ्क्ष तिङन्तों को अनुदात्त नहीं होता, अतः वद्ति सामान आद्युदात्त है, एवं विपुनाित का 'ना' प्रत्यय स्वर से अशा अग्निहिं अमे 'यहाँ भी 'वि' उपसर्ग को तििङ चोदा (विश्वी अग्निहिं अमे 'यहाँ भी 'वि' उपसर्ग को तििङ चोदा (विश्वी का हो ही जायेगा। दोनों उद्जयत्, अनूद्जयत् तिङ्क्त हिंदी

गरः]

]

P. 5()

मा पूर्ववत् ही हेतु हेतुमद्भाव से साकाङ्क्ष हैं। अर्थ है-क्योंकि अग्नि पहले जय को प्राप्त हुआ, अतः अग्नि के पश्चात् इन्द्र ने जय को श्रा किया। यहाँ यद्यपि पूर्ववत् दोनों तिङन्त 'हि' से युक्त हैं, किन्तु 300 का स्त्र में अपि प्रहण से एक को ही (उद्जयत् को ही) अनुदात्त का निषेध कि कि मूत्र से हुआ, द्वितीय अनूद्जयत् को तिङ्ङितिङ: (८।१।२८) से कि गा निघात ही हुआ। उत्पूर्वेक जि घातु का छड़ में उद्जयत् रूप ना है, सो अजयत् आद्युदात्त है, क्योंकि अट् लुङ्लङ्० (६।४।७१) से बात होता है। शेष अच् पूर्ववत् अनुदात्त हो गये। अनु उत् पूर्वक ति से छड् में ही अनूद्जयत् वनेगा !। अजा हाग्ने "यहाँ भी पूर्ववत् सकाङ्क्षत्व जानें। अर्थ है—'क्योंकि अजा अग्नि के गर्भ से उत्पन्न हुई । अने (अजा ने) उत्पन्न करने वाले को देखा (अनुभव किया) पहले · (श्थम)। इस प्रकार अजनिष्ट, अपश्यत् दोनों के 'हि' से युक्त एवं महाह्स होने पर भी 'अपि' ग्रहण से एक अजनिष्ट तिङ्को ही निघात मही मित्रेष हुआ, अपश्यत् को नहीं। सो अपश्यत् तिङ्ङितिङ: से निघात एवं बि अनिष्ट पूर्ववत् आद्युदात्त है, अर्थात् अट् उदात्त है। जनी प्रादुर्भावे, हां गत से लुड़ में सिच् को इट् आगमादि होकर अ ज न इ प्त = अज-विषया है। अपश्यत् दृशिर् धातु के छङ् में पाघाध्मा० (७।३।७८) विषय आदेश होकर अ पश्य अ त् = अपश्यत् बना है।।

यावद्यथास्याम् ॥८।१।३६॥

यावद्यथाभ्याम् ३।२।। स० — यावत् च यथा च यावद्यथे, ताभ्याम् ... 36 क्षांतरद्वन्द्वः॥ श्रनु०—तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, क्षि॥ अर्थः चावद् यथा इत्येताभ्यां युक्तं तिङ्ग्तं नानुदात्तं वित । उदा०—यावद् भुङ्कते, यथा भुङ्कते । यावद्धीते, यथाऽधीते 36 कितः पर्चिति यावत् , देवदत्तः पर्चिति यथा ॥ TO

भाषार्थ:-[यावद्यथाभ्याम्] यावत्, यथा इनसे युक्त तिङ्कत को विता ।। स्वर सिद्धि परि०८।१।३० में देखें॥ वहाँ से 'यावद्यथाभ्याम्' की अनुवृत्ति ८।१।३८ तक जायेगी॥

प्जायां नानन्तरम् ॥८।१।३७॥

क्षियाम् ७११। न अ०।। अनन्तरम् १।१॥ स०—तं अन्तरम्

म्ब विद्यतेऽस्य तद्नन्तरम्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—्यावद्यथाभ्याम्, तिहुः। अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ अर्थः—यावद् यथा इलेका युक्तमनन्तरं तिङन्तं पूजायां विषये नानुदात्तं न भवति, अर्थाद्वतात्ते भवति ।। उदा० — यावत् प्चिति शोभनम्, यावत् करोति चार। स पुचति शोभनम्, यथा करोति चारु।।

भाषार्थः — यावत् तथा यथा से युक्त [श्रनन्तरम्] अनन्तर=अन् वहित तिङन्त को [पूजायाम्] पूजा विषय में अनतुदात्त निहे होता, अर्थात् अनुदात्त ही होता है ।। दो प्रतिषेध हो जाने से आह ही होता है, ऐसा अर्थे निकला ।। पूर्व सूत्र से अननुदात्त की प्राणि निषेध कर दिया, तो तिङ्ङतिङ: (८।१)२८) से निघात ही हो ल उदाहरणों में यावत् , यथा से अनन्तर ही तिङ् है ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।१।३८ तक जायेगी॥

उपसर्गव्यपेतं च ॥८।१।३८॥

उपसर्गव्यपेतम् १।१॥ च अ०॥ स०-उपसर्गेण व्यपेतमुक्त व्यपेतम्, तृतीयातत्पुरुषः ॥ श्रनु०-पूजायां नानन्तरम्, यान भ्याम् , तिङ् , न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात् , पदस्य ॥ क यावद्यथाभ्यां युक्तमुपसर्गेण ठयपेतं = ठयवहितं चानतरं पूजायां विषये नानुदात्तं न भवति, अर्थाद्नुदात्तमेव ॥ उदावन्य प्रपचित् शोभनम्, यावत् प्रकरोति चारु । यथा प्रपचित शोभनम्। प्रकरोति चार ॥

भाषार्थः — यावत् यथा से युक्त एवं [उपसर्गव्यपेतम्] उपसी व्यपेत = व्यवहित अनन्तर तिङन्त को [च] भी पूजा विषय हैं। जुदात्त नहीं होता, अर्थात् अनुदात्त होता है ॥ पूर्व सूत्र से अन्तर अञ्चलकान में ही कहा था, यहाँ केवल उपसर्ग का व्यवधान में भी कह दिया। स्टेंड -भी कह दिया। सर्वेत्र उदाहरणों में यावत्, यथा एवं विङ्के का प्र उपसर्ग का व्यवधान है। शोभनम्, चारु कहते से वहाँ हुए । अर्थ है ही अर्थ पर्ट करा है। अर्थ है ही, अतः पूर्ववत् तिङ् को अनुदात्त हो जायेगा।

खपश्यपश्यताहै: पूजायाम् ॥८।१।३९॥ वपश्यपश्यताहै: ३।३॥ पूजायाम् ७।१॥ स०—वपश्य०

गरा

39-

一派

अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात् , पदस्य ॥ विष्ये अर्थः वु, पश्य, पश्यत, अह इत्येतैयुक्तं तिङन्तं पूजायां विषये नातु-वतं भवति ॥ उदा० — तु-माणवकस्तु सुङ्कते शोभनम् । पश्य-पश्य मणवको मुङ्क्ते शोभनम् । परथत-परयत माणवको भुङ्क्ते शोभनम्। 10 अह-अह माणवको भुङ्कते शोभनम्।।

माषार्थः—[तुपश्यपश्यताहैः] तु, पश्य, पश्यत, अह इनसे युक्त विक्त की [पूजायाम्] पूजा विषय में अनुदात्त नहीं होता॥ पूर्ववत् विख्वतिङ: से प्राप्त अनुदात्त का प्रतिषेध होकर यथाप्राप्त स्वर हो पर शा भुङ्क्ते की स्वरसिद्धि परि० ८।१।३० में देखें।।

यहाँ से 'पूजायाम्' की अनुवृत्ति ८।१।४० तक जायेगी।।

अहो च ॥८।१।४०॥

अहो अः।। च अः।।।। अनुः - पूजायाम् , तिङ् , न, अनुदात्तं सर्व-गात्तदौ, पदात् , पदस्य ।। अर्थः - अहो इत्यनेन युक्तं तिङन्तं नानुदात्तं म्बति पूजायां विषये ।। उदा०--अहो देवदत्तः पर्चति शोभनम्।अहो, बिणुमित्रः कुरोति चारु।। 福

भाषार्थ:—[त्रहो] अहो से युक्त तिडन्त को [च] भी पूजा विषय क्रिं अनुदात्त नहीं होता ।। सिद्धियाँ परि० ८।१।३० में देखें।। यहाँ से 'त्रहो' की अनुवृत्ति ८।१।४१ तक जायेगी।।

शेषे विभाषा ॥८।१।४१॥

EI. शेषे ७११। विभाषा १।१॥ अनु०-अहो, तिङ्, न, अनुदात्तं क्षिमपादादौ, पदात्, पदस्य।। श्रर्थः—अहो इत्यनेन युक्तं तिङन्तं विकल्पेन नानुदात्तं भवति ।। यद्ग्यत् पूजायाः, स शेषः ॥ म्बं में प्यसि, मम गेहमे ब्युसि ।।

भाषार्थ: अहो से युक्त तिङन्त को पूजा विषय से [शेषे] शेष मार्थी में [विमाषा] विकल्प करके अनुदात्त नहीं होता।। पूर्व सूत्र में विषय में कहा था, यहाँ 'शेषे' प्रहण से पूजा विषय से ही शेष भाषामा ।। पक्ष में यथाप्राप्त (८।१।२८) अनुदात्त ही होगा।

44

विद्यतेऽस्य तद्नन्तरम्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—्यावद्यथाभ्याम्, तिह्रा अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ अर्थः -- यावद् यथा इत्येताव युक्तमनन्तरं तिङन्तं पूजायां विषये नानुदात्तं न भवति, अर्थाद्वतुत्तक्ते ग भवति ।। उदा०-यावत् पचिति शोभर्नम्, यावत् करोति चार। गर प्चिति शोभनम्, यथा करोति चारु ।।

भाषार्थः - यावत् तथा यथा से युक्त [अनन्तरम्] अनन्तर = अर वहित तिङन्त को [पूजायाम्] पूजा विषय में अनुत्रात्त [न] है होता, अर्थात् अनुदात्त ही होता है ।। दो प्रतिषेध हो जाने से अनुन ही होता है, ऐसा अर्थ निकला ।। पूर्व सूत्र से अनुदात्त की प्राणि निषेध कर दिया, तो तिङ्ङतिङ: (८।१।२८) से निघात ही हो गर। उदाहरणों में यावत् , यथा से अनन्तर ही तिङ् है ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।१।३८ तक जायेगी॥

उपसर्गव्यपेतं च ॥८।१।३८॥

उपसगॅ व्यपेतम् १।१॥ च अ०॥ स०-- उपसर्गेण व्यपेतसुपर्स व्यपेतम्, तृतीयातत्पुरुषः ॥ अनु - पूजायां नानन्तरम्, यावश भ्याम् , तिङ् , न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात् , पदस्य ॥ अ यावद्यथाभ्यां युक्तमुपसर्गेण व्यपेतं = व्यवहितं चानन्तरं वि पूजायां विषये नानुदात्तं न भवति, अर्थाद्नुदात्तमेव ॥ उदा०-गा प्रमचिति शोभनम्, यावत् प्रकरोति चारु । यथा प्रमचिति शोभनम्, प्रकरोति चार ॥

भाषार्थं:—यावत् यथा से युक्त एवं [उपसर्गव्यपेतम्] स्पर्धाः व्यपेत = व्यवहित अनन्तर तिङन्त को [च] भी पूजा विषय में के जुना नहीं होता कराई नुदात्त नहीं होता, अर्थात् अनुदात्त होता है ॥ पूर्व सूत्र से अन्तः होता है ॥ पूर्व सूत्र से अन्तः होता है ॥ भी कह दिया। सर्वत्र उदाहरणों में यावत्, यथा एवं ति के मार्थ प्र उपसर्ग का व्यवधान है । शोभनम्, चारु कहते से यहाँ सूध हैं अर्थ है ही. अतः एकेन्स अर्थ है ही, अतः पूर्ववत् तिङ् को अनुदान्त हो जायेगा।

ख्रथयपत्रयताहैः पूजायाम् ॥८।१।३९॥ व्रपश्यपश्यताहैः ३।३॥ पूजायाम् ७।१॥ स०—व्रपश्य

थाः | गरः]

77

व।

गरी

A

ब्दूः ॥ श्रवु० —तिङ् , नु, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात् , पदस्य ॥ प्रमान हैं जु, पश्य, पश्यत, अह इत्येतैयुक्तं तिङन्तं पूजायां विषये नातु-ह्या भवति ॥ उदा० — तु-माणवकस्तु भुङ्क्ते शोभनम्। पश्य-पश्य क कामनम् । परअत-परयत माणवको मुङ्क्ते शोभनम् । इ-अह माणवको भुङ्कते शोभनम्।।

माषार्थः—[तुपश्यपश्यताहैः] तु, पश्य, पश्यत, अह इनसे युक्त किन्त की [पूजायाम्] पूजा विषय में अनुदात्त नहीं होता।। पूर्ववत् विष्कृतिकः से प्राप्त अनुदात्त का प्रतिषेध होकर यथाप्राप्त स्वर हो वा॥ भुङ्क्ते की स्वरसिद्धि परि० ८।१।३० में देखें॥

वहाँ से 'पूजायाम्' की अनुवृत्ति ८।१।४० तक जायेगी।।

अहो च ॥८।१।४०॥

अहो अः।। च अः।।।। अनुः — पूजायाम् , तिङ् , न, अनुदात्तं सर्वे-गात्ता, पदात् , पद्स्य ।। अर्थः — अहो इत्यनेन युक्तं तिङन्तं नानुदात्तं विषये।। उदा०-अहा देवदत्तः पर्चति शोभनम्। अहो, क्णिमित्रः कुरोति चारु ।। वया-

भाषार्थ:—[त्रहो] अहो से युक्त तिडन्त को [च] भी पूजा विषय विवास नहीं होता ।। सिद्धियाँ परि० ८।१।३० में देखें।। यहाँ से 'श्रहो' की अनुवृत्ति ८।१।४१ तक जायेगी।।

शेषे विभाषा ॥८।१।४१॥

शेषे शिशा विभाषा १११॥ श्रनु०—अहो, तिङ्, न, अनुदात्तं क्षिपादादी, पदात्, पदस्य ॥ अर्थः—अहो इत्यनेन युक्तं तिङन्तं विकल्पेन नानुदात्तं भवति ॥ यद्न्यत् पूजायाः, स शेषः॥ केटमहो कर्िष्यां, मम गेहमे ज्यसिं। पक्षेऽनुदात्तमेव-कटमहो वा ग्रीहम् ह्यस्य ॥

भाषार्थ: अहो से युक्त तिङन्त को पूजा विषय से [शेषे] शेष भा में विभाषा विकल्प करके अनुदात्त नहीं होता ॥ पूर्व सूत्र में लिशिय में कहा था, यहाँ 'शेषे' प्रहण से पूजा विषय से ही शेष भाषाया।। पक्ष में यथाप्राप्त (८।१।२८) अनुदात्त ही होगा।

त्रियह व अनुदात्त निषेध् पक्ष में करिष्यसि आदि का 'स्य' प्रत्यय खर से का है। पित् स्वर से 'सि' अनुदात्त था, परचात् स्वरित हो गया॥

यहाँ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति ८।१।४२ तक जायेगी॥

पुरा च परीप्सायाम् ॥८।१।४२॥

पुरा अ० ॥ च अ० ॥ परीप्सायाम् ७।१॥ अनु०—विभाषा, हि न, अनुदात्तं सर्वमपादाद्ौ, पदात्, पदस्य ॥ अर्थः—पुरा इलान क्र तिङन्तं परीप्सायामर्थे विभाषा नानुदान्तं भवति ॥ परीप्सालाः उद्गाः —अधीष्व माणवक पुरा विद्योतंते विद्युत्, पुरा खन्यंति स यितः। पुरा विद्योतते विद्युत्, पुरा स्तन्यति स्तनयितः॥

भाषार्थः—[पुरा] पुरा से युक्त तिङन्त को [च] भी [परीपाक] परीप्सा = शीघ्रता अर्थ गम्यमान होने पर अनुदात्त नहीं होना विद्योतते आदि में भविष्यत् के अर्थ में यावत्पुरानिपातयोर्लट् (राहि से छट् छकार हुआ है, अतः 'अधीष्व माणवक' ' आदि वास्ती ह अर्थ है — 'बचो पढ़ो नहीं तो अभी विजली चमकेगी' यहाँ पुर ह भविष्यत् काल की आसन्नता की प्रकट करता है, सो परीप्ता इ गम्यमान है ॥ विद्योतते का 'ते' तास्यनुदात्तेन्डिद्दुपदेशः (धार्था) से अनुदात्त है, इस प्रकार द्योतते धातु स्वर से आद्युदार्च है है। तिङि चोदात्तवित (८।१।७१) से वि अनुदात्त है चुरादिगणस्य अ स्तन घांतु से णिच् आकर एवं अकार छोप (६१४)६१४) होकर समाहित (३।१।३२) से 'स्तिन' घातु बनी । सो घातोः (६।१।१५६) से अतीह अर्थात् स्तिन का 'इ' उदात्त हुआ । शप् तिप् आकर स्तिने अ ति न अ ति = स्तनयति बना । अर्थात् 'इ' को गुण तथा 'अर्थ कर के 'न' का 'अ' उदात्त रहा।। अशात् 'इ' का गुण तथा अप् रेशी होगा।। होगा।। chis

नन्वित्यनुज्ञैषणायाम् ॥८।१।४३॥

ननु अ०॥ इति अ०॥ अनुज्ञैषणायाम् ७१॥ स्टब्स् ॥ = प्रार्थना अनुज्ञैषणायाम् ७१॥ स्टब्स् एर्षणा = प्रार्थना अनुज्ञैषणा, तस्याम् ''षष्टीतत्पुरुषं ॥ किंति । स्वयमेवोद्यतस्यैवं कियतामित्यनुज्ञानमनुज्ञा ॥ श्रमु०—ितहः

374

का ततं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ।। अर्थः—अनुज्ञैषणायां विषये ननु ह्यानेन युक्तं तिङन्तं नानुदात्तं भवति ॥ उदा०—ननु करोमि भोः॥

माषार्थ:-[अनुज्ञैषसायाम्] अनुज्ञैषपा विषय में [ननु] ननु [क्री] इस शब्द से युक्त तिङन्ते को अनुदात्त नहीं होता।। कुछ कार्य लगं ही करने को उद्यत हुये को कहना कि 'ऐसा करें' यह अनुज्ञा है। एणा अर्थात् प्रार्थना । अनुज्ञा की प्रार्थना अनुज्ञैषणा है । ननु करोमि भो का अर्थ है - श्रीसन्, क्या सैं करूं ? सिद्धि पूर्व सूत्रों में देखें।

किं क्रियाप्रवने ऽनुपसर्गमप्रतिषिद्धम् ॥८।१।४४॥

किम् १११॥ कियाप्रश्ने ७११॥ अनुपसर्गम् १११॥ अप्रतिषिद्धम् ११९॥ ग--क्रियायाः प्रश्नः क्रियाप्रश्नस्तस्मिन् ''षष्टीतत्पुरुषः। न विद्यते लसर्गोऽस्य तद्तुपसर्गम्, बहुव्रीहिः। प्रतिषेधः प्रतिषिद्धम्, भावे निष्ठा न्त्रां गुंतके (३।३।११४) इत्यनेन । न प्रतिषिद्धमस्येत्यप्रतिषिद्धम्, ब्युरुषः ॥ अनुः — तिङ् , न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात् , पदस्य ॥ 🕫 🕫 क्याप्रश्ने वर्त्तमानेन किंशब्देन युक्तमनुपसर्गमप्रतिषिद्धं तिङ्क्तं बीही बातात्तं भवति ।। उदा०—िकं देवद्त्तः पर्चिति, आहोस्विद् भुङ्कते ? ह है देवदत्तः शेते आहोस्विद्धीते ?।।

का का

। बुद्ध

वा

माषार्थ: -[कियाप्रश्ने] क्रिया के प्रश्न में वर्त्तमान जो [किम्] किम् व्य उससे युक्त [श्रनुपसर्गम्] उपसर्ग से रहित तथा [अप्रतिषिद्धम्] अप्रतिषिद्ध = प्रतिषेध रहित तिङन्त को अनुदात्त नहीं होता।। 'कि क्तिः का अर्थ है — क्या देवदत्त पकाता है, अथवा खाता है, यहाँ मि से पकाता है अथवा खाता है किया का प्रश्न किया जा रहा है, का किम् राव्द कियाप्रस्त में वर्त्तमान है। पचित आदि तिङ् यहाँ मार्ग से रहित एवं प्रतिषेध से रहित भी हैं, सो अनुदात्त नहीं हुआ॥ भी भी स्वर सिद्धि तास्यनुदात्तः (६।१।१८०) सूत्र में देखें।।

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।१।४५ तक जायेगी।।

१. खदाहरणों में कोई २ किम् से युक्त पूर्व वाला तिउन्त ही मानते हैं, भीष नहीं, अतः पूर्व वाले पचित को ही अनुदात्त का प्रतिषेध होगा, द्वितीय भि को नहीं। तथा कोई २ दोनों तिङों को ही किम् से युक्त मानते हैं, अतंः भी में दोनों को ही अनुदात्त नहीं होगा। हमने वाक्य स्थित दोनों ही भत में दोनों को ही श्रनुदात्त नहीं हागा। हुन । ... किम् से युक्त सानकर निघात के प्रतिषेध का स्वर दिखाएं। है।

लोपे विभाषा ॥८।१।४५॥

लोपे ७।१।। विभाषा १।१।। अनु - किं क्रियाप्रश्नेऽनुपर्साक्ष् विद्धम्, तिङ्, न, अनुदान्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य॥ क किमो लोपे सति क्रियाप्रश्नेऽनुपसर्गमप्रतिपिद्धं तिङन्तं विभाषा नाता भवति ।। यत्र किमोऽर्थो गम्यतं न च प्रयुज्यते तत्र किमो होपो हेरा उदा०-देवदत्तः पर्चति आहोस्वित् पर्ठति ?। प्र-देवदत्तः को आहोस्वित् पठिति ?।।

भाषार्थः किम् का [लोपे] छोप होने पर किया के प्रत अनुपसर्ग अप्रतिषिद्ध तिङन्त को [विभाषा] विकल्प करके अनुवृत्त है। होता ।। पक्ष में यथाप्राप्त (८।१।२८) अनुदात्त ही होगा ॥ यहाँ हि सूत्र से किम् के छोप का तात्पर्य नहीं है, किन्तु जहाँ किम् च गम्यमान हो, किन्तु उसका प्रयोग न हो रहा हो, वही कि अदर्शन = अर्थात् लोप समझा जायेगा । इस प्रकार उदाहरण में भ देवदत्त पकाता है, अथवा पढ़ता है' ? ऐसा अर्थ होने से किम् क है, किन्तु वह प्रयुक्त नहीं है, इसिछिये किम् का लोप ही माना मा स्वर सिद्धियाँ पूर्ववत् जानें।।

एहिमन्ये प्रहासे लट् ॥८।१।४६॥

एहिमन्ये लुप्तप्रथमान्तिनिर्देशः ॥ प्रहासे जोशा लृद् शशामा पहिरक् मन्ये च एहिमन्ये, इतरेतरद्रन्द्रः ॥ श्रनु०—ितङ्, न, अव सर्वमपादादौ, पदात् , पदस्य ॥ अथै:—एहिमन्ये इत्यतेन युक्त तिङन्तं प्रहासे गम्यमाने नानुदात्तं भवति ॥ प्रकृष्टो हासः प्रहासे प उदा० – एहि मन्ये ओद्नं भोक्ष्यसे नहि भोक्ष्यसे, मुक् थिभिः। एहि मन्ये रथेन यास्यसिं, नहि यास्यसिं यातस्तेन पिती

भाषार्थः—[एहिमन्ये] एहि तथा मन्ये से युक्त [लूट्र] हुन है तिङन्त को [प्रहासे] पहि तथा मन्ये से युक्त [लृद्] । तिङन्त को [प्रहासे] प्रहास (हँसी) गम्यमान हो तो अनुस्ति । होता ।। मन धान न होता ।। मन धातु का मन्ये उत्तम पुरुष का रूप है, एवं इण् मंध्यम पुरुष का 'एहि' है, सो 'एहिमन्ये' क्रियापतें में अपन मानकर समस्त निर्देश किया है। इस प्रकार एहि मन्ये ऐसे समुद्री उपपद रहते भोक्स उपपद रहते भोक्ष्यसे अनुदात्त नहीं हुआ। भोक्यसे की हा 啊。

प्र

त्तं

म्ब

गवा

हा ८।१।३१ में देखें। यास्यसि में भी सिप् को पित् स्वर से अनु-गतित तथा स्य को प्रत्ययस्वर से उदात्तत्व होगा। पश्चात् 'सि' को कि बित हो जायेगा ।। मन्यसे के स्थान पर मन्ये एवं भोक्ष्ये के स्थान पर कि के बह पुरुष व्यत्यय प्रहासे च मन्यो (१।४।१०५) से हुआ है। वहीं देखें, जिससे प्रहास स्पष्ट हो जायेगा।।

जात्वपूर्वम् ॥८।१।४७॥

जातु अः।। अपूर्वम् १।१।। सः अविद्यमानं पूर्वं यसमात् तद् क्षंम्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वेमपादादौ, हात्, पदस्य ।। अर्थः - अविद्यमानपूर्वेण जातु इत्यनेन युक्तं तिङन्तें 1 खुरातं भवति ।। उदा० — जातु भोद्यसे , जातु कृरिष्यामि ।। म ब

भाषार्थ: [अपूर्वम्] जिससे पूर्व कोई पद विद्यमान नहीं है ऐसे द्भ [बतु] जातु शब्द से युक्त तिङन्त को अनुदात्त नहीं होता।। सिद्धियों मर्भ में पूर्ववत् प्रत्यय स्वर से 'स्य' उदात्त है।।

यहाँ से 'अपूर्वम्' की अनुवृत्ति ८।१।५० तक जायेगी।।

किंवृत्तं च चिदुत्तरम् ॥८।१।४८॥

किंवृत्तम् १।१।। च अ० ।। चिद्धत्तरम् १।१।। स०—िकमो वृत्तं किं-म विम् पष्टीतत्पुरुषः ।। वृत्तमित्यधिकरणे (३।४।७६) क्तः, तेनाधिकरण्या सिंशि६८) इति 'किमः' इत्यत्र षष्टी । श्रिधिकरणवाचिना च (२।११३) लिनेन समासप्रतिषेषे प्राप्तेऽस्मादेव निपातनात् समासः ॥ चित् उत्तरं मात् तत् चिदुत्तरम्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—अपूर्वम्, तिङ्, न, अनु-मिनं तेन युक्तं तिङक्तं नानुदात्तं भवति ॥ किंवृत्तप्रहणेन विभक्त्यन्तं विह्नासप्रत्ययान्तं च किमो रूपं गृह्यते ॥ उदा० — कश्चिद् मुङ्क्ते, कि मोजयंति, कश्चिद् अधीते। केनचित् करोतिं। कसीचिद् काश्चद् अधात । नना स्ट्रम्कतरियद् मुङ्कते ॥

भाषार्थ:- [चिदुत्तरम्] जिससे उत्तर 'चित्' है, तथा जिससे पूर्व भि भी अनुदात्त नहीं होता।। किंवृत्त से किम् शब्द से उत्पन्न जो

[SA] विभक्तियाँ तद्विभक्त्यन्त शब्द तथा डतर डतम प्रत्ययान क्रिका प्रहण है।। वृत्तं में अधिकरण में क्त हुआ है। वक्तीऽक्रिका बृत्तम् । किमो वृत्तं = किम् का (उसमें) रहना किंवृत्त है ॥ मान आदि की स्वरसिद्धि परि० ८१११३० में देखें। भोजयित णिजनह है, सो धातु स्वर से 'भोजि' का 'इ' उदात्त रहा । परवात् गुण कर करके 'ज' का अ उदात्त हो गया। ददाति को आदुदात मुक्तः (६।१।१८४) से होता है।।

आहो उताहो चानन्तरम् ॥८।१।४९॥

आहो अः ।। उताहो अः ।। च अः ।। अनन्तरम् १।१॥ 🕞 अविद्यमानमन्तरं व्यवधानं यस्य तद्नन्तरम्, बहुब्रीहिः॥ गनुः-स् र्वम्, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वेमपादादी, पदात्, पदस्य॥ क्री आहो, उताहो इत्येताभ्याम् अविद्यमानपूर्वाभ्याम् युक्तमनन्तरं निवे नानुदात्तं भवति ॥ उदा०-आहो सुङ्कते, उताहो सुङ्कते। पठति, उताहो पठति ॥

भाषार्थः—अविद्यमान पूर्व वाछे [आहो उताहो] आहो जही युक्त जो [अनन्तरम्] अञ्यवहित = ञ्यवधान रहित तिङ् अस्रो भी अनुदात्त नहीं होता है।। पूर्ववत् स्वर-सिद्धियाँ हैं॥

यहाँ से 'श्राहो उताहो' की अनुवृत्ति ८।१।५० तक जायेगी॥

शेषे विभाषा ॥८।१।५०॥

शेषे ७१॥ विभाषा १।१॥ श्रनु०—आहो उताहो, अपूर्वम्। न, अनुद्गत्तं सर्वमपादादा, पदात्, पदस्य ॥ अर्थः—आहे। इत्येताभ्यामपूर्वाभ्यां युक्तं तिङन्तं शोषे विभाषा नानुदातं भीषे अनन्तरापेक्षं शेषत्वम् ॥ जनात् शासे नेन्यनः पर्वति अननारापेक्षं शेषत्वम् ॥ उदा०—आहो देवदत्तः पर्चित, देवद्त्तः प्चिति । उताहो देवद्त्तः पठिति, पक्षे-उताहो देवद्त

भाषार्थ: पूर्व सूत्र में 'आहो उताहों' से अनन्तर तिह्नी तुदात्त कहा था। यहाँ 'शेषे' प्रहण अनन्तर की अपेक्षा से स्वी अविद्यमानपूर्व आहो, उताहो शब्दों से युक्त तिङन्त को शिषे अविद्यमानपूर्व आहो, उताहो शब्दों से युक्त तिङन्त को शिषे अविद्या शेष विषय (अर्थात् व्यवधान) में [विभाषा] विकल्प कर्ष

11

होता ॥ इस प्रकार पक्ष में अनुदात्त यथाप्राप्त होता है ॥ विकल्प के अनुस्ता निवासी प्रमाणिक स्वासी है।।

कि वासी में अही उताही एवं तिङन्त के मध्य में 'देवद्त्तः' पद् इ इवधान होने पर विकल्प से अननुदात्त हो गया।। पूर्व सूत्र से का विकल्प कर दिया।।

गत्यर्थलोटा लण्न चेत् कारकं सर्वान्यत् ॥८।१।५१॥

ात्यर्थछोटा ३।१।। ऌट् १।१।। न अ०।। चेत् अ०।। कारकम् १।१।। र्मायत् १।१।। स - गतिरथीं येषां ते गत्यर्थाः, बहुब्रीहिः । गत्यर्थानां हेर्गत्यर्थे छोट् , तेन " वष्टीतत्पुरुषः । सर्वेश्च तदन्यत् च सर्वान्यत् , 📴 अधारयतत्पुरुषः ॥ अनु० — तिङ् , न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात् न् इत्य ॥ अर्थः —गत्यर्थलोटा युक्तं लडन्तं तिङन्तं नानुदात्तं भवति, भी वित्त कारकं सर्वेमन्यद् अवति ।। यश्मिन् कारके (कर्त्तरि कर्मणि वा) हिं ग्रेर्, तिस्मन्तेव कारके यदि लुडिप स्यादित्यर्थः ॥ उदा०-आगच्छ । बिल्त प्रामं द्रक्ष्यस्य नम्। आगच्छ देवदत्त प्राममोदनं भोत्त्यसे । भीण—उह्यन्तां देवदत्तेन शालयस्तेनैव भोक्ष्यन्ते । उह्यन्तां यज्ञदत्तेन वह विषयो देवदत्तेन भोक्ष्यन्ते ।।

के विषय के विष वुक [खट्] लडन्त तिङन्त को अनुदात्त नहीं होता, [चेत्] यदि शिक्तम्] कारक [सर्वान्यत्] सारा अन्य [न] न हो तो।।

तिहू से वाच्य कर्त्ता कर्म कारक होते हैं, अतः यहाँ कारक से कर्त्ता में का ही प्रहण है। जिस कारक = कर्त्ता अथवा कर्म में छोडन्त हो, भी कारक में यदि लडन्त (जिसे अनुदात्त का निषेध कर रहे हैं) वह महोतो, अर्थात् लोडन्त एवं लडन्त तिङ् का वाच्य कारक भिन्न २ न है। पूर्व तो, अथोत् लोडन्त एवं लुडन्त तिङ् का पाण्य स्ति। भी भी भी पहीं 'सर्वान्यत्' का तात्पर्यार्थ है। पूर्व दो उदाहरणों में 'आगच्छ' प्रिंगित भोक्ष्यसे दोनों (लोडन्त एवं लडन्त) तिङन्त कर बाच्य क्रिक्त में हैं, एवं पश्चात् के उदाहरणों में उद्यन्तां लोडन्त तथा भोच्यन्ते क्रिक्त कर्मवाच्य में हैं इस प्रकार 'सर्वान्यत्' नहीं है। गम् तथा हैं हैं हो कर्मवाच्य में हैं इस प्रकार 'सर्वान्यत्' नहा द । होत्यर्थक धातुएँ हैं, सो छोट् प्रत्ययान्त आगच्छ आदि से युक्त हिन पद् है ही, अतः उसे अननुदात्त हो गया।। 'उद्यन्तां देव-भार है ही, अतः उसे अननुदात्त हो गया।।
का अर्थ है—देवदत्त के द्वारा धान ठाई (ढोई) जावे, उसी का अर्थ है—देवदत्त के द्वारा धान लाइ (बार) बाई जाये। द्रव्यसि में सुजिहराी० (६।१।४७) से छुत्र को अम्

[मह

आगम, त्रश्चमस्त्र (८।२।३६) से पत्र तथा पढ़ोः कः मि (८।२॥)। कत्व हुआ है। प्रत्ययस्त्रर से 'स्य' सर्वत्र उदात्त है। मुज् का कर्ता कर्म में भोक्ष्यते ही रूप बनेगा। चोः कुः (८।२।३०) से कुलग्रही (८।४।५४) से चर्त्व क् यहाँ हुआ है। अन्तिम वाक्य में दोनों कि का वाच्य कर्म एक ही है, अतः कर्ता में भेद होने पर भी सूत्र का हो जाता है।।

यहाँ से 'गत्यर्थलोटा न चेत् कारकं सर्वान्यत्' की अनुवृत्ति 💵

तक जायेगी।।

लोट् च ॥८।१।५२॥

लोट् १।१॥ च अ०॥ अनु० - गत्यर्थलोटा न चेत् कारकं स्रांत्र हु तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात , पदस्य ॥ अर्थः —गत्यके स् युक्तं लोडन्तं च तिङन्तं नानुदात्तं भवति, न चेत् कारकं स्वंत्र भवति ॥ उमयोर्लोडन्तयोरेकं कारकं यदि भवतीत्यर्थः॥ उत्र अगाच्छ देवद्त्त ग्रामं पश्यं । आव्रज विष्णुमित्र ग्रामं शाधि। भाषते हैं।

देवदत्तेन प्रामो दृश्यता यज्ञदत्तेन ॥

नामार्थः—गत्यर्थक धातुओं के छोडन्त से युक्त [लोट] हें हैं वि तिङन्त को [च] भी अनुदात्त नहीं होता, यदि कारक (दोनों कि हों। सारे अन्य न हों तो ।। पूर्वे सूत्र से ल्डन्त को ही अननुदात प्राह्म छोडन्त को भी कह दिया ।। 'न चेत कारकं सर्वान्यतं' की वि पूर्ववत् समझें। यहाँ आगच्छ आदि से युक्त 'पश्य' आदि छोड़नें अ आगम्यताम् हरयताम् में कमंवाच्य में छकार है ।। छोट् मध्यम प्राह्म आगम्यताम् हरयताम् में कमंवाच्य में छकार है ।। छोट् मध्यम प्राह्म अव 'पश्य' आदेश तथा हि लुक् (६।४।१०५) होकर पश्य कि अविषय से अव्याद्म था, सो शप् के अविषय से आद्यात्म पद हुआ। शाधि की सिद्धि सूत्र ६।४।२२ में देखें, कि के अपित् होने से प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्म है । आमेतः विश्व का 'आ' प्रत्यय स्वर से उदात्म बना। 'हुश् तामें का 'आ' प्रत्यय स्वर से उदात्म है । यक् विकरण 'तामें के प्राह्म का 'आ' प्रत्यय स्वर से उदात्म है । यक् विकरण 'तामें के प्राह्म का 'आ' प्रत्यय स्वर से उदात्म है । यक् विकरण 'तामें के प्राह्म है, अतः सितिशष्ट (ता० ६।१।१५२) होने से 'य' को इति होते के विकरणस्वर सिविश्य ६।१।६५२) इस भाष्य वचन से विकरणस्वर सिविश्व को नहीं बाधता, अतः 'ताम्' को स्वर की प्राप्ति होने के नहीं बाधता, अतः 'ताम्' को स्वर की प्राप्ति होने के नहीं बाधता, अतः 'ताम्' को स्वर की प्राप्ति होने के नहीं बाधता, अतः 'ताम्' को स्वर की प्राप्ति होने के नहीं बाधता, अतः 'ताम्' को स्वर की प्राप्ति होने के नहीं बाधता, अतः 'ताम्' को स्वर की प्राप्ति होने के नहीं बाधता, अतः 'ताम्' को स्वर की प्राप्ति होने के नहीं बाधता, अतः 'ताम्' को स्वर की प्राप्ति होने के नहीं बाधता, अतः 'ताम्' को स्वर की प्राप्ति होने के नहीं वाधता, अतः 'ताम्' को स्वर की प्राप्ति होने की नहीं बाधता, अतः 'ताम्' को स्वर की प्राप्ति होने के नहीं वाधता, अतः 'ताम्' को स्वर की प्राप्ति होने की नहीं वाधता, अतः 'ताम्' को स्वर की प्राप्ति होने कि नहीं वाधता, अतः 'ताम्' को स्वर की प्राप्ति होने कि नाम की स्वर की प्राप्ति होने के नाम की स्वर की प्राप्ति होने कि नाम कि स्वर की प्राप्ति होने कि नाम की स्वर की

अष्ट्रमोऽध्यायः

४७५.

शिक्षां विविद्य हुपदेश (६११११८०) से ताम् अनुदात्त हो जाता है, का हो हुश्यतीम् का स्वर रहता है।।

वहाँ से 'लोट्' की अनुवृत्ति ८।१।५४ तक जायेगी।।

[[]

161

शि

R

1

विभाषितं सोपसर्गमनुत्तमम् ॥८।१।५३॥

विमाषितम् १।१॥ सोपसर्गम् १।१॥ अनुत्तमम् १।१॥ स०— क्षामांण सह वर्त्तते सोपसर्गम्, बहुव्रीहिः। न उत्तममनुत्तमम्, ब्र्त्युरुषः ॥ अनु - छोट् , गत्यर्थछोटा न चेत् कारकं सर्वान्यत् , हर्, न, अनुदात्तं सर्वेमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ अर्थः - गत्यर्थछोटा र्गत्र कं सोपसर्ग मुत्तमपुरुषवर्जितं छोडन्तं तिङन्तं विभाषा नानुदात्तं विभाषा भवति, न चेत् कारकं सर्वान्यद् भवति ।। प्राप्तविभाषेयम् ॥ विभाषा क्षंत्र समानार्थो विभाषितशब्दः ॥ उदाः आगच्छ देवदत्त प्रामं क्षाम् । पक्षे—आगच्छ देवदत्त प्रामं प्रविश् । आगच्छ देवदत्त प्रामं क्षि। पक्षे—आगच्छ देवदत्त प्रामं प्रशािध्।।

भाषार्थ:—गत्यर्थक धातुओं के लोडन्त से युक्त [सोपसर्गम्] डपस्र्ग क्षेत्र एवं [अनुत्तमम्] उत्तम पुरुष वर्जित जो लोडन्त तिङन्त उसे विमाषितम् विकल्प करके अनुदात्त नहीं होता, यदि कारक सभी अन्य मित्र २) न हों तो ।। पूर्व सूत्र से नित्य प्रतिषेध प्राप्त था, सोपसर्ग में कह दिया, सो यह प्राप्त विभाषा है।। 'विभाषित' शब्द विभाषा क्षी समानार्थक है।। प्रशाधि के अन्तोदात्त स्वर की सिद्धि पूर्ववत् जाने किति चोदात्तवति (८।१।७१) से निघात होगा। प्र पूर्वक विश् भारतिकार में हि छोप हो जाने पर विकरण स्वर और प्र को विकास है आ । प्रविश् श = प्रविश यहाँ श विकरण प्रत्यय स्वर से उदात्त अन्तोदात्त 'प्रविश' पद् रहा। पक्ष में तिङन्त को यथाप्राप्त भावशा पद रहा। नयः स्वात होगा ।। अपेर 'प्र' उपसर्ग स्वर (फिट्० ८०) से उदात्त होगा ।। गहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।१।५४ तक जायेगी।। AS

हन्त च ॥८।१।५४॥

1 हत्त अ० ।। च अ० ।। त्रनु०—विभाषितं सोपसर्गमनुत्तमम्, ह्योट्, हिन अ०।। च अ०।। त्रानु०—विभाषितं सापसगमगुः ।। वर्षः—हन्त भारते अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य।। वर्षः—हन्त भी भी अनुदात्तं सर्वेमपादादी, पदात्, पदस्य ॥ उत्ति सर्वेमपादादी, पदात्, पदस्य ॥ उत्ति सर्वेमपादादी, पदात् , पदस्य ॥ उत्ति सर्वेमपादादी । पदात् । । पदात्ति । पदात् । पदात् । पदात् । पतात् । पदात् । पद भवति ।। *उदा*ः—हन्त प्र<u>वि</u>श्च । पश्चे—हन्त प्रवि<u>श</u> । हन्त प्रशे । हन्त प्रशे ।

भाषार्थः—[हन्त] हन्त से युक्त सोपतर्ग उत्तम पुरुष विति है।
तिङन्त को [च] भी विकल्प से अर्जुदान्त नहीं होता ॥ निपतिके ।
(८।१।३०) से यहाँ नित्य निघातप्रतिषेध प्राप्त था, विकल्प का हि।
पूर्ववत् सिद्धियाँ जाने ॥

आम एकान्तरमामन्त्रितमनन्तिके ॥८।१।५५॥

आमः ५११॥ एकान्तरम् १११॥ आमन्त्रितम् १११॥ अनिकेश ए० एकं (पदम्) अन्तरं यस्य तदेकान्तरम्, बहुव्रीहिः। न अति समानितकम्, तस्मिन् ''नव्यतत्पुरुषः ॥ ऋनु० — न, अनुदात्तं संभगति पदात्, पदस्य ॥ अर्थः — आमः परमेकपदान्तरमनन्तिके वर्तमानमानि नानुदात्तं भवति ॥ उदा० — आम् पचिस देवेदत्त । आम् भो देवि । अनितके इत्यनेन सामीप्यार्थस्य प्रतिषेधः कियते । सूत्रलाधवार्यं इत्यस्यानुक्तत्वात् यञ्च समीपं यच्च न दूरं ताह्म् अर्थो गृह्यते । तेविकं अर्थोः प्राप्तस्यभावे प्राप्तमनुदात्तत्वमेव प्रतिषिध्यते ॥

भाषार्थः - [आमः] आम् से उत्तर [एकान्तरम्] एक पर्का अन्तर = व्यवधान है जिसके मध्य में ऐसे [आमन्त्रितम्] आर्मित संज्ञक पद को [अनिन्तके] अनिन्तक (जो समीप नहीं अर्थात् नहीं समीप) अर्थ में अनुदात्त नहीं होता ।। उदाहरणों में आम् से उत्तरिक आमन्त्रितसंज्ञक 'देवंद्त्त' के मध्य में 'पचिसि' एवं 'भोः' एक पर्वा व्यवधान है, अतः एकपदान्तिरत = एक पद से व्यवहित आर्मित पद है हीं; सो अनुदात्त का निषेध होने से षाष्ट्रिक आमित्रित (६।१।१६२) से आमित्रित हैं को आमित्रित प्वमिवद्यमानवत् (८।१।७२) से अविद्यमानवद् मानित्रते होने 'पर एकान्तिरतत्व नहीं रहता अतः यहाँ भो के अविद्यमानवद् नामित्रिते समानाधिकरणे (८।१।७३) से निषेध जानना चाहिए॥ अन्तिक का अर्थ होगा होने अनित्रक का अर्थ होगा होने

१. महाभाष्य में 'अनिन्तक' में विरुद्ध ग्रर्थ में तब् मानकर हर महिला को भी प्राप्ति दिखाकर उस एकश्रुति का भी इस स्त्र में प्राद्धित च (51715४) से ग्रामन्त्रित को जुत होगा है।

मिंग। अनितक से यहाँ समीप अर्थ से भिन्न दूर अर्थ अभिन्नेत है यदि 'दूर' अर्थ ही अभिप्रेत हो तो सूत्र में स्पष्ट 'दूरे' कहते क्ष यहाँ निजवयुक्तम् (परि० ६४) परिभाषा के नियम से जो 'न दूर मिन् यही अर्थ लेना है। इस प्रकार अनन्तिक (न दूर न समीप) कि अमें अनुदात्त निषेध करने से दूर अर्थ में विधीयमान जो कार्य वे क्ते क्षेत्र में यथाविहित होते हैं। यथा – एकश्रुति दूरात् सम्बुद्धी का। इनका भी प्रतिषेध न हो यही यहाँ 'अनिन्तके' प्रहण का प्रयोजन हैं। दिहाहरण में 'भोः' के रु के र् को मोमगोत्राघो० (८।३।१७) से य् अति वा लोपः शाकल्यस्य (८।३।१९) से उस य् का छोप होकर 'भो' बना वहाँ त्रामन्त्रितं पूर्वम० (८।१।७२) से 'भोः' को अविद्यमानवत्ता विच्या थी, किन्तु नामन्त्रिते समानाधिकरणे० (८।१।७३) से अविद्यमानवत्ता का अप्रतिपेध हो जाता है, सो विद्यमानवत्ता ही मानी जाती है। अविद्य-व विकास होने से एकपदान्तरता न मिलती।। 111

यद्धितुपरं छन्दिस ।।८।१।५६॥

्यद्भितुपरम् १।१॥ छन्द्सि ७।१॥ स० - यत् च हिश्च तुश्च यद्भितवः, मार्गाताद्वन्द्वः। यद्धितवः परे यस्मात् तत् यद्धितुपरम्, बहुव्रीहिः॥ मानिक्तिकः । याद्धतवः पर यस्मात् तत् नाळ्डाः । अर्थः— नाः — तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ अर्थः— विष्यं हिपरं तुपरं च तिङन्तं छन्द्सि विषये नानुदात्तं भवति ॥ उदा०— नाम् नावीं गोत्रमुद्सुं जो यदं द्विरः (ऋ० २।२३।१८)। हिपरम्-इन्द्वो पानि हि (ऋ० शरा४) । तुपरम्—आख्यास्यामि तु ते ॥

माषार्थः [यद्धितुपरम्] यत्परक, हिपरक तथा तुपरक तिङ् को वेद विषय में अनुदात्त नहीं होता ।। यत् परक तिङ्न को वेद विषय में अनुदात्त नहीं होता ॥ यत् पर्वा से एवं विषय में अनुदात्त नहीं होता ॥ यत् पर्वा से एवं विषय में अनुदात्त नहीं होता ॥ यत् पर्वा से एवं विषय में अनुदात्त नहीं होता ॥ यत् पर्वा से एवं विषय में अनुदात्त नहीं होता ॥ यत् पर्वा से एवं विषय में अनुदात्त नहीं होता ॥ यत् पर्वा से एवं विषय में अनुदात्त नहीं होता ॥ यत् पर्वा से एवं विषय में अनुदात्त नहीं होता ॥ यत् पर्वा से एवं विषय में अनुदात्त नहीं होता ॥ यत् पर्वा से एवं विषय में अनुदात्त नहीं होता ॥ यत् पर्वा से एवं विषय में अनुदात्त नहीं होता ॥ यत् पर्वा से एवं विषय में अनुदात्त नहीं होता ॥ यत् पर्वा से एवं विषय में अनुदात्त नहीं होता ॥ यत् पर्वा से एवं विषय में अनुदात्त नहीं होता ॥ यत् पर्वा से एवं विषय में अनुदात्त नहीं होता ॥ यत् पर्व से एवं विषय में अनुदात्त नहीं होता ॥ यत् पर्व से एवं विषय में अनुदात्त नहीं होता ॥ यत् पर्व से एवं विषय में अनुदात्त नहीं होता ॥ यत् पर्व से एवं विषय में अनुदात्त नहीं होता ॥ यत् पर्व से एवं विषय में अनुदात्त नहीं होता ॥ यत् पर्व से एवं विषय में अनुदात्त नहीं होता ॥ यत् पर्व से एवं विषय में अनुदात्त नहीं होता ॥ यत् पर्व से एवं विषय में अनुदात्त नहीं होता ॥ यत् पर्व से एवं विषय में अनुदात्त नहीं होता ॥ यत् पर्व से एवं विषय में अनुदात्त नहीं होता ॥ यत् पर्व से एवं विषय में अनुदात्त नहीं होता ॥ यत् पर्व से पर् तथा हि परक का हि प (प्राप्त) से तथा हि परक का हि प (प्राप्त) से तथा हि परक का हि प (प्राप्त) से हि था, विकास त्या है कि (८।१।३९) से निघात आत्राप्य राज्य प्रतिषेध कि स्वाप्य कि स्व कि प्र के योग में हो, अन्यों के नहीं'। उदाहरणों में तिङन्त

वर्ष में नज् का अर्थ करके 'न दूर न समीप' यह ग्रर्थ भ्रनन्तिक का किया' विषय होने ही पक्ष भाष्य में होने से प्रमाण हैं। प्रथमावृत्ति से प्रथक् विषय होने कि स्ता ही लिखना पर्याप्त है।।

से परे यत्, हि, तु हैं ही ।। उद्सुजः यह उत् पूर्वक स्ज (तुराः) का लड़ सिप् में बना रूप है, अतः पूर्ववत् इसका 'अद्' उत्त यत् परे रहते सन्धि में हिश च (६।१।११०) त्राद् गुणः (६॥) लगकर 'उद्मुजो' बना है।। वश कान्तौ (अदा०) से लट् व्युक्त उद्यन्ति बना है। यहिज्यावियः (६।१।१६) से व्को सम्प्रसाणक शप् का लुक् २।४।७२ से हुआ है। इस प्रकार अन्ति का 'अ' प्रलाह से उदात्त है, सो मध्योदात्त पद रहा । आख्यास्यामि आङ्फ्रीह प्रकथने से लट् में बना है, सो पूर्ववत् स्य उदात्त है। किन उदात्त होने पर उपसर्गे तिङि चोदात्तवित (८।१।७१) से असुन जाता है।।

चनचिदिवगोत्रादितद्धिताम्रेडितेष्वगतेः ॥८।१।५॥

चनः 'डितेषु ७।३।। अगतेः ५।१।। स०—गोत्र आदिर्वेषां तेषी दयः, बहुब्रीहिः । चनश्च चित् च इवश्च गोत्रादयश्च तद्धिताश्च कौ चनचि ' 'डितानि तेषु' ' इतरेतरद्वन्द्वः । न गतिरगतिसा नञ्तत्पुरुषः ।। अनु - तिङ् , न, अनुदात्तं सर्वमपादादी, पदस्य ।। अर्थः चन, चित्, इव, गोत्रादि, तद्धित, आहे ित परतोऽगतेरुत्तरं तिङ्ग्तं नानुदात्तं भवति ॥ उदा०-देवद्तः पर्चितः वित्—देवद्तः पर्चितं वित् । इव —देवद्तः पर्चितं इव । गीर्वा देवद्तः पर्चितं गोत्रम्, देवद्तः पर्चितं ब्रुवम्, देवद्तः पर्चितं व्रुवम्, देवद्तः पर्चितं ब्रुवम्, देवद्तः पर्चितं ब्रुवम्, देवद्तः प्रवर्चनम् । तद्धित—देवद्त्तः पर्चति ब्रुवम्, देवद्तः पर्चतिकल्पम् । तद्धित—देवद्त्तः पर्चतिकल्पम् , पर्चतिक्ष्पम् । अर्धि देवदत्तः पर्चति प्चति ॥

भाषार्थः — [चनः 'हितेषु] चन, चित्, इव तथा गोत्रादि गार्थः शब्द तिद्धत प्रत्यय एवं आम्रेडित संज्ञक शब्दों के परे रहते गतिसंज्ञक से भिन्न किसी पद से उत्तर तिङन्त को अनुदान है। पचितकल्पम् में पचित तिङन्त से ईषदसमाप्ती (१।३।६०) विकास तथा पचतिरूपम् में प्रशंसायां (५।३।६६) से रूपप् तहित प्रशि है। पित हो े े है। पित् होने से ये प्रत्यय अनुदात्त हैं, प्रश्चात् एकप्रतिक्षी

१. संहितापाठ के स्वरनियम से यहाँ जुशन्ति के ति को स्वरित अनुदात्त द्रिखाया है।

त्यव ह

वंक ह

A F

शिश्वश्ह) से हो ही जायेगी। पचित की स्वरसिद्धि पूर्ववत् है। कितः पचित पचित यहाँ नित्यवीप्सयोः (८।१।४) से पचित को द्वित्व कि हो है, सो पर वाला पचित आम्नेडितसंज्ञक है, उसके परे रहते पूर्व का वाले पचित के निघात का निषेध हो गया।। ारणत

यहाँ से 'अगतेः' की अनुवृत्ति ८।१।५८ तक जायेगी।।

चादिषु च ॥८।१।५८॥

तिलं चाद्यु ७।३।। च अ०।। स०—च आद्रियेषां ते चाद्यस्तेषुःः हुवीहिः ॥ श्रनु०—अगतेः, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वेमपादादौ, पदात्, क्तय ॥ अर्थ:--चादिषु च परतोऽगतेरुत्तरं तिङन्तं नानुदात्तं भवति ॥ गर्यो न चवाहाहैवयुक्ते (८।१।२४) इत्यत्र ये निर्दिष्टास्त एव ॥ गुल्तेऽत्र ।। उदा० चश्रब्दे -देवद्त्तः पचिति च खाद्ति च । वा-हें विद्ताः पचित वा खाद्ति वा । ह-देवद्त्तः पचित ह खाद्ति ह । अह-क्रिक्तः पच्त्यह खाद्त्यह । एव-देवद्त्तः पच्त्ये व खाद्त्ये व ॥

माषार्थ: [चादिषु] चादियों के परे रहते [च] भी गतिभिन्न पद म् रत्तर तिङन्त को अनुदात्त नहीं होता ॥ चादि गणपाठ में पठित कार तिल्डन्त का अनुदात्त नहा हाता ता ता है। इस भी हैं, तथा 'न चवाहाहैवयुक्ते' सूत्र में निर्दिष्ट च, वा आदि शब्द विक्रिया है, तथा 'न चवाहाहवयुक्त सूत्र मानापट ।, ... भी चादि' से कथित हैं, सो यहाँ समीपस्थ होने से सूत्र निर्देष्ट च विश्व सिकाथत ह, सा यह। समानत्य हारा से के ना है, चादि (११४१४७)गणपठित शब्द

गहाँ चादि परे रहते अगति से उत्तर तिङन्त दोनों पदों को निघात भ्रातिषध होता है। चवायोगे प्रथमा (८।१।५९) सूत्र का विषय विषय होने से उसकी यहाँ पूर्व प्रयोग और गति से उत्तर का विषय होने से उसकी यहाँ वित्त नहीं होती ।। 科

चवायोगे प्रथमा ॥८।१।५९॥

विवायोगे ७।१॥ प्रथमा १।१॥ स०—चश्च वाश्च चवा, जाने विवायोगीतिस्मन् दिन्द्रगर्भतृतीयातत्पुरुषः ॥ श्रनु०—तिङ्, न, अनु-विवायोगीतिस्मन् दिन्द्रगर्भतृतीयातत्पुरुषः ॥ श्रनु०—तिङ्, न, अनु-विवायोगीतिस्मिन् पद्। श्रर्थः—च, वा इत्येताभ्यां योगे विवायोगे ७।१॥ प्रथमा १।१॥ स०—चस्र वास्र चवी, ताभ्यां योगः भाषादादों, पदात्, पदस्य ॥ अथः—च, पा क्राया भाषादिक्विमक्तिर्नानुदात्ता भवति ॥ उदा०—गर्दभाँश्च काल्यंति, भे विद्यति । गद्भान् वा क्रुंछयंति, वीणां वा <u>वाद्यति ॥</u>

भाषार्थ:—[चवायोगे] च तथा वा के योग में [प्रथमा] प्रविद्या तिङन्त को अनुदात्त नहीं होता ।। उदाहरण वाक्यों में दो तिङन् हा हैं, उनमें से प्रथम तिङन्त को निघात का निषेध प्रकृत सूत्र से हा हिं। द्वितीय तिङन्त को तिङ्डितिङः (८।१।२८) से प्राप्त निषातं के होगा। पूर्ववत् (सूत्र ८।१।४२–४८) भोजयित स्तनयित के स्वा काल्यित का स्वर जानें।।

यहाँ से 'प्रथमा' की अनुवृत्ति ८।१।६५ तक जायेगी॥

हेति क्षियायाम् ॥८।१।६०॥

सव

ह अ० ।। इति अ० ।। क्षियायाम् ७।१।। श्रनुः — प्रथमा, तिइ, क्षेत्रे अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ।। श्रर्थः — ह इत्यनेन युक्ता क्षेत्र विक्रियायां गम्यमानायाम् ।। क्षिण विक्रा सा चेहाऽचारव्यतिक्रमरूपा ।। उदाः — स्वयं ह रथेन विक्रियायां पदातिं गम्यति । स्वयं हौदनं भुङ्कते ३, उपाध्यायं स्व ।। पाय्यति ।।

भाषार्थः—[ह] ह [इति] इससे युक्त प्रथम तिङन्त विभिन्न होती । किं वाक्यस्थ प्रथम तिङन्त को अननुदात्त होगा, सो याति धात को आयुदात्त है, एवं भुङ्कते का स्वर पूर्व दिखाया जा चुका है। युक्त होता है। याति में 'ति' को स्वरित होने पर धात का की किं असिद्ध होने से 'या' उदात्त रहता है। परन्तु यहाँ 'याति' और 'प्रका अतिङन्त से उत्तर होने के कारण (८।१।२८) 'या' 'मु' अतुदात से सर्वानुदात्तत्व की प्राप्ति में अन्त्य को स्वरितत्व का विधान किया है। सर्वानुदात्तत्व की प्राप्ति में अन्त्य को स्वरितत्व का विधान किया है।

क्षिया, शिष्टाचार के ज्यतिक्रम को कहते हैं, सो उदाहरणें के रथ से जाना एवं आचार्य को पैदल ले चलना, इसी प्रकार हैं। पदार्थ चावल खाना तथा आचार्य जी को सक्तु पिलानी, कि शिष्टाचार का ज्यतिक्रम है।।

यहाँ से 'चियायाम्' की अनुवृत्ति ८।१।६१ तक जायेगी।

4=8

अहेति विनियोगे च ॥८।१।६१॥

क्ष पहः]

M

अह अ०॥ इति अ०॥ विनियोगे ७।१॥ च अ०॥ अनु०—
विवायाम्, प्रथमा, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥
क्यः—अह इत्यनेन युक्ता प्रथमा तिङ्विभक्तिनीनुदात्ता भवति विनियोगे
स्वायमाने चकारात् श्चियायां च गम्यमानायाम्॥ उदा०— विनियोगे—
तमह ग्रामं गच्छं ३, त्वमहारण्यं गुच्छ्। श्चियायाम्—स्वयमह रथेन
वाति ३ उपाध्यायं पदातिं गुम्यति । स्वयमहौदनं भुङ्कते ३ उपाध्यायं
सत्त् पाय्यति ॥

भाषार्थः — [श्रह] अह [इति] इससे युक्त (वाक्यस्थ) प्रथम किन्त को [विनियोगे] विनियोग [च] तथा चकार से क्षिया गम्यमान कि पर अनुदात्त नहीं होता ।। अनेक प्रयोजन के लिये प्रेष देने को किनयोग कहते हैं, उदाहरण में 'तुम प्राम को जाओ, तुम अरण्य को जाओ', यहाँ अनेक प्रयोजन के लिये प्रेष हैं ।। 'गच्छ' (लोट् मध्यम प्राम को जा के लिये प्रेष हैं ।। 'गच्छ' (लोट् मध्यम प्राम को जा के लिये प्रेष हैं ।। 'गच्छ' (लोट् मध्यम प्राम को जा के लिये प्रेष हैं ।। 'गच्छ' (लोट् मध्यम प्राम को जा के लिये प्रेष हैं ।। 'गच्छ' (लोट् मध्यम प्राम को जा के लिये प्रेष हैं का लुक् आदि पूर्ववत् कि ।। प्राप्त के लिये प्रेष मानकर हुआ है, एवं याति ३ आदि में पूर्ववत् क्षियानिर्मित्तक के हैं ही ।।

चाहलोप एवेत्यवधारणम् ॥८।१।६२॥

चाहलोपे ७।१॥ एव अ०॥ इति अ०॥ अवधारणम् १।१॥ स०—

श्व अहश्च चाहौं, तयोलींपः चाहलोपस्तस्मिन् दृन्द्रगर्भषष्ठीतत्पुरुषः॥

श्व अहश्च चाहौं, तयोलींपः चाहलोपे चाहिला प्रदात्, पदस्य॥

श्व अहश्च द्विष्ठारणार्थं प्रयुक्यते॥ यत्र गम्यते चार्थो न च प्रयुक्यते

श्व अहश्च चाहौं। यत्र गम्यते चार्थो न च प्रयुक्यते

श्व अहश्च चाहौं। यत्र गम्यते चार्थो न च प्रयुक्यते

श्व अहश्च चाहौं। यत्र गम्यते चार्थो न च प्रयुक्यते

श्व अहश्च चाहौं। यत्र गम्यते चार्थो न च प्रयुक्यते

श्व अहश्च चाहौं। यत्र गम्यते चार्थो न च प्रयुक्यते

श्व अहश्च चाहौं। यत्र गम्यते चार्थो न च प्रयुक्यते

श्व अहश्च चाहौं। यत्र गम्यते चार्थो न च प्रयुक्यते

श्व अहश्च चाहौं। यत्र गम्यते चार्थो न च प्रयुक्यते

श्व अहश्च चाहौं। यत्र गम्यते चार्थो न च प्रयुक्यते

श्व अहश्च चाहौं। यत्र अहश्च चाहौं। यत्र गम्यते चार्थो न च प्रयुक्यते

श्व अहश्च चाहौं। यत्र अहश्च चाहौं। यत्र गम्यते चार्थो न च प्रयुक्यते

श्व अहश्च चाहौं। यत्र गम्यते चार्थो न च प्रयुक्यते।

भाषार्थः— चाहलोपे] च तथा अह शब्द का लोप होने पर प्रथम कियस्थे) तिङन्त को अनुदात्त नहीं होता, यदि [एव] एव [इति], किया में [अवधारणम्] अवधारण अर्थ में प्रयुक्त किया गया किया प्रयोग न किया गया हो, वहाँ 'च' तथा 'अह' का अर्थ तो हो, किन्तु

प्रथमः वह

4

माना जायेगा ।। च समुच्चय अर्थ में होता है, तथा अह केवल अर्थ । सो उसी प्रकार उदाहरणों का अर्थ 'च' अह के प्रयोग के विना ही की सो उसा प्रकार उदाहरण का जान प्रमाहित हैं। 'देवदत्त एव''' देवदत्त ही प्राप्त को जाने एवं देवदत्त ही कि को' यहाँ समुच्चय तथा 'देवदत्त ही केवल प्राप्त को जाने, एवं यहाँ की' यहाँ समुच्चय तथा 'देवदत्त ही केवल प्राप्त को जाने, एवं यहाँ की केवल अरण्य को, यहाँ लुप्त अह का केवलार्थ है। यहाँ स्र्वेत क हा कवळ अरुप ना, परा कु शब्द अवधारण (निश्चय) अर्थ में प्रयुक्त है।। प्रथम 'गच्छि म धातु स्वर से आद्युदात्त है, पचति के समान इसका खर जाते। द्वितीय गच्छतु पद यथाप्राप्त (८।१।२=) अनुदात्त होगा ही॥

चादिलोपे विभाषा ॥८।१।६३॥

चाद्छोपे ७११। विभाषा १११। स० —च आदिर्येषां ते चारा चादीनां छोपः चादिछोपस्तस्मिन् ं दृन्द्रगभेषष्ठीतत्पुरुषः॥ बहुः-प्रथमा, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वभपादादौ, पदात्, पदस्य॥ श्रां-चादिलोपे प्रथमा तिङ्विभक्तिर्विभाषा नानुदात्ता भवति॥ जाः चलोपे-शुक्ला व्रीह्यो भवंन्ति, (पक्षे-भवन्ति), रवेता गा आजा दुर्हन्ति । वालोपे-ब्रीहिभियंजे त (पक्षे-यजे त), यवैर्वेत । रोषेष्वपि यथाप्राप्तमुदाहर्त्तव्यम्।।

भाषार्थः—[चादिलोपे] चादियों के छोप होने पर प्रथम कि को [विभाषा] विकल्प करके अनुदात्त नहीं होता ।। चादि से बहुं चवाहाहैवयुक्ते (८।१।२४) सूत्र में निर्द्ष्ट च, वा, ह आदि शब्द हैं, गणपठित चादि नहीं । छोप का तात्पर्य पूर्ववत् ही 'जहाँ बारि का का अर्थ हो पर का अर्थ हो पर प्रयोग न हो' यही लेना है।। ह, अह आदि के लेप हैं। पर प्रथम तिङ् को विकल्प कहने से अनुदात्त वाले उदाहाण प्रयोग मिल्ले प्रयोग मिलने पर साधु समझने चाहिये।। भवन्ति में एक प्रवास अदुपदेश से परे 'अन्ति' को निघात होते से धार्वस्ति । अविति से धार्वस्ति । अविति से धार्वस्ति । अविति से धार्वस्ति । अविति से धार्वस्ति । आद्युदात्त रहेगा, तथा पक्ष में अनुदात्त होगा ही । यजेत यहाँ लसार्वधातकानराज्य को प्रेस से अनुदात्त होगा ही । यजेत यहाँ लसार्वधातुकानुदात्तत्व करने से धातुस्वर से यजेत आधुदात है। यहाँ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति ८।१।६५ तक जायेगी॥

वैवाव ृत्तुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ इति अ०॥ व अ०॥ व

T TE

1:-

司.

मि सिंग्न नेतर आसीत्। पक्षे-अयं वाव इस्त आसीत्।

गाणर्थः—[नेवाव] वै तथा वाव [इति] इनसे युक्त (वाक्यस्थ) मातिङन्त को [च] भी विकल्प से [छन्दिस] वेद विषय में अनुदात्ते हैं होता ।। प्रथम आसीत् का 'आट्' उदात्त रहेगा, तथा पक्ष में होता होगा ही । आसीत् की सिद्धि सूत्र ७।३।६६ में देखें।।

वहाँ से 'छन्दसि' की अनुवृत्ति ८।१।६५ तक जायेगी।।

एकान्याभ्यां समर्थाभ्याम् ॥८।१।६५॥

प्कान्याभ्याम् ३।२॥ समर्थाभ्याम् ३।२॥ स०—एकश्च अन्यश्च
बिन्ने विभ्यां प्रथमः 'इतरेतरद्वन्द्वः । समी तुल्यावर्थों ययोस्ती
बिन्नों ताभ्यां 'बहुव्रीहिः ॥ अनु० — छन्दिस, विभाषा, प्रथमा, तिङ्, अनुदात्तं सर्वभपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ अर्थः — एक, अन्य
बिन्नों अनुदात्तं सर्वभपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ अर्थः — एक, अन्य
बिन्नों अनुदात्तं सर्वभपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ अर्थः — एक, अन्य
बिन्नों अनुदात्तं सर्वभपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ अर्थः — एक, अन्य
बिन्नों अनुदात्तं सर्वभपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ अर्थः — एक, अन्य
बिन्नों अनुदात्तं सर्वभपादादौ, पदात् । अन्य
विभागाने विषये ॥ उदा० — प्रजामेका जिन्नेति ऊर्जमेका रक्षित् ।
विभागाने विषये ॥ उदा० — प्रजामेका जिन्नेति ऊर्जमेका रक्षित् ।
विभागाने विषये ॥ उदा० — प्रजामेका जिन्नेति उद्याद्वि ।
विभागाने विषये ॥ उदा० — प्रजामेका जिन्नेति उद्याद्वि ।
विभागाने विषये ॥ उदा० — प्रजामेका जिन्नेति उद्याद्वि ।
विभागाने विषये ॥ उदा० — प्रजामेका जिन्नेति उद्याद्वि ।
विभागाने विभागाने विषये ॥ उदावि । अन्य — तयो दन्यः पिप्पेलं ।
विभागाने विषये ॥ उदावि । अन्य — तयो दन्यः पिप्पेलं ।

R T यह भी घातु स्वर से आद्युदात्त है। स्वादु + अति स्वाद्वि । का अनुदात्तत्व होगा ही ।।

यद्तानित्यस् ॥८।१।६६॥

H

1

क्र

अ

T

A

यद्वृत्तात् ४।१॥ नित्यम् १।१॥ सं - यदो वृत्तं यद्वृत्तं तमा षष्टीतत्पुरुषः॥ वर्त्ततेऽस्मिन्निति वृत्तम्॥ किवृत्तञ्च० (८।१।४८) प्रदिश्ता किंवृत्तराव्दस्य या व्युत्पत्तिस्तद्भदत्रापि होया॥ अनुः-ि न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ अर्थः -- यद्वृत्तादुत्तं कि नित्यं नानुदात्तं भवति ।। यद् वृत्तग्रहणेनात्र तद्विभक्यनं क्री जदा - यो भुङ्कते, यं भोजयंति, येन भुङ्कते, गरी ही यस्कामास्ते जुहुमः (ऋ० १०।१२१।१०)।।

भाषार्थः — [यद्वृत्तात्] यद्वृत्त शब्द से उत्तर तिङन्त के कि नित्य ही अनुदात्त नहीं होता ।। यद्वृत्त से यहाँ यद् शब्द मेल जो विभक्तियाँ तद्विभक्त्यन्त शब्द लिये गये हैं।। यद्वृत्त की न्त्री ८।१।४८ सूत्र में दी हुई किंवृत्त की व्युत्पत्ति के समान जाने। ं सिद्धियाँ भी उसी सूत्र में देखें । जुहुमः हु धातु के लद मस्में ना सो प्रत्ययस्वर (३।१।३) से अन्तोदात्त यह शब्द है।।

पूजनात् पूजितमनुदात्तम् ॥८।१।६७॥

पूजनात् १११।। पूजितम् १११।। अनुदात्तम् १११॥ अनुः सवमपादादौ, पदात्, पदस्य ।। अर्थः—पूजनात् एरं पूजिलाकी भवति ॥ उदा० – काष्टाध्यापकः, काष्टाभिक्ष्यकः, दारणाध्यापकः णाभिक्षपकः।।

भाषार्थः—[पूजनात्] पूजनवाची शब्दों से उत्तर पूर्वित्री पूजितवाची शब्दों को [श्रनुदात्तम्] अनुदात्त होता है। दिल अध्यापयतीति दारुणाध्यापकः, काष्टाभिरूपकः यहाँ दार्ण काष्ट्री विकास कार्या काष्ट्री नहीं हुआ है, किन्तु मलोपश्च (वा० ८।१।६७) इस वार्तिक से कि .काष्टम् के मकार का लोप हुआ है , पश्चात् सवर्ण दीर्घत

[.]१. उपपद समास यहाँ मानने पर कृदुत्तरपद स्वर का यह बावक होगा। समभना चाहिए।

Î

353

Igi

The same 35

H

बार शब्द अद्भुतवाची हैं, अतः पूजनवचनता है। अध्यापक अभि-स्पर्क शब्द पूजितवाची हैं ही। काष्टाध्यापकः अर्थात् काष्टा = होगा = अन्त (= किसी विषय की अन्तिम सीमा तक) अर्थात् आश्चर्य-इतक पढ़ानेवाला।। दारुण शब्द क्लिष्टवाची है, अतः अत्यन्त क्लिष्ट प्रन्थ क्षे पढ़ाने वाला ऐसा अर्थ होगा। अध्यापक, अभिरूपक शब्द े ण्वुलन्त है अतः छित् स्वर की प्राप्ति थी, अनुदात्त कह दिया।।

यहाँ से 'पूजनात् पूजितम्' की अनुवृत्ति ८।१।६८ तक जायेगी।।

सगतिरपि तिङ् ॥८।१।६८॥

सगितिः १।१।। अपि अ०।। तिङ् १।१।। स०—गितना सह सगितिः, ब्ह्योहिः। तेन सहेति० (२।२।२८) इत्यनेन समासः॥ अनु०—पूजनात् र्_{जितम्,} अनुदात्तं सर्वेमपादादौ, पदात्, पदस्य ।। अर्थः-पूजनात् पा सगितरगितरिप पूजितं तिङन्तमनुदात्तं भवति ॥ *उदा*ः— भाति: यत्काष्ठं प्चिति, यद्दारुणं पुचिति । सगतिः —यत्काष्ठं प्रपचिति । ग्हारुणं प्र<u>पचिति</u> ।। सगतिप्रहणात् गतिरपि निहन्यते ।

भाषार्थ:-पूजनवाचियों से उत्तर [सगितः] गित सिहत [तिङ्] किन्त को तथा (अपि प्रहण से) गतिभिन्न तिङन्त को [त्राप] भी अनुवात्त होता है।। तिङ्ङतिङः (८।१।२८) से निघात प्राप्त ही था, जि निपातैर्यद्यदि (८।१।३०) से निघात प्रतिषेध प्राप्त होने पर इस एक का विधान है ।। भाष्यानुसार पूर्वोक्त मलोपश्च वार्त्तिक अतिङ् परे को ही प्रवृत्त होता है, अतः 'यत्काष्टं पचित' आदि में मकार छोप हीं हुआ।। सगित प्रहण से गितसिंहत निघात होता है।। यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।१।६९ तक जायेगी।।

इत्सने च सुप्यगोत्रादौ ॥८।१।६९॥

इत्सने ७।१॥ च अ०॥ सुपि ७।१॥ अगोत्रादौ ७।१॥ स०—गोत्र भारियस्य स गोत्रादिः, बहुत्रीहिः। न गोत्रादिरगोत्रादिस्तस्मिन् "नव्- \ भूषः ॥ श्रनु ० सगतिरिप तिङ् , अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदस्य ।

१. सूत वा गण में नपुंसकलिङ्ग काष्ठ शब्द भी काष्ठा = सीमा का वाचक है वासमाना चाहिए।

SAL ME

H

de

पदादत्र निवृत्तम् ॥ अर्थः—गोत्रादिवर्जिते कुत्सने च सुवने क सगितरगितरिप तिङन्तमनुदात्तं अवति ॥ उदा०—प्यति पूर्वि, मार्चे व पूर्ति । पुचति मिथ्या, प्रपचिति मिथ्या ॥

भाषार्थः-[अगोत्रादौ] गोत्रादि वर्जित (गणपठित अन्ते ह ब्रोडकर) [कुत्सने] कुत्सन = निन्दावाची [सुपि] सुबन्त शब्दों के हा रहते [च] भी सगतिक एवं अगतिक (दोनों) तिङन्तों को अनुतात है। है।। यहाँ से 'पदात्' अधिकार की अनुवृत्ति समाप्त हो गई है, क उदाहरणों में पद से उत्तर न होने से अगित में तिङ्ङितिङ: से निका की प्राप्ति ही नहीं थी और सगित में प्र को मानकर तिङ्मात्र है निघात प्राप्त था, विधान कर दिया ।। पृति शब्द के 'सु' का लगे हैं। (७।१।२३) से लुक् हुआ है । पचित पूर्ति अर्थात् खराब पकाती है, है यहाँ उसकी किया की कुत्सा = निन्दा हो रही है।।

गतिर्गतौ ॥८।१।७०॥

गतिः १११।। गतौ ७११।। अनुः—अनुदात्तं सर्वमपादादौ, परसा अर्थः गतौ परतो गतिरनुदात्तो भवति।। उदाः अभुदंशि स्मुदानंयति, अभिसम्प्याहंरति।।

भाषार्थ:- [गतौ] गति संज्ञक के परे रहते [गितिः] गितिसंक है अनुदात्त होता है।। 'अभि' उपसर्ग को उपसर्गाश्चामिवर्जम् स्वा निषेध करने से फिषों इन्त उदात्तः (फिट्० १) से अन्तोदात्त प्राप्त धा गतिसंझक के परे रहते अनुदात्त हो गया, पश्चात् यणादेश होते के का अभि का 'अ' ही अनुद्ात्त रहा, एवं 'उत्' का 'उ' उपमणिका (फिट्०८०) से उदात्त हो गया । समुदानयति में भी उपसर्गाश्वामिक्सी ही सम् के स को उदान्त प्राप्त था, आङ् गतिसंज्ञक के परे रहते सम् दोनों को अनुदात्त हो गया, एवं आङ् पूर्ववत् उदात्त रहा। इसी की अभिसम्पर्याद्वर के पर पर अभिसम्पर्याहरित में पूर्ववत् अभि को अन्तोदात्त प्राप्त था, आई है कि रहते अभि, सम्, परि तीनों को अनुदात्त हो गया।।

्यहाँ से 'गितः' की अनुवृत्ति ८।१।७१ तक जायेगी।।

तिङ ७११। च अ०।। उदात्तवि ।।८।१।७१।। उदात्तोऽसिन्नती िर्मा विक्षि चोदात्तवति ॥८।१।७१॥

m ri क्ष वात्वान् तस्मिन् (मतुप्प्रत्ययः)। श्रनु० – गतिः, अनुदात्तं सर्वम-भर विषया । अर्थः —उदात्तवित तिङ्कते च परतो गतिरनुदात्तो वित ॥ उदा० —यत् प्रपचंति, यत् प्रकरोतिं ॥

भाषार्थः—[उदात्तवि] उदान्तवान् [तिङि] तिङन्त के परे रहते भी गतिसंज्ञक को निघात होता है।। उदाहरण में पचित, करोति कि कित को निपातैर्यद्यदि० (८) ।३०) अथवा यद्वताचित्यम् (८।१।६६) से का निवात का प्रतिषेध हो जाने से उदात्तवान् हैं, अतः इनके परे रहते 'प्र' क्या क्रिसंबक को अनुदात्त हो गया है, इस प्रकार उपसर्गाश्चां (फिट्० वं के) से 'प्र' उदात्त नहीं हुआ। पर्चित करोतिं की स्वर सिद्धि परि॰ विशा३० में देखें।।

आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् ॥८।१।७२॥

आमन्त्रितम् १।१।। पूर्वेम् १।१।। अविद्यमानवत् अ०।। स०-न विमानमविद्यमानम् , नञ्तत्पुरुषः । अविद्यमानस्येव अविद्यमानवत् ॥ मा मुः--पदस्य ।। अर्थः--आमन्त्रितं पदं पूर्वमविद्यमानवद् भवति, तस्मिन् कि यत् कार्यं प्राप्नोति तन्न भवति, असति यत्तद्भवतीत्यर्थः॥ वि-देवंद्त् यर्ज्ञदत्त । देवंद्त्त पर्चिस । देवदत्त तव प्रामः स्वम् । हिं लित मम श्रामः स्वम् । यावद् देवदत्त प्चिस् । देवदत्त जातु पचिसि। को देवदत्त पर्चिस, उताहो देवदत्त पर्चिस। आम् भोः पर्चिस म विदत्त ॥

माषार्थ: — किसी पद से (जिसे निघातादि कार्य कहे हों) [१वेंम] अमिन्त्रितम्] आमन्त्रितसंज्ञक पद् हो तो वह आमन्त्रित पद अभान्त्रतसङ्गक पद् हा ता ने अर्थात् अ अभि आमिन्त्रित को मानकर जो कार्य प्राप्त हो रहे हों, वे कार्य उसके विविध्यानवत् होने से नहीं होते, एवं जो कार्य उसके न रहने पर गप होते हैं वे हो जाते हैं।।

देवंदत्त यहाँ दोनों ही पद आमन्त्रितसंज्ञक (२।३।४८) हैं, भामित्रतस्य च (८।१।१६) से देवदत्त पद् से उत्तर 'यज्ञदत्त' को भाति भाष्त था, किन्तु पूर्व वाला आमन्त्रित पद देवदत्त, यज्ञदत्त की भी से अविद्यमानवत् हो गया, तो पद से उत्तर न मिलने से

[] 'यज्ञदत्त' को निघात नहीं हुआ, किन्तु षाष्ट्रिक आमिन्त्रितस्य को 'यज्ञद्त्त' का निवास अल्प कर के अविद्त्त पर्चिस में देवद्त्त के अविद्त्र पर्चिस में देवद्त्त के अविद् मानवत् होने से तिङ्ङितिङः (८।१।२८) से पचिस को (पर्सेन न होने से) निघात नहीं हुआ । 'देवद्न तव प्रामः स्वम्' आहि में है मम को तेमयावेकः (८।१।२२) से पूर्वीक्तानुसार ते, मे आदेश नहीं है 'यावद् देवदत्त प्चिंसि' यहाँ देवदत्त के आवद्यमानवत् होने से क से अनन्तर (अञ्यवहित) तिङन्त है, तो पूजायां नानन्तरम् (आह से पर्चास को अननुदात्त नहीं हुआ। 'देवदत्त जातु पर्चास' गहीं व देवदत्त के अविद्यमानवत् होने से 'जातु' अविद्यमानपूर्व है सोक पूर्वम् (८।१।४८) से पर्चास को निघात निषेध हो गया। इसी का 'आहो देवदत्त पचिस' आदि में देवदत्त को अविद्यमानवत् हैं। श्राहो उताहो० (८।१।४९) से पचिस को अननुदात्त हो ग्राही 'आम् भोः पचिस देवद्त्त' यहाँ 'भोः' आमन्त्रित को अविशाबी होने से आम् से उत्तर एकपदान्तर आमन्त्रित 'देवद्त्त' हो जाती सो उसे श्राम एकान्तरमा० (८।१।५५) से अननुदात्त हो जावा 'भोः' को अविद्यमानवत् न मानने से यहाँ भोः पचिस झवेली के कारण एकपदान्तरता न रह पाती।।

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।१।७४ तक जायेगी॥

नामन्त्रिते समानाधिकरणे ॥८।१।७३॥

CITO

कुअः।। आमन्त्रिते ७।१।। समानाधिकरणे ७।१॥ सः—सार् अधिकरणं यस्य तत् समानाधिकरणं तस्मिन् 'बहुव्रीहि:॥ अ आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् , पदस्य ।। अर्थः – समानाधिकरण आमित्रितं । परतः पूर्वमामन्त्रितान्तं नाविद्यमानवद् भवति ॥ पूर्वेण प्राप्ते प्रतिषिषी । पूर्वेण प्राप्ते प्रतिषिषी । उदा०— अग्ने गृहपते (मै०सं० १।४।२)। मा ग्वक जिल्लामा CE

भाषार्थः—[समानाधिकरणे] समान अधिकरण वाला आमित्री

र. हे गार्हपत अग्ने । हे जटावान् ग्रध्यापक मागवक । यहां गार्ह्मिक सामान्य का, और जटिलकाच्यापक मागवक सामान्य का विशेषण है। सिंही में शार्टपते क्योर में गाईपते और जटिलकाध्यापक मागवक सामान्य का विशेषण है।
में गाईपते और जटिलकाध्यापक में पूर्व स्वरितानुसार एकश्रुरवर्शिक युकरता के लिए किया है।

{|};

हाँ दं

दह श्रा

in a

या है।

गर्न

ाता है

गरी

ो प्र

制

वामिन्तित पद परे हो तो उससे पूर्व वाला आमिन्त्रित पद अविद्यमानवद् विद्यमानवत् ही होता है।। अग्ने तथा गृहपते पद ना शामित्रतसंज्ञक एवं समानाधिकरण वाले भी हैं, अतः 'अग्ने' पद विद्यमानवत् ही रहा, सो 'गृहपते' को आमन्त्रितस्य च (८।१।१६) से हो निवात हो गया । इसी प्रकार द्वितीय उदाहरण में जानें।।

यहाँ से 'आमन्त्रिते समानाधिकरणे' की अनुवृत्ति ८।१।७४ तक वायेगी।

सामान्यवचनं विभाषितं विशेषवचने ॥८।१।७४॥

सामान्यवचनम् १।१।। विभाषितम् १।१।। विशेषवचने ७।१।। स०— माग्यस्य वचनं सामान्यवचनम्, षष्टीतत्पुरुषः। एवं विशेषवचन ल्यापि ज्ञेयम्।। अनु - आमन्त्रिते समानाधिकरणे, आमन्त्रितं र्षमविद्यमानवत्, पद्स्य ॥ अर्थः विशेषवचने समानाधिकरण गामन्त्रितान्ते परतः पूर्वं सामान्यवचनमामन्त्रितं विभाषितमविद्यमानवद् माति ।। उदा० -- देवाः शर्णयाः । पक्षे-देवाः शर्ण्याः, ब्राह्मणाः विकरणाः। पक्षे-ब्राह्मंगा वैयाकरणाः॥

भाषार्थ:-[विशेषवचने] विशेषवाची समानाधिकरण आमन्त्रित र्षे रहते [सामान्यवचनम्] सामान्यवचन आमन्त्रित को [विभाषितम्] विकल्प से अनिद्यमानवत् होता है।। उदाहरणों में पहले आमन्त्रित ल, एवं ब्राह्मण सामान्य रूप से सभी देवत्व एवं ब्राह्मणत्व गुणा वाली कि हो, अतः सामान्यवचन हैं, एवं शरण्य (शरण देने में जो बाहु) देव तथा वैयाकरण (ब्राह्मण) विशेषवाची परे हैं, थरस्पर ये का समानाधिकरण हैं ही, सो विकल्प से पूर्व वाले सामान्यवचन अमिन्तित देव एवं ब्राह्मण विद्यमानवत् हो गये। जिस पक्ष में ये 951 कियमानवत् हुये, उस पक्ष में आमन्त्रितस्य च (८।१।१६) से शरण्य वियोकरण निघात हुये एवं अविद्यमानवत् हुये तो षाष्ट्रिक श्रामित्र-भिष्य १ (६।१।१९२) से दोनों पदों को आद्युदात्त हो गया।।

इति प्रथमः पादः

द्वितीय पादः

[Î

पूर्वत्रासिद्धस् ॥८।२।१॥

पूर्वत्र अ० ॥ असिद्धम् १११॥ स० — न सिद्धमसिद्धम्, नज्तलुसः अर्थः — अधिकारोऽयम्, आ अध्यायपरिसमाप्तेः । तत्र येयं समारुः ध्याय्यनुकान्ता एतस्यामयं पादोनोऽध्यायोऽसिद्धो भवतीति वृद्धित्रः । इत उत्तरं चोत्तरोत्तरो योगः पूर्वत्र पूर्वत्रीद्धे भवति ॥ उदा० — असमा उद्धर । द्वा अत्र । द्वा आनय । असा आहित अमुद्मे, अमुद्मात् , अमुद्मिन् ॥ शुद्धिकका, शुद्धकाद्धा, शामितः अमुद्धिणमान् ॥

भाषार्थ: - यह अधिकार सूत्र है, अध्याय की समाप्ति की जायेगा ।। यहाँ से आगे अध्याय की समाप्ति पर्यन्त ३ पाद हैन [पूर्वेत्र] पूर्व पूर्व की दृष्टि में अर्थात् सवा ७ अध्याय में कहे स्वां दृष्टि में [श्रासिद्धम्] असिद्ध होते हैं, सिद्ध के समान कार्य नहीं गर् ं यह तात्पर्य है। प्रतिसूत्र में अधिकार होने से यहाँ से आगे (प्रक्री) पादों में) भी उत्तर उत्तर के सूत्र उससे पूर्व पूर्व की दृष्टि में बीब (होते जाते हैं, ऐसा अर्थ भी इस सूत्र का जानना चाहिये॥ उद्धर, द्वा अत्र, द्वा आनय, असा आदित्यः यहाँ सर्वत्र असी, ही के एच् को एचोऽयवायावः (६।१।७५) से जो आय् आव् आदेश हैं। उनके यू व् का लोप: शाकल्यस्य (८।३।१९) से छोप हो जाते पर्वा गुणः (६।१।८४) से गुण एकादेश एवं असा आदित्यः में सवर्षी नहीं होता, क्योंकि लोपः शाकल्यस्य इन तीन पादों में है, सो ब गुणः अकः सवर्णे वे की दृष्टि में असिद्ध रहेगा, उन्हें इस सूत्र में कि य् व् छोप नहीं दीखेगा, तो गुण एकादेश सवर्ण दीर्घत्व नहीं हो ही इसी प्रकार अमुद्रमें आदि में अदसोऽसे० (८।२।८०) से द् की रिवार दकार से उत्तर 'अ' को उत्व हुआ है, सो अदसोऽसेर्दा है । विश्व त्रिपादिस्थ होने से सवंनाम्न: स्मै, ङिसङ्चो: स्मात्सिनौ (अपि) की दृष्टि में असिद्ध हो गया, अर्थात् इन्हें 'अद है' ऐसा अर्व हैं ही दीखा तो अन्तर ही दीखा तो अदन्त अङ्ग से उत्तर मानकर स्मै आदि गये।। ग्रुष्किका यहाँ शुषः कः (८।२।५१) उदीचामातः

488.

前呢]

।दिस

दित

ममार

·

8/11

(ब्रा४६) की दृष्टि में असिद्ध रहता है, तो प्रत्ययस्थात्० (ब्रा३४४) विशिष्ट स्वारित मित्र के मत में नित्य इत्व होता है। 'शुष्का' निष्ठान्त बीलिङ्ग से अज्ञातादि अर्थ में क तथा केऽएाः (७।४।१३) से हस्वत्व कि पुनः टाप् एवं इत्व शुव्किको में हुआ है।। शुब्के जङ्घेऽस्याः सा गुक्जिङ्घा यहाँ शुषः कः के न कोपधायाः (६।३।३५) की दृष्टि में असिद्ध होते से पुंबद्भाव प्रतिषेध नहीं होता ।। क्षामस्यापत्यं चामिः, क्षामिः अस अस्मिन् वास्तीति क्षामिमान् यहाँ क्षा धातु से उत्पन्न निष्ठा को त्राधि ते ज्ञायो मः (८।२।५२) से 'म' हुआ था, वह इस त्रिपादी में ही माहु-शायाः (८।२।९) की दृष्टि में असिद्ध रहा तो वत्व नहीं हुआ। इस अक्षर इस त्रिपादी में भी उत्तर उत्तर सूत्र के कार्य पूर्व पूर्व सूत्र की दृष्टि गं असिद्ध रहते हैं का प्रयोजन हुआ।।

औजढत् यहाँ ऊढ शब्द से तत्करोति० (वा० ३।१।२६) से णिच् के स क्षं एवं तदन्त से लुङ् हुआ है। ऊढ़ः की सिद्धि ६।१।१५ सूत्र में देखें। बिंग गाविष्ठवत्० (वा० ६।४।१५५) से 'ऊढ' के टि का लोप पटयति (परि० विशिध्य) के समान हुआ। शेष णि आदि का छोप अपीपचत् के समान वीं (रेखो परि० ६।१।११) होकर जब ऊढ् को चिक से द्वित्व करने छगे तो विक की दृष्टि में 'ऊढ' में किये हुये ढत्व, ष्टुत्व, ढलोप कार्य त्रिपादीस्थ को से असिद्ध हो गये, अर्थात् उसे ऊ ह् त ही दिखा। णि परे रहते हुवे बेटि लोप हुआ था, वह भी गुणै कृतं स्थानिवद् (महा भा १।१।५८) से र्षा विभिन्नत् हो गया अर्थात् 'ऊ ह् त' रहा। इस प्रकार अजादेदि० (१।१।२) अक्त 'ह्त' द्वित्व हुआ, यही इस सूत्र का फल है। आट ऊ ह्त ढ् कित् हुता दूरव हुआ, यहां इस सूत्र का कि है। (७।४।६२) कित् न हिला है जो हिला होकर आ ऊ ह ह अ त् = कुहोश्चुः (७।४।६२) कित हो हिला है को हा अभ्यासे चर्च (८।४।५३) से ज् तथा वृद्धि एकादेश होकर कित वन गया। यहाँ अक् छोप (टि छोप होने से) हुआ है, अतः मिल्लिम्निक (जिप्ताहर्स) से सन्वद्भाव नहीं होता है।।

गुडिलिहो ऽस्य सन्तीति = गुडिलिण्मान् यहाँ पहले गुडं लेढि विप्रह भे गुडिलिह् शब्द से किप् हुआ, तदन्त से मतुप् हुआ है, सो यहाँ में के दल मलां जशोऽन्ते (८।२।२६) से जश्ल 'ह्' हुआ है, विवेदल जस्त मत्यः (८।२।१०) की दृष्टि में जब असिद्ध हो गये,

[हिली तो मतुप् को वत्व नहीं हुआ । पश्चात् यरोऽनुनासिकेः (८१४।४४) है। को ण हो गया ॥

इस सूत्र को हम अनुवृत्ति में सर्वत्र नहीं दिखायेंगे, क्योंकि के सूत्र में इसका भी अर्थ करना कोई उपयोगी नहीं, पाठकों के हैं है इसे समझ लेना चाहिए कि सर्वत्र ही इन तीन पारों में यथानात है इस सूत्र का उपयोग होगा।

नलोपः सुप्स्वरसंज्ञातुश्विधिषु कृति ॥८।२।२॥

नलोपः १।१।। सुप् ं विधिषु ७।३।। कृति ७।१।। स॰—नमा क्री ळोपः नलोपः, षष्टीतत्पुरुषः । सुप् च स्वरश्च संज्ञा च तुक् च सुक्र संज्ञातुकः, इतरेतरद्वन्द्वः । इत्येतेषां विधयः सुप् विधयतेषु छ तत्पुरुषः ॥ अनु - असिद्धः ॥ अर्थः — सुव्विधौ, स्वरिवधौ, संबाहि हि तुग्विधौ च कृति नलोपः पूर्वत्रासिद्धो . भवति ।। उदा०-मुन्ति राजभिः, तक्षभिः । राजभ्याम्, तक्षभ्याम् । राजसु, तक्षसु । तिर्वि राजवती । पञ्चार्मम् , द्शार्मम् । पञ्चवीजी । संज्ञाविधौ-पञ्च ब्रह्म द्रा ब्राह्मण्यः । तुग्विधौ-वृत्रहभ्याम्, वृत्रहभिः॥

भाषार्थः—[सुप् •• विधिषु] सुप् विधि, स्वर् विधि संज्ञाविधि, तथा कि कृत् विषयक तुक् की विधि करने में [नलोप:] नकार का होप असि होता है।। होता है।। 'कृति' का सम्बन्ध यहाँ सम्भव होते तुक्विधि के सार्थ लगता है, अन्यों के साथ नहीं ।। पूर्व सूत्र से ही असिद्धल सिंदी पुनर्वचन नियमार्थ है, अर्थात्-नकार का छोप इन्हीं विधियों में होता है, अन्य विधियों में नहीं ।। सुप् विधि से सुप् के श्वान में वाली विधि, एवं सुप् के परे रहते जो विधि सभी का प्राची राजिभः तक्षिः में राजन् तक्षन् के नकार का लोप (टाराज) हो जाता है, तो अदन्त अङ्ग न होने से अतो भिस ऐस् (अपहार्थ) भिस सप के स्थान के भिस् सुप् के स्थान में ऐस् नहीं होता। इसी प्रकार राजभ्याम

१- हमने यहाँ बहुत से जदाहरण कठिन होने पर भी समकाते के लिये हैं हैं। किह्तु सारे उदाहरण सभी को प्रथमावृत्ति में ही समक्षा देते अभीष्ट नहीं है। तो अमुिक्स तक ही कार्य तो अमुष्मिन् तक ही बतावें, शेष छोड़ दें। पश्चात् कभी इन्हें समभा वी स्वा

483 .

में। बहु में कमशः सुपि च, बहुवचने सहयेत् (७।३।१०३) से सुप् परे रहते र्थित, एख नहीं होता ।। मतुप् प्रत्ययान्त राजवती यहाँ नछोप स्वर-क्षेत्रिय में असिद्ध होने से अन्तोऽवत्याः (६।१।२१४) से अन्तोदात्त के ही होता, क्योंकि असिख् होने पर 'अवती' शब्दान्त राजवती नहीं लि हो। पत्रार्मम्, द्शार्मम् यहाँ नलोप असिद्ध होने से अर्मे क्षां (६।२।६०) से अवर्णान्त पूर्वपद न होने से पूर्वपद को वाबदात्त नहीं होता । पद्धार्भम् दशार्भम् में दिक्सङ्ख्ये० (२।१।४९) हेसमास हुआ है। पद्भानां वीजानां समाहारः पद्भवीजम् यहाँ का का बद से जो अत इनिटनी (५।२।११४) से इनि हुआ था, उस कुर बार का छोप हुआ है, सो उसके असिद्ध हो जाने से इगन्तता नहीं 'हं ह्वी, अतः इगन्तकालकपाल० (६।२।२६) से पूर्वपद को प्रकृतिस्वर कि ही होता ।। पञ्च ब्राह्मण्यः यहाँ नलोप करने के पश्चात् नान्त न होने को गर्संज्ञा पद्ध की प्राप्त नहीं थी, संज्ञाविधि में असिद्ध होने से हो कि है तो न पट्स्वसा० (४।१।१०) से पद्ध को प्राप्त टाप् (४।१।४) का का विषेध हो गया।। वृत्रहभ्याम् , वृत्रहभिः में कृत् विषयक तुक्विधि . सिस पिति कृति तुक् (६।१।६९) से करने में वृत्रहन् का नलोप क्षी अभिद्ध हो गया तो तुक् आगम नहीं हुआ। कृत् परे रहते तुक् आगम क्षिम पिति में कहा है, अतः यह कृत् विपयक तुक् है।। HA E

न मुने ॥८।२।३॥

विकास में अल्लाम्स क्षेत्र प्राप्त के प्राप में परतो यत् प्राप्नोति तस्मिन् कर्त्तव्ये मुभावो नासिद्धो भवति, मिन्तु सिद्ध एव ॥ उदा० — अमुना ॥

ाही भाषार्थः—[ने] २ ना परे रहते [मु] मु साव असिद्ध [न] नहीं भाषा विश्व ही पहता है।। अमुना यहाँ अदसोऽसेर्दा० (८१२,४०) भिनो द् को म् तथा द् से उत्तर उ हुआ था, वह 'मु' पूर्व त्रासिदम् से

भिष्ठ (७)३।१०२) की दृष्टि में असिद्ध हो जाये तो श्राङो नाऽस्त्रियाम् १. पात्रादिभ्यः प्रतिषेघो वक्तव्यः (वा० २।४।१७) से यहाँ स्त्रीत्व. वि होता।

all रे. ना+ि ≥ ने । यथा क्त्वायां च कित्प्रतिषेघः (भा० वा० १।२।१) में का लोप नहीं हुआ तद्वत्।

(७)३।११६) से हुये 'ना भाव' के परे रहते 'अमु' अङ्ग को कि म सुपि च से प्राप्त हो किन्तु प्रकृत सूत्र से ना परे रहते मुभाव कि ती होने से नहीं होता ।।

यहाँ प्रश्न है कि प्रथम तो यहाँ आडो नाऽ क्षियाम की दृष्टि है। पूर्वत्रासिद्धम् से मुभाव के असिद्ध हो जाने से 'अमु' की घिसं आ शिव न होने से नाभाव प्राप्त ही नहीं हो सकता, पुनः 'ना' परे रहते मुगाः असिद्ध कहना व्यर्थ है, क्यों कि 'ना' परे मिलेगा ही नहीं इसका के है कि –यहाँ ना परे रहते असिद्धत्व का निषेध कहा है, जो कि सक ही नहीं, सो यह सूत्र व्यर्थ होकर ज्ञापक निकलता है कि वहीं से सूत्र से नाभाव करने में भी मुभाव सिद्ध ही रहता है।" लोड सूत्र सार्थक होगा।।

उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य ॥८।२।॥

उदात्तस्वरितयोः ६।२।। यणः ५।१।। स्वरितः १।१॥ अनुदात्तस्य स्वितः स०—उदात्तस्र स्वरितश्च उदात्तस्वरितौ तयोः इतरेतरद्वन्द्वः॥ किंद्र्य उदात्तस्य स्थाने यो यण् ततः परस्यात्त्रात्त स्वरित आदेशो भवति ।। उदा०—उदात्तयणः—कृमायै, कृम्यी स्वरितयणः —स्कृल्ल्व्यांशा, खल्ल्व्यांशा, खल्ल्यांशा, खल्ल्व्यांशा, खल्ल्यांशा, खल्ल्व्यांशा, खल्ल्व्यांशा, खल्ल्व्यांशा, खल्ल्व्यांशा, खल्ल्व्यांशा, खल्ल्व्यांशा, खल्ल्व्यांशा, खल्ल्यांशा, खल्ल्यांशा,

१. कुमार्ये कुमार्याः की सिद्धि भाग २ परि० ४।१।२ में देवें।

अष्टमोऽध्यायः

को की क्षणा हैं, अतः जब इनके उदात्त ऊकार के स्थान में अनुदात्त 'कि' के भाव शिर्त रहते यणादेश हुआ तो अनुदान्त कि के 'इ' को प्रकृत सूत्र से स्वरित बदेश हो गया । अब स्छुल्लिवं खुछ्टिवं स्वरितान्त से परे आशा शब्द हिंहें। हो पुनः स्वरित 'इ' के स्थान में यणादेश हुआ। आशा शब्द श्राशाया हार में क्षिमाल्या चेत् (फिट्० १८) से अन्तोदात्त है, अतः श्रमुदात्तं पद० हो।।।।१५२) से अनुदात्तं 'आ' हुआ सो सक्कुल्ल्वं आशा = सक्कल्ल्व्याशा स्थान में हुये स्वरितयण् से उत्तर आशा के

ग्हाँ ही गहाँ से 'श्रनुदात्तस्य' की अनुवृत्ति ८।२।६ तक जायेगी।।

एकादेश उदात्तेनोदात्तः ॥८।२।५॥

एकादेशः १।१।। उदात्तेन ३।१।। उदात्तः १।१।। स०—एकस्रासावा-🕫 एकादेशः, कर्मधारयतत्पुरुषः ॥ अनु०-अनुदात्तस्य ॥ अर्थः-तार भिवातेन सह अनुदात्तस्य य एकादेशः स उदात्तो भवति ॥ आन्तरतम्यात् ॥ कि प्राप्त इदमारभ्यते ।। उदा०—अग्नी, वायू, वृक्षैः, प्ळुक्षैः ।।

भाषार्थ:—[उदात्तेन] उदात्त के साथ जो अनुदात्त का [एकादेशः] भदेश अन्तरतम होने से स्वरितत्व प्राप्त था, उदात्त कह दिया।। वात के किन औं यहाँ अग्नि शब्द प्रातिपदिक स्वर (फिट्०१) या प्रत्यय सिं असे अन्तोदात्त है, एवं 'औ' अनुदात्ती सुप्पिती (३।१।३) से अनुदात्त ब बा अतः दोनों को हुआ प्रथमयोः० (६।१।९८) से पूर्वसवर्ण दीर्घ में हैं। प्रकृत सूत्र से उदात्त ही हुआ। इसी प्रकार वायू में जानें। पूर्व प्रक्षः में वृद्धिरेचि (६।११८५) से वृद्धि एकादेश हुआ है।। गहाँ से 'एकादेश उदात्तेन' की अनुवृत्ति ८।२।६ तक जायेगी।।

स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ ॥८।२।६॥

कितिः १।१॥ वा अ०॥ अनुदात्ते ७।१॥ पदादौ ७।१॥ स०—पदस्य वारतः १।१॥ वा अ० ॥ अनुदात्ते ७।१॥ पदादा जातः । पदादिस्तस्मिन् ' 'षष्टीतत्पुरुषः ॥ अनु०—एकादेश उदात्तेत, भूष पदादिस्तस्मिनः ' षष्टीतत्पुरुषः ॥ अनु०—एकाद्रः स भूषा भूषा अर्थः—उदात्तेन सह योऽनुदात्ते पदादी एकादेशः स भवि विकल्पेन । पक्षे पूर्वेण प्राप्तत्वादुदात्तो भवति ॥ उदा०—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

[m ng:]

484 .

कि सम्बार्गित 'आ' को स्वरित आदेश हो गया।।

" तभी इ

1811

यानुदास

शा, हाउँ

से लि उपम्बद्धाः

[前]

[7

सु डिस्थतः = पूरिथतः । पक्षे — सूरिथतः । वि ईक्षते = वी क्षते, की व्युकः असि = व्युको ऽसि, व्युकोऽसि ॥

भाषार्थः-[पदादौ] पदादि [श्रनुद्युत्ते] अनुदात्त के परे रहते क क साथ में हुआ जो एका देश (अर्थात् उदात्त एवं पदादि अनुत्त । दोनों के स्थान में हुआ एकादेश) वह [या] विकल्प करके सिंह स्वरित होता है । पक्ष में पूर्व सूत्र से प्राप्त डवात्त ही होगा॥ मृति यहाँ स अब्द सुः पूजायाम् (१।४)६३) से कर्मप्रवचनीय संक्रा उसका कुगतिपादयः (२।२।१८) से समास होकर तलुले क्र (६।२।२) से अञ्यय मानकर पूर्वपद को प्रकृतिस्वरत्व अर्थात् कि आद्युदात्ताः (फिट्० ७९) से उदान्तत्व होकर शेष पद को महाः (६।१।१५२) से अनुदात्त हो गया। इस प्रकार पद के आदि में जा 'अनुदात्त' अक्षर परे है, सो दोनों के एकादेश (६।१।६७) को विकार स्वरितस्व हो गया ।। वीक्षते, वसुकोऽसि यहाँ तिङ्ङतिङः (अ११४) 'ईक्षते तथा असि' निघात हैं, सो दोनों स्थलों में अनुदात्त पर्तात्वे ं है। 'वि' उपसर्गाश्चा० (फिट्० ८०) से एवं वसुकः प्रातिपिद्धिताः अन्तोदात्त है ही, इस प्रकार दोनों के एकादेश को विकल्प से बी हो गया ॥

नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य ॥८।२।७॥

न लुप्तषष्ट्रयन्तः ।। छोपः १११। प्रातिपदिक इति लुप्तपृत्रि अन्तस्य ६।१॥ श्रानु०—पद्स्य ॥ श्रार्थः—प्रातिपदिकस्य पदस्य ग्रीत नकारस्तस्य छोपो अवति ॥ उदा०—राजा, राजभ्याम्, राजा राजता, राजतरः, राजतमः॥

भाषार्थः—[प्रातिपदिकान्तस्य] प्रातिपदिक पद के अनि नकार का लोप होता है ।। उदाहरणों में स्वादिष्व० (१।४।१७) है। की पह संज्ञा क्राप्त के स्वादिष्व० की पद संज्ञा भ्याम् आदि परे रहते है, सो प्रातिपदिक पद के अवर का छोप हो गया। सिद्धियाँ परि० १।४।१७ में देखें॥

पदेन सहान्वयात् , ग्रत एव पृथक् पदं कल्प्यते ।

१. सु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से गति संज्ञा का बाध हो जाती है। गती (518100) से 'सु' को निघात नहीं होता, यही प्रयोजन है। २. नस्य लोगो नलोप इत्यसमर्थसमासो भवति । नकारस्य प्राविष्विकित सहान्वयात्, ग्रत एव प्रथक प्रने गतिर्गती (८।१।७०) से 'सु' को निघात नहीं होता, यही प्रयोजन है।

, वीही

न डिसम्बुद्धचोः ॥८।२।८॥

त अ० ॥ डिसम्बुद्धचोः ७।२॥ स०-डिश्च सम्बुद्धिश्च डिसम्बुद्धी, हो 🚌 ह्योः इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु० - नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य, पदस्य ॥ गुराका वर्ष: - प्रातिपदिकस्य पदस्य यो नकारस्तस्य ङी सम्बुद्धौ च परतो छोपो॰ सि व मवित ।। उदा० - डी-आई चर्मन् , रोहिते चर्मन् (काठ० २४१२)। एक मनुद्री-हे राजन् , हे तक्षन् ॥ तंजक है।

में कि भाषार्थ:—प्रातिपदिक पद के अन्त का जो नकार उसका [िङसम्ब-त् कि रथे। अस्वुद्धि परे रहते छोप [न] नहीं होता।। उदाहरण अकु में चर्मन के डि का सुपां सुलुक् (७११३९) से लुक् हो गया है। हिमें जा आदि में सुका हल्ङचादि छोप हो गया है।। पूर्व सूत्र से किला कार लोप की प्राप्ति थी, प्रतिवेध कर दिया है।। 13136)

माहुपथायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः ॥८।२।९॥

पदादि पं मात् १११॥ उपधायाः ६११॥ च अ०॥ मतोः ६११॥ वः १११॥, देक सार से क्री अवादिभ्यः ५।३।। स०—मश्च अश्च मम् , तस्मात् समाहारद्वन्द्वः। म आदिर्वेषां ते यवाद्यः, बहुव्रीहिः। न यवाद्योऽयवाद्यस्तेभ्यः ः म्त्त्युरुवः ॥ अनु - पद्स्य ॥ अर्थः - मकारान्ताद् मकारोपघाद् विष्ठी अर्णान्तादवर्णीपधाच्च प्रातिपदिकात् उत्तरस्य मतोर्व इत्ययमादेशो वोड़ विति, यवादिभ्यस्तु उत्तरस्य न भवति।। उदाः—मकारान्त्यत्— राजीं जिन् , शंवान् । सकारोपधात् – रामीवान् , दािंडमीवान् । अवर्णान्तात् – ^{खिवान्} , प्लक्षवान् , खट्वावान् , मालावान् । अवर्णोपधात्— ते । अस्वान् , यशस्वान् , भास्वान् ॥

5 3191 भाषार्थ:—[मात्] मकारान्त एवं अवर्णान्त [च] तथा मकार एवं भिष्विष्यायाः] उपधा वाले प्रातिपदिक से उत्तर [मतोः] मतुप् को विकारादेश होता है किन्तु [अयवादिभ्यः] यवादि शब्दों से उत्तर व नहीं होता ।। यहाँ 'मात्' को सामध्य से 'उपधायाः' का भाग वनाना है, एथं स्वतन्त्र रूप से "मकारान्त तथा अवर्णान्त" ऐसा भे अर्थ करना अभीष्ट है, तद्वत् उदाहरण प्रत्येक के पृथक् २ दर्श दिये

हैं ।। मतुप् का 'मत्' शेष रहता है । त् का भी संयोगान लेप हो हा है। सर्वत्र तस्मादित्युत्तरस्य, आदेः परस्य (१।१।६६-५३) के नियम से हा के म को ही व होगा।। सिद्धियाँ भाग २ सूत्र १।२।६४ में देखें।क यशस् की 'वान्' परे तसी मत्वर्थे (१।४।१६) से भ संज्ञा नहीं होती ह ससजुषो रु: (८।२।६६) नहीं लगा।।

यहाँ से 'मतोः' की अनुवृत्ति ८।२।१६ तक तथा 'नः' की विक तक जायेगी।।

झयः ।।८।२।१०॥

झयः ५।१॥ अनु०-मतोर्वः, पदस्य ॥ अर्थः-झयन्तादुत्तस्यक्षे इत्ययमादेशो भवति ।। उदा०—अग्निचित्वान् प्रामः। अक्ति घोषः । विद्युत्वान् वलाह्कः । इन्द्रो मस्त्वान् । दषद्वान् देशः॥

माषार्थः—[सयः] झयन्त (प्रत्याहार) से उत्तर मतुप् को क्याति हो जाता है।। विद्युत्वान् उद्धित्वान् की सिद्धि परि० १।॥।। देखें, तद्वत् अन्य सिद्धियाँ भी हैं।। विद्युत् आदि शब्द झ्य् प्रवाह अन्त वाले हैं ही।।

संज्ञायाम् ॥८।२।११॥

संज्ञायाम् ७।१॥ अनु - मतोर्वः, पदस्य ॥ अर्थः - संज्ञायां नि मतोवे इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—अहीवती, क्षीवती, क्षीवती, मुनीर्वती ।।

भाषा,र्थः—[संज्ञायाम्] संज्ञा विषय में मतुप् को वकाराहेश हैं है।। उदाहरणों में नद्यां मतुप् (४।२।८४) से मतुप्, भाषा (६।३।११८) से अहि किप आदि को दीर्घ तथा उगितश्र (४)१६६० मतुबन्त को ङीप् हुआ है।।

यहाँ से 'संज्ञायाम्' की अनुवृत्ति ८।२।१३ तक जायेगी॥

आसन्दीवद्ष्ठीवचकीवत्कक्षीवहुमण्वच-

भण्यता ॥८।२।१२॥ आसन्दीवत्० सर्वाण्यत्र चर्मण्वती विहाय तुप्तप्रधमानाति ॥ ६२ निर्दिष्टानि ॥ — ९ पृथक् २ निर्दिष्टानि ।। चर्मण्वती १।१॥ अनु०—संज्ञायाम्॥ अष्टमोऽध्यायः

[हिंके पादः]

11

334

पहोर आसन्दीवत् अष्ठीवत्, चक्रीवत्, कक्षीवत्, रुमण्वत्, चमण्वती यम से इत्येतानि संज्ञायां विषये निपात्यन्ते ।। मतोवत्वं तु पूर्वेगीव सिद्धमादे-देखें।क शार्थानि निपातनानि ।। आसन्दीवत् इत्यत्र आसनशब्दस्य 'आसन्दी' होती माबो निपात्यते । अष्टीवत् इत्यत्र अस्थिशब्द्स्य 'अष्टी' निपात्यते । चक्रीवत् इत्यत्र चक्रशब्दस्य 'चक्री' भावः । कक्षीवत् इत्यत्र क्त्याशब्दस्य सम्प्रसारणं निपात्यते, कृते च सम्प्रसारणे हलः (६।४।२) की टारा इति दीघं:। रुमण्वत् इत्यत्र छवणशब्दस्य 'रुमण्' भावो निपात्यते। वर्मण्वती इत्यत्र चर्मणो नलोपाभावो णत्वक्च निपात्यते ।। *उदा*ः— असन्दीवान् प्रामः, आसन्दीवद्हिस्थलम् । संज्ञाविषयाद्न्यत्र — आसन-तस्यक्षं गर्। अष्टीवान् । अस्थिमान् इत्येवान्यत्र । चक्रीवान् राजा । अन्यत्र उद्धित क्रवान् । कक्षीवान्नाम ऋषिः । कच्यावान् इत्येवान्यत्र । रुमण्वान् । अयत्र—छवणवान् । चर्मण्वती नाम नदी । अन्यत्र—चर्मवती।।

भाषार्थः—संज्ञा विषय में [आसन्दीवत् ः एवती] आसन्दीवत् वकार्यत श्राहः अष्टीवत्, चक्रीवत्, कक्षीवत्, रुमण्यत्, चर्मण्यती ये शब्द निपातन किये जाते हैं।। पूर्व सूत्र से ही संज्ञा विषय होने से सर्वत्र मतुप् को ग्राम्य क्ल सिद्ध था, आदेशार्थ यह निपातन है। इस प्रकार आसन्दीवत् शब्द में आसन शब्द को आसन्दी आदेश निपातित है। अष्टीवत् में अस्थि शब्द को अष्टी आदेश निपातन है। चक्रीवत् में चक्र को चक्रीमाव ायां नि निपातन है। कक्षीवत् में कक्ष्या शब्द को सम्प्रसारण निपातित है, 不能 ममसारण कर लेने पर हल: (६।४।२) से दीर्घत्व हो जज्येगा। भण्वत् यहाँ छवण शब्द् को रुमण् भाव निपातित है। चर्मण्वती का चर्मन् शब्द के नकार छोप का अभाव एवं णत्व निपातित है, शरादीरं मोंकि मतुप् परे रहते पद संज्ञा होने से नलोपः प्राति० (८।२।७) से शशही कारहोप प्राप्त था, एवं रवाभ्यां नो साः (८।४।१) से प्राप्त णत्व का जिल्लास्य (नाष्ट्राइ६) से प्रतिषेध प्राप्त था, अतः ये विधियाँ न हो जायें मिलिये निपातन कर दिया।। सु विभक्ति परे रहते आसन्दीवान् आदि भोग बुन ही जायेंगे।।

उदन्वानुद्धौ च ॥८।२।१३॥

उप्तास्यप्ता न ॥ । अनु०—संज्ञायाम्॥ भ भेषा विकास क्षेत्र विकास का अवस्थित क्षेत्र का अवस्थित का अवस्था का अवस्थित का अवस्था का अवस्था

[fgfa]

उद्धावर्थे संज्ञायां विषये च निपात्यतेऽत्र ।। उदा०—संज्ञायाप् डद्-वान् नाम ऋषिः । डद्घौ—डद्न्वान् ।।

सावार्थ:-[उदन्यान्] छद्म्बान् शब्द [उदधो] उद्धि [व]क संज्ञा विषय में निपातन है। सतुप् पर रहते उदक शब्द को उत्तर यहाँ निपातित है।। उद्धि सामान्य रूप से समुद्र घट मेघ आहि। वाचक है। परन्तु उद्धि का सामान्यार्थ उदकं धीयते यत्र माना उदन्वान् का भी सामान्यार्थ में प्रयोग देखा जाता है॥

राजन्वान् सौराज्ये ॥८।२।१४॥

राजन्वान् १।१।। सौराज्ये ७।१।। स०--शोभनो राजा यस्मित् हे। सुराजा, बहुव्रीहिः । तस्य कर्म सौराज्यम् ब्राह्मणादिलात् क नस्तिबते (६।४।१४४) इति टिलोपख्य ।। अर्थः—राजन्वान् इति निपातं सौराज्ये गम्यमाने । नलोपासाबोऽत्र निपातनेन भवति॥ जाः शोसनो राजा यस्मिन् स राजन्वान् देशः। राजन्वती पृथिवी। 'राजां , अन्यत्र भवति ॥

भाषार्थः—[राजन्वान्] राजन्वान् शब्द को [सौराज्ये] सौराज्याः मान होने पर निपातन किया है। मतुप् परे रहते राजन के नगर छोप टारा७ से प्राप्त था इसका अभाव यहाँ निपातित है, अवा कि कि तर अस्ति हैं। करके तुट् आगम यहाँ निपातित है।। अच्छे राजा का कर्म संग्री कहाता है, अतः राजन्वान् वह देश कहाता है, जिसका राजा श्रेष्टि

छन्दसीरः ॥८।२।१५॥

छन्द्सि ७११॥ इर: ५११॥ स०—इश्च रश्च इर् तसात् 'सा रेफान्ताचीवात हि मतोवर्षं भवति छन्दसि विषये ।। उदा० — इवर्णान्तात् रफाला वाक्या अविष् वाक्या भवति । हरिवो मेदिनं त्वा (ऋ० खि० पा० १०११८॥) अधिपतिवती जुहोति । चरुरग्निवानिव (ऋ० ७१०४।२)। आविष्या मा विश्वति । सरकारी मा विश्वत् । सरस्वतीवान् भारतीवान् (ए० ब्रा० २।२४) द्वीवांति । रेफान्तात्–गीर्वाच (०० ब्रा० २।२४) द्वीवांति । रेफान्तात्-गीर्वान्, घूर्वान्, आशीर्वान् ॥

भाषार्थः—[इरः] इवर्णान्त तथा रेफान्त शब्दों से उत्तर किया विषय से सतप को कार्या वेद विषय में मतुप् को वकारादेश होता है।। हरिवो मेहिनम् वह

क्रारान्त शब्द से मतुण् होकर हरिमन्त् सु रहा । हल्ङ्यादिछोप, संयो-ज्ञायाम्-गान छोप एवं प्रकृत सूत्र से वत्व होकर हरिवन् बना। अब मतुवसो रू० (।३।१) से हरिवन के न को (१।१।५१) रु हो गया, परचात् मेदिनम् [7] हा 'म्' हुश परे रहते हिशा च से रुको उत्व एवं त्राद् गुरा: (६।१।८४) उद्न् मा से गुण एकादेश होकर 'हरिवो' वन गया। यहाँ हांश च की दृष्टि में य आदि व संयोगान्त छोप संयोगान्तस्य लोपे रोरुत्वे सिद्धो वक्तव्यः (वा० ८।२।३) त्र मानग्र इस वार्तिक से सिद्ध ही रहता है, नहीं तो असिद्ध होने पर (नारा?) त्परे माना जाता, जो कि हश् में नहीं है तो हिए च से उत्व न हो सका, ऐसा जानना चाहिये।। रेवान यहाँ रिय को मतुप्परे रहते मन् होः खेर्मतौ बहुलम् (वा० ६।१।३६) इस वार्त्तिक से सम्प्रसारण होकर 'र त् षत् । वन्त्' रहा । आद्गुणः लगकर रेवान् वन गया ।। घूः की सिद्धि परि० निपालं गेरा१७७ में की है, सो यहाँ मतुप् परे रहते विसर्जनीय न होने से उदाः भूर्वान् वन गया । गृ तथा आङ् पूर्वक शासु से सम्पदादिभ्यः किप् 'गुज़ां (ग॰ ३।३।९४) से किवप् प्रत्यय हुआ है। गृ को ऋत इदातोः (८१२ ६ इत्व रपरत्व एवं वों रुपधायाः (८१२ ७६) से दीर्घ होकर _{पाज कि} भीर् तना । मतुप् आकर गीर्वान् बन गया । आशास् क्विप् यहाँ त्रकार गास इस्त आशासः क्वौ० (भा० वा० ६।४।३४) से शास् की उपधा ध्वकि वे इत्व होकर आशिस् रहा। स् को रुत्व (८।२।६६) एवं पूर्ववत् र्भ में विंत्व तथा महुप् होकर आशीर्वान् बन गया।।

यहाँ से 'छन्दिसि' की अनुवृत्ति = 121१७ तक जायेगी।।

अनो नुद् ॥८।२।१६॥

अनः ५११॥ नुट् १११॥ अनु०—छन्द्सि, मतोः॥ अर्थः —छन्द्सि वार्वीताः वार्वीताः वार्वीताः वार्वीताः वार्वीताः वार्वीताः वार्वीताः विषयेऽनन्तादुत्तरस्य मतोर्नुडागमो भवति॥ उदा०—अक्षण्वन्तः व्यार्वीताः विषयेऽनन्तादुत्तरस्य मतोर्नुडागमो भवति॥ उदा०—अक्षण्वन्तः व्यार्वीताः विषयेऽनन्तादुत्तरस्य मतोर्नुडागमो भवति॥ उदा०—अक्षण्वन्तः विषयेऽनिवादिः

आविष्य में प्रचात शक्षण्यता शक्षण्यती । मूद्धेन्यती ।।

भाषार्थः विदं विषय में [अनः] अन् अन्त वाले शब्द से उत्तर

प्रवाशीय विदं विषय में [अनः] अन् अन्त वाले शब्द से उत्तर

प्रवाशीय में चुट्] तुट् आगम होता है ।। अक्षण्यता अस्थन्यन्तम् की सिद्धिः

प्रवाशीय में देखें । अक्षण्यन्तः भी तद्वत् जानें । शीर्षन् शब्द

विवाशीय स्वीकर परचात् अक्षण्यता के समान ही नलोपादि हो गये। उगितश्र

श्रेष्ठ हो।

[हिंकी (४।१।४) से डीप् होकर शीर्षण्वती वन गया। इसी प्रकार मूर्वन बन गया।।

यहाँ से 'नुट्' की अनुवृत्ति ८।२।११० तक जायेगी॥

नाद् घस्य ॥८।२।१७॥

नात् ५।१।। घस्य ६।१।। अनु - नुट्, छन्दसि ।। अर्थः ना रान्तादुत्तरस्य घसंज्ञकस्य छन्दसि विषये नुडागमो भवति॥ उदाः-सुपथिन्तरः । दस्युहन्तमम् (ऋ० ६।१६।१५, ८।३६।८,१०।१०७१)॥

भाषार्थः - [नात्] नकारान्त शब्द से उत्तर [घरव] घरांझको वेद विषय में नुट् आगम होता है।। सुपथिन शब्द से तरप् (प्रशिष्) प्रत्यय होकर तरप् (१।१।२१) को नुट् आगम तथा सुपिशन के रह छोप पूर्ववत् होकर सुपथिन्तरः बन गया । दस्युं हतवान् = दस्युह्न अ से तमपू होकर इसी प्रकार दस्युहन्तमः बन गया।।

कृपो रो लः ॥८।२।१८॥

कुपः ६।१॥ रः ६।१॥ छः १।१॥ अर्थः — कृपेर्घातोः रेपस्य लगा देशो भवति ॥ उदा०-कल्प्ता, कल्प्तारी, कल्प्तारः। क्लप्तवान् ॥

भाषार्थः—[इपः] कृप धातु के [रः] रेफ को [लः] लकारहे हैं। है ॥ दः से यहाँ सामान्य रूप से रेफ लिया गया है, सो ऋकार में रेफ श्रुति, एवं ऋ को गुण रपरत्व होकर जो रेफ दोनों को एक होते छत्व होता है ।। सिद्धियाँ लुटि च क्लूप: (११३) सूत्र में हैं। मुण होकर कर्प् ता = कल्प्ता बना । निष्ठा में जहाँ गुण नहीं हुनी ऋ को रेफ श्रुति और उसको छ श्रुति होकर क्लप्तः क्लप्तवार्व यहाँ से 'रो लः' की अनुवृत्ति ८।२।२२ तक जायेगी॥

्रचपसर्गस्य ६।१॥ अयतौ ७।१॥ अनु०—रो छः॥ अर्थः त डपसर्गस्य यो जे परत उपसर्गस्य यो रेफस्तस्य छकारादेशो भवति॥ उदार्वा पलायते, पच्ययते ॥

अष्टमोऽध्यायः

[हिती पादः]

मूर्वना

9(2) 11

हन् अ

य स्मा

हुआ वी

न् वता

६०३

भाषार्थ: — [अयतौ] अय घातु के परे रहते [जपसर्गस्य] उपसर्ग-ब जो रेफ उसको छकारादेश (छत्व) होता है।। प्र अयते = प्ल अयते = ह्मयते। परा अयते = पलायते। परि अयते = यणादेश तथा छत्व होकर गत्ययते बन गया ।।

ग्री यिं ॥८।२।२०॥

थे:-स ग्रः ६।१।। यिङ ७।१।। अनु० - रो लः ।। अर्थः -- गृ इत्येतस्य धातोः फिल्य ल्रत्वं भवति यङि परतः ॥ उदा०—निजेगिल्यते, निजेगिल्येते, उदाः-निजेगिल्यन्ते ।। यसंबद्ध र

भाषार्थ:-[गः] गृ धातु के रेफ को [यिङ] यङ् परे रहते छत्त होता है ।। सिद्धि भाग १ परि० ३।१।१४ में देखें ।। (४।३१४) किन्त्र

यहाँ से 'यः' की अनुवृत्ति = 12|2१ तक जायेगी।।

अचि विभाषा ॥८।२।२१॥

अचि ७।१।। विभाषा १।१।। अनु०—प्रः, रो छः ।। त्रर्थः—अजादौ प्रयये परतो गृ इत्येतस्य रेफस्य विभाषा लकारादेशो भवति ॥ उदा०— बिगरति, निर्गेलति । निगरणम् , निगलनम् । निगारकः, निगालकः ॥

क्लप्, माषार्थ:-[अचि] अजादि प्रत्यय परे रहते गृ धातु के रेफ को विकल्प करके छत्व होता है।। गृ धातु तुद्दिगणस्थ है, अतः ति विकरण (३।११७७) होकर 'नि गृ अ ति' रहा। अपित् सार्वधातुक परे कार में होने से गुण न होकर ऋत इद्धातों: (७।१।१००) से इत्व होकर नि गिर् क्ष्रिति । वि रहा। अब यहाँ अच् परे हैं सो पक्ष में छत्व एवं पक्ष में न होकर में हेती निगरित निगिलति बन गया। ल्युट् परे रहते गुण होकर निगरणम्, भारतम् तथा ण्वुल् परे वृद्धि (७।२।११६) होकर निगारकः, निगारकः का गया ॥

यहाँ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति ८।२।२२ तक जायेगी।।

परेश्र घाङ्कयोः ॥८।२।२२॥

परे: ६।१॥ च अ० ॥ घाङ्कयोः ७।२॥ स०— घा० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ भूके विभाषा, रो छ: ॥ श्रर्थः — परि इत्येतस्य च यो रेफस्तस्य घशब्दे, ्रमाषा, रा छः ॥ श्रथः—पार इत्यतस्य । विकल्पेन छत्वं भवति ॥ उदा०—घशब्दं—परिघः,

[हिंदी व पिछघः। अङ्कश्चे —परिगतोऽङ्कः = पर्यङ्कः, पल्यङ्कः॥ अङ्का साहचर्यात् घशब्दो गृहते न तरप्तमपोः संज्ञा ॥

भाषार्थ:-[परे:] परि के रेफ को [घाङ्कयो:] घ तथा अङ्क अन्त रहते विकल्प से छत्व होता है।। अङ्क शब्द के साहचर्यसे 'घ' से का शब्दस्वरूप का श्रहण है, घ संज्ञक तरप्तमप् प्रत्ययों का नहीं॥ पीर पछिचः में परी घः (३१३।८४) से अप् प्रत्यय तथा हन को व जा एवं टिलोप हुआ है। अकि धातु को इदित्वात् नुम् तथा पर्वाचन् के 'अङ्कः' बना है, पश्चात् कुगतिपादयः (२।२।१८) से परि के साय सक एवं यणादेश होकर पर्यङ्कः पल्यङ्कः वन गया।।

संयोगान्तस्य लोपः ॥८।२।२३॥

संयोगान्तस्य ६११॥ छोपः १११॥ सः—संयोगोऽन्ते यस मार् गान्तं तस्य वहुत्रीहिः ॥ अनु - पदस्य ॥ ऋर्थः - संयोगल पदस्य छोपो भवति ॥ उदा०—गोमान् , यवमान् , कृतवान् , हतवान

भाषार्थः—[संयोगानतस्य] संयोग अन्त वाले पद का [लोग]हा होता है ।। अलो ऽन्त्यस्य (१।१।५१) से अन्त्य अल् का ही लेप हों कृतवान् की सिद्धि परि० १।१।५ में देखें, तद्वत् हन् धातु से अव पदेशः (६।४।३७) से अनुनासिक छोप होकर हतवान बना है। यवमान् में मतुप् प्रत्यय हुआ है ॥ हलो ऽनन्तराः (१।१।७) से की संज्ञा होती है।।

यहाँ से 'संयोगान्तस्य' की अनुवृत्ति ८।२।२४ तक तथा 'तोप'ई टारारह तक जायेगी।।

रात्सस्य ॥८।२।२४॥

रात् ५।१॥ सस्य ६।१॥ अनु० — संयोगान्तस्य होपः, पहा अर्थ: — संयोगान्तस्य पद्स्य यो रेफस्तस्मादुत्तरस्य सकारस्य होषो मही नियमार्थोऽयमारम्भः । रात् सस्यैव छोपो भवति नान्यस्य ॥ हि मातुः, पितुः। गोभिरक्षाः (ऋ०९।१०७)। प्रत्यक्रमस्याः १०।२८।४)।।

भाषार्थः—संयोग अन्त वाले पुद का जो [रात] रेक की है। र [सस्य] सकार का जो — े उत्तर [सस्य] सकार का छोप होता है।। पूर्व सूत्र से ही संबोधीय

अष्टमोऽध्यायः

क्षे गहः]

哥

गान्स

६०५ .

कि त लोप सिद्ध था, पुनर्वचन नियमार्थ है अर्थात्—रेफ से उत्तर यदि विगानत छोप हो तो सकार का ही हो, किसी अन्य का नहीं, अतः क्रि आदि में रेफ से उत्तर ककार आदि का छोप नहीं होता।।

का मातृ पितृ शब्द से इस् अथवा इसि विभक्ति आकर मातुः पितुः , की हो। सिद्धि प्रकार होतुः के समान ६।१।१०७ पूत्र में देखें।। अक्षाः जा जा जा की सिद्धि जाराहण सन में देखें।। (13

यहाँ से 'सस्य' की अनुवृत्ति ८।२।२८ तक जायेगी।।

धि च ॥८।२।२५॥

षि ७११। च अ० ।। अनु०—सस्य, छोपः ।। अर्थः—धकारादौ च ास्ये परतः सकारस्य लोपो भवति ॥ उदाः—अलविध्वम्, अलविद्वम् । अपविद्यम्, अपविद्यम् ॥

भाषार्थ: — [च] धकारादि प्रत्यय के परे रहते [च] भी सकार का वान के होता है।। अलिब्बम् यहाँ आत्मनेपद में अट् लू इट सिच् ध्वम् = ण होकर अ हो इ स् ध्वम् = अ हव इ स् ध्वम् रहा । ध्वम् धकारादि वा विषय के परे रहते सिच् के स्का छोप होकर अलविध्वम् वन गया। क्षिणियेटः (८।३।७९) से पक्ष में ध्वम् के घ् को सूर्धन्य आदेश होकर की अधिवृद्वम् बन गया । इसी प्रकार अपविध्वम् अपविद्यम् में जाने ॥

झलो झलि ॥८।२।२६॥

7. 4 ^{इछ: ५|१||} झिछ ७|१|| श्रनु०--सस्य, छोप: ॥ अर्थ:-- झछ उत्तरस्य कारिय इति परतो छोपो भवति ॥ उदा०-अभित्त, अभित्थाः। केंद्रित, अच्छित्थाः । अवात्ताम् , अवात्त ॥ EFE!

भाषार्थ: [मल:] झल् से उत्तर सकार का लोप होता है, [मलि] किएरे रहते।। भिदिर् छिदिर् से लुङ् आत्मनेपद में अ भिद् स्त = कि सहसे उत्तर सिच्का स्है, तथा झल्परे भी है, अतः स् छोप भा कि च (८।४।४४) से चर्त्व होकर अभित्त अच्छित्त बत गया। शिक्षित में छे च (६।१।७१) से तुक् आगम एवं श्चुत्व हुआ है। थास् के पित्र में छे च (६।१।७१) से तुक् आगम एव रपुत्व छुना प्राप्ति अभित्थाः बना । वस् से इसी प्रकार तस् को ताम् (३।४।१०१) तथा 'स्' लोप सः स्यार्धधातुके (७।४।४९) की दृष्टि में असिद्ध

माना जाने से वस् के स्को त् होकर अवात्ताम् बना है। भाना जान प्रवर्ध होती है। इसी प्रकार 'थ' को शहा (७।२।३) से यहाँ वृद्धि भी होती है। इसी प्रकार 'थ' को शहा है से ही त होकर अवात्त बना है।।

यहाँ से 'मलि' की अनुवृत्ति ८।२।३८ तक जायेगी॥

हस्वादङ्गात् ॥८।२।२७॥

ह्रस्वात् ५।१॥ अङ्गात् ५।१॥ श्रनु०—झिल, सस्य, छोपः॥ ऋ ह्रस्वान्ताद्रङ्गादुत्तरस्य सकारस्य क्कि परतो छोपो भवति॥ जाः-अकृत, अकृथाः । अहत, अहथाः ॥

भाषार्थ: - [ह्रस्वात्] ह्रस्वान्त [श्रङ्गात्] अङ्ग से उत्तर सक्का झल् परे रहते छोप होता है ।। सिद्धि उश्च (१।२।१२) सूत्र में देवं।

इट ईटि ।।८।२।२८॥

इटः ५११॥ ईटि ७११॥ श्रनु०—सस्य, लोपः॥ श्रर्थः—इट जात सकारस्य छोपो भवति ईटि परतः।। उदा०-अदेवीत्, असेति। अकोषीत्, अमोषीत्।।

माषार्थ:—[इट:] इट् से उत्तर सकार का छोप होता है [ईरि]है परे रहते ।। अदेवीत् आदि में नेटि (७।२।४) से वृद्धि का प्रति होता है। सिद्धि प्रकार परि० १। १।१ के अलावीत् के समान जानें।

स्कोः संयोगाद्योरन्ते च ॥८।२।२९॥

स्को: ६१२॥ संयोगाद्योः ६१२॥ अन्ते ७११॥ च अ०॥ स० म कश्च स्कौ, तयो: इतरेन्र्टून्ट्रः । संयोगस्य आदी संयोगादी तर् षष्टीतत्पुरुषः ॥ अनु०—झिल, लोपः, पदस्य ॥ अर्थः—पदानी वर्षः परतो यः संयोगस्तदाद्योः सकारककारयोर्छोपो भवति॥ ज्यान मकारस्य—लग्नः, लग्नवान्, साधुलक् । ककारस्य-तक्षे:—तष्टः, त्रा काष्ट्रतट् ॥

भाषार्थ:—पद के [अन्ते] अन्त में [च] तथा झह परे हिंदी [संयोगाद्यो:] संयोग डसके आदि के [स्की:] सकार तथा के लिए होता है। छोप होता है।। लग्नः लग्नवान् की सिद्धि सूत्र जाति है।। लग्नः यहाँ झळ् निष्ठा परे है ॥ साधुळक् यहाँ ओळस्जी से किप् (३१४) Feb (TE:]

दाः-

ह्य हैं।

हते हैं

कि आहे। शेष पूर्ववत् है। यहाँ पदान्त में संयोग है, अतः उसके आदि शिक्ष हो पहुंचा है। तक्ष्य धातु के आदि 'क्' का लोप एवं ब्दुत्व होकर क्षि में तष्टः तष्टवान् एवं पूर्ववत् क्विप् में काष्ट उपपद रहते मलां ब्रोडने (८।२।३६) से 'ष्' को जरुत्व 'ड्' एवं वावसाने से चर्त्व 'ट' क्ति 'काष्टतट्' बना है।।

यहाँ से 'अन्ते च' की अनुवृत्ति ८।२।३८ तक जायेगी ॥

चोः कुः ॥८।२।३०॥

चो: ६।१।। कु: १।१।। अनु०-झिल, अन्ते च, पदस्य ।। अर्थ:-क्षाः कांस्य स्थाने कवर्गादेशो भवति झिळ परतः पदान्ते च ॥ उदा०— हं। लि-पक्ता, पक्तुम्, पक्तव्यम्। वक्ता, वक्तुम्, वक्तव्यम्। पदान्ते-ओदनपक्, वाक् ।।

भाषार्थ:-[चो:] चवर्ग के स्थान में [कु:] कवर्ग आदेश होता है, ला हिपरे रहते, या पदान्त में ।। वाक् की सिद्धि परि० १।२।४१ में देखें। सिद्धियाँ सुस्पष्ट ही हैं।।

हो ढः ॥८।२।३१॥

हः ६।१॥ ढः १।१॥ श्रनुः—झिल, अन्ते च, पदस्य ॥ अर्थः— हारी। ढः १।१।। श्रनुः—झाल, जन्त न, पुरान्ने हाराह, जन्त न, पुरान्ने हाराह, जन्त न, पुरान्ने हाराह, हिम्, सोढव्यम्, वोढा, वोढुम् वोढव्यम्। पदान्ते—तुराषाट्, ग्रिवाट्, दित्यवाट्।।

माषार्थ: [हः] हकार के स्थान में [ढः] ढकार आदेश होता है, हिं परे रहते या पदान्त में ।। सोढा वोढा आदि में सहिवहोरी० भिशिश्व या पदान्त मा। साढा पाडा है, सिद्धि वहीं देखें। वाष्ट्र प्रष्टवाट् की सिद्धि सूत्र ३।२।६३–६४ में देखें।।

यहाँ से 'हः' की अनुवृत्ति ८।२।३५ तक जायेगी।।

दादेर्घातोर्घः ॥८।२।३२॥

AT S दादे: ६।१॥ धातो: ६।१॥ घ: ६।१॥ स०—दकार आदिर्यस्य भारितारमात् चहुव्रीहि: ॥ अनु —हः, झिल, अन्ते च, पदस्य ॥ क्षारादेर्घातोईकारस्य स्थाने घकारादेशो भवति झिल

[PE 195 परतः पदान्ते च ॥ जदाः — दह— दग्धा, दग्धम्, दग्धन्यम्। हा दोग्धा, दोरधुम्, दोरधव्यम्। पदान्ते-काष्ठधक्, गोधुक्॥ ग्वन

माधार्थ:-[दादेः] दुकार आदि को है जिन [धातोः] याहुवैः ' उनके हकार के स्थान में [य:] घकार आदेश होता है, झल्परे हों। पदान्त में ।। पूर्व खूत्र से ढकारादेश प्राप्त था, घकार विधान तहा वर्ष है।। गोधुक् की सिद्धि परि० ३।२।६१ में देखें। इसी प्रकार हर से क्विप् (३।२।७६) होकर काष्ट्रधक् बतेगा। दग्धा आदि में क्वि समस्तथों (८१२।४०) से त् को ध् तथा सलां जश्सिश (८१४१२) होता म् को जरत्व ग् हुआ है। शेष कार्य एजन्तादि सिद्धियों के समानी की

यहाँ से 'घः' की अनुवृत्ति ८।२।३३ तक तथा 'घातोः' की वार तक जायेगी।।

वा हुहसुहब्गुहब्जिहास् ॥८।२।३३॥

1

वा अः ॥ दुहः : हाम् ६।३॥ सः — दुहस्र मुह्श्र जाह्य जि दुहः ' विणहस्तेषाम्' ' इतरेतरद्वन्द्वः ।। श्रनु० — धातोर्घः, हः, ब्राह्म इति च, पदस्य ।। अर्थः—दुह, सुह, ब्लुह, बिलह इत्येतेषां धातूनां हका स्थाने विकल्पेन घकारादेशो अवित झिळ परतः पदानते च॥ ह्याः वा दुह्—द्रोग्धा, द्रोढा । मित्रधुक्, सित्रधुट् ! सुह्—उन्सोधा, ज्यां जन्मक्, उन्मुट् । ज्युह्—उत्स्तोग्धा, उत्स्तोढा । उन्तुक्, वन्तुः िष्ट्—स्तेग्धा, स्तेढा । स्तिक् स्तिट् ।।

भाषार्थः—[दुहः ध्याहाम्] दुह, जिघांसायाम् सह वैक्ति क्रिक उद्गरणे, िणह प्रीती इन धातुओं के हकार के स्थान में [ग] किर्म ह घकारादेश होता है, झल् परे रहते तथा पदान्त में ॥ दुई धाउ कि अतः उसे निकार है, अतः उसे नित्य घत्व पूर्व सूत्र से प्राप्त था, तथा अन्य धाउमा आप्ता है। प्राप्त था, तथा अन्य धाउमा आप्ता अप्राप्त ही था अप्राप्त ही था, विकल्प से विधान कर दिया। विकल्प कहते हे प्राप्त स्थाप्ता हो द्वार (८१०) के विधान कर दिया। यथाप्राप्त हो दः (८।२।३१) से द होता है।। घ करने पर पूर्वम हों। अविद एवं द करने आदि एवं ढ करने पर धत्व च्टुत्वादि करके द्रोढा आदि हम कि मित्रधुक् की सिद्धि परि० ३।२।६१ में देखें। ढ करने पर भित्रधुक् की सिद्धि परि० ३।२।६१ में देखें। ढ करने पर भित्रधुक् की प्रकार बनेगा। सभी सिद्धियाँ इसी प्रकार हैं। प्रकार हैं। प्रकार हैं। उत्तर्हिं कि उत्तरिं कि प्रकार हैं। प्रकार हैं। उत्तरिं कि उत्तरिं कि प्रवित्र कि प्रकार हैं। प्रकार हैं। प्रकार हैं। उत्तरिं कि प्रकार हैं। प्रकार हैं। उत्तरिं कि प्रकार है। उत्तरिं कि प्रकार हिंदि कि प्रकार है। उत्तरिं कि प्र

303

[] श्वादे: वः सः (६।१।६२) से स् होता है, पश्चात् न् जो ष् के संयोग से ्वा था उसे न हो जायेगा।।

नही धः ।।८।२।३४॥

विशेष स्वेष नहः ६।१॥ धः १।१॥ अनु०-धातोः, हः, झलि, अन्ते च, पदस्य॥ म्हि म्यं: - नहो हकारस्य स्थाने धकारादेशो भवति झिछ परतः पदान्ते च ॥ हर हाः नद्भम्, नद्भम्, नद्भव्यम्। उपानत्, परीणत्।।

माषार्थः—[नहः] णह बन्धने धातु के हकार को [घः] धकारादेश शिक्षा है, झळ परे रहते या पदान्त में ।। गो नः (६।१।६३) से णह के निहा को न होता है। नध् त = त को अपस्त० (८।२।४०) से ध तथा मला प्राप्त (८।४।५२) से पूर्व के घू को जश्त्व द् होकर नद्धम् आदि रूप सगये। उपानत् परीणत् की सिद्धि ६।३।११४ में देखें।।

आहस्थः ॥८।२।३५॥

आहः ६।१॥ थः १।१॥ अनु०-धातोः, हः, झिछ ॥ अर्थः-आहो हुं । जदा० — किमात्थ, इदमात्थ ।। जदा० — किमात्थ, इदमात्थ ।। FFIF भाषार्थ:—[आह:] आह के हकार के स्थान में [थ:] थकारादेश हार जि है, झल् परे रहते ।। आत्थ की सिद्धि परि० ३।४।८४ भाग १ में मंडी सिं॥

वथअस्जर्युजम्जयजराजभ्राजच्छ्यां षः ॥८।२।३६॥

ला

वश्च च्छ्रशाम् ६।३॥ षः १।१॥ स० — ब्रह्मश्च अस्तश्च स्तश्च विश्व प्रजिश्च साजिश्च छात्र छश्च शश्च त्रश्च । नर्णः — योवडच . विकास स्थानक छत्र राज्य सामक छत्र राज्य राज्य सामक स्थानक स्थानक छत्र व्याप्त सामक स्थानक स्यानक स्थानक स्यानक स्थानक स् अनु०—धाताः, साल, अन्त प्राप्तः । अनु०—धाताः, साल, अन्त प्राप्तः । अन्तः । अन् विष्कार आदेशो भवति झिल परतः पदान्ते च ॥ उदा०—ओव्रश्चू— भाषा प्रकार आदेशो भवति झिलं परतः पदान्त पता पता अष्ट्रम् , अष्टन्यम् , भाषा होत्स् , वष्टन्यम् , मूलवृट् । अस्त—अष्टा, अष्टुम् , अष्टन्यम् , भाष्ट्रम् , वष्टव्यम् , मूलवृट् । श्रस्ज — श्रष्टा, अञ्चरः निर्मेट् । सूज — स्रष्टा, स्रष्ट्रम् , स्रष्टव्यम् , रब्जुसृट् । सृजूष् — मार्षा, प्रमेर्वे , मार्ष्टव्यम् , कंसपरिसृट् । यज — यष्टा, यष्ट्रम् , यष्टव्यम् , भाष्ट्रम् , मार्ष्ट्रचम् , कंसपरिमृद् । यज—यष्टा, पण्डन्मः , क्षारा-विभाद् । छकारा-विभाद् । छकारा-विभाद् । छकारा-विभाद् । छकारा-विभाद् । अकारा-वा-

िहें बाद नाम्—लिश्—लेष्टा, लेष्ट्रम्, लेष्ट्रव्यम्, लिट्। विश्—वेष्टा, वेष्ट्र वेष्टव्यम्, विट्॥

भाषार्थः—[त्रश्च...साम्] ओत्रश्चू, भ्रस्ज, सृज, सृज्ण, ह राज़, दुश्राजृ इन घाडुओं को तथा छकारान्त एवं कार धातुओं को भी झल् परे रहते एवं पदान्त में [प:] पकाराहेश अवर है।। त्रालो डन्त्यस्यं (१।१।५१) से अन्तय अल् को प् सर्वत्र हो। राज भ्राज का सूत्र में पदान्तार्थ ही प्रहण है, अतः शह में। बाये उदाहरण नहीं दिया।। स्रष्टा की सिद्धि सूत्र ६।१।४० में हैं। मार्षी मार्ष्ट्रम् , मार्ष्टव्यम् में मृजेर्वृद्धः (७।२।११४) से वृद्धि हुं। शोष ष्टुत्वादि कार्य सबमें समान हैं। त्रष्टा यहाँ 'त्रान् हात्री इस स्थिति में ऊदित् होने से जब पक्ष में इड् का अभाव (अव्याधी रहा तो उस पक्ष में च्को घत्व कर लेने पर 'त्रस्ष् ए' ए। क गार च् के हटने पर रचुत्व हुआ जो श् उसको भी 'स' रह गया। लो हिलेत (८।२।२६) से अब इस स्का लोप, तथा शेष ष्टुत्वादि कार्य होगर श्रष्टा आदि रूप बन गये । मूलवृट् धानाभृट् में महिज्याः (शाशिः व्रश्न अस्त को सम्प्रसारण एवं सलोप भी हुआ है ॥ सम्राट् की विश्व परि० ३।२।६१ में देखें । तद्वत् स्वराट् आदि समझें । उपयट् की विश्वाट की सिद्धि ३।२।१७७ में देखें। की सिद्धि परि० ६।४।१६ में देखें।। लिट् विट् में अविकार (३।२।१७८) से किप् तथा मूलभृट् आदि में किय् व (३।२।६) T, E H किए हुआ है।। गरेः

्रकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्व्वोः ॥८।२।३॥

एकाचः ६।१॥ बर्शः ६।१॥ मष् १।१॥ झषन्तस्य ६।१॥ स्वी स्व धातोः, झलि, अन्ते च, पद्स्य ॥ अर्थः —धातोरवयवो य एकार्व् स्तद्वयवस्य बशः स्थाने भष् आदेशो भवति, झिंह सकारे विकास परतः पदान्ते च। एकाच इत्यत्रावयवषष्ठी तेनावयवार्थः क्रिकेट ज्दान्त च । एकाच इत्यत्रावयवषष्ठी तेनावयवार्थः मिन्निक्ति । ज्वाप्त अभुद्ध्यम् , अर्थभृत् । जुर्ह् । क्वाप्त । जुर्ह् न्यघूढ्वम् , पर्णघुट् । दुह्—धोक्ष्यते , अधुग्ध्वम् , गोधुक् । अधुग्ध्वम् , गोधुक् । गर्छप् ॥ , गर्द्धप्॥ ,

कि गहः]

I SE

६११

भाषार्थ:-धातु का अवयव जो [एकाचः] एक अच् वाला तथा [म्राग्तस्य] झषन्त उसके (धातु के) अवयव [बशः] बश् के स्थान में म् अव आदेश होता है, झलादि [स्थ्वोः] सकार तथा झलादि ध्व कार कि परे रहते एवं पदान्त में।। 'एकाचः' में अवयव षष्टी है, अतः विह अवयव अर्थ सूत्रार्थ में निकल आता है।। सिद्धियाँ परिशिष्ट में देखें।। यहाँ से 'बशो भष् अषन्तस्य स्थ्वोः' की अनुवृत्ति ८।२।३८ तक होग परे इ जायेगी ।।

दघस्तथोश्च ॥८।२।३८॥

हुं। द्यः ६।१॥ तथोः ७।२॥ च अ०॥ स०—तश्र थस्र तथौ, तयोः व ह्या होतरद्वन्द्वः ।। अनु ः—बशो भष् झषन्तस्य स्थ्वोः, धातोः, झळि॥ प्या वर्ष: - द्घ इत्येतस्य झषन्तस्य बशः स्थाने भष् आदेशो भवति तकारथ-। ब्रायोः परतश्चकारात् झिल सकारे ध्वशब्दे च परतः ।। दध इति डुधान् होतिस्य कृतद्विचनो निर्दिश्यते ।। उदा०—धत्तः, धत्थः । धत्से, धत्स्व, कि । ब्रह्म ।।

भाषार्थः—'द्धः' यह डुधाञ् धातु का द्विवेचन करके सूत्र में निर्देश कि हैं। [दधः] द्ध जो झषन्त धातु उसके बश् के स्थान में भष् आदेश कि हैं [तथोः] तकार तथा थकार परे रहते [च] तथा झलादि सकार विश्व परे रहते भी ।। डुधाञ् को द्वित्व तथा अभ्यास को जरत्व एवं को के आ का रनाभ्यस्तयोरातः (६।४।११२) से छोप होकर 'द्ध्' झघन्त धी वश् को भध् होकर धध् तस् रहा। खरि च से चत्वं होकर धत्तः भाषा। थस् में धत्थः, एवं आत्मनेपद में थास् को से (३।४।८०) भेरेश करके धत्से बना । छोट् में सवाभ्यां वामी (३।४।६१) छगकर भारत भरक धत्स बना । छाट् भ तपान्या गाः (८।४।४२) से हो

झलां जशोऽन्ते ॥८।२।३९॥

वश्री हिलाम् ६।३।। जाराः १।३।। अन्ते ७।१।। अनु०—पदस्य ।। अर्थः— वित्र पारा। जादाः १।३॥ अन्त ७।४॥ १७३ । १७३ । १० । व्याप्त ।। उदा० — वागत्र, Hail कित्र, अग्निचिद्त्र, त्रिष्टुबत्र ॥ A.

माषार्थः पद के [अन्ते] अन्त में वर्त्तमान [सलाम्] झलें को जश् आदेश होता है।।

गवः

कारः

निष्टात

कारस वस्तीप

गन्तात

4

यह

संय

भाष

ल्वा निहिं:

झषस्तथोद्धोऽधः ॥८।२।४०॥

झषः ४।१॥ तथोः ६।२॥ घः १।१॥ अघः ५।१॥ स०-तथोत्तिः तरेतरद्वन्द्वः ॥ अर्थः - झष उत्तरयोस्तकारथकारयोः स्थाने धकार आहे। भवति, डुधाञ् इत्येतं धातुं वर्जियत्वा ।। *उदा*ः—्डुलभप्—ल्ला लब्धुम्, लब्धव्यम्। अलब्ध, अलब्धाः। दुह—दोग्धा, दोणुर् दोग्धन्यम्। अदुग्ध, अदुग्धाः। लिह-लेढा, लेढुम्, लेढुग्ग्, अलीह, अलीहा: । बुध -बोद्धा, वोद्धुम्, वोद्धव्यम्, अवुद्ध, अवुद्धः॥

के तक भाषार्थः—[सपः] झष् (प्रत्याहार) से उत्तर [तथोः] तकारता थकार को [धः] धकार आदेश होता है किन्तु [अधः] डुधान् धतुरे वि[द ही सि उत्तर धकारादेश नहीं होता ।। अदुग्ध की सिद्धि परि० ३।११६३ में खें ग्रनं । तद्वत् थास् में अदुग्धाः एवं तृच् इत्यादि में दोग्धा आदि वने हैं। अदु ज्वल ' की सिद्धि परि० १।२।११ में देखें, तद्वत् थास् में अवुद्धाः की अश अछीढ अछीढाः (थास्) की सिद्धि सूत्र ७।३।७३ में देखें। ते मन्नः, आदि भी इसी प्रकार हैं। अलब्ध अलब्धाः भी अवुद्ध के समान है · जानें, तृच् इत्यादि में बोद्धा आदि की (धत्व जश्तव करके) सिद्धि जानें।।

पढोः कः सि ॥८।२।४१॥

पढोः दीरा। कः १।१॥ सि ७।१॥ स०—पश्च द्वश्च पढौ तयोः विग ३ इतरेतरद्वन्द्वः ।। अर्थः — पकारढकारयोः स्थाने ककारादेशो भवति समी ण्वान्, परतः ॥ जदा० — विष् — घकारस्य — वेच्यति, अवेक्यत्, विवस्ति। 10-ढकारस्य – लिह् – लेक्यिति, अलेक्यत्, लिलिक्षिति ॥

भाषार्थ:-[पढो:] पकार तथा ढकार के स्थान में [कः] क् आरे होता है, [स] सकार परे रहते ।। विष् स्य ति = वेक् ह्य ति = वेक् ह्य लुङ् में अवेद्यत् तथा सन्नन्त में विवक्षति बनेगा। इसी प्रकार के हु की को कर के ह् की हो ढः (८।२।३१) से ढत्व एवं सब कार्य होकर लेक्ष्यित आहे वा छ्री रूप बनें।

[निष्ठाविकारप्रकरणम्]

रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः ॥८।२।४।॥ े रदाभ्याम् ४।२॥ निष्ठातः ६।१॥ नः १।१॥ पूर्वस्य ६।१॥ व ४॥ १ ६।१॥ म दः ६।१॥ स०—रश्च दश्च रदौ ताभ्याम् द्रितरद्रन्दः।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

1, Į,

利 गं

कारः निष्ठात् , तस्य "षष्ठीतत्पुरुषः ॥ श्रर्थः -रेफदकाराभ्यामुत्तरस्य श्चितकारस्य स्थाने नकारादेशो भवति, तकारात् पूर्वस्य (निष्टायाः) कारस्य च स्थाने नत्वं भवति ॥ उदाः—रेफान्तात्—आस्तीर्णम्, क्षितीर्णम्। श्—विशीर्णम्। गू—ितगीर्णम्। गुरी—अवगूर्णम्। दका-गतात्—भिर्दर्—भिन्नः, भिन्नवान् । ब्रिदिर्—छिन्नः, छिन्नवान् ॥

भाषार्थः —[रदाभ्याम्] रेफ तथा दकार से उत्तर [निष्ठातः] निष्ठा क तकार को [नः] नकारादेश होता है, [च] तथा निष्ठा से [पूर्वस्य] में र्ष[दः] दकार को भी नकारादेश होता है।। आस्तीर्णम्, विस्तीर्णम् बीसिद्धि पूत्र ७।१।१०० में देखें। तद्वत् विशीणम् निगीणम् में भी गतें। इसी प्रकार गुरी **उद्यमने से अव गुर**्न = अवगूर्णम् यहाँ विल त्रार्घधातु**ः (७।२।३५) से प्राप्त इट्**का स्वीदितो निष्ठायाम् ब जिरा १४) से प्रतिषेध हुआ है, यही विशेष हैं। भिद् त = भिन् न = भेन्नः, छिन्नः ॥

यहाँ से 'निष्ठातो नः' की अनुवृत्ति ८।२।६१ तक जायेगी।।

संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः ॥८।२।४३॥

संयोगादेः ४।१।। आतः ५।१।। घातोः ४।१।। यण्वतः ४।१॥ स०— त्रियानादः शारा। आतः पारा। वाताः सारा। विग आदिर्थस्य स संयोगादिस्तस्मात् ''बहुव्रीहिः॥ यण् अस्यास्तीति मान, तस्मात्ः।। श्रनुः—निष्ठातो नः॥ अर्थः—संयोगादियी विकारान्तो यण्वान् तस्मादुत्तरस्य निष्ठातकारस्य नकारादेशो भवति ॥ नि - द्रा-प्रद्राणः, प्रद्रागवान् । ग्लै-ग्लानः, ग्लानवान् ॥

भाषार्थ:—[संयोगादे:] संयोग आदि में है जिनके ऐसे [श्रातः] भारान्त एवं [यरवत:] यण्वान् [धातो:] धातुओं से उत्तर निष्ठा के का को नकारादेश होता है ॥ ग्लै को आदेच उप० (६।१।४४) से आत्व किने पर 'ग्ला' रहा । अब ग्ला एवं द्रा धातु संयोगादि आकारान्त वह रके होने से यण्वान् भी हैं, अतः इनसे उत्तर निष्ठा के त ति हो पाया। क्रत्ययः (८।४।२८) से प्रद्राणः में णत्व हुआ है।।

ल्वादिभ्यः ॥८।२।४४॥

लादिभ्यः ११३॥ स०—त्यू आदिर्येषां ते त्वाद्यस्तेभ्यः लेकिः ॥ श्रवु - निष्ठातो नः ॥ अर्थः - त्वादिभ्य

भा

ग्रदेश

मं देखें

अ

ारिमन्

समाद्

41

वक्त

दि

मा

खु घा

वे सि नार ह

ीं पुरुष

निष्ठातकारस्य स्थाने नकारादेशो भवति ।। उदा० — लूब्-लूनः, लून्नाः धूञ्-धूनः, धूनवान् । ज्या-जीनः, जीनवान् ।।

भाषार्थः — [ल्वादिभ्यः] लूञ् इत्यादि धातुओं से उत्तर निष्ठा तकार को नकारादेश होता है।। धातुपाठ में पढ़े लून् छेदने से ले वृञ् वरणे तक ल्वादि धातु मानी गई हैं।। जीनः की सिद्धि गीः ६।१।१६ में देखें।।

ओदितश्च ॥८।२।४५॥

ात्र स्य ओदितः ५११।। च अ०।। स०—ओत् इत् यस्य स ओहि तस्मात् वहुत्रीहिः ॥ अनु - निष्ठातो नः ॥ त्रर्थः - ओदितो मो रुत्तरस्य निष्ठातकारस्य नकारादेशो भवति ।। उदा० - ओळजी-स्म कारां **छग्नवान् ।** ओविजी-डद्विग्नः, डद्विग्नवान् । श्रक ओट्यायी-आपीतः आपीनवान् ।। वक्ना

भाषार्थ: — [श्रोदित:] ओकार इत् वाले घातुओं से उत्तर [र] में ्निष्ठा के त्को नकारादेश होता है।। ओप्यायी के प्या को पायः (६।१।२८) से पी आदेश होकर पीनः पीनवान् बना है। लग्नः विद्वानः आदि की सिद्धि सूत्र ७।२।१४ में देखें।।

क्षियो दीर्घात् ॥८।२।४६॥

क्षियः ४।१।। दीर्घात् ४।१।। अनु०—निष्ठातो नः ॥ अर्थः -वीर्वाते मा, क्षियो धातोरुत्तरस्य निष्ठातकारस्य नकारादेशो भवति ॥ उदाः निष्ठातकारस्य नकारादेशो भवति ॥ उदाः निष्ठातकारस्य क्लेशाः, क्षीणो जाल्मः, क्षीणस्तपस्वी ॥

भाषार्थः—[दीर्घात्] दीर्घ [चियः] क्षि धातु से उत्तर निष्ट जगीष तकार को नकारादेश होता है।। क्षीणाः क्लेशाः में निष्ठाणाः (६।४।६०) से तथा क्षीणो जाल्मः आदि में वाडकोरादै० (६।४।६।) कि से क्षि घातु को दीर्घ होता है। सिद्धियाँ वहीं देखें।।

श्योऽस्पर्शे ॥८।२।४७॥

श्यः ५११॥ अस्पर्शे ७११॥ स०—न स्पर्शोऽस्प्रेस्तिम् क्रियाः हषः ॥ अन्य तत्पुरुषः ॥ अनु - निष्ठातो नः ॥ अर्थः - श्येङो धातोस्त्रास्य निष्ठां कारस्य नकारावेको । कारस्य नकारादेशो भवति, अस्पर्शेऽर्थे ॥ उदा०—शीनं घृतम्। मेदः। शीर्ना वसा।।

R R: भाषार्थ:-[श्य:] श्यैङ् धातु से उत्तर निष्ठा के तकार को नका-होता है [अस्परों] स्पर्श अर्थ को छोड़कर ॥ सिद्धि सूत्र ६।१।२४ हे दिखें ॥

अश्चोऽनपादाने ॥८।२।४८॥

अञ्चः ४।१।। अनपादाने ७।१।। स०—न अपादानमनपादानं र्मान् ... नव्यतत्पुरुषः ॥ अनु - निष्ठातो नः ॥ त्रर्थः — अञ्च इत्ये-लादु धातोरुत्तरस्य निष्टातकारस्य नकारादेशो भवति, न चेदपादानं ह्य स्यात् ।। *उदा* ० — समक्नौ शकुनेः पादौ । तस्मात् पश्चो न्यक्नाः ॥

भाषार्थ: अञ्चः अञ्च धातु से उत्तर निष्टा के तकार की कारादेश होता है, यदि अञ्चु के विषय में [अनपादाने] अपादान द, गिक का प्रयोग न हो रहा हो तो ।। समक्नः अर्थात् सङ्गत । समक्नौ, क्नाः में अञ्चु के अनुनासिक का त्रानिदतां० (६।४।२४) से छोप ब्री विभाषा (७।२।१५) से इट् प्रतिषेध होता है।। नि अच्त= विष्त = चो: कु: (८।२।३०) से च्को क् होकर न्यक् त = नत्व होकर क्ष जस् = न्यक्नाः, समक्नौ बना।।

दिवोऽविजिगीपायाम् ॥८।२।४९॥

दिवः ४।१।। अविजिगीषायाम् ७।१।। स०—न विजिगीषा अविजि-मा, तस्याम् 'नच्तत्पुरुषः ॥ श्रनु०—निष्ठातो नः॥ श्रर्थः—दिव गिरिय निष्ठातकारस्य नकारादेशो भवति, अविजिगीपायामुर्थे ॥ ^आ०-आद्नः, परिद्यूनः ॥

भाषार्थः—[दिवः] दिव् धातु से उत्तर [श्रविजिगीषायाम्] अवि-में जिला के तकार को नकारादेश होता है।। विजिगीपा कि इच्छा को कहते हैं, सो उससे भिन्न अविजिगीपा है।। विभात से आद्यूनः (ख़ूव खाऊ = पेटू) परिद्यूनः (क्षीण पेट वाटा) भिष्टि में च्छ्रो: श्रुड० (६।४।१६) से वकार को ऊठ् हुआ है, सिद्धि कार वड़ी देख हैं।।

निर्वाणोऽवाते ॥८।२।५०॥

0

निर्वाणः १११॥ अवाते ७११॥ स०—न वातोऽवातस्तस्मिन् नव्-भाषः ।। श्रमुः — निष्टातो नः ।। श्रर्थः — निस्पूर्वात् वाधातोरुत्तरस्य

िहिनेत वर्ष निष्ठातकारस्य नकारो निपात्यते वातर्चेद्भिषेयो न भवति॥ उदार्भा निर्वाणोऽग्निः, निर्वाणः प्रदीपः, निर्वाणो सिक्षः ॥

भाषार्थः — निस् पूर्वेक वा धातु से उत्तर निष्ठा के तकार को नहा प्रति [निर्वाण:] निर्वाण शब्द में [अवाते] वात अभिधेय न होने परिन तित है।। उदा०—निर्वाणोऽग्निः (शान्त हो गया = बुझ गया) मं वि वात अर्थ अभिघेय नहीं है, वात अर्थ अभिघेय होने पर निर्वाती का (वायु शान्त हो गई) में नत्व नहीं होता ।।

ञ्चवः कः ॥८।२।५१॥

THE TENT

त्रन

का

ŢŢ उदा

गत्

यादि

शेव :त्र

शुषः ५।१॥ कः १।१॥ अनुः—निष्ठातः ॥ अर्थः - शुष इत्येतमा धातोरुत्तरस्य निष्ठातकारस्य स्थाने ककार आदेशो भवति॥ जाः-ग्रुष्कः, ग्रुष्कवान् ॥

भाषार्थः—[शुषः] शुष शोषणे धातु से उत्तर निष्टा के तकार है कि:] ककारादेश होता है।।

पचो वः ॥८।२।५२॥

पचः ५११।। वः १११।। श्रनु०—निष्ठातः ।। अर्थः—डुपच् प्रि इत्येतस्माद्धातोरुत्तरस्य निष्टातकारस्य वकारादेशो भवति॥ ज्वा पकः, पकवान् ॥

भाषार्थः—[पचः] डुपचष् धातु से उत्तर निष्टा के, तकार के [ह] वकाररदेश होता है ॥ चोः कुः (८।२।३०) छगकर पकः पकवान कोगा

क्षायो मः ॥८।२।५३॥

क्षायः १११॥ मः १११॥ अनु०—निष्ठातः ॥ अर्थः—क्षेघातोर्^{नात} निष्ठातकारस्य स्थाने मकारादेशो भवति ॥ उदा० —क्षामः, श्लामवाद्र॥

भाषार्थः—[ज्ञायः] क्षे धातु से उत्तर निष्ठा के तकार के कि मकारादेश होता है।। आदेच उपदेशे० (६।१।४४) से आति हैं।। क्षामः, क्षामवान् बन गया।।

यहाँ से 'मः' की अनुवृत्ति ८।२।५४ तक जायेगी।।

प्रस्त्यः ५११॥ अन्यतरस्याम् ७११॥ स०—प्रपूर्वः स्याः

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

के बदः]

मात् तत्पुरुषः ।। श्रनु — मः, निष्ठातः ।। अर्थः — प्रपूर्वात् स्त्यै इत्येत-बाद्धातोरुत्तरस्य निष्ठातकारस्य विकल्पेन मकारादेशो भवति ।। उदा — अतीमः, प्रस्तीमवान् । पक्षे – प्रस्तीतः, प्रस्तीतवान् ।।

माषार्थः—[प्रस्त्यः] प्रपूर्वक स्त्यै धातु से उत्तर [अन्यतरस्याम्] में किल्प से निष्ठा के तकार को मकारादेश होता है।। सिद्धियाँ सूत्र

अनुपसर्गात् फुछक्षीवकुशोछाघाः ॥८।२।५५॥

अनुपसर्गात् ५।१।। फुछः 'छाघाः १।३।। स०—न उपसर्गोऽनुपसर्ग-प्रमात्' 'नञ्तरपुरुषः । फुछः इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ।। श्रनुः—निष्ठातः ।।

श्रिं—अनुपसर्गादुत्तराः फुछ, क्षीव, छश उछाघ इत्येते शब्दा निपावने ॥ फुछ इत्यत्र व्यिफछा विशरणे इत्येतस्माद्धातोरुत्तरस्य क्तप्रत्ययस्य

कारस्य छत्वं निपात्यते । क्षीव, छश, उछाघ इत्यत्र क्रसेण क्षीबछशिभ्या
श्रिष्वं छाचेः क्तप्रत्ययस्य तकारछोप इडागमाभावश्च निपात्यते ॥

श्रीः—फुछः, क्षीवः, छशः, उछाघः ॥

भाषार्थ:—[अनुपसर्गात्] अनुपसर्ग से उत्तर [फुल्ल्च्चिक्कशोल्लाघाः]

क्रिं क्षीब, कृश तथा उल्लाघ शब्द निपातन किये जाते हैं।। निफला

क्षित्र के को लिंद फुल्ल शब्द में निपातित है। फल् ल = यहाँ

कि (अशेटि) से फ के अ को उत्व होकर फुल्लः बन गया।

क्षित्र के (अशेटि) से यहाँ इट् आगम का अभाव भी होता है।।

क्षित्र के अल्लाघ यहाँ कमशः क्षीब कृश तथा उत् पूर्वक लाघ धोतु से

क्षित्र के प्रत्यय के त् का लोप एवं त् लोप के पूर्वत्रासिद्धम् (दाशश) से

क्षित्र आगम की दृष्टि में असिद्ध हो जाने से जो आर्धघातुकः (अश्वर्श)

क्षित्र आगम प्राप्त है उसका अभाव भी निपातन है। अथवा यहाँ इट्

क्षित्र के करके 'इत्' भाग का लोप भी निपातन किया जा सकता है।

क्षित्र के विद्वा अ = क्षीबः आदि बन गये। उल्लाघः में त् को ल् तोर्लि

क्षित्र हो = क्षीब् अ = क्षीबः आदि बन गये। उल्लाघः में त् को ल् तोर्लि

क्षित्र हो है।।

चुद्विदोन्दत्राघाहीभयोऽन्यतरस्याम् ॥८।२।५६॥

हियस्तेभ्यः (१३॥ अन्यतरस्याम् ७११॥ स०—नुद्श्च विद्श्च उन्दृश्च वेद्श्च उन्दृश्च वेद्श्च उन्दृश्च वेद्श्च उन्दृश्च

邓

की

नः ॥ अर्थः - तुद् प्रेरणे, विद् विचारणे, उन्दी क्लेद्ने, हैंड् पाले, ह गन्धोपादाने, ही छज्ञायाम् इत्येतेभ्यो धातुभ्य उत्तरस्य विकर्णे (६) निष्ठातकारस्य नकारादेशो भवति ॥ उदाः—नुद्-नुन्नः, नुद्रः। विद—विन्नः, वित्तः। उन्दी—समुन्नः, समुत्तः। त्रा-त्राणः, त्राः। ्रिया—ब्राणः, ब्रातः । ही — हीणः, हीतः । क्तवतु — नुन्नवान्, नुक्तवान्। विन्नवान्, वित्तवान् । समुन्नवान्, समुत्तवान् । त्राणवान्, त्रातवान्। घाणवान्, घातवान् । हीणवान्, हीतवान् ।।

भाषार्थः — [नुदः हिम्यः] नुद्, विद्, उन्दी, त्रैङ्, त्रा, ही झ धातुओं से उत्तर [अन्यतरस्याम्] विकल्प से निष्ठा के तकार हो नकारादेश होता है।। समुन्नः समुत्तः में अनिदितां हल ० (६१४१४४) हे अनुनासिक छोप होता है।। नुद, विद एवं उन्दी को रदाभ्यां निष्ठातीः कृ (८।२।४२) से तथा त्रा (त्रैङ् को आदेच उप० ६।१।४४ से आत करके) घा को संयोगादेरातो० (८।२।४३) से नित्य नत्व प्राप्त ॥ विकल्प कर दिया किन्तु ह्वी को अप्राप्त ही विकल्प कहा है॥

न ध्याख्यापृमूर्च्छमदाम् ॥८।२।५७॥

न अ० ॥ ध्या "मदाम् ६।३॥ स० — ध्येश्च ख्यारच पृच मूर्वित मद् च ध्याः मद्स्तेषां इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनुः—निष्ठातो त त्रर्थ: - ध्यै चिन्तायाम्, ख्या प्रकथने, (ख्याञ् आदेशोऽिष् गृह्णे) पालनपूरणयोः, मुच्छा मोहसमुच्छाययोः, मदी हर्षे इत्येतेषां धारा निष्टातुकारस्य नकारादेशो न भवति।। उदा०—ध्यातः, ध्यातवार ख्यातः, ख्यातवान्। पूर्त्तः, पूर्त्तवान्। मूर्त्तः, मूर्त्तवान्। मर्त्तः मत्तवान्।

भाषार्थः—[ध्या : मदाम्] ध्यै, ख्या, पू मुच्छी, मदी इन धार्ष के निष्टा के तकार को नकार आदेश [न] नहीं होता ।। ख्या से बर्ध ख्या प्रकथने घातु एवं चित्तुङ: ल्याव् (२१४।५४) से किया हुआ खार अादेश दोनों का प्रहण है।। ध्या ख्या को संयोगादे (८१२१४१) है निष्ठा को नत्व प्राप्त था, एवं अन्यों को रदाभ्यां निष्ठाती० (८) है है। प्राप्त था निषेध कर दिया । मुच्छे के छ् का राह्मोपः (६।४।२१) से के कर देने के पश्चात् 'मुर्' रेफान्त हो जाता है, तब रदाभ्यां० से तब की होती है. उसका जिल्हें होती है, उसका निषेध हो गया। सिद्धि ६।४।२१ सूत्र पर ही देव

न्।

इन

:1

ऑ

म तिं, पूर्तवान् में उदोष्ट्या (जारा१०२) से पू को उत्व अचुकः किति मि (। १११) से इट् निषेध तथा हिल च (८।२।७७) से दीर्घत्व होता है। ात=पुर्त = पूर्तः अचो रहा० (८।४।४५) से त् को द्वित्व होकर बन मा। मत्तः मत्तवान् में भी श्वीदितो० (७।२।१४) से इट् प्रतिषेध होता र। है, ऐसा जानें।।

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ८।२।६१ तक जायेगी।।

वित्तो भोगप्रत्यययोः ॥८।२।५८॥

वित्तः १।१।। भोगप्रत्यययोः ७।२।। स०-भोग० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः।। में मु:--न, निष्टातो नः ।। अर्थः-वित्त इत्यत्र विदुल लाभे इत्येतस्मा-हि हित्स्य क्तस्य नत्वाभावो निपात्यते, भोगे प्रत्यये चाभिधेये ॥ भुज्यते ह्य हि भोगः। प्रतीयते इति प्रत्ययः।। उदा०—भोगे—वित्तमस्य बहु। ॥ स्यये—वित्तोऽयं मनुष्यः।।

माषार्थ:-[वित्तः] वित्त शब्द में विद्तु लाभे धातु से उत्तर क्त ाख्य के नत्व का अभाव [भोगप्रत्यययोः] भोग तथा प्रत्यय (प्रतीति) भिषेय होने पर निपातित है ।। रदाभ्यां० (८।२।४२) से नत्व प्राप्ति थी भाव निपातन कर दिया।। वित्तमस्य बहु = अर्थात् इसके पास धन हि है। धन का जो उपयोग किया जाता है, अतः वह उसका भोग वित्तोऽयं मनुष्यः = अर्थात् यह मनुष्य प्रतीत = ज्ञात है । यहाँ मनुष्य प्रतीत विकया जाता है, अतः वह प्रत्यय है ऐसा जानें।।

भित्तं शकलम् ॥८।२।५९॥

भित्तम् १।१।। शकलम् १।१।। श्रनु०—न, निष्ठातो नः ।। अर्थः— निपात्यते शक्छं चेत्तद्भवति ॥ भित्तं तिष्ठति, भित्तं प्रपति ॥

भाषार्थ:-[भित्तम्] भित्तम् शब्द में भिदिर् धातु से उत्तर क्त के a में का अभाव निपातन है, यदि भित्तम् से [शकलम्] शकल = खण्ड क्षि जा रहा हो तो।। पूर्ववत् ही नत्व प्राप्त था अभाव कर भा भित्तं तिष्ठति अर्थात् दुकड़ा रखा है।।

ऋणमाधमण्ये ।।८।२।६०॥

श्रिशा आधमण्य ।।।। स०—अधमः ऋणे = अधमणेः

919

वा

र्ना

अस्मादेव निपातनाद्त्र सप्तस्यन्तस्य परिनपारः। सप्तमीतत्पुरुषः। अधमर्णस्य भावः आधमण्यम् तस्मिन् ' 'ब्राह्मण।दित्वात् ध्यन्प्रत्यः। श्रमुः—निष्ठातो नः ॥ श्रर्थः—ऋगमित्यत्र ऋ इत्येतसमाद्वातोहताह क्तस्य नत्वं निपात्यते, आधमण्यें विषये ॥ उदा०—ऋणं ददाित, क्रां धारयति ॥

भाषार्थः — [ऋणम्] ऋणम् शब्द् में ऋ धातु से उत्तर क के का को नकारादेश निपातन है [आधमरायें] आध्मण्य विषय में ॥ कर्त लें वाले का ही ऋण अधम = दुःखद होने से आधमण्यं कहला है। उह ऋणम् में नत्व कर लेने पर णत्व ऋवर्णाचितिः (वा॰ ८।४।१) से होई। ह्व जायेगा।।

नसत्तनिषत्तानुत्तम्तूर्त्तमूर्त्तानि छन्दसि ॥८।२।६१॥

नसत्तः गूर्त्तानि १।३।। छन्दस्य ७११।। स० -- नसत्तस्त्र निषक्त वि अनुत्तम् प्रतृत्तेम् पूर्त्तम् गूर्तम् नसत्तः गूर्त्तान, इतरेतदृत्। अनु ० — न, निष्ठातो नः ।। अर्थः — नसत्त, निषत्त, अनुत्त, प्रत्तं, एतं गूर्त इत्येतानि शब्दरूपाणि छन्दस्ति विषये निपात्यन्ते ॥ नसत्त निष सदेनेव्पूर्वान्निपूर्वाञ्च नत्वाभावो निपात्यते। अनुत्रीमी प उन्देनेकपूर्वात् नत्वाभावो निपात्यते । प्रतूर्त्तीमिति प्रपूर्वात् त्वरते, अ इत्येतस्माद्वा पूर्ववत् नत्वाभावो निपात्यते । सूर्त्तमिति सृ इत्येतस्य हतं नत्वाभावश्च निपात्यते । गूर्त्तमिति गुरी इत्येतस्मात् पूर्ववत् नत्वामान निपाल्यते ॥ उदाः—नसत्तमञ्जसा । नसन्नमिति भाषायाम् ॥ निष्तमन चरतः (ऋ० १।१४६।१) निषण्णमिति भाषायाम् । अनुत्तमा ते मक्त (ऋ॰ १।१६५।६), अनुन्नमिति भाषायाम्। प्रतूर्ते वाजिन, (गु ११।१२) प्रतूर्णमिति भाषायाम्। सूर्ता गावः। सृता गाव भाषायाम् । गूर्त्ता अमृतस्य । गूर्णिमिति भाषायाम् ॥

भाषार्थः —[नसत्तः गूर्तानि] नसत्त, निषत्त, अनुत्तं, पूर्ते गूर्त ये शब्द [ब्रुन्दिस] वेद विषय में निपातन किये जाते हैं।। तस निषत्त यहाँ क्रमशः नवपूर्वक एवं निपूर्वक षद्र धात से क के ति का अभाव निपातन है। षद्रह के ष को धात्वादेः (६।१।६२) है। हुआ है। जिल्ला के प्रात्वादेः हुआ है। निषत्तम् में सदिरप्रतेः (८।३।६६) से पत्व होता है। अनुत्तम यहाँ कर अनुत्तम् यहाँ नञ्पूर्वक उन्दी के क्त को नत्वाभाव निपातन है।

अनिदितां हल (६।४।२४) से न् छोप भी यहाँ होता है, चर्त्व होकर को त् सर्वत्र हो ही जायेगा ।। प्रतूर्त्तम् यहाँ भी वित्वरा अथवा तुर्वी शत के का नत्वाभाव निपातन है। त्वर से निपातन मानने पर ज्ञातर (६।४।२०) से व् एवं उपचा 'अ' को ऊठ् होकर प्रतूर्त्तः बन ाया, तथा तुर्वी से मानने पर राह्मीप: (६।४।२१) से व् का छोप एवं र्थित (८।२।७७) हो जायेगा ।। सूर्त्तम् यहाँ सु घातु को उत्व एवं नत्वा-मा निपातन है। सुर्त = पूर्ववत् दीर्घतः करके सूर्त्तम् वना।। गूर्त्तम् हैं हाँ गुरी धातु के क्त के नत्व का अभाव निपातन है।। सर्वत्र हैं। इहाँ २ नत्वाभाव निपातन है, वहाँ २ रदाभ्यां निष्ठातो० (८१२।४२) से 🕯 🕫 प्राप्ति थी, असाव कह दिया ।।

呢:]

T:11

1:1

(Fi

स्रं

पत

वुर्वी

रतं

III 里

ग्

किवन्प्रत्ययस्य कुः ॥८।२।६२॥

क्विन्प्रत्ययस्य ६।१॥ कुः १।१॥ सः—िक्वन् प्रत्ययो यस्मात् 🔞 (भातोः) स क्विन्प्रत्ययस्तस्यः 'बहुव्रीहिः ।। अनु०— पदस्य ॥ अर्थः— ा क्लिप्रत्ययस्य पद्स्य कवर्गादेशो भवति ॥ उदा० — घृतस्पृक् , हरुस्पृक् , र्तं, ग्लास्ट्रक् ।।

भाषार्थ:-[विवन्प्रत्ययस्य] क्विन् प्रत्यय हुआ है जिस घातु से उस कि एको [कु:] कवर्गादेश होता है।। अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) से अन्त्य क्रको ही कवर्गादेश होता है।। सिद्धियाँ परि० शश४ में देखें।। यहाँ से 'कु:' की अनुवृत्ति ८।२।६३ तक जायेगी।।

नशेर्वा ॥८।२।६३॥

नेको: ६।२॥ वा अ०॥ अनु०-कु:, पद्स्य ॥ अर्थः-नक्नेः पद्स्य भ कवर्गादेशो भवति ।। उदा० — सा वै जीवनग् आहुतिः । सा वै

भाषार्थ: [नशे:] नश् पद को [वा] विकल्प से कवर्गादेश होता ्रिया पूर्ववत् अन्त्य अल् को कवर्ग होगा ॥ णश अदर्शने घातु से मित्राद्विम्यः वित्रप् (वा० ३।३।९४) इस वार्त्तिक से भाव में क्विप् भिल्ल (८।२।३६) चर्त्व होकर नक् नट् बना, पश्चात् जीवस्य नाशो किन्ग्, जीवनड् आहुतिः षष्टी समास हो गया।।

图

वि

पद्

इति के

13

ग्र

THE

die

मो नो धातोः ॥८।२।६४॥

मः ६।१॥ नः १।१॥ धातोः ६।१॥ श्रानुः—पदस्य ॥ अर्थः—मह रान्तस्य धातोः पदस्य नकारादेशो भूवति ॥ उदाः—प्रशान्, प्रतान् प्रदान् ॥

भाषार्थः—[मः] मकारान्त [धातोः] धातु पद को [नः] नकार्षः होता है ।। अन्त्य अल्को यहाँ भी न् होगा । सिद्धि सूत्र ६॥॥ में देखें ।।

यहाँ से 'मो नो धातोः' की अनुवृत्ति ८।२।६५ तक जायेगी॥

क्वोश्च ॥८।२।६५॥

म्बोः ७।२॥ च अ० ॥ स० — मश्च बख्य म्बौ, तयोः इतरेतरदृदृ॥ श्रानु० — मो नो धातोः ॥ अर्थः — मकारे वकारे च परतो मकारातत धातोनकारादेशो भवति ॥ उदा० — अगन्म तमसः पारम्। आव। जगन्वान् ॥

भाषार्थः—[म्वोः] मकार तथा वकार परे रहते [च] भी मकाण्य धातु को नकारादेश होता है ।। अपदान्तार्थ इस सूत्र का आरम्भ है। गम् धातु से छङ् मस् वस् में वहुलं छन्दिस (२।४।७३) से अप् व लुक् तथा स उत्तमस्य (३।४।६८) से सकार छोप तथा नव हो अगन्म, अगन्व बन गया। जगन्वान् की सिद्धि सूत्र पृ।२।६८ में हे हैं। कसु होकर द्वित्व अभ्यास कार्य करके ज गम् वान् = जगन्वान् बन गया।

ससजुषो रुः ॥८।२।६६॥

ससजुषोः ६।२॥ रुः १।१॥ स०—सश्च सजुष् च ससजुषौ त्योः" इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—पद्स्य ॥ अर्थः—सकारान्तस्य पद्स्य सङ्ग इत्येतस्य च रुभैवति ॥ उदा०—सकारान्तस्य—अग्निरत्र, वापुत्र सजुषः—सजूर्ऋषिभिः, सजूर्देवेभिः ॥

भाषार्थः—[ससजुषोः] सकारान्त पद को तथा सजुष् पद हो हिं। क् आदेश होता है ।। पूर्ववत् अन्त्य अल् को रुत्व होगा ।। अनि में अन्ति स् अत्र = अग्निर् अत्र = अग्निरत्र । सुप्तिङन्तं पदम् (१।४।१४) कि पत् संज्ञा है । सह जुषते इति सजुष् यहाँ कि प् (३।२।४।

के वहः]

ान,

हिंद

111

तस

al

TH

N

ăl

11

6.

ल्या, तथा सहस्य सः० (६।३।७६) से सह को सभाव हुआ है। श्चात् स्त्व होकर वीरुपधाया० (८।२।७६) से दीघ करके 'सजूर्' बन गा। सजुष् सकारान्त नहीं, अतः इसका पृथक् सूत्र में प्रहण है।। ह सूत्र जरत्व का अपवाद है।।॰

यहाँ से 'रु:' की अनुवृत्ति ८।२।७१ तक जायेगी।।

अवयाःश्वेतवाःपुरोडाश्च ॥८।२।६७॥

अवयाः, श्वेतवाः, पुरोडाः, सर्वाणि अनुकरणरूपाणि प्रथमान्तानि ह्मानि ॥ च अ० ॥ इद्यनु०-पदस्य ॥ अर्थः-अवयाः, श्वेतवाः, पुरोडाः ह्येते कृतदीर्घाः निपात्यन्ते, सम्बुद्धौ ॥ उदा०—हे अवयाः, हे श्वेतवाः, ा हि पुरोडाः ॥

भाषार्थः—[अवयाः ''डाश्च] अवयाः, श्वेतवाः [च] तथा पुरोडाः ये व्य दीर्घ किये हुये सम्बुद्धि में निपातन हैं ॥ श्वेतवाः, पुरोडाः (प्रथमा क्षवचन में) की सिद्धि सूत्र ३।२।७१ में तथा 'अवयाः' की सूत्र ३।२।७२ मं की है। यहाँ सम्बुद्धि का सु परे है, एवं वहाँ प्रथमा एकवचन का सु पिथा, यही अन्तर है। इस प्रकार यहाँ सम्बुद्धि में भी सिद्धि प्रिक्रिया मण्णं वही रहेगी, केवल सम्बुद्धि परे रहते श्रत्सन्तस्य॰ (६१४१४) से मधा दीर्घत्व प्राप्त नहीं था, क्योंकि वहाँ 'असम्बुद्धौ' की अनुवृत्ति है, गतः यहाँ दीर्घत्व करने के लिये ही निपातन किया है, शेष सब सिद्ध ही है।।

अहन् ॥८।२।६८॥

अहन् लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ॥ अनुः — रुः, पदस्य ॥ अर्थः — अहन् स्वेतस्य पदस्य रुभवति ॥ उदाः—अहोभ्याम्, अहोभिः। दीर्घाहा ब् निदापः। हे दीघाँहोऽत्र॥

भाषार्थः—[अहन्] अहन् पद् को (अन्त्य अल् को) रु होता है।। किन् भ्याम् = अहरु भ्याम् = हिश च (६।१।११०) स्राद् गुराः (६।१।८४) भारत अहोभ्याम् अहोभि: बन गया । दीर्घाणि अहानि यस्मिन् स दीर्घाहा भिष्णः (प्रीष्म काल) यहाँ बहुत्रीहि समास करके 'दीर्घाहन् सु' रहा। शिही है है। है। है। वहुन्नाह समाज करके दीर्घाहार रहा। स्त्व भी दीर्घत्व (६।४।८) तथा हल्ङचादि छोप करक दावाहार रे. भीति होने से सर्वनामस्थाने० (६।४।८) से दीर्घत्व हो ही जायेगा।

N

पश्चात् निदाघ परे रहते भोभगोऽघो० (८१३११७) एवं हिल संग्रा (८।३।२२) लगकर दीर्घाहा निदायः वन गया। दीर्घाहोऽत्र में को व रोर० (६।१।१०६) से रु को उत्व एवं आद् गुएा: (६।१।८४) से गु एकादेश होगा । शेष सब पूर्ववत् है ॥

यहाँ से 'श्रहन्' की अनुवृत्ति ८।२।६९ तक जायेगी॥

रोऽसपि ॥८।२।६९॥

रः १।१।। असुपि ७।१।। स०—न सुप् असुप् तस्मिन् निम्त रुषः ॥ श्रनु०—अहन् ॥ अर्थः—अहन् इत्येतस्य रेफादेशो भवि कि असुपि परतः ॥ उदा०—अहदेदाति, अहर्भुङ्क्ते ॥

भाषार्थः - अहन् को [रः] रेफ आदेश होता है [त्रमुपि] सुप्ते न न हो तो।। 'अहन् सु' यहाँ हल्ङ्यादि छोप करके अहन् ददाि छ। अव न को असुप् परे होने से रेफ होकर अहर्ददाति वन गया। पूर्व सूत्र का यह अपवाद है। रु करने पर हिश च (६।१।११०) से ज प्राप्त होता था, वह रेफ विधान करने पर नहीं होगा, यही भेद हैं॥ ११ कि में अकार उच्चारणार्थ है।। अह यहाँ प्रत्ययलक्षण से सुप् (सु) परिहें सम्भव है उसकी निवृत्ति श्रह्मो रिवधौ लुमता लुप्ते प्रत्ययलत्त्वां न भवी (भा० वा० १।१।६२) से प्रत्ययलक्षण का प्रतिषेध हो जाने से होती है।

यहाँ से 'रः' की अनुवृत्ति ८।२।७१ तक जायेगी।।

अम्नरूधरवरित्युभयथा छन्दसि ॥८।२४७०॥

अम्न' 'वर् लुप्तषष्ठ्यन्तिनिर्देशः ॥ इति अ०॥ उभय्था अ छन्द्सि ७११॥ स०—अम्तश्च ऊधश्च अवश्च अम्तरूधरवर् तस्य स्म हारद्वन्द्वः ॥ अनु०-रः, रुः, पद्स्य ॥ अर्थः-अम्तस् अध्सः इत्येतेषां पदानां छन्द्सि विषये उभयथा भवति, रुवा रेफो वा इत्या हा ससज्यो रु ससजुषों रु: इत्यनेन नित्यं रुत्वे प्राप्ते पहें रेफा देशार्थमिद्म्॥ उद्गि हों अम्न एव, अम्बर्धेन अम्न एव, अम्नरेव । ऊधस्—ऊध एव, ऊधरेव । अवस्—अव

भाषार्थः—[अम्न ' 'वर] अम्तम् , ऊधम् , अवस् [इति] इत्र की की कि विषय में [उभयथा] दोनों प्रकार से अर्थात की कि दोनों ही होते के । रेफ दोनों ही होते हैं। ससजुषों रः से 'स्' को नित्य रत्व भी पक्ष में रेफ़ विधानार्थ यह सूत्र है। जब 'रु' होगा तो भीगी अष्टमोऽध्यायः ६२५ .

(।३।१७) से रु के रेफ को य् तथा लोपः शाकः (८।३।१९) से उस को र्का छोप होकर 'अम्न एव' बनेगा। रेफ करने पर 'अम्नरेव' बनेगा। गुनुक्तय को ये आदेश जानें।।

वेश वहः]

HH

यहाँ से 'उमयथा छन्दसि' की अनुवृत्ति ८।२।७१ तक जायेगी।।

भुवश्च महान्याहृते: ॥८।२।७१॥

भुवः ६।१॥ च अ०॥ महाव्याहृतेः ६।१॥ अनु०—उभयथा इद्सि, रः,रुः, पद्स्य ॥ अर्थः—भुवस् इत्येतस्य महाव्याहृतेरछन्द्सि किये उभयथा = रुर्वा रेफो वा भवति ॥ भूर् भुवस् स्वर् इति तिस्रो इव्याहृतयः, मध्यमाया इह ब्रहणम् ॥ उदा०—भुव इत्यन्तरिक्षम् ॥ कृतित्यन्तरिक्षम् ॥

माषार्थः — [महाव्याहतेः] महाव्याहति वाला जो [मुवः] मुवस् शब्द्र सको [च] भी वेद विषय में दोनों प्रकार से अर्थात् रु एवं रेफ दोनों ही कि हैं।। भूर्, भुवस्, स्वर्, महस्, जनस्, तपस्, सत्यम् ये ७ व्याहतियाँ बाती हैं। इनमें से आदि की तीन महाव्याहतियाँ कहाती है, क्योंकि इनका को में साक्षात् प्रयोग मिलता है, तथा इनका वाच्य पृथिवी अन्तिरक्ष एवं है। इनके अन्तर्भत अन्य व्याहृतिवाच्य लोकों का भी समावेश हो जाता वनमें अन्तिरक्ष वाचिका भुवस् महाव्याहृति को यहाँ स्त्व एवं कि कह दिया। पूर्ववत् स्त्व करने पर र् को यू एवं य्का लोप करके 'भुव क्यांतिक्षम्' बनाः।।

वसुस्रंसुध्वंस्वनहुहां दः ॥८।२।७२॥

बसुसंसुध्वंस्वनहुहाम् ६।३॥ दः १।१॥ स०—वसु० इत्यन्नेतरेतरहि अनु०—पदस्य । ससजुषो रुः इत्यतः 'सः' इत्यनुवर्त्तते मण्डूकक्षित्या ॥ अर्थः — सकारान्तस्य वस्वन्तस्य पदस्य संसु ध्वंसु, अनहुह्
क्षितेषां च दकारादेशो भवति ॥ उदा०—वसु—विद्वद्भ्याम्, विद्वद्भिः,
पणिष्वद्भिः । संसु—उखासद्भ्याम्, उखासद्भः ।
हि पणिष्वद्भ्याम्, पणिष्वद्भः । अनहुह्—अनहुद्भ्याम्, अन-

भाषार्थः—[वसु : खुहाम्] सकारान्त वस्वन्त पद को तथा स्रंसु अनि छुद्द पद को [दः] दकारादेश होता है।। इस सूत्र में

[हिंतीर वा

ससजुषो रुः से 'स' की अनुवृत्ति छाते हैं, जिसको वसु का ही किए। बना कर अर्थ होगा 'सकारान्त वस्वन्त पद को'। शेष संसु क्षं स सकारान्त ही रहते हैं, एवं अनडुह् सकारान्त है ही नहीं, अतः स्वाह विशेषण इन पदों में अनावश्यक है।

शतु को विदे: शतुर्वेसु: (७।१।३६) से वसु आदेश करके विद्वस्का बना, जिसके अन्त्य अल् को भ्याम् परे रहते स्वादिष्वः (१।४।१७) पद संज्ञा होकर दकारादेश हो गया। पिपवान् की सिद्धि सूत्र स्था में है, सो यहाँ पपिवस् वनकर भ्याम् परे रहते स् को दल हो ए है। उखास्नत् पर्णध्वत् की सिद्धि परि० ३।२।७६ में देखें, तद्दत् मा भिस् परे रहते पद संज्ञा (१।४।१७) होकर रूप जानें। अनुहुई अन्त्य अलू 'ह्' को द् हुआ है।।

यहाँ से 'दः' की अनुवृत्ति ८।२।७५ तक जायेगी।।

तिप्यनस्तेः ॥८।२।७३॥

तिपि ७।१॥ अनस्तेः ६।१॥ स० न अस्तिरनस्तिस्तस्य नि त्पुरुषः ॥ श्रमु०-दः, पद्स्य । 'सः' अत्राप्यनुवर्त्तते पूर्ववत्॥ श्रमं-अनस्तेः सकारान्तस्य पदस्य तिपि परतो दकारादेशो भवति॥ वरा अचकाद् भवान्, अन्वशाद् भवान् ॥

भाषार्थः — [अनस्तेः] अस् (धातु) को छोड़कर जो सकारान प्र उसको [तिप] तिप्परे रहते दकारादेश होता है। चकासृत्या अ त्' रहा । प्रकृत सूत्र से स् को द् तथा हल्ङ्याभ्यो० (क्षिश्कि) हे त के त् का छोप होकर अचकाद्, अन्वशाद् बन गया।।

सिपि घातो रुवी ॥८।२।७४॥

सिपि ७।१॥ धातोः ६।१॥ रुः १।१॥ वा अ०॥ अउ पदस्य, 'सः' इत्यपि च पूर्ववत् ॥ अर्थः सकारान्तस्य पद्स्य कि स्वित्ययमादेशो विकल्पेन भवति सिपि परतः पक्षे दकारो वा ॥ उत्राप्त सकारान्तस्य पद्स्य अञ्चलान अज्ञकास्त्वम् , अचकात् त्वम् । अन्वशास्त्वम् , अन्वशात् त्वम् ॥

भाषार्थः—सकारान्त पद जो [घातोः] घातु उसको कि परे रहते [रु:] रु आदेश [वा] विकल्प से होता है। पश्च में

(e)

10-

का वसर्जनीय (८।२।६६) के बिस परे रहते विसर्जनीयस्य सः (८।३।३४) से विसर्जनीय को सा हो गया, एवं दत्व करने पर द् को चर्त्व होकर त् हो गया है।।

यहाँ से 'सिपि रुवीं' की अनुवृत्ति ८।२।७५ तक तथा 'घातोः' की शिश्य तक जायेगी।।

दश्च ॥८।२।७५॥

दः ६।१॥ च अ०॥ अनु०— सिपि धातो रुवाँ, दः, पदस्य॥ मा वर्ष:-दकारान्तस्य च धातोः पदस्य सिपि परतो रुभवित दकारो वा ॥ हुई हा अभिनस्त्वम्, अभिनत् त्वम्। अच्छिनस्वम्, अच्छिनत् तम् ॥

माषार्थ:-[द:] दकारान्त पद जो धातु उसको [च] भी सिप् परे को विकल्प से रु होता है। पत्त में दत्व होगा।। परि० ६।१।६६ में भिनोऽत्र की सिद्धि की है, तद्वत् यहाँ भी 'अभिनर्' बनकर पूर्ववत् क्षा सर्जनीय एवं सत्व त्वम् परे रहते हो गया। पक्ष में दत्व होकर र्ध- भिनत् त्वम् बनेगा ही।।

र्वोरुपधाया दीर्घ इकः ॥८।२।७६॥

र्वोः ६।२।। उपधायाः ६।१।। दीर्घः १।१।। इकः ६।१॥ सः एख वर्षे, तयोः इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०-धातोः, पदस्य ॥ अर्थः-अ जिल्लस्य वकारान्तस्य च धातोः पदस्य उपधाया इको दीर्घो भवृति ॥ क्षिण्य रेफान्तस्य — गीः, घूः, पूः, आशीः। वकारप्रहणमुत्तरार्थं तेन वि विदाहरिष्यते ॥

भाषार्थ:—[वों:] रेफान्त तथा वकारान्त जो धातु पद उसकी भाषायाः] उपधा [इक:] इक् को [दीर्घ:] दीर्घ होता है।। वकार प्रहण यहाँ के एत के लिये है।। धूः पुः की सिद्धि परि० ३।२।१७७ में देखें। भूत्र कालय हा। यू. रू. में सूत्र टारा१४ म का ट्, प्राणी भी मिन्य करके भी: आशी: बनेगा।। वहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।२।७६ तक जायेगी।।

हिल च ।।८।२।७७॥ हाल च ॥८।२।००॥ च अ०॥ अनु० — र्वोरुपधाया दीर्घ इकः, धातोः॥ अर्थ: - हिल च परतो रेफवकारान्तस्य धातोरुपधाया इको दीर्घो भवति। उदा - रेफान्तस्य-आस्तीर्णम् , विस्तीर्णम् , विशीर्णम् , अन्तूर्ण् वकारान्तस्य-दीव्यति, सीव्यति ॥

भाषार्थः -[हलि] हल् परे रहते [च] भी रेफान्त एवं काण धातु की उपधा जो इक् उसको दीर्घ होता है।। आस्तीर्णम् आहि सिद्धियाँ सूत्र ७१।१०० एवं ८।२।४२ में देखें, तथा दीव्यित सीनी की परि॰ होशाहर में देखें।। पूर्व सूत्र से पदान्त में जो रेफ खं का उनकी उपघा को दीर्घत्व प्राप्त था, यह सूत्र अपदान्तार्थ है॥

यहाँ से 'हलि' की अनुवृत्ति ८।२।७८ तक जायेगी॥

उपधायां च ॥८।२।७८॥

उपघायाम् ७११॥ च अ० ॥ श्रनु०— हिल, वीरुपघाया दीर्घ ह अर्थ: - हिल परतो यौ धातोरुपधामूतौ रेफवकारौ के रुपधाया इको दीर्घो भवति ।। उदा० — हुर्छा – हूर्छिता । मुर्छा – मूर्छि। ॰ उर्वी-ऊर्विता । धुर्वी-धूर्विता ।।

माषार्थः — हल् परे रहते जो धातु की [उपधायाम्] उपधा मृत्रे एवं वकार उनकी (रेफ एवं वकार की) उपधा इक् को चि भी की है। होता है।। हुर्छा मुर्छा धातुओं की उपधा रेफ है, उस रेफ की ला है। इक् 'उ' को दीर्घ प्रकृत सूत्र से होता है। इसी प्रकार उर्वी, प्रवीक उर्व धुव शेष रहकर रेफ की उपधा इक् को दीर्घ हुआ है।। की उपधी वाली घातु के अभाव में उदाहरण नहीं दिखाया॥

न मकुर्छुराम् ॥८।२।७९॥

न अ० ॥ भकुछु राम् ६।३॥ स० — भश्च कुर् च छुर् च मही रस्तेषां : इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु - चीरुपधायाः दीर्घ इकः, वर्षः अर्थः - नेप्प अर्थः—रेफस्य वकारान्तस्य भस्य कुर् छुर् इत्येतयोश्चोपधायाः न न भवति ।। उदा०—भस्य-धुरं वहति धुर्यः, धुरि साधुर्धः। कुर्यात् । छुर् —छुर्यात् ॥

ं भाषार्थः—रेफ तथा वकारान्त [भकुर्छुराम्] भसंहक को एवं है। इर् धातु की उपधा को अन्हे हन्य छुर् धातु की उपधा को दीर्घ [न] नहीं होता ॥ सवंत्र की विक्रिया हिला च से दीर्घत्व की प्राप्ति थी प्रतिषेध कर दिया ॥ कुर्यात की

इरह

विह | वादः]

र्णम्।

सिन दि हो

व्या

क्या

那

30

1:16

वि पत्र ६।४।१०९ में देखें। तद्वत् छुर् धातु से छुर्यात् बनेगा। ध्रयः में भूते यहढ़की (४।४।७७) तथा तत्र साघुः (४।४।६८) से यत् प्रत्यय हुआ है अतः 'घुर्' यचि मम् (१।४।१८) से भसंज्ञक है।।

अदसोऽसेर्दोद्ध दो मः ॥८।२।८०॥

अद्सः ६।१।। असेः ६।१।। दात् ५।१।। उ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः।। हः ६।१॥ मः १।१॥ स० — अविद्यमानः सिः सकारो यस्य स असि-त्तस्य वहुत्रीहि: ।। 'सि' इत्यत्र इकार उच्चारणार्थ: ।। अर्थः असका-गनस्यादसो दादुत्तरस्य वर्णस्य उवर्णादेशो भवति, दकारस्य च मकारा-रेशो भवति ।। उदाः —असुम् , अमू , अमून् , असुना, अमूभ्याम्।।

भाषार्थ:--[असे:] असकारान्त जो [अदस:] अदस् शब्द उसके ह [[गत्] दकार से उत्तर जो वर्ण उसके स्थान में [ज] उवर्ण आदेश होता है, को । वा [दः] दकार को [मः] मकारादेश भी होता है।। यहाँ उवर्ण आदेश हैं। अने से दकार से उत्तर एकमात्रिक वाले वर्ण को हस्व 'उ' तथा दो मात्रिक वाले को दीर्घ 'ऊ' होता है, ऐसा जानें। यह बात परि० १।१।४६, क प्रमाणकृत आन्तर्य के उदाहरण अमुष्मे अमूभ्याम् से सुस्पष्ट हो जाती के एसे वहीं देखें। अमू की सिद्धि परि० १।१।१२ में देखें, एवं अमुना असिद्धिन मुने(८।२।३) सूत्र में देखें। अमून् में तस्माच्छसो० (६।१।६६) वी से शस् के स् को न् हुआ है।।

यहाँ से 'अदसोऽसेर्दात् दो मः' की अनुवृत्ति ८।२।८१ तक जायेगी।।

एत ईद् बहुवचने ।।८।२।८१।।

एतः ६।१॥ ईत् १।१॥ बहुवचने ७।१॥ श्रवु०-अद्सोऽसेर्दात् मः॥ अर्थः असकारान्तस्याद्सो दादुत्तरस्य एकारस्य ईकारादेशो भवित दकारस्य च मकारः, बहुवचने ।। उदाः — अमी, अमीमिः, अमीम्यः, अमीषाम्, अमीषु ।।

भाषार्थः - असकारान्त अद्स् शब्द के दकार से उत्तर [एतः] एकार श्यान में [ईत्] ईकारादेश होता है, एवं दकार को मकार भी होता विहुवचने] बहुवचन में, अर्थात् बहुत पदार्थों को कहने में।। अमी भितिष्ट परि० १।१।१२ में देखें। तद्वत् भिस् आदि विभक्तियों में भी

[दिवीन | पा

जानें। वहुवचने मल्येत् (७।३।१०३) से एत्व कर लेने पर अभीह जान । बहुवयम अरुपार (०) राष्ट्र यहाँ 'अद आम्' इस अवस्था में हैं आदि में ईत्व होता है । अमीषाम् यहाँ 'अद आम्' इस अवस्था में हैं आमि सर्वनाम्नः (७) १।५२) से सुट् आगम होकर पश्चात् अन्य को हि होते हैं॥

वाक्यस्य देः प्छत उदात्तः ॥८।२।८२॥

वाक्यस्य ६।१॥ टे: ६।१॥ प्लुत: १।१॥ उदात्तः १।१॥ अनु:-परसा श्चर्थ:-अधिकारोऽयमापादपरिसमाप्तेः। यदित अर्ध्वमनुक्रमिष्यामी वास्ता दे: प्लुत उदात्त इत्येवं तद्वेदितव्यम्।। उदा०-वच्यति-प्रत्यभिवादेऽक्के अभिवादये देवदत्तोऽहं भोः, आयुष्मानेधि दे वदत्त ३॥

भाषार्थः —यह अधिकार सूत्र है। पाद की समाप्ति पर्यन्त (८१२४४) इसका अधिकार जायेगा, अतः सर्वत्र [वाक्यस्य] वाक्य की [टे]हे को [प्लुत:] प्लुत [उदात्तः] उदात्त होता है ऐसा अर्थ होता जावेगा। उदाहरण में 'देवदत्त ३' वाक्य का अन्तिम पद है, अतः उसकी है है को उदात्त प्लुत हो गया। 'पदस्य' का अधिकार आ ही रहा है, अ "वाक्यान्त पद की टि को प्लुत उदात्त हो" यह अर्थ सङ्गतहो जायेगा वि जकालोऽज्मूस्व० (१।२।२७) से त्रिमात्रिक की प्लुत संज्ञा कही है, है टि को त्रिमात्रिकत्व एवं उदात्तत्व हो जायेगा। जहाँ हलत रिसं होगा वहाँ भी हल् से पूर्व अच् को ही प्लुत होगा, क्योंकि प्लुत संबाध की कही है।।

प्रत्यभिवादेऽशुद्रे ॥८।२।८३॥

प्रत्यभिवादे ७।१।। अशूद्रे ७।१।। स > — न शूद्रोऽशूद्रस्तिम् क तत्पुरुषः ॥ अनु०—वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः, पदस्य ॥ अर्थ-प्रस्य ॥ अर्थ-प्रस्य ॥ भिवादे यद्वाक्यमशुद्भविषयकं तस्य टे: प्लुतो भवति स व स्ति। अभिवाद्यमानो यदाशीर्वचः प्रयुङ्क्ते स प्रत्यभिवादः ॥ उदार्विक वाद्ये देवदत्तोऽहम् भोः, आयुष्मानेधि दे त ३॥

भाषार्थः—[अशुद्रे] अशुद्र विषय में [प्रत्यमिवादे] प्रत्यिति वाक्य के पद की टि को प्लात होता है, और वह प्लत उदात होता है। अभिवादन करने के प्रश्नात् जिसका अभिवादन किया गर्या है कि दिस कि प्रशास किया गर्या है कि प्रशास किया गर्या है कि प्रशास किया गर्या है। इस किया जो आजीर्वेचन करने के प्रशास किया जो अपने किया जी अपने किया जी द्वारा जो आशीर्वचन कहा जाता है, वही प्रत्यभिवाद है। इस

६३१ क्षि हाहरण में पहले 'अभिवाद्ये''' में देवदत्त आपका अभिवादन करता में हैं ऐसा अभिवादन वाक्य प्रयुक्त हुआ। पश्चात् अभिवाद्यमान ने प्रत्य-मिवादन रूप में आशीर्वचन कहा "हे देवदत्त तुम चिरञ्जीवी हो", सो वहाँ प्रत्यभिवाद वाक्य के अन्तिम पद देवदत्त की टि को प्लुत उदात्त हो गया ।।

के बदः]

HI

क्यान

iEi)

अन

द्राद्धते च ॥८।२।८४॥

दूरात् ४।१।। हूते ७।१।। च अ०।। अनु०--वाक्यस्य टेः प्लुत क्षातः, पदस्य ।। अर्थः - दूराद् हूते = आह्वाने यद्वाक्यं वर्त्तते तस्य टेः बुतो भवति स च उदात्तः।। उदा०—आगच्छ भो माणवक 🔞 खिद्त ३। आगच्छ भो माणवक यज्ञदत्त ३॥ अन्त्यं वर्जयित्वा अन्य-क्षेत्रभवित उदात्तपूर्व विहाय।।

111 भाषार्थः — [दूरात्] दूर से [हूते] बुछाने में जो प्रयुक्त वाक्य उसकी हिको [च] भी प्लुत उदात्त होता है।। देवद्त्त ३ यज्ञदत्त ३ को यहाँ क जुत उदात्त हो गया, क्योंकि वाक्य में दूर से आह्वान हो रहा है।। मा किश्रुति दूरात् सम्बुद्धीं (१।२।३३) से टि को छोड़कर अन्यत्र एकश्रुति है और टि से पूर्व को अनुदात्ततर (शश४०) होता है।।

यहाँ से 'दूराखूते' की अनुवृत्ति ८।२।८५ तक जायेगी।

- हैहेप्रयोगे हैहयोः ॥८।२।८५॥

हैहेपयोगे ७।१॥ हैहयोः ६।२॥ स०—हैश्च हेश्च हैहयौ, तयोः क्षांगः हैहेप्रयोगस्तिसमन् दुन्द्रगभंषष्टीतत्पुरुषः। हैश्च हेश्च हैहयौ, क्रां वाः इतरेतरद्वन्द्वः ॥ श्रवु० — दूराद्वृते, प्लुत उदात्तः, पदस्य ॥ क्षा विद्योः प्रयोगे दूरादाह्वाने यद्वान्यं तत्र हैहयोरेव प्लुतोदात्तो किति॥ उदा० - है ३ देवद्त्त, देवद्त्त है ३। हे ३ देवद्त्त, देवद्त्त

भाषार्थः —[हैहेमयोगे] है तथा हे के प्रयोग होने पर जो दूर से हिहमयोगे | है तथा ह क प्रयाप हाल प्रवास के में प्रयुक्त वाक्य उसमें [हैहयोः] है तथा है को ही प्लुत उदात्त कि में प्रयुक्त वाक्य दे: प्लुत उदात्तः' का अधिकार होने से वाक्य के प्रयुक्त 'है है' को ही प्लुत उदात्त होता, किन्तु यहाँ, 'हैहयोः'

[gin 4

कह देने से वाक्य के आदि अथता अन्त कहीं भी 'है है' हों उन्हें कु उदात्त हो जायेगा !!

गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याष्येक्वेकस्य प्राचाम् ॥८।२।८६॥
गुरोः ६।१॥ अनृतः ६।१॥ अनन्त्यस्य ६।१॥ अपि अ०॥ एके
६।१॥ प्राचाम् ६।३॥ स०—न ऋत् अनृत् तस्य "न्वत्युरुषः।।
अन्त्योऽनन्त्यस्तस्य "नव्यत्युरुषः॥ एकेकस्य इत्यत्र वीप्तावाः
द्वित्वम्, एकं वहुनीहिवत् (८।१।६) इति बहुन्नीहिवद्भावश्च॥ काः
वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः, पदस्य ॥ ऋथः—ऋकारवित्तत्व ॥
सन्त्यस्य, एकेकस्य, अपिप्रह्णाद्न्त्यस्यापि टेः (सम्बोधने वर्त्तमानः)
प्राचामाचार्याणां मतेन प्लुतोदात्तो भवति॥ प्रत्यभिवादेऽश्हे क्ले
मादिना यः प्लुतो विहितस्तस्यैवायं स्थानिविशेष उच्यते॥ उदाः
आयुष्मानेधि दे ३ वदत्त । देवद् ३ त । देवद्त्त ३ । य ३ इत्।
यज्ञद् ३ त । यज्ञद्त्त ३ ॥

भाषार्थः—[अनृतः] ऋकार को छोड़ कर वाक्य के [अनला वे अनल्य (जो अन्त में न हो ऐसे) [गुरोः] गुरुसंज्ञक वर्ण को [क्षेत्र एक एक करके अर्थात् पर्याय से तथा अन्त्य के टि को [अपि] है [प्राचाम्] प्राचीन आचार्यों के मत में प्लुत उदात्त होता है।

प्रत्यमिवादे ऽशूद्रे आदि तीन धूत्रों से जो वाक्य के अतिम पर्ं िट को प्लुत कहा है, उसका इस धूत्र से प्राचीन आचारों के मर्ग अन्य स्थानिक्शेष भी कहते हैं। 'प्राचाम' कहने से पाणित प्राचीन मत में 'केवल अन्त्य को प्लुतोदात्त होगा, अर्थात 'आयुम्मिन से तक अन्त्य को प्लुतोदात्त होगा, अर्थात 'आयुम्मिन के मत में 'देवदत्त' के अनन्त्य गुरुसंझक वर्ण 'दे' के 'ए' को प्राचीन आवान के भत में 'देवदत्त' के अनन्त्य गुरुसंझक वर्ण 'दे' के 'ए' को प्राचीन के 'अ' को प्लुत होता है, तथा 'अपि' प्रहण से पूर्व सूत्रों से प्राचीन के 'अ' को प्लुत होता है, तथा 'अपि' प्रहण से पूर्व सूत्रों से प्राचीन के 'अ' को प्लुत होता है, तथा 'अपि' प्रहण से पूर्व सूत्रों से प्राचीन साथ यहाँ गुरु का सम्बन्ध न लगकर टि का ही लगाना है, अर्था संज्ञा न होने पर भी अन्त्य टि को प्लुत होता है। दीर्घ व संज्ञा न होने पर भी अन्त्य टि को प्लुत होता है। दीर्घ व से 'दे' की गुरु संज्ञा तथा संयोगे गुरु (१।४।११) से त पर हों की गुरु संज्ञा है। इसी प्रकार यज्ञदत्त में भी जानें, गहाँ होगी। से ही गुरु संज्ञा है।।

६३३

िःशा र्वाह

To last

1:13

गिर

啊:-

[क्रि

इति दाः-

इत्रा

17.69

पर्

Ho a मुनि है

High

विवि

एवं द

36

R. W.

F

श्रीश

司等

ओमभ्यादाने ॥८।२।८७॥

ओम् अ० ।। अभ्यादाने ७११॥ श्रनु० - प्लुत उदात्तः, पद्स्य ॥ प्रशः-अभ्यादाने य ओम्शब्दस्तस्य प्लुत उदात्तो भवति ॥ अभ्यादानम् =प्रारम्भः ।। उदाः — ओ३म् अग्निमीडे पुरोहितम् (ऋ० १।१।१) ॥

भाषार्थः - [अभ्यादाने] अभ्यादान = प्रारम्भ में वर्त्तमान [श्रोम्] श्रोम् शब्द को प्लुत उदात्त होता है।। प्रारम्भ से अभिप्राय वैदिक मत्रों के प्रारम्भ से है।। अचश्च (१।२।२८) परिभाषा सूत्र से सर्वत्र गुरे अच्को प्लुत होगा।।

ये यज्ञकर्मणि ॥८।२।८८॥

ये लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ।। यज्ञकर्मणि ७।१।। स०--यज्ञस्य कर्म = किया यज्ञकर्म तस्मिन् "षष्टीतत्पुरुषः ॥ श्रवु०- प्लुत उदात्तः, पदस्य ॥ र्यं:-ये इत्येतस्य पद्स्य यज्ञकर्मणि प्लुतोदात्तो भवति।। उदा०-ला वे र यजामहे, समिधामि दुवस्यत (ऋ० ८।४४।१)।।

भाषार्थ: — [ये] ये शब्द को [यज्ञकर्मीशा] यज्ञ की किया में प्लुत ज्यात्त होता है।। श्रीत यज्ञकर्म में याज्या = जिस मन्त्र से आहुति व जाती है उसके आरम्भ में 'ये ३ यजामहे' बोला जाता है।।

यहाँ से 'यज्ञकर्मिण्' की अनुवृत्ति ८।२।९२ तक जायेगी।।

प्रणवष्टेः ॥८।२।८९॥

प्रगवः १।१॥ टेः ६।१॥ अनु - यज्ञकर्मणि, वाक्यस्य प्लुत उदात्तः, पद्स्य ।। अर्थ:—यज्ञकर्मणि वाक्यस्य पद्स्य टेः प्रणवः = ओम् इत्यादेशो भवति स च प्लुतोदात्तो भवति ॥ उदाः—अपां रेतांसि जिन्वतोशम् (कि॰ ८।४४।१६) देवान् जिगाति सुम्नयो३म्।।

माषार्थ: यज्ञकर्म में अन्तिम पद की [टेः] टि को [प्रण्वः] प्रणव अर्थात् 'ओम्' आदेश होता है और वह प्लुत उदात्त होता है।।

神 विशेष: सामिधेन्यादि (समूह विशेष रूप में पठित) ऋचा विशेषीं हैं हि को प्रणव (ओङ्कार) यज्ञकर्म में होता है, सभी मन्त्रों को नहीं, भारत का अणव (आङ्कार) यज्ञकम म छाता दे, सभी मन्त्रों के अन्त में टि को ओ३म् करके यज्ञकमें, में बोलना

अवैदिक प्रक्रिया है, ऐसा समझना चाहिये। यह ओश्म् आदेश ही होता है जहाँ ऋक्समूह का पाठ मात्र होता है वौषट् या साहा का का प्रयोग नहीं होता यह श्रीत कम का नियम है ॥ जिन्ति में आ टि है, एवं 'सुम्नयुस्' में 'उस्' अतः इ हीं को उदाहरणों में ओश्यहें गया है। जिन्वति की सिद्धि पूर्व दिखा आये हैं।।

यहाँ से 'टे:' की अनुवृत्ति ८।२।९० तक जायेगी।।

याज्यान्तः ॥८।२।९०॥

याज्यान्तः १।१।। स०—याज्यानामन्तः याज्यान्तः, पष्टीतवुरूः॥ ऋनु०-टेः, यज्ञकर्मणि, वाक्यस्य प्लुत उदात्तः, पदस्य ॥ अर्थः-याज्याक्राष्ट्रे ये पठिताः मन्त्रास्ते याज्याः । तेषामन्त्यस्य टेः प्लुत उदात्तो भवि॥ उदा०—स्तोमैविंघेमाग्नये३ (ऋ०८।४३।११)। जिह्वामग्ने को इन्यवाहा३म् (ऋ०१०।८।६)।।

माषार्थः — याज्यानुवाक्याकाण्ड भें पढ़े हुए मन्त्र याज्या नाम से यहाँ समृत हैं। [याज्यान्तः] याज्या नाम की ऋचाओं के अन की को यज्ञकर्म में प्लुत उदात्त होता है।। याज्याकाण्ड में ऋचाओं है वाक्यसमुदाय रूप में याज्या मन्त्र पढ़े हैं, सो यहाँ 'अन्त' प्रहण करें से उस समुदाय के अन्त के टिको प्लुत उदात्त होता है, अन्या प्रत्येक वाक्य के अन्त के टि को हो जाता ॥

ब्रुहिप्रेष्यश्रीषड्वौषडावहानामादेः ॥८।२१९१॥

ब्र्हिः हानाम् ६।३॥ आदेः ६।१॥ स० - ब्र्रहिः इत्यत्रेतरेतरहृतः। श्रमु० — यज्ञकमणि, एलुत उदात्तः, पद्स्य ॥ श्रथः — ब्रूहि, प्रेव्य, भीषः। ज्ञ वीषट्, आवह इत्येतेषामादेः प्लुत उदात्तो भवति, यहक्रमीवा T उदा० - ब्रूहि - अग्नयेऽनुब्रू ३ हि । प्रेष्ट्य - अग्नये गोमयान् प्रे ३ ब्रा

किया जाता है।

१. ग्रन्य संहिताओं में याज्यानुवाक्या मन्त्र बिखरे हुए हैं, परतु मैत्राणी संहिता ४।१०-१४ (ग्रन्थान्ते) में सब एक स्थान पर पठित हैं। यह याज्याद्वाना ेर भहाता है। ेर याज्या वे मन्त्र कहाते हैं जिनसे श्रीत कर्म में यजन = ग्राहुति वि ा जाता है। काण्ड ही कहाता है।

६३५

गदः] तीव:

THE STATE OF

間

T: 1

नण्ड

ते॥

क्रो

मसे

ग्रत

यथी

àll

1

1

1

बौषट्—अस्तु श्रौ ३ षट् । वौषट्—सोमस्याग्ने वीहि ३ वौ ३ षट् । आवह—अग्निमा ३ वह।।

भाषार्थः — [बृहि ''नाम्] ब्रुहि, प्रेष्य, श्रीषट्, वौषट्, आवह इन गा हों के [आदे:] आदि को यज्ञकी में प्लुत उदात्त होता है।। श्रीषट् वैषद् शब्द निपात तथा अन्य शब्द लोडन्त हैं।।

यहाँ से 'श्रादेः' की अनुवृत्ति ८।२।९२ तक जायेगी ॥

अग्नीत्प्रेषणे परस्य च ॥८।२।९२॥

अग्नीत्प्रेषणे ७।१।। परस्य ६।१।। च अ०।। स०—अग्नीघः प्रेषण-गनीत्त्रेषणं तस्मिन् चष्टीतत्पुरुषः ॥ अनु - आदेः, यज्ञकर्मणि, प्तुतं द्यात्तः, पदस्य ।। अर्थः अग्नीधः प्रेषणे आदेः प्लुतोदात्तो भवति तमात् परस्य च, यज्ञकर्मणि।। अग्नीद् ऋत्विग्विशेषस्तस्य प्रेषणम् =यज्ञकर्मणि नियोजनम् ।। उदा०—आ ३ श्रा ३ वये । ओ ३ श्रा३वय ।।

भाषार्थ: —[म्राग्नीत्प्रेषणे] अग्नीध् के प्रेषण = नियोजन (कार्यार्थ i f में पद के आदि को प्लुत उदात्त होता है [च] तथा ससे [परस्य] परे को भी होता है, यज्ञकर्म में ।। अग्नीघ् यज्ञ के श्रिलग् विशेष की संज्ञा है।।

विभाषा पृष्टप्रतिवचने हैं: ।।८।२।९३।।

विभाषा १।१॥ पृष्टप्रतिवचने ७।१॥ है: ६।१॥ स० - पृष्टस्य प्रति-मिनम् = आख्यानं पृष्टप्रतिवचनं तस्मिन् ' 'षष्टीतत्पुरुषः ॥ अनु० — ह, जिनाषा प्रदेश ।। अर्थ: - पृष्टस्य प्रतिवचने = प्रत्युत्तरे हैं: विभाषा का उदात्तो भवति ।। उदा - अकार्षाः कटं देवदत्त ? अकार्ष हि ३ । कार्ष हि । अलावीः केदारं देवदत्त ? अलाविषं हि ३ । अलाविषं हि ॥

भाषार्थः — [पृष्टप्रतिवचने] पृष्ट = पूछे गये प्रश्न के प्रतिवचन = खुतर (वाक्य) में जो [है:] हि उसको [विभाषा] विकल्प करके प्लुत कि होता है।। 'अकार्ष हि, अलाविषं हि' ये प्रष्टप्रतिवचन में वाक्य हैं, अतः 'हि' को विकल्प से प्लुत उदात्त हो गया।। यहाँ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति ८।२।९४ तक जायेगी।।

1

निगृह्यानुयोगे च ॥८।२।९४॥

निगृह्यानुयोगे ७।१।। च अ०।। स०-निगृह्यस्य अनुयोगः निगृह्यानुको स्तिसिन् ' 'पष्टीतत्पुरुषः ।। अनु - विभाषा, वाक्यस्य टेः प्तुत ज्यात म पदस्य ॥ स्वपक्षात् प्रच्यावनमपनयनं निग्रहः । यस्मादसौ प्रच्याहि (स्तस्यैव मतस्याऽऽविष्करणम् शब्देन प्रकाशनं नियोगः। निगृह्य 🛊 ल्यबन्तमेतत् ॥ अर्थः - निगृह्यानुयोगे यद् वाक्यं वर्तते तस्य टे: विमा प्लुत उद्। तो भवति ।। उदा - अनित्यः शब्द इति केनचित् प्रतिज्ञाता तं वादिनमुपपत्तिभिर्निगृह्य स्वमतात् प्रच्याव्य उपाछिप्सुः साम्बेस युङ्कते — अनित्यः शब्द इत्यात्य ३ । अनित्यः शब्द इत्यात्य । अवाह हे वास्येत्यात्य ३ । अद्यामावास्येत्यात्थ ॥

भाषार्थः —[निगृह्यानुयोगे] निगृह्यानुयोग में वर्तमान जो बन 🗓 उसकी टि को [च] भी विकल्प से प्लुत उदात्त होता है।। निगृहक व ल्यबन्त है। अपने पक्ष से (तर्क एवं हेतु द्वारा) किसी को स्वमत सेहा देने को अर्थात् उसके पक्ष का खण्डन कर देने को निम्रह कहते हैं, हैं। · जिस पक्ष से वह निगृहीत (पकड़ा गया है) हुआ है, उसी मत का का द्वारा आविष्कार = प्रकाश करना अनुयोग कहाता है । इस प्रकार निगृह निगृहीत करके जो अनुयोग वह निगृह्यानुयोग है, उसमें जो बाह्य उसकी 'टि' को प्लुत उदात्त होता है। उदाहरण में किसी ते कि अनित्य हैं ऐसी प्रतिज्ञा की । ऐसा कहने वाले के पक्ष का तर्क एंडी द्वारा खण्डन कर दिया, यह निम्नह हुआ। अब जिस पत्त से अर्था 'अर्नित्य शब्द है' इस प्रतिज्ञा से वह हटाया गया, उसी पक्ष का क्रेष्ण निन्दा से वह उपाछिप्सु = उपाछम्भ देने वाला प्रकाश कर्ताही यथा—'अनित्यः'''शब्द् अनित्य है ऐसा कहता है, आज अमार्ग है के के करा है के स्वाप्त करा है के स है' ऐसा कहता है, इस प्रकार यहाँ निगृह्यानुयोग स्पष्ट है॥

आम्रेडितं भत्सीने ॥८।२।९५॥

आम्रेडितम् १११॥ भर्त्सने ७११॥ अनु०—व्तुत डदातः॥ अर्थे ह भत्सने द्योत्ये आम्रेडितं प्छवते उदात्तस्य भवति ॥ वाक्यादेरा^{० (४)१४)} इत्यनेन सत्सने कि इत्यनेन भत्सने द्विवचनमुक्तं तस्याम्रेडितस्यात्र प्लुतो भवित ॥ वाक्यादराव एक विकास स्थाने विकास चौर चौर ३, वृषल वृषल ३, दस्यो दस्यो ३ घातियव्यामि ता क्रिकी क्रि ष्यामि त्वाः॥

र्ग भाष

ातम्, प्मनु

वं हें।

18

माषार्थ: -[भर्त्सने] अर्त्सन में [श्राम्रेडितम्] आम्रेडित को (टि के जित उदान्त होता है।। वाक्यादेरामन्त्रितस्याः से भत्सन की गम्य-का मता में द्वित्व कहा है, सो उस द्वित्व किये हुये के आम्नेडित संज्ञक (।१।२) को प्रकृत सूत्र से प्लुत उदात्त हो गया।।

यहाँ से 'भत्सीने' की अनुवृत्ति ८।२।९६ तक जायेगी।।

अङ्गयुक्तं तिङाकाङ्कम् ॥८।२।९६॥

अङ्गयुक्तम् १११।। तिङ् १।१।। आकाङ्क्षम् १।१।। स०-अङ्ग इत्य-爾 न युक्तमङ्गयुक्तम् , तृतीयातत्पुरुषः । आकाङ्क्षतीति आकाङ्क्षम् , ावाच् भवति ।। अनु - भत्सेने, प्लुत उदात्तः ।। अर्थः - अङ्ग इत्यनेन वात गुक्माकाङ्क्षं तिङन्तं भरसंने प्लवते, उदात्तस्य स भवति ॥ उदा०— 🜃 क्र क्ज २, अङ्ग व्याहर २, इदानीं ज्ञास्यसि जाल्म II

से हरा माषार्थः — [श्रङ्गयुक्तम्] अङ्ग शब्द से युक्त जो [तिङाकाङ्चम्] हैं अकाङ्क्षा रखने वाला तिङन्त उसको (उसके टिको) प्लुत होता स्री है। कूज, व्याहर (लोडन्त) तिङन्त अङ्ग शब्द से युक्त तथा आकाङ्क्ष 🃭 िक्ती अन्य बात की अपेक्षा रखते हैं) हैं, अतः इन्हें प्लुत हो गया।। क्सी ने किसी को कहा—'अङ्ग कूज ३' 'खूब बोल लो तुम, खूब घूम कि वे तुम, अभी पता चलेगा ॥

ु विचार्यमाणानाम् ॥८।२।९७॥

अर्थात् विचार्यमाणानाम् ६।३॥ अनुः वाक्यस्य टेः प्लुत उदातः॥ धुर्ग क्ष्यक्षादिप्रमाणेन वस्तुपरीक्षणं विचारः, तेन विचारेण विषयीक्रियमा-गति ज्ञानानि विचायमाणानि, तेषां विचायमाणानाम् ॥ अर्थः विचार्य-भणानां वाक्यानां टेः प्लुतोद्।त्तो भवति ॥ उदा०—होतव्यं दीक्षितस्य हा ३ इ। तिष्ठेचूपा ३ इ, अनुप्रहरेचूपा ३ इ॥

भाषार्थ:—[विचार्यमागानाम्] विचार्यमाण वाक्य के टि को प्लुत 1 जात होता है ॥ प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा किसी वस्तु का परीक्षण 8K) भाग अर्थात् यह कैसा है कैसा नहीं, यह सोचना विचार है। उस विचार का विषयक्ष जो ज्ञान वह विचार्यमाण (विचार किया जाने कान है, अतः ऐसे वाक्य के टिको प्लुत कह दिया। विपूर्वक भिषातु से कम में यक् शानच् होकर विचार्यमाण बना है।, होतव्यं "

[द्वितीय: गदः

हो त

अर्थो

गुझे ।

팭

त्री

ब्रुत

3 शनश

श्रीभए

क्य

स्ताः जुतो.

लन

स्यते

三

गिव

4

वीय

में व

लमा विदा

ीर

3 Hy

गान्य

यहाँ विचार किया जा रहा है कि 'दीक्षित के घर में यज्ञ करना चाहिंग या नहीं । यूपे तिष्ठेत् ' 'यहाँ क्या 'यूप पर रहे अथना यूप पर प्रहार [7] करे यह विचार हो रहा है; अतः ये विचार्यमाण वाक्य है। आले , सूत्र में 'भाषायाम्' कहने से यह सूत्र लन्द में ही होगा, ऐसा जातें॥ उदाहरणों में 'गृहे' 'यूपे' के एकार को प्रकृत सूत्र से प्लुत विधान करने पर एचोऽप्रगृह्य० (८।२।१०७) ने कहा कि 'एच् को प्लुत ज कहें तो उस एच् के पूर्व वाले आवे अंश को आकार हो जाये और वह प्लुत हो, तथा उत्तर वाले अंश को इकार उकार हो जाये, सो वह 'ए' के उत्तरांश को इ तथा पूर्व को आकार होकर प्लुत हो गया। एव की दो मात्रायें हैं, अतः एक-एक मात्रा को दोनों कार्य हो गये॥

यहाँ से 'विचार्यमासानाम्' की अनुवृत्ति ८।२।६८ तक जायेगी॥

पूर्वे तु भाषायाम् ॥८।२।९८॥

पूर्वम् १।१।। तु अ० ।। भाषायाम् ७।१।। श्रनु०—विचार्यमाणानम्, वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः, पदस्य ।। अर्थः—विचार्यमाणानां वाक्यानं भाषायां विषये पूर्वमेव वाक्यं प्रवित उदात्तश्च भवति ॥ उदा०-अहिर्नु३, रज्जुर्नु । लोष्टो नु ३, कपोतो नु ॥

भाषार्थः—विचार्यमाण वाक्यों के [पूर्वम्] पूर्व वाले वाक्य की है को [तु] ही [भाषायाम्] भाषा विषय में प्लुत उदात्तः होता है।। पूर्व सूत्र से ही सिद्ध होने पर नियमार्थ यह सूत्र है कि - 'पूर्ववाले वाका की टि को ही प्लुत हो परवाछे को नहीं'। प्रयोग की अपेक्षा से पूर्वत समझना चाहिये, अतः अहिर्तु३, लोष्टो नु३ पूर्व प्रयुक्त वाक्य को खुर हुआ है। यह सर्प है, अथवा रज्जु है, ढेला है अथवा कपीत हैं। ऐसा उदाहरणों का अर्थ है। 'नु' शब्द वितर्क अर्थ में यहाँ है।

प्रतिश्रवणे च ॥८।२।९९॥

प्रतिश्रवणे ७।१।। च अ० ।। अनु० - वाक्यस्य टेः प्तुत उंद्विः। पद्स्य ॥ प्रतिश्रवणमभ्युपगमः = अङ्गीकारः, श्रवणाभिमुख्यं च ॥ श्रवी प्रतिश्रवणे यद्वाक्यं वर्त्तते तस्य टेः प्लुत उदान्तो भवति ॥ उदार्वा वेहि भोः १ वर्त्त ने न देहि भोः १ अहं ते द्दामि । देवदत्तः भोः ! किमात्थ ।।

भाषार्थ: — [प्रतिश्रवणो] प्रतिश्रवण में वर्त्तमान वाक्य की टि को वि भी प्रतुत उदात्त होता है।। प्रतिश्रवण स्वीकार अङ्गीकार करने के तथा अच्छी प्रकार सुनने में प्रवृत्ति को भी कहते हैं, सो दोनों औं में यह सूत्र प्रवृत्त होता है। पृत्व उदाहरण में किसी ने कहा 'गौ क्षे दान करो' तो दूसरे ने उसे स्वोकार करके कहा-अहं ते ददामि 'हाँ कहें गौ देता हूँ' सो यह अङ्गीकार अर्थ में प्रतिश्रवण वाक्य है। विय उदाहरण में कोई देवदत्त को संबोधित करता है, सुनने वाला ख़ता है क्या कहा ? इससे उसके अच्छी प्रकार सुनने की चेष्टा व्यक्त हो बीहै, अतः टि को प्लुतोदात्त हो गया।।

अनुदात्तं प्रक्तान्ताभिपूजितयोः ॥८।२।१००॥

अनुदात्तम् १।१।। प्रश्नान्ताभिपूजितयोः ७।२॥ स०—प्रश्नार्थे वाक्ये क्लिशब्दो वर्तते, तस्य अन्तः प्रश्नान्तः, षष्ठीतत्पुरुषः। प्रश्नान्तः अभिपूजितश्च प्रश्नान्ताभिपूजितौ, तयोः इतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—क्ष्यस्य देः प्लुतः, पद्स्य ॥ अर्थः—प्रश्नवाक्ये यश्चरमं पदं प्रयुज्यते स् क्ष्यान्तः पद्मान्तेऽभिपूजिते पद् यद्वाक्यं तत्र च विधीयमानो जोऽनुदात्तो भवति, न तूदात्तः॥ अनन्त्यस्यापि प्रश्ना० (८।२।१०५) अनेन प्रश्नान्ते प्लुतो विधीयते, अभिपूजिते यद्वाक्यं तत्रानेनानुदात्तं असेग् । उदा०—अगमं३ः पूर्वां ३न् प्रामां३न् अग्निमूता३इ। क्ष्यिपुजिते-शोभनः खल्वसि

भाषार्थः—[प्रश्नान्ताभिपूजितयोः] प्रश्नान्त तथा अभिपूजित में विश्वमान एतुत को [अनुदात्तम्] अनुदात्त होता है।। प्रश्नान्त से हाँ प्रश्न किये जाने वा हे वाक्य के अन्तिम पद से अभिप्राय है, सो विश्वय के अन्तिम पद को विधीयमान, एवं अभिपूजित अर्थ में विभाग जो वाक्य उसको विधीयमान जो एतुत उसे इस सूत्र ने विश्वात कह दिया। एतुत को 'एतुत उदात्तः' का अधिकार होने से विश्वात था, अतएव अनुदात्त विधानार्थ यह सूत्र है।

अनित्यस्यापि प्रश्ना०(८।२।१०५)से प्रश्नान्त में प्लुत का विधान है।
अनित्यस्यापि प्रश्ना०(८।२।१०५)से प्रश्नान्त में प्लुत का विधान है।
अनित्यस्यापि प्रश्नाक्षियोः सूत्र से वाक्यस्थ अन्त्य एवं अनन्त्य सभी पदों के हि को प्लुत

19

₹ स गनु

असूर

4

部部

14

वी

1

स्वरित कहा है, सो यहाँ इस वचनप्रामाण्य से प्रश्नवाक्य के आनिम हि पद को पक्ष में प्लुत अनुदात्त भी हो जाता है, पक्ष में स्विरतत्व हों। कि ही । इस प्रकार अन्तिम पद को प्लुत स्वरित एवं प्लुत अनुदात्त होकरहे मा पक्ष बनेंगे। अभिपृजित (सत्कार) में सम्वोधन के पद को इसी सूत्र से जुत हो गया है।। हे अग्निभूते हे पटो यहाँ प्लुत करने पर पूर्ववत् (११९%) के अनुसार) एचोऽप्रशृह्यस्या० (८।२।१०७) से पूर्व को 'आ' एवं उत्तर क्षेत्रे को इकार उकार होकर 'अग्निभूता ३ इ, पटा ३ उ' बना है।। "हे आमि जुत भूति, हे पंदु क्या तुम पूर्व शामों को गये थे" ऐसा अर्थ अगमः३ पूर्वा ग्राप्त न् 'वाक्यों का है।। उत्तरांश को किये हुये इकार उकार उदात है व हीते हैं, ऐसा समझना चाहिये।।

यहाँ से 'श्रवुदात्तम्' की अनुवृत्ति ८।२।१०२ तक जायेगी॥

चिदिति चोपमार्थे प्रयुज्यमाने ॥८।२।१०१॥

चित् अ०।। इति अ०।। च अ०।। उपमार्थे ७।१॥ प्रयुज्यमाने ७१॥ स०—उपमायाः अर्थः उपमार्थस्तिसमन् ' 'षष्टीतत्पुरुषः ॥ अतु०-अतु दात्तम् , वाक्यस्य टेः प्लुतः, पदस्य ॥ अर्थः—चिद्त्येतस्मिन् निपति उपमार्थे प्रयुज्यमाने वाक्यस्य टेर्नुदात्तः प्लुतो भवति ॥ उदाः अधि चिद् भाया३त्। राजचिद् भाया३त्।।

भाषार्थः—[चित्] चित् [इति] यह निपात [च] भी जब [अ मार्थे] उपमा के अथे में [प्रयुक्यमाने] प्रयुक्त हो तो वाक्य के हि बे अनुदात्त प्लुत होता है।। यहाँ इसी सूत्र से अनुदात्त एवं इसी से खु दोनों का विधान हो रहा है।। अग्निचिद् भायारत् आदि का अर्थ है 'अग्नि के समान प्रकाशित हो, राजा के समान दीप्तिमान हो! ह प्रकार यहाँ चित् उपमार्थ में प्रयुक्त है।।

उपरि स्विदासीदिति च ।।८।२।१०२॥

उपरि अः।। स्वित् अः।। आसीत् क्रियापदम्॥ इति अः॥व अः ॥ अनुः अनुद्वात्तम् , वाक्यस्य टेः प्लुतः ॥ अर्थः ज्यि वित्रः सीत इत्येतस्य रे-सीत् इत्येतस्य टेर्नुदात्तः प्लुतो भवति ॥ उदा० — श्रूधः विद्वासीर्थाः उपि क्रिक्तानीर्थः भाषार्थः— [उपरि स्विदासीत्] 'उपरि स्विदासीत्' [इति] इसी बुपरि स्विद्ासी३त् (ऋ० १०।१२६।५) ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

कि [च] भी प्लुत अनुदात्त होता है।। 'उपरि स्वित् आसीत्' ऐसा विमन्न का भाग है, यहाँ 'स्वित्' अन्यय वितर्क अर्थ में है। मन्न का अग के कि इस जगत् के उत्पन्न होने से पूर्व जो तमस् किति) था वह स्वष्टा के उपरि (उससे अधिक) था, अथवा अधः = अल्प शि ऐसा वितर्क यहाँ किया जा रहा है, अतः विचार्यमाण वाक्य होने से कि बार्वों वाक्यों के 'आसीत्' पद की टि को विचार्यमाणानाम् (८।२।६७) से बुत हुआ है, इस प्रकार दोनों के प्लुत को उदात्त भी ८।२।६७ से ही आश्रा, प्रकृत सूत्र से 'उपरि स्विदासीत्' के प्लुत को अनुदात्तं हो गया। इस अधः स्विदासीत् वाला प्लुत यथावत् उदात्त ही रहा।।

स्वरितमाम्रेडितेऽसूयासम्मतिकोपक्कत्सनेषु ॥८।२।१०३॥

स्वरितम् १।१॥ आम्नेडिते ०।१॥ अस्" नेषु ०।३॥ त० — अस्या सम्मित्रम्न कोपम्म कुत्सनन्न अस्या "द्वत्सनानितेषु" इतरेतरद्वन्द्वः ॥ मृ० — देः प्लुतः ॥ श्रर्थः — आम्नेडिते परतः स्वरितः प्लुतो भवित, स्वर्यां, सम्मतौ कोपे कुत्सने च गम्यमाने ॥ उदा० — अस्यायाम् — अवकं ३ माणवक, अभिरूपकं ३ अभिरूपक ! रिक्तं त आभिरूप्यम् । मितौ — माणवकं ३ माणवक, अभिरूपकं ३ अभिरूपक ! शोभनः खल्वसि। माणवकं ३ माणवक, अविनीतकं ३ अविनीतक ! इदानीं ज्ञास्यसि कि ॥ कुत्सने — शाक्तीकं ३ शाक्तीक, याष्टीकं ३ याष्टीक ! रिक्ता ते कि ॥

भाषार्थ:—[त्रांमेडित] आम्रेडित परे रहते पूर्व पद की टिको[स्विर्तिम्]
ति ज्लुत होता है [त्रासूया "नेषु] असूया = निन्दा,सम्मिति = पूजा,कोप
व इस्सन गम्यमान होने पर ।। उदाहरणों में वाक्यादेरामन्त्रिः (८।१।८)
दिल होता है, अतः पर वाले पद त्रामेडित (८।१।२) के परे रहते
विकी टिको एलुत स्वरित हो गया ।। सर्वत्र उदाहरणों में असूयादि
विकी प्रतीति हो रही है, यथा प्रथम उदाहरण में 'ए सुन्दर माणवक!
व सोन्दर्य समाप्त हो गया' यहाँ स्पष्ट असूया है ।।
व सिं से 'स्वरितम्' की अनुवृत्ति ८।२।१०५ तक जायेगी ।।

रे वेंबो तम श्रासीत्तमसा० (ऋ० १०।१२६।३) मन्त्र में प्राचीन विवादों के मत में तमः प्रकृति की संज्ञा है। (द्र० दुर्ग निरुक्त टीका ७।३ में श्रिक्ष सूत्र)।।

ग्रान

1/2

क्षियाशीःप्रैषेषु तिङाकाङ्क्षम् ॥८।२।१०४॥

क्षियाशीः प्रेषेषु ७१३॥ तिङ् १११॥ आकाङ्क्षम् १११॥ स० — क्षिया वृद्धि आशीख्र प्रेषद्ध क्षियाशीः प्रेषास्तेषु "हतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु० — स्वित्ता तर देः टलुतः ॥ अर्थः — क्षिया, आशीः, प्रेष इत्येतेषु गम्यमानेषु गर् आकाङ्क्षं तिङन्तं तस्य देः स्वरितः टलुतो भवति ॥ उदा० — क्षियायाम् स्वयं रथेन याति ३, डपाध्यायं पदाति गमयति । स्वयं ह ओदनं भुइक्ते । उपाध्यायं, सक्तून् पाययति । आशिषि — सुताँ अ ल्याध्यायं, सक्तून् पाययति । आशिषि — सुताँ अ ल्याध्यायं, सक्तून् पाययति । आशिषि — सुताँ अ ल्याध्यायं, सक्तून् पाययति । अशिष्ठि — सुताँ अ ल्याधि । प्रेषे — कटं कुर्त् ३ प्रामं प्राच्छ । यवान् लुनीहि ३ सक्तूं अ पिव ॥

भाषार्थः—[क्त्याशी:प्रेषेषु] क्षिया, आशी: तथा प्रेष गम्यात महें हो तो [तिडाकाङ्चम्] आकाङ्क्ष तिङन्त की टि को खिख्ल कृत होता है। क्षिया आचार के उछङ्घन को कहते हैं।। 'सुताँश्राण्यां प्रत्नों को प्राप्त करो और घन को प्राप्त करो' यह आशीर्वाद दिया जा हा है। सर्वेत्र पहले वाक्य का तिङन्त पद दूसरे वाक्य की अपेक्षा रक्षा है, अतः साकाङ्क्ष होने से एतुत स्वरित हो गया।।

अनन्त्यस्यापि प्रक्नाख्यानयोः ॥८।२।१०५॥

अनन्त्यस्य ६।१॥ अपि अ०॥ प्रश्नाख्यानयोः ७।२॥ स०-न अन्त्यमनन्त्यम्, तस्य निव्यत्पुरुषः । प्रश्निश्च आख्यानञ्च प्रश्नाख्यां तयोः इतरेतरद्वन्द्वः ॥ श्रवु०—स्वरितम्, वाक्यस्य हैः प्लुतः, प्रस्य श्रिश्च वाक्यस्य अनन्त्यस्यापि अन्त्यस्यापि पदस्य हैः स्वरितः जुले भवति प्रश्ने आख्याने च॥ उदा०—प्रश्ने-अगर्म ३ः पूर्वा श्रिष् प्रामा ३ न् अग्निभूता ३ इ, पटा ३ ड । आख्याने—आर्म ३ म् पूर्वा श्रिष्ठ व प्रामा ३ न् भोः ३॥

भणार्थ:— वाक्यस्थ [अनन्त्यस्य] अनन्त्य एवं अपि प्रहण से अत्य पद की टि को [अपि] भी [प्रश्नाल्यानयोः] प्रश्न एवं आख्यात होते पर स्विति प्लत होता है ।। 'पद्स्य' एवं 'वाक्यस्य' होतों का अधिका होने से वाक्यान्त पद को ही स्विति प्लत की प्राप्ति थी, अनत्यस्थ होने से वाक्यान्त पद को ही स्विति प्लत की प्राप्ति थी, अनत्यस्थ प्रहण से वाक्यस्थ सभी पदों को स्विति प्लत हो गया ।। प्रश्न वाक्य अन्तिम पद की टि को पक्ष में अनुदात्त प्रलत भी अनुदात्तं प्रश्नाता अनितम पद की टि को पक्ष में अनुदात्त प्रलत भी अनुदात्तं प्रश्नाता (८।२।१००) से जैसे होता है, वह उसी सूत्र में देखें ।। आख्या

अन उत्तर को कहते हैं। सो 'अगम ३ म्' 'का अर्थ होगा 'हाँ मैं कि प्रामों में गया था'। पहले वाक्य में पूछे गये वाक्य का यह का है।।

प्छतावैच इदुतौ ॥८।२।१०६॥

जुतौ १।२।। ऐचः ६।१।। इदुतौ १।२।। स०—इत् च उत् च इदुतौ, वितरद्वन्द्वः ।। अनु०—एजुतः ।। अर्थः—ऐचः प्जुतप्रसङ्गे तद्वयवभूतौ वृतौ प्जुतौ भवतः ।। उदा०—ऐ ३ तिकायन । औ ३ पगव ॥

माषार्थ:—[ऐच:] ऐच् के स्थान में जब प्रतुत का प्रसङ्ग हो तो, म ऐच् = ऐ, औ के अवयवभूत जो [इदुतों] इकार टकार उनको जुतों] प्रतुत होता है।। अवर्ण तथा इवर्ण के मेळ से ए ऐ, एवं अवर्ण मार्च चर्ण के मेळ से ओ औ बनते हैं अर्थात एच् समाहार वर्ण हैं, जा दूराजूते च (८।२।८४) इत्यादि सूत्रों से जो विहित प्तुत वहाँ को ऐ औ को प्रतुत करने का प्रसङ्ग हो तो ऐ औ के अवयवभूत इवर्ण को खे ही प्तुत हो, तत्स्थित अवर्ण को न हो एतद्थ यह सूत्र विवाह एत्र को से अनन्त्य गुरु संज्ञक 'ऐ औ' को गुरोरचतों विवाह को से प्तुत प्राप्त हुआ, तो प्रकृत सूत्र ने उस ऐच् के 'इ उ' को को प्तुत कर दिया।।

विश्वप्रमृह्यस्याद्त्राङ्क्ते पूर्वस्यार्धस्यादुत्तरस्येदुतौ ॥८।२।१०७॥

एवः ६।१॥ अप्रगृह्यस्य ६।१॥ अदूरात् ५।१॥ दूते ७।१॥ पूर्वस्य १।१॥ अर्थस्य ६।१॥ आत् १।१॥ उत्तरस्य ६।१॥ इद्वतौ १।२॥ स०—
गृह्यस्य, अदूरात् , उभयत्र नञ्तत्पुरुषः । इद्वतौ इत्यन्नेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अर्थः—अप्रगृह्यस्य एचोऽदूराद्वृते प्लुतिवषये पूर्वस्याविकार आदेशो भवति स च प्लुतः, उत्तरस्येकारोकारौ आदेशौ
ता ।। उदा०—अगमः ३ पूर्वा३न् ग्रामा३न् अग्निभूता३ इ, पटा३ छ ।
कोषि माणवक ३ अग्निभूता३ इ, पटा३ छ । होतव्यं दीक्षितस्य
ता ।। अर्थः—अग्निभूता ३ इ, पटा३ छ । उक्षान्नाय वशाता ।। अप्रमानेधि अग्निभूता ३ इ, पटा ३ छ । उक्षान्नाय वशाता ।। अप्रमानेधि अग्निभूता ३ इ, पटा ३ छ । उक्षान्नाय वशाता ।। अप्रमानेधि अग्निभूता ३ इ, पटा ३ छ । उक्षान्नाय वशाता ।। अप्रमानेधि अग्निभूता ३ इ, पटा ३ छ । उक्षान्नाय वशाता ।। अप्रमानेधि अग्निभूता ३ इ, पटा ३ छ । उक्षान्नाय वशाता ।। अप्रमानेधि अग्निभूता ३ इ, पटा ३ छ । उक्षान्नाय वशाता ।। अप्रमानेधि अग्निभूता ३ इ, पटा ३ छ । उक्षान्नाय वशाता ।। अप्रमानेधि अग्निभूता ३ इ, पटा ३ छ । उक्षान्नाय वशाता ।। अप्रमानेधि अग्निभूता ३ इ, पटा ३ छ । उक्षान्नाय वशाता ।। अप्रमानेधि अग्निभूता ३ इ, पटा ३ छ । उक्षान्नाय वशाता ।। अप्रमानेधि अग्निभूता ३ इ, पटा ३ छ । उक्षान्नाय वशाता ।। अप्रमानेधि अग्निभूता ३ इ, पटा ३ छ । उक्षान्नाय वशाता ।। अप्रमानेधि अग्निभूता ३ इ, पटा ३ छ । उक्षान्नाय वशाता ।। अप्रमानेधि अग्निभूता ३ इ, पटा ३ छ । उक्षान्नाय वशाता ।। अप्रमानेधि अग्निभूता ३ इ, पटा ३ छ । उक्षान्नाय वशाता ।। अप्रमानेधि अग्निभूता ३ इ, पटा ३ छ । उक्षान्नाय वशा-

18

के [पूर्वस्य अर्धस्य] पूर्वार्ध भाग को [आत्] आकारादेश होता है, और वह प्लुत होता है, तथा [उत्तरस्य] उत्तर वाले भाग को [इडुती] इक्ष सि उकार आदेश होते हैं ॥ ये एच् समाहार (मिले हुये) वर्ण हैं, ऐसा पूर्व सूत्र में कह चुके हैं, सो उनके पूर्व वाले आधे भाग को आकार सं वा उत्तरभाग को इकार उकार हो गया। पूर्व सूत्रों से उदात्त अनुत्त स्वरित जैसा प्लुत कहा है वैसा ही आकार आदेश यहाँ होता है। आ डकार तो उदात्त ही होते हैं, ('उदात्तः' के अधिकार से सम्यन्ति हो से) ऐसा जानना चाहिये॥ प्रथम उदाहरण में अनुदात्तं प्रश्ना० (८।२।१००) से प्लुत को अनुदात्त, द्वितीय में भी (अभिपूजित में) इसी सूत्र से जुतके अनुदात्त हुआ है। तृतीय उदाहरण में विचार्यमाणानाम् (दाराहण) हे उदात्त प्लुत, चतुर्थ में प्रत्यभिवादे ऽशूद्रे से तथा पद्धम में याज्यानः (८।२।६०) से उदात्त प्लुत हुआ है ऐसा जानें। भाष्य में इस पूत्रहे विषय का परिगणन कर दिया है, सो हमने भी तद्वत् ही उदाहरण हो दिये हैं ॥

तयोर्यावचि संहितायाम् ॥८।२।१०८॥

तयोः ६।२॥ य्वौ १।२॥ अचि ७।१॥ संहितायाम् ७।१॥ सर्वा यश्च वश्च य्वी, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनुः—प्लुतः ॥ अर्थः—तयोद्दितीर्वे व कारवकारादेशौ भवतोऽचि परतः संहितायां विषये ॥ उदा०—अग्नारे याशा, पटा ३ वाशा, अग्ना ३ यिन्द्रम्, पटा ३ वुद्कश् ॥

भाषार्थ:—[तयोः] उनके अर्थात् प्लुत के प्रसङ्ग में एच् के उत्तर्भ को जो इकार उकार पूर्व सूत्र से विधान कर आये हैं, उन इकार उकार स्थान में क्रमशः [ब्वौ] यू व्हो जाते हैं, [अचि] अच्परे रहते [संहिता कर याम्] सन्धि के विषय में ॥ इको यणि (६।१।७४) की हिंद्र के विषय में ॥ इकार उकार पूर्वत्रासिद्धम् से असिद्ध हैं, अतः इको यणि से यणि के असिद्ध हैं नहीं सकता था, इसिंछिये यह सूत्र बनाया ।। अग्ने आशा, पटी आर्थी ।। यह सूत्र बनाया ।। अग्ने आशा, पटी किंदी के सूत्रोक्तानुसार प्रश्नान्त (८।२।१००) अभिपूर्तिताहि क्रि अर्थ में प्लुत होकर पूर्व सूत्र से आकारादेश एवं उत्तरार्ध की हैं। उ उकार होकर 'अग्ना ३ इ आशा, पटा ३ उ आशा' रहा। प्रकृत पूर्व अच् परे रहते य अच् परे रहते यू व् होकर अग्ना ३ याशा, पटा ३ वाशा आहि प्री बन गये। अग्ना ३ च बन गूये। अग्ना ३ इ इन्द्रम्, पटा ३ उ उद्कम् यहाँ अकः स्वर्ण होते

वः वदः]

पूर्व

17 गर

होने 0) को

से न्तः

के श्री

की हिशहण) की दृष्टिमें इ उ असिद्ध होने से सवर्णदीर्घ नहीं होता, मा सि से य्व आदेश हो जाते हैं।।

यहाँ से 'संहितायाम्' का अधिकार अध्याय की समाप्ति पर्यन्त एं ।।।६७ तक जायेगा।।

॥ इति द्वितीयः पादः॥

-:0:-

तृतीयः पादः

मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि ॥८।३।१॥

मतुवसोः ६।२।। रु लुप्तप्रथमान्तिनिर्देशः ।। सम्बुद्धौ ७।१॥ झन्दसि ॥ स० मतुश्च वस् च मतुवसौ तयोः "इतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु० — हितायाम्, पद्स्य ।। अर्थः--मत्वन्तस्य वस्वन्तस्य च पद्स्य रुरित्यय-गरेशो भवति संहितायां सम्बुद्धौ परतः छन्दसि विषये।। उदा०— निनस्य - इन्द्रं मरुत्व इह पाहि सोमम् (ऋ० ३।५१।७) हरिवो मेदिनं ि (ऋ० खिल० १०।१२८।१) । वस्वन्तस्य—मीढ्वस्तोकाय तनयाय ।। (ऋ० २।३३।१४)।।

भाषार्थ:-[मसुवसोः] मत्वन्त तथा वस्वन्त पद् को संहिता में मि विषय में [ह] रु आदेश है। हरिवो मेदिनम् की सिद्धि सूत्र ८।२।१५ में देखें। मरत्व यहाँ क्षी प्रकार मरुत् शब्द से मृतुप् नुमागमादि एवं क्षयः (८।२।१०) में महाप को वत्व होकर मरुत्वन् रहा। न को प्रकृत सूत्र से रु तथा कि को 'इह' परे रहते भी भगी (८।३।१७) से यू एवं उस यू का शाकल्यस्य (८१३।१६) से छोप होकर 'मरुत्व इह' बना। 'मीढ्वस्-की सिद्धिं सूत्र ६।१।१२ में देखें। मिह् से छिट् के स्थान में भी सिद्धिं सूत्र ६।१।१२ में देख। । निर् ता उर्वे मीट्वन् रहा। विषय निपातन से अद्विज्यनादि करके मीट्वन्स् सु = मीट्वन् रहा। विषय प्रति पद है, अतः अन्त्य अल् को रुत्व हो गया, पश्चात् किनीय एवं सत्व हो गया।।

क्षाँ से 'रु' की अनुवृत्ति ८।३।१२ तक जायेगी।।

अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा ॥८।३।२॥

अत्र अ० ॥ अनुनासिकः १ ११॥ पूर्वस्य ६ ११॥ तु अ० ॥ वा अ०॥ श्रानु० — रु, संहितायाम् ॥ अर्थः — इत्र उत्तरं यस्य स्थाने रुर्विधीयते तः वृत्वस्य तु वर्णस्य वाऽनुनासिकादेशो भवतीत्यधिकारो वेदितवः॥ श्राधिकारसूत्रमिदम् ॥ उदा० — वक्ष्यति – समः सुटि — संस्कर्ता, संस्कृती । संस्कृती में संस्कृतीम् , संस्कृतीम् । संस्कृती व्यम् संस्कृतीव्यम् ॥

भाषार्थ:-[अत्र] यहाँ से आगे जिसको रु विधान करेंगे उसे [पूर्वस्य] पूर्व के वर्ण को [तु] तो [वा] विकल्प से [अनुनासिकः] अनु [नि नासिक आदेश होता है, ऐसा अधिकार इस रत्व विधान के प्रकर्ण है समझना चाहिये।। इस प्रकार इस सूत्र का अधिकार ८।३।१२ क समझ लेना चाहिये। प्रत्येक खूत्रों में अनुवृत्ति में या सूत्रार्थ में से कहने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि यह इस 'रु प्रकरण' को सार्विक नियम है, जिसे एक स्थान पर समझने से काम चल जाता है।। ई का यहाँ विभक्तिविपरिणाम से पद्धमी में अर्थ होगा।। सँस्कर्ण अनुनासिक होकर तथा पक्ष में जब अनुनासिक नहीं होगा तो ८१३४ गर से अनुस्वार होकर संस्कर्त्ता प्रयोग वनेगा। अनुस्वार पक्ष में प्रयोगत्र बनेंगे, यह हम सुद् कात् पूर्वः (६।१।१३१) सूत्र में सिद्धि सहित दिव चुके हैं, वहीं देख छें। अनुनासिक पक्ष में भी दो सकार, तथा मनी च (८।४।४६) से द्वित्व होकर तीन सकार वाले सँसकर्ती सँसकी प्रयोग बनते हैं। इमने उदाहरणों में द्विसकारक ही प्रयोग द्वाहि हैं, किन्तु इनके सकार भेद से अनुनासिक पक्ष में दो एवं अनुना कि पक्ष में २ प्रयोग होकर (देखो ६।१।१३१) कुछ ५ प्रयोग बनेंगे कि जानें ।। वा शरि (८)३।३६) में व्यवस्थित विभाषा होते से ग्रा विसर्जनीय पक्ष नहीं बनता, इसका विशेष व्याख्यान द्वितीयावृति व विषय है।।

१. वर्णोचारणशिक्षा में इस चिह्न से युक्त वर्ण की धनुनातिक वंश कही है।

[े] २. समो वा लोपमेक इच्छुन्ति (भा० वा० ८।२।४) इस वार्ति । वस्तुतः ग्रनुनासिक पक्ष में भी 'म्' लोप होने से एक सकार होकर प्रयोग^{ज्य हो} हैं। इस प्रकार कुल ६ प्रयोग हुये।।

ससे

न्तं

318

63 觞

आतोऽटि नित्यम् ॥८।३।३॥

आतः ६।१।। अटि ७।१।।नित्यम् १।१।।अनु०-अनुनासिकः पूर्वस्य,रु,संहि-तः गयाम्।। श्रथः - अटि परतो रोः पूर्वस्याकारस्य स्थाने नित्यमनुनासिका-ा हो भवति संहितायां विषये।। उदा०—महाँ असि (ऋ० ह।६६।१६-寒० ३।१।१) ॥

भाषार्थः — [अटि] अट्परे रहते क से पूर्व [आतः] आकार को मित्यम्] नित्य ^३अनुनासिक आदेश होता है।। महान् देवान् के न् में बे दीर्घादिट समानपादे (८१३।९) से रु हुआ है, अतः उस 'रु' से पूर्व ह म को विकल्प से अनुनासिक पूर्व सूत्र से प्राप्त था, नित्य विधान हो एने के लिये यह सूत्र है।। रु को य् (८।३।१७) एवं उसका लोप क्र जिंवत् उदाहरणों में हो ही जायेगा।।

अजुनासिकात्परोऽनुस्वारः ॥८।३।४॥

अनुनासिकात् ५।१।। परः १।१।। अनुस्वारः १।१।। अनु०-पूर्वेस्य, रु, संहि-गगम्।। अर्थः-रोः पूर्वोऽनुनासिकाद्न्यो यो वर्णः = यस्यानुनासिको न विविद्या अया प्रशेष्ट्र अगमो भवति संहितायां विषये॥ उदा०— किता, संस्कत्तं व्यम्। पुंस्कामा, भवांश्चरति॥

व्य भाषार्थः - रु से पूर्व वर्ण जो [अनुनासिकात्] अनुनासिक से अन्य विधान किया उससे [पर:] परे वा भनुस्वार:] अनुस्वार आगम होता है संहिता में।। 'अन्य' शब्द का विवाहार करके सूत्रार्थ यहाँ सम्पन्न होगा ।। जिस पक्ष में अत्रावनासिकः सिंग (८।३।२) से अनुनासिक आदेश नहीं होता, उस पक्ष में अनु-ब जार आगम हो जायेगा ऐसा जानें, क्योंकि तभी र से पूर्व अनुनासिक अन्य वर्ण मिल सकेगा ।। सिद्धि प्रकार एवं विशेष परिज्ञान के लिये ^{बिश एवं ६।१।१३१} सूत्र देखें।।

समः सुटि ॥८।३।५॥ समः ६।१॥ सुटि ७।१॥ श्रवु०—रु, पदस्य, संहितायाम्॥ अर्थः—

रें नित्य ग्रहण प्रायिकत्व द्योतनार्थ है, श्रतः क्रचित् श्रनुस्वार भी देखा जाता विष्युहण से समान कोटिक विकल्प होता है।

वृतीयः

9

3

4

र्ता

[3

Ac

1

T

सम इत्येतस्य रुभवति सुटि परतः संहितायां विषये ॥ उदा०—संसक्त संस्कर्तम्, संस्कर्त्तव्यम्।।

भाषार्थः —[समः] सम् को रु होता है [सुटि] सुट् परे रहते संहित विषय में ।। त्रलीन्त्यस्य (१।१।५१) से अन्त्य अल् को रु होगा ॥ अनुसा एवं अनुनासिक तथा सकार के भेद से कुछ ६ प्रयोग बनते हैं जो ह सूत्र ८।३।२ एवं ६।१।१३१ में दिखा दिये हैं।।

पुमः खय्यम्परे ॥८।३।६॥

पुमः ६।१।। खिय ७।१।। अस्परे ७।१।। स०—अम् (प्रत्याहार) गो थस्मात् स अम्परस्तस्मिन् ' 'वहुव्रीहिः।। अनु०—रु, पदस्य, संहितायाग्। श्रर्थः—पुम् इत्येतस्य रुभविति अम्परे खिय परतः संहितायाम्॥ ज्रा०-पुंसि कामोऽस्याः पुँस्कामा पुँस्कामा, पुंस्कामा, पुंस्कामा। पुँस्कामा पुँरस्पुत्रः, पुंस्पुत्रः, पुंस्स्पुत्रः । पुंसः चली पुँखली, पुँरश्चली, पुंर्खली पंश्यकी।।

भाषार्थः—[श्रम्परे] अम् प्रत्याहार परे है जिससे ऐसे [सर्व] खय् (प्रत्याहार) के परे रहते [पुमः] पुम् को (अन्त्य अल्को) रहीत है संहिता में ।। 'पुम् कामा' यहाँ पुम् से परे क् खय् प्रत्याहार में त्या उससे परे 'आ' अम् में है, अतः अम्परक खय् परे रहते म् को रही गया। पूर्ववत् रु को विसर्जनीय तथा वा शरि (८।३।३६) से सल करि पूर्व वर्ण को पक्ष में अनुनासिक एवं अनुस्वार तथा पक्ष में अनिव (८।४।४६) से स् को द्वित्व करने के भेद से चार प्रयोग बनेंगे। हुई प्रकार सब्भें जानें। पुँखळी आदि में स्को स्तोः श्वुना श्वुः (दाष्ट्रीहर) से श् भी हुआ है ।। पुँस्कामा आदि में कुप्तो प्रक्र पी व (८।३१०) की प्रवृत्ति व्यवस्थित विभाषा होने से नहीं होती, यथा टी^{श्री क} उदाहर्णों में वा शिर से पाक्षिक विसर्जनीय नहीं हुआ था।

यहाँ से 'श्रमपरे' की अनुवृत्ति ८।३।८ तक जायेगी।।

नश्छन्यप्रशान् ॥८।३।७॥

ः नः ६।१॥ छवि ७।१॥ अप्रशान् १।१, षष्ट्यर्थे प्रथमा॥ स्वीताः शान् अप्रशान == प्रशान् अप्रशान्, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु ०—अम्परे, रु, पद्स्य, संहित्रं याम् ॥ अर्थः ॥ अनु ० —अम्परे, रु, पद्स्य, नो क्री याम्।। ऋर्थः—प्रशान्वजितस्य नकारान्तस्य पदस्य रुभेवत्यम्परे ीर:

न्तं

स्वा

HII

-

[Ŧ.,

ાં

fil

ोवा

तथा

17 इसी

(3)

(0) वे

di

ग्रतः संहितायां विषये।। उदा०-भवाँ खादयति, भवां खादयति। भवाँश्चिनोति, भवांश्चिनोति। भवाँशिकते, भवांशिकते। भवाँस्तरित. हेव भवांस्तरति ॥

भाषार्थः—[अप्रशान्] प्रशान् को छोड़कर जो [नः] नकारान्त पद् इनको अम्परक [छवि] छव प्रत्याहार परे रहते रु होता है, संहिता में।। प्रवेतत् यहाँ भी द्वित्व करके चार चार प्रयोग बनेंगे, अनुनासिक एवं अनुस्वार का दिखा ही दिया है। रुको विसर्जनीय एवं ८१३१३४ से प्वेंत् सत्व करके यथाप्राप्त श्चुत्व ब्दुत्व हुये हैं। शेष सब पूर्ववत् है॥

यहाँ से 'नः' की अनुवृत्ति ८।३।१२ तक तथा 'छवि' की ८।३।८ तक जायेगी ।।

उभयथर्धु ॥८।३।८॥

उभयथा अः ।। ऋक्षु ७।३।। अनुः—नरञ्जनि, अम्परे, रु, पदस्य, संहितायाम्।। श्रर्थः---नकारान्तस्य पदस्याम्परे छवि परत उभयथा ऋक्षु मनित—रुवी नकारो वा।। पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्प्यते।। उदा०— वस्मिस्वा द्धाति । तस्मिंस्त्वा द्धाति । तस्मिन्त्वा द्धाति ॥

भाषार्थ:--- नकारान्त पद् को अम्परक छ्व प्रत्याहार परे रहते हि [मृतु] पादयुक्त मन्त्रों भें [उभयथा] दोनों प्रकार से होता है, अर्थात् एक कि पक्ष में रु एवं पक्ष में नकार ही रहता है।। पूर्व सूत्र से नित्य प्राप्त था, किल्प कर दिया।। पूर्ववत् छव् त् से परे अम् प्रत्याहार व् परे है ही, कतः विकल्प हो गया।।

यहाँ से 'ऋचु' की अनुवृत्ति ८।३।६ तक जायेगी।।

दीर्घादि समानपादे ॥८।३।९॥

दीर्घात् ४।१॥ अटि ७।१॥ समानपादे ७।१॥ स० – समानश्च असौ स्ति समानपाद्स्तस्मिन् ''कर्मधारयस्तत्पुरुषः ॥ अनु - ऋश्च, नः, भित्रय, संहितायाम् ।। अर्थः—दीर्घादुत्तरस्य पदान्तस्य नकारस्य ऋक्षु

१. ऋक् शब्द से पादबद्ध मन्त्रों का ग्रहण होता है, केवल ऋग्वेद का ही नहीं। कि की लक्षण जैमिनि ने 'यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था सा ऋक्' (मी० २।१।३५) भार जिन मन्त्रों में भ्रयानुकूल पादव्यवस्था होती है वे ऋक् शब्द वाच्य होते हैं, ह्या है।

4

Hero

ho

रुभवत्यटि परतस्तौ चेन्निमित्तनिमित्तिनौ समानपादे भवतः॥ उदाः परिधाँरति (ऋ० ६।१०७।१६) । देवाँ अच्छा दीचत् (ऋ० ३।१।१) माँ इन्द्रो य ओजसा (ऋ० ८।६।१)।।

भाषार्थः—[दीर्घात्] दीर्घ से उत्तर नकारान्त पद को [अटि] अ परे रहते पादवद्ध मन्त्रों में रुहोता है, यदि निमित्त (जिसको मानकर का हो) तथा निमित्त (अर्थात् जिसको विधि करनी है) दोनों [समानपारे] एक ही पाद में हों।। समान शब्द का यहाँ एक अर्थ गृहीत है, तथ पाद से ऋचा (मनत्र) का पाद छिया जायेगा।। सर्वत्र उदाहरणों रे आतोऽटि नित्यम् (८।३।३) से नित्य ही रु से पूर्व वर्ण को अनुनािक हुआ है।।

नृन्पे ॥८।३।१०॥

नृन तुप्तषष्ट्यन्तिनिर्देशः ।। पे ७।१।। अनु०-नः, अर्थ:- नृन् इत्येतस्य नकारस्य रुभैवति पशब्दे परा संहितायाम्।। ्संहितायां विषये ।। उदां - नूँ: पाहि, नूं: पाहि । नूँ: प्रीणीहि, नूं प्रीणीहि ॥

भाषार्थ:-[नून] नून शब्द के नकार को [पे] प परे रहते हहीं। है।। 'प' में अकार उच्चारणार्थ है।। रु को विसर्जनीय (८।३।१५) होस उस विसर्जनीय को पक्ष में प् परे रहते उपध्मानीय आदेश होका तथा पक्ष में विसर्जनीय ही रहकर नूँ: पाहि नूँ प्राहि दो प्रयोग बती उनके भी अनुनासिक एवं अनुस्वार का भेद करके दो प्रयोग होंगे। हा प्रकार कुळ ४ प्रयोग बनेंगे, ऐसा जानें। मूळ उदाहरणों में दोई द्शिये हैं॥

स्वतवान्पायौ ॥८।३।११॥

स्वतवान् , लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ॥ पायौ ७।१॥ अतु० नाः, ६ पदस्य, संहितायाम् ॥ अर्थः—स्वतवान् इत्येतस्य नकारस्य रुभवित, गर् शब्दे परतः संहितायां विषये ॥ उदाः—भुवस्तस्य स्वतवाः पाषुत्रे (ऋ० शश्)॥

भाषार्थः—[स्वतवान्] स्वतवान् शब्द के नकार को इहीता है [पायो] पायु शब्द परे रहते ।। स्वतवान् यह वैदिक उदाहरण हैं.

अष्टमोऽध्यायः

गहः]

ोग:

महाँ

अट्

कार्व

ादी

तथा

ों में सिक

(तः

न्ः

ोवा

N

व्या

गे। इस

ही

13.

६५१

इसका अनुस्वार एवं उपध्मानीय पक्ष का उदाहरण वैदिक प्रयोगों में प्राप्त होने पर ही देना शक्य है ।।सिद्धि सूत्र ७।१।८३ में देखें ।।

कानाम्रे हिते ॥८।३।११॥

कान् , लुप्तषष्ट्यन्तिनर्देशः ॥ आम्रेडिते ७।१॥ श्रवु०—नः, रु, ग्रुख, संहितायाम् ॥ श्रर्थः—कान् इत्येतस्य नकारस्य रुभैवति, आम्रे-हिते परतः संहितायां विषये ॥ उदा०—कांस्कानामन्त्रयते । कांस्कान्भो-जयति । काँस्कानामन्त्रयते, काँस्कान्भोजयति ॥

भाषार्थ: - [कान्] कान् शब्द के नकार को रु होता है [आम्रेडिते] आम्रेडित परे रहते ।। किम् शब्द के द्वितीया बहुवचन का 'कान्' रूप है, बीप्सा अर्थ में (८।१।४) द्वित्व होकर कान् कान् (किस किसको) का। अब कान् आम्रेडित के परे रहते पूर्व वाछे कान् के न् को रूत्व एवं रु को विसर्जनीय तथा विसर्जनीयस्य सः (८।३।३४) से विसर्जनीय को सत्व एवं पूर्व वर्ण को अनुनासिक, अनुस्वार होकर कांस्कान् बन ग्या। यहाँ कांस्कान् का कस्कादि गण में पाठ मानने से पक्ष में अपोः क्रेपों च (८।३।३७) से जिह्नामूछीय आदेश नहीं होता। क्योंकि कस्कादि गण में पढ़े होने से कस्कादिषु च (८।३।४८) से सकार को सकार ही रहता है, अर्थात् जिह्नामूछीय नहीं होता।।

, ढो ढे लोपः ॥८।३।१२॥

हः ६।१।। ढे ७।१।। छोपः १।१।। अनु०—संहितायाम्।। अर्थः— कारे परतो ढकारस्य छोपो भवति संहितायां विषये।। उदा०,—छीढम् , अगृहम्।।

भाषार्थ:—[ढे] ढकार परे रहते [ढः] ढकार का [लोपः] छोप के हैं संहिता में ॥ सिद्धियाँ सूत्र ६।३।१०९ में देखें।।

यहाँ से 'लोपः' की अनुवृत्ति ८।३।१४ तक जायेगी।।

रो रि ॥८।३।१४॥

रः ६।१॥ रि ७।१॥ अनु०—छोपः, पदस्य, संहितायाम् ॥ अर्थः— भिष्य रेफस्य रेफे परतो छोपो भवति संहितायां विषये ॥ उद्गा०—नीर-

1

1

Œ स

30

40

a

3

3

क्तम्, दूरक्तम्, अग्नी रथः, इन्दू रथः, पुना रक्तं व्रासः, प्राता राजक्रः अजर्घाः ॥

भाषार्थ:—पद के [रः] रेफ का [रि] रेफ परे रहते लोप होता है संहिता में ।। पद के रेफ कहने से पद के अवयवरूप पदान अपतान सभी रेफों का छोप होता है।। नीरक्तम् आदि की सिद्धि सूत्र ६१३।१०६ में तथा अजर्घाः की परि० ८।२।३७ में देखें। यहाँ अपदान्त रेफ म लोप हुआ है ॥

यहाँ से 'रः' की अनुवृत्ति ८।३।१७ तक जायेगी।।

खरवसानयोविंसर्जनीयः ॥८।३।१५॥

खरवसानयोः ७।२।। विसर्जनीयः १।१।। स०—खर् च अवसानं र खरवसाने, तयोः 'इतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु ः —रः, पदस्य, संहितायाम्॥ श्रर्थः—रेफान्तस्य पद्स्य खरि परतोऽवसाने च विसर्जनीयादेशो भवि संहितायां विषये ।। उदा०—वृक्षश्छादयित, प्लक्षश्छादयित, वृक्षसार्वि, प्रक्षस्तरित । अवसाने – वृक्षः, प्रक्षः ॥

भाषार्थः—रेफान्त पद् को [खरवसानयोः] खर् परे रहते तथा अ सान में [विसर्जनीयः] विसर्जनीय आदेश होता है संहिता में ॥ वृक्ष रखादयति आदि में वृक्ष के सु का रतव विसर्जनीय होकर उस विसर्व नीय को विसर्जनीयस्य सः (८।३।३४) से सत्व होकरु श्चुत्व हुआ है। वृक्षः के स्वायुत्पत्ति आदि की प्रिक्रिया परि० १।१।१ के भागः के समार जानें। विरामोऽवसानम् (१।४।१०६) से अवसान संज्ञा होती है। अलो उन्त्यस्य (१।१।५१) से अन्त्य अल् रेफ को ही विसर्जनीय सर्व होगा ॥

यहीं से 'विसर्जनीयः' की अनुवृत्ति ८।३।१६ तक जायेगी॥

रोः सुपि ॥८।३।१६॥

्रोः ६।१।। सुपि ७।१।। अनु०—विसर्जनीयः, रः, संहितायाम्। प्रथः—रु इत्येक्टर रे श्रथः—रु इत्येतस्य रेफस्य सुपि परतो विसर्जनीयादेशो भवति। उतारु—एसम् ज्रा॰—परास्-पयःसु । सर्पिस्-सर्प्पिःषु । यशस्-यशःसु ॥

विः | बादः]

7

1

ान

308

तं च

q II

विव

ta,

1

11

11

भाषार्थ:-[रो:] 'रु' के रेफ को [सुपि] सुप् परे रहते विसर्जनीय बादेश होता है।। 'सुपि' से यहाँ सप्तमीबहुवचन सुप् विभक्ति का हण है, न कि २१ सुपों का ।। पूर्व सूत्र से ही रु के रेफ को विसर्ज-क्ष आदेश सिद्ध था पुनर्वचन नियमार्थ है, अर्थात् सुप् (७१३) परे हते र के रेफ को ही विसर्जनीय हो, अन्य किसी रेफ को न हो॥ र्माप: भु में नुम्विसर्ज (८।३।५८) से षत्व हुआ है। पयस् + सु = पय रू H= पयर् स = पयःस् ॥

यहाँ से 'रोः' की अनुवृत्ति ८।३।१७ तक जायेगी।।

मोमगोअघोअपूर्वस्य योऽश्चि ॥८।३।१७॥

मोभगोअघोअपूर्वस्य ६।१।। यः १।१।। अज्ञि ७।१।। स०-भोश्ची गाश्च अघोश्च अरचे भोभगोअघोआः, इतरेतरद्वन्द्वः। भोभगोअघोआः र्षाः यस्य स भोभः अपूर्वस्तस्यः बहुव्रीहिः ॥ श्रनु०-रोः, रः, बंहितायाम् ।। अर्थः-भो, भगो, अघो इत्येवं पूर्वस्य अवर्णपूर्वस्य च ो रेफस्य यकारादेशो भवति, अशि परतः संहितायां विषये ॥ उदा०-भी अत्र । भगो अत्र । अघो अत्र । भो ददाति, भगो ददाति, अघो लाति । अवर्णपूर्वस्य-क आस्ते, ब्राह्मणा ददति, पुरुषा ददति ॥

माषार्थ:-[मोम पूर्वस्य] भो भगो अघो तथा अवर्ण पूर्व में है 319: विस रु के उस रु के रेफ को [यः] यकार आदेश होता है [श्रिश] क्ष परे रहते।। भो सु अत्र = भो र् अत्र = र् को य् होकर भो य् है। अत्र = यहाँ य् का छोप ओतो गार्ग्यस्य (८।३।२०) से हो गया तो भो अत्र बना। भो य्ददाति में हिल सर्वेषाम् (८।३।२२) से य्का, छोप श्या है। इसी प्रकार भगो अत्र, भगो ददाति आदि में जानें। कर् शास्ते आदि में र्से पूर्व अवर्ण तथा अश् परे है। ब्राह्मणा ददित श्योग बहुवचन जस् में हैं।। भोभगो श्रघो॰ यहाँ सूत्र में सन्धि कार्य धीत्र मानकर नहीं हुये।।

यहाँ से 'मोमगोअघोअपूर्वस्य' की अनुवृत्ति ८।३।२२ तक तथा

की ८।३।२० तक जायेगी।।

व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य ॥८।३।१८॥ न्योः ६।२।। छघुप्रयत्नतरः १।१।। शाकटायनस्य ६।१॥ स०—ब्रश्च विक्यों तयोः...इतरेतरद्वन्द्वः। लघुः प्रयत्नो यस्य स लघुप्रयत्नः, क्षीहिः। अतिशयेन लघुप्रयत्नो लघुप्रयत्नतरः॥ अनु०—भोभगो-

सं

अघोअपूर्वस्य, अशि, पदान्तस्य, संहितायाम्।। अर्थः—भोभगोअशे अवर्णपूर्वयोः पदान्तयोः वकारयकारयोर्छघुप्रयत्नतर आदेशो भगि अशि परतः शाकटायनस्याचार्यस्य मृतेन।। लघुप्रयत्नतरत्वमुच्चाणे स्थानकरणशैथिल्यम्।। उदा०—भोयत्र, अगोयत्र, अघोयत्र। अर्थः पूर्वस्य—कयास्ते, क आस्ते। काक आस्ते, काकयास्ते। अस्मायुद्धर, अस्म उद्धर। असावादित्यः, असा आदित्यः। द्वावत्र, द्वा अत्र। द्वावान्। द्वा आनय।।

१. मोभघोत्रघो० सूत्र से विहित य् ग्रलघुप्रयत्नतर = सामान्यप्रयत्न वाली है उसका लोपः शाकल्यस्य से विकल्प से लोप होता है। ग्रलोप पक्ष में यू वृकी लघुप्रयत्नृतर ग्रादेश हो जाता है। भ्रोकारान्तों से गार्ग्य के मत में तिस्य लोग होता है।

वस्तुत: य् व् का त्रिविध उच्चारण होता है। पदादि में पूर्शप्रयत्न से, पदम्य में लघुप्रयत्न से, पदान्त में लघुतर प्रयत्न से यह त्रिविध उच्चारण स्वाभाविक है। इसे ही याज्ञवल्क्य शिक्षा में कमशः गुरु लघु ग्रीर लघुतर कहा है। पदादि प्रविकारिक्चारण को दर्शाने के लिए माध्यन्दिनपाठ में द्वित्व रूप से लिखा बार्ण 'क्वायवस्थ'। पदादि यकार को भी पुरा काल में द्वित्व रूप से ही लिखा बार्ण

वि:

चो-

रणे

TÝ-स्मा

वि,

ने

देश

मव

वि-

हते

(U)·

ig.

को

से

माव्

आ

एवं

18

đ

a

बी

州

Ø

F

व का ओतो गार्ग्यस्य (८।३।२०) से नित्य लोप होता है सो उसके की भी अत्र आदि रूप बनेंगे। लघुप्रयत्नतर आदेश वाले यु व के तो भोयत्र मोयत्र ही रूप बनेंगे, अतः इनके पाक्षिक रूप नहीं दर्शाये हैं।।

यहाँ से 'व्योः' की अनुवृत्ति ८।३।२२ तक जायेगी।।

लोपः शाकल्यस्य ॥८।३।१९॥

लोपः १।१।। शाकल्यस्य ६।१।। श्रनु० - व्योः, अपूर्वस्य अशि, पदस्य, हितायाम् ।। अर्थः - पदान्तयोर्वकारयकारयोरवर्णपूर्वयोर्छोपो भवति कल्यस्याचार्यस्य मतेन अशि परतः ॥ उदाः - क आस्ते, कयास्ते । क आस्ते, काकयास्ते । अस्मा उद्धर, अस्मायुद्धर । द्वा अत्र, द्वावत्र । असा आदित्यः, असावादित्यः ॥

भाषार्थः - अवर्ण पूर्व वाले पदान्त यकार वकार का [शाकल्यस्य] अल्य आचार्य के मत में [लोपः] छोप होता है।। सिद्धियाँ पूर्व सूत्र र ही देख छ ।।

विशेष: - शाकल्य प्रह्मा विकल्पार्थ है। उसके विना भी पूर्व सूत्र में मुपयत्नतर आदेश एवं इस सूत्र में छोप कह देने से दो पक्ष सिद्ध ही थे, ज शाकल्य प्रहण के विकल्प से (अर्थात् पाणिनि मुनि के मतानुसार) गेप विकल्प होकर अलघुप्रयत्नतर का एक पक्ष में लोप एवं एक पक्ष में मण होकर तीन प्रयोग बनते हैं अर्थात्—एक पक्ष लघुप्रयत्नतर आदेश भ, एवं द्वितीय अल्लघुप्रयत्नतर के लोप तथा तृतीय अलघुप्रयत्नतर के क्षण का ॥

यहाँ से 'लोपः' की अनुवृत्ति ८।३।२२ तक जायेगी।।

ओतो गार्ग्यस्य ॥८।३।२०॥

ओतः ४।१॥ गार्ग्यस्य ६।१॥ अनु०—लोपः, न्योः, अज्ञि, पदस्य,

व 'यजमानस्य' (द्र० हमारा सं० १४७१ का पदपाठ)। उत्तर काल में यकार के समान मध्योदररेखा से युक्त लिखने की परिपाटी चल पड़ी। पदादि भिर की गुरु उच्चारण करते हुए ईपत्सपृष्ट प्रयत्न के स्थान पर प्रमाद से विच प्रयत्नाधिक्य रूप दोष से स्पृष्ट प्रयत्न में परिणित हो जाने से यजुर्वें में स्थान में जकार का उच्चारग होने लग गया। अपभंशों में पदादि यकार कार में परिणति का भी यही कारण है यथा—जमुना जजमान। यु॰ मी॰ ॥

उन्त

ान्त

शां

सिव

गा

PP

ग्रिस

119

गिर

संहितायाम् ॥ अर्थः—ओकारादुत्तरस्य यकारस्य छोपो भवति गार्यस्य चार्यस्य मतेनाशि परतः ॥ उदा० - भो अत्र, भगो अत्र भो इत्म्, भो इद्म् ॥ नित्यार्थोऽयमारम्भः, त्र्योकारात् परस्य वकारस्यासंभवात् यकाल नित्यं छोप एव भवति न छघुप्रयत्नतरादेश इति ।।

भाषार्थः—[ओतः] ओकार से उत्तर यकार का लोप होता है [गार्ग्यस्य] गार्ग्य आचार्य के मत में।। ओकार से उत्तर 'व्' का सम्मा ही न होने से केवल यू का सम्बन्ध सूत्रार्थ में किया है। प्रकृत मो मार्ग अघो के ओकार से उत्तर यू का छोप उदाहरणों में हुआ है।। यहाँ हुए गार्ग्य प्रहण पूजार्थ है, अतः नित्य ही छोप होता है।।

विशेष:--पूर्व सूत्र में ही 'भोभगोअघो' की अनुवृत्ति आकर ले सिद्ध था, पुनः यह नित्यार्थ सूत्र है सो य् का नित्य छोप हो जाव है, छघुप्रयत्नतर यकारादेश (८।३।१८) भी नहीं होता। इस विषय में दारे।१द सूत्र की टिप्पणी द्रष्टव्य है।।

उञ्जि च पदे ॥८।३।२१॥

डिं जि जि ।। पदे जि ।। अनु क्लोपः, न्योः, अपूर्वस्य, संहितायाम् ।। अर्थः - अवर्णपूर्वयोः पदान्तयोर्व्योर्शेपो भवति बिन व पदे परतः ॥ उदा०—स उ एकविंशतिः, स उ एकाग्निः ॥

भाषार्थः — अवर्णं पूर्व वाले पदान्त य् व् का [उवि] उव् पि पद के परे रहते [च] भी छोप होता है।। लोपः शाकल्यस्य से विकल से छोप प्राप्त था, नित्यार्थ यह सूत्र है, अतः छघुप्रयत्नतर आदेश नहीं होता ।।

हिल सर्वेषाम् ॥८।३।२२॥

इंडि ७।१॥ सर्वेषाम् ६।३॥ अनु० — छोपः, व्योः, भोभगोअषीः अपूर्वस्य, पदस्य, संहितायाम्।। अर्थः—भोभगोअघोअपूर्वस्य पदानास यकारस्य हिल परतो सर्वेषामाचार्याणां मतेन लोपो भवति॥ उदा भो इसित । भगो इसित । अघो इसित । भो याति । अगो याति । याति । बालका इसन्ति ॥

े भाषार्थ:—भो, भगो, अघो तथा अवर्ण पूर्व वाले पदान्त यकार की लि हल परे उन्हें हिंद [हिलि] हल् परे रहते [सर्वेषाम्] सब आचार्यों के मत में हों

होता है।।

अष्टमोऽध्यायः

६५७ .

विशेष:—'सर्वेषाम्' ग्रहण से शाकटायन के मत में भी हल परे रहते में होता है, अर्थात् लघुप्रयत्नतर नहीं होता।। यहाँ से 'हलि' की अनुवृत्ति दाश२३ तक जायेगी॥

मोऽनुस्वारः ॥८।३।२३॥

मः ६।१।। अनुस्वारः १।१।। अनु०—हलि, पदस्य, संहितायाम्।। मो मर्थ: पदान्तस्य मकारस्य अनुस्वारादेशो भवति हिछ परतः ॥ उदा०— हुं इसति, वनं इसति । कुण्डं याति, वनं याति ॥

भाषार्थः—पदान्त [मः] मकार को [त्रानुस्तारः] अनुस्तार आदेश

ता है, हल परे रहते, सन्धि करने में।।

यः |गदः]

11-

त्व

49

đ

۹,

₹

1

यहाँ से 'अनुस्वारः' की अनुवृत्ति ८।३।२४ तक तथा 'मः' की ८।३।२६ क जायेगी।।

नश्चापदान्तस्य झिल ॥८।३।२४॥

नः ६।१॥ च अ०॥ अपदान्तस्य ६।१॥ झिल ७।१॥ स०—पद्स्य ^{अतः} पदान्तः, षष्ठीतत्पुरुषः । न पदान्तोऽपदान्तस्तस्यः नव्तत्पुरुषः ॥, खु॰-मोऽनुस्वारः, संहितायाम्।। श्रर्थः-नकारस्य मकारस्य चाप-ालस्यानुस्वारादेशो भवति, झिळ परतः ॥ उदा०—नकारस्य पर्यासि, वासि । सर्पीषि, धनूषि । मकारस्य – आक्र'स्यते, आचिक्र'सते, अधि-ज्ञांसते ।।

१. इस सूत्र से जो अनुस्वार होता है उसको वा पदान्तस्य (८।४।४८) से खनर्ण बादेश विकल्प से होता है। उत्तर सूत्र से होने वाले अनुस्वार को श्रानु-गास्य ((। ४। ५७) से नित्य परसवर्ण होता है । वेद में पदान्त क्रमुस्वार का भी व्यवस्थित है। तदनुसार ऋग्वेद में ग्रनुस्वार रहता है, शुक्ल यजुकेंद निस परसवर्ण होता है। (यहाँ वैदिक पाठ ही ग्रभिप्रेत है, योरोपियन संस्करण ार्सवण होता है। (यहा वादक पाठ हा आपका ए जिनके आधार पर छपे अन्य संस्करणों में पदान्त में अनुस्वार देखा जाता है। भितिक पाठ से विपरीत है) अपदान्त में तो नित्य परसवर्ण होता ही है। ज़ित्य पुर्वेद में केवल 'र श ष स ह' इन पाँच वर्णों के परे ही अनुस्वार रहता मिनुनेदं में अनुस्वार का भी गुरु लघु भेद से द्विविध उचारण होता है, अतः हिंद में र श ष स ह से पूर्व प्रयुक्त विशिष्ट चिह्न अनुस्व।र के ही द्विविध शेष सह से पूर्व प्रयुक्त विशिष्ट । पत् अ विविष है। यु मी०।।

भाषार्थः — [अपदान्तस्य] अपदान्त [नः] जकार [च] तथा का से मकार को भी [मिलि] झल् परे रहते अनुस्वार आदेश होता है। पयांसि, यशांसि आदि की सिद्धि परि १।१।४६ में देखें। आह की कम् धातु के लट् छकार में आङ उद्गमने (१।३।४०) से आलनेत होकर आकंस्यते तथा सन् में पूर्ववत्सनः (१।३।६२) से आत्मनेपद होत्रा आचिकंसते बना है। अधिजिगांसते की सिद्धि सूत्र २।४।४८ में देवे यहाँ तीनों स्थलों में मकार को अनुस्वार हुआ है।।

मो राजि समः कौ ॥८।३।२५॥

मः ६।१।। राजि ७।१।। समः ६।१।। कौ ७।१।। अनु०—मः, पत्त्व, संहितायाम्।। अर्थः - समो मकारस्य मकार आदेशो भवति, किप्पतः यान्ते राज्धातौ परतः ॥ उदा०—सम्राट् , साम्राज्यम् ॥

भाषार्थ: [समः] सम् के [मः] मकार को मकारादेश [क्वी]कि वि प्रत्ययान्त [राजि] राजृ धातु के परे रहते होता है।। सम्राट् की सिंहि में , परि० ३।२।६१ में देखें। साम्राज्यम् में क्विबन्त सम्राज् शब्द से गुरु वचनबा० (४।१।१२३) से व्यञ् प्रत्यय हुआ है। यहाँ नश्चापदानासः ह से अनुस्वार की प्राप्ति थी, मकार को मकार कहने से नहीं हुआ।। मना को मकारवचन पूर्व सूत्रों से प्राप्त अनुस्वार के निवृत्त्यर्थ है॥

यहाँ से 'मः' की अनुवृत्ति ८।३।२७ तक जायेगी।।

हे मपरे वा ॥८।३।२६॥

हे ७।१॥ मपरे ७।१॥ वा अ०॥ स०—मः परो यसात् सम्प स्तिसिन् ' बहुब्रीहिः ॥ अनु० मः, मः, पदस्य, संहितायाम्॥ वर्ष मकारपरे हकारे परतो पदान्तस्य मकारस्य वा मकार आदेशो भवी उंदा ्— किम् ह्मलयित, किं ह्मलयित । कथम् ह्मलयित, कथं ह्मलयित

भाषार्थ:—[मपरे] मकार परे है जिससे ऐसे [हे] हुकार के वी कि रहते पदान्त मकार को [वा] विकल्प से मकारादेश होता है ॥ पह में पूर्व सन्न से पाए (१९३५) पूर्व सूत्र से प्राप्त (८।३।२३) अनुस्वार हो जायेगा ।। किम्, क्या परे हालयति में मकारपरक हकार है, अतः विकल्प हो गया। यहाँ से 'हे' की अनुवृत्ति ८।३।२७ तक तथा 'वा' की दार्थी हैं जायेगी ।।

तक जायेगी।।

न्भ

द्स्य,

-

६५६ .

नपरे नः ॥८।३।२७॥

तपरे ७।१॥ नः १।१॥ स०—नः परो यस्मात् स नपरस्तिसम् ।। क्रियं जितिहः ॥ श्रवः — हे, वा, मः, पदस्य, संहितायाम् ॥ अर्थः — नकारपरे किर्मित्रों परतो पदान्तस्य मकारस्य वा नकारादेशो भवति ॥ उदा०— क्रियं क्रिते, किंह्नुते । कथन्ह्नुते, कथं ह्नुते ॥

गाषार्थः — [नपरे] नकारपरक हकार परे रहते पदान्त मकार को किए से [नः] नकारादेश होता है।। पक्ष में अनुस्वार हो जायेगा।।

ङ्णोः कुक्दुक् शरि ॥८।३।२८॥

क्लाः ६।२॥ छुक्दुक् १।१॥ श्रारि ७।१॥ स०—हरच णश्च ङ्णौ,

क्षाः इतरेतरद्वन्द्वः । छुक् च दुक् च कुक्दुक्, समाहारद्वन्द्वः ॥
क्षिणि चन, पदस्य, संहितायाम् ॥ अर्थः—पदान्तयोः ङकारणकारयोः
क्षिण कुक् दुक् इत्येतावागमौ विकल्पेन भवतः शरि परतः ॥ उदा०—
क्षिप्ण कुक् दुक् इत्येतावागमौ विकल्पेन भवतः शरि परतः ॥ उदा०—
क्षिप्ण कुक् दुक् इत्येतावागमौ विकल्पेन भवतः शरि परतः ॥ उदा०—
क्षिप्ण कुक् दुक् इत्येतावागमौ विकल्पेन भवतः शरि परतः ॥ उदा०—
क्षिप्ण कुक् दुक् इत्येतावागमौ विकल्पेन भवतः शरि परतः ॥ उदा०—
क्षिप्ण कुक् दुक् इत्येतावागमौ विकल्पेन भवतः शरि परतः ॥ उदा०—
क्षिप्ण कुक् दुक् इत्येतावागमौ विकल्पेन भवतः शरि परतः ॥ उदा०—
क्षिप्ण कुक् दुक् इत्येतावागमौ विकल्पेन भवतः शरि परतः ॥ उदा०—
क्षिप्ण कुक् दुक् इत्येतावागमौ विकल्पेन भवतः शरि परतः ॥ उदा०—

भाषार्थः — पदान्त [ङ्गाः] ङकार तथा णकार को यथासङ्ख्य करके [स्टुक्] कुक् तथा टुक् आगम विकल्प करके [शिरि] शर् प्रत्याहार परे होता है।। प्राङ् आदि ङकारान्त पद हैं, सो शेते आदि के परे कि कुक् आगम अन्त को (१।१।४५) होकर प्राङ् कुक् शेते = प्राङ्क् कि वना। वण् को टुक् होकर वण्ट्शेते बन गया।।

डः सि धुट् ॥८।३।२९॥

हः ५११।। सि ७११।। धुट् १।१।। अनु०—वा, पदस्य, संहितायाम्।।
कि डिकारान्तात् पदादुत्तरस्य सकारादेः पदस्य वा धृट् आगमो
कि विता उदा०—श्वित्त्साये, श्वित्याये। मधुलिट्त्साये, मधुलिट्

भाषीर्थः—[डः] डकारान्त पद से उत्तर [सि] सकारादि पद को क्षिप से [धुट्] धुट् का आगम होता है।। श्विट् तुक् साये इ

यहाँ से 'सि घुट्' की अनुवृत्ति ८।३।३० तक जायेगी ।।

ME

नश्र ।।८।३।३०॥

नः ५११।। च अः ।। अनुः—सि धुट्, वा, पदस्य, संहितायाम्॥ अर्थ:--नकारान्तात् पदादुत्तरस्य सकीरादेः पदस्य वा घुडागमो भवि॥ उदा०-भवान्त्साये, भवान् साये । महान्त्साये, महान् साये॥

भाषार्थः—[नः] नकारान्त पद् से उत्तर [च] भी सकारादि म को विकल्प से धुट्का आगम होता है।।

यहाँ से 'नः' की अनुवृत्ति ८।३।३१ तक जायेगी।।

शि तुक् ॥८।३।३१॥

शि ७।१।। तुक् १।१।। अनु०-नः, वा, पदस्य, संहितायाम्॥ अर्थ:- पदान्ततस्य नकारस्य शकारे परतो वा तुक् आगमो भवि॥ उदा०—भवाक्च्रोते भवाञ्चोते । भवाञ्च्छेते, भवाञ्छेते । ब्रव्य सिद्धत्वात् तत्पक्षेऽपि तुग्वा भवति ॥

भाषार्थः - पदान्त नकार को [शि] शकार परे रहते [तुक्] हा आगम विकल्प से होता है।। भवान् तुक् होते = भवान् त् शेते बहित राश्कोऽटि (८।४।६२) से श्को छ विकल्प से होकर भवान त हो वि भवान् त् शेते रहा। परत्वात् छत्त्र पहले करने पर उसे असिद्ध मातम् व तुक् होगा। पश्चात् स्तोः श्चना श्चः (८।४।३६) स्नाकर त् को वृष च् कर लेने पर न् को व् (८।४।३९) हो गया। जब तुक् नहीं हुआ वे व् भवाक्रोते भवाक्छेते यहाँ भी पूर्ववत् श्चुत्व हो गया।।

ङमो हस्वादचि ङम्जण्नित्यम् ॥८।३।३२॥

ङमः ५।१॥ हस्वात् ५।१॥ अचि ७।१॥ ङमुट् १।१॥ नित्यम् ॥ स०-डम् च उट् च ङमुट्, समाहारद्वन्द्वः ॥ श्रनु०-पद्स्य, संहितायम् अर्थः — ङम् चि अर्थः — इत इत इमुद्, समाहारद्वन्द्वः ॥ श्रनु ० -पद्स्य, साहतायाः इकारादिभिः सम्बान्ति । उद्गिति प्रत्याहारप्रहण्म् । उद्गिति । ङकारादिभिः सम्बध्यते ॥ हस्वात् परो यो ङम् तद्दतात् पराहुन्तरम् ् नित्यं अमुडागमो भवति ॥ ह्रस्वात् परो यो ङम् तद्नतात् पराष्ट्र । प्रमुखानमो भवति ॥ ङणनेभ्यो यथासङ्ख्यं ङुट्, गुट्, वृह्ह्या

१. नित्यप्रहसितः, नित्यप्रज्ज्वलित इतिवत् प्रायिकार्योऽयं नित्यक्रिं, में कि कचित्र भक्ति । यथा-श्रयुदिन् सवर्णस्य ० (१।१।६८) इति विकत्त इति

तीत हिं]

मा भवन्ति ।। उदार्—ङकारान्तात् ङुट्-प्रत्यङ्ङास्ते । णकारान्ता-ह-वण्णास्ते, वण्णवोचत् । नकारान्तान्तुट्-कुर्वन्नास्ते, कुर्वन्नवोचत् । म्। जास्ते, कृषत्रवोचत् ।।

वि माषार्थः — [हस्वात्] हस्व पद से उत्तर जो [ङमः] ङम् तदन्त पद इत्तर [अचि] अच् को [नित्यम्] नित्य ही [ङमुट्] ङमुट् आगम मा है।। इम् तथा इमुट् दोनों ही स्थलों में प्रत्याहार का प्रहण किया ग है। इमुंट् यहाँ ङम् अर्थात् ङ् ण् न् इन प्रत्येक अक्षरों के साथ का सम्बन्ध करके छुट्, णुट्, तुट् ये आगम बन जाते हैं। इ ण वे तीन अक्षर ङम् प्रत्याहार में हैं, अतः ङ्को ङुट्, ण्को णुट्, गन को नुट् आगम होता है।। प्रत्यङ् ङुट् आस्ते = प्रत्यङ्ङास्ते। म्। गुर आस्ते = वण्णास्ते ।। वि॥

यहाँ से 'श्रिचि' की अनुवृत्ति ८।३।३३ तक जायेगी।।

मय उजो वो वा ॥८।३।३३॥

ुष् मयः ५।१॥ उञः ६।१॥ वः १।१॥ वा अ०॥ अनु०—अचि, ° बहितायाम्।। अर्थ:-मय उत्तरस्य उची विकल्पेन वकारादेशो भवति, क्षेषि परतः ॥ जदाः — शमु अस्तु वेदिः, शम्बस्तु वेदिः । तदु अस्य क्रितः, तद्वस्य परेतः । किमु आवपनम्, किम्वावपनम्।।

भाषार्थः—[मयः] मय् प्रत्याहार से उत्तर [उजः] उञ् अन्यय को प्रिये रहते [वा] विकल्प करके [वः] वकारादेश होता है ॥ उञ् के की इत् संज्ञा होकर 'उ' शेष रहता है, सो उस उ को विकल्प से व् ाया। राम् उ अस्तु = राम्बस्तु वेदिः। वः में अकार उच्चारणार्थ है।। की उन कें (१।१।१७) से प्रमुह्य संज्ञा हुई है, अतः प्लुत प्रमुह्याऽिच मालिम् (६।१।१२१) से प्रकृतिभाव होने से इको यग्रिच (६।१।७४) से विवादिश प्राप्त नहीं था, एतदर्थ यह सूत्र है।। वि

विंसर्जनीयस्य सः ॥८।३।३४॥

विसर्जेनीयस्य सः ॥०।र।रणा विसर्जेनीयस्य ६।१॥ सः १।१॥ अनु०—संहितायाम् । लरवसानयो० विसर्जेनीयस्य ६।१॥ सः १।१॥ अनु०—संहितायाम् । लरवसानयो० वितः 'खरि' इत्यनुवर्त्तते मण्डूकप्तुतगत्या।। अर्थः - खरि परतो भार इत्यनुवत्ततं मण्डूकप्लुतगरमा । भारतिमीयस्य सकार आदेशो भवति ॥ उदा०—वृक्षश्र्वादयति, प्रक्षश्र्वा-

दयति । वृक्षष्टकारः, प्लक्षष्टकारः । वृक्षस्थकारः, प्लक्षस्थकारः । वृक्षकि नोति, प्लक्षित्रनोति । वृक्षष्टीकते, प्लक्ष्ष्टीकते । वृक्षस्तरित प्लक्षस्तरि॥

भाषार्थः —खर् परे रहते [विसर्जनीयस्य] विसर्जनीय को सि:] सम्भ आदेश होता है।। सत्व कर लेने पर यथायोग श्चुत्व ब्दुल होई। जायंगे।। वस्तुतः खर् में से छ, ठ, थ, च, ट, त इनके परे हों। विसर्जनीय को सत्व होता है, क्योंकि अन्य अक्षरों के परे को अन्य आदेश कहेंगे।। ĮĄĮ

यहाँ से 'विसर्जनीयस्य' की अनुवृत्ति ८।३।५४ तक जायेगी॥ शपरे विसर्जनीयः ॥८।३।३५॥

सङ शर्परे ७११।। विसर्जनीयः १।१।। स० - शर् परो यस्मात् स शर्मात स्मिन् वहुत्रीहि: ।। अनु -- विसर्जनीयस्य, संहितायाम्। पूर्वेवत् सर्गे हितायाम्। त्यनुवर्त्तते ।। अर्थः -- रापरे खरि परतो विसर्जनीयस्य विसर्जनीय आरेशे ह भ्वति ।। उदा०—शशः श्चरम्, पुरुषः श्चरम्। अद्भिः प्सातम्, बार हार क्षौमम् । पुरुषः त्सरः । घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम् ॥

भाषार्थ: -[शर्परे] शर् (प्रत्याहार) परे है जिससे ऐसे खर् के गरे कि रहते विसर्जनीय को [विसर्जनीय:] विसर्जनीय आदेश होता है ॥ विम पत र्जनीय को विसर्जनीय कहने से पूर्व सूत्र से प्राप्त सत्व एवं कृषी। (८।३।३७) से प्राप्त जिह्नामूलीय तथा उपध्मानीय नहीं होते॥ संव उदाहरणों में खर् से परे शर् = श, ष, स हैं ही ॥

पहाँ से 'विसर्जनीयः' की अनुवृत्ति ८।३।३७ तक जायेगी.॥

वा शरि ॥८।३।३६॥

वा अ०॥ शरि ७१॥ अनु०—विसर्जनीयः, विसर्जनीयस्य, संहिताः याम् ॥ अर्थः—विसर्जनीयस्य विकल्पेन विसर्जनीयादेशो भवित भी परतः । उदा — वृद्धः शेते, वृक्षश्चोते । प्लक्षः शेते, प्लक्ष्ण्योते । क्ष्यः शेते, प्लक्ष्ण्योते । क्ष्यः शेते, प्लक्ष्ण्योते । क्ष्यः शेते, प्लक्ष्ण्योते । क्ष्यः षट्, कवयष्षट्। धामिकाः सन्तु, धार्मिकास्सन्तु ॥

भाषार्थः—विसर्जनीय को [वा] विकल्प से विसर्जनीय आदेश होता है। शिरि] शर परे उन्हें है, [शिरि] शर् परे रहते ॥ पक्ष में जब विसर्जनीय को विसर्जनीय है। हुआ तो यथाप्राप्त ८।३।३४ से सत्व हो गया, पश्चात् श्वुत्व दुर्व ही जायेंगे॥

कुप्वोः 💢 क 🖂 पौ च ॥८।३।३७॥

तेरः । गदः]

कि ते॥

कुष्तोः ७।२॥ ंकंपी १।२॥ च अ०॥ स०—कुश्च पुश्च कुपू का वोः इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—विसर्जनीयः, विसर्जनीयस्य, संहिता-वा ॥ श्रर्थः — कवर्गे पवर्गे च परतो विसर्जनीयस्य यथासङ्ख्यं (जिह्ना-वित्रे । श्रियः) (उपध्मानीयः) इत्येतावादेशौ भवतः, चकाराद्विसर्जनीयश्च ॥ वित्रे । वृक्षं करोति, वृक्षः करोति । वृक्षं खनति, वृक्षः खनति । क्षं पचित, वृक्षः पचित । वृक्षं फलित, वृक्षः फलित ॥

माषार्थ:—[कुप्पोः] कवर्ग तथा पवर्ग परे रहते विसर्जनीय को यथाइन्ह्य करके [ंक्रं पों] ंक अर्थात् जिह्नामूळीय तथा ंप
शर्मात् उपध्मानीय आदेश होते हैं, [च] तथा चकार से विसर्जनीय भी
हिंगे हैं। 'ंक्रं पों' यहाँ जिह्नामूळीय उपध्मानीय के चिह्नों के साथ
हिंगे हैं। 'ंक्रं पों' यहाँ जिह्नामूळीय उपध्मानीय के चिह्नों के साथ
हिंगे हैं।
श्वासान (८।३।१५) से खर् परे रहते विसर्जनीय होता है, अतः
हिंगे से ही कवर्ग पवर्ग के अक्षर कौन २ हैं, देखने हैं, क्योंकि अन्यत्र
हिंगे मिर्जनीय होगा नहीं, इस प्रकार कवर्ग में क ख तथा पवर्ग में प फ
हिंगे जिनके परे रहते विसर्जनीय को क्रमशः अर्थात्
हिंगे कि क, ख परे रहते जिह्नामूळीय, एवं पवर्ग के प, फ परे रहते उपहिंगे मिनीय आदेश होते हैं।।

यहाँ से 'कुप्वोँ:' की अनुवृत्ति ८।३।४९ तक जायेगी।।

सोऽपदादौ ॥८।३।३८॥

सः ६।१॥ अपदादौ ७।१॥ स०—पदस्य आदिः पदादिः, षष्ठीविक्रियः। न पदादिरपदादिस्तिस्मन् ः नञ्तत्पुरुषः॥ अनु०—विसर्जविक्रियः, कुप्वोः, संहितायाम्॥ अर्थः—अपदाद्योः कुप्वोः परतो विसर्जविक्रियस्य सकारादेशो भवति॥ उदा०—पयस्पाशम्, यशस्पाशम्।
विक्रियम्, यशस्क्रम्। पयस्क्रम्, यशस्क्रम्। पयस्क्राम्यति,

भाषार्थः—[अपदादौ] अपदादि (जो पद के आदि का नहीं) कवर्ग विषा पर्वा पर्वे परे रहते विसर्जनीय को [सः] सकारादेश होता है।। पूर्व

वि

च

नीर

市海

वर

सूत्र का यह अपवाद है।। याप्ये पाराप् (५।३।४०) से पयस्पाक्षम् । पाराप् प्रत्यय, तथा ईषदसमाती० (५।३।६०) से पयस्कल्पम् में कल्प् म प्रत्यय हुआ है। पयस्कम् में प्राणिवात्कः (५।३।७०) से क तथा पर्म्सम्यति में काम्यच (३।९।६) से काम्यच् प्रत्यय हुआ है। स्क्र पयस् यशस् के स् को रुख विसर्जनीय करके अपदादि विसर्जनीय होने से प्रकृत सूत्र से स् हो गया है।।

यहाँ से 'सः' की अनुवृत्ति ८१३।५४ तक तथा 'अंपदादी' के इत् ८।३।३९ तंक जायेगी ।।

इणःषः ॥८।३।३९॥

इणः ५।१॥ षः १।१॥ अनु०—अपदादौ, कुप्वोः, विसर्जनीयस्य संहितायाम् ॥ अर्थः—इण उत्तरस्य विसर्जनीयस्य पकारादेशो भवि, विसर्जनीयस्य अपदाद्योः कुप्त्वोः परतः ॥ उदा०—सर्पिष्पाशम्, यजुष्पाशम् । सर्पिष्करूपम्, यजुष्करूपम् । सर्पिष्करूपम्, यजुष्करूपम् । सर्पिष्करूपम् । सर्पिष्करूपम् । सर्पिष्करूपम् । सर्पिष्करूपम् । सर्पिष्करूपम् । यजुष्करूपम् । सर्पिष्करूपम् । यजुष्करूपम् । सर्पिष्करूपम् ।

माषार्थः—[इएा:] इण् से उत्तर विसर्जनीय को [षः] पकाराहें। होता है, अपदादि कवर्ग पवर्ग के परे रहते ।। पूर्व सूत्र से सल प्राप्त था, इण् से उत्तर तद्पवाद षत्व कह दिया ।। पूर्ववत् उदाहरणें के पाराप् आदि प्रत्यय हुये हैं, सो सर्पिस्, यजुस् के स् को विसर्जनीय है होकर पत्व हो गया है ।।

यहाँ से 'षः' की अनुवृत्ति ८।३।४८ तक जायेगी ॥

यहाँ से आगे 'ब:' तथा 'स:' दोनों की अनुवृत्ति चलती है, से हैं। से उत्तर विसर्जनीय जहाँ हो, वहाँ 'ब:' का सम्बन्ध तथा अन्यत्र 'सं का सम्बन्ध लगेगा ऐसा जानें, तद्वत् ही अनुवृत्ति हम दिखायेंगे॥

नमस्पुरसोर्गत्योः ॥८।३।४०॥

नमस्परसोः ६।२॥ गत्योः ६।२॥ स०—नम० इत्यत्रेतरेतरद्वद्वः ॥ त्रात्रुः विसर्जनीयस्य, पदस्य, संहितायाम्॥ त्रार्थः नमस् विष्
परस् इत्येतयोगितिसंज्ञकयोविसर्जनीयस्य सकारादेशो भवित, कुष्यो परतः ॥ उदा०—नमस्कत्ता, नमस्कत्त्त्रम् , नमस्कर्त्त्व्यम्॥

H

होने

Ì

भाषार्थः — [नमस्पुरसोः] नमस् तथा पुरस् [गत्योः] गतिसंज्ञक म्य गृब्दों के विसर्जनीय को सकारादेश होता है, कवर्ग पवर्ग परे रहते।। क्ष तमस् की साज्ञात्प्रभृतीनि च (१।४।७३) से तथा पुरस् की पुरोऽन्ययम् कि (शश्र) से गति संज्ञा होती हैं।। नमः कर्ता = नमस्कर्ता।।

इदुदुपधस्य चात्रत्ययस्य ॥८।३।४१॥

इदुदुपधस्य ६।१।। च अ०॥ अप्रत्ययस्य ६।१॥ स०—इच उच्च हुतौ, इतरेतरद्वन्द्वः। इदुतौ उपधा यस्य स, इदुदुपधस्तस्य वहु-ब्रीहि: । न प्रत्ययोऽप्रत्ययस्तस्य[…]नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—षः, कुप्नोः विसर्जनीयस्य, संहितायाम् ॥ श्रर्थः- इकारोपधस्य उकारोपधस्य नाप्रत्ययस्य विसर्जनीयस्य षकार आदेशो भवति, कुप्बोः परतः॥ ^{स्}, उदाः—निस्—निष्कृतम्, निष्पीतम्। दुस्—दुष्कृतम्, दुष्पीतम्। ति, बहिस्—बहिष्कृतम् , बहिष्पीतम् । आविस्—आविष्कृतम् , आविष्पी-म्। चतुर्—चतुष्कृतम्, चतुष्कपालम्, चतुष्कण्टकम्, चतुष्कलम्। हि, शहुस्-प्रादुष्कृतम्, प्रादुष्पीतम्।।

माषार्थ:-[इदुदुपधस्य] इकार और उकार उपधा में है जिसके ऐसे [अप्रत्ययस्य] प्रत्यय भिन्न विसर्जनीय को [च] भी षकार आदेश होता है, कवर्ग पवर्ग परे रहते।। सर्वत्र उदाहरणों में निः, दुः आदि के विसर्जनीय से पूर्व अर्थात् उपधा में इकार उकार हैं, अतः षत्व हो गया है। स् को रुत्व विसर्जनीय, तत्पश्चात् पत्व करने की प्रक्रिया पूर्ववत् है।।

तिरसोऽन्यतरस्याम् ॥८।३।४२॥

तिरसः ६।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ अनु० – सः, कुप्बोः, विसर्ज-गैयस्य, पदस्य, संहितायाम् । नमस्पुरसोर्गत्योः (८।३।४०) इत्यतः O तिरसो विसर्जनीयस्य किल्पेन सकारादेशो भवति, कुप्बोः परतः॥ उदा०—तिरस्कर्ता, सिकत्तुं म्, तिरस्कत्तुं व्यम्। तिरःकर्ता, तिरःकर्त्तम्, तिरःकर्त्तवंथम्॥

भाषार्थ: —[तिरसः] तिरस् के विसर्जनीय को [अन्यतरस्याम्] गाषाथ:—[तिरसः] तिरस् क । पर्याप्ति परे रहते ।। तिरस् की किन्य करके सकारादेश होता है, कवर्ग पवर्ग परे रहते ।। तिरस् की क्षिक सकारादेश होता है, क्ष्या गरा पक्ष में विसर्जनीय ही क्ष्या है। पक्ष में विसर्जनीय ही हो। कुमो:० (८।३।३७) की प्राप्ति में यह सूत्र है।।

यहाँ से 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति ८।३।४४ तक जायेगी।।

द्विस्त्रिश्चतुरिति कृत्वोऽर्थे ॥८।३।४३॥

चितीय:

र्क

fa

7 य

H

घ

च

75

F

4

4

ľ

द्विस्त्रिश्चतुः अविभक्त्यन्तिनिर्देशः ॥ इति अ०॥ क्रत्वोऽवे जशा स०—द्विश्व त्रिश्च चतुश्च द्विश्विश्चतुः, समाहारद्वन्द्वः। क्लसः अर्थः , कृत्वोऽर्थस्तिस्मन् · · षष्टीतत्पुरुषः ।। अनु - अन्यतरस्याम् , पः, कुष्योः पद्स्य, विसर्जनीयस्य, संहितायाम्।। अर्थः—द्विस्, त्रिस्, चतुर् इत्येतेषां कृत्वोऽर्थे वर्त्तमानानां विसर्जनीयस्य विकल्पेन पकार आहेश भवति, कुप्वोः परतः ॥ उदा०—द्विष्करोति, द्विः करोति । त्रिक्कोति, त्रिः करोति । चतुष्करोति, चतुःकरोति । द्विष्पचित, द्विःपचित। त्रिष्पचित, त्रिः पचित । चतुष्पचित, चतुः पचित ॥

भाषार्थः—[इत्वोऽथें] कृत्वसुच् के अर्थ में वर्त्तमान [दिविषतुः] द्विस्, त्रिस् तथा चुर् [इति] इनके विसर्जनीय को पकारादेश विकल करके होता है, कवर्ग पवर्ग परे रहते।। द्वि, त्रि तथा चतुर् शब्दों से दित्रिचतुर्भ्यः सुच् (४।४।१८) से सुच् प्रत्यय होकर द्विस्, त्रिसं, चनु बनता है। चतुर् सुच्=चतुर् स् यहाँ सुच् के स् का रातास (७।४।२४) से लोप होकर चतुर् = चतुः बना, पश्चात् इस विसर्जनीय को करोति पचति परे रहते पत्व हो गया।।

इसुसोः सामर्थ्ये ॥८।३।४४॥

इसुसो: ६।२॥ सामध्ये ७।१॥ स०—इस् च उस् च इसुसी, तयोः इतरेतरद्वन्द्वः ॥ समर्थस्य भावः सामर्थ्यम् तस्मिनः , ब्राह्मण दित्वात् (४।१।१२३) व्यव् ॥ अनु - अन्यतरस्याम् , वः, कुर्वाः विसर्जनीयस्य, संहितायाम् ॥ अर्थः - इस् उस् इत्येतयोर्वसर्जनीयस्य न्यतरस्यां षकारादेशो भवति, सामध्यें सति कुप्बोः परतः॥ उदा सर्पिष्करोति, सर्पिः करोति । यजुष्करोति यजुः करोति ॥

भाषार्थ: - [इसुसो:] इस् तथा उस् के विसर्जनीय को विकल्प है षकारादेश होता है [सामर्थ्य] सामर्थ्य होने पर, कवर्ग पर्वा परे रहते। अभिप्राय यह है कि इसन्त उसन्त शब्द (जिसका विसर्जनीय हुआ है)

[ै] १. इतिग्रहणं स्वरूपनिदेशार्थम्, स्वरूपनिदेशाय चाविभन्त्यन्तो तिदेश। यद्वा 'इतिना' इति शुक्लयजुःप्रातिशाख्ये वर्णानामितिना निर्देशः क्रियते त्येही निर्देशार्थं इति शुक्लयजुःप्रातिशाख्ये वर्णानामितिना निर्देशः निर्देशार्थ इति शब्दः, तेन चाविभनत्यन्तः ।

1

i.

I

शे

à,

1

से

H

7

य

ŀ

Ì

का कर्वा पवर्गादि शब्द जो कि परे हैं, उनके साथ परस्पर सामर्थ्य = सम्बद्धार्थता होने पर षत्व हो।। सर्पिस् यजुस् शब्द इसन्त उसन्त हैं ही।।

यहाँ से 'इसुसोः' की अनुवृत्ति ८।३।४५ तक जायेगी।।

नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य ॥८।३।४५॥

नित्यम् १।१॥ समासे ७।१॥ अनुत्तरपदस्थस्य ६।१॥ स० — उत्तरपदे विष्ठतीति उत्तरपदस्थः, तत्पुरुषः । न उत्तरपदस्थोऽनुत्तरपदस्थस्तस्यः न्वतृत्पुरुषः ॥ अनु० — इसुसोः, षः, कुप्वोः, विसर्जनीयस्य, संहितागम् ॥ अर्थः — समासे इसुसोरनुत्तरपदस्थस्य विसर्जनीयस्य नित्यं षस्वं भवति कुप्वोः परतः ॥ उदा० — सपिषः कुण्डिका = सपिष्कुण्डिका, षनुष्कपालम् , सपिष्वानम् , धनुष्फलम् ॥

भाषार्थः—[अनुत्तरपदस्थस्य] अनुत्तरपदस्थ (जो उत्तरपद में स्थित नहों) इस् उस् के विसर्जनीय को [समासे] समास विषय में [नित्यम्] नित्य ही पत्व होता है, कवर्ग पवर्ग परे रहते॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।३।४७ तक जायेगी॥

अतः कुकमिकंसकुम्भपात्रकुशाकर्णीव्वनव्ययस्य ॥८।३।४६॥

अतः ५११॥ कुकिम "कर्णीषु ७।३॥ अनव्ययस्य ६।१॥ स०—कृ व किमिश्च कंसश्च कुम्भश्च पात्रञ्च कुशा च कर्णी च कुकिम "कर्ण्यस्तेषु" तिरेतरद्वन्द्वः । न अव्ययमनव्ययं तस्य "नव्यत्यस्व ॥ अवृ०—िन्यं सम।सेऽनुत्तरपद्स्थस्य, सः, विसर्जनीयस्य, संहितायाम् ॥ अर्थः—अकारादुत्तरस्य समासेऽनुत्तरपद्स्थस्यानव्ययस्य विसर्जनीयस्य नित्यं सकारादेशो भवति कु, किम, कंस, कुम्भ, पात्र, कुशा, कर्णी इत्येतेषु परतः ॥ किरा० कु—अयस्कारः, पयस्कारः । किम—अयस्कामः, पर्यस्कामः । किरा० कु—अयस्कारः, पयस्कारः । कुम्भ-अयस्कुम्भः, पयस्कुम्भः । पात्र-अयस्कंसः, पयस्कामः । कुशा-अयस्कुशा, पयस्कुशा । कर्णी-अयस्कर्णी, प्यस्कर्णी ॥

भाषार्थः—[त्रातः] अकार से उत्तर समास में जो अनुत्तरपदस्थ [त्रमन्ययस्य] अनव्यय का विसर्जनीय उसको नित्य ही, सकारादेश

वृतीय:

9

3

1

3

Ŧ

1

(

đ

होता है, [इकिम "कर्णीषु] कु, किम (धातु) कंस, कुम्भ, पात्र, कुवा कर्णी इन २ शब्दों के परे रहते ।। कुटबोः 💢 क 💢 पौ च (८।३।३७) की प्राप्ति में ही इस प्रकरण से सत्व, षत्व कहा गया है, अतः यह सूत्र भी तदपवाद है।।

अधःशिरसी पदे ॥८।३।४७॥

अधःशिरसी ११२, षष्ट्यर्थे प्रथमाऽत्र ॥ पदे ७११॥ स०-अधस् च शिरस् च अधःशिरसी, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु - नित्यं समासेऽनु त्तरपदस्थस्य, सः, विसर्जनीयस्य, पदस्य, संहितायाम् ॥ अर्थः-अवस्, क्रिरस् इत्येतयोर्विसर्जनीयस्य समासेऽनुत्तरपद्स्थस्य सकार आदेशे भवति पद्शब्दे परतः ।। उदा०—अधस्पद्म् , शिरस्पद्म् । अधस्पदी, शिरस्पदी ॥

भाषार्थः - समास में अनुत्तरपद्स्थ [अधःशिरसी] अधस् तथा शिरस् के विसर्जनीय को सकार आदेश होता है, [पदे] पद शब्द परे रहते ।। अधस्पदम् तथा शिरस्पदम् में षष्टी तत्पुरुष समास हुआ है॥

कस्कादिषु च ॥८।३।४८॥

कस्कादिषु ७।३।। च अ०।। स०—कस्क आदिर्येषां ते कस्कार यस्तेषु ' 'बहुव्रीहि: ॥ श्रनु - सः, षः, कुप्तोः, विसर्जनीयस्य, पदस्य, संहितायाम्।। अर्थः—कस्कादिषु गणपिठतेषु च विसर्जनीयस्य सकारः षकारो 'वा यथायोगमादेशो भवति, कुप्वोः परतः॥ उदाः—क्रि कौतस्कुतः, भ्रातुष्पुत्रः॥

भाषार्थ:—[कस्कादिषु] कस्कादि गणपठित शब्दों के विसर्जनीय के [च] भी सकार अथवा षकार आदेश यथायोग से होता है, कर्वो पर्वा परे रहते ।। इस पः (८।३।३९) सूत्र में कहे अनुसार इस् से उत्तर की होगा, वहाँ विसर्जनीय को पकार तथा अन्यत्र सकार होगा। करकः में किम् को क (७।२।१०३) आदेश होकर 'कः' को वीप्सा में द्वित्व'त्या कीतरकतः में कौतस्कुतः में कुतः को वीप्सा में द्वित्व हुआ है, पुनः उसी विसर्जीय को सत्व हो गुनः को सत्व हो गया। कुतस्कुतः होकर तत श्रागतः (४।३।७४) से का तथा अन्ययानां च० (वा० ६।४।१४४) से कुतस्कुतः के टि भाग

पादः]

Ą

T

,

६६६

ब्रोप होकर कौतस्कुतः बना है।। भ्रातुष्पुत्रः में ऋतो विद्या० (६।३।२१) से षष्टी का अलुक् होकर पत्व हुआ है।।

छन्दिस वाऽप्राम्ने डितयोः ॥८।३।४९॥

अन्द्सि ७११। वा अ०॥ अप्राम्नेडितयोः ७१॥ स०—प्रश्च आम्नेडितक्क प्राम्नेडिते, न प्राम्नेडिते अप्राम्नेडिते तयोः दृन्द्रगर्भन्य्-तसुरुषः ॥ अनु०—सः, कुप्बोः, पदस्य, संहितायाम् ॥ अथः—प्रश्नब्दम् आम्नेडितक्क वर्जियित्वा कुप्बोः परतश्कुन्द्सि विषये विसर्जनीयस्य वा सकारादेशो भवति ॥ उदा०—अयः पात्रम्, अयस्पात्रम् । विश्वतः-पात्रम्, विश्वतस्पात्रम् । उरुणः कारः, उरुणस्कारः ॥

भाषार्थः—[अप्राम्ने जितयोः] प्र तथा आम्ने हित को छोड़कर जो कर्वा तथा पवर्ग परे हों तो [छन्दिस] वेद विषय में विसर्जनीय को [वा] विकल्प से सकारादेश होता है।। अयःपात्रम् आदि में षष्ठीतत्पुरुष समास कर लेने पर अतः क्रकिंगः (८।३।४६) से नित्य सत्व प्राप्त था विकल्प कर दिया। 'उरुणः' यहाँ उरु शब्द से उत्तर अस्मद् को बहुवचनस्य वस्नरःौ (८।१।२१) से नस् आदेश, तथा नश्च धातुस्थोः (८।४।२६) से णत्व एवं विसर्जनीय होकर उरुणःकारः बना। पक्ष में सत्व होकर उरुणस्कारः बना। पक्ष में सत्व होकर उरुणस्कारः बन गया।।

यहाँ से 'छन्दिस' की अनुवृत्ति ८।३।५४ तक जायेगी।।

कः करत्करतिकृधिकृतेष्वनिदतेः ॥८।३।५०॥

कःकरत् ''कृतेषु ७।३॥ अनिद्तेः ६।१॥ स०—कःकर० इत्येत्रेतरेतरद्वन्द्वः । न अदितिरनिद्तिस्तस्य ''नञ्तस्पुरुषः ॥ अनु »—छन्द्रसि,
सः, पदस्य, संहितायाम् ॥ अर्थः —कः, करत्, करित, कृषि, कृत इत्येतेषु
पतोऽनिद्तिविसर्जनीयस्य सकारादेशो भवित छन्द्सि विषये ॥ उदा०—
कः—विश्वतस्कः । करत्—विश्वतस्करत् । करित—पयस्करित । कृषि—
विश्वतस्कः । कर्त्—विश्वतस्करत् । करित—पयस्करित । कृषि—

ंभाषार्थः—[कः कः तेषु] कः, करत्, करित, कृषि, कृत इनके परे इते [अनिदिते:] अदिति को छोड़कर जो विसर्जनीय उसको सकारादेश हैता है वेद विषय में ॥ 'कः' कु का लुङ् में च्लि का लुक् (२।४।८०)' हैलं० (६।४।७५) से अडमाव, गुण एवं ६।१।६६ से तिप का त् लोप

[वृतीयः

9

(7

H U

ş

ŧ

a

a

Ş

Į.

f

H

पा H

पा

6

करके रूप है।। नस् आदेश (८।१।२१) के विसर्जनीय को यहाँ स्त तथा नश्च धात्० (८।४।२६) से न को ण हुआ है।।

पश्चम्याः परावध्यर्थे ॥८।३।५१॥

पद्धम्याः ६।१॥ परौ ७।१॥ अध्यर्थे ७।१॥ स०-अधेरर्थोऽन्यर्थः तस्मिन् "षष्टीतत्पुरुषः ॥ अनु - छन्दसि, सः, पदस्य, संहितायाम्॥ अर्थ: अध्यर्थे वत्तमानो यः परिस्तस्मिन् परतः पद्धमीविसर्जनीयस सकारादेशों भवति छन्दसि विषये।। उदा०—दिवस्परि प्रथमं जी (ऋ० १०।४५।१) अग्निर्हिमवतस्परि । दिवस्परि, महस्परि ॥

माषार्थ:-[अध्यर्थे] अधि के अर्थ में वर्त्तमान जो [परी] परि उपसर्ग उसके परे रहते [पश्चम्याः] पश्चमी के विसर्जनीय को सकाराहेश होता है, वेद विषय में ।। अधि ऊपर अर्थ में है, सो यहाँ उदाहरण में 'परि' अधि के अर्थ में अर्थात् ऊपर अर्थ में है। दिवस्परि अर्थात् अग्नि पह हे चौ लोक से परि = ऊपर उत्पन्न हुआ । इसी प्रकार 'अग्नि हिमवान से ऊपर' ऐसा अर्थ है।।

यहाँ से 'पश्चम्याः' की अनुवृत्ति ८।३।५२ तक जायेगी।।

पातौ च बहुलम् ॥८।३।५२॥

पातौ ७।१॥ च अ०॥ बहुलम् १।१॥ श्रनु०—पञ्चभ्याः, ब्रन्हि, सः, पद्स्य, संहितायाम्।। अर्थः—पातौ च धातौ परतः पद्धमीविसर्जनी यस्य बहुछं सकार आदेशो भवति छन्दसि विषये ।। उदा०—दिवस्पातु। राज्ञस्पातु ।॰ बहुछप्रहणात् न च भवति—परिषदः पातु ॥

भाषार्थ:—[पातौ] पा धातु के प्रयोग परे हों तो [च] भी पद्भी के विसर्जनीय को [बहुलम्] बहुल करके सकार आदेश होता है, देर विषय में ।।

षष्ट्याः पतिपुत्रपृष्ठपारपद्पयस्पोषेषु ॥८।३।५३॥ षष्ठ्याः ६।१॥ पतिः चेषु ७।३॥ स०—पति० इत्यत्रेतरेतरप्रदं श्रेतु १ — छन्द्सि, सः, पद्स्य, संहितायाम् ॥ श्रर्थः — पति, पुत्र, पृष्ठ। पार, पद, पयस्, पोष इत्येतेषु परतश्ळुन्द्सि विषये षष्ठीविसर्जनीयस् सकारादेको अस्ति सकारादेशो , भवति ।। उदा०—पति—वाचस्पति विश्ववर्माणमूत्रवे P.

1

đ

हिनस्पृष्ठे धावमानं सुपर्णम् । पार—अगन्म तमसस्पारम् । पद—इडस्पदे सिमध्यसे (ऋ०१०।१९४।१) । पृष्ठ— त्वस्पृष्ठे धावमानं सुपर्णम् । पार—अगन्म तमसस्पारम् । पद—इडस्पदे सिमध्यसे (ऋ०१०।१९११) । पयस्—सूर्यं चक्षुदिवस्पयः । पोष— ग्रायस्पोषं यजमानेषु धत्तम् (ऋ०८।४९।७) ॥

भाषार्थः—[पितः पोषेषु] पित, पुत्र, पृष्ठ, पार, पद, पयस्, पोष इत शब्दों के परे रहते वेद विषय में [षष्ट्याः] षष्ठी विभक्ति के विसर्जनीय को सकारादेश होता है।। सवंत्र षष्ठी विभक्ति के विसर्जनीय को सत्व हुआ है। वाचः पितम् = वाचस्पितम् अर्थात् वाणी का स्वामी।। यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।३।५४ तक जायेगी।।

इडाया वा ॥८।३।५४॥

इडायाः ६।१।। वा अ०।। ऋनु०—षष्ट्याः पतिपुत्रपृष्टपारपद्पयस्योषेषु, छन्दसि, सः, पदस्य, संहितायाम्।। ऋथः—इडायाः षष्टी-विसर्जनीयस्य वा सकार आदेशो भवति पतिपुत्रादिषु परतः, छन्दसि विषये।। उदा०—इडायास्पतिः, इडायाःपतिः। इडायास्पुत्रः, इडायाःपुत्रः। इडायास्पुष्टम्, इडायाः पृष्टम्। इडायास्पारम्, इडायाः पारम् । इडायास्पदम्, इडायाःपदम्। इडायास्पयः, इडायाःपयः। इडायास्पो-पम्, इडायाः पोषम्।।

भाषार्थ:—[इडाया:] इडा शब्द के षष्ठी विभक्ति के विसर्जनीय को बिन कि विसर्जनीय को बिन कि विसर्जनीय को बिन कि विकल्प से सकार आदेश होता है पति, पुत्र, पृष्ठ, पार, पद, प्यस्, पोष शब्दों के परे रहते वेद विषय में ॥ पूर्व सूत्र से नित्य सब प्राप्त था, विकल्पार्थ यह सूत्र है ॥

अपदान्तस्य मूर्घन्यः ॥८।३।५५॥

अपदान्तस्य ६।१॥ मूर्धन्यः १।१॥ स०—पदस्य अन्तः पदान्तः, वितित्पुरुषः । न पदान्तोऽपदान्तस्तस्यः नन्तत्पुरुषः ॥ मूर्धिन भवो पूर्धन्यः, शरीरावयवाद्यत् (५।१।६) इति यत्प्रत्ययः ॥ अर्थः—आ पद्मिन्यः, शरीरावयवाद्यत् (५।१।६) इति यत्प्रत्ययः ॥ अर्थः—आ पद्मिर्परसमाप्तेरपदान्तस्य मूर्धन्यादेशो भवतीत्यधिकारो वेदितव्यः ॥ अपित्पर्याः वद्यति— आदेशप्रत्यययोः । सिषेच, सुष्वाप । अग्निषु, वायुषु ॥ अग्वान्तस्य अपदान्त को [मूर्धन्यः] मूर्धन्य आदेश साष्ट्रिक् ऐसा अधिकार पाद की समाप्ति पर्यन्त (८।३।११६) जाता है, ऐसा अधिकार पाद की समाप्ति पर्यन्त (८।३।११६) जाता है,

मूर्धन्य से अभिप्राय मूर्धा से बोले जाने वाले अक्षर से है, सो भू का मूर्धन्य 'ब्' आदेश उदाहरणों में हुआ है।।

षिचिर् क्षरणे विष्वप् शये से छिट् में धात्वादेः षः सः (६।१।६१) तार्व से ष् को स् होकर सिषेच, सुष्वाप वना है। स्वप् के अभ्यास के लिट्यभ्यास ० (६।१।१७) से सम्प्रसारण होकर सु स्वप् णल्= सु लाग् अ, सि सेच् अ रहा। अब यहाँ धात्वादेः षः सः से ष् को स् होने हे आदेश का स् मानकर आदेशप्रत्य० से मूर्घन्य आदेश होकर सिषेच सुष्वाप वन गया। अग्निषु वायुषु में प्रत्यय का स् मानकर पत हुआ है।।

सहेः साडः सः ॥८।३।५६॥

सहे: ६।१॥ साड: ६।१॥ सः १।१॥ श्रनु०—अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ श्रर्थः— सहेर्धातोर्यत् साड्क्षपं तस्य सकारस्य मूर्धन्य आदेशो भवति ॥ उदा०—जलाषाट् , तुराषाट् , पृतनाषाट्॥

भाषार्थः—[सहः] सह धातु का बना हुआ जो [साडः] साड् ह्य डसके [सः] सकार को मूर्धन्य आदेश होता है।। जल इत्यादि उपपर रहते सह धातु से छन्दिस सहः (३।२।६३) से जिल्ल होकर एवं सह् की उपधा को वृद्धि तथा हो ढः (८।२।६१) से ढत्व, तथा जश्त्व होकर 'साड्' रूप बना है, उसीको यहाँ घत्व हुआ है। अन्येवामिश (६।३।१३५) से जल आदि को दीर्घ होकर जलापाट्, तुरापाट्, पूर्वी घाट् बन गुया।।

यहाँ से 'सः' की अनुवृत्ति ८।३।११९ तक जायेगी।।

इण्कोः ॥८।३।५७॥

इण्कोः ४।१॥ स०—इण् च कुश्च इण्कु तस्मात्" समाहारदृष्ः॥ श्रर्थः—इतोऽमे वद्त्यमाणानि कार्याणि इण्कवर्गाभ्यामुत्तरस्य भवतीर्वः धिकारो वेदितव्यः, आपाद्परिसमाप्तेः॥ कु इत्यनेन कर्वास्य प्रहण्म। इण् इत्यनेन परणकारेण प्रत्याहारो गृह्यते॥ उदा०—सिषेच, मुध्वाप। अग्निषु, वायुषु, कर्त्तृषु, गीषुं, वाक्षु, त्वक्षु॥

पेच

ल

74

ĝo

11-

1 ı

1

भाषार्थ: - यह अधिकार सूत्र है। यहाँ से आगे जो भी कार्य कहेंगे [इएकी:] इण् और कवर्ग से उत्तर होते हैं, ऐसा अधिकार पाद की माप्ति पर्यन्त जानना चाहिये।। अग्निषु आदि में इण् से उत्तर तथा बाह्य त्वक्षु में कवर्ष से उत्तर के उदोहरण हैं। वाच् त्वच् के च् को चो:कु: (।२।३०) से क् हुआ है, सो सर्वत्र श्रादेशप्र० (८।३।५६) से पत्व हो गए गया।। इण् से पर णकार (लरण् तक के) वाले प्रत्याहार का अहण है।।

^र चुम्बिसर्जनीयश्चर्यवायेऽपि ॥८।३।५८॥

नुम्वि वाये ७।१॥ अपि अ०॥ स० नुम्च विसर्जनीयश्च शर् र तुम्वि ''शरः , इतरेतरद्वन्द्वः । तुम्विसर्जनीयश्रिः व्यवायः तुम्वि '' क्यंवायस्तिस्मन् ' 'तृतीयातत्पुरुषः ॥ अनु० सः, इण्कोः, अपदान्तस्य र्श्वन्यः, संहितायाम् ।। अर्थः नुम्वयवायेऽपि विसर्जनीयव्यवायेऽपि क्विंवायेऽपि इण्कोरुत्तरस्य सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति॥ उदा०— ग्न्यवाये-सर्पांषि, यजूंषि, हवींषि । विसर्जनीयव्यवाये-सर्पिःषु, ग्जुःषु, हविःषु । शर्व्यवाये-सर्पिष्षु, यजुष्षु, हविष्षु ॥

माषार्थः — [नुम्वः वाये] नुम्, विसर्जनीय तथा शर् (प्रत्याहार) EV. प विवयवधान होने पर [अपि] भी इण् तथा कवर्ग से उत्तर सकार को बी पूर्णन्य आदेश होता है।। अभिप्राय यह है कि इण् और कवर्ग से उत्तर क जिसे पत्व करना है उसके मध्य में नुम् आदि का न्यवधान हो तो भी वि हो जाये।। सर्पीवि आदि में सर्पिस् शब्द से जरशसोःशिः (७।१।२०) विश्वतथा नपुंसकस्य कलचः (७।१।७२)से नुम् एवंसान्तमहतः (६।४।१०) विर्वि होकर 'सर्पी न स् इ' रहा। अब यहाँ नुम् के व्यवधान में भी ल तथा न को अनुस्वार (८।३।२४) होकर सर्पीषि बन गया। सिर्पःषु गिद् में वा शिर से पक्ष में स् को विसर्जनीय तथा पक्ष में सत्व (इनके व्यवधान में भी पूल कर भी पर सर्पिष्यु आदि में मध्य के स्को ष्(८।४।४०) भी हो गया।। यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति दाशिश्ह तक जायेगी।।

आदेशप्रत्यययोः ॥८।३।५९॥

आदेशप्रत्यययोः ६।२॥ स० – आदेशश्च प्रत्ययश्च आदेशप्रत्ययौ भो: 'इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—नुम्विसर्जनीयशव्यवायेऽपि, 83

षि

होन

निर

को में

तथ

ile.

सहि

पत

वद

3 8

图

इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम्।। त्रर्थः—इण्कवर्गाभ्यासुः त्तरस्य आदेशो यः सकारः प्रत्ययस्य च यः सकारस्तस्य मूर्धन्यादेशो भवति, संहितायाम्।। उदा०—आदेशस्य-सिषेच, सुष्वाप। प्रत्ययस्य-अग्निषु, वायुषु, कर्त्तृषु, हर्त्तृषु।।

भाषार्थः - इण् तथा कवर्ग से उत्तर [आदेशशत्यययोः] आदेश हा जो सकार तथा प्रत्यय का जो सकार उसे मूर्धन्यादेश होता है। सिद्धियाँ ८१३।५५ सूत्र पर आ चुकी हैं।।

शासिवसिवसीनां च ॥८।३।६०॥

शासिवसिघसीनाम् ६।३॥ च अ०॥ स०—शासिश्च वसिश्च स्थानित्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः—शासि, वसि, घित इत्येतेषां च सकारण इण्कोरुत्तरस्य, मूर्धन्यादेशो भवति ॥ अनादेशार्थमिदं स्त्रम् ॥ उदा०—शासि—अन्वशिषत् , अन्वशिषताम् , अन्वशिषन् । शिष्टः, शिष्टवान्। वसि—जस्तुः, जक्षुः, अक्षनमी वसि—उपितः, उपितवान्, उपित्वा । घिस—जस्तुः, जक्षुः, अक्षनमी अपदन्त पितरः ॥

माषार्थ:—इण् तथा कवर्ग से उत्तर [शासि: सीनाम्] शासु बस्त तथा घस् के सकार को चि भी मूर्धन्य आदेश होता है।। आदेश का स्न होने से पूर्व सूत्र से पत्व प्राप्त नहीं था, विधान कर दिया। अशिषत् की सिद्धि परि० ३।१।५६ में तथा शिष्टः शिष्टवान् की सृत्र ६।४।३४ में देखें। उषितः उषितवान् में विचस्वर्पि० (६।१।१५) से सम्प्रसारण एवंविचस्विप० (७।२।५२) से इट् हुआ है। जक्षतुः जक्षः तथा अक्षन् कीसिद्धि परि० १।१।५७ में देखें। घसि से यहाँ घरत अदने धी तथा घरत आदेश दोनों का ही प्रहण है।।

स्तौतिण्योरेव षण्यभ्यासात् ॥८।३।६१॥

स्तौतिण्योः ६।२॥ एव अ०॥ षणि ७।१॥ अभ्यासात् ५११॥ स० स्तौतिश्च णिश्च स्तौतिणी तयोः इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अन्छ० सः, इण्कीः अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः — अभ्यासादिण उत्तर्यः स्तौतेण्यन्तानां च षत्वभूते सनि परत आदेशसकारस्य मूर्धन्यदिशे भवति ॥ सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः ॥ उदा० — तुष्ट्यवि । ज्यतीः नाम्-सिषेच्यिषति । सिषञ्जयिषति, सुष्वापयिषति ॥ V

1

H

3

7

६७४ .

यहाँ से 'णे: वरायभ्यासात्' की अनुवृत्ति ८।३।६२ तक जायेगी।।

सः स्विद्स्विद्सहीनां च ॥८।३।६२॥

सः १११।। स्विद्स्विद्सिहीनाम् ६१३।। च अ०।। स०—स्विद् विदेशेतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु ०—णेः षण्यभ्यासात् , सः, इण्कोः, अप-गन्तस्य, संहितायाम् ।। अर्थः —अभ्यासादिण उत्तरस्य स्विद्, स्विद, स्विद्, स्विद्, स्विद्, स्विद्, स्विद्, स्विद्, स्विद्, स्विद,

माषार्थः — अभ्यास के इण् से उत्तर [स्विदिः हीनाम्] निष्विदा विद तथा वह इन ण्यन्त धातुओं के सकार को [सः] सकारादेश होता है, पत्नभूत सन् के परे रहते [च] भी।। धात्वादेः वः सः (६।१।६२) विभातुओं के ष्को स् हुआ है, अतः आदेश का सकार मानकर पूर्व हिन से पत्व प्राप्त था, सकार को सकार ही कह देने से उसकी निवृत्ति

शाक्सताद्र व्यवायेऽपि ॥८।३।६३॥ शाक् अ०॥ सितात् ५।१॥ अड्व्यवाये ७।१॥ अपि अ०॥ स०—

१. एकस्य पदस्यानुवृत्तत्वादेकवचनम् ॥

^{े,} न्यासपदमञ्जयोः 'स स्विदि' पाठः । तथाऽविभनस्यन्तम् ।

[वृतीय:

र्वात् :

ei

की व

र्ज वि

में दे

से वि

सेन होक

ब्रादे

भ्रभ

वि नेय

अन्य

गतं

₩,

गेरी सेंच,

गये

न्त्रीक्ष

विदि

क्रम

नोभ निम

गिम

可是

अदा व्यवायः अड्व्यवायस्तस्मिन् "तृतीयातत्पुरुषः॥ श्रवुः—सः इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम्।। अर्थः-प्राक् सित्राब्दाः अडच्यवायेऽपि मूर्धन्यो भवति अपि ब्रह्णाद्नड्व्यवायेऽपि॥ उदाः-वस्यति-उपसर्गात् सुनोति० (८।३।६५) इति पत्वं तत्राड्व्यवायेऽभि भवति—अभ्यषुणीत्, पर्यषुणीत्, व्यषुणीत्, न्यषुणीत्।। अनद्व वायेऽपि — अभिषुणोति, परिषुणोति, विषुणोति, निषुणोति॥

भाषार्थ:-[सितात्] सित शब्द से [प्राक्] पहले २ [अड्यवारे] अट् का र्वयवधान होने पर तथा अपि शहण से अट् का व्यवधान ह होने पर [अप] भी सकार को सूर्धन्य आदेश होता है।। तात्पर्य यह है कि इण् और कवर्ग से उत्तर जिसे पत्व करना है उसके मध्य में अट् ब व्यवधान हो तो भी षत्व हो जाये।। सित से परिनिविभ्यः सेविसितः (८।३।७०) का सित छिया है, सो उससे पूर्व पूर्व अट् के व्यवधान में भी षत्व होगा ।। अभि अपुणोत् = अभ्यपुणोत् ।।

यहाँ से 'अड्व्यवायेऽपि' की अनुवृत्ति ८।३।७० तक तथा 'म्रा ुसितात्' की ८।३।६४ तक जायेगी।।

स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य ॥८।३।६४॥

स्थादिषु ७।३॥ अभ्यासेन ३।१॥ च अ०॥ अभ्यासस्य ६११॥ स० - स्था आदियेषां ते स्थाद्यस्तेषु वहुव्रीहि:।। श्रुनु - प्राष् सिताद् इव्यवायेऽपि, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धस्यः, संहितायाम्॥ अर्थः स्थादिषु प्राक् सित्राब्दाद्भ्यासेन व्यवाये सकारस्य मूर्धन्यादेशी भवति, अभ्याससकारस्य च भवतीत्येवं वेदितव्यम्।। उदा० — अभितर्षी परितष्टो । अभिषिषेण्यिष्ति, परिषिषेण्यिषति । अभिषिषिक्ष्ति, परि विषिक्षति ॥

भाषार्थ:—सित से पहले पहले [स्थादिषु] स्था इत्यादियों में अर्थात स्था से लेकर सित पर्यन्त [अभ्यासेन] अभ्यास का व्यवधान होते पर भी मूर्धन्य आदेश होता है, चित्र तथा [अभ्यासस्य] अभ्यास को भी मूर्धन्य होता है के स्वीति मूर्धन्य होता है, ऐसा जानना चाहिये।। स्था से उपसर्गात् सुनीतिः (८४३।६५) में (८१३।६५) में जो स्था कहा है, उसका ग्रहण है, सो उस स्था से हेका सितपर्यन्त अभ्यास के ज्यवाय में पत्व होगा ।। अभितष्ठी में इण ह्या हार अन्त वाला अभ्यास के ज्यवाय में पत्व होगा ।। अभितष्ठी में इण ह्या हार अन्त वाला अभ्यास न होने से पत्व की प्राप्ति नहीं थी कह हिया

E00

वंधिच घातु से अभिषिषिक्षति में स्तौतिएयोरेवं० (८।३।६१) के नियम क्षे व्यावृत्ति से बत्व प्राप्त नहीं था, प्रकृत सूत्र से हो गया।। अभितष्ठी क्षे सिद्धि सूत्र ०।१।३४ में देखें।। अभिषेणयित की सिद्धि सूत्र ३।१।२५ में देखें, तद्वत् 'अभिसेन णिच्' रहा। णाविष्ठवत् प्राति० (वा० ६।४।१५५) में देखें, तद्वत् 'अभिसेन णिच्' रहा। णाविष्ठवत् प्राति० (वा० ६।४।१५५) में देखें, तद्वत् 'अभिसेन इ इट् सन् रहा। गुण अयदिशं करके सेनियव' घातु वनी, तो रूपातिदेश होकर द्वित्व एवं अभ्यास कार्य किर 'अभि सि सेनियव' रहा। अब यहाँ आदेश का सकार न होने से बादेशप्र० (८।३।५६) से बत्व प्राप्त नहीं था, प्रकृत सूत्र से होकर अभिषिषेणयिषति वन गया।।

सूत्र में 'अभ्यासस्य' ब्रहण नियमार्थ है, क्योंकि अभ्यास की कि तो उपसर्गात् सुनोति से उपसर्ग से उत्तर सिद्ध ही था सो कियम हुआ कि—स्थादियों में ही अभ्यास के सकार को मूर्धन्य हो अपों को नहीं।।

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।३।७० तक जायेगी।।

उपसर्गात् सुनोतिसुवतिस्यतिस्तौतिस्तोभतिस्थासैनय-सेथसिचसञ्जस्वञ्जाम् ॥८।३।६५॥

हपसर्गात् ५।१॥ सुनोतिः 'स्वझाम् ६।३॥ स०—सुनोति० इत्यत्रेतितिद्वन्द्वः ॥ अनु०—स्थाद्विवभ्यासेन चाभ्यासस्य, अड्व्यवायेऽपि,
तितिद्वन्द्वः ॥ अनु०—स्थाद्विवभ्यासेन चाभ्यासस्य, अड्व्यवायेऽपि,
तितिद्वन्द्वः ॥ अनु०—स्थाद्विवभ्यासेन चाभ्यासस्य, अड्व्यवायेऽपि,
तिति, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः—उपसर्गस्यात्रिः
तिति, स्थाद्वेषु अभ्यासेन चाभ्यासस्य ॥ उदा०—सुनेति—अभिन्ति, स्थाद्वेषु अभ्यासेन चाभ्यासस्य ॥ उदा०—सुनेति—अभिन्ति, परिषुवित अभ्यष्ठवत् , पर्यषुवत् । स्यति—अभिन्ति, परिषुवति । अभ्यषुवत् , पर्यषुवत् । स्यति—अभिन्ति, परिषुवति । अभ्यषुवत् , पर्यष्ठवत् । स्थान्विति, परिषुवति । अभ्यष्ठवित् । स्थान्विति, परिषुवति । अभ्यष्ठवित् । स्थान्विति, परिष्ठवित् । स्थान्विति, परिष्ठवित् । अभ्यष्ठवित् । स्थान्विति, परिष्ठवित् । अभ्यष्ठवित् । अभ्यष्ठवित् । अभ्यष्ठवित् । स्थान्विति, परिष्ठवित् । अभिविवेष्यिति, परिषेष्वति । स्थान्विति, परिषेष्वति । अभ्यष्ठवित् । स्थान्वित् । स्थान्विष्यति, परिषेष्वति । अभ्यष्ठवित् । स्थान्वित् । स्थान्विष्वति, परिषेष्वति । अभ्यष्ठवित् । स्थान्वित् । स्यान्वति । स्थान्वित् । स्थान्वति । स्यान्वति । स्थान्वति । स्यान्वति । स्थान्वति । स्थान्वति । स्थान्यति । स्थान्वति । स्थान्यति । स्यान्वति । स्यान्वति । स्यान्वति । स्यान्वति । स्यान्वति । स्

उद

त्रिह

भयो

TOR

षेध। सिच- अभिषिद्धति, परिषिद्धति। अभ्यषिद्धत्, पर्यपिद्धत्। प्रि अभिषिषिच्चति, परिषिषिक्षति । सञ्ज—अभिषजति, परिषजति । अयः सेन षजत्, पर्यपजत् । अभिषिषङ्क्षति, परिषिषङ्क्षति । स्वञ्ज-अभिष् संवि जते, परिष्वजते । अभ्यष्वजत, पर्यष्वजत । अभिषिष्वङ्क्षते, परिष् गृह व्बङ्क्षते ॥

भाषार्थः—[उपसर्गात्] उपसर्गस्थ निमित्त से उत्तर [सुनोतिः विष स्वजाम्] सुनोति, सुवति, स्यति, स्तौति, स्तोभिति, स्था, सेन्य, सेन (षिध्) सिच, सञ्ज, स्वञ्ज इनके सकार को मूर्धन्यादेश होता है, अर्गर् के ज्यवाय में भी तथा स्थादियों के अभ्यास के ज्यवाय में, ए •अभ्यास को भी।। पत्व कर लेने पर रषाभ्यां नो साः (८।॥१) श्रद्कुप्वाङ्० (८।४।२) से णत्व सर्वत्र यथायोग करके हो जागेग। अड्व्यवाय में सर्वत्र लड़् के उदाहरण दिये हैं। पू धातु के छड़् में अचिश्तु० (६।४।७०) से उवङ् करके अभिपुवति आदि प्रयोग बने हैं। षो धातु के ओकार का ओतः श्यिन (७।३।७१) से छोप होक अभिष्यति आदि प्रयोग जानें। अभिष्टास्यति (लट्) आदि में पल म ं लेने पर ष्टुत्व भी हो जायेगा। स्तौति की सिद्धि परि० १।१।६० में बी है, तद्वत् अभिष्टौति आदि में समझें। अभिषेणयति आदि प्रयोग पूर्व प्र में देखें। षिच्धातु से सिक्चिति में शे मुचादीनाम् (७।१।५९) से सु आगम होता है।। पञ्ज घातु से दंशसञ्ज० (६।४।२५) से नकारले होकर अभिषजित आदि प्रयोग बनेंगे। सन् परे रहते नकार छोप नही होगा तो नश्चापदान्तस्य० (८।३।२४) से अनुस्वार एवं श्रनुस्नात्स यिर्व (८।४।५७) लगकर अभिषिषङ्क्षति बन गया । चो: कु: (८।२।३०) से यहाँ ज् को ग् तथा चत्व क् (८।४।५४) भी हो गया है। इसी प्रका क्रिक्ट से अभिक्रिक्ट कर है। इसी प्रका व्यक्त से अभिषिष्वङ्क्षते बनेगा।। इण् और कवर्ग से उत्तर बल होता है, अतः ये पत्व के निमित्त हैं, सो उपसर्गस्य निमित्त से उत्तर कहते का अधिकार का अभिप्राय यह है कि 'यदि इण् अथवा कवर्ग उपसर्ग में स्थित हैं तो उनसे उत्तर ।।

यहाँ से 'उपसर्गात्' की अनुवृत्ति ८।२।७७ तक जायेगी।।.

सदिरप्रतेः ॥८।३।६६॥

सदिः १११॥ अत्र षष्ट्याः स्थाने प्रथमा ॥ अप्रतेः ५११॥ मण्य

K

RT. की

ग्रितरप्रतिस्तस्मात् ं नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु - उपसर्गात् , स्थाद् ब्वभ्या-के हेत चाभ्यासस्य, अड्व्यवायेऽपि, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, क हितायाम् ।। अर्थः— चपसर्गस्थान्निमित्ताद्प्रतेरुत्तरस्य सदेः सकारस्य म्प्रिन्यादेशो अवति, अड्व्यवायेऽपि, स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य।। उदा०—निषीद्ति, विषीद्ति। न्यषीद्त्, व्यषीद्त्। निषसाद्, विषसाद ।।

सेघ भाषार्थः — [अप्रते:] प्रतिभिन्न उपसर्गस्य निमित्त से उत्तर [सिदः] अर् ग्रह धातु के सकार को मूर्धन्य आदेश होता है अड्व्यवाय एवं क्षं अभ्यास के व्यवाय में भी ।। सात् पदाद्योः (८।३।१११) से प्रतिषेध प्राप्त ग, तदर्थ यह वचन है।। निषीद्ति आदि में पाघाध्मा० (७।३।७८) से स को सीद आदेश हुआ है। निषसाद (छिट्) में शित् परे न होने हे आदेश नहीं हुआ। सदेः परस्य लिटि (=13188८) के प्रतिषेध से ग्हाँ अभ्यास से परे वाले सकार को षत्व नहीं हुआ है।।

स्तन्मेः ॥८।३।६७॥

स्तन्भेः ६।१॥ अनु०—उपसर्गात्, स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य, वि विद्यवायेऽपि, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः - उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य स्तन्भेः सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति, बह्व्यवायेऽपि, स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य ॥ उदा०—अभिष्ठभनाति, षिष्टभ्नाति । अभ्यष्टभ्नात् , पर्यष्टभ्नात् । अभितष्टम्भ, परितष्टम्भ ॥

भाषार्थः - उपसर्गस्थ निमित्त से उत्तर [स्तन्मेः] स्तन्भु के सकार को पिन्य आदेश होता है अट् के व्यवाय ५वं अभ्यास् व्यवाय में भी ॥ ता सिसु सौत्र धातु है। स्तन्भुस्तुन्मु० (३।१।८२) से श्ना विकरण तथा श्रीनिदितां (६।४।२४) से अनुनासिक लोप होकर अभिष्टभ्नाति आदि थोग बने हैं। अभितष्टम्भ (छिट्) यहाँ शर्पूर्वाः खयः (७।४।६१) से क्ष्यास का खय् शेष रहा है।।

यहाँ से 'स्तन्भेः' की अनुवृत्ति ८।३।६८ तक जायेगी।।

अवाचालम्बनाविदूर्ययोः ॥८।३।६८॥

अवात् ५।१॥ च अ०॥ आलम्बनाविदूर्ययोः ७।२॥ स०-आलम्ब-भाविदूर्यक्क आलम्बनाविदूर्ये, तयोः इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अतु०—

8

द्र

म

1

प्रा से

र्पा

वि

नि

55

वि

ध

[

55 पूर

H

परि

से

che

DE

H

स्तन्भेः, उपसर्गात्, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम्॥ अर्थ:—आलम्बन आविदूर्यं चार्थं, अनोपसगींदुत्तरस्य स्तन्भेः समास मूर्धन्यादेशो भवति ॥ आलम्बनमाश्रयणम् । अविदूरस्य भाव आविदूर्यम्। व्यव्यम्प्रत्ययः ॥ उदा०—आलम्बने—अवष्टभ्यास्ते । अवष्टभ्य तिष्ठति। आविद्यें-अवष्टच्या सेना, अवष्टच्या शरत ।।

भाषार्थः-[श्रवात्] अब उपसर्ग से उत्तर [च] भी स्तन्भु के सन्ना को [आलम्बनाविदूर्ययोः] आलम्बन तथा आविद्र्ये अर्थ में मूर्धन आदेश होता है।। आलम्बन अर्थात् आश्रयण, एवं आविदूर्य अर्थात् समीपता ॥ अवष्टभ्यास्ते (आश्रयण करके बैठा है) यहाँ अवस्य ल्यबन्त है। अवष्टब्धा सेना (सेना समीप है) यहाँ क्त प्रत्यय सर्वे भाषस्त (८।२।४०) से धत्व कलां जश् कशि (८।४।५२) से भ् को व्षं टाप् होकर अवष्टब्धा बना है ॥

यहाँ से 'श्रवात्' की अनुवृत्ति ८।३।६९ तक जायेगी।।

वेश्व स्वनो भोजने ॥८।३।६९॥

वे: ४११॥ च अ०॥ स्वनः ६११॥ भोजने ७११॥ अनु०-अवात्। उपसर्गात्, स्थाद्ब्वभ्यासेन चाभ्यासस्य, अड्व्यवायेऽपि, सः, इण्कीः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ श्रर्थः – वेरुपसर्गादवाचीत्राय भोजनार्थे स्वनघातोः सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति, अड्व्यवायेऽपि स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य।। उदा० विष्वणित। विषष्त्राण । अवात्—अवष्वणति । अवाष्वणत् । अवषष्वाण ॥

माषार्थः—[वै:] वि उपसर्ग से उत्तर तथा [च] चकार से अव उपसर्ग से उत्तर [भोजने] भोजन अर्थ में [स्वनः] स्वन धातु के सकी को मूर्धन्य आदेश होता है, अड्व्यवाय एवं अभ्यास व्यवाय में भी। अवष्वणित का अर्थ है 'मुँह से (मुँह चलाने का) शब्द आवाज करते हुए खाता है'। इस प्रकार स्वन धातु शब्दार्थंक होते हुये भी भोजन अर्थं है। अट्कु॰ (८।४।२) से णत्व यहाँ हुआ है।।

परिनिविभ्यः सेवसितसयसिवुसहसुट्स्तुस्वझाम् ॥८।३।७०॥

परिनिविभ्यः ११३॥ सेवः अाम् ६१३॥ स०—सेव्स्र सितस्र स्पन्न स्राप्ताना सिवुश्च सहश्च सुट च स्तुश्च स्वअ् च सेवः स्वअस्तेषामः द्वारेतः

₹:

11

न्य

य

॥ द्वन्द्वः ॥ अनु - - उपसर्गात् , स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य, प्राक् सिता-ह्ह्व्यवायेऽपि, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम्॥ वर्षः—परि, नि, वि इत्येतेभ्य उपसर्गभ्य उत्तरेषां सेव, सित, सय, सिवु, सह, सुट्, स्तु, स्वञ्ज इत्येतेषां सकारस्य मूर्धन्य आदेशो भवति, प्राक्सिताद् इव्यवाये ऽपि स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य ॥ उदा०— सेव—परिषेवते, निषेवते, विषेवते । पर्यषेवत, न्यषेवत, व्यषेवत । परिषेषेविषते, निषेवते, निषितः, निषितः, निषितः, निषितः, निषयः, विषयः । सित्य—परिषीव्यति, निषीव्यति, निषीव्यति, निषीव्यति, निषीव्यति, निषीव्यति, निषीव्यति, विषीव्यति । पर्यषीव्यत्, न्यषीव्यत्, व्यषीव्यत् । पर्यसी-ीत् व्यत्, न्यसीव्यत्, व्यसीव्यत्। सह-परिषह्ते, निषह्ते, विषह्ते। र्षपहत, न्यषहत, व्यषहत । पर्यसहत, न्यसहत, व्यसहत । सुद् परिष्करोति । पर्यष्करोत् । पर्यस्करोत् । स्तु-परिष्टौति, निष्टौति, विष्टीति । पर्यष्टीत्, न्यष्टीत्, व्यष्टीत् । पर्यस्तीत्, न्यस्तीत्, व्यस्तीत्। षञ्ज-परिष्वजते, निष्वजते, विष्वजते। पर्यष्वजत, न्यष्वजत, व्यव्यजत । पर्यस्वजत, न्यस्वजत, व्यस्वजत ॥

माषार्थः - [परिनिविभ्यः] परि, नि, तथा वि उपसर्ग से उत्तर [मेव ' 'स्वक्षाम्] सेव, सित, सय, सिवु, सह, (षह) सुद्, खु, तथा L लक्ष के सकार को मूर्धन्य आदेश होता है, सित शब्द से पहले २ अट् व्यवाय एवं अभ्यास व्यवाय में भी होता है।। तद्वत् उदाहरण सित से य पूर्व २ के दिखा दिये हैं।। षेष्ट घातु का 'सेव', तथा पिन् बन्धने के q निष्ठा का 'सित', एवं षिञ्का ही एरच् (३।३।५६) से अच् करके 'सय' 1 निर्देश सूत्र में है,अतः तद्वत् कान्त एवं अच् प्रत्ययान्त शब्दों को षत्व होगा। परिषिषेविषते आदि पूर्ववत् णिजन्त के सन् के रूप हैं। सिवु (षिवु) d से आगे के प्रयोगों में सिवादीनां वाड्० (८।३।७१) से अट्रके व्यवाय R में विकल्प से षत्व होता है, अतः अट् के व्यवाय के दो र प्रयोग 11 विलाये हैं। सम्परिभ्यां० (६।१।१३२) से परि से उत्तर सुट् कहा है नि, C षेसे उत्तर नहीं, अतः परि का ही उदाहरण दिखाया है।। स्तु तथा विश्व को उपसर्गात् सुनोति० (८।३।६५) से ही बत्व प्राप्त था, अगले सूत्र में अह्व्यवाय में पत्व का विकल्प करने के लिये इनका प्रहण है, अन्यथा ८।३।६५ से नित्य ही षत्व होता। परिष्वजते आदि में दंशस्अ (शिश्वर्प) से अनुनासिक छोप होगा।।

सं

देव

सः

हो

田

आ

सः र्पाः

को

म

TR

[3

सिवादीनां वाऽड्च्यवायेऽपि ॥८१३।७१॥

सिवादीनाम् ६।३।। वा अ०।। अड्व्यवाये ७।१।। अपि अ०॥ सः—सिव् आद्रियेषां ते सिवाद्यस्तेषां 'वहुत्रीहिः। अटा व्यवारी Sड्व्यवायस्तस्मिन् ' 'तृतीयातत्पुरुष: ।। अनु०-परिनिविभ्यः, उपसर्गात्, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य सूर्धन्यः, संहितायाम्।। अर्थः- परिनिविम उपसर्गेभ्य उत्तरेषां सिवादीनामड्व्यवायेऽपि सकारस्य वा मूर्धन्यादेशे भवति ।। पूर्वसूत्रोक्ताः सिवुसहसुट्रतुरवञ्जाम् इति सिवादयः ॥ पूर्वसूत्रे तथैवोदाहतमत्रापि द्रष्टव्यम् ॥

भाषार्थः -परि, नि, वि उपसर्गों से उत्तर [सिवादीनाम्] सिवादिगे के सकार को [अड्व्यवाये] अट् के व्यवधान होने पर [अपि] भी [ग] विकल्प से मूर्धन्य आदेश होता है।। सिवादि से पूर्व सूत्र में कहें हुंगे सिवु से लेकर स्वञ्ज तक का महण है।।

यहाँ से 'वा' की अनुवृत्ति ८।३।७६ तक जायेगी।।

अनुविपर्यभिनि भ्यः स्यन्दतेरप्राणिषु ॥८।३।७२॥

अनुविपर्यभिनिभ्यः ५।३॥ स्यन्द्तेः ६।१॥ अत्राणिषु ७।३॥ स०-अनुरच विश्च परिश्च अभिश्च निश्च अनु 'नयस्तेभ्यः 'इतरेतर द्वन्द्वः। न प्राणिनोऽप्राणिनस्तेषुः नव्यतत्पुरुषः॥ श्रनुः – वा, उपस गीत्, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम्।। अर्थः--अनु, वि, परि, अभि, नि इत्येतेभ्य उपसर्गेभ्य अप्राणिषु स्यन्दतेः सकारस्य व मूर्धन्यदिशो भवति ॥ उदा० – अनुष्यन्दते, विष्यन्दते, परिष्यन्दते, अभिष्यन्द्रते, निष्यन्द्रते । पक्षे-अनुस्यन्द्रते, विस्यन्द्रते, परिस्यन्द्रते अभिस्यन्दते, निस्यन्दते ॥

भाषार्थः—[त्र्यनुः भ्यः] अनु, वि, परि, अभि, ति उपसर्गों से उत्तर [र्रंथ-दते:] स्यन्दू धातु के सकार को मूर्धन्य आदेश होता है, वि ' [अप्राणिषु] प्राणि का कथन न हो रहा हो तो ।।

वेः स्कन्देरनिष्ठायाम् ॥८।३।७३॥

वैः ५११॥ स्कन्देः ६११॥ अनिष्ठायाम् ७११॥ सः—अनिष्ठाः इत्या नञ्तत्पुरुषः ॥ अनुः—वा, उपसर्गात्, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः,

गदः]

1

7

शे

त्रे

ì

ŀ

ŀ

हितायाम् ।। श्रर्थः —वेरुपसर्गाद्धत्तरस्य स्कन्देः सकारस्य वा मूर्धन्या-देशो भवत्यनिष्टायाम् ॥ उदाः —विष्कन्ता, विष्कन्तुम् , विष्कन्तव्यम् । हो —विस्कन्ता, विस्कन्तुम् , विस्कन्तव्यम् ॥

भाषार्थ:—[वै:] वि उपसमें से उत्तर [स्कन्दे:] स्कन्दिर् धातु के सकार को [अनिष्ठायाम्] निष्ठा परे न हो तो विकल्प से मूर्धन्य आदेश होता है।। वि स्कन्द् तृच् = चर्त्व होकर (८।४।५४) विष्कन्त् ता = करो सिर सवर्णे (८।४।६४) लगकर विष्कन्ता बना। इसी प्रकार सबमें जानें।।

यहाँ से 'स्कन्देः' की अनुवृत्ति ८।३।७४ तक जायेगी।।

परेश्व ॥८।३।७४॥

परेः ४।१॥ च अ०॥ अनु० – स्कन्देः, वा, उपसर्गात्, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धेन्यः, संहितायाम्॥ त्रर्थः — परेरुपसर्गाचोत्तरस्य स्कन्देः सकारस्य वा मूर्धन्यादेशो भवति॥ उदा० — परिष्कन्ता, परिष्कन्तुम्, परिष्कन्तव्यम्। परिष्किन्तव्यम्। परिष्किन्तव्यम्। परिष्किन्तव्यम्। परिष्किन्तः, परिस्कन्तव्यम्। परिष्किणाः, परिस्कन्तः॥

भाषार्थः—[परे:] परि उपसर्ग से उत्तर [च] भी स्कन्द् के सकार के विकल्प से मूर्धन्यादेश होता है।। क्त में स्कन्द् के अनुनासिक का अनिदितां हल (६।४।२४) से छोप तथा निष्ठा तकार एवं पूर्व दकार के रहाभ्यां निष्ठात्रे (८।२।४२) से नत्व एवं पत्व पक्ष में णत्व (८।४।२) हैकर परिष्कण्णः परिस्कन्नः बन गया।।

परिस्कन्दः प्राच्यभरतेषु ॥८।३।७५॥

परिस्कन्दः १।१।। प्राच्यभरतेषु ७।३॥ स० – प्राच्यास्रासौ भरतास्र भाच्यभरतास्तेषुः ''कर्मधारयतत्पुरुषः ॥ अर्थः—परिस्कन्द इत्यत्र भूर्षेन्याभावो निपात्यते प्राच्यभरतेषु प्रयोगविषयेषु ॥ पूर्वेणः, मूर्धन्ये भएते तद्भावो निपात्यते ॥ परिस्कन्दः ॥

भाषार्थः—[परिस्कन्दः] परिस्कन्द शब्द में मूर्घन्याभाव निपातन है, [शाब्यभरतेषु] प्राग्देशीयान्तर्गत भरतदेश के प्रयोग विषय में ॥ पूर्व प्रते से षत्व प्राप्त था तद्भाव निपातन कर दिया। परिस्कन्दः शब्द विषय प्रत्ययान्त है ॥

[4

Q

西市

(3

यह

गह

दा

पीः

र्रा

अंद

de

यह

9

(8

92

स्फ्ररतिस्फुलत्योर्निर्निवस्यः ॥८।३।७६॥

स्फुरितस्फुळत्योः ६।२॥ निर्निविभ्यः ५।३॥ स०—स्फुरितश्र स्फुरितश्रुळती, तयोः "इतरेतरद्वन्द्वः। निस् च निश्च विश्व निनिः यस्तेभ्यः "इतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—वा, उपसर्गात्, सः, इकोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम्॥ अर्थः—निस्, नि, वि इत्येतेश्व उपसर्गभ्य उत्तरस्य स्फुरितस्फुळत्योः सकारस्य वा मूर्धन्यादेशो भवति॥ उदा०—स्फुरित-निष्ध्फुरित, निष्फुळित। विष्फुरित, विस्फुरित, विस्कुरित, विस्क

माषार्थ: — [निर्निविभ्य:] निस्, नि, वि उपसर्ग से उत्तर [सुक्षी-स्फुलत्यो:] स्फुरति तथा स्फुछिति के सकार को विकल्प से मूर्धन्य आहे। होता है।। निस् स्फुरित = निस् ब्फुरित = ब्दुत्व होकर निष्कुर्णि बन गया।।

वेः स्कभ्नातेर्नित्यम् ॥८।३।७७॥

वेः ५।१॥ स्कभ्नातेः ६।१॥ नित्यम् १।१॥ अनु - उपसर्गात्, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः - वेरुपसर्गादुत्तस्य स्कभ्नातेः सकारस्य नित्यं मूर्धन्यादेशो भवति ॥ उदा - विष्कभ्नाति विष्कभ्नाति । विष्कभ्नाति । विष्कभ्नाति ।

भाषार्थः—[वै:] वि उपसर्ग से उत्तर [स्कम्नातै:] स्कन्धु (सौत्र धातु) के सकार को [नित्यम्] नित्य ही मूघेन्य आदेश होता है। स्तन्मुस्तुन्भुं (३।१।८२) से विष्कभ्नाति में श्ना विकरण हुआ है।

इणः षीष्वं छुङ् लिटां घोऽङ्गात् ॥८।३।७८॥

इणी: ४।१॥ षीध्वं लुङ् लिटाम् ६।३॥ घः ६।१॥ अङ्गात् ४।१॥ स्वान्त्रं च लुङ् च लिट् च षीध्वं लुङ् लिटस्तेषाम् । द्रारेतरद्वन्द्वः ॥ अविश्वान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः—इणन्तादङ्गादुन्तरेषां षीष्यः। अर्थः—इणन्तादङ्गादुन्तरेषां षीष्यः। लुङ् , लिट् इत्येतेषां यो धकारस्तस्य मूर्धन्यादेशो भवित ॥ व्याष्ट्रेष्ट्र

ब:

H

3

ì:,

n

-

ति,

11

र वि

r,

14

1

7

1

भाषार्थः—[इएः] इणन्त (इण् प्रत्याहार अन्त वाले) [अङ्गात्]
अङ्ग से उत्तर [धीध्वंलुङ्लिटाम्] धीध्वम्, छुङ्, तथा लिट् का जो
[धः] धकार उसको मूधेन्य आदेश होता है।। आशीर्लिङ् में च्युङ्
खुङ् धातु से च्यु सीयुट्ध्वम् = च्यो सीय् ध्वम् = षत्व (८१३।५९) तथा
यू का लोप (६११६४) होकर च्योधीध्वम् रहा। अव यहाँ प्रकृत सूत्र से
धिव्यम् के ध् को मूर्धन्य होकर च्योधीढ्वम् एलोधीढ्वम् बन गया।
हुङ् में धि च (८१२।२५) से सिच् के स् का लोप एवं ध् को मूर्धन्य
होकर अच्योढ्वम् बन गया। एकाच उपदेशे० (७१२१०) से सर्वत्र इट्
होषेघ जानं। लिट् में कु को द्वित्वादि होकर च कु ध्वम् = टितआत्मने०
[३१४।७६) से एत्व तथा मूर्धन्य होकर चकुढ्वे ववृढ्वे बन गया।
हुङ् स्थानेऽन्तरतमः (१११।४६) से मूर्धा स्थानी घ् को ढ् हो गया है।।
यहाँ से 'इणः धीध्वंलुङ्लिटाम् धः' की अनुवृत्ति ८१३।७६ तक
वायेगी।।

विभाषेटः ॥८।३।७९॥

विभाषा १।१॥ इटः ५।१॥ श्रनु०—इणः षीध्वंलुङ्खिटां घः, अप-रान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ श्रर्थः— इणः परस्मात् इट उत्तरेषां षीध्वंलुङ्खिटां यो धकारस्तस्य विकल्पेन मूर्धन्यादेशो भवति ॥ उदा०— अविषीध्वम्, लविषीढ्वम् । पविषीध्वम्, पविषीढ्वम् । लुङ्-अलविध्वम् , अविषिढ्वम् । लिट्-लुलुविध्वे, लुलुविढ्वे ॥

माषार्थ:— इण् से उत्तर जो [इटः] इट् उससे उत्तर जो षीध्वम्, लुङ् विवा छिट् का धकार उसको [विभाषा] विकल्प से मूर्धन्य आदेश होता है।। पूर्ववत् छिड़् में लू इट् सीयुट् ध्वम् = लू इ षी ध्वम् रहा। अव विशे लू का ऊ इण् है सो उससे उत्तर जो इट् उससे परे षीध्वम् के घ् में मूर्धन्य होकर लू इ षीढ्वम् = छो इ षीढ्वम् = छिवषीढ्वम् बन विषा । पक्ष में घ् ही रहा। अछिवध्वम् अछिविढ्वम् की सिद्धि सूत्र (१२१२५ में देखें। छिट् में लू को द्वित्वादि कार्य एवं श्रवि शनुघातु० (११४००) से उवङ् होकर लुलुविढ्वे लुलुविध्वे बना है।।

समासे ऽङ्गुलेः सङ्गः ॥८।३।८०॥ समासे ७।१॥ अङ्गुलेः ५।१॥ सङ्गः १।१॥ षष्ठ्याः स्थाने प्रथमाऽत्र भाषयेन ॥ अनु०—सः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य

आ

Ţ न्न

(6

4

泉

नीर 記

मार्

मूर्धन्यः, संहितायाम्।। अर्थः सङ्गराब्द्स्य सङ्गरस्याङ्गुलेस्ताल मूधन्यादेशो भवति समासे ॥ उदा०—अङ्गुलेः सङ्गः = अङ्गुलिगङ्गः। अङ्गुलिपङ्गा यवागूः । अङ्गुलिपङ्गो गाः सादयति ॥

भाषार्थः—[समासे] समास में [श्रङ्गुले:] अङ्गुछि शब्द से उत्ता [सङ्गः] सङ्ग शब्द के सकार को मूर्धन्य आदेश होता है।। सङ्ग अर्थात् आ संरतेष, अङ्गुलिषङ्गः = अङ्गुलिका संरतेष ।। सात् पदाद्योः (८।३।१११) से प्रतिषेध प्राप्त था, तदर्थ यह सूत्र है।।

यहाँ से 'समासे' की अनुवृत्ति ८।३।८५ तक जायेगी॥

भीरोः स्थानम् ॥८।३।८१॥

भीरोः ४।१॥ स्थानम् १।१॥ पष्ट्यर्थे प्रथमा ॥ श्रनु०—समासे, स नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम्॥ वर्शः-स्थानसकारस्य भीरोरुत्तरस्य मूर्घन्यादेशो भवति समासे ॥ उदाः—भीरे स्थानम् = भीरुष्टानम् ॥

भाषार्थ: -[भीरो:] भीरु शब्द से उत्तर [स्थानम्] स्थान शब्द हे सकार को समास में मूर्धन्य आदेश होता है।।

अग्नेः स्तुत्स्तोमसोमाः ॥८।३।८२॥

अग्नेः ५।१॥ स्तुत्स्तोमसोमाः १।३॥ स० स्तुत्० इत्यत्रेतरेताः द्वन्द्वः ॥ अनु०—समासे, सः, नुम्विसर्जनीयशब्धेवायेऽपि, अपदानाय मूर्धन्यः, संहितायाम्॥ अर्थः—अग्नेरुत्तरस्य स्तुत्, स्तोम, सोम इर्येः तेषां सकारस्य समासे मूर्धन्यादेशो भवति ॥ उदा०—अम्बिष्टुत् अमि ष्टोमः, अर्ग्नाषोमौ ॥

भाषार्थः—[अग्नेः] अग्नि शब्द से उत्तर [स्तुत्स्तोमसोमाः] ख्री। स्तोम, तृथा सोम के सकार को समास में मूर्धन्य आदेश होता है। परि० १।१।६१ के अग्निचित् के समान अग्निस्तुत् बन कर प्रात पत ष्टुत्व अग्निष्टुत् में हुआ है। अग्निष्टोमः में षष्टी समास है। अनि भौमी यहाँ द्रन्द्र समास है, तथा ईदरने: सोम० (६१३१२५) से अपि की ईत्व हुआ है ।। स्तोम सोम शब्द १।१४० डणादि से मन् प्रत्यवात हैं, सात्पदाद्योः से पदादि छक्षण प्रतिषेध सर्वत्र प्राप्त था विधान है। दिया ।

पादः]

यः

स्य

1

(8)

तेः

K.

7

L

11

a

ia

1

1

ज्योतिरायुषः स्तोमः ॥८।३।८३॥

ज्योतिरायुषः ५।१॥ स्तोमः १।१॥ स०—ज्योतिस्र आयुस्र ज्योति-ग्युस्तस्मात् : 'समाहारो दून्द्रः ॥ अनु - समासे, सः, नुम्विसर्जनीय-क्व क्विंवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम्।। श्रर्थः - ज्योतिस् र्मा अगुस् इत्येता भ्यामुत्तरस्य स्तोमसकारस्य समासे मूर्धन्यादेशो भवति॥ उदा०— ज्योतिषः स्तोमः = ज्योतिष्टोमः, आयुष्टोमः। ज्योतिःष्टोमः, शायःष्ट्रोमः ॥

भाषार्थ:-[ज्योतिरायुषः] ज्योतिस् तथा आयुस् शब्द से उत्तर स्रोम:] स्तोम शब्द के सकार को समास में मूर्धन्य आदेश होता है।। श्रोतिस् आयुस् के स् को विसर्जनीय होकर स्तोम परे रहते वा शरि (।३।३६) से पक्ष में सत्व एवं स्तोम के स् को ष् करने पर ष्टुत्व होकर बोतिष्टोमः, आयुष्टटोमः प्रयोग बन गये। पक्ष में जब वा शरि से विस-जीय हुआ तो ज्योतिः ष्टोमः, आयुः ष्टोमः प्रयोग वन गये।। पूर्ववत् शतिषेघ प्राप्त था कह दिया।।

मातृपितृभ्यां स्वसा ॥८।३।८४॥

मातृपित्रभ्याम् ५१२॥ स्वसा १११॥ अनु०—समासे, सः, नुम्विसर्ज-^{बैय्शर्च्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ श्रर्थः —मातृ पितृ} ल्येताभ्यामुत्तरस्य स्वससकारस्य समासे मूर्धन्यादेशो भवति ॥ उदा०-_{व गिरु} ब्वसा, पितृ ब्वसा ॥

ये-भाषार्थ: [मातृषितृभ्याम्] मातृ तथा पितृ शब्द से उत्तर [स्वसा] वस् अन्द के सकार को समास में मूर्धन्य आदेश होता है।। उदाहरणों षष्ट्री समास है। विभाषा स्वस्पत्योः (६।३।२२) से यहाँ जब षष्टी का क्हो गया है, उस पक्ष के ये उदाहरण हैं। अनादेश का सकार होने कत्सर्ग सूत्र (८।३।५६) से पत्व प्राप्त नहीं था अप्राप्त विधान है, ऐसा ग्यत्र भी जहाँ विसी का अपवाद रूप सूत्र न हो, समझें।।

यहाँ से 'स्वसा' की अनुवृत्ति ८।३।८५ तक जायेगी।।

मातुःपितु र्यामन्यतरस्याम् ॥८।३।८५॥

मातुःपितुभ्याम् ५।२॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ स०—मातुश्च पितुश्च हिंपित्री, ताध्यां "इतरेतरद्रन्द्रः॥ अनुः—स्वसा, समासे, सः,

अ

आं 3

3

नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य सूर्धन्यः, संहितायाम्॥ अर्थः-मातुर् पितुर् इत्येताभ्यामुत्तरस्य स्वसृशव्दस्य सकारस्य समासे विकलेन मूर्धन्यादेशो भवति ॥ उदा० मातुः व्यसा, मातुः स्वसा। पितुः व्यसा, पितुःस्वसा ॥

भाषार्थः -[मातुःपितुभ्यीम्] मातुर् तथा पितुर् शब्द से उत्तर सम के सकार को समास में [अन्यतरस्याम्] विकल्प करके मूर्धन्य आहे। होता है ।। मातुर् पितुर् यह षष्ट्यन्त का अनुकरण है, सो वैसा है निर्देश सूत्र में कर दिया है। मातुर् पितुर् के रेफ को विसर्जनीय पूर्वन् उदाहरणों में हुआ है। षष्टी विभक्ति का अलुक् यहाँ विभाषा सर्पती (६।३।२२) से होता है। वा शिर से पक्ष में जब विसर्जनीय को सत होगा तो स् को ब्टुत्व होकर मातुब्ब्वसा पितृब्ब्वसा प्रयोग भी क्ले, ऐसा जानें।।

यहाँ से 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति ८।३।८६ तक जायेगी॥ अभिनिसःस्तनः ग्रब्दसंज्ञायाम् ॥८।३।८६॥

अभिनिसः ५।१॥ स्तनः ६।१॥ शब्दसंज्ञायाम् ७।१॥ स० – अभिष्र निस् च अभिनिः, तस्मात् समाहारद्वन्द्वः । शब्द्स्य संज्ञा शब्द्संज्ञा, तस्याम् "षष्टीतत्पुरुषः ।। अनु - अन्यतरस्याम् , सः, नुन्विसर्जनीयः शर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम्।। अर्थः-अभि ति इत्येतस्मादुत्तरस्य स्तनधातोः सकारस्य शब्दसंज्ञायाम् गम्यमानायाम् विकल्पेन मूर्घन्यादेशो भवति ॥ उदा०—अभिनिष्टानो नर्णः, अभिनिष्टानो विसर्जनीयः । पक्षे — अभिनिस्तानो वर्णः, अभिनिस्तानो विसर्जनीयः॥

भाषार्थः—[अमिनिसः] अभि तथा निस् से उत्तर [स्तनः] ह्वा पा धातु के सकार को [शब्दसंज्ञायाम्] शब्द की संज्ञा गम्यमान होते कि विकल्प से मूर्धन्य आदेश होता है।। अभि निस् ये समुद्रित हुप है। उदाहरणों में आयें तभी षत्व होता है। अभिनिष्टान विसर्वतीय ह रूप वर्ण विशेष की संज्ञा है। पूर्व उदाहरण में वर्ण सामान्य है। पूर्व उदाहरण में वर्ण सामान्य है। होने पर भी विसर्जनीय रूप वर्ण की ही संज्ञा जाननी बाहिए। का आपस्तम्बगृह्यसूत्र के नाम प्रकरण में 'अभिनिष्ठान्तम्' पद विसर्जनी के लिए प्रयक्त के नाम प्रकरण में 'अभिनिष्ठान्तम्' पद के लिए प्रयुक्त है । क्या वह पाठाशुद्धि सम्भव है ?

सा.

वस्

देश

सत

नंगे,

K

III,

विय-

तेस् 111

नि

उपसर्गत्रादुर्स्यीमस्तिर्यच्परः ॥८।३।८७॥

डपसर्गेत्रादुभ्योम् ५।२॥ अस्तिः १।१॥ यच्परः १।१॥ स०— असर्गश्च प्राहुश्च उपसर्गप्राहुसौ, जाभ्यां "इतरेतरद्वन्द्वः। यश्च अच् च व्वौ, यचौ परी यस्मात् स यच्परः, द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ अनु०—सः, एको:, नुम्बिसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम्॥ वर्षः—उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य प्रादुस्शब्दाचोत्तरस्य यकारपरस्य विश्वन्परस्य चास्तेः सकारस्य सूर्धन्यादेशो भवति।। उदा० अच्पर-वास्ते: - अभिषन्ति, निषन्ति, विषन्ति । प्रादुःषन्ति । यकारपरस्यास्तेः -क्षी अभिष्यात्, निष्यात्, विष्यात्। प्रादुःष्यात्।।

भाषार्थः — [उपसर्गप्राहुभ्याम्] उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर अर्थात् इण् कवर्षे) तथा प्रादुस् शब्द से उत्तर [यन्परः] यकारपरक एवं अच्परक [अस्तः] अस् धातु के सकार को मूर्धन्य आदेश होता है।। अभिषन्ति आदि में अस् के सकार से परे अन्ति का 'अ' अच् परे है। अदादिगणस्थ होने से शप् का लुक् तथा शनसारह्योपः (६।४।१११) से अस् के अ का छोप यहाँ होता है। अभिष्यात् आदि में यासुट् का कार परे है, शेष पूर्ववत् है।। यासुद् के स् का छोप लिङः सलोपो॰ (बराज्ह) से होगा।।

सुविनिर्दुभर्यः सुपिसूतिसमाः ॥८।३।८८॥

सुविनिर्दुभ्यः ५१३॥ सुपिस्तिसमाः ११३॥ स० सुस्र विश्व निर्च र्ष सुविनिदुरस्तेभ्यः इतरेतरद्वन्द्वः । सुपि० इत्यत्रापीतरेतरद्वन्द्वः ॥ भेषु० सः, नुम्विसजनीयशर्ववायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहिता-ता गम्।। श्रर्थः — सु, वि, निर्, दुर् इत्येतेभ्य उत्तरस्य सुपि सूति सस वि लितेषां सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति ॥ उदा० सुषुप्तः, विषुप्तः, निः-अतः, दुःषुप्तः । सूति—सुषूतिः, विषूतिः, तिःपूतिः, दुःषूतिः । सम— अपमम्, विषमम्, निःषमम्, दुःषमम्।।

भीषार्थः [सुविनिर्दुर्भ्यः] सु, वि, निर् तथा दुर् से उत्तर [सुपिसूति-स्वान कुम्यः] सुन्या सम के सकार की मूर्धन्यादेश होता है।। स्वर् मिसम्प्रसारण (६।१।१५) करके सूत्र में 'सुपि' निर्देश है। षू घातु का में स्तिः रूप बना है, अतः क्तिन्नन्त को ही चत्व होगा।। सुपि

ि हतीयः पा

वि

स्ति को सात् पदाद्योः (८।३।१११) से पदादि लक्ष्ण निषेध प्राप्त था, इ दिया।। निर् हुर् उपसर्गों के र् को विसर्जनीय पूर्ववत् हुआ है।।

निनदीभ्यां स्नातेः कौशले ॥८।३।८९॥

निनदीभ्याम् ४।२॥ स्नातेः ६।१॥ कौशले ७।१॥ सः—निश्च न्ही । निनद्यौ, ताभ्याम् इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु - सः, नुम्बिसर्जनीयार्क वायेऽपि, अपदान्तस्य सूधेन्यः, संहितायाम् ॥ श्रर्थः—नि नदी इत्येताया मुत्तरस्य स्नातेः सकारस्य सृर्धन्यादेशो भवति, कौशले गम्यमाने ॥ जदाः-निष्णातः कटकरणे, निष्णातो रच्जुर्वन्तेने । नद्यां स्नातीति नदीष्णः॥

भाषार्थः — [निनदीभ्याम्] नि तथा नदी इनसे उत्तर [स्नातेः] जा शौचे धातु के सकार को [कौशले] छुदालता गम्यमान हो तो मूर्धन्य आहे। होता है।। पदादि मानकर सात्पदाद्योः (८१३।१११) से निषेध प्राप्त भा विधान कर दिया।। निष्णातः कटकरणे = चटाई बनाने में जो होशिया। णा के ष्को पहिले धात्वादेः (६।१।६२) से सत्व होकर स्ना ए। तत्पश्चात् नि, नदी से उत्तर पत्व ष्टुत्व हो गया । नदीष्णः (नदी सार भें कुराल) में सुपि स्थः (३।२।४) के योगविभाग से ज्णा से भी क प्रत्यय हो जाता है। पश्चात् त्रातो लोपः (६।४।६४) से 'जा' ब 'आ' छोप हो जायेगा।।

सूत्रं प्रतिष्णातम् ॥८।३।९०॥

सूत्रम् १।१॥ प्रतिष्णातम् १।१॥ अनु - सः, मूर्धन्यः, संहितायाम्॥ अर्थः प्रितिष्णातमित्यत्र मूर्धन्यादेशो निपात्यते, सूत्रं चेत्तद् भविष

उदा॰ — प्रतिष्णातं सूत्रम्।।

भाषार्थ: [प्रतिष्णातम्] प्रतिष्णातम् में पत्र निपातन है [सूत्रम्] से (धागा) को कहारे से प सूत्र (धागा) को कहने में ॥ प्रति स्ना क्त = प्रतिष्णातम्। पूर्ववत् सवः पदाद्योः से पत्व प्रतिषेध प्राप्त था, निपातन कर दिया॥ प्रतिष्णातम् अर्थात् शुद्ध सूत ॥

कपिष्ठलो गोत्रे ॥८।३।९१॥

ं किपष्टलः १११॥ गोत्रे ७११॥ अनु०— सः, मूर्धन्यः, संहितायाम्॥ श्रयः—किपष्टल इति मूर्धन्यादेशो निपात्यते, गोत्रविषये॥ वदार्थः किपष्टलो नाम सम्मान कपिष्टलो नाम यस्य कापिष्टलिः पुत्रः ॥

तीयः वादः]

報

टमा

IM

नान

ब

A II

àll

4]

19-TH

भाषार्थ:-[किपिष्ठल:] किपष्टल में मूर्धन्य आदेश निपातन है गोत्रे] गोत्र विषय को कहने में।।

गोत्र से यहाँ छौकिक गोत्र का प्रहण है, न कि पारिभाषिक (४)१।१६२)। छौकिक गोत्र में जिस विशिष्ट पुरुष से सन्तित का प्रारम्स होता है, उसकी एवं उसके आगे की गोत्र संज्ञा होती है। इस प्रकार इपिष्टल में आदि पुरुष मान कर पत्व हो गया है, अन्यथा अपत्यं पीत्रः भ्याः (शरा१६२) के कारण कापिष्ठिल्डः में ही पत्व होता, किपष्टल में नहीं।।

प्रष्टोऽग्रगामिनि ॥८।३।९२॥

प्रष्टः १)१।। अत्रगामिनि ७)१।। स०-अत्रे गच्छतीति अत्रगामी, क्षिन् ''तत्पुरुषः ॥ अनु - सः, मूर्धन्यः, संहितायाम्॥ अर्थः-प्रष्ट ग वि निपात्यते अयगामिन्यभिषेये ॥ उदा० — प्रतिष्ठत इति प्रष्टोऽसः ॥ भाषार्थः — [प्रष्टः] प्रष्ट इस शब्द में [अप्रगामिनि] अप्रगामी अभि-है। विय हो तो पत्व निपातन है।। प्रष्टोऽश्वः अर्थात् आगे चळने वाळा वस्व ॥ प्रष्ट: में सुपि स्थ: (३।२।४) से क प्रत्यय हुआ है ॥

बृक्षासनयोर्विष्टरः ॥८।३।९३॥

वृक्षासनयोः ७।२॥ विष्टरः १।१॥ स० - वृक्ष्य आसन्त्र वृक्षासने, व्योः इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनुः—सः, मूर्धन्यः, संहितायाम्॥ अर्थः— क्टर इति निपात्यते, वृक्षे आसने च बाच्ये ॥ उदाः —विष्टरो वृक्षः, विष्टरमासनम् ॥

भाषार्थ: - [वृद्धासनयोः] वृक्ष् तथा आसन वाच्य हो तो [विष्टरः] विष्टर शब्द में वत्व निपातन है।। वि पूर्वक रुद्वा से ऋदोरप् (३।३।४७) में अप् प्रत्यय करके विस्तर = विष्टर बना है ॥

यहाँ से 'विष्टरः' की अनुवृत्ति ८।३।६४ तक जायेगी।।

छन्दोनाम्नि च ॥८।३।९४॥

र्छन्दोनाम्नि ७।१।। च अ० ।। स०—छन्दसः नाम छन्दोनाम, तस्मिन् भन्दानाम्नि ७।१।। च अ० ।। स०—अन्दर्सः ।। प्रश्नेः— पष्टीतत्पुरुषः ।। अनु०—विष्टरः, सः, मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः— केपीनाम्नि सति विष्टार इत्यत्र मूर्धन्यादेशो निपात्यते ॥ उदाः—विष्टा-क्षिः छन्दः, विष्टारवृहती छन्दः ॥

भाषार्थः — [छन्दोनास्नि] छन्द का नाम कहूना हो तो [च] भी विष्टार शब्द में पत्व निपातन किया है ।। यहाँ यद्यपि 'विष्टरः' की अतु-वृत्ति आ रही थी किन्तु विष्टार में छन्दोनाम्नि च (३।३।३४) से वज् होने से वृद्धि (७।२।११५) होकर विष्टार ही वनेगा, अतः विष्टार निपातन माना है।। छन्द से यहाँ विष्टारपङ्क्ति आदि छन्द (छन्दों के नाम) गृहीत हैं न कि वेद । सिद्धि के छिये ३।३।३४ सूत्र ही देखें।।

गवियुधिस्यां स्थिरः ॥८।३।९५॥

गवियुधिभ्याम् ५१२।। स्थिरः १११।। स०—गवि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ •श्रनुः — सः, अपदान्तस्य सूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ श्रर्थः — गवि युषि इत्येताभ्यामुत्तरस्य स्थिरसकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति ॥ उदा०-गवि तिष्ठतीति गविष्टिरः, युधिष्टिरः ॥

भाषार्थ:—[गिवयुधिभ्याम्] गिव तथा युधि से उत्तर [स्थिः] स्थिर शब्द के सकार को मूर्धन्य आदेश होता है।। गवि युधि सप्तम्यन के अनुकरण रूप शब्द हैं। युधिष्टिरः में युधि के सप्तमी का अनुक् हलदन्तात्० (६।३।७) से हुआ है, तथा गो शब्द के अहल्दन होने से विभक्ति लुक् अप्राप्त था इसी सूत्र के निपातन से विभक्ति का अलुक् हुआ है।। पदादि मानकर सालदाद्याः (८।३।१११) से पत्व प्रतिषेध प्राप्त था तद्रथे यह वचन है।।

विकुशमिपरिभ्यः स्थलम् ॥८।३।९६॥

विकुशमिपरिभ्यः ५।३।। स्थलम् १।१।। सं - विश्व कुरच शमी च परिश्च बिकु रयः, तेभ्यः इतरेतरद्दन्द्वः ॥ श्रनु - सः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम्।। अर्थः—वि, कु, शिम, परि इत्येतेभ्य उत्तरस्य स्थलसकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति ॥ उदाः—विष्ठलम् , कुष्ठलम् , श्रमीनां स्थलम्≔ शमिष्टलम् , परिष्टलम् ॥

भाषार्थः—[विकुशमिपरिभ्यः] वि, कु, शमि तथा परि से उत्तर [स्थलम्] स्थल शब्द के सकार को मूर्धन्य आदेश होता है।। वि, क तथा परि के साथ स्थल का कुगतिप्रादयः (२।२।१८) से समास हुआ है। तथा शिमष्ठलम् में षष्ठीसमास हुआ है। शिमष्ठलम् में शमी को हुल ङ्यापोः संज्ञा० (६।३।६१) से होता है ।।

ादः]

यहाँ भूत्र में 'शमी' को हुस्व यह दर्शाने के लिये पढ़ा है, कि जब हो हिस्तत्व हो तभी पत्व हो। बहुल कहने से जब दीर्घ भी रहे तब कि न हो।।

अम्बास्यगोभूमिसन्यापद्वित्रक्कशेक्कश्रकङ्गमञ्जपञ्ज परमेवर्हिर्दिन्यग्निम्यः स्थः ॥८।३।९७॥

अम्बाः 'निनभ्यः ५।३॥ स्थः १।१॥ स०—अम्बा० इत्यत्रेतरेतरह्नन्द्रः॥ मृत्रे०—सः, अपदान्तस्य सूर्धन्यः, संहितायाम्॥ अर्थः—अम्ब, आम्ब, ो, भूमि, सन्य, अप, द्वि, त्रि, कु, शेक्षु, शङ्कु, अङ्गु, मिक्ष, पुक्षि, परमे, विवि, अनिन इत्येतेभ्य उत्तरस्य स्थशन्दस्य सकारस्य सूर्धन्यादेशोभवित ॥ उदा०—अम्बन्धः, आम्बन्धः, गोष्टः, भूमिन्धः, सन्येष्टः, अपष्टः, द्विः, त्रिष्टः, कुष्टः, शेक्षुष्टः, शङ्कुष्टः, अङ्गुष्टः मिक्षष्टः, पुक्षिष्टः, परमेष्टः, विविष्टः, अग्निन्छः, अर्गनिष्टः, दिविष्टः, अग्निन्छः।।

माषार्थ:—[श्रम्वा " गिनभ्यः] अम्ब, आम्ब, गो, भूमि, सव्य, अप, हैं है, त्रि, छु, रोकु, राङ्कु, अङ्गु, मिझ, पुझि, परमे, विहिस्, दिवि, किन इन शब्दों से उत्तर [स्थः] स्था के सकार को मूर्धन्य आदेश होता है। स्था से क प्रत्यय तथा आकार छोप करके 'स्थः' सूत्र में निर्देश है, जो उदाहरणों में कप्रत्ययान्त का ही प्रहण होगा। अम्बष्टः यहाँ अम्बा को स्थापोः संज्ञा० (६१३१६१) से हस्व होगा। गोष्टः में घवर्षे कविधानम् वा० ३१३१६८) से कु प्रत्यय तथा अन्यत्र सुपि स्थः (३१२१४) से क हुआ है। सक्येष्टः में हलदन्तात्० (६१३१७) से विभक्ति का अलुक् हुआ है। विभक्ति कर लेने पर ब्दुत्व पूर्ववत् हो ही जायेगा।।

सुषामादिषु च ॥८।३।९८॥

सुषामादिषु ७१३॥ च अ०॥ स० — सुषामा आदिर्येषां ते सुषामा-विसेषु वहुन्नीहि:॥ अनु० — सः, इण्कोः, अपदान्तस्य भूर्धन्यः, विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, संहितायाम्॥ अर्थः — सुषामादिषु शब्देषु कारत्य मूर्धन्यादेशो भवति॥ उदा० — शोभनं साम यस्यासौ सुषामा विकाणः, निष्षामा, दुष्षामा॥

माषार्थः—[सुषामादिषु] सुषामादि शब्दों के सकार को [च] भी हैं भिय आदेश होता है।। निस्दुस् के सकार को विसर्जनीय होकर वा शिर (८।३।३६) से पक्ष में सत्व तथा ष्टुत्व होकर निष्वामा दुष्वामा बना है।।

एति संज्ञायामगात् ॥८।३।९९॥

एति ७१।। संज्ञायाम् ७१।। अगात् ५।१॥ स० — त गः आस्ति समात् ''नन्तरपुरुषः ॥ श्रनु० — सः, इण्कोः, नुम्बिसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः — अगकाराद् इण्कोरुत्तस्य सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति, एकारे परतः संज्ञायां विषये॥ उदा० — हरयः सेना अस्य = हरिषेणः, वारिषेणः, जानुषेणी ॥

• भाषार्थः—[अगात्] गकारभिन्न इण् तथा कवर्ग से उत्तर सकार को [एति] एकार परे रहते [संज्ञायाम्] संज्ञा विषय में मूर्धन्य आदेश होता है।। उदाहरणों में 'सेना' को गोस्त्रियो० (१।२।४८) से हुस्वत हुआ है।।

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।३।१०० तक जायेगी॥

नक्षत्राद् वा ॥८।३।१००॥

नक्षत्रात् ४।१॥ वा अ०॥ अनु०—एति संज्ञायामगात्, सः, इण्कोः, नुम्बिसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम्॥ अर्थः— अगकारात् परस्य नक्षत्रवाचिनः शब्दादुत्तरस्य सकारस्य एति परतो संज्ञायां विषये विकल्पेन मूर्धन्यादेशो भवति॥ उदा०—रोहिणीषेणः, रोहिणीसेनः। भरिणीषेणः, भरिणीसेनः॥

भाषार्थः—आगकार से परे [नज्ञाद] नक्षत्र वाची शब्दों से वता सकार को एकार परे रहते संज्ञा विषय में [वा] विकल्प से मूर्षत्य आदेश होता है।। रोहिणी भरिणी नक्षत्रवाची शब्द हैं। अट्कुप्वाङ् (८।४।२) से णत्व हो ही जायेगा।। पूर्व सूत्र से नित्य प्राप्त था, विकल्पार्थ यह वचन है।।

हस्वाचादौ तद्धिते ॥८।३।१०१॥

ं , हस्वात् ५।१॥ तादौ ७।१॥ तद्धिते ७।१॥ स०—तकार आर्द्यिय स तादिस्तिस्मिन् ''बहुव्रीहिः ॥ श्रनु०—सः, इण्कोः, नुम्विसर्जनीयश्वर्यः वायेऽपि, मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ श्रर्थः—हस्वादिण उत्तरस्य सकारस्य गदः]

र्ष्वंन्यादेशो भवति तकारादौ तिद्धिते परतः ॥ उदा०—तरप्-सिर्पष्टरम् , ग्रुष्टरम् । तमप्-सिर्पष्टमम् , यजुष्टमम् । तय-चतुष्टये ब्राह्मणानां क्रिताः । तव-सिर्पष्टम् , यजुष्टम् । तल्-सिपष्टा, यजुष्टा । तसि-हिपष्टः, यजुष्टः । त्यप-आविष्टचो वर्द्धते ॥

माषार्थः — [हस्वात्] हस्व इण् से उत्तर सकार को [तादौ] तकागिद् [तिद्धते] तद्धित परे रहते मूर्धन्य आदेश होता है।। अपदान्तस्य
ग अधिकार होने से पदान्त स् को षत्व प्राप्त नहीं था विधान कर
देगा।। सिर्पस् यजुस् के स् को विसर्जनीय होकर पुनः तरप् (४१३।५७)
मप् (४१३।५५५) आदि परे रहते विसर्जनीय को सत्व (८१३१४) होकर
ग्रात् षत्व ष्टुत्व हो गया है। चतुष्ट्ये (७११) में भी इसी प्रकार चतुर्
सिङ्ल्याया श्रवयवै० (४१२।४२) से तयप् प्रत्यय हुआ है। तस्य
ग्वस्त्वतली (४१९११६०) से त्व तल्, अपादाने चाहीय० (५१४।४५)
में सिर्पष्टः, यजुष्टः (४११) में तिस, तथा आविस् शब्द से श्रव्ययात्०
शिरा१०३) में स्थित श्राविसङ्कन्दिस वास्तिक से त्यप् प्रत्यय हुआ है।।

यहाँ से 'तादी' की अनुवृत्ति ८।३।१०४ तक जायेगी।।

निसस्तपतावनासेवने ॥८।३।१०२॥

निसः ६।१।। तपतौ ७।१।। अनासेवने ७।१।। स० न आसेवनम् अनासेवनं तस्मिन्ः न्यान्यत्पुरुषः ।। श्रनु० सः, मूर्धन्यः, संहितायाम् ।। अर्थः निसः सकारस्य तपतौ परतो मूर्धन्यादेशो भवत्यनासेवनेऽर्थे ।। अत्येतनं पुनः पुनः करणम् , अनासेवनं तद्विपरीतम् ।। ।उदा० नेविष्ट-विष्टिनेविष्टेनेव

भाषार्थः—[निसः] निस् के सकार को [तपतौ] तपित परे रहते अनासेवने] अनासेवन अर्थ में मूर्धन्य आदेश होता है।। यह भूत्र भी बिन्तार्थ पूर्ववत् है।। आसेवन पुनः २ करने को कहते हैं, अनासेवन समे विपरीत, सो 'निष्टपित सुवर्णम्' का अर्थ है एक बार सोने को भाता है।।

युष्मत्तत्तत्रभुःव्वन्तः पादम् ।।८।३।१०३।।

युष्मत्तत्ततक्षुःषु ७।३॥ अन्तःपादम् १।१॥ स०—युष्मत् च तत् च

[वृतीयः

ततक्षुश्च युष्मत्तत्ततक्षुसस्तेषु ' 'इतरेतरद्वन्द्व: । अन्तः = मध्ये पादस्येति अन्तः पादम् , श्रव्ययं विभक्तिः (२।१।६) इत्यनेन विभक्त्यर्थे ऽव्ययीभाव-समासः ॥ श्रनु०-तादौ, सः, इण्कोः, नुस्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः—इण्कोशतरस्य सकारस्य तादौ युष्मत्, तत्, ततक्षुस् इत्येतेषु परतो सूर्धन्यादेशो भवति स चेत् सकारोऽनः पादं भवति ।। उदा० — युष्मद् – अग्निष्टुं नामासीत् । अग्निष्ट्वा वर्द्धयामिस। अग्निष्टे विश्वा मानाय । अप्स्वरने सिंघष्टव (ऋ० ८।४३।९)। तत्-अग्निष्टद्विश्वमाप्रणाति (ऋ०१०१२।४)। ततुक्षस्—चावाप्रथिवी निष्टतक्षुः (ऋ० १०।३१।४)।।

• भाषार्थः - इण् तथा कवर्ण से उत्तर सकार को तकारादि [युष्मतत्तर-तन्तुःषु] युष्मद्, तत्, तथा ततस्रुस् परे रहते सूर्धन्यादेश होता है, यह वह सकार [अन्तःपादम्] पाद के अन्तर् = मध्य में वर्तमान हो तो॥ उदाहरणों में सर्वत्र जिसको षत्व हुआ है वह ऋचा के मध्य में है। तादौ की अनुवृत्ति होने से युष्मद् को हुये जो तकारादि आदेश वही यहाँ छिये जायेंगे सो त्वाही सी (७।२।६४) से हुआ 'त्व', त्वामी द्वितीयायाः (८।१।२३) से द्वितीयान्त को हुआ 'त्वा' तवममी डिस (তাবাহ্ছ) से हुआ 'तव' तथा तेमयावेक (८।१।२२) से हुये ते आदेश के परे रहते सकार को मूर्धन्य हुआ है। तद्वत् क्रम से उदाहरण दिये हैं। तत् शब्द निपात है, तथा 'ततसुः' तस्र धातु के उस् में बना रूप है। पत्व कर लेने पर ब्हुत्व हो ही जायेगा।। पदान्तार्थ ही यह स्त्र भी है।।

यहाँ से 'युष्मचत्ततत्तुःषु' की अनुवृत्ति ८।३।१०४ तक जायेगी।।

यजुष्येकेषाम् ॥८।३।१०४॥

यजुषि ७।१।। एकेषाम् ६।३।। अनु > —युष्मत्तत्तत्रश्चःषु, तादौ, सः, इण्कोः, तुम्विसर्जनीयशर्वयायेऽपि, मूर्धन्यः, संहितायाम्।। अर्थः यजुषि विषये तादौ युष्मत्तत्ततक्षुःषु परत एकेषामाचार्याणां मतेन इण्कोरुत्तरस्य सकारस्य मूर्घन्यादेशो भवति ॥ उदा० अर्चिभिष्ट्रम् अचिभिस्त्वम्। अग्निष्टेऽप्रम्, अग्निस्तेऽप्रम्। अग्निष्टत्, अग्निस्तत्। अर्चिभिष्टतस्तुः, अर्चिभिस्ततस्तुः ॥

माषार्थः—[यज्जिष] यजुर्वेद् में तकारादि युष्मद् तत् तथा तत्रधुस

ाः |गदः]

ति रहते इण् तथा कवर्ग से उत्तर सकार को [एकेषाम्] एक = किन्हीं आवार्यों के मत में मूर्धन्य आदेश होता है।। एकेषाम् प्रहण विकल्पार्थ है, अर्थात् एक के मत में होता है, एक के मत में नहीं सो पक्ष में पत्व हीं होता।। पूर्ववत् पदान्तार्थ यह सूत्र भी है।। सु को विसर्जनीय तप्रवात् पर्ववत् सत्व (८।२।२४) होकर पत्त हुआ है।।

यहाँ से 'एकेषाम्' की अनुवृत्ति ८।३।१०६ तक जायेगी ॥ स्तुतस्तोमयोच्छन्दसि ॥८।३।१०५॥

स्तुतस्तोमयोः ६।२।। छन्दसि ०।१।। स०— स्तुत० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ म्वु०—एकेषाम्, सः, इण्कोः, नुम्विसर्जनीयशव्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्यन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः—इण्कवर्गाभ्यामुत्तरस्य स्तुत, स्तोम ह्येतयोः सकारस्य छन्दसि विषय एकेषामाचार्याणां मतेन सूर्धन्यादेशो म्विति ॥ उदा०—ित्रिभिष्दुतस्य, त्रिभिस्तुतस्य । गोष्टोमं षोडशिनम्, गोस्तोमं पोडशिनम् ॥

भाषार्थः—इण् तथा कवर्ग से उत्तर [स्तुतस्तोमयोः] स्तुत तथा स्तोम् के सकार को [छन्दिस] वेद विषय में कई आचार्यों के मत में मूर्धन्य आदेश होता है।। पूर्ववत् यहाँ भी एकेषाम् प्रहण से विकल्प होता है।। ष्विविश्व अक्षण सात्पदाद्योः (८।३।१११) से प्रतिषेध प्राप्त था, तद्र्थ यह विवान है।।

यहाँ से 'छन्दासि' की अनुवृत्ति ८।३।१०६ तक जायेगी।।

पूर्वपदात् ॥८।३।१०६॥

पूर्वपदात् ५।१॥ स०—पूर्वद्भादः पद्क्र पूर्वपदम् तस्मात् कर्मधारगत्पुरुषः ॥ अनु०—छन्द्सि, एकेषाम्, सः, इण्कोः, नुम्विसर्जनीयगर्वपवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः—पूर्वपदस्थानिमत्तादुत्तरस्य सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति छन्दसि विषय एकेषामागर्याणां मतेन ॥ उदा०—द्विषन्धः, त्रिषन्धः, मधुष्टानम्, द्विषाहस्रं
पर्वेति । पक्षे—द्विसन्धः, त्रिसन्धः, मधुस्थानम्, द्विसाहस्रं चिन्वीत ॥

रै. स्तोम शब्द में अत्तिस्तु० (उगा० १।१४०) से मन् प्रत्यय ब्दु घातु से हैं, अतः पदादि लक्षण निषेध प्राप्ति थी । स्तुत क्तान्त है ही ।

माषार्थः—[पूर्वपदात्] पूर्वपद में स्थित निमित्त (इण् तथा कर्का) से उत्तर सकार को वेद विषय में कई आचार्यों के मत में मूर्धन्य आदेश होता है।। द्विषन्धः, त्रिषन्धः में षष्टीतत्पुरुष अथवा बहुत्रीहि समास है। मधुष्टानम् में पष्टी समास, तथा द्विषाहस्त्रम् में तिद्वतार्थं० (२।१।५०) से समास हुआ है, अतः तत्र भवः (४।३।५३) से अण् एवं सङ्ख्यायाः० (७।३।१५) से उत्तरपद को वृद्धि हुई है।। पूर्ववत् यहाँ भी विकल्प होता है।।

यहाँ से 'पूर्वपदात्' की अनुवृत्ति ८।३।१०६ तक जायेगी।।

सुञः ॥८।३।१०७॥

सुञः ६।१।। श्रनु० — पूर्वपदात् , छन्द्सि, सः, इण्कोः, नुम्विसर्जनीयश्वर्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ।। श्रर्थः — पूर्वपदः स्थान्निमित्तादुत्तरस्य सुञः सकारस्य छन्द्सि विषये मूर्धन्यादेशो भवति ॥ उदा० — अभीषुणः सखी नाम् (ऋ० ४।३१।३)। ऊर्ध्व ऊषुणः (ऋ० १।३६।१३)।।

भाषार्थः — पूर्वपद में स्थित निमित्त से उत्तर [सुञः] सुञ् निपात के सकार को वेद विषय में मूर्घन्य आदेश होता है।। इकः सुजि (६।३।१३२) से सुञ् से पूर्व को दीर्घ तथा नश्च घातुस्थो० (८।४।२६) से नस् के न को ण हुआ है।।

सनोतेरनः ॥८।३।१०८॥

सकीतेः ६।१॥ अनः ६।१॥ स०—अविद्यमानो नकारो यस्य स अन् तस्मात् "बहुत्रीहिः॥ अनु०—पूर्वपदात्, छ्रन्द्सि, सः, इण्कोः, नुन्विः सर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम्॥ श्रर्थः— अनकारान्तस्य सनोतेः सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति छ्रन्द्सि विषये॥ उदा०—गोषाः, नृषाः॥

माषार्थः—[अनः] अनकारान्त (नकार भिन्न) [सनोतेः] सन् घातु के सकार को वेद विषय में मूर्धन्य आदेश होता है।। सिद्धि पूत्र श्रेश्य में देखें। सन् घातु के न् को आत्व हो जाने से अनकारान्त न् उदाहरणों में है।। पूर्वपदात् से ही षत्व सिद्ध था पुनः यह पूत्र नियम करता है कि 'अनकारान्त सन् को ही षत्व हो'।।

सहेः प्तनत्तीभ्यां च ॥८।३।१०९॥

सहे: ६।१॥ प्रतनत्तिभ्याम् ५।२॥ च अ०॥ स०—प्रतना च ऋतस्त्र गृतनत्ते, ताभ्यां 'इतरेतरद्वन्द्वः ॥ श्रनु०—पूर्वपदात्, छन्दसि, सः अपदान्तस्य मूर्धेन्यः, संहितायाम्॥ अर्थः—प्रतना ऋत इत्येताभ्या-गृत्तस्य सहेः सकारस्य छन्दिस विषये मूर्धन्यादेशो भवति॥ उदा०— गृतनाषाहम्, ऋताषाहम्॥

भाषार्थः—[पृतनर्त्ताभ्याम्] पृतना तथा ऋत शब्द से उत्तर [च]
भी [सहेः] सह घातु के सकार को वेद विषय में मूर्घन्य आदेश होता
है।। उदाहरणों में सह् से छन्दिस सहः (३।२।६३) से ण्वि प्रत्यय तथी
ग्रुत को अन्येषामिष (६।३।१३५) से दीर्घ हुआ है। द्वितीयान्त के ये
ब्प हैं। इण् से उत्तर न होने से पूर्वपदात् से प्राप्त नहीं था, विधान
गर दिया।।

न रपरसृपिसृजिस्पृश्चिसपृहिसवनादीनाम् ॥८।३।११०॥

न अ० ।। रपरः 'दीनाम् ६।३॥ स०—रः परो यस्मात् स रपरः, वहुत्रीहिः । सवनमादिर्शेषां ते सवनादयः, बहुत्रीहिः । रपरश्च सृपिश्च सृषिश्च सृष्टिश्च सवनादयश्च रपरः द्यस्तेषां 'दतरेतरद्वन्द्वः ॥ श्वन् ।, इण्कोः, नुम्विसर्जनीयश्च्येवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः—रेफपरस्य सकारस्य, सृपि सृजि, स्पृश्चि, स्पृहि स्येतेषां सवनादीनाञ्च सकारस्य मूर्धन्यो न भवति ॥ पूर्वपदात् (८।३।१०६) इति प्राप्ते प्रतिषिध्यते ॥ उदा०—रपरः-विसंसिकायाः काण्डं जुहोति । विस्तृ व्धः कथयति । सृपि-पुरा क्रूरस्य विस्पः । सृजिन् वाचे विसर्जनात् । स्पृश्चि-दिवस्पृशम् । स्पृहि-निस्पृहं कथयति । सवना-दीनाम्-सवने सवने, सृते २, सामे २ ॥

भाषार्थः—[रपर 'दीनाम्] रेफ परे है जिससे उसके सकार को तथा सृष्ट, सृजः, स्पृद्धा, स्पृद्ध एवं सवनादि गणपित शब्दों के सकार को मूधेन्य आदेश इण् कवर्ग से उत्तर [न] नहीं होता ।। पूर्वपदात से प्राप्ति का यह प्रतिषेध है ।। विसंसिकायाः (६।१) यहाँ वि पूर्वक संसु से संज्ञायाम् (३।३।१०९) से ज्वुल् हुआ है। विस्नब्धः सन्भु धातु वे कि का रूप है। अनिदितां० (६।४।२४) से नलोप, सवस्त० (८।२।४०)

से धर्व एवं जरत्व (८।४।५२) व् होकर विश्वच्धः वना है। यस्य विभाण (७।२।१५) में इट् प्रतिषेध भी यहाँ जानें। यहाँ स् से परे रेफ है॥ 'विसृपः' में स्पितृदोः० (३।४।१७) से कसुन् तथा 'विसर्जनात' में ल्युर् है। दिविस्पृशम् में स्पृशोऽनु० (३।२।५८) से किन् हुआ है, द्वितीयान का यह रूप है। तत्पुरुषे कृति० (६।३।१२) से यहाँ विभक्ति का अनुक् भी हुआ है। तिस्पृहम् में एरच् (३।३।५६) से अच् प्रत्यय तथा णि का छोप (६।४।५१) हुआ है। पुञ् का ल्युट् सप्तयन्त में सबने रूप है, वीप्सा में द्वित्व सर्वत्र हुआ है। पूज् का क्त में स्त तथा खणादि १।१४० से सोम बना है।।

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ८।३।११९ तक जायेगी।।

सात्पदाद्योः ॥८।३।१११॥

सात्पदाद्योः ६।२॥ स०—पद्स्य आदिः पदादिः, पष्टीतत्पुरुषः। सात् च पदादिश्च सात्पदाद्यौ तयोः 'इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—न, सः, क्रण्कोः, नुम्बिसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम्॥ श्रर्थः—सात् इत्येतस्य पदादेश्च सकारस्य मूर्धन्यादेशो न भवति॥ आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९) इत्यनेन प्राप्ते प्रतिषिध्यते ॥ उदा०—सात्-अग्निसात्, दिधसात्, मधुसात्। पदादेः-दिध सिक्चिति, मधुसिक्चित॥

भाषार्थ:—इण् तथा कवर्ग से उत्तर [सात्पदाद्योः] सात् तथा पद के आदि के सकार को मूर्धन्य आदेश नहीं होता ।। विभाषा साति कार्त्न्यें (५।४।५२) से साति प्रत्यय होता है, अतः प्रत्यय का सकार होते से पत्व प्राप्त था, निषेध कर दिया, एवं पदादि से आदेश छक्षण (८।३।५६) पत्व की जो प्राप्ति थी उसका निषेध होता है। षिच् धातु के ष् को स् हुआ है, अतः सिद्धति का स् आदेश का स् है। शे मुचादीनाम् (७।१।५६) से नुम् होकर सि नुम् च् अ ति = रचुत्व होकर सिद्धिति वन गया।।

सिचो यिङ ॥८।३।११२॥

्रैसिचः ६।१॥ यिङ ७।१॥ श्रमु०—न, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य पूर्धन्यः, संहितायाम्।। श्रर्थः—इण्कोरुत्तरस्य सिचः सकारस्य यिङ परती मूर्धन्यादेशो न भवति॥ उदा०—सेसिच्यते, अभिसेसिच्यते॥ ाः |पादः]

भाषार्थः—इण् तथा कवर्ग से उत्तर [सिचः] सिच् के सकार की विडि] यङ् परे रहते सूर्धेन्य आदेश नहीं होता ।। सेसिच्यते में श्रादेश-श्रवययोः (बाराध्धः) से सि के स् को बत्व प्राप्त था, तथा उपसर्गात् गुनोतिः (८।२।६५) से अभिसेसिच्यते में प्राप्त था, निषेध कर दिया ।।

सेघतेर्गतौ ॥८।३।११३॥

सेघतेः ६११।। गतौ ७११।। श्रनु०—न, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्घन्यः, संहितायाम् ॥ श्रर्थः— गतावर्थे वर्त्तमानस्य सेघतेः सकारस्य मूर्घन्यादेशो न भवति ॥ उदा०—अभिसेघयति गाः, परिसेघयति गाः॥

मापार्थ: —[गतौ] गित अर्थ में वर्त्तमान [सेघते:] पिघ गत्याम् धातु के सकार को मूघँन्य आदेश नहीं होता ।। पिघू शास्त्रे माङ्गल्ये च तथा पिघ गत्याम् इन दोनों घातुओं का उपसर्गात् सुनोति (८।३।६५) के सिघ निर्देश से वहाँ ग्रहण हो सकता है, अतः उस सूत्र से उभयत्र षत्व मिप थी, गित अर्थ धाले पिघ का निषेध कर देने से यहाँ पिघ गत्याम् बाले सिघ् को पत्व नहीं हुआ ।।

प्रतिस्तब्धनिस्तब्धौ च ॥८।३।११४॥

प्रतिस्तब्धिनस्तब्धौ १।२॥ च अ०॥ श्रनु०—न, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम्॥ अर्थः—प्रतिस्तब्ध निस्तब्ध इत्यत्र मूर्धन्याभावो निपात्यते॥ स्तन्भेरिति प्राप्ते प्रतिषिध्यते॥ उदा०— प्रतिस्तब्धः, निस्तब्धः॥

भाषार्थः—[प्रतिस्तब्धिनस्तब्धौ] प्रतिस्तब्ध निस्तब्ध शब्दों में चि] भी मूर्धन्याभाव निपातन है।। स्तन्मेः (८१३१६७) से षत्व प्राप्ति थी, निषेध निपातन कर दिया।। स्तन्भु के न का छोप (६१४१२४) तथा निष्ठा के त को धत्व एवं जश्त्व (८१४१२) होकर प्रतिस्तब्धः निस्तब्धः बना है।।

सोढः ॥८।३।११५॥

सोढः ६।१॥ अनु०—न, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहिता-याम्।। अर्थः—सोढ् इत्यस्य सकारस्य मूर्धन्यादेशो न भवति।। सोढ्भूतः सह्धातुरत्र गृह्यते सोढ् इत्यनेन।। उदा०—परिसोढः, परिसोढुम् भाषार्थः—[सोढः] सोढ् के सकार को मूर्घन्यादेश नहीं होता॥ सह धातु का ढत्व धत्व ष्टुत्वादि करके जो सोढ् रूप बनता है, उसका ही यहाँ सूत्र में निर्देश कर दिया है ॥ पिसनिविष्यः सेवसितः (८१३।७०) से यहाँ पत्व प्राप्ति थी, प्रतिषेध कर दिया ॥ सिहवहोरोदः (६१३।१९०) से सह् के अवर्ण को ओत् होकर परिसोढः आदि प्रयोग वनेंगे। शेष हो ढः (८१२।३१) आदि से ढत्वादि कार्य बहुत बार दिखाया जा चुका है ॥

स्तम्भ्रसिवुसहां चिंह ।।८।३।११६॥

• स्तम्भुसिवुसहाम् ६।३॥ चिङ ७।१॥ स० स्तम्भुष्ट्र सिवुष्ट्र सह् च स्तम्भुसिवुसहस्तेषां ''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ श्रवु० न, सः, इण्कोः, अपदान्त-स्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः स्तम्भु, सिवु, सह इत्येतेषां सकारस्य चिङ परतो मूर्धन्यादेशो न भवति ॥ स्नन्भेः (८।३।६७) परिनिविभ्यः इति च प्राप्ते प्रतिषिध्यते ॥ उदा० स्तम्भु पर्यतस्तम्भत्, अभ्यत-स्तम्भत् । सिवु पर्यसीषिवत्, न्यसीषिवत् । सह-पर्यसीषहत्, न्यसीषहत् ॥

भाषार्थः—[स्तम्मुसिवुसहाम्] स्तम्भु, िषवु, तथा पह धातु के सकार को चिहा चक् परे रहते मूर्धन्य आदेश नहीं होता।। स्तम्भु को स्तन्मेः (८१३१६७) से तथा अन्यों को परिनिविभ्यः (८१३१७०) से पत्र प्राप्त था, प्रतिषेध कर दिया। उपसर्ग से उत्तर इनके अभ्यास के सकार को स्थितिष्मभ्यासेन चा० (८१३१६४) से तथा सिवादीनां० (८१३१०१) से अट् के व्यवाय में भी बत्व प्राप्ति थी, प्रतिषेध हो गया। अभ्यास से उत्तर तो ब्रादेश० (८१३१६६) से पत्त्र हो ही जायेगा।। णिजन्त के लुड़ में सिद्धियाँ बहुत बार परि० ६१४१११ आदि में दिखा चुके हैं तद्वत् यहाँ भी जानें। पर्यतस्तम्भत् में शर्पूर्वाः खयः (७१४१६१) से अभ्यास का खय् शेष रहा है। सिव् को लघूपध गुण तथा सह की उपधा को वृद्धि णिच् परे हुई थी, सो दोनों को ग्री चङ्यु० (७१४११) से हुस्व एवं सन्वद्भाव होकर अभ्यास को अपीपचत् के समान इत्वादि कार्य हुए हैं।।

सुनोतेः स्यसनोः ॥८।३।११७॥

सुनोतेः ६।१।। स्यसनोः ७।२॥ स०-स्यश्च सन् च स्यसनौ तयोः ।
तर्तरद्वन्द्वः ॥ श्रनु०---न, सः, ६ण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः,
हितायाम् ॥ श्रर्थः---स्ये सनि च परतः सुनोतेः सकारस्य मूर्धन्यादेशो
त भवति ॥ उदा०-अभिसोष्यति, परिसोष्यति, अभ्यसोष्यत् (लड्ड्)
वर्षसोष्यत् । सनि-अभिसुसुः ॥

भाषार्थः—[स्यसनोः] स्य तथा सन् परे रहते [सुनोतेः] सुनोति (पुन्) के सकार को मूर्धन्य आदेश नहीं होता ।। उपसर्गात् सुनोति (पुन्) के सकार को मूर्धन्य आदेश नहीं होता ।। उपसर्गात् सुनोति (धाइ १६४) से बत्व प्राप्ति थी प्रतिपेध कर दिया । सन्नन्त के उदाहरण में 'अभि सुसू व' परि १।२।६ के चिचीषति के समान बना । पश्चात् सुसू व' की धातु संज्ञा होकर उससे किवप् (३।२।७६) हुआ । किवप् म सर्वापहारी छोप एवं अतो लोपः (६।४।४८) उगकर तथा पत्व के असिद्ध हो जाने से प् को स् मानकर रूत्व विसर्जनीय हो कर 'अभिसुसूः' का गया ।।

सदेः परस्य लिटि ॥८।३।११८॥

सदेः ६।१।। परस्य ६।१।। छिटि ७।१।। श्रवुः—न, सः इण्कोः, ^{अपदान्तस्}य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः—सदेः घातोर्छिटि परतः परस्य ^{सकारस्य} मूर्धन्यो न भवति ॥ *उदा*ः—अभिषसाद, परिषसाद, ^{निषसाद}, विषसादे ॥

भाषार्थ:—[लिटि] छिट् परे रहते [सदेः] षद धातु के भिरस्य]
पर वाले सकार को मूघॅन्य आदेश नहीं होता है।। छिट् में द्विवचन कर
लेने पर दो सकार हो जाते हैं, तो स्थादिष्यस्या० (८।३।६४) सूत्र से
अभ्यास के व्यवाय में भी सिद्रप्रतेः (८।३।६६) से पर वाले सकार
को पत्व प्राप्त था, निषेध हो गया। पूर्व वाले सकार को तो सिद्रप्रतेः
से पत्व हो ही जास्रेगा, क्योंकि यहाँ पर वाले का ही निषेध है।।

निन्यभिभ्योऽङ्ग्यवाये वा छन्दिस ॥८।३।११९॥

निव्यभिभ्यः ५।३॥ अङ्व्यवाये ७।१॥ वा अ०॥ अन्दसि ७।१॥ व निम्न विस्र अभिस्र निव्यभयस्तेभ्यः इतरेतरद्वन्द्वः । अटा व्यवायोऽड्व्यवायस्तस्मिन् ''तृतीयातत्पुरुषः ।। अनु० – न, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ।। अर्थः — नि, वि, अभि इत्येतेभ्य उपसर्गेभ्य उत्तरस्य सकारस्याङ्व्यवाये छन्द्सि विषये विकल्पेन मूर्धन्यादेशो न भवति ।। उदा० — न्यधीद्त् पिता नः । व्यधीद्त् पिता नः । व्यधीद्त् पिता नः । व्यधीद्त् पिता नः । व्यधीद्त् पिता नः । व्यसीद्त्, व्यसीद्त्, अभ्यस्तौत् ।।

मार्गर्थः—[निव्यिभिन्यः] नि, वि तथा अभि उपसर्गों से उत्तर सकार को [अड्व्यवाये] अट् का व्यवधान होने पर [छुन्दिस] वेद विषय में [वा] विकल्प से मूर्धन्य आदेश नहीं होता ।। अर्थात् विकल्प होता है।। पूर्व सूत्र से 'सदेः' की अनुवृत्ति नहीं आ रही, अतः सामान्य रूप से इन उपसर्गों से उत्तर सकार को पत्व का विकल्प होता है। इस प्रकार जिस किसी सूत्र से पत्व की प्राप्ति हो उसी का छन्द में पक्ष में प्रतिषेध हो जाता है। पद्लु को पात्राध्मा० (७१३७८) से सीद आदेश होकर छङ् में न्यधीदत् आदि प्रयोग बने हैं, सो सिदरफ्रोः (८१३१६६) से नित्य पत्व प्राप्त था, विकल्प कर दिया। व्यष्टीत् आदि में उपसर्गात् सुनो० (८१३१६५) की नित्य प्राप्ति थी, विकल्प कर दिया। वि अ स्तौ त्=(छङ्) व्यष्टीत्, व्यस्तौत् उतो वृद्धि० (७१३१८९) से वृद्धि एवं शप् का जुक् (२१४१७२) होकर बन गया है।।

॥ इति तृतीयः पादः॥

-:0:-

चतुर्थः पादः

रषाभ्यां नो णः समानपदे ॥८।४।१॥

रषाभ्याम् ४।२॥ नः ६।१॥ णः १।१॥ समानपद्दे ०।१॥ स० रख्न षश्च रषौ, ताभ्यां "इतरेतरद्वन्द्वः । समानख्न तत् पद्द्व समानपदं तस्मिन् "कर्मधारयतत्पुरुषः ॥ अनु — संहितायाम् ॥ अर्थः — रेफ्ष-काराभ्यामुत्तरस्य नकारस्य णकारादेशो भवति एकस्मिन् पदे, एकस्मिन्नेव पदे चेन्निमित्तनिमित्तिनौ भवतः ॥ जदा० — रेफात् - आस्तीर्णम्, तः | तदः]

क्षीर्णम् । ऋकारान्तर्वितिरेफश्रुतिमाश्रित्यापि भवति मातॄणाम् पितॄणाम् । कारात्—कुष्णाति, पुष्णेप्रति, मुष्णाति ।।

यहाँ से 'रषाभ्यां नो ए:' की अनुवृत्ति ८।४।३८ तक जायेगी।।

अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि ॥८।४।२॥

अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवाये ७।१॥ अपि अ०॥ स०—अट् च कुख्र पुश्च आङ् च नुम् च अट् न्नुमः, इत्येतैव्यवायोऽट्व्यवायस्तस्मिन् द्रन्द्रभिवृतीयातत्पुरुषः ॥ अनु०—रषाभ्यां नो णः, संहितायाम्॥ अर्थः—
अट्, कु, पु, आङ्, नुम् इत्येतैव्यवायेऽपि रेफषकाराभ्यामुत्तरस्य
कारस्य णकारादेशो भवति ॥ उदा०—अड्व्यवाये—करणम्, हरणम्।
किरिणा, गिरिणा । कुरुणा, गुरुणा । कवर्गव्यवाये—अर्केण, मूर्लेण,
भिण, अर्घेण । पवर्गव्यवाये—दर्पेण, रेफेण, गर्भेण, चर्म्मणा, वर्म्भणा ।
आङ्व्यवाये—पर्याणद्धम्, निराणद्धम् । नुम्व्यवाये—बृंहणम्, बृंहणीम्॥

भाषार्थ:—रेफ तथा षकार से उत्तर [ग्रट्कु: 'वाये] अट् (प्रत्यारि) कु = कवर्ग, पु = पवर्ग, आङ् तथा नुम् का व्यवधान होने पर
रि) भी नकार को णकार हो जाता है।। करणम् आदि में रेफ एवं
रिके मेंध्य में अ, इ, उ (अट्) का व्यवधान है तो भी णत्व हो गया
रि अर्केण आदि में रेफ से उत्तर कवर्ग एवं अट् 'ए' का व्यवधान है,

१. ये ऋकारे रेफश्रुति नाद्रियन्ते तेषां मते ऋकारग्रहणमत्र सूत्र उपसंख्यायते । ४५

तो भी णत्व हो गया।। अट् आदि का व्यवधान चाहे पृथक् पृथक् का हो या अट् कवर्गादि का समुदित रूप में हो वर्था अर्केण आदि में कर्का एवं अट् का है, प्रत्येक अवस्था में णत्व हो जाता है।। नद्धम् की सिद्धि सूत्र ८१२।३५ में देखें। तद्धन् परि आ नद्धम् = यहाँ अट् एवं आङ् के व्यवधान में भी णत्व होकर पर्याणद्धम् निराणद्धम् वन गया। बृहि को इदितो नुम्० (७११५८) से नुम्, एवं नश्चापदान्तस्थ० (८१३१२४) से नुम् को अनुस्वार होकर वृंहणम्, वृंहणीयम् वना है, सो यहाँ नुम् एवं अट् के व्यवधान में भी णत्व हो गया है। यहाँ ऋकार अन्तर्गत रेफ श्रुति है उससे उत्तर व्यवधान में भी णत्व हो गया है। यहाँ ऋकार अन्तर्गत रेफ

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।४।३= तक जायेगी।।

पूर्वपदात् संज्ञायामगः ॥८।४।३॥

पूर्वपदात् ५।१॥ संज्ञायाम् ७।१॥ अगः ५।१॥ सः—अविद्यमाने गकारो यस्मिन् स अग् तस्मात् वहुक्रीहिः ॥ अनु —रषाभ्यां ने णः, अट्कुप्वाङ्नुम्वयवायेऽपि, संहितायाम्॥ अर्थः—गकारवर्जितात् पूर्वपदस्थान्निमित्तादुत्तरस्य नकारस्य णकार आदेशो भवति संज्ञायां विषये॥ उदा०—दुणसः, वार्ध्राणसः, खरणसः, शूर्पणखा॥

माषार्थ: — [अगः] गकार भिन्न [पूर्वपदात्] पूर्वपद में स्थित निरित्त से उत्तर [संज्ञायाम्] संज्ञा विषय में नकार को णकारादेश होता है।। पूर्व सूत्र से गकार के व्यवधान में भी शाप्ति थी, 'अगः' प्रतिषेध कर दिया। रषाभ्याम् (८।४।१) से समान पद (एक ही पद) में ही जल प्राप्ति थी, यहाँ पूर्वपद में स्थित निमित्त से उत्तर उत्तरपद को भी जल विधान कर दिया!! सिद्धियाँ ५।४।११८ सूत्र में देखें। सभी उदाहरणों में बहुन्नीहि समास है, एवं ये किसी की संज्ञायें हैं। वार्प्रीव नासिका यस्य स = वाद्र्जीणसः मृगविशेष को कहते हैं!।

यहाँ से 'पूर्वपदात्' की अनुवृत्ति ८।४।१३ तक तथा 'संज्ञायाम्' की ८।४।४ तक जायेगी ।।

वनं पुरगामिश्रकासिधकाशारिकाकोटराग्रेभ्यः ॥८।४।४॥

वनम् १।१॥ षष्टीस्थाने व्यत्ययेन प्रथमा ॥ पुरगा प्रेभ्यः श्री स
स
ज्पुरगार्च मिश्रकारच सिध्रकारच शारिकारच कोटराश्च अमे व

रे: गदः]

हा हुणा प्रयस्तेभ्यः इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—पूर्वपदात् संज्ञायाम्, हो बाभ्यां नो णः, अट्कुष्वोङ्नुम्ब्यवायेऽपि, संहितायाम् ॥ ऋर्थः—पुरगा, हे क्षिक्रका, सिश्रका, शारिका, कोटरा, अग्ने इत्येतेभ्यः पूर्वपदेभ्य उत्तरस्य के क्षिक्रका नकारस्य णकारादेशो भवति संज्ञायां विषये॥ उदा०—

के रागवणम्, सिश्रकावणम्, सिध्रकावणम्, शारिकावणम्, कोटरावणम्,

से अप्रेवणम् ।।

त्

यां

माषार्थः — [पुरगा — ग्रेभ्यः] पुरगा, मिश्रका, सिश्रका, शारिका, के रिरा, अग्रे इन शब्दों से उत्तर [वनम्] वन शब्द के नकार को कारादेश संज्ञा विषय में होता है ।। पुरगावणम् आदि में पष्टी समास । उदाहरणों में वनिगर्थोः (६।३।११५) से पूर्वपद को दीर्घ हुआ है । अंवणम् में वनस्य अग्रे यहाँ षष्टी समास करके राजदन्तादिषु । (६।३।४) से वनम् का परिनिपात तथा हलदन्तात् सप्तम्याः (६।३।४) वो अग्रे की सप्तमी का अलुक् हुआ है ।।

यहाँ से 'वनम्' की अनुवृत्ति ८।४।६ तक जायेगी।।

प्रनिरन्तःशरेक्षुप्लक्षाम्रकार्ष्यखदिरपीयृक्षाभ्योऽ संज्ञायामपि ॥८।४।५॥

प्रितः स्थाभ्यः ५।३॥ असंज्ञायाम् ७।१॥ अपि अ०॥ स०—प्रितः वित्रेतरेतरद्वन्द्वः । असंज्ञाः इत्यत्र नञ्ततपुरुषः ॥ अनुः — वनम् , विदात् , अट्कुप्त्राङ्गुम्वयवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ वश्यः — प्र, निर् अन्तर् , शर्, इक्षु, प्रक्ष्यं, आम्र, कार्व्यं, खिद्रं, पीयूक्षा वितेभय उत्तरस्य वनशब्दस्य नकारस्य संज्ञायामपि, असंज्ञायामपि । अति। उदाः प्र-प्रवणे यष्टव्यम् । निर्-निवेणे प्रति। अन्तर्-अन्तवेणे । शर्-शरवणम् । इक्षु-इक्षुवणम् । प्रक्ष्य-अस्वणम् । अम्तर्-आम्रवणम् । कार्व्य-कार्यवणम् । खिद्र-खिद्रं । प्रियूक्षा-पीयूक्षावणम् ॥

ना

अर्व्ययीभाव (२।१।५) समास तथा अन्यों में षष्टी समास हुआ है। वे शब्द संज्ञा और असंज्ञा दोनों रूप में हैं॥

विसाषीषधिवनस्पत्तिस्यः ॥८।४।६॥

विभाषा १।१॥ ओषधिवनस्पतिभ्यः ५।३॥ स०-ओषधिख वनस्पतिश्च ओषधिवनस्पती, तेभ्यः इतरेतरदृन्दः ॥ श्रनुः वनम्, पूर्वपदात्, अट्कुप्ताङ्नुम्वयवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम्॥ श्रर्थः--ओपिंघवाचि यत् पूर्वेपदं वनस्पतिवाचि न्निमित्तादुत्तरस्य वनशब्दस्य नकारस्य विकल्पेन • भवति ॥ उदाः—ओषधिवाचिभ्यः—दूर्वावणम् , दूर्वावनम् । मूर्वावणम्, मूर्वावनम् । वनस्पतिभ्यः-शिरीषवणम्, शिरीषवनम् । बद्रीवणम्, बदरीवनम् ॥

भाषार्थः—[स्रोषधिवनस्पतिभ्यः] ओषधिवाची तथा वृतस्पतिवाची जो पूर्वपद वाले शब्द उनमें स्थित जो णत्व के निमित्त उससे उत्तर का शब्द के नकार को [विभाषा] विकल्प करके णकार आदेश होता है॥

अह्नोऽदन्तात् ॥८।४।७॥

अहः १।१।। पूर्ववत् षष्ट्याः स्थाने प्रथमा ।। अदन्तात् ५।१॥ स०-होत अत् अन्ते यस्य स अव्नतस्तस्मात् "बहुव्रीहि: ॥ श्रवु - पूर्वपदात्, अट्डु प्वाङ् तुम्व्यवायेऽपि, रपाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ अर्थः - अदत्तं यत्पूर्वपदं तत्स्थान्निमित्तादुत्तरस्याह्वो नकारस्य णकार आदेशो भवित॥ उद्गाक-पूर्वाह्वः, अपराह्वः॥

माषार्थ:—[अदन्तात्] अदन्त जो पूर्वेपद उसमें स्थित निमित्ताये (रेफ पकार) से उत्तर [अह:] अह्न के नकार को णकार होता है।।।।। सिद्धि परि० २।४।२६।में देखें। पूर्व शब्द में रेफ णत्व का निमित्त है।

वाहनमाहितात् ॥८।४।८॥ .

वाहनम् १।१॥ आहितात् ५।१॥ श्रनु०—पूर्वपदात्, अट्डुप्बाह् नुम्ब्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम्।। श्रर्थः—आहितवादि यरपूर्वपदं तत्स्थान्निमित्तादुत्तरस्य वाह्ननकारस्य णकार आदेशो भवित ॥ उदा०—इक्ष्णां वाहनम् = इक्षुवाहणम्, शरवाहणम्, दर्भवाहणम्।।

र्थः पादः]

Į,

₹,

11

भाषार्थ:—[त्राहितात्] आहितवाची जो पूर्वपद तत्स्थ निर्मित्त से हत्तर [वाहनम्] वाहन शब्द के नकार को णकार आदेश होता है।। शहन शक्ट इत्यादि को कहते हैं, और उसमें जो पदार्थ रखा (भरा) जाता है वह आहित कहाता है।।

पानं देशे ॥८।४।९॥

पानम् १११। देशे ७।१॥ अनु०—पूर्वपदात्, अट्कुप्वाङ्नुम्हय-ग्रेशां ग्रेडिप, रचाभ्यां नो णः, संहितायाम्।। अर्थः—पूर्वपदस्थां निमित्ता-ग्रेतस्य पाननकारस्य देशाभिधाने णकार आदेशो भवति।। उदा०— श्रीरं पानं येषां ते श्लीरपाणा उशीनराः। सुरापाणाः प्राच्याः। सौवीरपाणाः गृह्यीकाः। कषायपाणा गन्धाराः।। पीयते इति पानम्, कृत्यल्युटो० ११३।११३) इति कर्मणि ल्युट्।।

भाषार्थ:—पूर्वपद में स्थित निमित्त से उत्तर [पानम्] पान शब्द के कार को [देश] देश का अभिधान हो रहा हो तो णकार आदेश होता है।। क्षीरपाणाः = क्षीर पान करने वाले उशीनर देशवासी, यहाँ शिभिधान स्पष्ट है।। 'पान' से यहाँ जो पिया जाए उसका प्रहण होता है।।

यहाँ से 'पानम्' को अनुवृत्ति ८।४।१० तक जायेगी।।

वा भावकरणयोः ॥८।४।१०॥

वा अ० ॥ भावकरणयोः ७।२॥ स०—भावश्च करणञ्च भावेकरणे कायोः इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—पानम्, पूर्वपदात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्य॥ विश्वादात् । अनु०—पानम्, पूर्वपदात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्य॥ विश्वादायां नो णः, संहितायाम् ॥ अर्थः—पूर्वपदस्थानिमित्ता॥ वित्रस्य भावे करणे च यः पानशब्दस्तस्य नकारस्य णकार आदेशो
किल्पेन भवति ॥ उदा०—भावे—क्षीरपाणं वर्त्तते, त्तीरपानम् । कषाय॥ कषायपानम् । सुरापाणम्, सुरापानम् । करणे—क्षीरपाणः कंसः,

माषार्थ:—पूर्वपद में स्थित निमित्त से उत्तर [मावकरणायोर] , विवास करण में वर्त्तमान जो पान शब्द उसके नकार को [वा] किए से णकार आदेश होता है।। भाव में पान शब्द का विप्रह

पीतिः = पानम् होगा, तथा करण में पीयते अनेन = पानः यहाँ करणा वी धिकर ग्रायोश्च (३।३।११७) से ल्युट् होता है ।।

यहाँ से 'वा' की अनुवृत्ति ८।४।११ तक जायेगी।।

प्रातिपदिकान्तनु स्विभक्तिषु च ॥८।४।११॥

प्राति ''क्तिषु ७।३॥ च अ०॥ स०—प्रातिपदिकस्य अन्तः प्राति के पिद्कान्तः, षष्टीतत्पुरुषः। प्रातिपदिकान्तः नुम् च' विभक्तिष्ठ विष्ठ प्राति ''क्तंयस्तेषु ''इतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु — वा, पूर्वपदात् , अट्कुष्वाहः अनु — वा, पूर्वपदात् , अट्कुष्वाहः अनु — वा, पूर्वपदस्थानि । व्रम्वयवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ अर्थः —पूर्वपदस्थानि । हिमत्तादुत्तरस्य प्रातिपदिकान्ते नुमि विभक्ती च यो नकारस्तस्य वा व्हण्यादेशो भवति ॥ उदाः — प्रातिपदिकान्ते – माषवापिणौ, मापवापिनौ । नुमि — माषवापाणि, मापवापानि । व्रीहिवापाणि, व्रीहिवापानि । सि विभक्तौ – माषवापेण, माषवापेन । व्रीहिवापेण, व्रीहिवापेन ॥

भाषार्थ: — पूर्वपद में स्थित निमित्त से उत्तर [प्राति किष]
प्रातिपदिक के अन्त में जो नकार तथा नुम् एवं विभक्ति में जो नकार उसको [च] भी विकल्प से णकार आदेश होता है।। माषवापिणो गहाँ माष उपपद रहते वप धातु से बहुलमार्भी च्रये (३।२।८१) से णिति प्रत्यय होकर माषवापिन् औ रहा। अब यह प्रातिपदिक के अन्त का नकार है, सो उसे णत्व हो गया। माषान् वपन्तीति माषवापिण गहाँ कमंग्यण् (३।२।१) से अण् प्रत्यय होकर 'माप वाष' बना, तत्पश्चात परि० १।१।४१ के कुण्डानि के समान सब कार्य होकर माषवापित रहा। पूर्वपद में षकार णत्व का निमित्त है, अतः नुम् के न् को जल होकर माषवापाण बन गया। इसी प्रकार माषवापेण में 'इन' (७।१।१२) के विभक्ति का नकार है, सो उसे णत्त्व हो गया।।

यृहाँ से 'प्रातिपदिंकान्तनुम्निमक्तिषु' की अनुवृत्ति ८।४।१३ तक जायेगी।।

एकाजुत्तरपदे णः ॥८।४।१२॥

्र एकाजुत्तरपदे ७११।। णः १११।। स० — एकोऽच् यस्मिन् स एकाच् बहुव्रीहिः।। पकाच् उत्तरपदं यस्य स एकाजुत्तरपद्स्तस्मिन् बहुव्रीहिः॥ श्रवु०—प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु, पूर्वपदात्, अटकुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि,

निर्महतायाम् ।। अर्थः - एकाजुत्तरपदे समासे पूर्वपदस्थान्निमित्तादुत्तरस्य श्रीतपदिकान्तनुस्विभक्तिषु च यो नकारस्तस्य णकारादेशो भवति॥ द्याः – वृत्रहणौ, वृत्रहणः । नुमि –क्षीरपाणि, सुरापाणि । विभक्तौ – श्रीरपेण, सुरापेण ॥

र्वः गदः]

1

à

đ

भाषार्थः — [एकाजुत्तरपदे] एक अच् है उत्तरपद् में जिस समास के वहाँ, पूर्वेपद में स्थित निमित्त से उत्तर प्रातिपदिकान्त नुम् तथा अ विभक्ति के निकार को [राः] णकार आदेश होता है।। वृत्रहणौं में वृत्र विषद् रहते हन् धातु से वसभूगाः (३।२।८७) से किए हुआ है। हाँ हन एक अच्वाला पद उत्तरपद में है। क्षीरं पिबन्ति = क्षीरपाणि, ग हाँ श्रातोऽनुपस० (३।२।३) से क प्रत्यय एवं आतो लोप० (६।४।६४)° ि अकार छोप होकर 'क्षीरप' से बहुवचन में कुण्डानि के समान । सिद्धि जानें ॥

कुमति च ॥८।४।१३॥

कुमति ७११।। च अ०।। अनु०-प्रातिपदिकान्तनुम्बिभक्तिषु, पूर्वपदात्, भट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ वुरस्मिन्नस्तितत् कृमत् तस्मिन् "मतुप्प्रत्ययः ॥ अर्थः —पूर्वपद्स्थानिभित्तादुत्तरस्य वर्गवित चोत्तरपदे प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु नकारस्य णकारादेशो मवति ।। उदा - वस्त्रयुगिणौ, वस्त्रयुगिणः । स्वर्गकामिणौ, वृषगा-मणौ। नुमि-वस्त्रुस्य युगाणि = वस्त्रयुगाणि, खरयुगाणि। विभक्तौ-सत्रयुगेण, खरयुगेण ॥

भाषार्थ:-पूर्वेपद में स्थित निमित्त से उत्तर [कुमित] कदिनेवान गब्द उत्तरपद रहते [च] भी प्रातिपदिकान्त नुम् तथा विभक्ति के नकार को णकार आदेश होता है।। पूर्व सूत्र से एकाच् उत्तरपद परे रहते ही भाष्त था, अनेकाच् उत्तरपद परे रहते भी हो जाये, इसिलये यह वचन युग से अत इनिठनौ (४।२।११४) से इनि प्रत्यय होकर युगिन् वना, पश्चात् वस्त्रयोर्युगिनौ = वस्त्रयुगिणौ, वस्त्रयुगिणः, और इसी प्रकार क्रिकामिणी वृषगामिणी आदि रूप बने हैं। युग काम आदि शब्द क्षगंबान् हैं ही !!

उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य ॥८।४।१४॥ उपसर्गात् ४।१॥ असमासे ७।१॥ अपि अ०॥ णोपदेशस्य ६।१॥

सo-- न समासोऽसमासस्तस्मिन् "नञ्तत्पुरुषः । ण उपदेशे यस्य (धातोः) स णोपदेशस्तस्य "बहुब्रीहिः॥ अनु०-अट्कुप्वाङ्नुस्त्र-वायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम्।। अर्थः - उपसर्गस्थान्निमित्ता-दुत्तरस्य णोपदेशस्य धातोयीं नकारस्तस्य णकारादेशो भवति, अस-मासेऽपि ॥ उदा०-असमासे-प्रणमति, परिणमति । समासे-प्रणायकः, परिणायकः ॥

भाषार्थः—[उपसर्गात्] उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर [ग्रोप-देशस्य] णंकार उपदेश में है जिसके ऐसे घातु के नकार को [असमासे] असमास में तथा अपि त्रहण से समास में [अपि] भी णकार आदेश होता है ।। प्रणायकः परिणायकः में प्रादि (२।२।१८) समास हुआ है, तथा प्रणमति णम घातु से बना है। इस प्रकार णीव एवं णम दोनों णोपदेश धातु हैं।।

यहाँ से 'उपसर्गात्' की अनुवृत्ति ८।४।२२ तक जायेगी।।

हिनुमीना ॥८।४।१५॥

हितु, मीना लुप्तषष्ठयन्तनिर्देशः॥ अनु०—उपसर्गात् , अट्डुप्या-ङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम्।। अर्थः—हिनु मीना इत्येतयोरुपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य नकारस्य णकार आदेशो भवति॥ उदा॰—प्रहिणोति, प्रहिणुतः । प्रमीणाति, प्रमीणीतः ॥

भाषार्थ:—उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर [हिनु मीना] हिनु तथा मीना के नकार को णकार आदेश होता है।। हि गती घातु से स्वादिभ्यः शृतुः (३।१।७३) से श्तु विकरण करके सूत्र में 'हिनु' निर्देश किया है, तथा मीञ् हिंसायाम् से इना विकरण (३।१।८१) करके भीना निर्देश किया है।। प्रमीणीतः में श्ना के आ को ई हल्यघोः (६।४।११३) से ईत्व हुआ है।।

आनि लोट् ॥८।४।१६॥

आनि लुप्तषष्ट्यन्तनिर्देशः ॥ छोट् १।१॥ अनु - उपसंगीत्। अंद्रुख्वाङनुम्वयवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम्॥ अर्थः उपसगस्थान्निमित्तादुत्तरस्य लोडादेशस्य 'आनि' इत्येतस्य नकारस्य णका रादेशो भवति ॥ उदा०—प्रवपाणि, परिवपाणि । प्रयाणि, परियाणि ॥

Ī

भाषार्थः—उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर [लोट्] छोडादेश जो [म्रानि] आनि उसके नेकार को णकारादेश होता है।। मेनिः (३।४।८९) से मि को नि तथा आंडुत्तमस्य० (३।४।६२) से आट् आगम होकर जो 'आनि' रूप बनता है, उसका यहाँ प्रहण है।।

नेर्गद्नद्पतपद्यमास्यतिहन्तियातिवातिद्रातिष्साति-व्यतिवहतिशास्यतिचिनोतिदेग्धिषु च ॥८।४।१७॥

ने: ६।१॥ गद्' 'देग्धिषु ७।३॥ च अ०॥ स०-गद्नद्० इत्यत्रे-तरेतरद्वन्द्वः ॥ श्रनु० - उपसर्गात् , अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ अर्थः - उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य नेरित्येतस्य नकारस्य णकारादेशो भवति, गद्, नद्, पत, पद्, घु, मा, स्यति, हन्ति, याति, वाति, द्राति, प्साति, वपति, वहति, शाम्यति, चिनोति, देग्धि इत्येतेषु परतः ।। उदा०-गद्-प्रणिगद्ति, परिणिगद्ति । नद्-प्रणिनद्ति, परिणिनद्ति । पत-प्रणिपतित, परिणिपतित । पद-प्रणिपद्यते, परिणि-पद्यते । घुसंज्ञकस्य-प्रणिददाति, परिणिददाति । प्रणिद्धाति, परिणि-द्धाति । माङ्-प्रणिमिमीते, परिणिमिमीते । मेङ्-प्रणिमयते, परिणि-मयते । मा इत्यनेन माङ्मेङोर्द्धयोरपि प्रहणम् । स्यति-प्रणिष्यति, परि-णिष्यति । हन्ति-प्रणिहन्ति, परिणिहन्ति । याति-प्रणियाति, परिणि-याति । वाति-प्रणिवाति, परिणिवाति । द्राति-प्रणिद्राति, परिणिद्राति । प्साति-प्रणिप्सार्ति, परिणिप्साति । वपति-प्रणिवपति, परिणिवपति । वहति-प्रणिवहति, परिणिवहति । शास्यति-प्रणिशास्यति, परिणिशुस्यति। चिनोति-प्रणिचिनोति, परिणिचिनोति। देग्धि-प्रणिदेधि, परि-णिदेगिध ॥

भाषार्थ:—उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर [नेः] नि के नकार को णकार आदेश होता है, [गद' देन्धिषु] गद, नद, पत, पद, घु-संज्ञक, तथा मा, स्यित (षो) हन्ति, याति, वाति, द्राति, प्साति, वपति, वहितं, शाम्यित, (शम) चिनोति, एवं देन्धि (दिह उपचये) धातुओं के परे रहते [च] भी।। 'घु' से यहाँ घुसंज्ञक धातुओं का प्रहण है, एवं भा' से माङ् एवं मेङ् दोनों का प्रहण होता है।। प्रणिददाति आदि की सिद्धि परि० १।१।१९ में देखें। प्रणिष्यित में उपसर्गात् सुनोति०

(८।३।६५) से पत्व हुआ है, सिद्धि वहीं देखें। प्रणिशाम्यति में शमामष्टानां० (७।३।७४) से दीर्घ होता है। प्रणिदेशिय यहाँ दिह् धातु के ह्
को दादेर्घातोर्घः (८।२।३२) से घ् तथा अवस्तथो० (८।२।४०) से
धत्व, शप् का लुक् (२।४।७२) एवं अलां जरा० (८।४।४२) से जरत
गकार हुआ है। मिमीते की सिद्धि ७।४।७६ सूत्र में की है तद्वत् प्राणिमिमीते भी जानें।।

यहाँ से 'नेः' की अनुवृत्ति = । ४। १८ तक जायेगी ।।

शेषे विभाषाऽकखादावषान्त उपदेशे ॥८।४।१८॥

• रोषे ७।१॥ विभाषा १।१॥ अकखादी ७।१॥ अषान्ते ७।१॥ उप-देशे ७।१॥ स०—कश्च खश्च कखी, इतरेतरदृन्द्वः । कखी आदी गस्य स कखादिः, बहुब्रीहिः । न कखादिरकखादिस्तिस्मन् "नञ्तलुरुषः। ष अन्ते यस्य स षान्तः, बहुब्रीहिः। न षान्तोऽपान्तस्तिस्मन् "नञ्तलुरुषः॥ अनु०—तेः, उपसर्गात् , अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नोणः, संहितायाम्॥ अर्थः—अककारादिरखकारादिरपकारान्तश्च उपदेशे यो धातुः शेषस्तिस्मन् परत उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य नेर्नकारस्य विभाषा णकार आदेशो भवति ॥ उदा०—प्रणिपचित, प्रनिपचित । प्रणिमिनित्त, प्रनिभिनित्त ॥

भाषार्थ:— उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर जो [उपदेशे] उपदेश में [अकलादौ] ककार तथा खकार आदि वाला नहीं है, एवं [अषानाः] पकारान्त भी नहीं है ऐसे [शेषे] शेष धातु के परे रहते नि के नकार को [विक्षाषा] विकल्प से णकारादेश होता है।। शेष यहाँ पूर्वसूत्रोक धातुओं की अपेक्षा से रखा है सो उनसे शेष धातुओं के परे रहते जल होगा।। उदाहरणों में पच् एवं भिद् धातु ककार खकार आदि वाले नहीं हैं, तथा अषान्त भी हैं, अतः जल्ब हो गया।। भिनन्ति की सिद्धि परि॰ शिशिष्ठ में देखें।।

अनितेरन्तः ॥८।४।१९॥

अनिते: ६।१॥ अन्तः १।१॥ श्रनुः—उपसर्गात् , अट्कुर्वाङ् नुम्ब्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ श्रर्थः—उपसर्गस्थाः श्रिमित्तादुत्तरस्य अनितेनकारस्य पदान्ते वर्त्तमानस्य णकारादेशो भवित ॥ उदाः हे प्राण् , हे पराण् ॥ माषार्थ:—उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर पद के [अन्तः] अन्त
में वर्तमान [अनिते:] अने धातु के नकार को णकार आदेश होता है।।
पदान्तस्य (८।४।३६) से पद के अन्त में णत्व का निषेध किया है, सो
उसी की अपेक्षा से यहाँ 'अन्तः' पद सूत्र में रखा है, अतः 'पदान्त'
ऐसा सूत्रार्थ किया है। इस प्रकार यह सूत्र पदान्तस्य का अपवाद है।
अथवा 'अन्तः' शब्द को समीपवाची मानकर भी (यथा हलन्ताच १।२।१०
में है) स्त्रार्थ किया जा सकता है, ऐसा अर्थ करने पर सूत्रार्थ होगा
कि—रेफ एवं षकार के समीपस्थ अनिति के नकार को णकारादेश होता
है, तो प्राणिति, पराणिति में रेफ एवं नकार के मध्य में एक वर्ण 'अ'
होने पर भी एत्व हो जाता है। एवं पर्यनिति में दो वर्णों का व्यवधाभ
होने से नहीं होता। ये दोनों ही पक्ष भाष्य में 'अपर आह'—करके
दिखाये हैं।।

अन धातु से क्विप् करके सम्बुद्धि में हे प्राण् हे पराण् बनता है, तथा इसी धातु से शप् का लुक् (२।४।७२) एवं रुदादिभ्यः० (७।२।७६) से इट् आगम होकर अन् इट् ति = प्र अन् इ ति = प्राणिति, पराणिति बना है।।

यहाँ से 'अनितेः' की अनुवृत्ति ८।४।२० तक जायेगी।।

उमौ साम्यासस्य ॥८।४।२०॥

डभौ १।२॥ त्साभ्यासस्य ६।१॥ त०—अभ्यासेन सह साभ्यासत्तिस्य : नृतीयातत्पुरुषः ॥ श्रनु०—अनितेः, उपसर्गात्, अट्कुप्वाङउम्ब्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ श्रशः—उपसर्गस्थानिमित्तादुत्तरस्य साभ्यासस्य अनितेरुभयोर्नकारयोर्णकार आदेशो भवति ॥
उदा०—प्राणिणिषति, प्राणिणत् । पराणिणिषति, पराणिणत् ॥

माषार्थ:—उपसमें में स्थित निमित्त से उत्तर [साम्यासस्य] अभ्यास सिंहत अन धातु के [उमी] दोनों नकारों को णकार आदेश होता है। अर्थात् अभ्यास के एवं उससे उत्तर के दोनों नकारों को।। द्विवचन कर केने पर अभ्यास का व्यवधान होने से णत्व प्राप्ति नहीं थी, विधान कर दिया।। प्राणिणिषति — प्र अन् इ स यहाँ अजादेद्वि० (६१११२) से 'नि नि' द्वित्व हुआ है। प्राणिणत् यह णिजन्त के लुङ् का रूप है, जो कि पूर्व की गई सिद्धियों के अनुसार है।।

हन्तेरत्पूर्वस्य ॥८।४।२१॥

हन्तेः ६।१॥ अत्पूर्वस्य ६।१॥ स०—अत् पूर्वो यस्मात् (नकारात्) स अत्पूर्वस्तस्यः वहुब्रीहिः ॥ श्रनु०—उपसर्गात् , अट्कुप्वाङ्नुम्बर्यः वायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ अर्थः—उपसर्गस्थान्निमित्तादुः त्तरस्य अकारपूर्वस्य हन्तिनकारस्य णकार आदेशो भवति ॥ उदा०—प्रहण्यते, परिहण्यते, प्रहणनम् , परिहणनम् ॥

भाषार्थः—उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर [त्रात्र्वस्य] अकार पूर्व में है जिससे ऐसे [हन्तेः] हन् धातु के नकार को णकारादेश होता है ।। अकार पूर्व इसिंछिये कह दिया कि जहाँ हन् की उपधा अकार का छोप हो, वहाँ णत्व न हो ।। परि हन् यक् त = परिहण्यते ।।

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति = 1812३ तक जायेगी ॥

वमोर्वा ८।४।२२॥

वमोः ७।२॥ वा अ० ॥ स०—वश्च मश्च वमो, तयोः ''इतरेतर-द्वन्द्वः ॥ अनु०—हन्तेरत्पूर्वस्य, उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ श्रर्थः—वकारमकारयोः परतोऽत्रूर्वस्य हन्तिनकारस्योपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य विकल्पेन णकारादेशो भविति ॥ उदा०—प्रहण्वः, परिहण्वः । पक्षे-प्रहन्वः, परिहन्वः । स-प्रहण्मः, परि-हण्मः । प्रहन्मः, परिहन्मः ॥

भाषार्थः — उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर अकार पूर्व वाले हन् धातु के नकार को [वा] विकल्प से [वमोः] व तथा म परे रहते णकार आदेश होता है ॥ पूर्व सूत्र से नित्य णत्व प्राप्त था, विकल्प कर दिया॥ उदाहरणों में वस् मस् का व म परे है ॥

अन्तरदेशे ॥८।४।२३॥

अन्तः अ० ॥ अदेशे ७।१॥ स०—न देशोऽदेशस्तस्मिन् ' निम्तित्यु रुषः ॥ श्रनु०—हन्तेरत्पूर्वस्य, अट्कुप्वाङ्नुम्वयवायेऽपि, रुषाभ्यां तो णः, , संहितायाम् ॥ श्रर्थः — अन्तःशव्दादुत्तरस्यात्पूर्वस्य हन्तिनकारस्य णकारादेशो भवति अदेशाभिधाने ॥ उदा०—अन्तर्हण्यते, अन्तर्हणनं वर्त्तते ॥

पादः]

भाषार्थ: - [अन्तः] अन्तर् शब्द से उत्तर अकार पूर्व वाले हने धातु के नकार को णकारादेश होता है, [अदेश] देश को न कहा जा रहा हो तो।। अन्तर्हणनम् यहाँ भाव में ल्युट् प्रत्यय तथा अन्तरपरियहे (१।४।६४) से अन्तर् शब्द की गति संज्ञा होने से कुगतिप्रादय: (शश्८) से समास हुआ है।।

यहाँ से 'श्रन्तरदेशे' की अनुवृत्ति ८।४।२४ तक जायेगी।।

अयनं च ॥८।४।२४॥

अयनम् १।१॥ च अ०॥ अनु०-अन्तरदेशे, अट्कुप्वाङ्तुम्व्य-वायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम्।। ऋथैः—अन्तःशब्दादुत्तरस्य अयनशब्दस्य नकारस्यादेशाभिधाने णकारादेशो भवति ॥ उदा०--अन्तरयणं वर्त्तते, अन्तरयणं शोभनम् ॥

भाषार्थ:- अन्तः शब्द से उत्तर [अयनम्] अयन शब्द के नकार को [च] भी णकार आदेश होता है, देश का अभिधान न हो तो ॥ अय अथवा इण् धातु के ल्युट् का अयनम् रूप है।। क्रत्यचः (८।४।२८) से ही णत्व सिद्ध था, अदेशाभिधानार्थ यह सूत्र है।।

छन्दस्यृदवग्रहात् ॥८।४।२५॥

छन्द्सि ७।१।। ऋद्वग्रहात् ४।१।। स०--ऋचासौ अवग्रह्श्र ऋद्व-प्रहस्तस्मात् · · क्रमधारयतत्पुरुषः ।। अवगृह्यते विच्छिय प्रह्यते = अव-प्रहः ॥ अनु - अट्कुंटगङ्नुम्वयवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् । पूर्वपदात् संज्ञा० (८।४।३) इत्यतः 'पूर्वपदात्' इत्यप्यनुवर्त्तते ॥ अर्थः— छन्दिस विषये ऋकारान्ताद्वमहात् पूर्वपदादुत्तरस्य णकारादेशी भवति ॥ उदा०-नृमणाः । पितृयाणम् ॥

१ - अयन शब्द उस गतिविशेष का नाम है जहाँ से गति आरम्भ हुई वहीं ॰ वापस आकर समाप्त हो जाये। रामायण में राम की गति = गमन अयोध्या से बारम्म हुई ग्रीर ग्रयोध्या में लौटकर समाप्त हुई इसी रामस्य अयनम् के कारण प्रत्य का नाम भी रामायण हुआ। दक्षिणायन और उत्तरायण में भी यही गित है। वयन के इस गति विशेष शर्थ को न सममकर हिन्दी के कवियों ने "कृष्णायन" सहश जो नामकरण किया वह प्रशुद्ध है।।

q

भाषार्थः—[लुन्दिस] वेद विषय में [ऋदवपहात्] ऋकारान अवगृह्यमाण पूर्वपद से उत्तर नकार को णकीर आदेश होता है।। अवगृह्यमाण अर्थात् जिसका पद्पाठ काल में अवग्रह = पद को अला २ किया जाये। केवल ऋ पद नहीं है, अतः ऋकारान्त सूत्रार्थ में कहा है।। अवग्रह से तात्पर्य यहाँ इतना ही है, कि जिस पद में ऋकार पर अवग्रह सम्भव हो, उस ऋकारान्त पद से उत्तर । इसका यह तात्पर्य नहीं है कि अवग्रह की अवस्था में ही णत्व हो। उदाहरणों में नू, पितृ ऋकारान्त पद हैं जो अवगृहीत होते हैं। यथा नृमणा: - नृमना इति नु मनाः । पितृयाणम्-पितृयानिमति पितृ यानम् । यह याजुष पद्पार के नियमानुसार अवप्रह दर्शाया है।।

यहाँ से 'छन्दिस' की अनुवृत्ति ८।४।२६ तक जायेगी।।

नश्च घातुस्थोरुषुम्यः ॥८।४।२६॥

नः अविभक्त्यन्तनिर्देशः॥ च अ०॥ धातुस्थोरुषुभ्यः ५।३॥ स०-धातौ तिष्ठति धातुस्थः, तत्पुरुषः । धातुस्थश्च उरुश्च पुश्च धातुस्थोरुषवस्तेभ्यः " इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु - अन्दसि, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रपाभ्यां नो णः, संहितायाम्।। अर्थः-धातुस्थानिमत्तादुत्तरस्योरशब्दात् षुशब्दा-चोत्तरस्य छन्दिस विषये नस् इत्येतस्य नकारस्य णकारादेशो भवति॥ उदा०—धातुस्थात्—अग्ने रक्षां णः (ऋ० ७।१५।१३)। शिक्षा णो अस्मिन् (ऋ॰ ७।३२।२६)। उरुशब्दात्—वरु णस्कृधि (ऋ॰ प्तार्थ। पुराब्दात्—अभी पु णः सखी नाम् (ऋ० ४।३१।३)। ऊर्ध्व ऊष्ट्र ण ऊतये (ऋ० १।३६।१३)।।

भाषार्थः — [घातुस्थोरुषुभ्य:] घातु में स्थित निमित्त से उत्तर तथा उरु एवं षु शब्द से उत्तर [न:] नस् के नकार को [च] भी वेद विषय में णकार आदेश होता है ॥ बहुवचनस्य वस्नसी (८।१।२१) से अस्माकम् ं के स्थान में हुये नस् का यहाँ प्रहण है।। रक्षा शिक्षा, छोट् मध्यम पुरुष के रूप हैं द्वाचोऽत० (६।३।१३३) से इन्हें दीर्घ हो गया है, इस प्रकार घातु में स्थित निमित्त से उत्तर उदाहरणों में नस् है । उरुणस्कृषि की सिद्धि सूत्र ६।४।१०२ में देखें। ६।३।१३२ से अभी में दीर्घ जाते। खु से यहाँ 'सुन्' निपात का प्रहण है, सुन्नः (८।३।१०७) से इसे

षत्व होता है।।

यहाँ से 'नः' की अनुवृत्ति ८।४।२७ तक जायेगी।।

उपसंगीदनोत्परः ॥८।४।२७॥

डपसर्गात् ४।१॥ अनोत्परः १।१॥ सः आकारात् परः ओत्परः, पद्धमीतत्पुरुषः । न ओत् परः अनोत्परः, नव्तत्पुरुषः ॥ अनुः नः, अट्कुष्वाङ्गुरूव्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम्॥ अर्थः — उपतर्गस्थान्त्रिमित्तादुत्तरस्यानोत्परस्य नसो नकारस्य णकारादेशो भवति ॥ उदाः — प्रणः शूद्रः, प्रणसः, प्रणो राजा ॥

भाषार्थः—[उपसर्गात्] उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर जो [अनोत्परः] ओकार से परे नहीं ऐसे नस् के नकार को णकारादेश होता है।। उदाहरणों में ओकार से परे नस् का नकार नहीं है।।

विशेष:—'प्र नो सुद्धतम्' यहाँ भी नकार को णकार न हो जाये इसके लिये 'अनोत्परः' का विष्रह 'ओकारः परोऽस्मात् स ओत्परः (बहुव्रीहिः) न ओत्परोऽनोत्परः' किया जा सकता है। वस्तुतः यह शङ्कासमाधान का विषय है, अतः यहाँ उपर्युक्त व्याख्या ही पर्याप्त है।। यहाँ से 'उपसर्गात्' की अनुवृक्ति ८।४।३३ तक जायेगी।।

कृत्यचः ॥८।४।२८॥

कृति ७।१॥ अचः ५।१॥ अनु०—उपसर्गात् , अट्कुप्वाङ्म्व्यवा-येऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ अर्थः—उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्त-रस्य, अच उत्तरो यः कृत्स्थो नकारस्तस्य णकारादेशो भवति ॥ उदा०— प्रयाणम्, परियाणम् , प्रमाणम्, परिमाणम् । प्रयायमाणम् , परियाय-माणम् । प्रयाणीयम् , परियाणीयम् । अप्रयाणिः, अपूरियाणिः । प्रयायिणौ, परियायिणौ । प्रहोणः, परिहीणः, प्रहीणवान्, परिहीणवान् ॥

भाषार्थ:—[अचः] अच् से उत्तर [क्वित] कृत् में स्थित जो नकार उसको, उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर णकारादेश होता है।। प्रयाणम् आदि में ल्युट् (अन) प्रत्यय, तथा प्रयायमाणम् में कम में भानव् हुआ है, सो मुक् (७१८२) आगम होकर प्र या यक् मुक् आन = प्रयायमाणम् बना है। प्रयायणीयम् में अनीयर् (३११९६६) प्रत्यय तथा अप्रयाणि: में आकोशे नन्यिन: (३१३१९२) से अनि प्रत्यय एवं नन् समासः हुआ है। प्रयायिणों में सुष्यजाती शि० (३१२१०८) से णिनि प्रत्यय तथा

आतो युक्० (७१३३३) से युक् आगम होकर 'प्र या युक् इन = प्रयायिन औ = प्रयायिजो बना है। प्रहीणः अर्झींद में ओहाक धातु से निष्टा होकर ओदितश्च (८।२।४५) से निष्टा को नत्व एवं युमास्थागाः (६।४।६६) से ईत्व होकर प्र ह ई न = प्रहीणः बना है।। सर्वत्र उदाहरणों में उपसर्ग में स्थित निमित्त (रेफ) है, एवं उससे उत्तर अन, मान, अनीयर आदि का अच् है, सो उस अच् से उत्तर कृत्संज्ञक (३।४।६३) नकार को णकार हो गया है।।

यहाँ से 'क्रत्यचः' की अनुवृत्ति = । ४।३३ तक जायेगी ।।

णेविभाषा ॥८।४।२९॥

णेः १११। विभाषा १११। अवु०—कृत्यचः, उपसर्गात्, अट्कुप्वाङनुम्वयवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम्।। प्रर्थः—
उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य ण्यन्ताद् यो विहितः कृत्प्रत्ययस्तस्थस्याजुत्तरस्य नकारस्य विभाषा णकारादेशो भवति ।। उदा०—प्रयापणम्,
प्रयापनम्। परियापणम्, परियापनम्। प्रयाप्यमाणम्। प्रयाप्यमानम्। प्रयापणीयम्, प्रयापनीयम्। अप्रयाणिः, अप्रयानिः। प्रयापिणौ,
प्रयापनौ।।

भाषार्थः—उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर [णे:] ण्यन्त धातु से विहित जो छत् प्रत्यय उसमें स्थित जो अच् से उत्तर नकार उसको [विभाषा] विकल्प से णकार आदेश होता है।। प्र पूर्वक या धातु से णिच् तथा श्रातिही० (७१३।३६) से पुक् आगम होकर यापि ण्यन्त धातु बनी, तत्पश्चात् पूर्वेसूत्र अनुसार ही ल्युट् शानच् आदि प्रत्यय हुये, सो प्रयापणम् आदि प्रयोग बन गये। सदेत्र प्रयापणम् आदि में णेरिनिटि (६।४।५१) से णि का छोप हुआ हुआ है। प्रयापि यक् मुक् आन = प्रयाप्यमाणम्।।

यहाँ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति ८।४।३० तक जायेग्री।।

हलक्वेजुपघात् ॥८।४।३०॥

्रहलः ५।१॥ च अ०॥ इजुपधात् ५।१॥ स०—इच् उपधा यस्य स इजुपधस्तस्मात् ः बहुत्रीहिः॥ श्रनु०—विभाषा, कृत्यचः, उपसर्गात्,

अट्कुप्ताङ् तुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम्।। अर्थः---हलादियों धातुरिजुपधरेट्स्मात्परो यः कृतप्रत्ययस्तत्स्थस्य नकारस्याच उत्तरस्योपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य विभाषा णकारादेशो अयति॥ उदा - प्रकोपणम् , परिकोपणम् । प्रकोपनम् , परिकोपनम् ॥

भाषार्थः—[इजुपधात्] इच् उपधा वाला जो [हलः] हलादि धातु उससे विहित जो छुत् प्रत्यय तत्स्थ जो अच् से उत्तर नकार उसको [च] भी उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर निकल्प से णकारादेश होता है।। कुप कोचे घातु हळादि एवं इच् उपधा वाळा है, सो उससे विहित कृत् शत्यय जो ल्युट् = अन उसके नकार को अच् से उत्तर विकल्प से णकार उदाहरणों में हुआ है।। कृत्यचः (८।४।२८) से नित्य णत्व प्राप्त था, विकल्पार्थ यह वचन है।।

यहाँ से 'हलः' की अनुवृत्ति ८।४।३१ तक जायेगी।।

इजादेः सनुमः ॥८।४।३१॥

इजादे: ४।१॥ सनुमः ५।१॥ स०—इच् आदिर्यस्य स इजादिस्त-ू सात् ' 'वहुत्रीहिः । नुसा सह सनुम् , तस्मात् ' 'तृतीयातत्पुरुषः ॥ श्रु - हरु:, कृत्यचः, उपसगीत् , अट्ङ प्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम्।। अर्थः—उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य इजादेः मनुमो हलन्ताद्धातोर्विहितो यः कृत्प्रत्ययस्तत्स्थस्याच उत्तरस्य नकारस्य णकारादेशो भवति ।। उदा०—प्रेह्मणम्, परेङ्मणम्। प्रेङ्गणम्, परेङ्ग-णम्। प्रोम्भणम्, परोम्भणम्।।

भाषार्थ: - उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर [इजादे:] इच् आदि वाला जो [सनुमः] नुम् सिहत हळन्त धातु उससे विहित जो कृत् प्रत्यय तत्स्थ नकार को अच् से उत्तर णकार आदेश होता है।। क्रत्यचः (८।४।२८) से ही णत्व सिद्ध था, पुनर्वचन नियमार्थ है, अर्थात्—नुम् सहित इजादि धातुओं से उत्तर ही कृतस्य न को ण हो, अन्यों से उत्तर नहीं।। र्षि पूत्र में 'इल:' पद से हलादि अर्थ लिया गया है, किन्तु यहाँ रंगादें: कह देने से हल: में तदन्तिविधि (१।१।७१) होकर 'हलन्त' ऐसा सूत्रार्थ हुआ है।। इिख तथा इगि घातु से इदितो नुम्धातोः (७११५८) से नुम् होकर इन्ख् इन्ग् बना । नश्चाऽपदान्तस्य० (८।३।२४)

एवं अनुस्नारस्य० (८।४।५७) लगकर प्र इङ्ख् अन, प्र इङ्ग् अन= प्रेङ्खणम् , प्रेङ्गणम् बन गया । उन्भ धातु से जीस्थणम् आदि वना॥ वस्तुतः नुम् से यहाँ अनुस्वार का उपलक्षण होता है, अतः उन्भ में यद्यपि नुम् नहीं हुआ है, किन्तु पहले से ही नकार पठित है तो भी उस नकार का अनुस्वार में प्रहण हो जाने से कृतस्थ नकार को णकार हो जाता है।।

वा निसनिक्षनिन्दाम् ॥८।४।३२॥

वा अः ॥ निंसनिक्षनिन्दाम् ६।३॥ सः — निंसस्र निक्षत्र निन्द् च निंस "निन्दस्तेपाम्" इतरेतरद्वन्द्वः ।। श्रनु - कृत्यचः, उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम्।। उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य निंस निक्ष निन्द इत्येतेषां णकारादेशो भवति, कृति परतः॥ उदाः - प्रणिसनम्, प्रणिक्षणम्, प्रनिक्षणम्। प्रणिन्द्नम्, प्रनिन्द्नम्।।

भाषार्थः — उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर [निसनित्तनित्ताम्] निंस, निक्ष तथा निन्द धातु के नकार को [वा] विकल्प से णकारादेश होता है, कृत् परे रहते ।। णिसि चुम्बने, (अदाः) णिक्ष चुम्बने तथा णिदि इत्सायाम् धातु से निस्, निक्ष्, एवं निन्द् वनकर आगे लुट् प्रत्यय हुआ है। गो नः (६।१।६३) से पहले ण् को न् एवं इदित्की नुम् होकर निंस् निन्दू बना है। प्र निंस् अन = प्रणिसनम् पूर्ववत् नुम् को अनुस्वार होकर बन गया।। णिसि आदि के णोपदेश धातु होने से उपसर्गाद्याः (८।४।१४) से नित्य णत्व प्राप्त था, विकल्पार्थ यह वचन है।

न भाभूपूक्मिगमिप्यायीवेपाम् ॥८।४।३३॥

र्न अ० ।। भाभू " वेपाम् ६।३॥ स० -- भारच भूरच पूर्च कमिर्च गिमिश्च प्यायीश्च वेप् च साभू ''वेपस्तेषाम्' 'इतरेतरद्वन्द्वः॥ श्रुत् - कृत्यचः, उपसर्गात् , अट्झु प्वाङ्नु म्ह्यायोऽपि, रषाभ्यां ती गिर्मे संहितायाम् ॥ अर्थः — उपसगस्थान्निमित्तादुत्तरस्य भा भू पू किम गर्मि ै प्यायी वेप इत्येतेभ्यो विहितो यो कृत्स्थस्य नकारस्तस्याजुत्तरस्य णकारा देशों न भवति ।। उदा०- भा-प्रभानम्, परिभानम्। भू-प्रभवनम्।

॥ में

भी

I

च

I

1

a

IT

E

1

I

ì

1

परिभवनम् । पञ्-प्रपवनम् , परिपवनम् । किम-प्रकमनम् , परिकमनम् । गिम-प्रगमनम् , परिगमनेम् । प्यायी-प्रप्यायनम् , परिप्यायनम् । वेप-प्रवेपनम् , परिवेपनम् ॥

भाषार्थः—उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर [भाभू ''नेपाम्] भा, भू, पूञ्, किम, गिम, ओप्यायी तथा नेप जो धातु इनसे निहित कृतस्थ नकार को अच् से उत्तर णकार आदेश [न] नहीं होता।। कृत्यचः (८।४।२८) से णत्व की प्राप्ति थी, निषेध कर दिया।।

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ८।४।३८ तक जायेगी।।

षात्पदान्तात् ॥८।४।३४॥

षात् ५११॥ पदान्तात् ५११॥ स०—पदे अन्तः पदान्तस्तस्मात् । सप्तमीतत्पुरुषः ॥ अनु०—न, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ अर्थः पकारात्पदान्तादुत्तरस्य णकारादेशो न भवति ॥ उदा० — निष्पानम् , दुष्पानम् । सपिष्पानम् , यजुष्पानम् ॥

भाषार्थः—[पदान्तात्] पदान्त [षात्] षकार से उत्तर नकार को णकार आदेश नहीं होता ।। निस् हुस् के स् को विसर्जनीय करके तत्पश्चात् उस विसर्जनीय को इदुदुपधस्य० (८।३।४१) से षत्व हुआ है, सो षकारान्त पद बन गया, इस प्रकार इत्यचः (८।४।२८) से णत्व की प्राप्ति थी निषेध कर दिया । सिष्टपानम्, यजुष्पानम् में नित्यं समासे० (८।३।४५) से षत्व हुआ है । यहाँ वा भावकरण्योः (८।४।१०) से णत्व की प्राप्ति थी, निषेध कर दिया । 'सिष्टपानम्' में षष्टी समास एवं 'यजुष्पानम्' में कर्तृकरणे इता० (२।१।३१) से तृतीयासमास हुआ है ।।

नश्नेः षान्तस्य ॥८।४।३५॥

नशेः ६।१॥ षान्तस्य ६।१॥ स०—ष् अन्ते यस्य स षान्तस्तस्य वहन्नीहिः ॥ श्रनु०—न, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम्॥ व्यर्थः—षकारान्तस्य नशेः णकारादेशो न भवति॥ उदा०—प्रनष्टः, परिनष्टः ॥

भाषार्थः—[षान्तस्य] षकारान्त [नशेः] नश धातु के नकार को ज्ञानारादेश नहीं होता ।। णश अदर्शने धातु से निष्टा में मस्जिनशोर्फाल (७।१।६०) से नुम् होकर प्र न नुम् श् त रहा । त्रश्चप्रस्ज० (८।२।३६)

से श्को ष्होकर प्रन न ष्त रहा, अनिदितां (६।४।२४) से नकार छोप तथा ष्टुत्व होकर प्रनष्टः बन गया ॥ उष्टर्सर्गादस० (८।४।१४) से णत्व प्राप्ति थी, निषेध कर दिया ।।

पदान्तस्य ।।८।४।३६॥

पदान्तस्य ६।१।। स०-पदस्य अन्तः पदान्तस्तस्यः 'पष्टीतत्पुरुषः॥ अनु --- न, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम्॥ अर्थ:--पदान्तस्य नकारस्य णकारादेशो न भवति ॥ उदा०- वृक्षान्, प्लक्षान, अरीन्, गिरीन् ॥

भाषार्थ:-[पदान्तस्य] पद के अन्त के नकार को एकार आदेश नहीं होता है।। अट्कुप्वाङ् (८।४।२) से णत्व प्राप्ति थी, निषेध कर दिया॥

पदन्यवायेऽपि ॥८।४।३७॥

पद्व्यवाये ७।१॥ अपि अ०॥ स०-पदेन व्यवायः पद्व्यवायः स्तिस्मन् : 'तृतीयातत्पुरुषः ।। अनु - न, अट्कु प्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम्।। अर्थः - पद्व्यवायेऽपि सित नकारस्य णकारादेशो न अवति ॥ उदा० – माचकुम्भवापेन, चतुरङ्गयोगेन, प्रावनद्धम् , पर्यवनद्धम् , प्रगान्नयामः , परिगान्नयामः ॥

भाषार्थ:-[पदव्यवाये] पद का व्यवधान होने पर [श्राप] भी नकार को णकार नहीं होता।। अभिप्राय यह है कि सिमित्त एवं निमित्ती के मध्य में किसी पद का व्यवधान होने पर णत्व न होवे।। माषाणं कुम्भः भाष्रकुम्भः, तं वपतीति माषकुम्भवापस्तेन माषकुम्भवापेन यहाँ कर्मरायण् (३।२।१) से अण् प्रत्यय होकर तृतीया का 'टा' हुआ है, सो प्रातिपदिकान्त० (=181११) से (कुम्भ के श्रट् कुष्वाङ्० में गृहीत होते से) विभक्ति के न को णत्व प्राप्त था, कुम्भ पद का व्यवधान होने से निषेध हो गर्या। चत्वारि अङ्गानि अस्य = चतुरङ्गस्तेन योगः चतुरङ्गयोगस्तेन चतुरङ्गयोगेन यहाँ कुमित च (८।४।१३) से प्राप्ति थी, अङ्ग पर का व्यवधान होने से नहीं हुआ। नद्धम् की सिद्धि ८।२।३४ सूत्र में देखें, तेद्वत् प्र अव नद्धम् = प्रावनद्धम् में गतिसमास (२।२।१८) होकर जपसर्गाद० (८।४।१४) से णत्व प्राप्ति थी, 'अव' पद का न्यवधात होने . से निषेध हो गया। प्रगान्त्रयामः यहाँ प्र निमित्त एवं

R

से

11

11

τ,

য

I

त्यामः के न् निमित्ति के मध्य में गाम् द्वितीयान्त पद का व्यवधान है, सो उपसर्गाद० (८१६:५४) से जो णत्व प्राप्त था, निषेध हो गया। यह छान्दस उदाहरण है। गाम् के म् को अनुस्वार एवं परसवर्ण पूर्ववत् यहाँ हो जायेगा।।

श्चम्नादिषु च ॥८।४।३८॥

क्षुभ्नादिषु ७१३॥ च अ०॥ स०—क्षुभ्ना आदिर्येषां ते क्षुभ्ना-दयस्तेषु "वहुत्रीहिः॥ अनु०—न, अट्कुप्नाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो गाः, संहितायाम्॥ अर्थः— क्षुभ्ना इत्येवमादिषु शब्देषु नकारस्य णकारादेशो न भवति॥ उदा०—क्षुभ्नाति, क्षुभ्नीतः, क्षुभ्नन्ति। नृन् = मनुष्यान् नयतीति नृनमनः॥

भाषार्थ: [चुम्नादिषु] खुम्नादि गण में पठित शब्दों के नकार को [च] भी णकारादेश नहीं होता ।। रषाभ्यां नो णः० (८।४।१) इत्यादि सूत्रों से प्राप्ति थी, प्रतिषेध कर दिया ।। खुम्नाति खुम्नीतः आदि में अट्कुष्वाङ्० (८।४।२) से प्राप्ति थी, एवं नृनमनः में पूर्वपदात्० (८।४।३) अथवा छन्दस्युद० (८।४।२५) से णत्व प्राप्त था, प्रतिषेध कर दिया । धुम्नीतः में ई हल्यधोः (६।४।११३) से शना को ईत्व एवं खुम्निन्त में स्नाम्यस्त० (६।४।११२) से शना के आ का छोप हुआ है ।।

स्तोः रचुना रचुः ॥८।४।३९॥

स्तोः ६।१॥ रचुना ३।१॥ रचुः १।१॥ स०—सश्च तुश्च रतुस्तस्य''
समाहारद्वन्द्वः । शश्च चुश्च रचुस्तेन' समाहारद्वन्द्वः । एवं 'रचुः'
इत्यत्रापि ज्ञेयम् ॥ अनुः—संहितायाम् ॥ अर्थः—सकारतवर्गयोः
शकारचवर्गाभ्यां योगे शकारचवर्गों आदेशो भवतः ॥ उदा०—सकारस्य
शकारेण—वृक्षस्शेते = वृक्षश्रोते, एलक्षश्रोते । सकारस्य चवर्गेण—
वृक्षस्थिनोति = वृक्षश्चिनोति, एलक्षश्चादयि = वृक्षश्चादयि = विक्षश्चादयि = विक्षश्चादय

वे

मांषार्थ: - [रचुना] शकार और चवर्ग के योग में [स्तोः] सकार और तवर्ग के स्थान में [श्चु:] शकार और चवर्म आदेश होते हैं।। यथा-संख्य यहाँ इष्ट नहीं है, अत: सकार को शकार अथवा चवर्ग दोनों के योग में शकार हो जाता है। यथा-वृक्षश्शेते एवं वृक्षित्रवोति आदि में दिखाया है। तवर्ग को भी शकार एवं चवर्ग दोनों के योग में चवर्ग हो जाता है। यथा-अग्निचित् होते = अग्निचिच्छेते, एवं अग्निचिच्चि नोति आदि में है। शश्छोऽटि (८।४।६२) से अग्निचिच्छेते में श् को छ् भी हुआ है। मज्जिति भृज्जिति आदि में मलां जस्० (८।४।५२) से स् को द् एवं प्रकृत सूत्र से द् को ज् हुआ है। यज्ञः, याच्या में यजयाच० (३।३।६०) से नङ् हुआ है, सो ज् के योग में न् तवर्गीय वर्ण को चर्गा अर्थात् व् हो गया है।। यहाँ यह समझ लेना चाहिये कि 'रचुना' कहने से श्कार एवं चवर्ग का सकार एवं तवर्ग के साथ पूर्व से अथवा पर से अर्थात् राकार चवर्ग सकार तवर्ग के पूर्व में हों अथवा पर में, सकार तवर्ग को शकार एवं चवर्ग हो जायेगा। यज्ञ: याच्या में चवर्ग का तवर्ग के साथ पूर्व से योग है। सकार को अकार एवं तवर्ग को चर्का आदेश यथासङ्ख्य करके होते हैं, जैसा कि हमने अग्निचिच्चिनोति आदि उदाहरणों में दिखाया है।। अग्निचिच्झकारम् में पहले त्को रचुत्व च् हुआ पुनः मलां जशोऽन्ते (८।२।३९) से ज् हुआ अथवा पहले त् को जश्त्व द् करके श्चुत्व होकर द् को ज् होगा।।

यहाँ से 'स्तोः' की अनुवृत्ति ८।४।४१ तक जायेगी ।।

ब्हुना ब्हुः ॥८।४।४०॥

ब्दुना ३।१॥ ब्दुः १।१॥ स० पश्च दुश्च ब्दुस्तेन समाहारद्वन्द्वः॥ श्रनु - स्तोः, संहितायाम् ॥ अर्थः - सकारतवर्गयोः षकारटवर्गाभ्यां योगे षकारटवर्गों आदेशौ भवतः ॥ उदा०—षकारेण सकारस्य—वृक्षस्षण्डे = वृक्षच्चण्डें, प्लक्षच्चण्डे । सकारस्य टवर्गेण - वृक्षस् टीकते = वृक्ष्ष्टीकते, ्टलक्षष्टीकते । वृक्षष्ठकारः, टलक्षष्ठकारः । तवर्गस्य षकारेण-पेष्टा, पेष्टुम्, पेष्टव्यम्। कृषीष्ट, कृषीष्टाः। तवर्गस्य टवर्गेण-अग्निचिद्दीकते, सोम-सुट्टीकते । अग्निचिट्ठकारः, स्रोमसुट्ठकारः। अग्निचिड्डीनः, स्रोम सुड्डीनः। अग्निचिड्ढीकते, सोमसुड्ढीकते। अग्निचिण्णकारः, सोम-सुण्णकारः । अत्टति = अदृति । अद्देखति = अड्डति ॥

भाषार्थः—[ष्टुना] षकार और टवर्ग के योग में सकार और तवर्ग के स्थान में [ष्टुः] षकार भीर टवर्ग आदेश हो जाते हैं।। पूर्ववत् यहाँ भी संख्यातानुदेश इष्ट नहीं है, अतः सकार को षकार एवं टवर्ग दोनों के योग में प् होता है। यथा— धृक्षष्ठपण्डे में है। तवर्ग को भी षकार एवं टवर्ग दोनों के योग में टवर्ग आदेश होता है। यथा—पेष्टा, पेष्टुम् आदि में है। इस सूत्र की सम्पूर्ण व्याख्या पूर्व सूत्रानुसार जानें।।

यहाँ से 'ब्टुः' की अनुवृत्ति ८।४।४१ तक जायेगी।।

न पदान्ताङ्घोरनाम् ॥८।४।४१॥

न अ० ॥ पदान्तात् ५।१॥ टोः ५।१॥ अनाम् लुप्तषष्ठ्यन्तिर्दिशः ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ अन्तः पदान्तस्तस्मात् । । ष्ष्णीतत्पुरुषः । न नाम् अनाम् । न्वत्तत्पुरुषः ॥ श्रनु ० — ष्टुः, स्तोः, संहितायाम् ॥ अर्थः — पदान्तादृवर्गा- दुत्तरस्य स्तोः ष्टुत्वं न भवति नामित्येतद् वर्जयत्वा ॥ उदा० — श्विष्टिट् साये, मधुस्टिट् तरित ॥

भाषार्थः — [पदान्तात्] पदान्त [टो:] टवर्ग से ब्तर सकार और वर्षों को पकार और टवर्ग [न] नहीं होता, [अनाम्] 'नाम्' को छोड़ कर ॥ श्विल्ट्, मधुलिट् के पदान्त में टकार है, सो उससे उत्तर त् को हुल ट् नहीं हुआ।

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ८।४।४३ तक जायेगी।।

तोः षि ॥८।४।४२॥

तोः ६।१॥ षि ७।१॥ श्रनु०--न, संहितायाम्॥ श्रर्थः--नवर्शस्य पकारे परतो यदुक्तं तन्न भवति॥ उदा०-- अग्निचित्षण्डे, भवान् षण्डे, महान् षण्डे।

भाषार्थ: —[तोः] तवर्ग को [िष] षकार परे रहते जो कुछ भी कहा है, वह नहीं होता, अर्थात् ष्टुत्व नहीं होता ॥

यहाँ से 'तो:' की अनुवृत्ति ८।४।४३ तक जायेगी ।।

शात्।।८।४।४३॥

शात् ४।१॥ श्रानुः — तोः, न, संहितायाम् ॥ अर्थः — शकारादुत्तरस्य विकास्य यदुक्तं तम्र भवति ॥ उदाः — प्रश्नः, विश्नः ॥

भाषार्थः [शात्] अकार से उत्तर तकी को जो छछ भी कहा है वह नहीं होता, अर्थात् स्तोः श्चुना० (८१४) से प्राप्त श्चुत्व नहीं होता अन्यथा 'प्रश्वः' अशुद्ध रूप वनता ।। सिद्धि ३।३।९० सूत्र में देखें।।

यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको ना ॥८।४।४४॥

यरः ६।१।। अनुनासिके ७।१।। अनुनासिकः १।१।। वा अ०॥ अनु - संहितायाम्। न पदान्ता (८।४।४१) इत्यतः 'पदान्तात्' इत्यप्यनुवर्त्तते मण्डूकप्लुतगत्या ॥ अर्थः पदान्तस्य यरोऽनुनासिके •परतो वाऽनुनासिकादेशो भवति ॥ उदा०—वाङ्नयति, वाग् नयति। खिलण् नयति, खिलिङ् नयति । अग्निचिन्नयति, अग्निचिद् नयति। त्रिष्दुम्नयति, त्रिष्दुव् नयति ॥

भाषार्थ:-पदान्त [यर:] यर् (प्रत्याहार) को [अनुनासिके] अनु-नासिक परे रहते [वा] विकल्प से [अनुनासिकः] अनुनासिक आदेश होता है।। उदाहरणों में नयति का न् अनुनासिक परे है, अतः ग्, इ आदि यरों को अन्तरतम (१।१।४९) अनुनासिक आदेश विकल्प से हो गया है।।

यहाँ से 'यरो वा' की अनुवृत्ति ८।४।४६ तक जायेगी ।।

अचो रहाम्यां हे ॥८।४।४५॥॰

अनः ४।१॥ रहाभ्याम् ४।२॥ द्वे १।२॥ स०—रश्च हश्च रही, ताभ्याम् हं इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु - यरो वा, संहितायाम्॥ अर्थः-अच उत्तरौ यौ रेफह्कारौ ताभ्यामुत्तरस्य यरो द्वे वा भवतः ॥ उदा०-अर्कः, अर्कः। मर्कः, मर्कः। ब्रह्मा, ब्रह्मा। अपह्नुते, अपह्नुते॥

भाषार्थः—[श्रवः] अच् से उत्तर जो [रहाभ्याम्] रेफ और हकार उससे उत्तर यर को विकल्प से [द्वे] द्वित्व होता है।। अर्कः यहाँ अव से उत्तर रेफ है, उससे उत्तर क् यर् को द्वित्व हुआ है, इसी प्रकार अन्यों में जानें। अपह्नुते यहाँ हकार से उत्तर यर् है।।

यहाँ से 'श्रचः' की अनुवृत्ति ८।४।४६ तक एवं 'द्वे' की ८।४।४१ तक जायेगी ॥

11

1

Ę

अनचि च ॥८।४।४६॥

अनचि ७११।। च अ० ।। स०—न अच् अनच् तस्मिन् ''नञ्-तत्पुरुषः ।। श्रनु०—अचो द्वे, यूरो वा, संहितायाम् ।। श्रर्थः—अच इत्तरस्य यरो वा द्वे भवतोऽनचि परतः ।। उदा०—दद्धयत्र, मद्ध्वत्र ।।

भाषार्थः—अच् से उत्तर यर् को विकल्प करके [अनिच] अच् परे न हो तो [च] भी द्वित्व हो जाता है।। सिद्धि परि० १।१।५० में देखें। यहाँ अनच् 'य्' परे रहते 'य्' यर् को द्वित्व हुआ है।।

नादिन्याक्रोशे पुत्रस्य ॥८।४।४७॥

न अ० ।। आदिनी लुप्तसप्तम्यन्तनिर्देशः ।। आक्रोशे ७।४॥ पुत्रस्य ६।१॥ त्रानु०—द्वे, संहितायाम् ॥ अर्थः—आक्रोशे गम्यमाने आदिनी परतः पुत्रशब्दस्य द्वे न भवतः ॥ उदा०—पुत्रान्नत्तुं शीलमस्याः पुत्रादिनी त्वमसि पापे ॥

भाषार्थः—[श्राकोशे] आक्रोश गम्यमान हो तो [श्रादिनी] आदिनी शब्द परे रहते [पुत्रस्य] पुत्र शब्द को द्वित्व [न]नहीं होता ॥ ताच्छील्य अर्थ में णिनि होकर आदिन रहा, पश्चात् डीप् होकर आदिनी बना है ॥ पूर्व सूत्र से प्राप्ति थी, निषेध कर दिया है ॥

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ८।४।५१ तक जायेगी।।

शरोऽचि ॥८।४।४८॥

शरः ५।१॥ अचि ७।१॥ अनु०—न, हे, संहितायाम्॥ अर्थः— अचि परतः शरो न हे भवतः॥ उदा० – कर्षति, वर्षति, आकर्षः, आद्शेः॥

भाषार्थ:—[श्राच] अच् परे रहते [शरः] शर् (प्रत्याहार) को द्वित्व नहीं होता ।। अचो रहाभ्यां द्वे से प्राप्ति थी, प्रतिषेध कर दिया ।। आकर्षः आद्र्शः में अधिकरण में घन् हुआ है ।।

त्रिप्रमृतिषु शाकटायनस्य ॥८।४।४९॥

'त्रिप्रभृतिषु ७।३॥ शाकटायनस्य ६।१॥ स० — त्रयः प्रभृतयः त्रिप्रभृत-यस्तेषु : 'कर्मधारयतत्पुरुषः ॥ श्रनु० — न, द्वे, संहितायाम् ॥ अर्थः — त्रिप्रभृतिषु संयुक्तेषु वर्णेषु शाकटायनस्याचार्यस्य मतेन द्वित्वं न भवति ॥ उदा० — इन्द्रः, चन्द्रः, उष्ट्रः, राष्ट्रम् , भ्राष्ट्रम् ॥ भाषाय:—[त्रिप्रभृतिषु] तीन मिले हुये = संयुक्त वर्णों को [शाकः टायनस्य] शाकटायन आचार्य के मत में द्विद्ध नहीं होता ॥ इन्द्र में न् रिं द्वित्स नहीं होता ॥ इन्द्र में न् रिं द्वित्स वर्णे हैं, इसी प्रकार अन्यों में भी समझें। इन्द्र आदि शब्दों में अनिच च से द्वित्व प्राप्ति थीं निवेध हो गया ॥ शाकटायन प्रहण पूजार्थ है ॥

सर्वत्र शाकल्यस्य ॥८।४।५०॥

सर्वत्र अ०।। शाकल्यस्य ६।१।। अनु०—न, हे, संहितायाम्॥ अर्थः—शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन सर्वत्र द्वित्वं न भवति ॥ उदा०—अर्कः, मर्कः, ब्रह्मा, अपह्नुते ॥

भाषार्थ:—[शाकल्यस्य] शाकल्य आचार्य के मत में [सर्वत्र] सर्वेत्र अर्थात् त्रिप्रभृति अथवा अत्रिप्रभृति सर्वेत्र द्वित्व नहीं होता॥ अर्कः इत्यादि में श्रचो रहाभ्यां द्वे से द्वित्व प्राप्ति थी, प्रतिषेध हो गया॥

दीर्घादाचार्याणाम् ॥८।४।५१॥

दीर्घात् ५।१।। आचार्याणाम् ६।३।। अनुः न, द्वे, संहितायाम्॥ अर्थः—दीर्घादुत्तरस्याचार्याणां मतेन द्वित्वं न भवति ॥ उदाः —दात्रम्, पात्रम्, सूत्रम्, मूत्रम्॥

भाषार्थः—[दीर्घात्] दीर्घ से उत्तर [त्राचार्यागाम्] सभी आचार्यों के मत में द्वित्व नहीं होता ।। दात्रम् आदि में अनिच च से द्वित्व प्राप्ति थी, निषेध हो गया ।।

झलां जश् झिशा ।।८।४।५२।।

झलाम् ६।३॥ जश् १।१॥ झशि ७।१॥ अनु०—संहितायाम्॥ अर्थः—झलां स्थाने जश् आदेशो भवति झशि परतः॥ उदा०—लब्धा, लब्धम्, लब्धव्यम्। दोग्धा, दोग्धुम्, दोग्धव्यम्। बोद्धा, बोद्धुम्, बोद्धव्यम्।

भाषार्थः—[मलाम्] झलों के स्थान में [मिशि] झज् परे रहते [जरा] जज्ञादेश होता है।। लब्धा में लभ् के भ को ब् जरत्व हुआ है, श्रोष धत्वादि (८।२।४०) हो ही जायेंगे। दोग्धा में दुह् को दिरे र्थातोर्धः (८।२।३२) से ह् को घ् होकर पश्चात् घू को गृ जरत्व हुआ है।।

गदः]

₹

यहाँ से 'कलाम्' की अनुवृत्ति ८।४।४५ तक तथा 'जरा्' की ८।४।५३ तक जायेगी ।।

अभ्यासे चर्च ॥८।४।५३॥

अभ्यासे ७१।। चर् १।१॥ च अ०॥ श्रनु०—झलाम्, जश्, संहितायाम्॥ त्रर्थः—अभ्यासे वर्त्तमानानां झलां चर् आदेशो भवति चकारात् जश्च॥ उदा०—चिखनिषति, चिच्छित्सति, टिठकारियषति, तिष्टासति, पिफकारियषति । जश्-बुभूषति, जिघत्सति, डुढौिकषते ॥

भाषार्थः— [अभ्यासे] अभ्यास में वर्त्तमान झलों को चिर्] चर् आदेश होता है, तथा चकार से जर्ग [च] भी होता है।। चिखनिषति में खन धातु से सन् आकर द्वित्वादि होकर 'ख खनिष' रहा। कुहोश्चुः (णिशाहर) से अभ्यास को चुत्व छ होकर पश्चात् उस छ को प्रकृत सूत्र से चृ हो गया है। छिद् से चिन्छित्सित छेच (६।१।७१) से तुक् आगम एवं खुव होकर बना है। ठकार एवं फकार से पटयति (दे॰ परि॰ १।१।५६) के समान णिच् प्रत्यय आकर एवं टिलोप होकर ठकारय् फकारय् धातु वनें।पश्चात् सन् इट् तथा 'ठ ठकारयिष' 'फ फकारयिष द्वित्व एवं प्रकृत सूत्र से चर् होकर टिठकारयिषति, पिफकारयिषति वन गया। तिष्ठासित में शर्-पूर्वाः खयः (७।४।६१) से अभ्यास का खय् शेष रहा है। बुभूषति आदि में अभ्यास को जर्ग हुआ है। जिघत्सित की सिद्धि परि २।४।३७ में देखें। इहीकिषते होकु धातु से अभ्यासको हत्तः (०।४।६६) से हत्त्व होकर बना है।। स्थाने उन्तरतमः (१।१।४९) के नियम से वर्ग के प्रथम द्वितीय वर्ण के स्थान में चर् उस वर्ग का प्रथम और तृतीय चतुर्थं वर्ण के, स्थान में जर्ग अर्थात् तृतीय आदेश होता है।।

यहाँ से 'चर्' की अनुवृत्ति ८।४।५५ तक जायेगी।।

खरि च ॥८।४।५४॥

ख़रि ७।१॥ च अ०॥ अनु०—चर्, झळाम्, संहितायाम्॥ अर्थः—खरि परतो झळां चर् आदेशो भवति॥ उदा०—भेत्ता, भेत्तुम्, भेत्तव्यम्, युयुत्सते, आरिप्सते, आळिप्सते॥

भाषार्थ:-[खरि] खर् परे रहते [च] भी झलों को चर् आदेश

होतां है।। भेत्ता आदि में द् को त् एवं युयुत्सते में ध् को त् त्या अ आरिप्सते, आलिप्सते में भ् को प् चर् हुअप हैं। आरिप्सते आलिप्सते की सिद्धि ७।४।५४ सूत्र में देखें।।

वावसाने ॥८।४।५५॥

वा अ० ॥ अवसाने ७।१॥ श्रनु०—चर्, झलाम्, संहितायाम्॥ श्रर्थः—अवसाने वर्त्तमानानां झलां वा चर् आदेशो भवति॥ उदा०— वाच्-वाक्, वाग् । त्वच्-त्वक्, त्वग् । श्वलिड्-श्वलिट्, श्वलिड्। त्रिष्टुभ्-त्रिष्टुप्, त्रिष्टुव् ॥

भाषार्थ:—[अवसाने] अवसान में वर्त्तमान झरों को [वा] विकल्प करके चर् आदेश होता है।। जब पक्ष में चर् नहीं होगा तो मलां जशोऽन्ते (८१२।३९) से हुआ जश ही रहेगा। वाक् की सिद्धि पिर ११२।४१ में देखें। तद्वत् अन्य सिद्धियाँ हैं।।

यहाँ से 'वावसाने' की अनुवृत्ति ८।४।५६ तक जायेगी।।

अणोऽत्रगृह्यस्यानुनासिकः ॥८।४।५६॥

अणः ६।१॥ अप्रगृह्यस्य ६।१॥ अनुनासिकः १।१॥ स०—न प्रगृह्यम् अप्रगृह्यम् तस्यः न्व्यतत्पुरुषः ॥ श्रनु०—वावसाने, संहितायाम्॥ श्रर्थः—अप्रगृह्यसंज्ञकस्याऽणोऽवसाने वर्त्तमानस्य वाऽनुनासिकादेशो भवति ॥ उदा०—दिधि, दिधि । मधु, मधुँ । कुमारी, कुमारी ॥

ृभाषार्थः — अवसान में वर्त्तमान [अप्रगृह्यस्य] प्रगृह्यसंज्ञक से भिन्न [अएः] अण् को विकल्प से [अनुनासिकः] अनुनासिक आदेश होता है। अण् से यहाँ पूर्व णकार (अइटण् वाटा) से प्रहण है। दिंध, मधु के सु का स्वमोर्नेपुंसकात् (७।१।२३) से लुक् हुआ है।।

अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः ॥८।४ १५७॥

अनुस्वारस्य ६।१।। ययि ७।१।। परसवर्णः १।१।। स०—परस्य सवर्णः ,परसवर्णः, षष्टीतत्पुरुषः ॥ अनु०— संहितायाम् ॥ श्रर्थः—अनुस्वारस्य ७ ययि परतः परसवर्णादेशो भवति ॥ उदा०—शङ्किता, शङ्कितुम्, शङ्कित्वरम् । उञ्जिता, उञ्जितुम्, राङ्कितन्यम् । उञ्जिता, उञ्जितुम्,

प

ηİ

0

H

Í

I

श्रा कुण्डितव्यम् । निन्द्ता, निन्द्तुम्, निन्द्तव्यम्। कम्पिता, कम्पितुम्,

भाषार्थः—[श्रनुस्वारस्य] अनुस्वार को [यिय] यय् (प्रत्याहार) परे रहते [परसवर्णः] परसवर्ण (अर्थात् परे जो वर्ण हो उसका सवर्णाय वर्ण) आदेश होता है।। शिक, उछि, कुडि, दुनिद, किप ये सभी धातुएँ इदित् हैं, अतः इदितो नुम्धातोः (७११५८) से इन्हें नुम् आगम होकर न् को नश्चाऽन (८१३१४) से अनुस्वार हो गया, पश्चात् प्रकृत सूत्र से अनुस्वार को परसवर्ण आदेश होने से शिङ्कता में क् का पर सवर्णीय ह्, उञ्छिता में छ् का परसवर्णीय व्, कुण्डिता में ड् का परसवर्णीय ण् एवं निन्दता, किम्पता में इसी प्रकार न्, म् परसवर्ण आदेश हो गये हैं।।

यहाँ से 'श्रनुस्वारस्य यि' की अनुवृत्ति ८।४।५८ तक तथा 'पर' की ८।४।५९ एवं 'सवर्णः' की ८।४।६१ तक जायेगी।।

वा पदान्तस्य ॥८।४।५८॥

वा अ० ।। पदान्तस्य ६।१॥ स०—पदस्य अन्तः पदान्तस्तस्यः षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—अनुस्वारस्य यि परसवर्णः, संहितायाम् ॥ अर्थः—पदान्तस्यानुस्वारस्य यि परतो वा परसवर्णादेशो भवति ॥ उदा०—तङ्कथञ्जित्रपक्षण्डयमानन्नभःस्थम्पुरुषोऽवधीत् । पक्षे—तं कथं चित्रपक्षं डयमानं सभःस्थं पुरुषोऽवधीत् ॥

भाषार्थ:—[पदान्तस्य] पदान्त के अनुस्वार को यय परे रहते [वा] विकल्प से परसवर्णादेश होता है।। पूर्व सूत्र से नित्य प्राप्ति थी, विकल्प कर दिया।। मोऽनुस्वारः (८।३।२३) से पदान्त म् को अनुस्वार उदाहरणों में सर्वत्र हुआ है।।

तोर्छि ॥८।४।५९॥

तोः ६।१॥ छि ७।१॥ श्रनु०—परसवर्णः, संहितायाम् ॥ अर्थः— तवर्गस्य छकारे परतः परसवर्णादेशो भवति ॥ उदा०—अग्निचिल्लुनाति, सोमसुल्लुनाति । भवाल्लुँनाति, महाल्लुँनाति ॥

भाषार्थ:—[तो:] तवर्ग के स्थान में [लि] स्कार परे रहते, परसवर्ण आदेश होता है।। अग्निचिल्लुनाति में त् को परसवर्ण शुद्ध स् एवं

भवाँल्लुनाति में न को परसवर्ण स्थाने उन्तरतमः (१।१।४९) हे सानुनासिक छ होता है, अतः 'भवाँ ल्लुना छिं' ऐसा होता है।।

उदः स्थास्तम्मोः पूर्वस्य ॥८।४।६०॥

उदः ४।१॥ स्थास्तम्भोः ६।२॥ पूर्वेस्य ६।१॥ स० - स्थाश्च स्तम्भ् व स्थास्तम्भौ, तयोः इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनुः सवर्णः, संहितायाम्॥ श्रर्थः—उद उत्तरयोः स्था स्तम्भ इत्येतयोः पूर्वसवणिदेशो भवति॥ उदा०-रथा-उत्थाता, उत्थातुम्, उत्थातव्यम्। स्तम्भे:-उत्तिम्भता, उत्तिम्भतुम्, उत्तिम्भतव्यम्।।

भाषार्थः—[उदः] उत् उपसर्ग से उत्तर [स्थास्तम्मोः] स्था तथा स्तम्भ को [पूर्वस्य] पूर्वसवर्ण आदेश होता है ।। आदे: परस्य (१।१।५३) से स्था तथा स्तम्भ के सकार को पूर्वसवर्ण होगा, सो अघोष तथा महा प्राण प्रयत्न वाले सकार का अन्तरतम अर्थात् उसी प्रयत्न वाला थकार पूर्वसवर्ण हो गया, तो उत् थ् थाता = उत्थ्थाता रहा । करो करि सवर्ण (८।४।६४) से पक्ष में एक थकार का छोप हो गया तो उत्थाता बना। पक्ष में जब थकार का लोप नहीं होगा तो उत्थ्याता बनेगा। इसी प्रकार उत्तिम्भता, उत्तिम्भता रूप भी वनेंगे।।

यहाँ से 'पूर्वस्य' की अनुवृत्ति ८।४।६१ तक जायेगी।।

झयो होऽन्यतरस्याम् ॥८।४।६१॥

. झरा: ५११॥ ह: ६११॥ अन्यतरस्याम् ७११॥ अनु०-पूर्वस्य, सवणं, संहितायाम्।। अर्थ:—झय उत्तरस्य हकारस्य पूर्वसवर्णादेशो भवति

१. ग्रन्तस्य ग्रयात् य, ल, व सानुनासिक एवं निरनुनासिक के भेद से दो प्रकार-के होते हैं। देखो वर्णों ७५, पृ० १६। इसीलिये निरनुनासिक · एवं सानुनासिक दो प्रकार का ल् यहाँ इष्ट है।।

रं. देखो वर्णों० ६१, ६२ पृ० १४ ॥

रे. कई आचार बाह्य प्रयत्न की साम्यता की उपेक्षा करके तकार का पूर्ण े सर्वणीय तकार ही करते हैं उनके मत में उत्त्थाता उत्तिम्भिता रूप बनता है। थकार पक्ष में पूर्वसवर्ण के श्रसिद्ध होने से चर्व नहीं होता ।।

R Ť

ती

ì

से विकल्पेन ।। उदा० - वाग्हसति, वाग्यसति । श्विछिड्हसति, श्विछिड्-इसति । अग्निचिद्हसति, अग्निचिद्धसति । सोमससुद्हसति, सोमसुद्ध-मति । त्रिष्टुब्ह्सति, त्रिष्टब्ससति ॥

भाषार्थ:—[क्रयः] झय्, (प्रत्याहार) से उत्तर [हः] हकार को [ब्रन्यतरस्याम्] विकल्प से पृर्वसवर्ण आदेश होता है।। सर्वत्र स्थानेऽ-व तरतमः (१।१।४९) से अन्तरतम पूर्वसवर्ण होगा, और यह आन्तर्य ॥ वर्णीचारणशिक्षा में डिलिखित स्थान और प्रयत्न के अनुसार होता है, ॥ अर्थात् जिस वर्ण का जिस वर्ण के साथ स्थान, एवं प्रयत्न मिल जाये, ग, ही आन्तर्य है इस प्रकार ग्से उत्तर महाप्राणे ह्को पूर्वसवर्ण घू इसे उत्तर ह को ढ्,द् से उत्तर ह को घ्, एवं व् से उत्तर ह को भू ये बहाप्राण अपने वर्ग के चतुर्थ अक्षर हुये हैं।।

यहाँ से 'अयः' की अनुवृत्ति ८।४।६२ तक तथा 'श्रन्यतरस्याम्' की । ।।।१४४ तक जायेगी।।

श्वकोऽटि ॥८।४।६२॥

शः ६।१॥ छः १।१॥ अटि ७।१॥ श्रनु०-झयोऽन्यतरस्याम् संहितायाम्॥ अर्थः— झय उत्तरस्य शकारस्य अटि परतर्द्धकारादेशो भवति विकल्पेन ॥ वाक्छेते, वाक्शेते। अग्निचिच्छेते, अग्निचिच्शेते । सोम-उच्छेते, सोमसुच्होते[°]। खिटट् छेते, खिटट् होते। त्रिष्टुप्छेते, त्रष्टुप् शेते ।।

भाषार्थ: - झय् प्रत्याहार से उत्तर [शः] शकार के स्थान में [अटि] अट् परे रहते [छः] छकार धादेश विकल्प से होता है।। उदाहरणों में झय् के उत्तर श् है एवं श् से परे अट् प्रत्याहार है ही, अतः छत्व हो गया है।। äh.

हलो यमां यमि लोपः ॥८।४।६३॥

हलः ४।१॥ यमाम् ६।३॥ यमि ७।१॥ छोपः १।१॥ श्रनु०—अन्यत-स्याम्, संहितायाम्।। अर्थः हल उत्तरेषां यमां यमि परतो लोपो भवति विकल्पेन ।। *उदा*ः—शय्या, शय्य्या । आदित्यः आदित्यः । शदित्यमः, आदित्यय्यः॥

१. देखो वर्णों ॰ 'एके श्रल्पप्राणा इतरे महाप्राणाः' ६२ ॥

२. जब संहिता विवक्षित नहीं होगी तब 'ग्रग्निचत् शेते, सोमसुत् शेते' ीगा ।।

भाषार्थ:--[हलः] हल् से उत्तर [यमाम्] यम् का [यमि] यम्परे रहंते विकल्प से [लोपः] छोप होता है ॥ शुरुर्या की सिद्धि सूत्र शशहर में देखें। यहाँ विशेष यह है कि जब अनि च (८।४।४६) से पक्ष य को द्वित्व हुआ तो तीन यकार हो पाये, सो उनमें से एक यू से उत्ता एक यु के परे रहते मध्य वाले यु का विकल्प से छोप हो गया, सोदो एवं तीन यकारों की पर्याय से श्रुति होती है।। अदितरपत्यम् आदिलः यहाँ दित्यदित्या० (४।१।६५) से ण्य प्रत्यय हुआ है। अब यशो मंगो द्धे भवत इति वक्तव्यम् (वा० ८।४।४६) से य्को द्वित्व होकर आदित्यः का गया, तो पक्ष में तृ हुल से उत्तर यू परे रहते यू का छोप हो गया। ती प्रकार दो यकार एवं एक यकार वाले प्रयोग वन गये।। आदित्यः यहाँ अपत्य अर्थ में आदित्य शब्द पूर्ववत् बनकर पुनः सास्य देवता अर्थ में शशाद्य सूत्र से ही ज्य होकर 'आदित्य्यः' दो यकार वाल प्रयोग बना । पुनः उसमें पूर्ववत् वात्तिक से द्वित्व होकर आदित्य्यः तीन यकार हो गये, तब पक्ष में एक यू का छोप करके आदित्य्यः आदित्य्यः प्रयोग बन गये।। यहाँ भी जब य्को पक्ष में द्विचन न होगा तो उस पक्ष में भी एक य्का प्रकृत सूत्र से छोप होकर आदित्यः एक यकारवान् रूप ही बनेगा।

यहाँ से 'हलः लोपः' की अनुवृत्ति ८१४।६४ तक जायेगी ॥

झरो झरि सवर्णे ॥८।४।६४॥

शरः ६।१॥ झरि ७।१॥ सवर्णे ७।१॥ अनु०—हलः लोपः, अन्यतः रस्याम्, संहितायाम्॥ अर्थः— हल उत्तरस्य विकल्पेन झरो लोपो भवति सवर्णे झरि परतः॥ उदा० — प्रतम् प्रत्तम्। अवत्तम् अवत्तम् महत्तम् मस्त्तम्॥

भाषार्थ: हल से उत्तर [भरः] झर् का विकल्प से लोप होता है [सवर्णें] सवर्ण [भारि] झर् परे रहते ॥ प्रत्तम्, अवत्तम् की सिद्धि पृत्र ।। प्रत्तम्, अवत्तम् की सिद्धि पृत्र ।। प्रति से देखें । प्रत्तम् अवत्तम् में पहले तीन तकार थे ही, दिल (८।४।४६) करने पर चार हो गये, तो प्रकृत सूत्र से एक त् का लेप

१. शाकटायन ग्राचार्य के मत में आदित्य्य में पुनः द्वित्व नहीं होता त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य (८१४।४९), ग्रतः उसके मत में सूत्र से एक यकार के लोप होकर ग्रादित्यः ग्रादित्थ्यः दो रुप ही बनते हैं।।

परे १६६ इ में इत्तर

ो दो देखः

मयो वन

यहाँ में योग

कार योग भी गा व

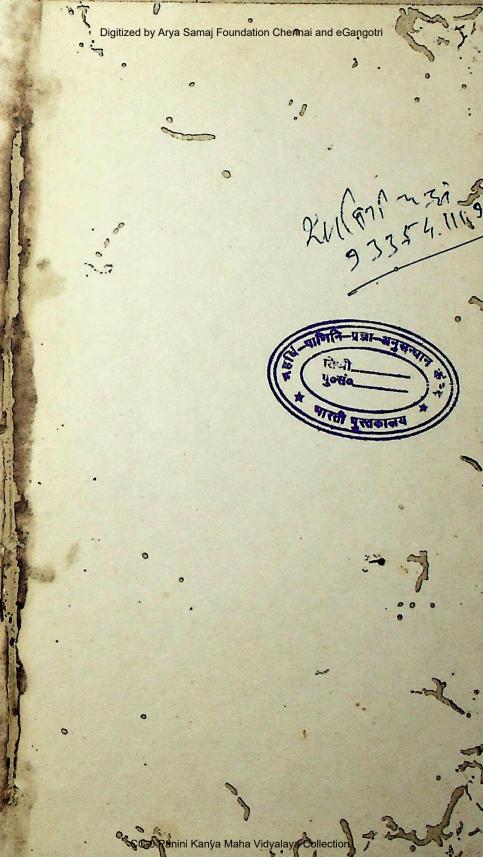
यत ।

ता है सूत्र

啊

CC-0'.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

• Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.



Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri-CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.